आचार्य अमितगति प्रणीता

मरणकंडिका

*

प्रेरणा स्रोत :

श्री १०८ आचार्य अजितसागरजी महाराज

*

अनुवादिका :

आर्यिका जिनमतीजी

*

प्रकाशक :

श्री नंदलाल मांगीलाल जैन

डीमापुर (नागालेण्ड)

□ प्रकाशक :

श्री नन्दलाल मांगीलाल जैन

डीमापुर (नागालेण्ड)

□ पुस्तक प्राप्ति स्थान :

श्री आ० शिवसागर दि० जैन ग्रन्थमाला

शांतिवीर नगर,

श्री महावीरजी (सवाईमाधोपुर) राज०

□ संस्करण :

प्रथमावृत्ति १०००

□ प्रकाशन तिथि :

वर्ष : १६८६

□ मूल्य :

स्वाध्याय एवं समाधि

□ मुद्रक :

पांचूलाल जैन

कमल प्रिन्टर्स

मदनगंज-किशनगढ़ (राज०)

परम पूज्य, प्रातः स्मरणीय, चारित्र चक्रवर्ती, आचार्यप्रवर

१०८ श्री शान्तिसागरजी महाराज

पचेन्द्रियसुनिर्दान्त, पंचससारभीरुकम् ।
शातिसागरनामान, सूरि वदेऽघनाशकम् ॥

जन्म	क्षुल्लक दीक्षा .	मुनि दीक्षा .	ममाधि
ज्येष्ट कृष्णा ६	ज्येष्ठ शुक्ला १३	फाल्गुन शुक्ला १४	द्वितीय भाद्रपद
वि स०	वि. स० १९७०	वि. स० १९७४	वि स० २०१२
१९२९	उत्तूर ग्राम (कर्नाटक)	यरनाल ग्राम (कर्नाटक)	कुन्थलगिरि सिद्धक्षेत्र

आदि वचन

द्वादशांग जिनवाणी में प्रथम अंग आचारांग है, इसमें मुनियों के आचरण का वर्णन है, यह गणधर देव द्वारा ग्रथित विशाल १८ हजार पद प्रमाण श्रुत है, इसी को आधार बनाकर वर्त्तमान पंचमकाल के मूलाचार आदि ग्रंथ श्री कुन्दकुन्द आचार्य आदि द्वारा रचे गये हैं। श्री शिवकोटि आचार्य प्रणीत प्राकृत भाषामय गाथाबद्ध भगवती आराधना तथा इसकी प्रतिच्छाया स्वरूप आचार्य अमित गति प्रणीत संस्कृत-श्लोक बद्ध मरणकण्डिका भी आचारांग से सम्बद्ध है।

भगवती आराधना का प्रकाशन अनेक बार हुआ है। मूलाराधना नाम से सोलापुर से प्रकाशित इस भगवती आराधना में श्री अपराजित सूरिकृत संस्कृत टीका पण्डित आशाधरकृत संस्कृत टीका तथा आचार्य अमितगति कृत संस्कृत श्लोक स्वरूप मरणकण्डिका समाविष्ट है। संस्कृत टीका रहित गाथा युक्त हिन्दी अनुवाद युक्त प्रकाशन तथा संस्कृत टीका सहित हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन भी हुआ है। किन्तु मरणकण्डिका का स्वतंत्र प्रकाशन तथा उसका हिन्दी अनुवाद अभी तक नहीं हुआ था, इस कमी को देखकर अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, परमपूज्य, आचार्य रत्न श्री अजितसागरजी महाराज ने आर्यिका जिनमती माताजी को प्रेरणा दी कि इसका अनुवाद करे। माताजी ने आचार्य श्री की आज्ञा शिरोधार्य करके तत्काल मदनगंज-किशनगढ नगरी के चातुर्मास मे अनुवाद प्रारम्भ कर दिया और मैंने संस्कृत श्लोकों की प्रेस कॉपी तैयार की। अनुवाद अढाई मास मे पूर्ण किया और आचार्य श्री के आदेशानुसार यही कमल प्रिन्टर्स मे मुद्रण हेतु दे दिया।

इसके अनुवाद में आचार्य श्री द्वारा प्रेषित एवं उन्हीं के द्वारा नागौर शास्त्र भण्डार की प्रति से लिखित जो कॉपी थी उसका आधार लिया गया है। तथा मूलाराधना मे स्थित श्लोकों का भी।

मुद्रित मूलाराधना मे मरणकण्डिका के प्रारम्भ के १९ श्लोक नही हैं। ये श्लोक ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, ब्यावर की हस्त लिखित प्रति तथा उदयपुर की हस्तलिखित प्रति में भी नहीं हैं, केवल नागौर की हस्तलिखित प्रति में हैं।

प्रति परिचय—ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन की प्रति सुवाच्य है, इसमें ग्रन्थ पूर्णता के अनंतर आठ श्लोक प्रमाण प्रशस्ति है तदनतर आराधना स्तव नाम के प्रकरण में ३२ श्लोक हैं। पुनश्च कौन से नक्षत्र मे क्षपक सस्तर ग्रहण करे तो कौन से नक्षत्र मे मरण होगा, इस विषय का प्रतिपादन करने वाला "नवखत्त गणना" नाम का प्राकृत भाषामय गद्य प्रकरण है। इस ग्रन्थ की श्लोक संख्या २२७९ है। यह प्रति सम्वत् १५६८ की लिखी हुई है।

(२) उदयपुर की हस्तलिखित प्रति में भी यही क्रम है किन्तु श्लोक संख्या २२५२ हैं। संवत् १६२१ की लिखी हुई है।

(३) नागौर की हस्तलिखित प्रति में यही क्रम है। श्लोक संख्या २२७९ हैं। सम्वत् १५५४ की लिखित है। इस प्रति के अन्त में इस प्रकार परिचय है—सम्वत् १५५४ वर्षे। कार्तिक सुदी १५ गुरौ श्री दुबला ··· हाडान्वये नाराइणदास राज्य प्रवर्तमाने श्रीमूलसघे बलात्कारगणे, सरस्वतीगच्छे श्री नन्दीसघ श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री पद्मनन्दिदेवा तत् पट्टे भट्टारक श्री शुभचन्द्रदेवा तत् पट्टे भट्टारक श्री जिनचन्द्रदेवा तत् शिष्य मुनि श्री रत्नकीर्तिदेवा—मण्डलाचार्य तत् शिष्य मुनि हेमचन्द्र तत् सिषिणी अर्जका पुण्यश्री खडेलवालन्वये गोधा गोत्रे, साधु महाराज तत् भार्या साल्ही तयो पुत्रौ लोलू, साहूगांगा, साहू लोलू तद् भार्या वाल्हू तयो पुत्र साह लोहट तथा साहूगांगा तद् भार्या राणी तयो पुत्र साह हरसिह तत् भार्या कर्मा, तयो पुत्र ··· निजज्ञानावर्ण कर्म क्षयार्थं इदं शास्त्रं अर्यका पुण्यश्री योग्य पठनार्थं प्रदत्त।

ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानत।
अन्नदानात् सुखी नित्यं निर्व्याधी भेजषाभवेत् ॥ ६ ॥
सुभमस्तु ॥ ६ ॥ मागल्य ददाति। श्रेयो भवतु ॥

अर्थ—सम्वत् १५५४ की वर्ष में कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा तिथि मे गुरुवार मे हाडा अन्वय में नाराइणदास के राज्य काल मे मूल संघ बलात्कारगण सरस्वती गच्छ नंदी सघ कुन्दकुन्द अन्वय मे भट्टारक पद्मनन्दी हुए। पुनः उस पट्ट मे क्रमशः शुभचन्द्र, जिनचन्द्र हुए उनके शिष्य मुनि रत्नकीर्ति हुए उनके शिष्य हेमचन्द्र मुनि और उनकी शिष्या आर्यिका पुण्यश्री नाम की थी। खडेलवाल जाति मे गोधा गोत्र वाले एक साधु महाराज श्रावक थे उसकी भार्या साल्ही उस दम्पत्ति के दो पुत्र थे लोलू साहू और साहूगागा। लोलू साहू की भार्या बाल्हू। इनका पुत्र साहू लोहट था। तथा साधुगागा की पत्नी रानी नाम की थी। उनका पुत्र साह हरसिह था उसकी पत्नी कर्मा थी। उसके पुत्र ने अपने ज्ञानावरण कर्म के नाश के लिए यह शास्त्र आर्यिका पुण्यश्री को पढ़ने के लिए दिया।

ज्ञानदान से ज्ञानी, अभयदान से निर्भय अन्नदान मे नित्यसुखी और औषधिदान से निरोग होता है। शुभ हो। मगल देवे। कल्याण हो।

ग्रंथ का नाम—मरणों के अनेक भेदो का कथन करने से इसका नाम—मरणकडिका है। प्राप्त हस्तलिखित प्रतियो मे इसका नाम ग्रथ प्रारम्भ मे नही मिलता। हां अन्त मे "मरणकंडिका नक्खत्त गणनया सम्मत्ता" ऐसा नामोल्लेख मिलता है। प्रशस्ति में "भगवतीमाराधना स्थेयसीम्" आराधनैषा यदकारि पूर्णा ··· ··· ···। तावत् तिष्ठतु भूतले भगवती। इन शब्दों में उल्लेख प्राप्त होता है। अतः मरणकंडिका तथा ब्रेकेट में आराधना विधि नामकरण किया है।

एक विशेष—शिवकोटि आचार्य प्रणीत भगवती आराधना ग्रथ मे गाथा १९९० में मध्यम तथा उत्कृष्ट नक्षत्र मे क्षपक का मरण होवे तो तृणमय बिम्ब अर्पित करें ऐसा कहा है किन्तु मरणकडिका में यह विधि नहीं बतायी है, उस स्थान पर जिनार्चा (शांति कर्म) बतलाई है। इसी प्रकार

गाथा १९६१ तथा गाथा १९९२ में बतायी गयी विधि का मरणकंडिका में उल्लेख नहीं है, बल्कि इन दो गाथाओं पर श्लोक रचना ही नहीं है। अस्तु।

इस ग्रंथ मे आगत विविध छन्दों के न म एव लक्षण इसप्रकार हैं—

समानिका—८ अक्षर ऽ । ऽ । ऽ । ऽ ।
ग्लौ र जो स मा नि का तु

इन्द्रवज्रा—११ अक्षर ऽ ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
स्या दि न्द्र व ज्रा य दि तौ ज गौ गः

उपेन्द्रवज्रा—११ अक्षर । ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
उ पे न्द्र व ज्रा प्र थ मे ल घौ सा

उपजाति—इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा का मिला हुआ लक्षण जिसमें हो वह उपजाति कहलाती है। तथा किसी समान अक्षर वाले दो छन्दों का मिला लक्षण जिस श्लोक में हो वह उपजाति है। जैसे वंशस्थ और इन्द्रवंशा का मिला लक्षण भी उपजाति है।

शालिनी—११ अक्षर ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ
मा तौ गौ चे च्छा लि नी वे द लो के

अनुकूला—११ अक्षर ऽ । । ऽ ऽ । । । । ऽ ऽ
स्या द नु कू ला भ त न ग गा श्चेत्

रथोद्धता—११ अक्षर ऽ । ऽ । । । ऽ । ऽ । ऽ
रान् प रै र्न र ल गै र थो द्ध ता

स्वागता—११ अक्षर ऽ । ऽ । । । ऽ । । ऽ ऽ
स्वा ग ता र न भ गै र्गु रु णा च

दोधक—११ अक्षर ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ ऽ
दो ध क मि च्छ ति भ त्रि त याद् गौ

श्येनी—११ अक्षर ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ । ऽ
श्ये न्यु दी रि ता र जो र लौ गु रुः

वंशस्थ—१२ अक्षर । ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ
व द ति व श स्थ वि ल ज तौ ज रौ

तोटक—१२ अक्षर । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ
व द तो ट क म ब्धि स का र यु तम्

भुजंगप्रयात—१२ अक्षर । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ
भु ज ग प्र या तं च तु र्भि र्य का रैः

स्रग्विणी—१२ अक्षर ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ
कीर्तितैषा चतूरेफिका स्रग्विणी

द्रुतविलंबित—१२ अक्षर । । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ऽ
द्रुतविलबितमाह नभौ भरौ

मंदाकिनी—१२ अक्षर । । । । । । ऽ । ऽ ऽ । ऽ
ननररघटिता तु मदाकिनी

मोटक—१२ अक्षर ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ।
मोटकनाम समस्त भभीरय

सारंग—१२ अक्षर ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ ।
सारग संज्ञ समस्तैस्तकारैस्तु

रुचिरा—१३ अक्षर । ऽ । ऽ । । । । ऽ । ऽ । ऽ
जभौ सजौ गिति रुचिरा चतुर्ग्रं हैः

शशिकला—१३ अक्षर प्रमाण

बसंततिलका—१४ अक्षर ऽ ऽ । ऽ । । । ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
शेयं वसततिलक तभगा जगौ गः

प्रहरणकलिता—१४ अक्षर । । । । । । ऽ । । । । । । ऽ
ननभनलगिति प्रहरणकलिता

मालिनी—१५ अक्षर । । । । । । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ
ननमययुते य मालिनी भोगिलोकैः

शशिकला—१५ अक्षर । । । । । । । । । । । । । । ऽ
गुरुनिधनमनुलघुरिह शशिकला

पृथ्वी—१७ अक्षर । ऽ । । । ऽ । ऽ । । । ऽ । ऽ ऽ । ऽ
जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वीगुरु.

शार्दूलविक्रीडित—१९ अक्षर ऽ ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । । । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ
सूर्याश्वयं दिमः सजौ सतवगाः शार्दूलविक्रीडितं

स्रग्धरा—२१ अक्षर ऽ ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ । । । । । । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ
म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेय

इस प्रकार इस ग्रंथ में कुल २७ प्रकार के छन्द हैं। इस ग्रंथ में कुल श्लोक संख्या २२७९ हैं उनमें ५८ श्लोक ११ मात्रा वाले हैं, ४५ श्लोक १२ मात्रा वाले हैं, २ श्लोक १३ मात्रा के हैं। ४ श्लोक १४ मात्रा के हैं, १ श्लोक १५ मात्रा का है। १ श्लोक १७ मात्रा का है। स्तव तथा प्रशस्ति मे १७ श्लोक १९ मात्रा वाले हैं, ८ श्लोक २१ मात्रा वाले हैं। शेष सब श्लोक अनुष्टुप् छन्द में हैं। इस ग्रंथ का सभी भव्य मुमुक्षु स्वाध्याय करें, विशेषतः साधुगण इसका अध्ययन अवश्य करें, क्योंकि इसमें सल्लेखना विधि है और साधु जीवन रूप प्रासाद में सल्लेखना तो मणिमय कलशारोहण है।

इति भद्रं भूयात् —आर्यिका शुभमति

परम पूज्य, प्रातः स्मरणीय, आचार्यप्रवर

१०८ श्री वीरसागरजी महाराज

चतुर्विधगणैः पूज्यं, गभीर सुप्रभावकम् ।
वीरसिन्धुगुरुं स्तौमि, सूरिगुणविभूषितम् ।।

जन्म	क्षुल्लक दीक्षा :	मुनि दीक्षा	समाधि :
आषाढ पूर्णिमा	फाल्गुन शुक्ला ७	आश्विन शुक्ला ११	आश्विन अमावस्या
वि स. १९३२	वि म. १९८०	वि. म १९८१	वि. स २०१४
वीर ग्राम (महाराष्ट्र)	कुम्भोज (महाराष्ट्र)	समडोली (महाराष्ट्र)	जयपुर (राज०)

प्रस्तावना

आचार्य अमितगति द्वितीय—

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् १६२ वर्ष तक अनुबद्ध केवलियों और श्रुत केवलियों की परम्परा रही। इसके पश्चात् वी. नि. सं. ६८३ तक ही श्रुतधराचार्य (आचारांगधारी अथवा एकाध अंग के अंशधारी ही) शेष रहे। इस प्रकार श्रुतज्ञान का क्रमिक ह्रास होता रहने से सर्व प्रथम धरसेनाचार्य से ज्ञान प्राप्त कर पुष्पदन्त भूतबली आचार्य ने श्रुत निबद्ध किया। इसके पश्चात् वि. सं. १०३६ तक अनेको दिगम्बराचार्य हुए और उन्होने जिनवाणी की अपूर्व सेवा की, अपनी अनेक रचनाओं से श्रुतदेवी का भण्डार समृद्ध किया।

माथुर संघीय परम्परा में श्रेष्ठ आचार्य वीरसेन, उनके शिष्य देवसेन, उनके शिष्य अमितगति प्रथम, उनके श्री शिष्य नाभिषेण, उनके शिष्य माधवसेन और माधवसेन के शिष्य अमितगति द्वितीय हुए हैं। इन्हीं अमितगति द्वितीय का समय राजा मुञ्ज का राज्यकाल है तथा वह वि० सं० १०३६ से १०७८ तक का काल है। इस प्रकार अमितगति द्वितीय का समय ११ वी शताब्दि का उत्तरार्ध सिद्ध होता है। अमितगति द्वितीय के पश्चात् भी शान्तिषेण, अमरसेन, श्रीसेन, चन्द्रकीर्ति, अमरकीर्ति आदि आचार्य इस संघ परम्परा में हुए हैं।

धर्म परीक्षा की प्रशस्ति में स्वय अमितगति आचार्य ने अपनी गुर्वावलि वीरसेन से प्रारम्भ की तो उपासकाचार और सुभाषित रत्न संदोह मे देवसेन से प्रारम्भ की है।

आचार्य अमितगति द्वितीय एक समर्थ ग्रन्थकार थे। आपका संस्कृत भाषा पर असाधारण अधिकार था। उनकी कवित्व शक्ति अपूर्व थी। अमरकीर्ति ने अपनी षट्कर्मोपदेश की अन्तिम प्रशस्ति में आपको महामुनि, मुनि चूडामणि आदि विशेषणों से युक्त कहा है।

आचार्य अमितगति की जितनी भी रचनाएँ हैं उनसे उनकी प्राञ्जल रचना शैली प्रस्पष्ट अनुभव में आती है। प्रसाद गुण युक्त मनोहारी सरल-सरस काव्य कौमुदी का पान करक हृदय आनन्द से गद्गद् हो जाता है। उनकी सब रचनाएँ उद्‌बोधन प्रधान हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा मनुष्य को असत्प्रवृत्तियों की ओर मे सावधान कर सत्प्रवृत्तियो को अपनाने की ही प्रेरणा की है। आचार्य श्री कर्म सिद्धान्त के भी विद्वान् थे। आचार्य अमितगति की कृतियों से उत्तर कालीन कृतियां भी प्रभावित हैं, अतः आचार्यश्री अपने समय के एक विशिष्ट ग्रथकार थे। उन्होंने अपने वैदुष्य से जिनशासन का तथा संस्कृत वाङ्‌मय का मान बढ़ाया तथा सुरभारती के साहित्य भण्डार को समृद्ध किया था।

अब १०८ आचार्यश्री की रचानओं पर क्रमशः सविवरण प्रकाश डाला जाता है—

रचना कलाप संविवरण

१. सुभाषित रत्नसंदोह—

यह ग्रंथ आचार्यश्री ने सं० १०५० (ई० ९९४) में रचा। इस ग्रन्थ में ३२ परिच्छेदों द्वारा कोप, मान, माया, लोभ आदि विषयक सुभाषित लिखकर सुभाषित रत्न भाण्डागार की श्री वृद्धि ही की है। सम्भवतया यह आपकी प्रथम रचना है। इसके अध्ययन से इसके रचयिता की वर्णन शैली, कल्पना शक्ति और कवित्व गुण के प्रति पाठक की श्रद्धा होना स्वाभाविक है (संस्कृत भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है और ललित पदों का चयन उनकी विशेषता है। जिस विषय पर भी वे पद्य रचना करते हैं उस विषय का चित्र पाठक के सामने उपस्थित कर देते हैं। वे एक निर्मल सम्यक्त्व और चारित्र के धारक महामुनि होने के कारण जनता को सदुपदेशामृत का ही पान कराते हैं। तद-नुसार सुभाषित रत्न सन्दोह के सुभाषित सचमुच में सुभाषित ही हैं। पूरा ग्रन्थ नाना प्रकार के सुभा-षितों से भरा हुआ है।

यह ग्रंथ अनेक बार प्रकाशित हुआ है।[1]

२. धर्म परीक्षा—

धर्म परीक्षा नामक जैन ग्रन्थ बहुसंख्यक हैं। यथा—हरिषेण कृत धर्म परीक्षा [अपभ्रंश] अमितगति द्वितीय कृत धर्म परीक्षा (सस्कृत), वृत्तविलास कृत धर्म परीक्षा (कन्नड़), सौभाग्यसागर कृत धर्म परीक्षा (सस्कृत), पद्मसागर कृत धर्म परीक्षा (संस्कृत), मानविजयगणी कृत धर्म परीक्षा (संस्कृत), यशोविजय कृत धर्म परीक्षा (संस्कृत), जिनमण्डन कृत धर्म परीक्षा, पार्श्वकीर्ति कृत धर्म परीक्षा, रामचन्द्र कृत धर्म परीक्षा आदि।[2]

इनमे से यहाँ अमितगति द्वितीय लिखित धर्म परीक्षा के सम्बन्ध में कहा जाता है—

ग्रन्थ का विषय स्पष्टतया तीन भागों में विभक्त है। इसमे बीस परिच्छेद हैं। ग्रन्थ यह पुराणों मे वर्णित अतिशयोक्ति पूर्ण असगत कथाओं और दृष्टान्तों की असंगति दिखलाकर उनकी ओर से पाठकों की रुचि को परिमार्जित करने वाली कथा-प्रधान रचना है। उसके दो मुख्य पात्र हैं मनोवेग और पवनवेग। दोनों विद्याधर कुमार हैं। मनोवेग जैन धर्म का श्रद्धानी है। वह पवनवेग को भी श्रद्धानी बनाने के लिए पाटलीपुत्र ले जाता है। उस समय वहाँ ब्राह्मण धर्म का बहुत प्रचार था और ब्राह्मण विद्वान् शास्त्रार्थ के लिए तैयार रहते थे। दोनो बहुमूल्य आभूषणों से वेष्ठित अवस्था में ही घसियारो का रूप धारण करके नगर मे जाते है और ब्रह्मशाला मे रखी हुई भेरी को बजाकर सिंहा-सन पर बैठ जाते हैं। ब्राह्मण विद्वान् किसी शास्त्रार्थी को आया जानकर एकत्र होते है और उनका विचित्ररूप देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। यह देखकर मनोवेग कहता है,

---

१ सुभाषित रत्न सन्दोह प्रस्ता० पृ० ८ पं० कैलाशचन्द्र सि० शा० (जीवराज जैन ग्रन्थमाला)

२ धर्म परीक्षा, आ० अमितगति द्वि० प्रस्ता० पृ० १५ ए० एन० उपाध्ये (जीवराज जैन ग्रन्थमाला)

हम तो केवल घास बेचने वाले लड़के हैं हमारा मूलरूप महाभारत की कथाओं में है। इसी पर से परस्पर में कथा वार्ता चल पड़ती है। मनोवेग अपने अनुभव की असम्भव घटनाएँ सुनाता है और जैसे ही ब्राह्मण विद्वान् उसका विरोध करता है वह तत्काल उनके पुराणों से उसी प्रकार की कथा सुनाकर उन्हे चुप कर देता है। इस प्रकार मनोवेग ब्राह्मणों के शास्त्रों और धर्म की बहुत सी असम्भव बातें पवनवेग को समझाता है, जिससे पवनवेग जैन धर्म का श्रद्धानी बन जाता है और वे दोनों श्रावक का सुखी जीवन बिताते हैं।[1]

उक्त ग्रथ में जहाँ कही अवसर आया अमितगति ने जैन सिद्धान्तों और परिभाषाओ का प्रचुरता से उपयोग करते हुए लम्बे-लम्बे उपदेश इसमे दिए है। दूसरे, इसमे लोकप्रिय तथा मनो-रजक कहानिया भी हैं जो न केवल शिक्षाप्रद हैं बल्कि उनमे उच्चकोटि का हास्य भी है और वे बड़ी ही बुद्धिमत्ता के साथ ग्रथ मे गुम्फित हैं। अथ च, अन्त मे ग्रन्थ का एक बडा भाग पुराणो की कहा-नियो से भरा हुआ है जिनको अविश्वसनीय बनाते हुए प्रतिवाद करना है तथा कहीं सुप्रसिद्ध कथाओं के जैन रूपान्तर भी दिए हुए हैं जिससे यह प्रमाणित हो जाय कि वे कहाँ तक तर्क-संगत हैं।

अमितगति बहुत विशुद्ध सस्कृत लिख लेते हैं।[2] हमे ही नही, बल्कि अमितगति को भी इस बात का विश्वास था कि उनका सस्कृत भाषा पर अधिकार है।[3] उन्होने लिखा है कि मैंने धर्म परीक्षा दो माह के भीतर लिखकर पूर्ण की है।[4] इनकी धर्म परीक्षा किसी पूर्ववर्ती मूल प्राकृत रचना के आधार पर हुई है, इसमे हर प्रकार की सम्भावना है।[5]

स्व० पं० कैलाशचन्द सि० शास्त्री भी लिखते है कि अमितगति से पूर्व हरिषेण ने अपभ्रंश भाषा मे धर्म परीक्षा रची थी जो जयराम की कृति की ऋणी है। पुनः हरिषेण की कृति के आधार पर अमितगति ने धर्म परीक्षा रची।[6]

पूज्य अमितगति की धर्म परीक्षा रुचिकर और शिक्षाप्रद भारतीय साहित्य का सुन्दर नमूना है। [पुराणपन्थ के उत्साही अनुयायियो को एक तीखा ताना इस रचना से मिल सकता है।[7]

इस धर्म परीक्षा की रचना १०७० (ईस्वी० १०१४) में पूर्ण हुई।[8] यह ग्रथ अनेक बार [विभिन्न स्थानो से] प्रकाशित हुआ है।

---

१ सुभाषित० प्रस्ता० पत्र १०–११ (जीवराज ग्रथमाला)
२ धर्म परीक्षा प्रस्ता० पृ० १६ ए० एन० उपा०
३. धर्म परीक्षा प्रस्ता० पृ० २२ ए० एन० उपा०
४. धर्म परीक्षा। प्रशस्ति। श्लोक ६०
५. धर्म परीक्षा। प्रस्ता० पृ० २२ ए० एन० उपा०
६. सुभाषित० प्रस्ता० पृ० १० [जीवराज ग्रन्थमाला]
७. धर्म परीक्षा प्रस्ता० पृ० २८ ए० एन० उपा०
८. धर्म परीक्षा प्रशस्ति। श्लोक २०

३. पंचसंग्रह—

जैन ग्रन्थों में पचसग्रह नामके अनेक ग्रन्थ हैं। यथा-दिगम्बर प्राकृत पंचसग्रह [कर्ता-अज्ञात], श्वे० प्राकृत पचसंग्रह, दि० संस्कृत पंचसंग्रह (अमितगति द्वितीय) तथा दि० संस्कृत पंचसंग्रह (श्री-पाल सुत डड्ढा विरचित)। गोम्मटसार को भी पंचसंग्रह कहा जाता है। जिनरत्न कोश में श्वे० हरिभद्र सूरि द्वारा बनाए गए एक और पंचसंग्रह का भी उल्लेख है।[१]

अमितगति का पचसंग्रह प्रधानतः प्राकृत पंचसंग्रह के आधार पर ही तैयार किया गया है।[२] पंडित हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री का कहना है कि अमितगति ने प्राकृत पंचसंग्रह का संस्कृत भाषा मे कुछ पल्लवित पद्यानुवाद किया है।[३] प० कैलाशचन्द्र सिद्धांत शास्त्री तो कहते हैं कि "यह स्वतन्त्र रचना ही नही है किन्तु प्रा० पचसंग्रह का संस्कृत श्लोकों मे रूपान्तर है। अमितगति का यह पचसंग्रह श्री डड्ढा के पचसग्रह का भी ऋणी है। अमितगति ने इसका बहुत अनुकरण किया है। कुछ विशेष कथन भी है, किन्तु अनुकरण अधिक है।"[४]

अमितगति की यह रचना [एव अन्य भी रचनाएँ] सरल व सुखसाध्य होती हुई भी गम्भीर और मधुर है। यह ग्रथ करणानुयोग का उत्तम ग्रन्थ है। इसकी रचना शैली गोम्मटसार से विलक्षण व सरल है। अनेक स्थलों में विषय वैशेष्य भी उपलब्ध होता है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड का अध्ययन तो टीका तथा अक सदृष्टि के बिना शक्य नहीं, परन्तु पंचसग्रह में अंक सन्दृष्टि ग्रथकार ने ही यथा-स्थान दे दी अत. टीका की आवश्यकता भी मूल रचना से दूर हो गई।[५]

यह ग्रथ वि० सं० १०७३ [ईस्वी सन् १०१७] मे निर्मित हुआ। ग्रथ रचना के समय से अनु-मित होता है कि कविराज का जन्म विक्रम की ग्यारहवी शती के प्रथम पाद के अन्त मे (१०२५) में हुआ, परन्तु यह नही कहा जा सकता कि ये कब स्वर्गवासी हुए।[६]

अब तक इस पचसंग्रह का प्रकाशन दो बार हुआ है।

---

१. प्राकृत पंच संग्रह। प्रस्ता० पृ० १४—१५

२. धर्म परीक्षा प्रस्ता० पृ० २२ ए० एन० उपाध्ये

३. प्रा० पंचसंग्रह। प्रस्ता० पृ० १४ तथा १६

४. सुभाषित र० सं०। प्रस्ता० पृ० ११ जीवराज ग्रन्थमाला

५ पंचसंग्रह। प्रस्ता० पृ० ८ पं० दरबारीलालजी न्यायतीर्थ

६ " " "

४. श्रावकाचार—

ग्रंथकार इसे उपासकाचार कहते हैं।[१] इसका प्रचलित नाम अमितगति श्रावकाचार है। वर्तमान में भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा निर्मित कई दशक श्रावकाचार सम्बन्धी ग्रंथ उपलब्ध होते हैं।

आचार्य सोमदेव के पश्चात् संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य अमितगति हुए हैं। इन्होंने विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की है। श्रावक धर्म पर भी "उपासकाचार" नामक ग्रन्थ बनाया। इसमें १५ परिच्छेद हैं। इसमें श्रावक धर्म का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रथम परिच्छेद मे धर्म का माहात्म्य, दूसरे मे मिथ्यात्व की अहितकारिता तथा सम्यक्त्व की हितकारिता, तीसरे में सप्त तत्त्व, चतुर्थ में आत्मा की सिद्धि तथा ईश्वर सृष्टि कर्तृत्व का खण्डन प्ररूपित हैं। अन्तिम तीन परिच्छेदों में क्रमशः शील, १२ तप तथा १२ भावनाएँ वर्णित हैं। मध्य के परिच्छेदों में रात्रि भोजन, अनर्थदण्ड, अभक्ष्य भोजन, तीन शल्य, दान, पूजा तथा सामायिकादि षट् आवश्यको का वर्णन है।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि श्रावक के बारह व्रतों का वर्णन एक ही परिच्छेद में किया गया है और श्रावक धर्म के प्राणभूत ११ प्रतिमाओं के वर्णन को तो एक स्वतन्त्र परिच्छेद की भी आवश्यकता नही समझी है। मात्र ११ श्लोको मे ही बहुत साधारण ढग से उनका स्वरूप कहा गया है। स्वामी समन्तभद्र ने भी एक-एक श्लोक द्वारा ही एक-एक प्रतिमा का वर्णन किया है, पर वह सूत्रात्मक होते हुए भी बहुत विशद और गम्भीर है। प्रतिमाओं के नामोल्लेखन मात्र करने का आरोप सोमदेव पर भी लागू है। उन्होने भी अपने यशस्तिलकचम्पुगत उपासकाध्ययन में प्रतिमाओं का नामोल्लेख मात्र किया है। इन्होने प्रतिमाओं का वर्णन क्यों नही किया, यह विचारणीय है।

अमितगति ने ७ व्यसन का वर्णन यद्यपि ४६ श्लोकों मे किया है, पर बहुत बाद में। यहाँ तक कि १२ व्रत, समाधिमरण व ११ प्रतिमाओं का वर्णन करने के पश्चात् स्फुट विषयों का वर्णन करते हुए ७ व्यसनो का वर्णन किया।

अमितगति ने गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के नामो में उमास्वामि का और स्वरूप वर्णन करने में सोमदेव का अनुसरण किया है। पूजन के वर्णन मे देवसेन का अनुकरण करते हुए भी अनेक ज्ञातव्य बातें कही हैं। निदान के प्रशस्त अप्रशस्त भेद उपवास की विविधता, आवश्यकों मे स्थान, आसन, मुद्रा, काल आदि का वर्णन अमितगति के श्रावकाचार की विशेषताएं हैं। यदि संक्षेप मे कहा जाए तो पूर्ववर्ती श्रावकाचारों का दोहन और उनमें नही कहे गए विषयों का प्रतिपादन करना ही आचार्य अमितगति का लक्ष्य रहा है।

---

१. उपासकाचार प्रशस्ति श्लोक ७ से ९

इस श्रावकाचार के अन्त में रचनाकाल नहीं दिया गया है तो भी उक्त आधार से विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी का उत्तरार्ध उनका समय सिद्ध है ।[१]

यह ग्रन्थ अनेक बार प्रकाशित हुआ है ।

५. द्वात्रिंशिका—

इसका प्रचलित नाम सामायिक पाठ भी है । यह बड़ी लोकप्रिय रचना है । जो किसी न किसी अनुवाद के साथ अनेक बार प्रकाशित हुई है ।[२] यह भावना प्रधान ३२ श्लोकों में निबद्ध रचना है । लोकप्रसिद्ध श्लोक—"सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद········" इस रचना का आद्य श्लोक है । विभिन्न जिनवाणी संग्रहों में इसका प्रकाशन होता ही है । इसके हिन्दी पद्यानुवाद भी हुए हैं । इसे प्रायः सर्वत्र सामायिक का अंग माना जाकर सामायिक में बोला जाता है ।

६. तत्त्व भावना—

इसका नाम भी सामायिक पाठ है । यह १२० पद्यो मे रचित एक संस्कृत भाषा की भावनात्मक रचना है । इस रचना पर गुणभद्र के आत्मानुशासन का स्पष्ट प्रभाव है । कविता की शैली सरस, सरल तथा हृदयग्राही है ।[३]

७. आराधना—

यह कृति इतनी अच्छी है कि जैसे यह शिवार्य (शिवकोटि) की प्राकृत आराधना का निकटतम अनुवाद हो ।[४]

यह सोलापुर से सन् १९३५ में प्रकाशित हुई है ।[५]

जहां तक मुझे ख्याल है इसका अभी तक हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन नही हुआ है । इसका नाम "मरणकंडिका" ग्रन्थ में प्रदत्त है ।

मैं पहली बार ही इस मरणकंडिका (आराधना) का यह प्रांजल, सरल, सहज व सरस अनुवाद पूज्य जिनमति माताजी कृत देख रहा हूं ।

इसका विषय-परिचय एवं अन्य भी विशिष्ट परिचय पूज्य माताजी स्वयं इसी ग्रन्थ में दे ही रहीं हैं, अतः यहाँ नहीं लिखा जाता है ।

---

१ श्रावकाचार संग्रह भाग ४ प्रस्ता० पत्र २७-२८ पं० हीरालाल सि० शा०

२. योगसार प्राभृत प्रस्ता० पत्र १२

३. पं० कैलाशचन्द्र सि० शा०

४ धर्म परीक्षा । प्रस्ता० पृ० २२ ए० एन० उपाध्ये

५ योगसार प्राभृत । प्रस्ता० पृ० १२

प्रस्तुत मरणकंडिका (आराधना) की अनुवादिका—

इस ग्रन्थ की चूंकि पृथक् से टीका—अनुवाद अभी तक कहीं से होकर प्रकाशित नहीं हुआ अतः पूज्य १०५ आ० जिनमतीजी ने लिखकर सकल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन समाज का पारमार्थिक उपकार किया है—यह बात अत्यन्त स्पष्ट है। यतः आजकल संस्कृत या प्राकृत जैसी भाषाओं के ज्ञाता तो रहे नहीं, अतः पूज्या माताजी की यह सरल—प्रांजल अनुवाद—चन्द्रिका सर्वोपयोग योग्य होगी ही।

प्रेरणा के स्रोत—

इस ग्रन्थ के अनुवाद की प्रेरणा पूज्य पट्टाधीश आचार्य अजितसागरजी ने गत वर्ष उनके सलूम्बर—चातुर्मास के काल में दी। आचार्य श्री की स्वय की २० वर्ष पूर्व की हस्तलिखित मरण-कंडिका भी है। आचार्य श्री ने इस हस्तलेखन के पूर्व भी इस ग्रन्थ का आद्योपान्त अनेक बार स्वाध्याय किया था। आपकी यह भावना रही थी कि इस ग्रन्थ का पृथक् से अनुवाद होना चाहिए। इस ग्रंथ के आदि के १९ श्लोक कही नही मिले। सोलापुर तथा कलकत्ता के प्रकाशनों में भी उक्त प्रथम १९ श्लोक नहीं हैं। पूज्य आचार्य श्री ने नागौर के भण्डार से इस ग्रन्थ की पूर्ण प्रति प्राप्त कर इन्हे उतार लिए। जिसके कारण से अब यह ग्रन्थ पूरा अस्खलित छप रहा है, इस बात की खुशी है।

आचार्य श्री के भावों के अनुसार ग्रंथ के अन्त मे समाधिमरण से सम्बन्धित विभिन्न ग्रंथों के लगभग १५० श्लोक भी दिये गए हैं। इस प्रकार आचार्य श्री की प्रेरणा से माताजी ने यह कार्य हाथ में लिया तथा प्रसन्नतापूर्वक इसे पूरा किया है।

अनुवादिका का देह परिचय—

पूज्य जिनमती माताजी का जन्म फाल्गुन शुक्ला १५ सं० १९९० को म्हसवड ग्राम (जिला-सातारा, महाराष्ट्र) में हुआ। म्हसवड ग्राम सोलापुर के पास स्थित है। जन्म नाम प्रभावती था। आपके पिता का नाम फूलचन्द्रजी और माताजी का नाम कस्तूरी देवी था। दुर्भाग्य से प्रभावती के बचपन में ही माता-पिता काल-कवलित हो गए। फलस्वरूप आपका लालन-पालन आपके मामा के घर हुआ।

सन् १९५५ में आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी ने म्हसवड में चातुर्मास किया। उस समय चातुर्मास मे अनेक बालाए माताजी से द्रव्यसंग्रह, तत्त्वार्थसूत्र, कातन्त्र व्याकरण आदि ग्रथों का अध्ययन करती थी। उस समय बीस वर्षीय बालिका प्रभावती भी उन अध्ययनरत बालाओं में से एक थी।

प्रभावती ने वैराग्य से ओतप्रोत होकर सन् १९५५ में ही दीपावली के दिन १०५ ज्ञानमतीजी

से दशम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किए। तत्पश्चात् पूज्य आ० वीरसागरजी के संघ में वि० सं० २०१२ में ब्र० प्रभावतीजी ने क्षुल्लिका दीक्षा ली; आपका जिनमती नाम रखा गया—

सन् १९६१ ई० तदनुसार कार्तिक शुक्ला ४ वि० सं० २०१६ में सीकर (राज०) चातुर्मास के काल मे पूज्य १०८ आ० शिवसागरजी महाराज से क्षु० जिनमतीजी ने स्त्री पर्याय के योग्य सर्वश्रेष्ठ सोपान आर्यिकाव्रत की कठोरतम प्रतिज्ञा अंगीकृत की।

शनैः शनैः अपनी प्रखर बुद्धि से तथा पूज्य आ० ज्ञानमतीजी के प्रबल निमित्त से आप अनेक शास्त्रों की पारगत हो गई। आप ज्ञानमती माताजी को "गर्भाधान क्रिया से न्यून माता" कहती हैं। आज आप न्याय, व्याकरण के ग्रन्थों की विदुषी के रूप मे इस देश के मुमुक्षुओ को गौरवान्वित कर रही हैं।

आपने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड जैसे महान् दार्शनिक ग्रंथ की २०३६ पृष्ठों में हिन्दी टीका प्रथम बार लिख कर; एक भाषानुदित दर्शनग्रन्थ सरल व सुलभ कर दिया है। इससे पूर्व इसका हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। फिर सबसे बड़ी बात यह है कि परापेक्षी वृत्ति के बिना ही स्वयं ने निजी सस्कृत व न्याय के अधिकृत ज्ञान से यह कार्य सम्पन्न किया है।

आज पुनः मरणकंडिका का अनुवाद देखकर हृदय प्रफुल्लित होता है। इस ग्रन्थ से साधु व श्रावक दोनों को ही नूनमेव पारलौकिक मार्गदर्शन प्राप्त होगा।

पूज्य माताजी सस्वास्थ्य, रत्नत्रय की समीचीन व वर्धमान सम्पालना करती हुई चिरकाल जिएं, यही पुनीत भावना भाता हुआ पाठको से निवेदन करता हू कि जिन्हें, स्वैराचाररहित, मानलिप्सारिक्त, अत्यन्त सरल, सहज, श्रीमानों आदि से असम्पृक्त, एकान्त, लोक से नीरस एव चिदानन्द मे सरस जीवन जीने वाली आर्यिकोत्तर आर्यिका के दर्शन करने हो वे "जिनमति" के शरण की निज मति करें [अर्थात् जिनमति के दर्शन अवश्य करे]

सुभास्ते पन्थानः सन्तु।

भद्रं भूयात्।

विनीत—

जवाहरलाल मोतीलाल जैन
वकतावत, साटड़िया बाजार,
भीण्डर (उदयपुर)

*

परम पूज्य तपस्वी आचार्यप्रवर

श्री १०८ श्री शिवसागरजी महाराज

परम पूज्य धर्मदिवाकर

श्री १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज
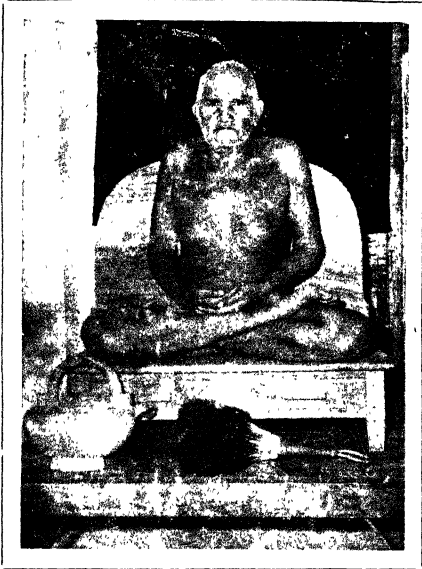
जन्म	क्षुल्लक दीक्षा :	मुनिदीक्षा :	समाधि :
वि स १९७० पौष पू.	चैत्र शुक्ला ७, स २००१	कार्तिक शु. १४, स २००८	बैसाख कृ. ९, स. २०४४
गम्भीरा (बूंदी)	बालूज	फुलेरा	सीकर २२-४-८७
राजस्थान	महाराष्ट्र	राजस्थान	राजस्थान

विषय परिचय

यह मरणकण्डिका नामा ग्रन्थ आचार्य अमितगति [द्वितीय] विरचित है। इसमें भक्त प्रत्याख्यान मरण आदि का सविस्तृत विवेचन होने से सार्थक गौण नाम मरणकण्डिका है। तथा अपर नाम आराधना विधि भी है, क्योंकि इसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओं का कथन है। यह ग्रंथ शिवकोटि आचार्य प्रणीत भगवती आराधना की प्रति छाया स्वरूप है। इसमें भक्त प्रत्याख्यान मरण का प्रमुखतया वर्णन है। इस मरण के कथन में चालीस अधिकार हैं। इन अधिकारों में से कोई अधिकार बिलकुल छोटा तो कोई बहुत बडा है, कोई मध्यमरूप है अतः इन अधिकारों के समुदाय बनाकर उनको बारह जगह विभक्त किया है। अनुशिष्ट अधिकार (दूसरा) सबसे अधिक विशाल है इसलिए इसको महाधिकार कहा है। प्रतिज्ञा पूर्वक मंगल श्लोक के अनन्तर चार आराधनाओं की सिद्धि के पांच हेतु बतलाए हैं—द्योतन, मिश्रण, सिद्धि, व्यूढि और निर्व्यूढि।

सम्यग्दर्शन आदि दोषों को भली प्रकार से दूर करना द्योतन कहलाता है, आत्मा के साथ सम्यग्दर्शन आदि का एकीकरण मिश्रण है, सम्यग्दर्शनादि का परिपूर्ण करना सिद्धि है। ख्याति लाभ यश की चाह बिना इन सम्यक्त्व आदि का वहन व्यूढि कहलाती है। और परीषह आदि के आने पर भी निराकुलता से मरण पर्यन्त सम्यक्त्वादि को ले जाना निर्व्यूढि कही जाती है, इन द्योतन आदि के ग्रन्थान्तरों में उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन और निस्तरण ऐसे नाम हैं, अर्थ सर्वत्र यही है।

सम्यक्त्व की आराधना अन्य तीन आराधना का मूल आधार है, यदि सम्यक्त्व नहीं है और ज्ञानादि हैं तो वे समीचीन नहीं कहलाते न इनके धारक व्यक्ति आराधक ही कहलाते हैं। श्रद्धा-सम्यक्त्व रहित ज्ञान व्यर्थ है, भारभूत है, जैसे नेत्र का सार सर्प, कण्टक आदि का परिहार करके चलना है, किन्तु जो नेत्रवान पुरुष गर्त मे गिरता है तो उसका सनेत्र होना व्यर्थ है, वैसे सम्यक्त्व रहित ज्ञान की दशा है। जो सम्यक्त्व की आराधना करता है उसकी नियम से ज्ञानाराधना होती है और जो चारित्र आराधक पुरुष है वह तप आराधक भी है। चार आराधनाओं की सतत आराधना करनी चाहिए, ऐसा नहीं विचारे कि अन्त समय मे आराधना कर लेंगे, क्योकि जैसे राजपुत्र हमेशा शस्त्र संचालन का अभ्यास करता है तभी वह समरांगण मे शत्रु पर विजय प्राप्त करता है वैसे जो साधु हमेशा आराधना में सलग्न रहता है वह मरण काल में ध्यानादि से च्युत नहीं होता मरण पर विजय प्राप्त कर लेता है। यदि कोई पुरुष जीवन में आराधना के अभ्यास बिना ही अन्त में समाधिमरण पूर्वक प्राण छोड़ता है तो वह स्थाणुमूल निधानवत् है अर्थात् मार्ग से जाते हुए ठूंठ से टकराना ठूंठ उखड़ जाना और उसके नीचे गडा धन मिलना, यह सब असंख्य प्राणियों में से किसी एक को ही सुलभ है सबको नहीं वैसे बिना अभ्यास के समाधिमरण होना किसी एक को ही सम्भव है सबको यह सम्भव नहीं। सबका तो यही कर्त्तव्य है कि हमेशा दर्शन ज्ञानादि की आराधना करता रहे।

भक्त प्रत्याख्यानमरण अर्ह आदि अधिकार—

मरण के सतरह भेद है। इनमें से इस मरणकंडिका में पांच मरणों का कथन है। बालमरण, बालबालमरण, बालपंडितमरण, पंडितमरण और पंडितपंडितमरण। व्रत रहित सम्यग्दृष्टि के मरण को बालमरण कहते हैं। मिथ्यादृष्टि के मरण को बालबालमरण कहते हैं। अणुव्रती पंचमगुणस्थानवर्ती तथा आर्यिका, क्षुल्लक आदि का बालपंडित मरण होता है। छठे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिजनो का पंडितमरण कहलाता है और चौदहवें गुणस्थानवर्ती अर्हन्त देव का निर्वाण पण्डित पण्डित मरण है।

सम्यक्त्व की आराधना पूर्वक मरण करने वाले जीवो का कथन करते हुए जीवादि सात तत्त्वों के श्रद्धान की प्रेरणा दो है एवं ऐसा बताया है कि जिनागम के एक अक्षर का भी अश्रद्धान करे तो वह सम्यक्त्वाराधक नही है जो बाहर से संयत असयत, संयतासंयत रूप है, किन्तु सम्यग्दर्शन रहित है तो वह आराधक नहीं है उसका मरण बालबाल मरण ही कहलाता है। पण्डित मरण के तीन भेद हैं—भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन। भक्त प्रत्याख्यान मरण के वर्णन मे चालीस अधिकार हैं—अर्ह, लिंग शिक्षा, विनय, समाधि, अनियत विहार, परिणाम, उपधित्याग, श्रिति, भावना, सल्लेखना, दिशा, क्षमण, अनुशिष्टि [प्रथम] परगण चर्या, मार्गणा, सुस्थित उपसर्पण, निरूपण, प्रतिलेख, पृच्छा, एक संग्रह, आलोचना, गुणदोष, शय्या, सस्तर, निर्यापक, प्रकाशन, हानि, प्रत्याख्यान, क्षामण, क्षपण, अनुशिष्टि [द्वितीय] सारणा, कवच, समता, ध्यान, लेश्या, फल, आराधक त्याग।

(१) अर्ह—भक्त प्रत्याख्यान मरण को धारण करने मे जो मुनि योग्य हैं उसे अर्ह कहते है अर्थात् रोग आदि के कारण जिसका मरण सन्निकट है, ऐसे साधु को समाधि के योग्य होने से 'अर्ह' कहते हैं अर्थात् जिस अधिकार में इस प्रकार समाधि के योग्य कौन साधु है इसका वर्णन होता है वह अर्ह नामका अधिकार है।

(२) लिंग—दि० जैन साधु का वेष लिंग किस प्रकार होता है इसका वर्णन इस प्रकरण में है अर्थात् पीछी धारण, नग्नता, तैलादि के सस्कार से रहितता इत्यादि का कथन है।

(३) शिक्षा श्रुतज्ञान का अभ्यास।

(४) विनय—गुरुजनो का सन्मान, ज्ञान विनय आदि का कथन इस अधिकार में है।

(५) समाधि—मनका समाधान होना अथवा मनकी एकाग्रता।

(६) अनियत विहार—साधुजन यत्र तत्र विहार करते हैं उससे जो लाभ होता है उसका वर्णन।

(७) परिणाम—अपने को जो कार्य करना है उसका विचार करना।

(८) उपधित्याग—परिग्रह त्याग।

(९) श्रिति—शुभ परिणामों की उत्तरोत्तर वृद्धि।

(१०) भावना—संक्लिष्ट भावना का त्याग और शुद्ध भावना का ग्रहण ।

(११) सल्लेखना—काय और कषायों का कृशीकरण ।

(१२) दिशा—समाधि के इच्छुक आचार्य अपने पद पर अन्य मुनि को प्रतिष्ठित करते हैं उस विधि का कथन इसमें है ।

(१३) क्षमणा—समाधि के इच्छुक आचार्य अपने संघ से क्षमा याचना करते हैं ।

(१४) अनुशिष्टि—समाधि के वाञ्छक आचार्य परमेष्ठी अपना पद अन्य शिष्य को देकर उसको तथा समस्त संघ को पृथक्-पृथक् उनके कर्त्तव्य का श्रेष्ठ उपदेश देते हैं, उसका कथन ।

(१५) परगणचर्या—समाधि के हेतु आचार्य अन्य सघ मे जाने के लिए गमन करते हैं ।

(१६) मार्गणा—समाधिमरण कराने मे परम सहायक ऐसे आचार्य का अन्वेषण करना ।

(१७) सुस्थित—अपने तथा पर के उपकार करने में समर्थ आचार्य को सुस्थित कहते हैं ऐसे आचार्य के निकट जाना ।

(१८) उपसर्पण—समाधिमरण कराने मे समर्थ ऐसे आचार्य के चरणो में आत्म समर्पण ।

(१९) निरूपण—उक्त समर्थ आचार्य द्वारा आगत क्षपक मुनि का निरीक्षण परीक्षण करना ।

(२०) प्रतिलेख—समाधिमरण की सिद्धि कैसी होगी इत्यादि विषयो का शोधन करना निरीक्षण करना ।

(२१) पृच्छा—समाधि के लिए अपने संघ में साधु के आ जाने पर सघनायक सघ से पूछते हैं कि इनको ग्रहण करना है या नही ? अर्थात् यह साधु समाधि के योग्य है या नही आप इस कार्य मे समर्थक है या नही इत्यादि आचार्य द्वारा पूछा जाना ।

(२२) एकसग्रह—एक आचार्य एक ही क्षपक मुनि को समाधि हेतु संस्तरारूढ करते हैं, एक साथ अनेकों को नही ।

(२३) आलोचना—जीवन पर्यन्त साधु अवस्था मे जो दोष लगे हैं उनको आचार्य के लिए निवेदन कर देना ।

(२४) गुणदोष - आलोचना के गुण दोषो का कथन ।

(२५) शय्या—जहा भक्त प्रत्याख्यान मरण ग्रहण करता है वह स्थान वसतिका कैसी हो ।

(२६) संस्तर—जिस पर क्षपक लेटता है वह भूमि तृण आदि कैसे हो ?

(२७) निर्यापक—क्षपक की सेवा करने वाले मुनिगण कैसे हों ?

(२८) प्रकाशन—क्षपक को यावज्जीव आहार का त्याग कराने के लिए उसको आहार दिखाकर आहार से विरक्ति कराना ।

(२९) हानि—क्षपक से क्रमशः आहार पानी का त्याग कराना ।

(३०) प्रत्याख्यान—जीवन पर्यंत के लिए सर्वथा आहार त्याग ।

(३१) क्षामरा—क्षपक द्वारा समस्त संघ से क्षमा याचना।

(३२) क्षपरा—क्षपक द्वारा कर्मों की निर्जरा होना। उसका कथन।

(३३) अनुशिष्टि—निर्यापक आचार्य द्वारा क्षपक के लिए महाव्रत आदि मूलगुरा तथा उत्तर गुणों का उपदेश देना। इसमे सबसे अधिक श्लोक हैं, यह सबसे बडा अधिकार है।

(३४) सारणा—रत्नत्रय धर्म मे क्षपक को प्रेरित करना।

(३५) कवच—क्षपक को धर्मोपदेश द्वारा वैराग्यरूप दृढ कवच पहना देना इसमें घोर परीषह विजयी सुकुमाल आदि मुनियों की कथायें हैं।

(३६) समता—समता भाव का वर्णन।

(३७) ध्यान—धर्मध्यान आदि का सविस्तार कथन।

(३८) लेश्या—छह लेश्या का कथन एव मरते समय कौन सी लेश्या होवे तो क्षपक किस गति में जाता है इसका वर्णन।

(३९) फल—चार आराधनाओं की आराधना का क्या फल मिलता है।

(४०) आराधक के शरीर का त्याग—क्षपक की मृत्यु होने के बाद संघ का कर्त्तव्य क्या है क्षपक के शव का क्या करना इत्यादि विषय का कथन।

(१) अर्ह—जिस साधु की नेत्र दृष्टि अत्यल्प हो गयी है कर्ण श्रवण कार्य नही करते जघाबल सर्वथा घट गया है असाध्य रोग जो कि साधु पद में बाधक है, उपसर्ग आ गया है, दुर्भिक्ष हो गया है इत्यादि कारणों के उपस्थित होने पर उस साधु के समाधि ग्रहरा का अवसर है, अतः ऐसे साधु समाधि के अर्ह—योग्य कहलाते हैं। इसमें ६ कारिकायें हैं।

(२) लिंग—मुनि लिंग मुख्यतया समाधि का साधक है जो गृहस्थ अन्त मे समाधि करना चाहता है वह मुनिलिंग धाररा करके समाधिमरण करे। मुनिलिंग के चार चिह्न हैं—अचेलकत्व, या नाग्न्य वस्त्र, शस्त्रअलंकार का त्याग। लोच—दाढी मूछ, शिर के केशो को हाथ से उखाडना। व्युत्सृष्ट देहता—शरीर के ममत्व का त्याग। प्रतिलेखन—मयूर के पखों की पीछी धाररा करना। इसमें २० कारिकाये हैं।

(३) शिक्षा—जिनागम का सतत अभ्यास करना, इससे हेयोपादेय का हित अहित ज्ञान होता है, परिणाम, संवर, प्रत्यग्र सवेग, रत्नत्रयस्थिरत्व, तपोभावना, परदेशकत्व। इस प्रकार इसमें जिन शिक्षा का महत्व बतलाया है। इसमें १३ श्लोक हैं।

(४) विनय—दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपविनय, उपचारविनय इन पांचों विनयों का कथन इसमें है। इसमे २४ श्लोक हैं।

(५) समाधि—मनको समाहित शान्त स्थिर करना समाधि है अथवा मनको वश करना समाधि

है, जैसे वश में किया गया दास अन्यत्र नहीं जाता वैसे वश हुआ मन अशुभ मे नहीं जाता इत्यादि। इसमें ११ कारिकायें हैं।

(६) अनियत विहार—साधु वायुवत् निःसंग होकर सर्वत्र विहार करे कहीं पर भी प्रतिबद्ध न रहे इससे रत्नत्रय में स्थिरता आदि गुणों को प्राप्ति होती है। इसमे १० श्लोक हैं।

(७) परिणाम—मेरे में कौन से समाधिमरण के ग्रहण की क्षमता है, अनन्त ससार में परिभ्रमण करते हुए मैंने आज तक समाधि पूर्वक मरण नही किया अतः दुःख का भाजन बन रहा हू। अब अवश्य ही समाधि युक्त मरण करूंगा। इत्यादि रूप समाधि के लिए दृढ़ परिणाम करना इत्यादि। इसमे ८ श्लोक हैं।

(८) उपधित्याग—परिग्रह का त्याग अर्थात् जो परिग्रह त्याग महाव्रत पहले से स्वीकार किया है उसमें विशेष रूप से दृढ़ता लाना, साधु योग्य पुस्तक आदि मे भी ममत्व नही करना साधु योग्य वस्तु होते हुए भी विवेक युक्त ही ग्रहण करना इत्यादि। इसमें ६ श्लोक हैं।

(९) श्रिति—सम्यक्त्वादि गुणो में प्रतिदिन विशुद्धि बढाना। इसमे ७ कारिकायें हैं।

(१०) भावना—सघ के समक्ष अपनी समाधि ग्रहण की भावना व्यक्त करना, कांदर्पी आदि संक्लेश वाली अशुभ ५ भावना का सर्वथा त्याग करना और तपो भावना, धैर्य भावना आदि पवित्र शुद्ध भावना का आश्रय लेना इसमे एकत्व भावना मे दृढ ऐसे नामदत्त नाम के महामुनि का कथानक है। इसमें २५ कारिकायें हैं।

सल्लेखना आदि अधिकार

(११) सल्लेखना—संन्यास के सम्मुख व्यक्ति को बारह तपों मे विशेष रीत्या संलग्न होना चाहिए। छह अन्तरंग और छह बाह्य तप हैं इन तपों की विधि एव इनसे होने वाला तत्कालीन लाभ आदि का सुन्दर विवेचन इस अधिकार में है भक्त प्रत्याख्यान का उत्कृष्ट काल बारह वर्ष प्रमाण है उसको इस प्रकार व्यतीत करें—विविध—आतापन योग कायक्लेश आदि तपों द्वारा चार वर्ष व्यतीत करे, चार वर्ष समस्त रसो का त्याग करके पूर्ण करें, आचाम्ल और रस त्याग द्वारा दो वर्ष तथा एक वर्ष आचाम्ल तप द्वारा और अन्तिम छह मास उत्कृष्ट कायक्लेश द्वारा व्यतीत करे। कषाय सल्लेखना—कषायो का कृशोकरण या त्याग भी साथ साथ सर्वथा करना आवश्यक है तभी वह सल्लेखना कहलाती है। इसमें ६८ कारिकायें हैं।

(१२) दिशा—समाधिमरण के इच्छुक व्यक्ति यदि आचार्य हैं तो वे अपना आचार्य पद योग्य शिष्य को शुभ नक्षत्र वार आदि में देते हैं एवं उनको संघ संचालन का दिशा बोध देते हैं। इसमें ५ कारिका हैं।

(१३) क्षमण—समस्त संघ को बुलाकर समाधि के इच्छुक आचार्य सर्व संघ के समक्ष क्षमा याचना करते हैं। इसमें ३ श्लोक हैं।

(१४) अनुशिष्टि—समाधि के इच्छुक आचार्य नवीन बनाये गये आचार्य को शिक्षा उपदेश देते हैं कि जिस प्रकार नदी का प्रवाह उद्गम स्थान में अल्प और सागर में प्रविष्ट होते समय विशाल होता है उस प्रकार आप अपने स्वयं के व्रताचरण में तथा संघ के व्रताचरण में प्रवृत्ति करना अर्थात् उत्तरोत्तर व्रताचरण में वृद्धि करते रहना, संघस्थ साधु द्वारा आलोचना करने पर उनके दोष कभी भी प्रगट नही करना इत्यादि तथा शिष्यो को भी हृदयस्पर्शी उपदेश देते हैं। इसमे यह शिक्षा दी है कि आप मुनिगण कभी भी पार्श्वस्थादि भ्रष्ट मुनियों की संगति नही करना तथा आर्यिका की संगति कभी भी नही करना। इसमे ११२ कारिकाये हैं।

(१५) परगणचर्या—समाधि के इच्छुक आचार्य दूसरे संघ में समाधि के लिए प्रवेश करते हैं—जाते हैं जिसमे अपरिस्रावी आदि गुणों से भूषित निर्यापक आचार्य हो। यदि अपने संघ में ही आचार्य समाधि करेगा तो बाल आदि मुनिजनों पर ममत्व होने से या किसी अज्ञानी मुनि द्वारा आज्ञा भंग होने से परिणाम क्लेशित होकर समाधि नष्ट होगी इत्यादि। इसमे १६ कारिकायें हैं।

(१६) मार्गणा—निर्यापक आचार्य अर्थात् जिसे सल्लेखना कराने की विधि ज्ञात है, वैयावृत्य मे रुचि सम्पन्न है ऐसे आचार्य का अन्वेषण करना। इसमे १६ कारिकाये हैं।

सुस्थितादि अधिकार

(१७) सुस्थित—निर्यापक आचार्य के आठ गुण हैं—आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, प्रकारक, आयापायदर्शी, उत्पीडक, सुखकारी और अपरिस्रावी। इन सबका विस्तृत विवेचन इस अधिकार में है। अपरिस्रावी गुण उसे कहते हैं जो क्षपक के महान् से महान् दोष को भी प्रगट न करे। जिस प्रकार गरम तवे पर जल की बूंद समाप्त होती दिखायी नही पड़ती वैसे जो आचार्य क्षपक के दोष को नही दिखाता। यदि आचार्य अपरिस्रावी गुण युक्त नहीं है तो क्षपक की महान् हानि तथा धर्म का ह्रास होगा इत्यादि। इसमे १७ कारिकाये हैं।

(१८) उपसर्पण—निर्यापक आचार्य के प्राप्त होने पर उनके निकट अपने आगमन का हेतु बतलाकर विनयपूर्वक आलोचना आदि के विषय में निवेदन करना तथा निर्यापक आचार्य द्वारा उस अभ्यागत साधु को आश्वासन देना। इसमें ६ कारिकायें हैं।

(१९) परीक्षण—निर्यापक आचार्य अभ्यागत समाधि के इच्छुक साधु का परीक्षण करते हैं कि इसमें सल्लेखना के प्रति कितना उत्साह है तथा निमित्त आदि द्वारा यह भी देखते हैं कि समाधिमरण निर्विघ्न होगा या नहीं। इसमें ३ कारिकाएं हैं।

(२०) निरूपण—निर्यापक आचार्य समाधि के अनुकूल राज्य, राजा, देश आदि है या नहीं तथा अपने संघस्थ साधुओं का भाव भी देखते हैं। इसमें एक ही कारिका है।

(२१) पृच्छा—निर्यापक आचार्य अपने संघ के साधुओं को पूछते हैं कि अपने को इस अभ्यागत साधु की सल्लेखना करानी है। इसमें भी १ कारिका है।

(२२) एकसंग्रह—संघ में एक ही साधु को सल्लेखना के लिए अनुमति देना चाहिए। अनेक को नहीं, जैसे मुख में एक ही ग्रास लेते हैं। इसमें ३ कारिका हैं।

(२३) आलोचना—आलोचना—विशुद्ध भावो से मायाचार छोड़कर करनी होती है, इसके लिए उद्यान आदि रम्य स्थान, शुभ वार, नक्षत्र आदि होना चाहिए। इन स्थान, आदि के विषय में इसमें सुन्दर विवेचन है। इसमे ४२ कारिकायें हैं।

(२४) गुणदोष—आलोचना करने से कितने गुण प्राप्त होते हैं और नहीं करने से कितने दोष आते हैं इसका विशद वर्णन तथा आलोचना दश दोषों को टालकर ही नियम से करना चाहिए इनमे से एक दोष से होने वाली हानि को उदाहरण सहित समझाया है। छल से गुरु से पूछे कि अमुक व्रत में दोष लगे तो क्या प्रायश्चित है प्रच्छन्न रीत्या पूछकर स्वतः की शुद्धि हुई मानना छन्न नामा दोष है। अन्य के भोजन से अपनी तृप्ति हो तो अन्य के बहाने अपनी शुद्धि हो किंतु ऐसा सम्भव नही है अतः निश्छल भाव से आलोचना करने पर ही समाधि पूर्वक मरण सम्भव है, अन्यथा नही इत्यादि कथन इस अधिकार मे है। इसमें ६६ श्लोक हैं।

(२५) शय्या—क्षपक जहाँ पर सल्लेखना करेगा वह स्थान कैसा होना जिससे कि क्षपक के ध्यान मे विघ्न न हो एवं वह स्थान पवित्र होना चाहिए इत्यादि कथन इसमे ८ कारिकायें हैं।

(२६) सस्तर—क्षपक जिस पर लेटता है वह शिला, काष्ठ आदि रूप संस्तर कैसा होना चाहिए इसका वर्णन इसमें है। इसमें ८ कारिकाये हैं।

निर्यापकादि अधिकार

(२७) निर्यापक—क्षपक की वैयावृत्त्य के लिए निर्यापक आचार्य ४८ मुनियो को नियुक्त करते हैं ४८ मुनिजन भी निर्यापक कहलाते हैं इनमे किस प्रकार के गुण होते हैं एवं इनकी किस किस कार्य में नियुक्ति होती है इस बात का मनोहर वर्णन इसमें है इसमें ४२ कारिकायें हैं।

(२८) प्रकाशन—क्षपक मुनिराज को अन्न, स्वाद्य, और लेह्य इन तीन प्रकार के आहार को दिखाकर फिर त्याग कराना चाहिए, अन्यथा उक्त आहार में आसक्ति रह जाना सम्भव है, इसका इसमें वर्णन है। इसमें ७ कारिकाये हैं।

(२९) हानि—क्षपक मुनि की मनोहर आहार मे आसक्ति होवे तो उस आसक्ति को दूर करने का इसमें कथन है। इसमें ४ कारिकायें हैं।

(३०) प्रत्याख्यान—क्षपक द्वारा तीन प्रकार के आहार का यावज्जीव तक त्याग किया जाता है। एक पेय पदार्थ ग्रहण करता है वह किस प्रकार होना इसका वर्णन है। इसमे १० श्लोक हैं।

(३१) क्षामण—चतुर्विध संघ के समक्ष क्षपक द्वारा क्षमा याचना का सुन्दर विवेचन इसमें है। इसमें ४ कारिकाये हैं।

(३२) क्षपण—समाधि में स्थित साधु अत्यन्त विशुद्ध एव दृढ वैराग्य परिणाम द्वारा असंख्यात गुण श्रेणी निर्जरा करता है। इसका कथन इसमे है। इसमे ६ कारिकाये हैं।

अनुशिष्टि महाधिकार

(३३) अनुशिष्टि—समाधिस्थ क्षपकराज मुनि एव अन्य सभी साधु समुदाय को आचार्य द्वारा पंच महाव्रत आदि का अत्यन्त सुन्दर अतिविस्तृत उपदेश इस महाधिकार में दिया गया है। एक एक महाव्रत का इस प्रकार का हृदयस्पर्शी वर्णन भगवती आराधना ग्रन्थ तथा इस मरण-कण्डिका ग्रंथ को छोडकर अन्यत्र कही पर दृष्टिगोचर नही होता है। इस अधिकार के दो श्लोक सूत्र रूप हैं—

मिथ्यात्ववमन दृष्टि, भावनां भक्तिमुत्तमा।
रति भाव नमस्कारे, ज्ञानाभ्यासे कुरूद्यमम्।। ७५३ ।।

अर्थात्—हे क्षपकराज साधो! तुम मिथ्यात्व का वमन करो, सम्यक्त्व की भावना करो, परमेष्ठियो में उत्तम भक्ति करो, परिणाम शुद्धि रूप भाव पंचनमस्कार मे रति और ज्ञानाभ्यास मे प्रयत्नशील होवो। सूत्ररूप इस कारिका में निर्दिष्ट मिथ्यात्व वमन का उपदेश ग्यारह श्लोको मे है इसी मे मिथ्यात्व दोष से जिसकी आँखे फूट गयी थी, ऐसे सघश्री नामा व्यक्ति की कथा का उल्लेख है। सम्यक्त्व भावना के वर्णन में नौ श्लोक हैं, राजा श्रेणिक की कथा है। भक्ति वर्णन में नौ श्लोक हैं राजा पद्मरथ की कथा है। पच नमस्कार का वर्णन करनेवाले सात श्लोक है। सुभग ग्वाले की कथा है। ज्ञानाभ्यास के वर्णन में सतरह श्लोक हैं इसमें यममुनि तथा दृढसूर्य चोर की कथा है। दूसरा सूत्ररूप श्लोक—

मुने महाव्रतं रक्ष, कुरु कोपादि निग्रहम्।
हृषीक निर्जय द्वेधा, तपोमार्गे कुरूद्यमम्।। ७५४ ।।

अर्थ— हे मुने! महाव्रत की रक्षा करो, क्रोध, मान, माया और लोभ का निग्रह करो, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो, दो प्रकार के बाह्य अभ्यन्तर तप मार्ग में उद्यम करो। इस श्लोक में उल्लिखित चार विषयों में से पंचमहाव्रतों का वर्णन श्लोक ८०५ से १४२१ तक है। कषाय निग्रह और इन्द्रिय विजय वर्णन सम्मिलित रूप से १४२२ से १५१८ तक है। तप का वर्णन

१५१९ से १५४६ श्लोकों तक है। अहिंसा महाव्रत के कथन में यमपाल चांडाल की, सत्य-महाव्रत में राजावसु की कथा है। ब्रह्मचर्य के वर्णन में तो आचार्य देव ने जो सांगोपांग विवेचन किया उसे पढ़कर कौन सा सहृदय व्यक्ति अब्रह्म से विरक्त नहीं होगा ? अवश्य होगा। इसमें काम के दोष बताते हुए वारत्रिक, गोरसंदीव और कडारपिंग की कथा है, स्त्रीदोष में रक्ता, गोपवती और वीरवती का उल्लेख है। शरीर दोष में सुरत राजा की कथा। वृद्ध सेवा में चारुदत्त की कथा तथा संगति दोष वर्णन में शकट, कूपार, रुद्र, पाराशर आदि का उल्लेख है। परिग्रह त्याग महाव्रत में पाच कथाओं का उल्लेख है। गुप्ति समिति पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएं इनका वर्णन कर, शल्य त्याग का उपदेश है। इन्द्रिय दोष कथन में भी अनेक उदाहरण हैं। कषाय के दोषों के वर्णन मे द्वीपायन आदि का समुल्लेख है। अन्त में निद्रा जीतने के उपाय तथा तपस्या की प्रेरणा पूर्वक यह महाधिकार पूर्ण होता है।

सारणादि अधिकार

(३४) सारणा—समाधिस्थ मुनि वेदना से पीडित होने पर उन्हे पुनः पुन जिनवाणी की शिक्षारूप अमृत से स्थिर करना वैयावृत्य द्वारा वेदना का प्रतीकार करना, क्षपक वेदना से बेहोश होने पर उपाय से सावधान करना इत्यादि रूप निर्यापक आचार्य का परम कर्त्तव्य है वेदना से आकुलित क्षपक की जो उपेक्षा करता है वह अधार्मिक है, वह क्षपक को भवसमुद्र में डुबोने वाला है और जिनधर्म बाह्य है। इसमें २० कारिकायें है।

(३५) कवच—जिस प्रकार रण मे प्रवेश करने वाला सुभट यदि लोहमय कवच पहिने हुए है तो वह बाण आदि से घायल नहीं होता और क्रमशः युद्ध मे विजय प्राप्त करता है उसी प्रकार महान् महान् उपसर्ग विजेता मुनिपुंगवो की कथाओं द्वारा दिव्य उपदेश रूपी कवच क्षपक को आचार्य पहिना देते है। उससे वह समाधिस्थ साधु धीरता पूर्वक क्षुधादि की बाधा सहन कर कर्म शत्रु पर विजय प्राप्त करता है। इसमे सुकुमार आदि घोर उपसर्ग विजयी १५ मुनियो की कथायें हैं। इसमे १७९ श्लोक हैं।

(३६) समता—निर्यापक आचार्य पुनरपि क्षपक को आहार, पान वैयावृत्य करने वाले तथा शय्या आदि मे समभाव रखने का उपदेश देते हैं। इसमे १५ कारिकाये है।

ध्यानादि अधिकार

(३७) ध्यान—प्रथम ही आर्त्त रौद्र रूप दो अशुभ ध्यानो का त्याग करना बताया है फिर धर्म्यध्यान के वर्णन में उसका परिकर, भेद आदि का कथन है इसी में बारह भावनायें हैं।

संसार भावना के अन्तर्गत पचपरावर्तन का कथन है । लोक भावना में अठारह नाते की कथा, सुभोग राजा की कथा और सुदृष्टि सुनार की कथा है । शुक्लध्यान के कथन में उसके चार भेद और उनके स्वामी का प्रतिपादन किया है । ये धर्मध्यान और शुक्लध्यान ही श्रेष्ठ तप संयम आदि हैं इत्यादि ध्यान का माहात्म्य बतलाया है इसमें २०३ श्लोक हैं ।

(३८) लेश्या—लेश्या के छह भेदों का कथन करके किस लेश्या के साथ मरण करने पर कहां उत्पन्न होता है यह बताया है शुक्ल लेश्या के उत्कृष्ट अंश के साथ मरण करने वाले क्षपक मुनि की उत्कृष्ट आराधना होती है और पीत लेश्या के साथ मरण करने वाले के जघन्य आराधना होती है । इसमे १८ श्लोक हैं ।

(३९) फल—सम्यग्दर्शन आदि चार आराधना सहित सन्यास करने वाले साधु के उत्कृष्ट आराधना पूर्वक सिद्ध पद प्राप्त होता है, मध्यम आराधना वाले यदि शुक्ल लेश्या युक्त हैं तो अनुत्तर विमानो मे अहमिन्द्र पद प्राप्त करते हैं । कोई लौकान्तिक देव होते हैं, कोई सोलह स्वर्गों में इन्द्र पद प्राप्त करते हैं । जघन्य आराधना करने वाले यथायोग्य सौधर्मादि स्वर्गों मे देव होते हैं । जो समाधि का नियम लेकर भी वेदना आदि से विचलित होते है अथवा कांदर्पी आदि खोटी भावना से सयुक्त हैं वे समाधि की विराधना कर देवदुर्गति में जन्म लेते हैं । इसमे ३८ श्लोक हैं ।

(४०) आराधक अंग त्याग—क्षपक मुनि का समाधि मरण होने पर उस शरीर को वैयावृत्य करने वाले धैर्यशाली मुनिगण नैऋत, दक्षिण या पश्चिम दिशा मे ले जाकर अटवी मे रख देते हैं । वह स्थान समभूमिरूप होना चाहिए रात्रि में समाधि होवे तो रात भर जागरण करना होगा एव क्षपक के शरीर मे छेदन करना भी आवश्यक है, मृतक को ले जाने आदि की विधि मूल में पूर्ण रूप से देखना चाहिए । जघन्य मध्यम आदि नक्षत्र में समाधि होवे तो क्या करना यह भी बताया है । समाधि रूप महायज्ञ में जो सहयोगी है, वैयावृत्य करते हैं, यहा तक जो केवल दर्शन वन्दन भी करता है वह जीव महान् भाग्यशाली है, उसका भी समाधि पूर्वक मरण होता है इस प्रकार इस अधिकार के अन्त में निर्यापक आदि को विशेषता कही है । इसमें ४१ श्लोक हैं ।

अवीचार भक्तत्याग इंगिनी, प्रायोपगमनाधिकार

अतुल वोर्यधारी महामुनिराज अकस्मात् मरण के कारण उपस्थित होने पर आहार त्याग कर अवीचार भक्त प्रत्याख्यान मरण को स्वीकार करते है । इसके तीन भेद हं । इंगिनी मरण मे पर के उपकार की अपेक्षा नही होती और प्रायोपगमन मरण मे तो अपने और पर दोनों के उपकार, सेवा, वैयावृत्य की अपेक्षा नहीं होती, इसमें सर्वथा शरीर चेष्टा से रहित

निश्चल स्थित होकर आत्मध्यान पूर्वक प्राणों का विसर्जन किया जाता है। इस अधिकार में अल्पकाल में ही अपने हित के साधक महामुनि विवर्द्धनकुमार, धर्मसिंह, वृषभसेन, यतिवृषभ और शकटाल मुनियों की कथायें हैं। इनमें अन्त की तीन कथाएँ तो बड़ी ही रोमांचकारी और विस्मयकारी हैं। इसमें ६६ श्लोक हैं।

बालपंडित मरणाधिकार

पचम गुणस्थानवर्ती जीवों के बालपंडित मरण होता है जो एक बार बालपंडित मरण कर लेता है वह सातवें भव मे मुक्त हो जाता है। इसमें १० ही कारिकायें हैं।

पंडितपंडित मरणाधिकार

यह मरण १४ गुणस्थानवर्ती अरहत भगवान के होता है यही निर्वाण कहलाता है। इसमे शुक्लध्यान द्वारा घाति और अघाति कर्मों का नाश किया जाता है। शुक्लध्यान की बाह्य सामग्री का किंचित् वर्णन कर क्षपक श्रेणी में मोहनीय आदि कर्मों के नाश का क्रम बतलाया है, पुनश्च केवली समुद्घात तथा अत में ८५ अघातिकर्मों का नाश होता है। सिद्धो के सुख का सुन्दर रीत्या विवेचन किया है। इसमें ६५ श्लोक हैं। सब अधिकारों के कुल २२३५ श्लोक हैं। रत्नत्रय स्वरूप आराधना का पृथक् रूप से ३२ श्लोकों में स्तोत्र किया गया है तथा कौन से नक्षत्र में समाधि-संस्तर ग्रहण करे तो कौन से नक्षत्र में मरण होगा इस विषय का प्राकृत भाषा में कथन है और अत मे आठ श्लोकों में ग्रंथकर्त्ता अमितगति आचार्य की प्रशस्ति है।

—आर्यिका शुभमती

विषयानुक्रमणिका

परम पूज्य १०८ आचार्य रत्न श्री अजितसागरजी महाराज का

संक्षिप्त जीवन वृत्त

गौरवर्ण, मध्यम कद, चौड़ा ललाट, भीतर तक झांकती-सी ऐनक धारण की हुई आंखे, हितमित प्रिय धीमा बोल, संयमित सधी चाल और सतत शान्त मुद्रा, बस यही है इनका अगन्यास ।

विषयाशाविरक्त, अपरिग्रही, ज्ञान-ध्यान-तप में निरत, विद्यारसिक, महा-पण्डित, निस्पृह, भद्रपरिणामी, साधना मे कठोर, वात्सल्य मे सुकोमल, सरल प्रवृत्ति, तेजस्वी महान् आत्मा, बस यही है इनका अन्तर आभास । जिसका आदर्श जीवन दूसरो के लिये प्रेरणा का स्रोत हो, जो कहने की अपेक्षा करके बताए और जो मनुष्य पर्याय मे 'करणीय' को आत्मसात् कर सतत विकासोन्मुख हो, वास्तव मे जीवन वही है, अन्यथा जीवन की घडिया तो सबकी बीतती ही है ।

विद्वत्ता और चारित्र परस्पर पूरक है । श्रद्धा इनको दृढता प्रदान करती है और इन तीनो का सामंजस्य जीवन का लक्ष्य-रत्नत्रय बन जाता है । इस रत्नत्रय का भव-भवान्तरो तक सतत साधन ही एक दिन साधक को अपने गन्तव्य तक पहुँचाता है वह गन्तव्य है मुक्ति, निर्वाण, सिद्धावस्था ।

वर्तमान के ऐसे ही साधको में एक नाम है—आचार्य रत्न अजितसागर । यथा नाम तथा गुण ।

विक्रम संवत् १९८२ मे भोपाल (म० प्र०) के निकट 'आष्टा' कस्बे से जुडे भौरा ग्राम में परम पुण्यशाली सुश्रावक श्री जवरचन्दजी पद्मावती पुरवाल के घर माता रूपाबाई की कोख से एक बालक ने जन्म लिया था । आज प्राय सबके जन्मो का लेखा-जोखा नगरपालिकाये रखती है पर कुछ ऐसे भी है जिनके जन्म का लेखा राष्ट्र, समाज और जातियो के इतिहास प्यार से अपने अक में सुरक्षित रखते है । यह बालक भी ऐसा ही था—राजमल ।

परिवार की आर्थिक स्थिति सामान्य थी । साधारण काम धन्धा था, अतः अपने बड़े तीन भाइयों की तरह बालक राजमल की भी स्कूली शिक्षा पूर्ण नही हो सकी, पर बालक की बुद्धि प्रखर थी, स्वभाव सरल था और व्यवहार विनम्र अतः वस्तु-परिज्ञान उसे शीघ्र ही हो जाता था । पर अध्ययन का क्रम नहीं चल सका । बस, इन्दौर जिले के अजनास ग्राम मे स्कूली शिक्षा विधिवत् कक्षा चार तक ही हो

सकी । राजमल को इस भौतिक अर्थकरी शिक्षा से प्रयोजन भी क्या था । उसे तो आत्मविद्या में दक्षता पानी थी ।

अपने असीम पुण्योदय से 'राजमल' को सवत् २००० मे आचार्य श्री वीरसागरजी महाराज के दर्शनो का प्रथम सौभाग्य मिला, आचार्य श्री एवं संघ के सान्निध्य से आपके जीवन की दिशा ही बदल गई । आपके हृदय मे परम कल्याणकारी जैन धर्म के प्रति अनन्य श्रद्धा बलवती हुई । १७ वर्ष की किशोरावस्था मे ही परम पूज्य आचार्यप्रवर श्री वीरसागरजी महाराज की सत्प्रेरणा से प्रभावित होकर आप सघ के अभिन्न अग हो गये और आपने जैनागम का ठोस गहन अध्ययन प्रारम्भ कर दिया । जैसे जैसे आपकी निर्मल आत्मा मे ज्ञान प्रगट हुआ तैसे-तैसे आपकी प्रवृत्ति वैराग्योन्मुख होने लगी । ज्ञान का फल वैराग्य ही तो है ।

स्वामि कार्तिकेयाचार्य ने कहा है–

इय दुलह मणुयत्त लहिऊण जे रमति विसएसु ।
ते लहिय दिव्वरयण, भूइणिमित्त पजालति ।।

इस दुर्लभ मनुष्य-पर्याय को प्राप्त करके भी जो इद्रियो के विषयो में रमते है, वे मूढ दिव्यरत्न को पाकर उसे भस्म के लिये जलाकर राख कर डालते है ।

जैनागमो का आपका अध्ययन फलीभूत हुआ । २० वर्ष के नवयौवन मे जहा आज युवक-युवतिया शादी-ब्याह की चिन्ता में रत रहकर अपना संसार बढाने का आयोजन करते है, वही 'राजमल' ने विक्रम सवत् २००२ मे झालरापाटण (राजस्थान) मे आचार्य श्री से सप्तम प्रतिमा (आजीवन ब्रह्मचर्य) के व्रत अगीकार कर भोगो से विरति का उपक्रम प्रारम्भ किया । अब राजमल ब्रह्मचारी राजमल हो गये । बुद्धि तो प्रखर थी ही, लगन और अथक श्रम से आपने आगम ज्ञान का मानसिक और भौतिक दोनो रूपो मे सचय किया, फलस्वरूप सघ और समाज मे आपको 'महापण्डित' के रूप मे लोकप्रियता मिली । परन्तु आत्मार्थी ब्र राजमल को इस लोकप्रियता और विद्वत्ता से तृप्ति नही मिली । उन्हे तो अमृतचन्द्राचार्य की इस उक्ति पर पूर्ण आस्था थी–

आत्मध्यानरतिर्ज्ञेयं, विद्वत्ताया पर फलम् ।
अशेषशास्त्रशास्तृत्व, ससारोऽभाषि धीधनै ।।

'विद्वत्ता की सफलता इसी मे है कि आत्मज्ञान मे लीनता हो । यदि वह नही है तो उसका सम्पूर्ण शास्त्रो का शास्त्रीपना (पठन-पाठन, विवेचन आदि कार्य) ससार

के सिवाय और कुछ नही है। उसे भी सासारिक धन्धा अथवा संसार परिभ्रमण का ही एक अंग समझना चाहिये।

परिणामत आपने सीकर (राज०) मे अपार जनसमूह के बीच परम पूज्य दिगम्बर जैनाचार्य श्री शिवसागरजी महाराज से सम्पूर्ण अन्तरग और बहिरग परिग्रह का त्याग करके कार्तिक शुक्ला चतुर्थी संवत् २०१८ के दिन महाव्रत अगीकार कर मुनि-दीक्षा ग्रहण की। अब ब्र० राजमल मुनि श्री अजितसागर हुए। विद्या व्यसनी मुनि श्री सघ मे पठन-पाठन के ही कार्य मे सलग्न रहते थे, एक क्षण भी व्यर्थ न गवाते थे, वि स. २०२५ तक अपने दीक्षागुरु के सान्निध्य मे रहे और पिछले कुछ वर्षों से सघ का स्वतन्त्र नेतृत्व कर रहे है। और अब ई सन् १९८७ मे परपरागत चतुर्थ पट्टाधीश आचार्य परमेष्ठी के रूप मे स्वपर हित मे सलग्न है।

अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी मुनिश्री सस्कृत-व्याकरण, जैन न्याय, दर्शन, साहित्य तथा धर्म आदि मे निष्णात 'ज्ञानध्यानतपोरक्त' साधु है। विधिवत् शिक्षण के बिना ही अपने श्रम और विचक्षण प्रतिभा से आपने जो ज्ञानार्जन कर उसका फल भी प्राप्त किया है, उसे देखकर अच्छे-अच्छे विद्वान् भी आश्चर्यान्वित हो नतमस्तक हो जाते है। आज भी आपकी ज्ञानार्जन की रुचि और तल्लीनता सबके लिये ईर्ष्या की वस्तु है। आप बडी रुचि के साथ सघस्थ साधुओ तथा आर्यिकाओ को अध्ययन कराते है तथा अन्य रुचिशील जिज्ञासुओ की शकाओ का सन्तोषप्रद समाधान करते है।

आपकी दिन चर्या एव कार्यप्रणाली देखकर लगता है कि जैसे एक परीक्षार्थी परीक्षा मे सफलता प्राप्ति हेतु परीक्षा के दिनो मे बडी तन्मयता और परिश्रमपूर्वक अध्ययन मे प्रवृत्त होता है, उससे भी कही बहुत लगन से पूज्य श्री आत्म कल्याणरूपी परीक्षा मे सफलता हेतु सतत तैयारी कर रहे होते है।

अध्ययन अध्यापन के अतिरिक्त आपकी रुचि दुष्प्राप्य एव अप्रकाशित प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाशन की भी रहती है। वर्षायोग मे या विहार-मार्ग मे जहा भी आप जाते है, ग्रथ भण्डारो का अवलोकन करते है और अप्रकाशित रचनाओ का सशोधन कर उन्हे प्रकाशित करने की प्रेरणा देते है। अद्यावधि आप द्वारा सशोधित तथा आपकी प्रेरणा से प्रकाशित निम्नलिखित कृतिया प्रकाश मे आई है—

१. गणधरवलय पूजा
२. श्रुतस्कधपूजा विधान
३. सूक्तिमुक्तावली
४. सुभाषित मंजरी (२ भाग)

५. सम्यक्त्व कौमुदी	६ परमाध्यात्मतरंगिणी
७. स्तोत्रादि सग्रह (नागौर भडार से सकलित)	८ छहढाला सग्रह
६. सूक्तिमुक्तावली (सस्कृत-हिन्दी पद्य)	१०. सुभाषितावली
११. कवल चन्द्रायण व्रत विधान	१२. कथा चतुष्टय
१३. दश धर्म	१४ श्लोकार्धसूक्तिसग्रह
१५. धन्यकुमार चरित	१६. सर्वोपयोगीश्लोकसंग्रह

प्रस्तुत ग्रथ मरणकण्डिका ग्रथ भी आपकी सत्प्रेरणा से प्रकाशित हो रहा है, जो अभी तक हिंदी अनुवादरूप से अप्रकाशित था ।

महाराज श्री द्वारा सकलित ग्रथ सन्दर्भ ग्रथो का काम भी देते है । सभी स्वाध्यायियो के लिये वे परम उपयोगी है । मात्र सत्तरह वर्ष का (जीवन के प्रारंभ का) काल आपने घर मे व्यतीत किया । विवेक जागृत होते ही आप विरक्त हुए और तब से अनवरत वही विरक्तता पुष्ट होती गई ।

दिनाक ७ जून १६८७ को उदयपुर मे विशाल जनसमूह के समक्ष चतुर्विध सघ के सान्निध्य मे आ कल्प श्रुतसागरजी महाराज के आदेश से आपको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया है । आ शातिसागरजी महाराज की परम्परा मे आप चौथे आचार्य है ।

अब तक आपने अपने कर-कमलो से १० मुमुक्षुओ को क्षुल्लक, आर्यिका एवं मुनिदीक्षा प्रदान की है । विशाल सघ का नेतृत्व करते हुए आप पचाचार के पालन मे स्वयं सदैव तत्पर रहते है और केवल सघ के ही नही अपितु सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज के श्रद्धेय एव वंद्य है ।

आप श्री अपनी साधना मे और तेजस्वी बने, इसी भावना के साथ मैं आपके पावन चरणो मे सविनय श्रद्धायुक्त त्रिधा नमोस्तु पूर्वक भक्ति पुष्प अर्पित करता हूँ ।
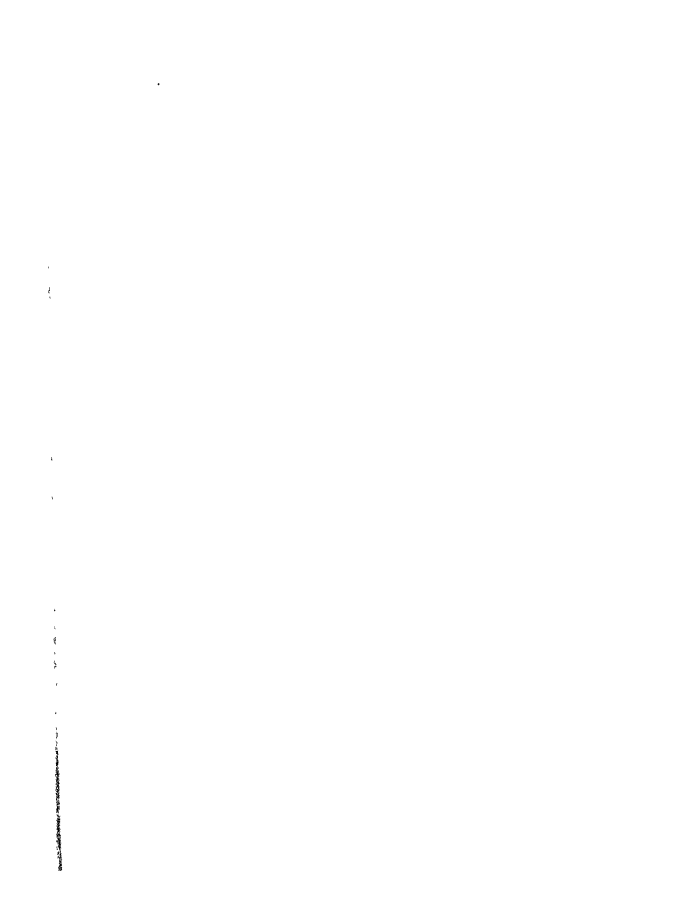
※ श्री शांतिवीरशिवधर्मसागराचार्येभ्यो नमः ※

बाल ब्रह्मचारी, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, परमपूज्य

श्री १०८ आचार्य श्री अजितसागरजी महाराज

काव्याण्यलंकृति समन्वित पिंगलानि
सिद्धांत व्याकरण नीति सुभाषितानि ।
शास्त्राण्यधीत्य निपुणः परपाठने तं
भक्त्या नमाम्यजितसागर सूरिवर्यम् ॥१॥

समर्पणम्

पंचमगति प्राप्तये पंचमहाव्रत धारकानां विषम विषय भोगान्
दूरादेव परित्यज्य परमाध्यात्मिकानंद रतानां प्रशम-
संवेगादिगुणयुक्तानां, वत्सलभावमूर्तीनां सततज्ञाना-
राधनातत्पराणां, धर्मप्रभावकानां शब्दशास्त्र
निपुणानां विश्ववंद्यानां, प्रातः स्मरणीयानां
परंपरागत चतुर्थ पट्टाधीशानां आचार्य-
रत्न श्री अजितसागर देवानां परम-
पावनपाणि पद्मयोः कृतिकर्म
सहितेन सविनयेन
समर्पितः

☸

—आर्यिका जिनमती

स्व. श्री नन्दलालजी छाबड़ा

(परिवार परिचय)

हमारा परिवार विगत एक शताब्दी से नागालैड एव मनीपुर मे निवास कर रहा है। हमारी पैतृक भूमि किराडा (राजस्थान) है। हमारे वश के श्रीमान् नवलरामजी किराडा मे प्रतिष्ठित पुरुष हुए है जिनकी परम्परा मे अभी वर्तमान मे लगभग चालीस परिवार है जो किराडा (राजस्थान), डीमापुर (नागालैण्ड) और इम्फाल (मनीपुर) व अन्य स्थानो मे निवास कर रहे है।

यह हम सबके लिये अत्यन्त सौभाग्य और साथ ही गौरव की भी बात है कि हमारे परिवार मे सदा से देवशास्त्र गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा, निष्ठा एव भक्ति का वातावरण रहा है। जैन धर्म और जैन समाज व जैन सस्थानो की सर्वतोमुखी प्रगति मे यत्किचित् सहयोग देना हमारे परिवार का सतत लक्ष्य रहा है। इस परिवार के श्री शिवनारायणजी छाबडा अखिल भारतवर्षीय खण्डेलवाल महासभा के उच्च पदाधिकारियो मे से एक थे एव कलकत्ता दिगम्बर जैन समाज के प्रभावशाली मत्री थे। श्रीमान् उदयरामजी छाबडा डीमापुर जैन समाज के अध्यक्ष रह चुके है। श्रीमान् मोतीलालजी छाबडा लगभग २० वर्षो तक डीमापुर जैन समाज के उपमत्री रहे तथा वर्तमान मे लगभग १० वर्षो से मत्री के रूप मे समाज की सेवा कर रहे है।

हमारे दादाजी स्व हरषामलजी आठ गाव पचायत के प्रमुख थे, उनका व्यक्तित्व बडा प्रभावशाली था। हमारे पूज्य पिता श्री नन्दलालजी छाबडा बहुत ही सरल एव शान्त स्वभाव के, दानशील पुरुष थे। उन्होने अपने द्रव्य से अनेक तीर्थ क्षेत्रो मे हॉल एव कमरो का निर्माण करवाया व विविध धार्मिक कार्यो मे भरपूर अर्थ सहयोग कर असीम पुण्योपार्जन किया। आपका व्यावसायिक सस्थान श्री टोडरमल सदाराम सुप्रसिद्ध था। आपके एक भाई हुआ और पाच बहने हुई। आपकी एक बहन-हमारी बूआ स्व सुरजीबाई की सुपुत्री कमला बाई ने आर्यिका दीक्षा ग्रहण की है। वे अभी आर्यिका सन्मति माताजी के रूप मे पट्टाधीश आचार्य श्री अजितसागरजी के सघ मे रहकर अपने व्रतो का निर्दोषरीत्या पालन कर रही है। हमारी दो बहने–श्रीमती पतासीदेवी और श्रीमती जीवणीदेवी वर्तमान मे सुजानगढ मे निवास कर रही है। हम चार भाई है–श्रीमान् फूलचन्दजी, श्रीमान् मांगीलालजी, श्रीमान् शान्तिलालजी और मैं

किराड़ा निवासी, डीमापुर प्रवासी

स्वर्गीय श्रीमान् नन्दलालजी छाबड़ा
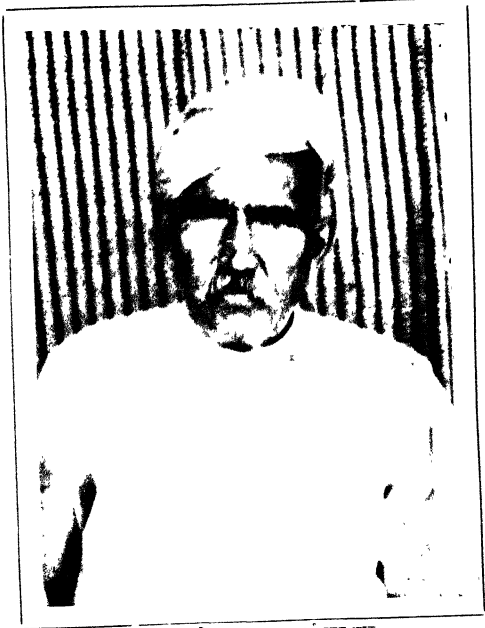
प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन का सम्पूर्ण व्यय-भार
आपकी पुण्य स्मृति मे
आपके सुपुत्रों सर्व श्री फूलचन्दजी, माणीकलालजी, शान्तिलालजी, शुभकरणजी
ने वहन किया है। दातार पिता के दानशील पुत्रो को
इस अनुपम श्रुत सेवा के लिए हार्दिक धन्यवाद।

शुभकरण । हम लोग अभी डीमापुर मे रह रहे है । व्यवसाय डीमापुर, गौहाटी, कलकत्ता, कोहिमा एव जयपुर में है ।

सबसे बड़े भाई सा श्रीमान् फूलचन्दजी छाबड़ा अत्यन्त ही धार्मिक प्रवृत्ति के है । श्री मागीलालजी छाबडा वर्तमान मे अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के उपाध्यक्ष है तथा महासभा की ध्रुव फण्ड ट्रस्ट कमेटी के चेयरमेन भी । आप धार्मिक क्षेत्र के अलावा भी डीमापुर मे कई सामाजिक राजनैतिक एव व्यावसायिक संस्थानो के सिरमौर है । श्रीमान् शातिलालजी छाबडा अखिल भारतवर्षीय स्याद्वाद शिक्षण परिषद् के सयुक्त महामंत्री एव अन्य धार्मिक सस्थाओ के उच्च पदाधिकारी के रूप मे जैन समाज की सेवा मे सलग्न है । मै भी श्री दिगम्बर जैन छात्र सघ के मत्री पद का उत्तरदायित्व निभा रहा हू और धार्मिक कार्यकलापो मे सोत्साह सक्रिय भाग लेता हू ।

यही भावना है कि पुरातनकाल की भाति आगे आने वाले इस विषमकाल में भी हमारे परिवार की जिनधर्मपरायणता वृद्धिगत होती रहे और हम दिगम्बर मुनि सघो, आर्यिका सघो एव अन्य त्यागी व्रतीजनो की यथायोग्य सेवा कर जैन आर्ष परम्परा को दृढ करने मे अपना गौरव समझे ।

—शुभकरण छाबड़ा

मरणकण्डिका
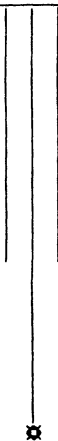
❊ श्री सर्वज्ञवीतरागाय नमः ❊

शास्त्र-स्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

❖

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः ।।१।।

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितं ।।२।।

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।३।।

।। श्रीपरम गुरवे नमः, परम्पराचार्य गुरवे नमः, सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसंबंधकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री मरणकंडिका नामधेयं, अस्य मूलग्रंथकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रंथकर्त्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्य अमितगति देव-विरचितं, श्रोतारः सावधानतया श्रृण्वन्तु ।।

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ।।१।।

सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं ।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ।।२।।

❊

मंगल स्तोत्र

भगवंतं महावीरं, नौमि सत्त्व हितंकरम् ।
तीर्थं प्रवर्त्तते यस्य, विषमेऽपि कलौ युगे ।।१।।

जिनेन्द्राद्रेः समुत्पन्नां, गणीन्द्र कुण्ड संचिताम् ।
सप्तभंग तरंगां तां, वाग्गगां स्तौमि निर्मलाम् ।।२।।

सर्वे तपोधनाः पूज्या स्त्रिरत्नैः सुविभूषिताः ।
मयाभिवन्द्यते नित्यं, कुर्वन्तु मलगालनम् ।।३।।

आराधनाविधिर्येन, वर्णिता सुमनोहरा ।
भक्तित्रयेन सं स्तोष्ये, शिवकोटि मुनीश्वरम् ।।४।।

मरणकण्डिका ग्रन्थः गीर्वाण्यां येन ग्रन्थितः ।
सूरि रमितगत्यार्यः स्तूयते भवहानये ।।५।।

श्री शान्तिसागराचार्यं, कायथस्य विनाशकम् ।
मुनितारागणे सोमं नमस्यामि त्रिशुद्धितः ।।६।।

श्री वीरसागराचार्यं, क्षुल्लिका व्रत दायिनम् ।
मनसि स्मरणं कृत्वा, नमामि बहु भक्तितः ।।७।।

महाव्रत प्रदातारं, शिवसिन्धु मुनीश्वरम् ।
त्रियोगेन प्रवंदेऽहं तपसा समलंकृतम् ।।८।।

धर्मसागर नामानं, सूरि स्तोष्येऽघशान्तये ।
सोमवत् स्वभावो यस्य, वचनममृतोपमम् ।।९।।

बहु शास्त्रेषु नैपुण्यं, धत्ते यो गणनायकः ।
स्तुवे त त्रिभक्तितो नित्यं, सूरिमजितसागरम् ।।१०।।

मरणकण्डिका नाम्नः ग्रन्थस्यास्यानुवादनम् ।
तस्यादेश वशेनाहं, कुर्वे स्वज्ञान शुद्धये ।।११।।

नाम्नीं ज्ञानमतो मार्यां जगन्मान्यां प्रभाविकाम् ।
अनेक ग्रन्थ प्रणेत्रीं मातरं तां नमाम्यहम् ।।१२।।

ॐ

श्रीमदाचार्यामितगतिप्रणीता

मरणकण्डिका

[आराधना विधि]

पीठिका

सिद्धान् नत्वार्हदादींश्च, चतुर्धाराधना फलं ।
क्रमेणाऽहं ध्रुवं वक्ष्ये, स्वस्वरूपोपलब्धये ।।१।।

द्योतनं मिश्रणंसिद्धि, व्यूढि निर्व्यूढिमञ्जसा ।
दर्शनज्ञानचारित्र, सिद्धि हेतुं समीहिते ।।२।।

द्योतनं दर्शनादीना, मलंमलविसारणं ।
आत्मनो मिश्रणं सार्द्धं, तैरेकीरण मतं ।।३।।

यह सल्लेखना विषयक ग्रन्थ है, इसके प्रारंभ में ग्रन्थकार स्वयं के एवं श्रोतृजनों के प्रारब्ध कार्य में आने वाली विघ्न बाधाओं को दूर करने के लिए मगल करते हैं ।

सिद्ध परमात्मा, अर्हन्त परमात्मा तथा आदि शब्द से आचार्य, उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठियों को नमस्कार करके मैं (ग्रन्थकार) क्रम से चार प्रकार की आराधना को और आराधना के फल को अपने स्वरूप की (मोक्ष की) प्राप्ति के लिये निश्चय से कहता हूं ।।१।।

आराधना किसे कहते है एवं वह किसके होती है ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं–

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र की सिद्धि के हेतु पांच कहे गये हैं– द्योतन, मिश्रण, सिद्धि, व्यूढि एवं निर्व्यूढि । मरणकाल में इन सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय की निरतिचार परिणति होना आराधना कहलाती है ।।२।।

सम्यग्दर्शन आदि के मल अतीचारों का भलीप्रकार से निराकरण करना 'द्योतन' कहलाता है । आत्मा के साथ उस सम्यग्दर्शनादि का एकीकरण करना मिश्रण कहलाता है । इसप्रकार द्योतन और मिश्रण का अर्थ जानना चाहिये ।।३।।

सम्पूर्णीकरणं सिद्धि, व्र्यू ढिर्वामतिरिष्यते ।
लाभपूजायशोर्थित्वं, व्यतिरेकेणयोगिनः ।।४।।

परीषहोपसर्गादि, विनिपाते निराकुलं ।
पर्यन्ते प्रापणं तेषां, निर्व्यू ढि र्महितासताम् ।।५।।

आराधनाद्विधा प्रोक्ता, संक्षेपेण जिनागमे ।
दर्शनस्यादिमा तत्र, चारित्रस्यापरा पुनः ।।६।।

रत्नत्रय को या चतुर्विध आराधनाओं को पूर्ण करना सिद्धि कहलाती है । लाभ, पूजा और यश की चाह के बिना सम्यक्त्व आदि के वहन करने की बुद्धि होना साधु की व्यूढि (निर्वहन या धारणा) है ।।४।।

परीषह और उपसर्ग आदि के आने पर भी रत्नत्रय को—आराधनाओं को निराकुलता से मरण पर्यन्त ले जाना सज्जनों को मान्य ऐसी निर्व्यू ढि (निस्तरण) कहलाती है ।।५।।

विशेषार्थ—सम्यक्त्व आदि की आराधना पांच तरह से होती है । द्योतन, मिश्रण, सिद्धि, व्यूढि और निर्व्यू ढि । अन्य ग्रन्थो मे इन पांचों का नाम इसप्रकार पाया जाता है—उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन और निस्तरण यह केवल संज्ञा भेद है अर्थ समान ही कहा गया है । सम्यक्त्व का द्योतन—शंका कांक्षा आदि श्रद्धा संबंधी दोषों को दूर करना सम्यक्त्व का द्योतन है । सशय आदि ज्ञान संबंधी दोष दूर करना सम्यग्ज्ञान का द्योतन कहलाता है । व्रतों की पच्चीस भावनायें बतलायी हैं । उन भावनाओं को नहीं भाने रूप दोषों को दूर करना चारित्र का द्योतन समझना चाहिये । असंयमरूप भाव तप का दोष है उसको हटाना तपका द्योतन है । सम्यक्त्व गुण का आत्मपरिणाम के साथ एकीकरण सम्यक्त्व का मिश्रण है । ज्ञान के साथ आत्मा की ऐक्य परिणति ज्ञान का मिश्रण है, चारित्र रूप ऐक्य परिणति चारित्र का मिश्रण और तपोभावना का आत्मा के साथ ऐक्य होना तप का मिश्रण है । सम्यक्त्व की पूर्णता सम्यक्त्व की सिद्धि रूप आराधना कहलाती है, ऐसे ही ज्ञान की पूर्णता चारित्र की पूर्णता एवं तप की पूर्णता क्रमशः ज्ञान की सिद्धि रूप आराधना, चारित्र की सिद्धि रूप आराधना और तपकी सिद्धि रूप आराधना होती है । ख्याति आदि के चाह बिना श्रद्धा का धारण करना सम्यक्त्व की व्यूढि है । ऐसे ज्ञान को किसी लौकिक इच्छा के

सम्यक्त्वाराधने साधोः ज्ञानस्याराधना मता ।
ज्ञानस्याराधने साध्या, सम्यक्त्वाराधना पुरा ॥७॥
ज्ञानं मिथ्यादृशोऽज्ञान - मुक्तं शुद्धनयैर्यतः ।
विपरीतं ततस्तस्य, ज्ञानस्याराधना कुतः ॥८॥
चारित्राराधने व्यक्तं, भवत्याराधनं तपः ।
तपस्याराधने भाज्या, चारित्राराधना पुनः ॥९॥
महागुणमवृत्तस्य, सद्दृष्टेरपि नो तपः ।
गजस्नानमिवास्येदं, मन्थरज्जुरिवाथवा ॥१०॥

बिना धारण करना, चारित्र एवं तप को भी किसी कामना के बिना धारण करना क्रमशः ज्ञान की व्यूढि, चारित्र की व्यूढि और तप की व्यूढि रूप आराधना जाननी चाहिये। परीषह आदि के उपस्थित होने पर भी श्रद्धा से, ज्ञान से, चारित्र से और तप से विचलित नही होना तथा इन श्रद्धा आदि चारों को मरणपर्यंत ले जाना, पालन करना या निभाना क्रमशः सम्यक्त्व की निर्व्यूढि, ज्ञान की निर्व्यूढि चारित्र की निर्व्यूढि और तप की निर्व्यूढि रूप आराधना होती है।

जिनागम में सक्षेप से आराधना दो प्रकार की कही है। प्रथम सम्यक्त्व आराधना और दूसरी चारित्र आराधना ॥६॥

सम्यक्त्व की आराधना कर लेने पर नियम से ज्ञान की आराधना हो जाती है किन्तु ज्ञान को आराधना होने पर सम्यक्त्व आराधना भजनीय है–होती भी है और नहीं भी होती। अतः सर्व प्रथम सम्यक्त्व आराधना कही है ॥७॥

जिस कारण से मिथ्यादृष्टि का ज्ञान शुद्ध नय की दृष्टि से अज्ञान ही कहलाता है। उस कारण से मिथ्यादृष्टि जीव के ज्ञान की आराधना कहाँ से होगी ? नहीं होगी ॥८॥

चारित्र की आराधना कर लेने पर नियम से तप को आराधना होती है, किन्तु तप की आराधना करने पर चारित्र की आराधना भजनीय है, होती भी है और नहीं भी होती ॥९॥

सम्यग्दृष्टि है किन्तु अव्रती है तो उसका तप महा गुणकारी नहीं होता, उनका तप तो गज स्नानवत् है अथवा मथानी की रस्सी के समान है अर्थात् जैसे गज स्नान

आराधने चरित्रस्य, सर्वस्याराधनाऽथवा ।
शेषस्याराधना भाज्या, चारित्राराधना पुनः ॥११॥

कृत्याकृत्ये यतो ज्ञात्वा, करोत्यादान मोक्षणे ।
अन्तर्भावः चरित्रस्य, ज्ञानदर्शनयोस्ततः ॥१२॥

व्यापारस्तत्र चारित्रे, मनोवाक्काय गोचरः ।
यो दूरीकृतसाध्यस्य, तत्तयोर्गदितं जिनैः ॥१३॥

चारित्रं पञ्चमं सारो, ज्ञानदर्शनयोः परः ।
सारस्तस्याऽपि निर्वाणमनुत्तरमनश्वरं ॥१४॥

करके अपने ऊपर बहुत सी धूल डाल लेता है। स्नान द्वारा शरीर का मल जितना निकला था उससे अधिक मल शरीर में लग जाता है वैसे सम्यग्दृष्टि बिना संयम के तप द्वारा जितना कर्मक्षपण करता है उससे अधिक नवीन कर्म असंयम के कारण संचित कर लेता है। अथवा जैसे छाछ बिलोते समय मथानी को रस्सी एक तरफ से खुलती जाती है और एक तरफ से बंधती जाती है, वैसे अविरत सम्यग्दृष्टि के तप से पुराने कर्म निर्जीर्ण होते जाते हैं और नवीन कर्म बधते जाते है ॥१०॥

अथवा चारित्र की आराधना होने पर नियम से सभी आराधना संपन्न होती है किन्तु शेष सम्यक्त्व आदि की आराधना करने पर चारित्र की आराधना होती भी है और नही भी होती, क्योंकि यह मेरे को करने योग्य है, यह करने योग्य नहीं है इत्यादि हेय और उपादेय पदार्थों को जानकर ही यह जीव कृत्य-उपादेय का ग्रहण और अकृत्य-हेय का त्याग करता है इसलिये चारित्र में ज्ञान तथा दर्शन का अन्तर्भाव होता है अर्थात् जहाँ चारित्र है वहाँ ज्ञान और दर्शन होता ही है ॥११॥१२॥

चारित्र में मन वचन और काय संबंधी जो सर्व व्यापार प्रयत्न होना है वही तप है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है अर्थात् माया छल आदि को दूर कर चारित्र में प्रयत्नशील होना, चारित्र में उपयोग लगाना तप है, अतः चारित्र आराधना में तप आराधना अंतर्भूत होती है ऐसा कहा है ॥१३॥

ज्ञान और दर्शन का सार पचम यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति होना है उस पचम चारित्र का सार श्रेष्ठ अविनश्वर निर्वाण प्राप्त होना है ॥१४॥

चक्षुर्दृष्टेर्मतः सारः सर्पादीनां विवर्जनं ।
व्यर्थीभवति सा दृष्ट्वा, विवरेपततः सतः ।।१५।।
निर्वाणस्य सुखं सारो, निर्व्याबाधं यतोऽनघं ।
चेष्टा कृत्या ततस्तस्यां तदर्थं स्वहितैषिणा ।।१६।।
रत्नत्रये यतो यत्नः सा साध्याराधनागमे ।
आगमस्य ततः सारः सर्वस्यैषा निरूपिता ।।१७।।

भावार्थ—केवलज्ञान और केवलदर्शन तेरहवे गुणस्थान में प्राप्त होता है तथा सर्वोत्कृष्ट यथाख्यात चारित्र चौदहवें गुणस्थान के अंत में होता है और उसके होते ही निर्वाण मोक्ष-सिद्धावस्था प्राप्त होती है, इसलिये ज्ञान और दर्शन का सार यथाख्यात चारित्र है तथा उस चारित्ररूप सार का भी सार निर्वाण है, ऐसा कहा है ।

नेत्र द्वारा देखने का सार सर्प आदि कष्टदायक पदार्थों का दूर से परिहार कर चलना है, यदि नेत्र दृष्टि है और देखकर भी गर्त में पडता है तो उस गर्त में गिरने वाले पुरुष के नेत्र दृष्टि का होना व्यर्थ है। आशय यह है कि श्रद्धान और ज्ञान होने पर भी यदि चारित्र नहीं है तो श्रद्धा व ज्ञान व्यर्थ है, क्योकि अकेले श्रद्धा तथा ज्ञान से मुक्ति नहीं होती । अतः सम्यक्त्व तथा ज्ञान आराधना के साथ चारित्र तथा तप को आराधना अवश्य आराधनीय है । जैसे नेत्र के होते हुए भी सावधानी रूप आचरण नही होवे तो वह पुरुष गर्त आदि में गिर जाता है । वैसे श्रद्धा ज्ञान रूप नेत्र होते हुए भी चारित्र रूप सावधानी नहीं होने से यह जीव संसार रूप गर्त में गिरता है ।।१५।।

जिस कारण से निर्दोष बाधा रहित निर्वाण का सुख ही संसार में सारभूत पदार्थ है । उस कारण से अपने आत्मा के हित की इच्छा करने वाले मुमुक्षुओं को उस निर्वाण सुख की प्राप्ति के लिये सदा प्रयत्न करना चाहिये ।।१६।।

जिनागम में रत्नत्रय में प्रयत्नशील होना रूप चारित्र का सार आराधना कही है और सर्व आगम का सार आराधना है । अर्थात् आगम का सार और चारित्र का सार एक मात्र आराधना है ।।१७।।

आगे कहते है कि चार आराधनाओं का मरणकाल में आराधना करना दुर्लभ है—

चतुरङ्गं प्रपाल्यापि, चिरकालमदूषणं ।
विराध्य म्रियमाणाना मनन्ताऽकथि संसृतिः ।।१८।।

समिति गुप्तिसंज्ञान, दर्शनादित्रयेशिनाम् ।
प्रवर्तितापवादानां, जायते महदन्तरम् ।।१९।।

चारित्राधनेसिद्धा, श्चिर मिथ्यात्वभाविताः ।
क्षणाद् दृष्टा यतः सूत्रे, चारित्राराधनाः ततः ।।२०।।

मृतावाराधनासारो, यदि प्रवचनेमतः ।
किमिदानीं सदा यत्नश्चतुरंगे विधीयते ।।२१।।

चिरकाल तक सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों आराधनाओं का अतिचार रहित पालन करके भी यदि कोई मुनिराज मरणकाल में उन आराधनाओं की विराधना करके मरते हैं तो उनके अनंतकाल तक संसार परिभ्रमण होता है ऐसा आगम में कहा है ।।१८।।

ईर्यासमिति, भाषा समिति आदि पाँच समिति, मनोगुप्ति आदि ज्ञान दर्शन आदि रत्नत्रय इन सबमें अतिचार रहित प्रवृत्ति करना और अतिचार युक्त प्रवृत्ति करना इन दोनों प्रवृत्ति में महान अन्तर है अर्थात् समिति व्रतादि को निर्दोष पालना और संक्लिष्ट परिणामों से युक्त होकर अतिचार युक्त पालना इसमें भेद है । अतिचार रहित व्रताचरण से महान संवर और निर्जरा होती है ।।१९।।

विशेषार्थ—गमन, भाषण आदि में आगमोक्त विधि से प्रवृत्ति करना समिति है । मन, वचन काय की प्रवृत्ति रोकना गुप्ति है । संशय आदि दोषों से रहित ज्ञान संज्ञान कहलाता है । तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं । इनमे संक्लेश रहित प्रवृत्ति करनेवाले ही मुक्तिरमा के वल्लभ होते हैं अन्य नही ।

जो चिरकाल से मिथ्यात्व संयुक्त थे वे भी अल्पकाल में सम्यक्त्व युक्त चारित्र आराधना के प्रभाव से सिद्ध अवस्था को प्राप्त करते हैं । इसी कारण से सूत्र में चारित्र आराधना का वर्णन किया है ।।२०।।

विशेषार्थ—अनादिकाल से यह जीव मिथ्यात्व में ही रहता है, क्वचित् कालादि लब्धि से सम्यक्त्व प्राप्तकर यदि निरतिचार चारित्र का पालन करते है तो वे जीव शीघ्र उसी भव में मुक्त हो सकते हैं अतः चारित्र की शुद्धि परमावश्यक है ।

परिकर्म विधातव्यं, सर्वदाराधनार्थिना ।
सुसाध्याराधना तेन, भावितस्य प्रजायते ।।२२।।

राजन्यः सर्वदा योग्यां, विदधानः परिक्रियाम् ।
शक्तोजित श्रमीभूतः समरे जायते यथा ।।२३।।

श्रामण्यं सर्वदा कुर्वन् परिकर्म प्रजायते ।
अभ्यस्तकरणः साधु, ध्यानशक्तो मृतौ तथा ।।२४।।

शास्त्र मे मरणकाल में आराधना का सार प्राप्त होता है ऐसा कहा है तो फिर चार प्रकार की आराधना में सदा काल प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार प्रश्न उपस्थित होता है ।।२१।।

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते है—आराधना के इच्छुक मुनिजनों को सदा ही उन आराधनाओ के सहायभूत परिकर मे प्रयत्नशील रहना चाहिये, क्योंकि जिसने पूर्व में भलीप्रकार आराधना भावित की है उसके मरण काल में वह सहज सिद्ध हो जाती है ।।२२।।

विशेषार्थ—कार्य सिद्धि मे सहायक कारण जितने शक्तिशाली रहेंगे, कार्य उतना सहज साध्य होगा । यहाँ पर मुनियों का सल्लेखना रूप कार्य करना है, उसके समर्थ कारण सम्यक्त्व आदि आराधना मे सतत उद्यम शील रहना है जिससे मरण उपस्थित होने पर वेदना आदि के कारण रत्नत्रय से धर्मच्युत न होवे । इसलिये साधुओं को उपदेश है कि वे आराधना में प्रमाद न करें ।

जिसप्रकार राजपुत्र सर्वदा शस्त्र अस्त्र का संचालन आदि रूप युद्ध का अभ्यास करता रहता है तभी वह रणांगण में विजय प्राप्त करने में समर्थ होता है । उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये ।।२३।।

जैसे शस्त्र का अभ्यस्त राजपुत्र युद्ध में विजयी होता है वैसे हमेशा आराधना गुप्ति, ध्यान, योग आदि परिकर्म को करता हुआ साधु मरण काल में समाधि करने में समर्थ होता है अर्थात् मरणकालीन पीड़ा में भी ध्यान आदि से च्युत नहीं होता है ।।२४।।

कृतयोग्यक्रियो युद्धे, जगतीपतिदेहजः ।
आदत्ते विद्विषो जित्वा, बलाद्राज्यध्वजं यथा ।।२५।।

साधुर्भावित चारित्रो, गृह्णीते संस्तराहवे ।
आराधनाध्वजं जित्वा, मिथ्यात्वाविद्विषस्तथा ।।२६।।

यद्यभावितयोगोऽपि, कोप्याराधयते मृतिं ।
तत्प्रमाणं न सर्वत्र, स्थाणुमूलनिधानवत् ।।२७।।

✲ पीठिका समाप्ता: ✲

जैसे श्रेष्ठ राजा का पुत्र पहले शस्त्रादि संचालन क्रिया का अच्छी तरह अभ्यास किया करता है फिर समर भूमि में शत्रु को बलात् जीतकर उसके राज्य ध्वज को हस्तगत कर लेता है ।।२५।।

ठीक इसीप्रकार जिसने जीवन में पहले भली प्रकार से चारित्र की आराधना की है ऐसा साधु रूपी राजपुत्र सस्तरसल्लेखना रूपी समर में प्रविष्ट होकर मिथ्यात्व आदि शत्रु राजा को जीतकर आराधनारूपी ध्वज को हस्तगत कर लेता है ।।२६।।

यदि कदाचित् क्वचित् कोई व्यक्ति पहले व्रतों का निर्दोष पालन आदि कुछ भी नही किये हुए होते हैं और मरण काल में अच्छी तरह आराधना को प्राप्त होते है तो उसको सर्वत्र प्रमाण नही मान लेना अर्थात् किसी का पूर्व में व्रत तप ध्यान के किये बिना ही सल्लेखना सहित मरण हो जाता है । यह देखकर सभी को वैसा हो जायगा हम भी अन्तकाल में आराधना करेंगे ऐसा मानकर प्रमादी होकर नहीं बैठना चाहिये क्योंकि ऐसा होना स्थाणु मूल निधानवत् है । अर्थात् कोई जन्मांध व्यक्ति मार्ग में जा रहा था अचानक स्थाणु (ठूंठ) से टकराया, मस्तक से विकारी खून निकल गया और उससे नेत्र खुल गये—दिखाई देने लगा, साथ ही जीर्ण स्थाणु उखड़ जाने से उसके मूल में रखा हुआ धन का घट भी उसे प्राप्त हो गया । यह कार्य जिसप्रकार असंख्य जीवों में किसी एक के ही संभव है सबके लिये तो असंभव ही है, ऐसे ही बिना पूर्व में रत्नत्रय की साधना किये सल्लेखना की प्राप्ति होना अशक्य है ।।२७।।

।। इसप्रकार पीठिका समाप्त हुई ।।

बालमरणाधिकार

१

विस्तरेणागमोक्तेषु, मध्ये सप्तदशस्वहम् ।
मरणान्यत्र पञ्चैव, कथयामि समासतः ।।२८।।
पंडितं पंडितादिस्थं, पंडितं बालपंडितं ।
चतुर्थं मरणं बालं, बालबालं च पंचमम् ।।२९।।

अर्थ—आगम में विस्तारपूर्वक सत्तरह प्रकार के मरणों का वर्णन पाया जाता है, मैं ग्रन्थकार उनमे से केवल पांच प्रकार के मरणों का संक्षेप से इस ग्रन्थ में वर्णन करता हू ।।२८।।

विशेषार्थ—भगवती आराधना टीका में मरण के सत्तरह भेद इसप्रकार कहे हैं—

१ आवीचिमरण, २ तद्भवमरण, ३ अवधिमरण, ४ आदि अन्तमरण, ५ बालमरण, ६ पडितमरण, ७ अवसन्नमरण, ८ बाल पडितमरण, ९ सशल्यमरण, १० बलाकामरण, ११ वोसट्टमरण, १२ विप्पाणसमरण, १३ गिद्धपुट्ठमरण, १४ भक्त प्रत्याख्यानमरण, १५ प्रायोपगमनमरण, १६ इंगिनीमरण और १७ केवलीमरण अर्थात् पंडित पंडितमरण । इन सबका लक्षण यहाँ पर कहते हैं—आवोचिमरण-प्रतिक्षण आयुके एक एक निषेक उदय में आकर समाप्त होना । तद्भवमरण–वर्तमान आयु का समाप्त होना, अर्थात् मरणकर अन्य भवमें चले जाना । अवधिमरण–इस वर्त्तमान पर्याय का जैसा मरण हुआ वैसा आगामी पर्याय का होना—जितनी और जो आयु वर्त्तमान में भोग रहे है, उतनी वैसी आयु आगे के भव मे भी होना । आदि अन्तमरण

निश्रेयस सुखादीनां, आसन्नीकरणक्षमं ।
आदिमं जायते तत्र, प्रशस्तं मरणत्रयम् ॥३०॥

वर्त्तमान की आयु के समान आगे की पर्याय मे आयु नही होना–विभिन्न प्रकार की होना । बालमरण—पहले गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान वाले जीवों के मरण को बालमरण कहते हैं । पंडितमरण—छठे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान वालों का मरण । अवसन्न या ओसण्ण मरण–पाश्र्वस्थ आदि भ्रष्ट मुनियो का मरण । बालपडितमरण–पंचम गुणस्थान वालों का मरण । सशल्यमरण–निदान आदि शल्य युक्त जीवों का मरण । बलाका मरण–विनय, गुप्ति, समिति, ध्यान, शुभ भाव आदि से रहित होकर मुनियों का जो मरण होता है, वह बलाका मरण है । वोसट्टमरण–इन्द्रिय आदि के आधीन होकर मरण होना । विप्पाणस मरण–भयंकर उपसर्ग आदि से अथवा अन्य किसी कारण से संयम में दोष नहीं लग जाय मैं ऐसी वेदना या कष्ट सह नही सकता, और नही सहा जाय तो चारित्र में दूषण उपस्थित होगा ऐसी स्थिति में अर्हन्त के निकट आलोचना करके श्वास निरोध द्वारा कोई मुनिराज मरण करे तो उसे विप्पाणस मरण कहते हैं । गिद्धपुट्ठ मरण–उपर्युक्त कारणो के होने पर जो मुनि शस्त्र द्वारा प्राण त्याग करते हैं उसे गिद्धपुट्ठ मरण कहते है । भक्त प्रत्याख्यानमरण–काय और कषाय को कृश करके विधिपूर्वक सन्यास धारण कर मरण होना । इगिनीमरण–जिसमें मुनि अपनी सेवा दूसरों से नही कराते स्वयं करते हुए आहार त्यागपूर्वक प्राण छोड देते हैं । प्रायोपगमनमरण–आहार त्यागकर वन में अकेले रहकर काष्ट के समान शरीर का त्यागकर ध्यान मे लीन रहते हुए प्राण त्याग करना । केवलीमरण–चौदहवें गुणस्थान में अर्हंतदेव का निर्वाण होना मोक्ष होना केवलीमरण कहलाता है ।

इसप्रकार सत्तरह मरणो का यह संक्षिप्त लक्षण कहा है ।

अर्थ—पंडित पंडित मरण, पंडित मरण, बालपडित मरण, बाल मरण और बाल बाल मरण इसप्रकार मरण के पांच भेदों के ये नाम है ॥२९॥

अर्थ—उक्त पाँच प्रकार के मरणो में से आदि के तीन मरण प्रशस्त माने हैं, क्योकि नि:श्रेयस (मोक्ष) सुख और अभ्युदय सुखो को सन्निकट करने में ये मरण समर्थ हेतु है ॥३०॥

विज्ञातव्यमयोगानां, तत्र पंडितपंडितम् ।
देशसंयत जीवानां, मरणं बालपंडितम् ।।३१।।
पादोपगमनं भक्त, प्रतिज्ञामिङ्गिणीमृति ।
वदन्ति पंडितं त्रेधा, योगिनो युक्ति चारिणः ।।३२।।
भजते मरणं बालं, सम्यग्दृष्टिरसंयतः ।
मिथ्यात्व कुलित स्वान्तो, बाल बालमपास्तधीः ।।३३।।

अर्थ—अब यहाँ पर पाँच प्रकार के मरणों के स्वामी कौन कौन हैं इसका क्रमशः तीन कारिका द्वारा प्रतिपादन करते हैं। पंडित पंडित नामका मरण अयोगी जिनके होता है अर्थात् चौदहवें गुणस्थान के अन्त में आयुपूर्ण होकर जिनेन्द्र भगवान जो निर्वाण को प्राप्त करते है उसे पडित पंडित मरण कहते है। देशसंयतनामा पंचम गुणस्थानवर्ती जीवों के बाल पंडित मरण होता है ।।३१।।

अर्थ—निर्दोष चारित्र पालन करने वाले साधु जनों का पंडितमरण होता है, उसके तीन भेद है–भक्त प्रतिज्ञामरण, इगिनीमरण और प्रायोपगमनमरण ।।३२।।

भावार्थ—छठे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक के मुनिजनों के जो मरण होता है वह पडित मरण है। इन गुणस्थानों मे मरण करने वाले मुनिराज नियम से वैमानिक देवो मे उत्पन्न होते है।

अर्थ—बालमरण असंयत सम्यग्दृष्टि के होता है। मिथ्यात्वकर्म के उदय से जिनका चित्त संक्लिष्ट है ऐसे कुबुद्धि–नष्ट बुद्धिवाले मिथ्यादृष्टि जीवो के बाल बाल मरण होता है ।।३३।।

विशेषार्थ—पाँच प्रकार के मरणों के स्वामी गुणस्थानों के क्रमानुसार इस प्रकार हैं—प्रथम गुणस्थान में बाल बाल मरण होता है तथा द्वितीय सासादन गुण-स्थान में भी बाल बाल मरण होता है। क्योंकि मिथ्यात्व की चिर संगिनी कषाय अनन्तानुबन्धी का यहाँ उदय है। तीसरे मिश्र गुणस्थान में मरण नही है। चतुर्थ असंयत गुणस्थान में बाल मरण होता है। मिथ्यादृष्टि जीव श्रद्धा और चारित्र दोनों से बाल (अज्ञानी–मूर्ख) हैं अतः उसके मरण को बाल बाल मरण कहते हैं अर्थात् इसके न सम्यक्त्व है और न चारित्र है। असंयत सम्यग्दृष्टि के श्रद्धा है किन्तु चारित्र

शामिकीं क्षायिकीं दृष्टिं, वेदकीमपि च त्रिधा ।
समाराधयतः पूर्वा, सम्यक्त्वाराधनेष्यते ।।३४।।

नहीं है अतः उसके मरण को बाल मरण नामसे कहा जाता है । पचम देश विरत गुणस्थान में होने वाले मरण को बाल पडित मरण कहते हैं चूंकि इसमें श्रद्धा है किंतु चारित्र अपरिपूर्ण है । छठे से ग्यारहवें गुणस्थानवर्त्ती के पंडित मरण होता है क्योंकि श्रद्धा और चारित्र दोनों से सम्पन्न है । बारहवे गुणस्थान में तथा तेरहवें गुणस्थान में मरण नहीं होता । चौदहवें गुणस्थान में सर्व श्रेष्ठ मुक्ति प्राप्त होती है अतः इसमें होने वाले मरण को पडित पडित मरण कहते हैं ।

प्रथम गुणस्थान में मरण करने वाले चारों गतियो मे जा सकते है । सासादन वाले नरक गतिको छोड़कर अन्य तीन गति में जाते हैं । चतुर्थ गुणस्थान में मरणकर यदि पहले बद्धायुष्क हे तो नरकगति में प्रथम नरक में ही जायेंगे आगे नहीं, तिर्यंच तथा मनुष्य सम्बन्धी बद्धायुष्क है तो भोगभूमि के मनुष्य तिर्यंच होंगे । देवों में वैमानिक देव होगे । पंचम गुणस्थान से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान में मरण करने वाले जीव वैमानिक देव ही होते हैं । चौदहवें गुणस्थान में तो परिनिर्वाण होता है ।

अर्थ—दर्शन आराधना, ज्ञान आराधना, चारित्र आराधना और तप आराधना इसप्रकार चार प्रकार की आराधना होती है, इनमें से प्रथम दर्शन आराधना का वर्णन करते है क्योंकि आराधना करने वालो को सर्व प्रथम इसीका आराधन करना होता है । दर्शन आराधना के तीन भेद है—उपशम सम्यग्दर्शन, क्षयोपशम सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यग्दर्शन ।।३४।।

विशेषार्थ—जीवो को सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है, अनादि मिथ्यादृष्टि जीव, कालादि लब्धियों को प्राप्त होकर मिथ्यात्व प्रकृति और अनतानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन पाँच मोहनीय कर्म प्रकृतियों का उपशम (दबाकर) करके उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है, यह अत्यन्त निर्मल होना है, और अन्तर्मुहूर्तकाल तक रहता है । उपशम सम्यक्त्व के अनन्तर क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है । उपशम सम्यक्त्व प्राप्ति में प्रथम क्षणमें ही मिथ्यात्व कर्म के तीन खण्ड किये जाते हैं- मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति । क्षयोपशम सम्यक्त्व में इन तीन प्रकृतियों में से मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व का तथा चार अनन्तानुबन्धी कषायों का

मन्यते दर्शितं तत्त्वं, जन्तुना शुभदृष्टिना ।
पूर्वं ततोऽन्यथापीवमजानानेन रोच्यते ।।३५।।

उदयाभावी क्षय और सद्वस्थारूप उपशम किया जाता है । विवक्षित कर्म प्रकृति का उदय आने के एक समय पहले स्तिबुक संक्रमण द्वारा सजातीय अन्य कर्म प्रकृतिरूप होकर उदय में आना और निर्जीर्ण होना "उदयाभावीक्षय" कहलाता है । यहां पर अनंतानुबन्धी का उदयाभावी क्षय यह है कि अनंतानुबन्धी कषाय के उदय काल प्राप्त कर्म निषेको का प्रतिसमय एक एक निषेक अप्रत्याख्यान आदि बारह कषायरूप संक्रमित होकर पर मुखसे उदय मे आते रहना । इसीप्रकार मिथ्यात्व और मिश्र प्रकृति का सम्यक्त्व प्रकृतिरूप होकर उदय मे आकर नष्ट होते रहना ।

सद्वस्थारूप उपशम—जो कर्म निषेक अभी वर्त्तमान में उदय प्राप्त नहीं है उनको सत्ता में ही अवस्थित रखना, असमय में (बीच मे हो) उदय में नहीं आने देना (दबा देना) सद्वस्थारूप उपशम कहलाता है । जैसे अनन्तानुबन्धी कषाय का जो द्रव्य उदय प्राप्त था उसे तो परमें सक्रामित कर दिया था । अब सर्व शेष द्रव्य जो है उन्हे मध्य मे उदय में नही आने देगे । इसप्रकार की प्रक्रिया को सद्वस्थारूप उपशम कहते हैं । इसप्रकार उदयाभावीरूप, सद्वस्थारूप उपशम के साथ सम्यक्त्व-प्रकृति का उदय होना क्षयोपशम सम्यक्त्व कहलाता है ।

क्षायिक सम्यक्त्व–पूर्वोक्त चार अनन्तानुबन्धी और तीन दर्शनमोहनीय कर्मो का सर्वथा क्षय होकर जो शाश्वत प्रगाढ आत्म श्रद्धा तथा तत्त्व श्रद्धा प्राप्त होती है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते है । यह क्षयोपशम सम्यक्त्व पूर्वक ही होता है । इन सम्यक्त्वो का विस्तार पूर्वक वर्णन लब्धिसार क्षपणासार शास्त्र से जानना चाहिये ।

अर्थ—दर्शन आराधना को करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव आप्त आदि पुरुषों द्वारा प्रतिपादित तत्त्वो पर श्रद्धान करता है, तथा अजानकार गुरुद्वारा अन्यथारूप तत्त्व पर (विपरीत तत्त्व पर) भी "यह गुरु ने कहा है" ऐसा समझकर श्रद्धा करता है ।।३५।।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि के वास्तविक तत्त्वो का श्रद्धालु होता है किन्तु कदाचित् तत्त्व देशना देने वाले गुरु अपने अज्ञान या प्रमाद विस्मृति आदि के कारण विपरीत

वर्ण्यमानं यदा सम्यक्, श्रद्दधाति न सूत्रतः ।
तमर्थं स तदा जीवो, मिथ्यादृष्टिर्निगद्यते ।।३६।।
ज्ञेयं प्रत्येक बुद्धेन, गणेशेन निवेदितं ।
श्रुतकेवलिना सूत्रमभिन्नदश पूर्विणा ।।३७।।
प्राप्तार्थश्चारुचारित्रः, शंक्यते न महामनाः ।
शंक्यते मंदधर्माऽसौ, कुर्वाणस्तत्त्वदेशनां ।।३८।।

तत्त्वार्थ का प्रतिपादन करते है और शिष्य जन यह गुरुपदिष्ट तत्त्व सत्य है ऐसा समझकर श्रद्धा करते है तो वे सम्यक्त्वी ही हैं ।

अर्थ—पूर्वोक्त सम्यग्दृष्टि को कोई ज्ञानी गुरु सूत्र को दिखाकर उसके तत्त्व श्रद्धा मे विपरीतता बतलाते है अर्थात् तुम्हारा अमुक तत्त्वबोध ठीक नही है, सूत्र में ऐसा कहा है इत्यादि, भली प्रकार समझाने पर यदि वह जीव उस सूत्रार्थ पर विश्वास नहीं करता और अपनी पूर्व मान्यता का आग्रह नही छोड़ता तो उस समय से वह मिथ्यादृष्टि बन जाता है ।।३६।।

अर्थ—सूत्र की परिभाषा करते है-प्रत्येक बुद्ध मुनि द्वारा प्रतिपादित, गणधर द्वारा तथा श्रुतकेवली और अभिन्नदर्शपूर्वी द्वारा प्रतिपादित वाक्य'सूत्र'कहलाता है ।।३७।।

विशेषार्थ—तीर्थंकर प्रभु के समवशरण में उनकी दिव्यध्वनि का विश्लेषण करने वाले सप्तर्द्धि संपन्न मुनिपुंगव गणधर कहलाते है । आचारांग आदि समस्त श्रुत में पारगत यतिराज श्रुतकेवली नाम से कहे जाते है । जो अपने विशिष्ट क्षयोपशम से ज्ञान और वैराग्य सम्पन्न रहते हैं अन्य के उपदेशादि की अपेक्षा से रहित उन ऋषियों को प्रत्येक बुद्ध कहते है । तथा जो तपस्वी मुनिराज ग्यारह अगों को पढ़कर क्रमशः पूर्वज्ञान प्राप्त करने मे सलग्न है, दसवाँ विद्यानुवाद नामके पूर्व को पढने पर उनके समक्ष विद्याओं की अधिष्ठात्री देवियाँ उपस्थित होती हैं, उस वक्त उन देवियो के प्रलोभन मे जो नहीं आते है, उनके द्वारा जिनका ज्ञान वैराग्य भिन्न खण्डित नही होता है वे अभिन्न दर्शपूर्वी कहलाते हैं । इन चारों ही मुनि श्रेष्ठो द्वारा प्रतिपादित जो आगम है उन्हें "सूत्र" नामसे कहते हैं ।

अर्थ—जिसने अच्छी तरह आगम के अर्थ को आत्मसात् किया है, जो दृढ़ एवं सुन्दर चारित्र अर्थात् निर्दोष चारित्रयुक्त है ऐसे मुनिराजों के वचन प्रामाणिक होते हैं,

धर्माधर्मनभः काल पुद्गलाञ्जिनदेशितान् ।
आज्ञया श्रद्धानोऽपि, दर्शनाराधको मतः ॥३६॥
सिद्धाः संसारिणो जीवाः, प्रयाताः सिद्धिमनेकधा ।
आज्ञया जिननाथानां, श्रद्धेयाः शुद्धदृष्टिना ॥४०॥

उनमें भव्य जीवों को शका नही करनी चाहिये । किन्तु जो मन्दधर्मा है अर्थात् जिसका चारित्र उज्ज्वल नही है वह तत्त्व देशना करता है तो उसमें विकल्प है–यदि उसका तत्त्वप्रतिपादन पूर्वोक्त सूत्रार्थ से मिलता है तो ग्राह्य है अन्यथा अग्राह्य है ॥३८॥

भावार्थ—गणधर आदि चार प्रकार के मुनिराजो द्वारा कथित सूत्र प्रामाणिक होते ही है तथा जो ससार शरीर भोगो से पूर्णरीत्या विरक्त है, स्वार्थवश नहीं हैं लौकिक प्रयोजन से रहित हैं, वास्तविक आगम ज्ञान जिन्हें गुरुमुख से प्राप्त है । ऐसे आचार्य के वचन भी प्रामाणिक माने जाते हैं । जो साधु निर्दोष आचरण मे शिथिल है उनके वचन यदि सूत्रार्थ से मिलते जुलते है तो मान्य है और सूत्रार्थ से नही मिलते तो अमान्य है ।

अर्थ—अब यहाँ पर तत्त्वार्थ कौन है, द्रव्य कौन है यह बतलाते हैं—जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, आकाशद्रव्य और पुद्गलद्रव्य ये पाँच अजीव द्रव्य है, इनमें आज्ञामात्र से श्रद्धान करने वाला जीव दर्शनाराधनाका आराधक माना जाता है ॥३६॥

भावार्थ—जिन्हे छह द्रव्य सात तत्त्वो को प्रमाणनय आदि द्वारा तीव्र क्षयोपशम के कारण भली प्रकार बोध प्राप्त है वे इन तत्त्वों पर श्रद्धा करते है तो सम्यक्त्वी है हो किन्तु जो मन्द क्षयोपशमके कारण तर्कणा शक्ति से रहित हें तो यह जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ है, प्रभु अन्यथावादी नही होते ऐसा विश्वास कर उनकी आज्ञा से तत्त्वरुचि करते है तो वे भी सम्यक्त्वी हे दर्शनाराधना के आराधक हे ।

अर्थ—जीव दो प्रकार के है संसारी और मुक्त । पंच परावर्त्तन युक्त जीव संसारी कहलाते हैं और जो (अनेक प्रकार की) सिद्धि को प्राप्त है उन्हें सिद्ध या मुक्त जीव कहते हैं । जिनदेव कथित इन जीवो पर उनको आज्ञा से शुद्ध सम्यक्त्वी को श्रद्धान करना चाहिये ॥४०॥

आस्रवं संवरं बन्धं, निर्जरां मोक्षमंजसा।
पुण्यं पापं च सद्दृष्टिः, श्रद्दधाति जिनाज्ञया ॥४१॥

विशेषार्थ—ऊर्ध्वलोक आदि तीनों लोको में संसरण परिभ्रमण करना संसार है, परिभ्रमण पाँच प्रकार का है, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इनका स्वरूप सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थों से जानना। उक्त संसार जिनके पाया जाता है वे अष्ट कर्मों से संयुक्त दुःखी जीव संसारी है। जो अंजन सिद्धि, पादुका सिद्धि आदि सिद्धि को छोड़कर एक ही प्रकार की आत्म सिद्धि को प्राप्त हैं, कर्माष्टक से रहित ऐसे परमात्मा सिद्ध जीव कहलाते हैं।

अर्थ—सम्यक्त्वी जीव जिनेन्द्र की आज्ञा से आस्रव, संवर, बध, निर्जरा, मोक्ष एवं पुण्य पाप इन सबका भली प्रकार से श्रद्धान करता है ॥४१॥

भावार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष पुण्य और पाप ये नव पदार्थ हैं। पुण्य पाप रहित जीवादि सात तत्त्व कहलाते है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल ये छह द्रव्य है। काल को छोड़कर शेष पाँच अस्तिकाय कहलाते हैं।

चेतना एवं ज्ञान दर्शन गुणवाला जीव तत्त्व है। जड़ तत्त्व को अजीव कहते हैं। योग द्वारा कर्म का आत्मा में प्रविष्ट होना आस्रव है। कर्म प्रदेश और आत्म प्रदेशों के संश्लेष सबध को बन्ध कहते है। कर्मों का आना रुक जाना संवर है। संचित कर्म का अंशरूप से निकल जाना नष्ट होना निर्जरा है, संपूर्ण कर्मों का नष्ट होना–आत्मा से पृथक् होना मोक्ष है। प्रशस्त कर्मको पुण्य और अप्रशस्त कर्मको पाप कहते है। छह द्रव्यों में जीव का लक्षण पूर्वोक्त है। पुद्गल–जो पूरण गलन करे अथवा जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण युक्त पदार्थ है वह पुद्गल है ये जितने दृश्यमान पदार्थ हैं वे सब पुद्गल द्रव्य हैं इसके अणु और स्कन्ध के भेद से दो भेद हैं। स्कन्ध के अनेक अनेक भेद हैं। कर्म पुद्गल द्रव्य रूप ही है। जीव और पुद्गल के गति में सहायक द्रव्य 'धर्म' कहलाता है। जीव और पुद्गल को ठहरने में सहायक अधर्म द्रव्य है। जीवादि सर्व द्रव्यों को निवास में हेतु आकाश है। तथा सब द्रव्यों के परिवर्त्तन शीलता मे सहायक काल द्रव्य है। बहुत प्रदेश वाले द्रव्यों को अस्तिकाय कहते हैं। इन द्रव्यादिका सविस्तार वर्णन पंचास्तिकाय, जीवकांड आदि में देखना चाहिये।

नैकमप्यक्षरं येन, रोच्यते तत्त्वर्दाशतम् ।
स शेषं रोचमानोऽपि, मिथ्यादृष्टिरसंशयम् ॥४२॥
मोहोदयाकुलंस्तत्त्वं, तथ्यमुक्तं न रोचते ।
जन्तुरुक्तमनुक्तं वा, विपरीतं तु रोचते ॥४३॥
मिथ्यात्वं वेदयन्नंगी, न तत्त्वे कुरुते रुचिम् ।
कस्मैपित्तज्वरार्त्ताय, रोचते मधुरो रसः ॥४४॥
अनेना श्रद्दधानेन, जिनवाक्यमनेकशः ।
बालबालमृतिः प्राप्ता, कालेऽतीते यतोऽङ्गिना ॥४५॥
इदमेव वचो जैन मनुत्तममकल्मषम् ।
निर्ग्रन्थं मोक्षवर्त्मेति, विधेया धिषणा ततः ॥४६॥

अर्थ—तत्त्वार्थ के प्रतिपादक अक्षर समुदाय में से एक अक्षर का भी यदि अश्रद्धान किया जाता है तो वह व्यक्ति निश्चय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है, भले ही वह शेष अक्षरों पर श्रद्धा करता हो ॥४२॥

भावार्थ—एक बड़े पात्र में मधुर दूध रखा है, उसमें एक ही विषकी बूंद पड़ जाय तो सारा दूध विषैला बनकर प्राणघातक हो जाता है, ठीक ऐसे ही समस्त शास्त्रों में श्रद्धा युक्त होने पर भी एक अक्षर पर अविश्वास हो जाय तो वह मिथ्यादृष्टि बन जाता है ।

अर्थ—मिथ्यात्वकर्म के उदय से आकुलित चित्त वाले को जिनेन्द्र प्रणीत वास्तविक तत्त्व रुचिकर नही होता है और इससे विपरीत अवास्तविक तत्त्व उसे रुचिकर लगता है ॥४३॥

अर्थ—मिथ्यात्व का वेदन करने वाले जीवको तत्त्व रुचिकर उस प्रकार नहीं लगता जिसप्रकार पित्तज्वर वाले को मीठा रस रुचिकर नहीं लगता ॥४४॥

अर्थ—जिस जीव ने जिनेन्द्र वचन की श्रद्धा नही की उस जीव ने अतीत काल में अनेक बार बाल बाल मरण प्राप्त किये है ॥४५॥

अर्थ—इसप्रकार मिथ्यात्व का कटुक फल जानकर भव्य जीवों को ऐसी श्रद्धा एवं बुद्धि करनी चाहिये कि यह जिन वचन ही उत्तम है निर्दोष पाप रहित है तथा निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग स्वरूप है ॥४६॥

शंका कांक्षा चिकित्सान्य, दृष्टि शंसनसंस्तवाः ।
सदाचारं रतीचाराः, सम्यक्त्वस्य निवेविताः ।।४७।।
उपबृहः स्थितीकारो, वात्सलत्वं प्रभावना ।
चत्व।रोऽमी गुणाः प्रोक्ताः सम्यग्दर्शन वर्द्धकाः ।।४८।।
जिनेशसिद्ध चैत्येषु, धर्मदर्शन साधुषु ।
आचार्येऽध्यापके संघे, श्रुते श्रुततपोधिके ।।४६।।

अर्थ—सद्आचरणवाले आचार्यदेव ने सम्यक्त्व के पांच अतीचार बताये है–शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टि संस्तव । तत्त्व विषय में 'यह इसप्रकार है अथवा नही' ऐसी आशंका को शंका नामका अतीचार कहते हैं । इह लोक आदि के भोगादि की वांछा कांक्षा कहलातो है । रत्नत्रयधारी मुनि आदि में ग्लानि का होना विचिकित्सा दोष है । तत्त्वदृष्टि विहीन व्यक्तियों को मनसे श्रेष्ठ मानना अन्यदृष्टिसंस्तव कहलाता है और वचन से अन्य मतावलम्बी व्यक्तियों की प्रशंसा करना अन्य दृष्टि प्रशंसा कहलाती है ।।४७।।

अर्थ—उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये चार गुण सम्यग्दर्शन को वृद्धिगत करने वाले है ।।४८।।

भावार्थ—अपने आत्मीक गुणों को विस्तृत करना उपबृंहण है । इसका दूसरा नाम उपगूहन भी है, अन्य धर्मात्मा व्यक्ति के दोष प्रगट नही करना उपगूहन गुण है । अपने को और परको रत्नत्रय धर्म मे स्थिर करना स्थितिकरण गुण है । निश्छल रूप से धार्मिक पुरुषों मे स्नेह होना वात्सल्य है, तथा धर्मका प्रकाशन प्रभावना कहलाती है । निःशंकितत्व, निःकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सा और अमूढदृष्टित्व ये चारगुण और भी है । जिनेन्द्र के वचन मे शका न होना निःशंकितत्व है । भोगाकांक्षा का अभाव निःकांक्षितत्व गुण है । धर्म और धर्मात्मा मे ग्लानि का अभाव निर्विचिकित्सा है, और परमत के चमत्कार आदि को देखकर जो मूढना होती है उसे नही होने देना अमूढ दृष्टित्व है । ये सब मिलकर सम्यक्त्व के आठ अग या गुण कहलाते हैं ।

अर्थ—अब सम्यग्दर्शन विनय को कहते है—अरिहंत देव, अरिहंत की प्रतिमा, सिद्ध, सिद्धप्रतिमा, जैन धर्म, रत्नत्रय, साधु, आचार्य, उपाध्याय, संघ, श्रुत, श्रुतज्ञान में जो अपने से अधिक है उनमें तथा तपश्चर्या में जो अपने से अधिक है, इन सबमें

भक्तिः पूजा यशोवादो, दोषावज्ञा तिरस्क्रिया ।
समासेनैष निर्दिष्टो, विनयो दर्शनाश्रयः ।।५०।।
मृतावाराधयन्नेवं, निश्चरित्रोऽपि दर्शनं ।
प्रकृष्ट शुद्धलेश्याको, जायते स्वल्पसंसृतिः ।।५१।।
रोचका जंतवो भक्त्या, स्पर्शकाः प्रतिपादकाः ।
आगमस्य समस्तस्य, सम्यक्त्वाराधका मताः ।।५२।।
उत्कृष्टा मध्यमा हीना, सम्यक्त्वाराधना त्रिधा ।
उत्कृष्टलेश्यया तत्र, सिद्धयत्युत्कृष्टया तया ।।५३।।

भक्ति करना तथा पूजा, यशोगान करना, धर्मात्मा के दोषों को प्रगट न करना उनके दोषों को दूर करना ये सब दर्शन के विनय कहलाते हैं। इसप्रकार संक्षेप से दर्शन विनय का वर्णन किया है ।।४९-५०।।

भावार्थ—अन्तरंग में महापुरुषों के गुणों में अनुराग होना भक्ति कहलाती है। आदर के भाव पूजा है। उन अरहंत आदि पूज्य जनों के गुणों का गान करना यशोगान है। पूज्य साधु आदि में किसी प्रकार का दोष हो तो उसे प्रगट न करना दोषावज्ञा है। यदि अपने में योग्यता है तो युक्ति द्वारा उनके दोषों का निराकरण करना दोषतिरस्क्रिया कहलाती है।

अर्थ—इसप्रकार दर्शन की आराधना करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि चतुर्थ गुणस्थानवर्त्ती होने से चारित्र रहित है तो भी मरण काल में उत्कृष्ट और शुद्ध लेश्यायुक्त हुआ ससार भ्रमण को अल्प करता है। अर्थात् पीत पद्म और शुक्ल लेश्या में यदि अविरत सम्यक्त्वी मरण करता है तो उसका ससार अत्यल्प रह जाता है ।।५१।।

अर्थ—समस्त आगमार्थकी रुचि करने वाले, भक्ति से स्पर्श करने वाले एवं उस अर्थ का प्रतिपादन करने वाले जीव सम्यक्त्व के आराधक कहलाते हैं ।।५२।।

अर्थ—सम्यक्त्व आराधना के तीन भेद हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। उत्कृष्टलेश्या-शुक्ललेश्या से युक्त सम्यक्त्वी के जो आराधना होती है, उसे उत्कृष्ट सम्यक्त्व आराधना कहते हैं और इस उत्कृष्ट सम्यक्त्व आराधना वाले तथा उत्कृष्ट शुक्ललेश्या वाले सल्लेखना करके सिद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं। अर्थात् शुक्ललेश्या युक्त सम्यक्त्वी जीव आराधना करके मुक्त हो जाते है ।।५३।।

भवन्त्यन्ये भवाः सप्त, मध्यया मध्यलेश्यया ।
संख्याता वाप्यसंख्याता, हीनया हीन लेश्यया ।।५४।।
तत्र केवलिनो वर्या, मध्या सा शेष सद्दृशाम् ।
असंयतस्य सद्दृष्टे, हीनं संक्लिष्टचेतसः ।।५५।।
संख्यातामप्यसंख्याता, मनुसृत्याथ संसृतिम् ।
मृत्युकालेऽनुगच्छन्तो, जीवाः सिध्यन्तिदर्शनम् ।।५६।।

अर्थ—मध्यमलेश्या द्वारा सम्यक्त्व की आराधना करने वाले जीवों के सात भव शेष रहते हैं, अर्थात् सात भवों को लेकर मुक्त हो जाते हैं। तथा जघन्य लेश्या युक्त सम्यक्त्व आराधना करने वाले जीवों के संख्यात अथवा असंख्यात भव शेष रहते हैं। अनंतर वे जीव सिद्ध अवस्था को प्राप्त करते हैं ।।५४।।

अर्थ—उन तीन प्रकार के लेश्यायुक्त सम्यक्त्व आराधनाओं में से उत्कृष्ट लेश्यायुक्त सम्यक्त्वाराधक केवली जिन है पंचम गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक के सम्यग्दृष्टि जीवो के मध्यम लेश्यायुक्त मध्यम सम्यक्त्व आराधना मानी है (और उनके सात भव ही शेष रहते हैं) चतुर्थ गुणस्थान वाले संक्लिष्ट परिणामी असयत सम्यक्त्वी के जघन्य लेश्या युक्त जघन्य दर्शनाराधना होती है ।।५५।।

अर्थ—मरणकाल में यह जीव यदि दर्शन की जघन्य आराधना भी कर लेता है अर्थात् मरते समय सम्यक्त्व से च्युत नही होता है और उसके चारित्र नही है, अविरत है तो भी वह उस सम्यक्त्वाराधना के प्रताप से सख्यात अथवा असख्यात भव संसार परिभ्रमण कर अवश्यमेव मुक्त हो जाता है ।।५६।।

भावार्थ—सम्यक्त्व होकर छूट गया तो ऐसे जीवों के भव अनंत भी हो सकते है—वह अर्ध पुद्गल परावर्त्तन प्रमाण काल तक ससार में रुल सकता है किन्तु यदि मरणकाल मे सम्यक्त्व नही छूटता सम्यक्त्व को लेकर परलोक गमन करता है तो उसके संख्यात या असख्यात भव ही शेष रहते हैं इससे अधिक नही। यदि पंचम आदि आगे के गुणस्थानों में मरण होता है अर्थात् सम्यक्त्व के साथ देशचारित्र अथवा सकल चारित्र मरते समय रहता है तो वह जीव नियम से सात भवों में प्रमुक्त हो जाता है। अर्थ यह हुआ कि मरण के समय में सम्यक्त्व रहना अधिक महत्वपूर्ण है। सम्यक्त्व होकर प्रायः छूट जाता है, विरले ही जीवों के मृत्यु के समय में वह रह पाता है। तथा

मुहूर्तमपि ये लब्ध्वा, जीवा मुंचन्ति दर्शनम् ।
नानंतानंत संख्याता, तेषामद्धा भवस्थितिः ।।५७।।

*** इति बालमरणाधिकारं समाप्तं ***

सम्यक्त्व के साथ-साथ देशविरत सकलविरत रूप चारित्र होना उससे और अधिक-अधिक दुर्लभ है, क्योंकि संक्लेश के कारण प्रायः मरणकाल में चारित्र की विराधना हो जाया करती है । अतः जीवन में सम्यक्त्व हुआ इस महत्व से अधिक महत्व मरते समय सम्यक्त्व रहा इस बातका है । एवं जीवन में देशव्रत या महाव्रत का पालन किया इस महत्व से अधिक महत्व मरणकाल में भी चारित्र रहा इस बात का है । सम्यक्त्व सहित होकर विरले जीव ही मृत्यु को प्राप्त करते है तथा सम्यक्त्व और चारित्र दोनों से संयुक्त होकर मृत्यु करने वाले अति विरले जीव हैं । इसप्रकार जानकर सतत सम्यक्त्वाराधना मे प्रयत्नशील होना चाहिए ।

अर्थ—जो जीव एक मुहूर्त प्रमाण काल के लिये सम्यक्त्व प्राप्त करके उसे छोड देते हैं उन जीवों के संसार में रहने का काल अनंतानंत भव प्रमाण है ।।५७।।

भावार्थ—जिनको अभी तक सम्यक्त्व रत्न को प्राप्ति नहीं हुई है उनके संसार परिभ्रमण का समय अथाह है वे कब तक संसार भ्रमण करेंगे इसका कुछ भी निश्चय नही है । किन्तु जिनके सम्यक्त्व होकर छूट भी गया तो वे जीव नियम से अर्ध पुद्गल परिवर्त्तन प्रमाण अनंतकाल भ्रमण कर मुक्त हो जायेगे अर्थात् सम्यक्त्वी के संसार परिभ्रमण का किनारा आ जाता है, अतः सम्यक्त्व की महिमा अपरम्पार है, यही भवनाशक है ।

।। बालमरण का कथन समाप्त हुआ ।।

¤

बालबालमरणाधिकारः २

संयतोऽसंयतो वा यो, मिथ्यात्वकलुषीकृतम् ।
विदधात्यधमः कालं, कस्याप्याराधको न सः ॥५८॥
जिनैरभाणि मिथ्यात्वं, तत्त्वार्थानामरोचनम् ।
इदं सांशयिकं जन्तो, गृहीतमगृहीतकम् ॥५९॥
तत्र जीवादितत्त्वानां, कथितानां जिनेश्वरैः ।
विनिश्चय पराचीना, दृष्टिः सांशयिकीमता ॥६०॥

अर्थ—जिसने मिथ्यात्व से कलुषित होकर काल किया है अर्थात् मिथ्यात्व में आकर मरण किया है, वह बाहर से संयमी अथवा असंयमी हो किन्तु वह व्यक्ति किसी भी आराधना का आराधक नहीं होता ॥५८॥

भावार्थ—मिथ्यात्व परिणाम हो जाने पर द्रव्य से संयम रहने पर भी किसी एक भी आराधना का वह आराधक इसलिये नहीं है कि सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान चारित्र समीचीनता को प्राप्त नही होते हैं ।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान ने मिथ्यात्व का स्वरूप इसप्रकार बतलाया है कि तत्त्वार्थों में अरुचि होना मिथ्यात्व परिणाम है, जीव के इस मिथ्यात्व परिणाम के तीन भेद हैं—सांशयिक मिथ्यात्व, गृहीत मिथ्यात्व और अगृहीत मिथ्यात्व ॥५९॥

अर्थ—जिनेश्वर द्वारा प्रतिपादित जीवादि तत्त्वों का निश्चय नहीं होना सांशयिक मिथ्यात्व कहलाता है । अर्थात् जिनेन्द्र कथित तत्त्व सत्य है कि सांख्यादि द्वारा कथित तत्त्व सत्य है इसप्रकार संशय रहना सांशयिक मिथ्यात्व है ॥६०॥

परोपदेशसम्पन्नं, गृहीतमभिधीयते ।
निसर्गसंभवं प्राज्ञं, मिथ्यात्वमगृहीतकम् ।।६१।।
अहिंसादिगुणाः सर्वे, व्यर्थामिथ्यात्व भाविते ।
कटुकेऽलाबुनि क्षीरं, सफलं जायते कुतः ।।६२।।
सर्वे दोषाय जायन्ते, गुणामिथ्यात्व दूषिताः ।
किमौषधानि निघ्नंति, सविषाणि न जीवितम् ।।६३।।
निर्वृतिं संयमस्थोऽपि, न मिथ्यादृष्टिरश्नुते ।
जवनोऽप्यन्यतो यायी, किं स्वेष्टं स्थानमृच्छति ।।६४।।

अर्थ—कुगुरु आदि के उपदेश संगति आदि से जो अतत्त्व श्रद्धा रूप मिथ्यात्व होता है उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। जो स्वभाव से ही मिथ्यात्वरूप भाव होता है उसे प्राज्ञ पुरुष अगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं ।।६१।।

अर्थ—मिथ्यात्व युक्त जीव में पाये जाने वाले अहिसा आदि सर्व निरर्थक हो जाते है, जिस प्रकार कड़वो तुम्बड़ी में रखा हुआ दूध कड़वा हो जाता है, उस दूध से कुछ लाभ नही होता ।।६२।।

अर्थ—अहिंसा आदि सर्वगुण मिथ्यात्व से दूषित हुए सबके सब दोष के लिये कारण हो जाते है। क्या विषयुक्त हुई औषधियाँ जीवन प्रदान कर सकती है ? नही, वह तो उलटे जीवननाशक ही बनती है। इसीप्रकार मिथ्यात्व विष से युक्त अहिंसादि-गुण गुण न रहकर दोष ही बन जाते हैं ।।६३।।

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव संयम में स्थित होकर भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाता। क्या वेग से गमन करने वाला पथिक भी विपरीत दिशा में जा रहा है तो अपने इष्ट स्थान पर पहुँच सकता है ? अर्थात् जाना हिमालय में है और दक्षिण की ओर दौड़ रहा है वह पुरुष जैसे अपने इष्ट हिमालय को प्राप्त नहीं कर सकता है, भले ही वह कितने ही वेग से गमन करे, वैसे ही मिथ्यात्वी कितना भी उच्च संयम क्यों न पाले किन्तु वह मुक्त नही हो सकता ।।६४।।

न विद्यते व्रतं शीलं, यस्य मिथ्यादृशः पुनः ।
न कथं दीर्घसंसारमात्मानं विदधाति सः ।।६५।।
अरोचित्वाज्जिनाख्यातं, एकमप्यक्षरं मृतः ।
निमज्जति भवाम्भोधौ, सर्वस्यारोचको न किं ।।६६।।
संख्येयाः संत्यसंख्येया, बालबालमृतौ भवाः ।
भव्यजन्तोरनंता वा, परस्य गणनातिगाः ।।६७।।
अनंतेनापि कालेन, प्रभज्य भवपंजरं ।
सिद्ध्यन्ति भविनो भव्या, नाभव्यास्तु कदाचनं ।।६८।।

* इति बालबालमरणाधिकारं समाप्तम् *

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव अहिंसा आदि व्रतों से सम्पन्न होकर भी दीर्घ संसारी ही रहता है, संसार के कष्टों से छूट नहीं सकता है, तो फिर जिस मिथ्यादृष्टि के व्रत, शील आदि कुछ भी नहीं है उसके दीर्घ संसार परिभ्रमण कैसे नही होगा ? वह अवश्य ही अपने आत्मा को दीर्घ संसारी बना लेता है ।।६५।।

अर्थ—जिनदेव प्रतिपादित आगम के एक अक्षर की भी अश्रद्धा करने वाला पुरुष मरकर भवसागर में डूब जाता है तो फिर संपूर्ण आगम की अश्रद्धा करने वाले पुरुष की बात ही क्या है ? अर्थात् वह तो अवश्य संसार समुद्र में मज्जन करेगा ही ।।६६।।

भावार्थ—अनादि काल से आज तक चौरासी लाख योनियों में इस जीवका परिभ्रमण हो रहा है उसका कारण मिथ्यात्व है । जब तक मिथ्यात्व का अभाव नहीं होता तबतक संसार के महादुःखों से छुटकारा नहीं हो सकता भले ही व्रताचरण शील पालन आदि हो किन्तु वे सब गुण अंक रहित शून्यके समान है ।

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव यदि भव्य है तो उसके बालबालमरण होता है और उसके संख्यात या असंख्यात भव हैं अथवा किसी के अनन्तभव शेष हैं ।।६७।।

अर्थ—भव्य जीव अनंतकाल भव भ्रमण करके भी अन्त में भव पंजर का नाश कर मुक्त हो जाते है । किन्तु जो जीव अभव्य हैं वे कभी भी मुक्त नहीं होते, हमेशा चतुर्गतियों मे भ्रमण करते हैं ।।६८।।

।। बालबालमरण का वर्णन समाप्त हुआ ।।

भक्तत्यागः प्रशस्तेषु, मध्ये मृत्युषु वर्ण्यते ।
आद्यावद्यभवत्वेन, शेषवर्णनमग्रतः ॥६९॥
सवीचार मवीचारं, भक्तत्यागं द्विधाविदुः ।
शक्यश्चिरायुषामद्य, स्तत्रान्योऽन्यस्य कथ्यते ॥७०॥
भक्तत्यागं सवीचारं, मृत्युं तत्र विवक्षुणा ।
चत्वारिंशद्विबोध्यानि, सूत्राणीमानि धीमता ॥७१॥

अर्थ—प्रशस्तमरणों मे सर्व प्रथम भक्त प्रत्याख्यान नामके प्रशस्तमरण का वर्णन करते है, क्योकि वर्त्तमान कलिकाल में यह मरण संभव है। शेप दो मरण इंगिनी और प्रायोपगमनका वर्णन आगे करेगे ॥६९॥

अर्थ—भक्त प्रत्याख्यानमरण के दो भेद है सवीचार और अवीचार। जिसके आयु अभी दीर्घकालीन है उसके सवीचार भक्त प्रत्याख्यानमरण होता है और जिसकी आयु अत्यल्प है उसके अवीचार भक्त प्रत्याख्यानमरण होता है ॥७०॥

भावार्थ—यहाँ पर दीर्घ आयु और अल्प आयु का अर्थ यह है कि जिसके अकस्मात् आयु के नाशके कारण उपस्थित नही हुए है, जो बुद्धिपूर्वक शनैः शनैः आहारादिको कृश कर सकता है इतनी आयु अभी शेष है वह दीर्घायु है ऐसा अर्थ लगाना, तथा जिसके आयुके नाशके कारण उपस्थित हो गये है वह अल्पायु नामसे कहा गया है।

अर्थ—सवीचार भक्त प्रत्याख्यानमरण की विवक्षा करने के इच्छुक बुद्धिमान् पुरुषको ये चालीस सूत्र जानने चाहिये, अर्थात् भक्त प्रत्याख्यानमरण के वर्णन में चालीस सूत्राधिकार हैं अथवा चालीस प्रकरण है ॥७१॥

प्रस्तावना—अर्ह-लिंग, शिक्षा, विनय, समाधि, अनियतविहार, परिणाम, उपधित्याग, श्रिति, भावना, सल्लेखना, दिक्, क्षमण, अनुशिष्टि, परगणचर्या, मार्गणा, सुस्थित, उपसर्पण, निरूपण, प्रतिलेख, पृच्छा, एकसंग्रह, आलोचना, गुणदोष, शय्या, संस्तर, निर्यापक, प्रकाशन, हानि, प्रत्याख्यान, क्षामण, क्षपणा, अनुशिष्टि, सारणा, कवच, समता, ध्यान, लेश्या, फल, आराधक त्याग, लक्षणानि चत्वारिंशत्सूत्राणि ।।७२।।

अब उन चालीस सूत्रों का नाम निर्देश करते है—

अर्थ—अर्ह १ लिंग २ शिक्षा ३ विनय ४ समाधि ५ अनियतविहार ६ परिणाम ७ उपधि त्याग ८ श्रिति ९ भावना १० सल्लेखना ११ दिशा १२ क्षमण १३ अनुशिष्टि १४ परगणचर्या १५ मार्गणा १६ सुस्थित १७ उपसर्पण १८ निरूपण १९ प्रतिलेख २० पृच्छा २१ एक संग्रह २२ आलोचना २३ गुणदोष २४ शय्या २५ संस्तर २६ निर्यापक २७ प्रकाशन २८ हानि २९ प्रत्याख्यान ३० क्षामण ३१ क्षपणा ३२ अनुशिष्टि ३३ सारणा ३४ कवच ३५ समता ३६ ध्यान ३७ लेश्या ३८ फल ३९ और अन्तिम है ४० आराधक त्याग ।।७२।।

विशेषार्थ—भक्त प्रत्याख्यान नामके मरणका वर्णन करने के लिये चालीस प्रकरण–अधिकार या विषय आते हैं, जिनका कि ऊपर नाम निर्देश किया, इन सबका आगे बहुत ही विस्तार पूर्वक कथन है । यहाँ अति संक्षेप से लक्षण मात्र बतलाते है—

१ अर्ह–भक्त प्रत्याख्यानमरण को धारण करने मे जो मुनि योग्य है उसे अर्ह कहते हैं अर्थात् रोग आदि के कारण जिसका मरण सन्निकट है, ऐसे साधु को समाधि के योग्य होने से 'अर्ह' कहते है अर्थात् जिस अधिकार मे इस प्रकार समाधि के योग्य कौन साधु है इसका वर्णन होता है वह अर्ह नामका अधिकार या प्रकरण है ।

२. लिंग–दि० जैन मुनिका वेष लिंग किस प्रकार होता है इसका वर्णन इस प्रकरण में है अर्थात् पीछी धारण, नग्नता, तैलादिके संस्कार से रहितता इत्यादि का इसमें कथन है ।

३. शिक्षा–श्रुतज्ञान का अभ्यास ।

४. विनय–गुरुजनों का सन्मान, ज्ञान विनय आदि का कथन इस अधिकार में होगा ।

५. समाधि–मनका समाधान होना अथवा मनकी एकाग्रता।

६. अनियत विहार–साधुजन यत्र तत्र विहार करते हैं उससे जो लाभ होता है उसका वर्णन।

७. परिणाम–अपने को जो कार्य करना है उसका विचार करना।

८. उपधित्याग–परिग्रह त्याग।

९. श्रिति—शुभ परिणामों की उत्तरोत्तर वृद्धि।

१०. भावना–संक्लिष्ट भावना का त्याग और शुद्ध भावना का ग्रहण।

११. सल्लेखना–काय और कषायों का कृशीकरण।

१२. दिशा–समाधि के इच्छुक आचार्य अपने पद पर अन्य मुनिको प्रतिष्ठित करते हैं उस विधिका इसमें कथन होगा।

१३. क्षमणा–समाधि के इच्छुक आचार्य अपने संघ से क्षमा याचना करते हैं, उसका कथन।

१४. अनुशिष्टि–समाधि के वांच्छक आचार्य परमेष्ठी अपना पद अन्य शिष्य को देकर उसको तथा समस्त संघको पृथक् पृथक् उनके कर्त्तव्य का श्रेष्ठ उपदेश देते है, उसका कथन।

१५. परगणचर्या—समाधि के लिये आचार्य अन्य संघ मे जाने के लिये गमन करते हैं।

१६. मार्गणा–समाधिमरण कराने में परम सहायक ऐसे आचार्य का अन्वेषण करना।

१७. सुस्थित–अपने तथा परके उपकार करने में समर्थ आचार्य को सुस्थित कहते हैं ऐसे आचार्य के निकट जाना।

१८. उपसर्पण–समाधिमरण कराने में समर्थ ऐसे आचार्य के चरणों में आत्म समर्पण।

१९. निरुपण–उक्त समर्थ आचार्य द्वारा आगत क्षपक मुनिका निरीक्षण-परीक्षण करना।

२०. प्रतिलेख–समाधिमरण की सिद्धि कैसी होगी इत्यादि विषयों का शोधन करना निरीक्षण करना ।

२१. पृच्छा–समाधि के लिये अपने संघ में साधु के आ जाने पर संघनायक संघ से पूछते हैं कि इनको ग्रहण करना है या नहीं ? अर्थात् यह साधु समाधि के योग्य है या नहीं आप इस कार्य में समर्थक हैं या नहीं इत्यादि आचार्य द्वारा पूछा जाना ।

२२. एक संग्रह–एक आचार्य एक ही क्षपक मुनिको समाधि हेतु संस्तरारूढ करते हैं, एक साथ अनेकों को नहीं ।

२३. आलोचना–जीवनपर्यंत साधु अवस्था मे जो दोष लगे है उनको आचार्य के लिये निवेदन कर देना ।

२४. गुणदोष–आलोचना के गुण दोषो का कथन ।

२५. शय्या–जहां भक्त प्रतिज्ञा मरण ग्रहण करता है वह स्थान–वसतिका कैसी हो ।

२६. संस्तर–जिस पर क्षपक लेटता है वह भूमि तृण आदि कैसे हो ।

२७. निर्यापक–क्षपक की सेवा करने वाले मुनिगण कैसे हों ।

२८. प्रकाशन–क्षपक को यावज्जीव आहार का त्याग कराने के लिये उसको आहार को दिखाकर आहार से विरक्ति कराना ।

२९. हानि–क्षपक से क्रमशः आहार पानी का त्याग कराना ।

३०. प्रत्याख्यान–जीवन पर्यंत के लिये सर्वथा आहार त्याग ।

३१. क्षामण–क्षपक द्वारा समस्त संघ से क्षमा याचना ।

३२. क्षपणा–क्षपक द्वारा कर्मों की निर्जरा होना । उसका कथन ।

३३. अनुशिष्टि–निर्यापक आचार्य द्वारा क्षपक के लिये महाव्रत आदि मूल गुण तथा उत्तर गुणों का उपदेश देना । इसमें सबसे अधिक श्लोक हैं सबसे बड़ा अधिकार है ।

३४. सारणा–रत्नत्रय धर्म मे क्षपक को प्रेरित करना ।

रोगो दुस्तरो यस्य, जरा श्रामण्य हारिणी ।
तिर्यग्भिर्मानवैर्देवै, रुपसर्गाः प्रवर्तिताः ॥७३॥
अनुकूलैर्गृहीतो वा, वैरिभिर्वृत्त हारिभिः ।
योऽटव्यां पतितो घोरे, दुर्भिक्षे च दुस्तरे ॥७४॥
दुर्बलौ यस्य जायेते, श्रवणौ चक्षुषी तथा ।
विहर्त्तुं न समर्थो यो, जङ्घाबल विवर्जितः ॥७५॥

---

३५. कवच–क्षपक को धर्मोपदेश द्वारा वैराग्यरूप दृढ़ कवच पहना देना इसमें घोर परीषह विजयी सुकुमाल आदि मुनियों की कथायें हैं ।

३६. समता—समताभाव का वर्णन ।

३७. ध्यान–धर्मध्यान आदि का सविस्तार कथन ।

३८ लेश्या–छह लेश्या का कथन एवं मरते समय कौनसी लेश्या होवे तो क्षपक किस गति में जाता है इसका वर्णन ।

३९. फल–चार आराधनाओं की आराधना करने से क्या फल मिलता है ।

४०. आराधक के शरीर का त्याग–क्षपक की मृत्यु होने के बाद संघका कर्तव्य क्या है क्षपक के शवका क्या करना इत्यादि विषय का कथन ।

उपर्युक्त चालीस अधिकारों में से प्रथम अर्हं नामके अधिकार का प्रारम्भ करते हैं—

अर्थ— जिस मुनिके मुनिपने का नाश करने वाला बुढापा आया है, या जिसको दूर करना अशक्य है ऐसा रोग आ गया है, अथवा तिर्यंच, मानव और देव द्वारा उपसर्ग प्राप्त हुआ है ॥७३॥

अर्थ—संयम को नष्ट करने वाले अनुकूल शत्रु द्वारा जो गृहीत है, भयंकर वनमें आ गया हो, भयंकर दुर्भिक्ष पड़ गया हो ॥७४॥

अर्थ—जिसके नेत्र दुर्बल हो गये हों, अर्थात् नेत्रों से दिखना बिलकुल मंद हो गया हो । कर्ण दुर्बल हुए हों । जो विहार करने में असमर्थ हो चुका है, जंघाबल रहित हो गया हो ॥७५॥

दुर्वारं कारणं यस्य, जायतेऽन्यदपीदृशम् ।
भक्तत्यागमृते योग्यः, संयतोऽसंयतोऽपि सः ॥७६॥
प्रवर्तते सुखं यस्य श्रामण्यमपदूषणम् ।
दुर्भिक्षान्न भयं योग्या दुरापा न च सूरयः ॥७७॥
नासावर्हति संन्यासमदृष्टे पुरतो भये ।
मरणं याचमानोऽसौ, निर्विण्णो वृत्ततः परम् ॥७८॥
इति अर्हः ।
तदौत्सर्गिक लिंगानां, लिंगमौत्सर्गिकं परं ।
अनौत्सर्गिक लिंगानामपीदं वर्ण्यते जिनैः ॥७९॥

अर्थ—इसीप्रकार अन्य कोई दुर्वार कारण उपस्थित हो गया है तब वह भक्त प्रत्याख्यानमरण के योग्य होता है । भक्त प्रत्याख्यानमरण के योग्य संयत मुनि है तथा असंयमी भी यथायोग्य इस मरण को कर सकता है [संयतासंयत भी यथाशक्य इस मरण के योग्य है] इसप्रकार भक्त प्रत्याख्यान नामके सन्यासमरण के योग्य कौन है इस बातको यह अर्ह नामका अधिकार बतलाता है ॥७६॥

कौनसे साधु सल्लेखना के योग्य नहीं हैं इस बात को बतलाते हैं—

अर्थ—जिस साधु के चारित्र निर्दोष पलता हो, व्रतो में दोष उपस्थित न हो, बिना परिश्रम के संयम का निर्वाह हो रहा है, दुर्भिक्ष के कारण अन्न पान का अभाव नहीं है तथा निर्यापक आचार्य की प्राप्ति आगे दुर्लभ नहीं है ऐसे समय में समाधि नही करनी चाहिये । ऐसे साधुजन समाधि के अर्ह (योग्य) नहीं हैं, अनर्ह (अयोग्य) है ॥७७॥

अर्थ—आगामी काल मे रोग दुर्भिक्ष आदि का भय नहीं है वे साधु समाधि के योग्य नही हैं । इसप्रकार समाधि का अवसर अभी प्राप्त नहीं है और फिर भी कोई साधु समाधिमरण चाहता है तो समझना चाहिये कि वह अपने चारित्र से विरक्त हुआ है ॥७८॥

अर्ह अधिकार समाप्त ।

लिंग नामका दूसरा अधिकार—

अर्थ—औत्सर्गिक लिंग वालों के औत्सर्गिक लिंग और अनौत्सर्गिक लिंग वालों के अनौत्सर्गिक लिंग होता है, इसप्रकार लिंग के दो भेद हैं। औत्सर्गिक लिंग का

यस्य त्रिस्थानगो दोषो, दुर्निवारो विरागिणः ।
लिंग मौत्सर्गिकं तस्मै, संस्तरस्थाय दीयते ।।८०।।

उत्सर्ग लिंग भी नाम है तथा अनौत्सर्गिक लिंगका अपवाद लिग भी नाम है। उत्कृष्ट **लिंग** औत्सर्गिक है । जिनेन्द्र ने दोनों लिगों का वर्णन किया है ।।७९।।

भावार्थ—सपूर्ण परिग्रह का यावज्जीव त्याग करना उत्सर्ग है और इसके साथ नग्नरूप धारण करना औत्सर्गिक अथवा उत्सर्ग लिंग कहलाता है । यह दिगम्बर जैन साधु के होता है भक्तप्रत्याख्यानमरण के अधिकारी उत्सर्ग लिगधारी साधुजन होते हैं । अपवाद लिंग गृहस्थ के होता है, अन्त समय में गृहस्थ यदि समाधिमरण करना चाहता है और उसके लिंग में (पुरुषलिंग-अडकोष) दोष नहीं है तो वह औत्सर्गिक लिंग अर्थात् निर्ग्रन्थ नग्न वेष लेकर समाधिमरण कर सकता है । जिस गृहस्थ के पुरुषलिग में दोष है, जो गृहस्थ अतिलज्जाशील है, जो मिथ्यात्वी परिवार वाला है, ऐसा गृहस्थ समाधिमरण करते समय कौनसा लिग धारण करे, इस बातका वर्णन आगे को कारिकाओ में करेगे ।

अर्थ—वैराग्यवान् समाधिमरण करने का इच्छुक ऐसे गृहस्थ के पुरुष लिग में यदि तीन स्थानो में दोष है तो उसके लिये संस्तर पर आरूढ होने पर अन्तसमय मे उत्सर्गलिग–नग्नवेष दिया जाता है ।।८०।।

विशेषार्थ—जो गृहस्थ अतममय मे दीक्षा ग्रहण कर समाधि करना चाहता है उसको मुनिदीक्षा देकर निर्यापकाचार्य भलोप्रकार से समाधिमरण में सहायक होते है, अब यदि उसके पुरुष लिग मे (मेहन–अण्डकोष या लिग में) कोई दोष है तो उसको संस्तरारूढ–आहार का क्रमश त्याग करते हुए एवं वसतिका के बाहर के क्षेत्र का त्याग कराके अनतर मुनि लिग धारण कराते है । गृहस्थ के लिग मे त्रिस्थानगत दोष ये हैं–मेहन और दोनों वृषणों में दोष तथा लिग चर्म से आच्छादित नहीं होना, अण्डकोष की वृद्धि होना, लिग अधिक लम्बा होना आदि दोष है । कोई गृहस्थ ऐसा है कि उसके लिग दोष तो नही है, किन्तु लज्जाशील अधिक है अथवा अन्य कुछ कारण है तो उसे मुनिलिग धारण नही कराना चाहिये । इसो बातको आगे कहते हैं ।

समृद्धस्य सलज्जस्य, योग्यं स्थानमविवतः ।
मिथ्यादृक् प्रचुरज्ञाते, रनौत्सर्गिकमिष्यते ॥८१॥
औत्सर्गिक मचेलत्वं, लोचो व्युत्सृष्टदेहता ।
प्रतिलेखनमित्येवं, लिंगमुक्तं चतुर्विधं ॥८२॥
यात्रासाधनगार्हस्थ्य, विवेकात्मस्थितिक्रिया ।
परमोलोक विश्वासो, गुणालिंगमुपेयुषः ॥८३॥

अर्थ—जो गृहस्थ समाधि का इच्छुक तो है किन्तु अधिक धनाढच है और अतिलज्जावान् है अथवा जिसके परिवार के व्यक्ति मिथ्यादृष्टि है ऐसे गृहस्थ को अपवाद लिग ही योग्य है अर्थात् उसे वस्त्र का त्याग नही कराना चाहिये । वस्त्र सहित अवस्था में यथायोग्य समाधिमरण करना कराना युक्त है ॥८१॥

अर्थ—औत्सर्गिक लिग चार प्रकार का है—अचेलकत्व-वस्त्र मात्रका त्याग । लोच–शिर, दाढी एवं मूछके केशोंका हाथों से उखाडना (केशलोच) व्युत्सृष्ट देहता– शरीर के ममत्व का त्याग । प्रतिलेखन–पिच्छी ग्रहण करना । मुनिवेष में ये चार महत्वपूर्ण चिह्न है । इन चार के बिना मुनि लिग सभव नही है ॥८२॥

उत्सर्ग लिंग क्यों धारण किया जाता है इस बातको बतलाते हैं—

अर्थ—उत्सर्ग लिग यात्रा का साधन है, गृहस्थ से विवेक अर्थात् पृथक् करण रूप है, आत्मस्थितिरूप है, शरीरस्थितिरूप है, श्रेष्ठ है, लोको को विश्वास का कारण है इसप्रकार इतने गुण उत्सर्ग लिग धारण करने मे होते है ॥८३॥

भावार्थ—यहाँ पर उक्त गुणों का विवेचन करते हैं—यात्रा साधन गुण- नग्न वेषको देखकर आहारादि दान गृहस्थजन दे सकेगे । इस व्यक्ति मे रत्नत्रय धर्म है ऐसी प्रतीति का कारण उत्सर्ग लिग है यह मोक्षमार्ग की यात्रा मे इसप्रकार साधन- भूत है । इस वेषसे गृहस्थ से साधु का पृथक्करण भली प्रकार से हो जाता है अतः इस लिंग मे गार्हस्थ्य विवेक नामका गुण है । आत्मस्थिति गुण–उत्सर्ग लिगधारी को सदा विचार रहेगा कि मैंने वस्त्रादिका त्याग ससार के नाना दुःखों से छूटने के लिये किया है, चतुर्गति भ्रमण न हो इसलिये किया है, इस वेष मे यदि कोई कपट आदि करूंगा तो दुर्गति का पात्र बनूंगा । इसप्रकार विचार आने से सदा वह आत्म भावना

परिकर्म भयग्रन्थ, संसक्ति प्रतिलेखनाः ।
लोभमोहमदक्रोधाः, समस्ताः संति वर्जिताः ।।८४।।
अङ्गाक्षार्थ सुख त्यागो, रूपं विश्वासकारणम् ।
परीषह सहिष्णुत्व, महद्वाकृतिधारणम् ।।८५।।

में स्थित रहता है, इसप्रकार उत्सर्गलिंग आत्मस्थिति का कारण है। यह सहज स्वाभाविक वेष है अत परम या श्रेष्ठ है। लोक विश्वास गुण–इस उत्सर्ग लिग से जगत् को विश्वास एवं श्रद्धा होती है कि इस साधु के लोभ लालच नही है शरीर से कितना निःस्पृह है, यह हमारे धनादिका अपहर्ता नही हो सकता क्योकि जिसके तन पर वस्त्र ही नही वह क्यो चोरी आदि करेगा इत्यादि। इसप्रकार उत्सर्ग लिंग में अनेक गुण पाये जाते हैं।

अर्थ—परिकर्म, भय, ग्रंथ, ससक्ति, प्रतिलेखन, लोभ, मद, मोह, और क्रोध इन दोषों का त्याग उत्सर्ग लिग में हो जाया करता है ।।८४।।

विशेषार्थ—निष्परिग्रही साधुको वस्त्र की याचना नही करनी पडती, धोना सुखाना आदि मे समय नही जाता, वह समय स्वाध्याय ध्यान मे लगता है। इसप्रकार परिकर्म वर्जन होता है। उत्सर्ग लिगधारी को चौरादि का भय नहीं रहता, यह भय विवर्जना गुण हुआ। ग्रंथत्याग–इस लिग मे परिग्रह त्याग होता है। समस्त पदार्थ का त्याग हो जाने से आसक्ति का अभाव होता है। कोई पदार्थ जब पास मे नही है तो उठाना रखना देखभाल आदि नही करना पड़ता इसको अप्रतिलेखन गुण कहते है। लोभ, मोह, मद और क्रोध परिग्रह के कारण होते है, यहाँ परिग्रह है नही अतः लोभादि का परिहार हो जाता है।

अर्थ—उत्सर्ग लिंग धारण करने से शरीर सुख इंद्रिय सुख विषय सुखों का त्याग हो जाता है। यह लिंग विश्वास का हेतु है। इसमें परीषह सहिष्णुता आती है। यह अर्हन्त की आकृति धारण करना रूप है अर्थात् अर्हन्त प्रभु भी इस उत्सर्ग लिग वेष वाले होते हैं ।।८५।।

स्ववशत्वमदोषत्वं, धैर्यवीर्यप्रकाशनम् ।
नानाकारा भवंत्येव, मचेलत्वे महागुणाः ।।८६।।
सम्यक्प्रवृत्तनिःशेष, व्यापारः समितेन्द्रियः ।
इत्थमुत्तिष्ठते सिद्धौ, नाग्न्यगुप्तिमधिष्ठितः ।।८७।।
आपवादिकलिंगोऽपि, निंदागर्हापरायणः ।
जन्तुरच्छादकः शक्तेः संगत्यागी विशुद्धयति ।।८८।।
संस्कारा भावतः केशाः, संमूर्च्छन्ति निरन्तरम् ।
विशन्त्यागन्तवो जीवा, दूरक्षाः शयनादिषु ।।८९।।

अर्थ—इसमें स्ववशता आती है अर्थात् मुनि लिंग में स्वेच्छा पूर्वक उठना बैठना, विहार कर जाना आदि कार्य संभव है हर कार्य में स्वाधीनता है। रागादि दोष नही होते, इस नग्न वेष से व्यक्ति का धैर्य और वीर्य प्रगट होता है। इस प्रकार के और भी अनेक गुण मुनिलिंग में निवास करते है ।।८६।।

अर्थ—निर्ग्रन्थ लिंग के कारण संपूर्ण क्रियाओ मे वह साधु सावधानी पूर्वक समीचीन प्रवृत्ति कर सकता है। इंद्रियाँ शांत हो जाती है अर्थात् इंद्रियरूपी अश्वों पर लगाम लग जाती है। गुप्तियों का पालन हो जाता है। इस प्रकार निःसंग हुआ वह साधु एक सिद्धि के लिये ही प्रयत्नशील हो जाता है ।।८७।।

अर्थ—जो अपवाद लिंगधारी है वह भी अपनी निन्दा गर्हा करता हुआ अर्थात् मैं उत्सर्ग लिंगको धारण नही कर सका, मुझ मे ऐसा धैर्य होना चाहिए था इत्यादि रूप पश्चाताप करे, यथाशक्ति परिग्रह का त्याग करे। जीव दया, इंद्रिय निरोध मन का निरोध करे। अपवाद लिंगधारी आर्यिका या क्षुल्लक या श्रावक श्राविका यह विचार करे कि हम संपूर्ण परिग्रह त्याग मे असमर्थ है, कब ऐसा अवसर मिले कि जिससे मुनिलिंग के योग्य शरीर प्राप्त हो। हमने अवश्य ही पूर्व जन्म मे पाप संचय किया है जिससे आज उत्सर्ग लिंग धारण नही कर सकते। इत्यादि निंदा गर्हा युक्त होकर विशुद्ध परिणाम द्वारा आत्मशोधन करता है ।।८८।।

इसप्रकार उत्सर्गलिंग अथवा अचेलगुण का वर्णन समाप्त हुआ।

अर्थ—साधुजन केशलोच करते है, यदि केशलोच न करे तो संस्कार के अभाव में केशो में समूर्च्छन जीव उत्पन्न होगे। शयन आदि के समय केशों में आगतुक जीव इधर उधर से आकर बैठ जायेंगे, उनका प्रतीकार करना कठिन होगा ।।८९।।

संक्लेशः पीड्यमानस्य, यूकालिक्षेण दुःसहः ।
पीड्यते तच्च कंडूतौ, यतो लोचस्ततो मतः ॥६०॥
मुंडन्वं कुर्वतो लोचमस्त्यतो निर्विकारिता ।
प्रकृष्टां कुरुते चेष्टां, वीतरागमनास्ततः ॥६१॥
दम्यमानस्य लोचेन, हृषीकार्थेऽस्य नाग्रहः ।
स्वाधीनत्वमदोषत्वं, निर्ममत्वं च विग्रहे ॥६२॥
आत्मीया दर्शिता श्रद्धा, धर्मे लोचं वितन्वता ।
भावित सकलं दुःखं, दुश्चरं चरितं तपः ॥६३॥

इति लोचः ।

अर्थ—सस्कार तो साधु करते नही अर्थात् केशों का धोना, सुखाना, तेल लगाना आदि क्रिया नही करते है तब उन केशों में जूं आदि निरन्तर रहेंगे, उनसे पीड़ा होने पर संक्लेश होगा, अथवा खुजली आदि करने से उन जीवों को पीडा होगी इत्यादि दोष होंगे अत. जिनेन्द्र देव ने साधुजनों को केशलोच की आज्ञा दी है । इस प्रकार केशलोच नही करने पर क्या दोष आता है इस बातको बतलाया ॥६०॥

अर्थ—केशलोच करने से मस्तक का मुंडन होकर निर्विकारता आती है, उससे मुक्तिमार्ग की ध्यानादि क्रिया में प्रवृत्ति हो जाया करती है । वीतरागभाव आता है ॥६१॥

अर्थ—लोच द्वारा दमन हो जाने से इंद्रियो के विषयों मे प्रवृत्ति कम हो जाती है । केशलोच के कारण स्वाधीनता बनी रहती है, अर्थात् केशों को काटने के लिये कैंची आदि की याचना नहीं करने से स्वाधीनता आती है । हिंसादि दोष दूर होते हैं । शरीर मे ममत्व नही रहता ॥६२॥

अर्थ—अपनी आत्म दर्शिता एवं आत्म श्रद्धा लोच करने से प्रगट होती है । दुःख सहन का अभ्यास सहज ही हो जाता है, धर्म पर प्रगाढ़ श्रद्धा होती है, केशलोच करने में शरीर का कष्ट सहन होता है और उससे कठोर चारित्र पालन, घोर तपश्चरण आदि का अभ्यास होता है अर्थात् कष्ट सहिष्णुता आ जाने से, उच्च निर्दोष चारित्र पालन और अनशन आदि तपों में सहज प्रवृत्ति होती है । इसप्रकार केशलोच करने के गुण बताये हैं ॥६३॥

लोच प्रकरण समाप्त ।

न भ्रू दन्तौष्ठ कर्णाक्षि, नखकेशादि संस्कृतिम् ।
भजन्त्युद्वर्तनं स्नानं, नाभ्यङ्गं ब्रह्मचारिणः ॥९४॥

न स्कन्धकुट्टनं वासं, माल्यं धूपविलेपनम् ।
कराभ्यां मलनं चूर्णं, चरणाभ्यां च मर्दनम् ॥९५॥

या रूक्षा लोचबीभत्सा, सर्वांगीणमला तनुः ।
सा रक्षा ब्रह्मचर्यस्य, प्ररूढनखलोमिका ॥९६॥

व्युत्सृष्टदेहता ।

आसने शयने स्थाने, गमने मोक्षणे ग्रहे ।
आमर्शन परामर्श, प्रसाराकुञ्चनादिषु ॥९७॥

अब व्युत्सृष्टदेहता गुण का प्रतिपादन तीन श्लोकों द्वारा करते हैं—

अर्थ—ब्रह्मचर्य व्रतधारी साधुजन अपने भौं, दांत, ओठ, कान, आंख, नख, केशादि के संस्कार को नही करते है । उवटन और अभ्यंग स्नान नही करते हैं ॥९४॥

अर्थ—शरीर को दबाना, कूटना आदि नहीं करते, सुगंधित पदार्थ, पुष्पमाला, कालागरुधूप विलेपन आदि का त्याग करते है । हाथों से मलना, पैरों से रगड़ना, बाहूमर्दन इत्यादि क्रिया को नही करते हैं ॥९५॥

अर्थ—शरीर मे रूक्षता, केशलोच से बीभत्सता सर्वांग मे मलका होना, नख लोमादि संस्कार नही करना इत्यादि से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है । इन क्रियाओं से शरीर सौन्दर्य समाप्त होता है और उससे ब्रह्मचर्य निर्दोष होता है । ॥९६॥

इसप्रकार व्युत्सृष्टदेहतागुण का व्याख्यान समाप्त हुआ ।

प्रतिलेखन गुणको कहते हैं—

अर्थ—आसन, शयन, स्थान, गगन इन क्रियाओं मे तथा किसी वस्तु को रखना और उठाना तथा शरीर मल का त्याग, शरीर का आमर्श (स्पर्श) परामर्श करने में एवं शरीर को फैलाना सिकोड़ना इन सब क्रियाओं मे जीवों की रक्षा करने हेतु प्रतिलेखन अर्थात् पिच्छी का धारण अत्यन्त आवश्यक है, पिच्छी द्वारा भली प्रकार

स्वपक्षे चिह्न मालम्ब्यं, साधुना प्रतिलेखनम् ।
विश्वास संयमाधारं, साधुलिंग समर्थनम् ।।९८।।
लघ्वस्वेदरजोग्राहि, सुकुमार मृदूदितम् ।
इति पंचगुणं योग्यं, ग्रहीतुं प्रतिलेखनम् ।।९९।।

इति प्रतिलेखन । इति लिंग ।

निपुणं विपुलं शुद्धं, निकाचितमनुत्तरम् ।
पापच्छेदि सदा ध्येयं, सार्वीय वाक्यमार्हतम् ।।१००।।

गद्यं–सर्वभावहिताहितावबोध–परिणामसंवर–प्रत्यग्रसंवेग–रत्नत्रयस्थिरत्व–तपो–भावना परदेशकत्वलक्षणगुणाः सप्त संपद्यन्ते जिनवचनशिक्षया ।।१०१।।

से छोटे बड़े जीवों की रक्षा होती है । सोना है बैठना है वस्तु रखना उठाना है तो पिच्छी द्वारा जीवों को दूर कर उक्त क्रिया कर सकता है अतः साधुओं को पिच्छी ग्रहण आवश्यक है, तथा जैन साधुओं का यह चिह्न विशेष भी है यह विश्वास और संयम का आधार है ।।९७–९८।।

अर्थ—पिच्छी में पाच गुण बतलाये हैं—लघुत्व–यह हलकी होती है । अस्वेदत्व–पसीना ग्रहण नहीं करती । रजो अग्रहण–धूलि आदि को ग्रहण नही करती । सुकुमार है और कोमल है इसप्रकार मयूर पंखों की पिच्छी में ये गुण होते हैं ।।९९।।

इसप्रकार यहां तक चालीस अधिकारों मे से दूसरा लिंग नामा अधिकार पूर्ण हुआ ।
लिंग के जो चार गुण बताये थे उनका कथन समाप्त हुआ ।

अब शिक्षा नामा तीसरा अधिकार प्रारम्भ करते हैं—

अर्थ—जिनेन्द्र देव के वाक्य निपुण हैं—प्रमाण नय से युक्त है । सूक्ष्म पदार्थ के विवेचन में समर्थ होने से विपुल और रागद्वेष रहित होने से शुद्ध हैं । अवगाढ़ अर्थ के प्रतिपादक प्रतिपक्ष रहित होने से अनुत्तर हैं । पापनाशक हैं, सदा ध्येयरूप और सब जीवों के हितकारक हैं ।।१००।।

अर्थ—यहां गद्य द्वारा शिक्षा में जो सात गुण होते हैं उनको बतलाते हैं—सम्पूर्ण पदार्थों मे कौनसा हितरूप है कौनसा अहितरूप है इसका ज्ञान जिन वाक्यों से होता है इसप्रकार हेयका ज्ञान और उपादेय का ज्ञान होता है भावसंवर प्राप्ति ।

सर्वे जीवादयो भावा, जिनशासन शिक्षया ।
तत्त्वतोऽत्रावबुध्यन्ते, परलोके हिताहिते ।।१०२।।

हिताहितमजानानो, जीवो मुह्यति सर्वथा ।
मूढो गृह्णाति कर्माणि, ततो भ्राम्यति संसृतौ ।।१०३।।

हितादानाहि-तत्त्यागौ, हिताहितविबोधने ।
यतस्ततः सदा कार्यं, हिताहितविबोधनम् ।।१०४।।

स्वाध्यायं पञ्चशः कुर्वंस्त्रिगुप्तः पंचसंवृतः ।
एकाग्रो जायते योगी विनयेन समाहितः ।।१०५।।

संसार शरीर भोगों से नवीन-नवीन संवेग (भीरुता) प्राप्त होती है, रत्नत्रय में स्थिरता, तप करने की भावना और धर्मोपदेश देने की योग्यता ये गुण जिन शिक्षा द्वारा प्राप्त होते हैं ।।१०१।।

आगे इन्हीं को बताते हैं—

अर्थ—जिन शासन की शिक्षा द्वारा जीव अजीव आस्रव आदि सभी पदार्थों का वास्तविक बोध होता है । परलोक में हितरूप क्या है अहितरूप क्या है इसका ज्ञान होता है ।।१०२।।

अर्थ—जब तक यह जीव हित और अहित को नहीं जानता है तब तक वह सर्वथा मोहित रहता है मोह के कारण मूढ़ हुआ प्राणी कर्मों का बध करता है और उससे संसार भ्रमण करता है ।।१०३।।

अर्थ—जब यह भव्य जीव हित अहित को जान लेता है तब भली प्रकार से हितका ग्रहण और अहित का त्याग करने मे समर्थ होता है, इसलिये हमेशा अपने आत्मा का हित क्या है और अहित क्या है इसको जानना चाहिये ।।१०४।।

अर्थ—जो पंच प्रकार के स्वाध्याय (वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और उपदेश) को करता है, त्रिगुप्ति पालन और पच इन्द्रियो का निरोध करता है वह विनय युक्त साधु एकाग्रचित्त होता है—ध्यान के योग्य होता है ।।१०५।।

अदृष्टपूर्वमुच्चार्थ मभ्यस्यति जिनागमम् ।
यथा यथा यतिर्धर्मे, प्रहृष्यति तथा तथा ।।१०६।।
शुद्धया निःकंपनो भूत्वा, हेयादेय विचक्षणः ।
रत्नत्रयात्मके मार्गे, यावज्जीवं प्रवर्तते ।।१०७।।
तपस्यभ्यन्तरे बाह्ये, स्थिते द्वादशधा तपः ।
स्वाध्यायेन समं नास्ति, न भूतं न भविष्यति ।।१०८।।
बह्वीभिर्भवकोटिभिर्यदज्ञानेन हन्यते ।
हंति ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तस्तत्कर्मान्तर्मुहूर्ततः ।।१०९।।
षष्ठाष्टमादिभिः शुद्धिरज्ञानस्यास्ति योगिनः ।
ज्ञानिनो वल्भमानस्य, प्रोक्ता बहुगुणास्ततः ।।११०।।
स्वाध्यायेन यतः सर्वा, भाविताः संति गुप्तयः ।
भवत्याराधना मृत्यौ, गुप्तीनां भावने सति ।।१११।।

अर्थ—जैसे जैसे विशिष्टरूप जिनागम का अभ्यास करता है जिसमें कि अदृष्टपूर्व–अपूर्व अपूर्व अर्थ भरा है श्रेष्ठ गूढ़ अर्थ भरा है, वैसे वैसे मुनिधर्म में महान् हर्ष–विशिष्ट अनुराग होता है ।।१०६।।

अर्थ—शास्त्राभ्यास द्वारा जिसे हेयोपादेय को जानने में विचक्षणता प्राप्त हुई है वह पुरुष रत्नत्रय मार्ग में जीवन पर्यंत प्रयत्नशील रहता है ।।१०७।।

अर्थ—बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से तप बारह प्रकार का है, उसमें स्वाध्याय नामके अभ्यन्तर तपके समान दूसरा तप नहीं है, न था और न आगे होगा । स्वाध्याय ही तीनों कालों मे सर्व श्रेष्ठ तप है ।।१०८।।

अर्थ—बहुत से करोड़ो भवो मे अज्ञान पूर्वक किये आचरण से जो कर्म नष्ट होता है वह त्रिगुप्ति धारक ज्ञानी के अन्तर्मुहूर्त मे नष्ट हो जाता है ।।१०९।।

अर्थ—अज्ञानी योगी षष्ठोपवास (बेला) अष्टमोपवास (तेला) आदि तप द्वारा भी जिस शुद्धि को प्राप्त नही कर पाता उस शुद्धिको ज्ञानी भोजन करते हुए भी प्राप्त कर लेता है । अतः स्वाध्याय ज्ञान मे बहुत गुण बताये है ।।११०।।

अर्थ—स्वाध्याय के द्वारा सभी गुप्तियां भावित होती हैं और गुप्तियों के सिद्ध होने पर मरणकाल में आराधना की प्राप्ति हो जाती है ।।१११।।

जिनाज्ञा स्वपरोत्तारा, भक्तिर्वात्सल्यवर्द्धनी ।
तीर्थप्रवर्तिका साधोर्ज्ञानतः परदेशना ।।११२।।
इति शिक्षा ।
विनयो दर्शने ज्ञाने, चारित्रे तपसि स्थितः ।
उपचारे च कर्त्तव्यः, पंच धापि मनीषिभिः ।।११३।।
उपबृंहादि तात्पर्यं, भक्त्यादिकरणोद्यमः ।
सम्यक्त्वविनयोज्ञेयः, शंकादीनां च वर्जनम् ।।११४।।

अर्थ—स्वाध्याय के द्वारा जिनाज्ञा का पालन, स्व-पर उद्धार, भक्ति, वात्सल्यवृद्धि, तीर्थ प्रवर्त्तन, उपदेश इतने गुण प्राप्त होते हैं ।।११२।।

भावार्थ—शास्त्र का स्वाध्याय करने से भगवान् की आज्ञा क्या है इसका बोध होता है, स्वका उद्धार और परका उद्धार कैसे हो यह ज्ञान हो जाता है। स्वाध्याय से गुणो मे प्रगाढ भक्ति जाग्रत होती है। साधर्मी मे वात्सल्य बढ़ता है। ज्ञान होने से प्रभावना करने में समर्थ होता है। तीर्थंकर का तीर्थ रत्नत्रयधारी के रहने से होगा, श्रुतकी परिपाटी बनी रहने से होगा और रत्नत्रयधारी तथा श्रुतकी परिपाटी स्वाध्याय करने वाले होगे तभी सभव है अत· स्वाध्याय तीर्थ प्रवर्त्तक है। परको धर्मोपदेश तो स्वाध्याय के बिना दे नही सकते। इसलिये स्वाध्याय मे इतने गुण निवास करते है ऐसा जानकर उसको सदा करते रहना चाहिये ।

शिक्षा प्रकरण समाप्त (३)

अब विनय नामका चौथा अधिकार प्रारम्भ होता है—

अर्थ—बुद्धिमानों को पांच प्रकार विनय करना चाहिये, सम्यग्दर्शन में, ज्ञान में, चारित्र में और उपचार में। रत्नत्रय और रत्नत्रय धारियों में आदर के भाव, भक्ति का होना, उनके प्रति झुकना, नम्रता होना विनय कहलाता है। अथवा जो अशुभ कर्मों को दूर करता है उसे विनय कहते है—'विनयति-अपनयति अशुभं कर्म इति विनय.' इसप्रकार विनय शब्दकी निरुक्ति है ।।११३।।

ज्ञान विनय आठ प्रकार का है—काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, व्यंजन, अर्थ और तदुभय। अब यहां पर आठों का कथन करते हैं—

अर्थ—१ कालविनय–शास्त्र का स्वाध्याय योग्य काल में करना, संध्या समय पर्व काल आदि कालों में सूत्र ग्रंथो का अध्ययन नही करना इत्यादि कालविनय है।

ज्ञानीयो विनयः काले, विनयेऽवग्रहे मतः ।
बहुमानेऽनपह्नु त्यां, व्यंजनेऽर्थे द्वयेऽष्टधा ।।११५।।
कुर्वतः समिती गु प्तीः, प्रणिधानस्य वर्जनम् ।
चारित्रविनयः साधो, र्जायते सिद्धिसाधकः ।।११६।।
प्रणिधानं द्विधा प्रोक्त, मिंद्रियानिंद्रियाश्रयम् ।
शब्दादि विषयं पूर्वं, परं मानादिगोचरम् ।।११७।।

---

२. विनय-श्रुत एवं श्रु तज्ञानीका भक्ति आदर करना । ३. उपधान विशेष नियम धारण कर ग्रंथ पढना अर्थात् अमुक शास्त्र का अध्ययन पूर्ण नहीं होगा तब तक इस वस्तुका मुझे त्याग है इत्यादिरूप नियम लेकर स्वाध्याय करना । ४. बहुमान—शुभ मनोयोग से पढ़ना, ग्रंथ को उच्चस्थान में विराजमान करके नमस्कार करके पढ़ना आदि । ५. अनिह्नव—गुरु का नाम या ग्रन्थ का नाम नहीं छिपाना । ६. व्यञ्जन शुद्धि—ककारादि व्यंजनों का शुद्ध उच्चारण । ७. अर्थ शुद्धि-जिस शब्द का जो अर्थ हो उसे वहां वैसे ही प्रकरण आदि के अनुसार करना । ८. उभय शुद्धि—व्यञ्जन शुद्धि और अर्थ शुद्धि पूर्वक ग्रंथ पढ़ना ।।११४।।

अर्थ—उपबृ हण आदि पहले कहे गये जो गुण है वे तथा अरिहंत आदिमें भक्ति पूजा आदि करने में उद्यम शका आदि दोषों का त्याग ये सब सम्पकत्व का विनय है ।।११५।।

अर्थ—इन्द्रियों के विषयों का त्याग और कषायों का त्याग करना प्रणिधान का त्याग कहलाता है । समिति और गुप्तियों का पालन करना, साधुओं का यह सब आचरण चारित्र विनय कहलाता है जो सिद्धि का साधन भूत है ।।११६।।

इन्द्रिय विषयों का त्याग इत्यादिरूप प्रणिधान का त्याग कहा था । यहां प्रणिधान का विशेष वर्णन करते हैं—

अर्थ—प्रणिधान दो प्रकार का है-इन्द्रिय प्रणिधान और अनिन्द्रिय [मन] प्रणिधान । शब्द रस आदि विषयों में होने वाला प्रणिधान इन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है, तथा मान मद आदि विषयक अनिन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है ।।११७।।

उक्तं शब्दे रसे रूपे, स्पर्शे गन्धे शुभेऽशुभे ।
रागद्वेषविधानं यत्तदाद्यं प्रणिधानकम् ॥११८॥
मान माया मद क्रोध, लोभमोहादिकल्पनम् ।
अनिद्रिया श्रयं ज्ञेयं, प्रणिधानमनेकधा ॥११९॥
तपस्तपोऽधिके भक्तिर्यच्छेषाणामहेलनं ।
स तपो विनयोऽवाचि, ग्रंथोक्तं चरतो यतेः ॥१२०॥
कायिको वाचिकश्चैतः, पंचमो विनयस्त्रिधा ।
सर्वोप्यसौ पुनर्द्वेधा, प्रत्यक्षेतर भेदतः ॥१२१॥
संभ्रमो नमनं सूरेः, कृतिकर्मांजलिक्रिया ।
सम्मुखं यानमायाति, यात्यनुव्रजनं पुनः ॥१२२॥

अर्थ—शुभ और अशुभ शब्द, रस, रूप, स्पर्श और गन्ध मे जो राग द्वेष होता है उसे इन्द्रिय प्रणिधान जानना ॥११८॥

अर्थ—मान, माया, मद, क्रोध, लोभ, मोह आदि भाव मनमें उत्पन्न होना अनिन्द्रिय प्रणिधान है वह अनेक प्रकार का है ॥११९॥

[सब प्रकार के प्रणिधान का त्याग कर अपने चारित्र को उज्वल बनाना चारित्र का विनय है ।]

चौथे तप विनयका वर्णन—

अर्थ—बारह प्रकार के अनशन आदि तपमें और अपने से जो साधु अधिक तपस्वी हैं उसमें भक्ति का होना तप का विनय है । जो साधु जन तप मे अपने से कम हैं उनका तिरस्कार नही करना यह भी तप विनय है, शास्त्रोक्त आचरण करने वाले साधु के इसप्रकार तप का विनय होता है ॥१२०॥

अब उपचार नामका पांचवां विनय बतलाते है—

अर्थ—उपचार विनय तीन प्रकार का है—कायिक, वाचिक और मानसिक । पुनः उन तीनों विनयों के दो-दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष ॥१२१॥

कायिक विनय का वर्णन चार श्लोकों द्वारा करते हैं—

अर्थ—आचार्य आदि आने पर उठकर खड़े होना, नमन करना, अंजली बद्ध नमस्कार, आचार्य भक्ति आदि बोलकर नमस्कार रूप कृतिकर्म करना, आचार्य आदि

नीचं यानमवस्थानं, नीचं शयनमासनं ।
प्रदानमवकाशस्य, विष्टरस्योपकारिणः ।।१२३।।

देशकालवयोभाव धर्म योग्यक्रियाकृतिः ।
करणं प्रेषणादीनामुपधेः प्रतिलेखनम् ।।१२४।।

व्यापारः क्रियते नित्यं, यः कायेनैवमादिकः ।
कायिको विनयोऽवाचि, साधूनां स यथोचितः ।।१२५।।

बड़े साधुजन को आते देखकर उनके सम्मुख जाना, अन्यत्र विहार कर रहे हों तो उनके पीछे कुछ दूर तक जाना, अथवा खुद को भी साथ विहार करना हो तो मार्ग में उनके पीछे चलना ।।१२२।।

अर्थ—पीछे गमन, नीचे स्थान पर खड़े रहना, उन आचार्यादि से नीचे स्थान पर शयन और आसन होना । उनके लिये निवास स्थान देना, सिंहासन देना, इस प्रकार गुरुजनों के प्रति प्रवृत्ति करना ।।१२३।।

अर्थ—गुरुजनों की सेवा देश, काल, उमर, भाव और धर्म के अनुसार करना चाहिये । रूक्ष प्रदेश है अथवा स्निग्ध है उसको देखकर सेवा करना, शीत ऋतु है अथवा अन्य है इसप्रकार काल के अनुकूल और उमर बाल वृद्ध आदि अवस्थाके अनुसार सेवा करें । धर्म के अनुसार अर्थात् व्रतादि में दूषण न आवे इस प्रकार सेवा करें । गुरु जन के भाव के अनुकूल वे जैसा चाहते हैं वैसे उनके शरीर को अपने पैर आदिका स्पर्श न हो इसप्रकार बैठकर सेवा करनी चाहिये । उनकी जैसी आज्ञा हो वैसे तथा उनका कुछ संदेश अन्यत्र भेजना हो तो उसे विनय पूर्वक स्वयं भेज देवे । आचार्य आदि के शास्त्र, पीछी कमण्डलु आदि उपकरणों का शोधन करे–उनमें जीव आदि का प्रवेश नहीं होने दे ।।१२४।।

अर्थ—इस प्रकार अपने शरीर द्वारा नित्य सेवा करना कायिक विनय कहा गया है, वह साधुजनों में यथा योग्य हुआ करता है ।।१२५।।

वाचिक विनय का प्रतिपाद करते हैं—

पूजासम्पादकं वाक्यमनिष्ठुर मकर्कशम् ।
अक्रियावर्णकं श्रव्यं, सत्यं सूत्रानुवीचिकं ।।१२६।।
उपशान्तमगार्हस्थ्यं, हितंमितमहेलनम् ।
योगिनो भाषमाणस्य, विनयोऽवाचि वाचिकः ।।१२७।।
हितप्रियपरिणामं, विदधानस्य मानसः ।
पापास्रव परिणामं, मुंचतो विनयोमतः ।।१२८।।
इत्ययं विनयोऽध्यक्षः, परोक्षः स मतो गुरोः ।
अप्रत्यक्षेऽपि या वृत्ति, राज्ञानिर्देशचर्ययोः ।।१२६।।
संयतानां गृहस्थानां, आर्यिकाणां यथायथम् ।
विनयः सर्वदा कार्यः, संसारान्तं यियासुना ।।१३०।।

अर्थ—आदर सूचक वचन बोलना, निष्ठुरता से रहित, कठोरता से रहित पापारम्भ कारक वचन से रहित कर्णप्रिय, सत्य शास्त्र के अनुसार ही वचन बोलना ।।१२६।।

अर्थ—उपशम भाव को करने वाले, गृहस्थ जैसे चकार मकार वाले न हो ऐसे वचन बोलना चाहिये । हितकर, मित–अल्प, तिरस्कार रहित ऐसे वचन योगी जन बोलते है यह वाचिक विनय कहा गया है ।।१२७।।

मानस विनय का वर्णन—

अर्थ—मनमें हित रूप प्रियरूप कोमल परिणाम रखने वाले के एवं पापास्रवके कारणभूत परिणाम का त्याग करने वाले मुनि के मानस विनय होता है । अर्थात् परिणाम निर्मल रखना, अशुभ भावको छोड़ देना मानसिक विनय कहलाता है ।।१२८।।

अर्थ—इसप्रकार कायिक आदि तीन प्रकार का विनय गुरुजनों के प्रत्यक्ष रहते हुए किया जाय तो वह प्रत्यक्ष विनय कहलाता है और उनके प्रत्यक्ष नहीं रहते हुए किया जाता है वह परोक्ष विनय है । तथा परोक्ष में भी आचार्य की आज्ञा का पालन करना, उनके निर्देश के अनुसार चलना ये सब परोक्ष विनय है ।।१२९।।

अर्थ—साधुओं को साधुओं का विनय करना चाहिये, गृहस्थ और आर्यिकाओं का भी उनके योग्य विनय होता है । अपने से छोटे साधुजन हैं तो उनके साथ यथा

विनयेन विना शिक्षा, निष्फला सकला यतेः ।
विनयो हि फलं तस्याः, कल्याणं तस्य चिन्तितम् ॥१३१॥
विमुक्तिः साध्यते येन, श्रामण्यं येन वर्द्धयते ।
सूरिराराध्यते येन, येन संघः प्रसाद्यते ॥१३२॥
विनयेन विना तेन, निर्वृतिं यो यियासति ।
तरंडेन विना मन्ये, स तितीर्षति वारिधिं ॥१३३॥
कल्पाचार परिज्ञानं, दीपनं मानभंजनम् ।
आत्मशुद्धिरवैचित्त्यं, मैत्री मार्दवमार्जवम् ॥१३४॥

योग्य प्रिय आचरण, गृहस्थ को, आर्यिका को आशीर्वाद आदि द्वारा सन्तुष्ट करना ये सब छोटे तथा बड़े के साथ होने वाले प्रिय व्यवहार विनय को कोटि में आ जाते हैं। इसप्रकार के विनय को संसार का नाश करने के इच्छुक व्यक्ति को सदा करते रहना चाहिये ॥१३०॥

अर्थ—विनय के बिना साधु की सब शिक्षा निष्फल है क्योंकि शिक्षा का फल तो विनय करना है, विनय करने से आत्म कल्याण होता है। विनय का फल सम्पूर्ण कल्याणों की प्राप्ति है ॥१३१॥

अर्थ—जिसके द्वारा मुक्ति सिद्ध की जाती है, जिसके द्वारा साधुपना वृद्धिगत होता है, जिसके द्वारा आचार्य की आराधना होती है, जिसके द्वारा संघ प्रसन्न किया जाता है वह विनय है, अर्थात् विनय करने से ये सर्व कार्य अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं ॥१३२॥

अर्थ—ऐसे विनय गुण के बिना जो मोक्ष प्राप्त करना चाहता है, वह बिना जहाज के सागर को पार करना चाहता है, अर्थात् जिस प्रकार बिना जहाज के सागर तिरा नही जाता उसप्रकार विनय के बिना संसार से मुक्त नहीं हुआ जाता ॥१३३॥

अर्थ—कल्प प्रायश्चित्त को या प्रायश्चित्त ग्रंथ को कहते हैं, मुनिजनों के आचरण का जिसमें कथन हो वह आचार शास्त्र है, विनय करने से इन दोनों शास्त्रों का परिज्ञान वृद्धिगत होता है। विनयसे मानकषाय घमण्ड का अभाव होता है, आत्मा की शुद्धि चित्त में स्थिरता, मैत्री भाव, मार्दव आर्जव भाव प्राप्त होते है ॥१३४।

भक्तिः प्रल्हादनं कीर्ति, र्लाघवं गुरुगौरवं ।
जिनेंद्राज्ञा गुणश्रद्धा, गुणा वैनयिका मताः ।।१३५।।

विनयं न विना ज्ञानं, दर्शनं चरितं तपः ।
कारणेन विना कार्यं, ज्ञायते कुत्र कथ्यताम् ।।१३६।।

समस्ताः संपदः सद्यो विधाय वशवर्तिनीः ।
चिंतामणि रिवाभीष्टं, विनयः कुरुते न किं ।।१३७।।

समाहितं मनो यस्य, वश्यं त्यक्ताशुभास्रवम् ।
उह्यते तेन चारित्र, मश्रान्तेनापदूषणम् ।।१३८।।

अर्थ—जिनेन्द्र आदि में प्रगाढ भक्ति, प्रसन्नता, यश, लाघव [मनका भारी नहीं होना] गुरुका गौरव बढना, जिनेन्द्र की आज्ञा का पालन, गुणो में श्रद्धा भाव ये सबके सब गुण विनय करने से प्राप्त होते हैं ।।१३५।।

अर्थ—विनय के बिना तो ज्ञान, दर्शन चारित्र तप ये कुछ भी उपयोगी नहीं हैं अथवा विनय के अभाव में ये होते ही नही । कारण के बिना कार्य होना कहां सम्भव है ? अर्थात् जैसे कारण बिना कार्य नहीं होता वैसे विनय उक्त ज्ञान आदि नहीं होते हैं ।।१३६।।

अर्थ— इसप्रकार समस्त सपदाओं को शीघ्र वश वर्त्ती करने वाले, इस चिन्तामणि के समान अभीष्ट विनय को क्यों न किया जाय ? अवश्य ही किया जाना चाहिये ।।१३७।।

विनय सूत्र समाप्त

समाधि नामका पांचवां अधिकार—

अर्थ—जिसका मन समाहित है [शान्त या स्थिर है] वशमें है अशुभ आस्रव के कारणभूत परिणाम जो मनमें नहीं करता ऐसे मनवाले अविश्रांत साधु द्वारा ही निर्दोष चारित्र का वहन सम्भव है । यहां पर समाहित मनका यह भी अर्थ है कि जिस मनको जप, तप, स्वाध्याय, स्तोत्र आदि किसी भी कार्य में सहज ही लगा सके ।।१३८।।

तितवाविव पानीयं, चारित्रं चहुचेतसः ।
वचसा वपुषा सम्यक्, कुर्वतोऽपि पलायते ।।१३९।।

परितो धावते चेतश्चरण्युरिव चंचलम् ।
परमाणुरिव क्षिप्रं, दूरं यात्यनिवारितम् ।।१४०।।

वांच्छिताभिमुखं स्वान्तं, निषेद्धुं केन शक्यते ।
नगापगापयो निम्ने, प्राप्तं तद्रूध्यते कथं ।।१४१।।

न मूको वधिरोऽन्धो वा, ब्रूते श्रृणोति पश्यति ।
वस्तु हेयमुपादेयं, विषयाकुलितं मनः ।।१४२।।

अर्थ—जिस साधु का मन चंचल है उसके वचन और काया से भली प्रकार चारित्र का आचरण करते हुए भी वह चारित्र पलायमान हो जाता है, जैसे कि चलनी में पानी टिकता नहीं पलायमान होता है अर्थात् गिर जाता है ।।१३९।।

अर्थ—यह मन चारों ओर दौड़ता रहता है, वायुवत्-चंचल है, बिना किसी रुकावट के शीघ्र ही परमाणु के समान अत्यन्त दूर पहुंच जाता है ।।१४०।।

अर्थ—अपने इष्ट विषय के सन्मुख जाते हुए इस मनको किसके द्वारा रोका जाना शक्य है ? पर्वत से नीचे की ओर गिरते हुए नदीके जलको किस प्रकार रोक सकते है ? ।।१४१।।

भावार्थ—यह है कि जैसे पर्वत से गिरते हुए जल को रोका जाना अशक्य है वैसे इष्ट वस्तु में जाते हुए मनको रोकना अशक्य है ।

अर्थ—जिसप्रकार मूक व्यक्ति बोल नहीं सकता, बहिरा सुनता नहीं और अन्धा देखता नहीं, इसप्रकार विषयों में फंसा मन हेयोपादेय तत्त्व को जानता नहीं, अथवा विषयाकुलित मन मूक के समान हेय और उपादेय तत्त्व का कथन नहीं कर सकता । बहिरे के समान उस तत्त्व को दूसरे से सुन नहीं सकता । अन्धे के समान उस हेयोपादेय वस्तु को देख नहीं सकता है ।।१४२।।

विकल्पैर्विविधैर्लोकं, पूरयित्वा मलीमसैः ।
मेघवृन्दमिव स्वान्तं, क्षणेनैव विनश्यति ।।१४३।।
न प्रवर्तयितुं मार्गे, दुष्टो वाजीव शक्यते ।
प्रहीतुं शक्यते चेतो, न मत्स्य इव बीलनः ।।१४४।।
यस्य दुःखसहस्राणि, भजंते वशवर्तिनः ।
संसारसागरे घोरे, बंभ्रम्यन्ते शरीरिणः ।।१४५।।
संसारकारिणो दोषा, रागद्वेषमदादयः ।
जीवानां यस्य रोधेन, नश्यंति क्षणमात्रतः ।।१४६।।
तद्दुष्टं मानसं येन, निवार्याशुभवृत्तितः ।
प्रवृत्तशुभ संकल्पं, स्वाध्याये क्रियते स्थिरम् ।।१४७।।
अभितो धावमानं तद्विचारेण निवर्त्यते ।
निगृह्य क्रियते चित्तं, दुर्वृत्त इव लज्जितम् ।।१४८।।

अर्थ—अशुभ मलीन ऐसे विविध सकल्प विकल्पों द्वारा सम्पूर्ण लोक को पूरित करके यह मन शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, जैसे मेघों का समुदाय अनेक आकर प्रकार द्वारा आकाश को पूरित करके क्षण भर में विनष्ट होता है ।।१४३।।

अर्थ—जैसे दुष्ट अश्व को मार्ग पर चलाना शक्य नही है जैसे अति स्निग्ध वीलन मत्स्यको पकड़ना शक्य नहीं है वैसे ही मनको वश करना शक्य नही है ।।१४४।।

अर्थ—जिस मनके वशमे हुए ये संसारी प्राणो गण सहस्रों दुःखों को सहते है तथा घोर संसार सागरमे परिभ्रमण करते हैं ।।१४५।।

अर्थ—जिस मनके रोक देने से राग, द्वेष, मद आदि संसार के कारणभूत जीवों के समस्त दोष क्षण मात्र मे नष्ट हो जाते है, उस दुष्ट मनको अशुभवृत्ति से रोककर शुभ संकल्प में प्रवृत्त कर स्वाध्याय में स्थिर किया जाता है अर्थात् ऐसे चंचल और दुष्ट मनको स्वाध्याय स्थिर करना चाहिये ।।१४६-१४७।।

अर्थ—चारों तरफ दौड़ते हुए इस मनको तत्त्व विचार द्वारा अपनी तरफ लौटाया जाता है, जैसे खोटे आचरण करने वाले कुपुत्र आदि को उसके दुराचरण का फल दिखाकर लज्जित कर निगृहीत किया जाता है । अपने में बार-बार निन्दा गर्हा

अवशं क्रियते वश्यं येनदास इव व्रतम् ।
श्रामण्यं निश्चलं तस्य, सर्वदाप्यवतिष्ठते ।।१४६।।

इति समाधिः ।

दृष्टि शुद्धि स्थिरी कारौ, भावना शास्त्र कौशलम् ।
क्षेत्रस्य मार्गणा साधो, गुणा नित्यविहारिणः ।।१५०।।
विशुद्धं दर्शनं साधो, र्जायते पश्यतोऽर्हताम् ।
जन्मनिष्क्रमणज्ञान तीर्थ चिह्न निषिद्धिकाः ।।१५१।।

करके अर्थात् हाय ! बड़ा कष्ट है कि मैं अतत्व श्रद्धा, विषय वासना आदि करता हूं तो मुझे ही उसका महान् कर्म बन्ध होगा । मनको आत्मस्थ करने के लिये इसप्रकार विचार करे कि यदि मैं मुमुक्षु होकर भी असंयम मिथ्यात्व आदि रूप विचार करूंगा, आचरण करूंगा तो बड़े शरम की बात है, ये अशुभ विचार अनन्त संसार को बढाने वाले हैं, इत्यादि विचार से साधुजन अपने मनकी स्वैर प्रवृत्ति को रोके ।।१४८।।

अर्थ—जो साधु अवश ऐसे अपने मनको वश में कर लेता है जैसे कि अवश हुए स्वैर दास को किसी उपाय से वश किया जाता है । इसप्रकार अपने मनको वश करने वाले मुनिके श्रामण्य निश्चल हुआ सदा अवस्थित ठहर जाता है, जैसे वशमें किया हुआ दास हमेशा के लिये टिक जाता है, नौकरी सेवा छोड़कर अन्यत्र नहीं जाता ।।१४९।।

इसप्रकार समाधि अर्थात् मनः समाधि मनको वश करना, श्रामण्य में स्थिर करना, इसका कथन करने वाला यह अधिकार पूर्ण हुआ ।

६. अनियत विहार—

अर्थ—अनियत विहार करने से अर्थात् एक जगह अधिक नहीं रहना विहार करते रहने से साधु के सम्यक्त्व में शुद्धि होती है, रत्नत्रय मे स्थिरता आती है, भावना अर्थात् परीषह सहन आदिका अभ्यास होता है । शास्त्र ज्ञान वृद्धिगत होकर गूढार्थ करने में निपुणता प्राप्त होती है, कौनसा क्षेत्र साधु के निर्दोष आचरण में उपयुक्त है, इत्यादि रूप देश की खोज होती है । इसप्रकार विहार से ये गुण प्राप्त होते हैं ।।१५०।।

इसीका आगे खुलासा करते हैं—

अर्थ—विहार करने वाले साधुजनों के तीर्थंकर भगवान् के जन्मकल्याण के स्थान, दीक्षा कल्याणके स्थान, केवलज्ञानोत्पत्ति स्थान, तीर्थ चिह्न अर्थात् समवशरण और

संविग्नोवृत्तसंपन्नः, शुद्धलेश्यस्तपोधनः ।
देशान्तरातिथिः साधुः, संवेजयति तद्व्रतः ॥१५२॥
प्रियधर्माशयः साधु रागमार्थविचक्षणः ।
भ्रमन्नवद्यवित्रस्तः संविग्नं कुरुते परम् ॥१५३॥
अवद्यभीरु संविग्ने, प्रियधर्मंतरेक्षणे ।
अवद्यभीरुः संविग्नः, प्रियधर्मतरोऽस्ति सः ॥१५४॥

निर्वाण कल्याण भूमिका दर्शन हो जाता है, उन पवित्र स्थलों के दर्शन से सम्यक्त्व में निर्मलता आती है ॥१५१॥

अर्थ—देश देशान्तर का अतिथि होने वाला साधु वैराग्य सम्पन्न हो जाता है, व्रत चारित्र की शुद्धि युक्त होता है, लेश्या की शुद्धि होती है अर्थात् पीत आदि शुभ लेश्या मे शुद्धि बढ जाती है। तप बढता है ॥१५२॥

विशेषार्थ—देश देशमे विहार करने से अनेक तपस्वी, महात्मा, दृढ चारित्री, समताधारी साधुजनो के आचरण देखने को मिलते हैं इससे अपने में विचार होता है कि अहो ! यह साधु कितना तपस्वी है समता रसमें मानों मज्जन कर रहा है, हम लोग इसप्रकार निरतिचार आचरण नही करते हैं हमको अवश्य ही ऐसी लेश्याविशुद्धि प्राप्त करनी चाहिये। ये साधुगण भी तो इसी वर्त्तमान कालमें निर्दोष चारित्र सपन्न है। इस-प्रकार विशिष्ट साधुजनो के दर्शन से अपनेमे तप वैराग्य आदिकी वृद्धि होती है अतः विहार करते रहना चाहिये।

अर्थ—अनियत विहार करने वाला साधु प्रियधर्मा अर्थात् उत्तम क्षमा आदि धर्ममें प्रीति युक्त होता है, आगम के अर्थ म कुशल होता है, विहार से अभ्यस्त होने से निरालस होता है, तथा प्रतिकूल देशादि से होने वाले त्रास को सहन करते रहने से कहीं व्याकुलचित्त नही होता और इसतरह अपने को अतिशय रूपसे वैराग्य शील करता है ॥१५३॥

अर्थ—देशान्तर मे विहार करते समय पापों से अत्यन्त भयभीत, वैराग्यवान् जिसको दस लक्षण धर्म अतिशय प्रिय है ऐसे महान् साधु के दर्शन होते है, उस साधु-को देखकर यह साधु स्वयं भी पापभीरु, वैराग्य सपन्न और धर्ममे प्रीति करने वाला बन जाता है ॥१५४॥

शीतातप क्षुधातृष्णा, निषद्याद्याः परीषहाः ।
यतिनाटाटयमानेन, समस्ताः सन्ति भाविताः ।।१५५।।
शृण्वतोभूरिसूरीणां, व्याख्यां नानार्थदर्शिनीम् ।
देशांतरातिथेः साधो, रस्ति सूत्रार्थकौशलम् ।।१५६।।
विनिष्क्रम प्रवेशादि, समाचार विचक्षणः ।
सूरीणां बहुभेदानां, जायते पादसेवया ।।१५७।।
कर्तव्या यत्नतः शिक्षा, प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
आगमार्थ समाचार, प्रभृतीनां तपस्विना ।।१५८।।
प्रासुकं सुलभाहारं, संयतै र्गोचरीकृतम् ।
सल्लेखनोचितं क्षेत्रं, पश्यत्यनियतस्थितिः ।।१५९।।

अर्थ—देश देशमें विहार करते हुए साधु द्वारा शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा, निषद्या आदि समस्त परीषह सहन किये जाते है ।।१५५।।

अर्थ—देश देशान्तर का अतिथि होता हुआ साधु अनेक आचार्यों के द्वारा की गयी शास्त्रो की नाना अर्थो को व्याख्या सुनता है और उससे सूत्रार्थ करने में उसको बड़ी कुशलता प्राप्त होती है ।।१५६।।

अर्थ—विहार करते हुए साधुओं को बहुत प्रकारके आचार्यों की चरण सेवा करनेका अवसर मिलता है, उन विभिन्न आचार्य सघोंमें वसतिका से निकलना एवं प्रवेश करना, आहारार्थ गमन, उठना, बैठना, प्रश्न करना सामायिक प्रतिक्रमण आदि क्रियायें इन सब समाचार विधियों को अवलोकन करने का अवसर प्राप्त होता है, और उससे साधुजन को जो दस प्रकार की समाचार विधि है उसमें कुशलता प्राप्त होती है ।।१५७।।

अर्थ—कण्ठगत प्राण होने पर भी साधुओं को आगमार्थ समाचार आदि सम्बन्धी शिक्षा प्रयत्न पूर्वक ग्रहण करनी चाहिये ।।१५८।।

अर्थ—अनियत विहार करने वाले साधुको सयतजनों के द्वारा गोचरी के योग्य प्रासुक आहार सुलभ कहां पर है इस बातका ज्ञान हो जाता है अर्थात् इस क्षेत्र-देशके मनुष्य साधुको निर्दोष आहार देते है साधुको चर्या का इस देश में ज्ञान है

श्रावके नगरे ग्रामे, वसतावुपधौ गणे ।
सर्वत्राप्रतिबद्धोऽस्ति, योगी देशान्तरातिथिः ॥१६०॥

इति अनियत विहारः ।

पर्याय रक्षितो दीर्घं, वितीर्णा वाचना मया ।
शिष्या निष्पादिताः श्रेयो, विधातुमधुनोचितम् ॥१६१॥

इत्यादि बातोंको जानकारी विहार करते रहने से मिलती है, तथा कौनसा क्षेत्र सल्लेखना के लिये उचित होगा इसका भा बोध हो जाता है ॥१५९॥

अर्थ—देश देशमें पक्षीवत् अनियत विहारी साधु किसी श्रावक विशेष में प्रतिबद्ध-मोहित स्नेहयुक्त नहीं हो पाता क्योकि आज यहां और कल वहां जिसे रहना है उसे किसी व्यक्ति से लगाव नही रहता। तथा किसी नगर ग्राम आदि में एवं वसतिका उपकरण संघ आदि मे अनियत विहारी मुनिका स्नेह-मोह नहीं होता वह तो सर्वत्र अप्रतिबद्ध-लगाव रहित ही गमनागमन करता है ॥१६०॥

भावार्थ—एक जगह अधिक रहने से वहां के श्रावक वसति आदि में मोह हो जाया करता है । अतः साधुआ को आज्ञा है कि वे सर्वत्र धर्म योग्य देश मे विहार करते रहें ।

इसप्रकार अनियत विहार नामका छठा अधिकार पूर्ण हुआ ।

७. परिणाम अधिकार

अर्थ—साधु विचार करता है कि मैंने दीर्घकाल तक अपने रत्नत्रय पर्याय की सुरक्षा की है स्वाध्याय वाचना धर्मोपदेश आदिका योग्य पात्रमे वितरण किया। शिष्यो का संग्रह, उनका शिक्षा आदि द्वारा निष्पन्न करना आदि कर लिया, अब इस समय मुझे अपना हित विशेष रूपसे करना है ॥१६१॥

भावार्थ—दिगम्बर साधु अपनी आत्मसाधना करते हुए अन्य भव्य जीवोंको मोक्ष मार्ग मे लगाते है, शिष्यो का निर्माण करना, उन्हें सम्पूर्ण शास्त्रों मे निपुण करना, इत्यादि धर्मोको बढ़ाने वाले कार्य करते हैं, जब आयु का अन्तिम भाग आता है तब वे विचार करते हैं कि अब परहित से हटकर हमें स्वहित मे ही प्रवृत्ति करना है, हमने अपने जोवन मे यथाशक्य मोक्षमार्ग को वृद्धि की । अब तो सल्लेखना करना

किमालंदं परीहारं, भक्तत्याग मुतेंगिनीं ।
पादोपगमनं किं किं, जिनकल्पं श्रयाम्यहम् ।।१६२।।

है । अपने हितके विशेष रूपसे भाव होना "परिणाम" कहलाता है अर्थात् यहां पर आत्महित के भाव सल्लेखना के सन्मुख होने के भाव को परिणाम शब्द से निहित किया है । इसीका आगे वर्णन है ।

अर्थ—समाधिमरण को निकट भविष्य में जो करना चाहता है वह साधु विचार करता है कि मैं आलन्द विधि का आश्रय लूं अथवा परिहार का या भक्त प्रतिज्ञा का, इगिनी अथवा प्रायोपगमन विधि का आश्रय लूं ? अथवा क्या मैं जिनकल्प विधिको अपनाऊँ ? ।।१६२।।

विशेषार्थ—आलन्द विधि, परिहार विधि, भक्त त्याग, इंगिनी, प्रायोपगमन, जिनकल्प इसप्रकार यहां पर छह प्रकार के सन्यास विधि का उल्लेख है। इनमे से भक्त त्याग, भक्त प्रत्याख्यान, इगिनी और प्रायोपगमन ये तीन प्रसिद्ध हैं और साक्षात् सल्लेखना स्वरूप हैं । आलन्द विधि, परिहार विधि और जिनकल्प विधि ये तीनो अतिशय रूपसे उच्चकोटिका साधु आचार है जो कि मुनिगणको सन्यासके निकट ले जाता है अथवा अतिश्रेष्ठ सल्लेखना के अभ्यास का साधकतम हेतु है ।

आलन्द विधिका विस्तृत वर्णन भगवती आराधना-मूलाराधना की संस्कृत टीकामें तथा उसके हिन्दी अनुवाद में भली प्रकार से किया गया है । यहां पर अति संक्षेप से बताते हैं—जो मुनि मूल गुण और उत्तर गुणों के पालन में सावधान है, महान बलवीर्य सम्पन्न परीषह और उपसर्ग के विजेता हैं, आगम का स्वरूप भली भांति जानते है । ऐसे महान योगी आचार्य की आज्ञा से आलन्द विधि का आचरण करते है । घोर परीषह उपसर्ग को सर्वथा सहते है, रात्रि में निद्रा नही लेते भयंकर रोग आने पर भी उसका प्रतीकार (औषधि) नही करते, कोई कुछ पूछे तो उत्तर नहीं देते, केवल इतना उत्तर कदाचित् देते है कि मैं मुनि हू । कोई उनसे बोले तो उस स्थानको छोड़ देते है । वाचना आदि स्वाध्याय नही करके ध्यान में हो लगे रहते हैं । किंचित् भी अशुभ परिणाम होने पर तत्काल उसे दूर करते है इत्यादि । परिहार विधि-इस विधि का भी वर्णन भगवती आराधना में विस्तार पूर्वक किया है । इसमें भी आलन्द विधि के समान आचरण है विशेषता यह है कि इस विधि के पालक मुनि-

सत्येव स्मृति माहात्म्ये, विचार्ये सति जीविते ।
भक्तत्यागे मति धत्ते, बलवीर्यानिगूहकः ।।१६३।।
संन्यास कारणे जाते, पूर्वोक्तान्यतमे सति ।
करोति निश्चितं बुद्धि, भक्तत्यागे तथैव सः ।।१६४।।

राज प्रतिदिन दो गव्यूति (दो कोस) तक गमन करते है । पांवमें काटा लगे तो निकालते नही । दुष्ट पशु आदि को देखकर पीछे नहीं हटते वही खड़े ध्यानस्थ हो जाते हैं । इसीप्रकार अन्य भी विशेषता है उसे भगवती आराधना ग्रंथ से जानना । जिनकल्प विधि–इसकी विधि आलन्द के समान है, विशेषता यह है कि ये रागद्वेष पर अतिशयरूपसे विजय प्राप्त करनेवाले होते हैं । सर्वथा एकाकी सिंहवत् विहार करते हैं किसी अन्य मुनिको साथ नही रखते है, उत्तम सहननधारी होते हैं । इन्हे ऋद्धियां भी रहती है । इसकी विशेष विधि भी उक्त ग्रन्थ से ज्ञात कर लेना चाहिये । भक्त प्रत्याख्यान–जिसमे क्रमशः आहार का त्याग करते हुए सल्लेखना मरण किया जाता है इस ग्रन्थ मे इसीका वर्णन चल रहा है । इंगिनी—जिस सन्यासमरण में परकी सहायता की अपेक्षा नहीं रहती वह इंगिनी मरण विधि है । प्रायोपगमन—जिसमें स्वकी और परकी दोनों प्रकारकी सहायता नही है, काष्ठवत् शरीर को जिसमे छाड दिया जाता है वह प्रायोपगमन मरण विधि है ।

इसप्रकार आलन्द आदि विधि के विषय मे विचार कर सन्यास का इच्छुक मुनि अपने को भक्त त्याग विधिमें समर्थ जान उसमे उत्साहित होता है ।

अर्थ—स्मृति के रहते समाधि करना चाहिये कुछ समय का जीवन भी शेष रहना चाहिये इसप्रकार स्मृति और जीवन काल का माहात्म्य समझकर बलवीर्य को नही छिपाने वाले मुनिराज भक्त-प्रत्याख्यान मरण में प्रयत्नशील हो जाते है ।।१६३।।

भावार्थ—मरणकालमे स्मरण नही रहेगा तो आत्म चितन, तत्त्व विचार आदि नही हो सकते इसप्रकार स्मृतिका महत्व जानकर तथा मरणका बिलकुल अन्त आ गया तो उस वक्त सल्लेखना विधि का पूर्ण क्रम कैसे सम्भव हो सकता है ? अतः जीवन का कुछ काल शेष रहते हुए क्रमशः आहारादि का त्याग करना चाहिये ऐसा जीवन का महत्व समझकर साधु यथा समय ही समाधि में प्रयत्न करते हैं ।

अर्थ—भक्त प्रतिज्ञामरण के चालीस अधिकार में पहला अर्ह नामके अधिकार का कथन हो चुका है, उसमें कौन सल्लेखना धारण करे इस विषय में नेत्रज्योति का

योगा यावन्न हीयंते, यावन्नश्यति न स्मृतिः ।
श्रद्धा प्रवर्तते यावद्, यावदिंद्रिय पाटवम् ।।१६५।।
क्षेमं यावत्सुभिक्षं च, संति नष्टास्त्रिगारवाः ।
यावन्निर्यापका योग्या, रत्नत्रित्रय सुस्थिताः ।।१६६।।
तावन्मेदेहनिक्षेपः कुर्त्तुं युक्तो बुधेहितः ।
भक्त त्यागो मतः सूत्रे, व्रतयज्ञो ध्वजग्रहः ।।१६७।।

क्षीण होना आदि कारण बताये हैं । उन कारणों में से कोई कारण उपस्थित होने पर जैन साधु आहार के त्याग में नियम से अपनी बुद्धि लगाते हैं, अर्थात् उसी विधि के अनुसार भक्त प्रतिज्ञा को करते हैं ।।१६४।।

अर्थ—जब तक आतपन आदि योग धारना कम नहीं होता, स्मृति जब तक नष्ट नही होती, श्रद्धा-रत्नत्रय मे रुचि जब तक बनी है, इन्द्रियों में शिथिलता नहीं है, देशमे क्षेम और सुभिक्ष है, ऋद्धि गारव आदि तीन गारव नही सताते, जब तक रत्नत्रय मे स्थिर ऐसे योग्य निर्यापक आचार्य है तब तक ही मुझे देह त्याग करना युक्त है इसप्रकार मुनि विचार कर भक्त प्रतिज्ञा के सन्मुख होते है । सूत्र में इस भक्त प्रतिज्ञाको व्रतयज्ञ कहा है यह बुद्धिमान को अति इष्ट है, इस भक्त प्रतिज्ञा को ध्वज ग्रह कहते है, यहां आराधना हो ध्वजा है और उसको इस मरण मे ग्रहण किया जाता है अतः यह ध्वज ग्रह कहलाता है ।।१६५।।१६६।।१६७।।

विशेषार्थ—आतपन आदि योग धारण की शक्ति नष्ट न हो, स्मृति नष्ट न हो, रत्नत्रय में रुचि हो, नेत्र आदि इंद्रियां अपने कार्य में समर्थ हो, ऐसी स्थिति के रहते हुए समाधि में प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि योग की शक्ति समाप्त हुई, स्मृति नष्ट हुई, इद्रियां बेकाम हुई तो उस वक्त साधु समाधिमरणको वेदना सहना, तत्त्वचिंतन करना इत्यादिमें समर्थ नही रहेगा । गारव गर्वको कहते हैं, ऋद्धि गारव, रस गारव, सात गारव ऐसे गारव के तीन भेद हैं, मै ही ऋद्धि सम्पन्न हूं इत्यादि गर्व के रहने से समाधि ठीक नहीं हो सकती क्योंकि गर्व तो कषाय है और कषायको यहां कृश करना है । देशमें क्षेम और सुभिक्ष न होवे तो समाधि करने वाले क्षपक के और उनके सहायक निर्यापक और श्रावक आदि के चित्त क्षोभ आदि के कारण समाधि में बाधा उपस्थित हो सकती है । निर्यापक के बिना तो समाधिस्थ क्षपकरूपी नाव पार ही नही हो सकती है । अतः समाधि का इच्छुक मुनि इन सबका विचार करता है ।

एवं स्मृति परिणामो, निश्चितो यस्य विद्यते ।
तीव्रायामपि बाधायां, जीविताशास्य नश्यति ।।१६८।।

इति परिणामः ।

उपधिं मुंचतेऽशेषं, मुक्त्वाऽसंयमसाधकम् ।
मुमुक्षुः मृंगयन्मुक्तिं, शुद्धलेश्यो महामनाः ।।१६९।।

साधुर्गवेषयन्मुक्तिं, शुद्धलेश्यः महामनाः ।
विमुंचत्युपधिं सर्वं, मल्पानल्पपरिक्रियम् ।।१७०।।

अर्थ—सल्लेखना का महत्व उसकी दुर्लभता आदि का जिसने भली प्रकार विचार कर मैं अवश्य ही शरीर का त्याग करूंगा ऐसा दृढ़ परिणाम कर लिया है ऐसे निश्चित परिणाम वाले साधु के समाधि काल में तीव्र बाधा सताने पर भी जीवन की आशा नहीं रहतो । अतः स्मृति परिणाम में जीविताशाका नाश करने वाला यह 'परिणाम' नामके गुणका वर्णन किया है ।।१६८।।

सातवाँ परिणाम अधिकार समाप्त हुआ ।

उपधित्यागनामा आठवाँ अधिकार—

अर्थ—शुद्ध लेश्या वाला महामना साधु मुक्ति की मार्गणा करता हुआ संयम के साधक पिच्छी आदि को छोड़कर शेष उपधि-परिग्रह का त्याग करता है ।।१६९।।

अर्थ—मुक्ति का अन्वेषण करनेवाला शुद्ध लेश्यायुक्त महामना साधु अल्प परिकर्म वाली उपधि और अधिक परिकर्म वाली उपधि ऐसे सर्व ही उपधि-परिग्रह का त्याग करता है ।।१७०।।

विशेषार्थ—उपधि परिग्रह को कहते हैं । जब साधु समाधि के सन्मुख होते हैं तब शास्त्र आदि योग्य वस्तु का भी त्याग कर देते है । अल्प परिकर्म का अर्थ यह है कि जिस वस्तु मे शोधन, निरीक्षण आदि क्रिया थोड़ी करनी पड़ती है वह अल्प परिकर्म उपधि कहलाती है और जिसमे उक्त क्रिया अधिक करनी पड़ती है वह अनल्प या अधिक परिकर्म उपधि कहलाती है । समाधि के अवसर पर दोनों उपधि का त्याग करना होता है ।

औत्सर्गिक पदान्वेषी, शय्यासंस्तरकादिकम् ।
पंचधा शुद्धिमप्राप्य, ये विवेकं च पंचधा ।।१७१।।
विपद्यंते समाधि ते, लभंते न विमोहिनः ।
शुद्धि ये पंचधा प्राप्ता, ये विवेकं च पंचधा ।।१७२।।
शुद्धिरालोचना शय्या संस्तरोपधि गामिनी ।
वैयावृत्यकराहार पानजाता च पंचधा ।।१७३।।
ज्ञान दर्शन चारित्रविनयावश्यकाश्रया ।
अथवा पंचधा शुद्धिर्विधेया शुद्धबुद्धिना ।।१७४।।

अर्थ—जो औत्सर्गिक पदका अन्वेषक है किन्तु शय्या संस्तर आदि के विषय में पांच प्रकार की शुद्धि और पांच प्रकार के विवेक को प्राप्त नही करते वे मोहित मुनि समाधि को प्राप्त नही कर सकते ।।१७१।।

अर्थ—जो साधु पांच प्रकार की शुद्धि और पांच प्रकारके विवेक प्राप्त कर लेते है वे सर्वत्र निश्चित चित्तवाले समाधि को प्राप्त करते है ।।१७२।।

अर्थ—शुद्धि के पांच भेद बताते है-आलोचना शुद्धि, शय्या संस्तर शुद्धि, उपधि शुद्धि, वैयावृत्य शुद्धि और आहारपान शुद्धि ।।१७३।।

विशेषार्थ—अपने व्रतादि मे जो दोष लगे हों उन्हे गुरुको बताना आलोचना कहलाती है, आलोचना करते समय छल, असत्य भाषण आदि नही होना आलोचना शुद्धि है । शय्या संस्तर वसति आदि में उद्गम उत्पादन आदि दोष नहीं होना अर्थात् जो वसति और संस्तर उद्दिष्ट दोष निर्मुक्त हो—अपने लिये उद्देश करके नहीं बनाया हो अपने लिये जिसके सस्कार आदि नही किये गये हों वह शय्या और संस्तर शुद्धि है । पीछी कमंडलु भी अपने लिये निर्मित नहीं होना उपधि या उपकरण शुद्धि है । इसमें भी उक्त उद्दिष्ट आदि दोष न हो । आहार पानी उद्दिष्ट उत्पादन एषणा आदि दोषों से रहित होना आहारपान शुद्धि है । वैय्यावृत्य करने वाले वैयावृत्यपद्धतिको जानते हों यह वैयावृत्यकरण शुद्धि है ।

अर्थ—शुद्ध बुद्धिवाले साधुको दर्शन शुद्धि, ज्ञान शुद्धि, चारित्र शुद्धि, विनय शुद्धि और आवश्यक शुद्धि ऐसी पांच प्रकार की शुद्धि करनी चाहिये ।।१७४।।

विवेको भक्तपानांगकषायाक्षोपधिश्रितः ।
पंचधा साधुना कार्यो द्रव्यभाव गतो द्विधा ।।१७५।।
सोऽथवा पंचधा शय्यासंस्तरोपधि गोचरः ।
वैयावृत्यकराहारपानविग्रह संश्रयः ।।१७६।।

विशेषार्थ—निःशंकित आदि आठ गुण युक्त होना अथवा शंकादि दोषका परिहार दर्शन शुद्धि है । योग्य कालमें अध्ययन, अनिह्नव आदि ज्ञान शुद्धि है । अहिंसा आदि व्रतों को उनकी पच्चीस भावना संयुक्त पालना चारित्र की शुद्धि है । कीर्ति, आदि की इच्छाबिना गुरुजन आदिका विनय करना विनय शुद्धि है । छह आवश्यक क्रियाओंका निर्दोष पालन आवश्यक शुद्धि है ।

अर्थ—विवेक पांच प्रकारका है—भक्त पान विवेक, शरीरविवेक, कषाय विवेक, इन्द्रिय विवेक, उपधिविवेक । पुनः यह विवेक द्रव्य विवेक और भाव विवेक ऐसा दो प्रकार है । विवेक साधु द्वारा करने योग्य है ।।१७५।।

भावार्थ—भोजन पान को शास्त्रोक्त विधि से ग्रहण करना अयोग्य भोजन पान को प्राण जाने पर भी ग्रहण नही करना भक्त पान विवेक है । यह तो द्रव्यरूप भक्त पान विवेक हुआ । अयोग्य भोजन पानका मनमे विचार नही करना, भावरूप भक्त पान विवेक है । शरीर को खोटी चेष्टा जैसे आँखें मटकाना, चुटकी बजाना, ओठ डसना आदि नहीं करना द्रव्यरूप शरीर विवेक है । और ऐसी चेष्टा करनेके भाव नहीं होना भावरूप शरीर विवेक है । क्रोधमान आदि के सूचक वचन नही बोलना शरीरमें क्रोधावेश आदि रूप प्रवृत्ति नही होने देना द्रव्यरूप कषाय विवेक कहलाता है । चित्त में क्रोध आदि कषाय भाव नहीं होने देना भावरूप कषाय विवेक कहलाता है । साधु के लिये अयोग्य ऐसे इन्द्रिय विषयों में इंद्रियों की प्रवृत्ति को रोकना द्रव्य रूप इन्द्रिय विवेक है और उक्त विषयोंमें मनके भाव ही नहीं होना भावरूप इन्द्रिय विवेक है । श्रामण्य के अयोग्य वस्तुको ग्रहण नहीं करना द्रव्यरूप उपधि विवेक कहलाता है । और ऐसो अयोग्य वस्तुके ग्रहणका चित्तमे विचार नही होने देना भावरूप उपधि विवेक है ।

अर्थ—अथवा शय्यासंस्तर विवेक, उपधि विवेक, वैयावृत्यकर विवेक, आहार पान विवेक और शरीर विवेक ऐसा पांच प्रकार विवेक है ।।१७६।।

समस्त द्रव्य पर्याय ममता संग वर्जितः ।
निःप्रेमस्नेह रागोऽस्ति सर्वत्र समदर्शनः ।।१७७।।

इति उपधि त्यागः ।

उपर्युपरि शुद्धेषु गुणेष्वारुह्यते यया ।
भावाश्रितिर भाष्येषा विशुद्धा जीववासना ।।१७८।।

भावार्थ—दूसरे प्रकार से विवेक का कथन है—पूर्वकालमें जिस वसति और संस्तर में रहे थे उनका त्याग शय्यासंस्तर विवेक है। यहां पर उपधि शब्दसे पीछी आदि उपकरणोंको लेना उपकरणों के सस्कार आदि छोड़ देना उपकरण विवेक है। वैयावृत्य करने वाले का सहवास छोड़ना, अथवा उनकी अपेक्षा नहीं रखना वैयावृत्य-कर विवेक है। आहार पान के पदार्थ छोड़ देना भक्त पान विवेक है। अथवा अमुक अमुक आहार पानको वस्तुको मैं ग्रहण नही करूँगा ऐसा त्याग, यह भक्त पान विवेक है। अपने शरीर को कुछ उपद्रव होने लग जाय त। उसे दूर नही करना, आते हुए उपसर्ग को दूर नही करना शरीर विवेक है।

अर्थ—जीवादि समस्त द्रव्य उनकी पर्यायें इनमें ममत्व और आसक्ति छोड़ देना इष्ट पदार्थ अपने लिये उपयोगी पदार्थ में प्रेम स्नेह राग भाव नही रखना सर्व देश काल भावादिमें समभाव होना यह सब परिग्रह त्याग का क्रम जानना चाहिये ।।१७७।।

भावार्थ—जीव पुद्गलादि द्रव्यों की पर्यायें अर्थात् योग्य शिष्यादि विशिष्ट संस्तर उपकरण आदि जीव और पुद्गल सम्बन्धी पर्याये है उनमें राग भाव और अयोग्य शिष्यादि तथा खराब संस्तर आदि जीव पुद्गल सम्बन्धी पर्यायों में द्वेष भाव नहीं करना चाहिये यही परिग्रह त्याग का क्रम यहां पर जानना। सम्पूर्ण पदार्थों में समभाव होना परिग्रह त्याग का मूल है। इसीसे सहज ही परिग्रह त्याग हो जाता है।

इसप्रकार उपधित्याग नामका अधिकार पूर्ण हुआ।

अर्थ—अब श्रिति नामा नौवें अधिकार का कथन करते हैं—सम्यक्त्व आदि गुणोंमें आगे-आगे प्रतिदिन शुद्धि का बढ़ते जाना। जिसके द्वारा उन्नत अवस्था-रत्नत्रय की उन्नति करते रहना। उन भावों को भाव श्रिति कहते है। जीव के जो रत्नत्रय में विशुद्ध संस्कार हैं वह भावश्रिति है ।।१७८।।

मन्दिरादिषु तुंगेषु सुखेनारुह्यसेयया ।
द्रव्यश्रितिर्मता प्राज्ञैः सा सोपानादिलक्षणा ।।१७९।।
द्रव्यश्रितिं परित्यज्य भावश्रिति मधिश्रितः ।
चारित्रे चेष्टतां शुद्धे त्यक्तुकामः कलेवरम् ।।१८०।।
द्रव्यभावश्रिति ज्ञानाः सन्त्युत्तर पदोद्यताः ।
नह्यधोऽधः प्रशंसंति पदमूर्ध्वं यियासवः ।।१८१।।
गणिनैव सम जल्पः कार्यार्थं यतिभिः परैः ।
कुदृष्टिभिः समं मौनं शांतैः स्वैश्च विकल्पते ।।१८२।।

अर्थ—मन्दिर आदि ऊँचे स्थानोमें जिसके द्वारा सुख पूर्वक चढा जाता है वह सोपान रूप द्रव्यश्रिति है ऐसा प्राज्ञ पुरुषोने प्रतिपादन किया है ।।१७९।।

अर्थ—शरीरका त्याग करनेमें समुत्सक मुनिराज को उपर्युक्त द्रव्यश्रितिका त्याग कर भावश्रितिका आश्रय लेना चाहिये और शुद्ध चारित्रमें चेष्टा करनी चाहिये ।।१८०।।

अर्थ—द्रव्य और भावश्रितिका जिन्हें ज्ञान है वे पुरुष ऊपर-ऊपर के पद-रत्नत्रयकी आगे-आगे की उन्नति के लिये उद्यमशील होते हैं । क्योंकि ऊर्ध्व पदमें गमनके इच्छुक पुरुष नीचे-नीचे के पदको प्रशसा नही करते हैं । अभिप्राय यह है कि भावोंकी विशुद्धि में आगे-आगे वृद्धि करना, अशुभ भाव का त्याग, शुभ परिणाम उत्तरोत्तर बढ़ना, शुद्ध परिणाम की प्राप्तिमें प्रयत्न भावश्रिति कहलाता है ।।१८१।।

अर्थ—समाधि के इच्छुक साधुको आचार्य के साथ ही धर्म सम्बन्धी प्रश्नादि रूप वार्त्तालाप करना चाहिये अन्य मुनिके साथ कार्य हो तो बोले अन्यथा नही । मिथ्यादृष्टि के साथ मौन रहना चाहिये, और अन्य शान्त परिणामी स्वजनोंके साथ स्वेच्छासे बोलना चाहिये अर्थात् उनके साथ वार्त्तालाप करे अथवा न करे ।।१८२।।

भावार्थ—आचार्य के साथ बोलनेसे शुभ परिणाम होते है, उनसे योग्यायोग्यका विवेक होता है सल्लेखना के निर्देशक तो वे ही है अतः उनसे संभाषण हितकर है । अन्य मुनिके साथ अधिक बोलेंगे तो प्रमाद वश अशुभ भाव हो सकते हैं, मिथ्यादृष्टि के साथ तो मौन ही कार्यकारी है । हाँ यदि कोई मिथ्यादृष्टि अत्यन्त भद्र है और अपने बोलनेसे मोक्षमार्ग में लग जाता है तो उससे किंचित् बोले ।

कार्याय स्वीकृतां शय्यां विमुच्याचार पंडितः ।
परिकर्मवतीं वृत्ते वर्तते देहनिस्पृहः ॥१८३॥
दुश्चरं पश्चिमे काले भक्तत्यागं सिषेविषुः ।
धीरैः निषेवितं बाढं चतुरंगे प्रवर्तते ॥१८४॥

इति श्रितिसूत्रम् ।

समर्प्यानुदिशं सर्वं गणं संक्लेश वर्जितः ।
कियंतं काल मात्मानं गणी भावयते तराम् ॥१८५॥

अर्थ—आचारमे प्रवीण देह से निस्पृह समाधिके इच्छुक साधु पूर्व कालमें वैयावृत्ति, पठन पाठन आदि के लिये जो वसति आदि स्वीकार की थी, उपकरण शास्त्र आदि ग्रहण किये थे उन सबका त्याग करके चारित्र तपश्चरण आदि में संलग्न होता है। तथा अपने निमित्त से शोधित निर्मित ऐसी वसतिका आदिको भी छोड़ देता है। यहां पर "शय्या" शब्द से वसतिका उपकरण संस्तर आदि को ग्रहण किया है तथा "परिकर्मवती" शब्द से स्वके उद्देश्य से वसति संस्तर आदि को ग्रहण किया है ॥१८३॥

अर्थ—अन्त समयमे आहार त्याग को करने का इच्छुक यति सम्यक्त्व आदि चार आराधनाओं मे प्रवृत्ति करता है। कैसा है आहार का त्याग करना ? दुष्कर-कठिन है, तथा वीर पुरुषोंद्वारा जिसको किया जाता है, अर्थात् धीर वीर पुरुष ही जिसका त्याग कर सकते है कायर नही कर सकते ॥१८४॥

इस तरह श्रिति अधिकार समाप्त हुआ। (९)

भावना नामका दसवां अधिकार

अर्थ—समाधि के इच्छुक आचार्य अपने चतुर्विध संघको नूतन आचार्य के लिये समर्पित करता है, इस क्रियामे उनमें कोई सक्लेश नही होता, इसप्रकार संघ भार से मुक्त हुए ये आचार्य कुछ समय तक अतिशय रूप से अपने आत्मा की भावना करते हैं ॥१८५॥

विशेषार्थ—जब कोई आचार्य समाधिमरण को करना चाहते हैं तो वे सर्व प्रथम मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका ऐसे चार प्रकारके अपने संघको एकत्र बुलाते

कांदर्पी कैल्विषी प्राज्ञे, राभियोग्यासुरी सदा ।
साम्मोही पंचमी हेया संक्लिष्टा भावना ध्रुवम् ।।१८६।।
हास्य कांदर्प कौत्कुच्य पर विस्मय कोविदः ।
कांदर्पी भावनां दोनो भजते लोलमानसाः ।।१८७।।
सर्वज्ञशासनज्ञानधर्माचार्य तपस्विनाम् ।
निंदा परायणो मायी कैल्विषीं श्रयतेऽधमः ।।१८८।।

हैं आचार्य पदके योग्य शिष्यको अपना आचार्य पद अर्पित करते है तथा सम्पूर्ण मुनि आदि सघको शिक्षा-उपदेश आदेश देते है कि आज से आप सबके ये आचार्य बने हैं ये निर्दोष रत्नत्रयका पालन करते है। स्वयं का तथा तुम सब साधुओं का संसार से उद्धार करने मे समर्थ है इत्यादि रूपसे संघको उपदेश देकर स्वयं निर्द्वंद्व होकर आत्मध्यान आत्मभावना में लीन हो जाते है।

अर्थ—प्राज्ञ यतियोंको हमेशा निश्चयसे कादर्पी, कैल्विषो, अभियोग्या, आसुरी और पांचवी सांमोही इन संक्लिष्ट भावनाओं का त्याग करना चाहिये ।।१८६।।

कांदर्पी भावनाका निर्देश करते हैं—

अर्थ—निम्न श्रेणीको हँसी को यहां हास्य कहा है, रागकी उत्कटतासे हास्य मिश्रित अशिष्ट शब्द बोलना कन्दर्प कहलाता है, शरीरकी कुचेष्टा के साथ मजाक करना कौत्कुच्य है, मन्त्रादि द्वारा लोगोंको विस्मय कराने में जो चतुरता है उसे पर विस्मय कोविद कहते हैं, इसतरह कन्दर्प आदि अशिष्ट कार्योंको जो चंचल चित्तवाले दोन मुनि करते हैं उन्हे कान्दर्पी भावनावाले समझना चाहिये ।।१८७।।

किल्विष भावना—

अर्थ—सर्वज्ञ भगवान् के शासनको, आगमज्ञानकी, धर्मकी, आचार्यकी, तपस्वीकी निन्दा करने में परायण मायावी अधम मुनि किल्विष अथवा कैल्विषी भावना को करते हैं। अथवा जो यति मायाचार के जिन शासन को मानता है अर्थात् ऊपर से दिखावा करता है अन्तरंगमें जिन शासनमें श्रुत ज्ञानमें भक्ति नहीं है। चारित्र धर्म में बाहर से आचरण है किन्तु मनमें जरा भी आदर नहीं इसतरह आचार्य आदिके साथ मायाचार पूर्ण व्यवहार करता है केवल दिखावा करता है वह किल्विष भावना वाला समझना चाहिये ।।१८८।।

मंत्र कौतुक तात्पर्य भूति कर्मौषधादिकम् ।
कुर्वाणो गौरवाद्यर्थमाभियोगी मुपैति ताम् ।।१८९।।
निष्कृपो निरनुक्रोशः प्रवृत्त क्रोध विग्रहः ।
निमित्त सेवको धत्ते भावनामासुरीं यतिः ।।१९०।।
उन्मार्ग देशको मार्गदूषको मार्गनाशकः ।
मोहेन मोहयंल्लोकं साम्मोहीं तां प्रपद्यते ।।१९१।।

आभियोग्य भावना—

अर्थ—मन्त्र, कौतुक, तात्पर्य, भूति कर्म, औषधि आदिको अपने गौरव या ऋद्धि गारव आदिके लिये करता है वह यति आभियोग्य भावना युक्त होता है ।।१८९।।

विशेषार्थ—कुमारी आदिमें भूत का आवेश उत्पन्न करना इत्यादि मन्त्र है अर्थात् मन्त्र को सामर्थ्य से उक्त कार्य करना । अकाल में जलवृष्टि करके दिखाना इत्यादि कौतुक कहलाता है । बालकों के क्रीड़ा-रमाना आदि के लिये जो कार्य किया जाता है उसे भूतिकर्म कहते है । औषधि तो प्रसिद्ध ही है । इन सब कार्यों को मुनि-लोग यदि अपनी ख्याति पूजा इष्ट आहार प्राप्ति इत्यादि हेतु से करते हैं तो वे आभियोग्य नामकी नीच भावना वाले हो जाते हैं और यदि मन्त्रादि को धर्म प्रभावना के लिये, स्व परकी आयुके परिज्ञान के लिये अजैन में जैन धर्म का सामर्थ्य दिखाने हेतु करते हैं तो दोष नही है ।

आसुरी भावना—

अर्थ—जो मुनि दयारहित है, आक्रोश कलह आदिमें प्रवृत्त है, क्रोध युक्त है, निमित्त सेवक अर्थात् ज्योतिष सामुद्रिक आदि बताकर आहार की प्राप्ति करता है वह आसुरी भावना वाला जानना चाहिये ।।१९०।।

संमोही भावना—

अर्थ—खोटे मार्ग का उपदेश देने वाला, रत्नत्रय रूप मोक्ष मार्ग में दोष लगाता है, मोक्ष मार्ग का नाश करता है, मोह अर्थात् अज्ञान से जीवोंको मोहित करता है वह मुनि संमोही भावना वाला है ।।१९१।।

रत्नत्रयं विराध्याभिर्भावनाभिर्दिवं गतः ।
भीषणे भवकान्तारे चिरं बंभ्रम्यते च्युतः ।।१६२।।

पंचेति भावनास्त्यक्त्वा संक्लिष्टः समितो यतिः ।
षष्टयां प्रवर्तते गुप्तः संविग्नः संगवर्जितः ।।१६३।।

असंक्लिष्टतपः शास्त्र सत्वैकत्व धृतिश्रिता ।
पंचधा भावना भाव्या भवभ्रमण भीरुणा ।।१६४।।

दांतान्यक्षाणि गच्छन्ति तपो भावनया वशं ।
विधानेनेन्द्रियाचार्यः समाधाने प्रवर्तते ।।१६५।।

अर्थ—जो यति इन कांदर्पी आदि खोटी भावना द्वारा रत्नत्रयकी विराधना करते है वे देवदुर्गति [भवनवासी, ज्योतिषी व्यन्तर] में उत्पन्न होते है और वहांसे च्युत होकर भीषण ससार अटवीमे बार-बार भ्रमण करते है ।।१६२।।

अर्थ—इसप्रकार इन भावनाओका खोटा फल जानकर इन पाचोका त्याग करता है और संक्लेश रहित, समिति का पालक, परिग्रहरहित, त्रिगुप्ति सयुक्त होता हुआ छठी भावनामे प्रवृत्त होता है ।।१९३।।

अब उसी छठी ग्राह्य भावना को बताते हैं—

अर्थ—जो संक्लेश रहित है ऐसी ग्राह्य भावना पांच प्रकार की है, तपो-भावना ज्ञान भावना, सत्त्व भावना, एकल भावना, धृतिभावना । संसार से भयभीत साधु को इन भावनाओं को भाना चाहिए ।।१६४।।

भावार्थ—बार-बार चितन या अभ्यास को भावना कहते है । तपश्चरण का अभ्यास तपोभावना है । ज्ञानश्रुत का अभ्यास करना ज्ञान भावना है । निर्भयता का अभ्यास सत्वभावना है । मैं अकेला ही हूँ ऐसा एकत्व का अभ्यास एकत्व भावना है । कष्ट आदि मे धैर्य रखने का अभ्यास धृतिबल भावना है ।

अर्थ—तपो भावना से दमित हुई इद्रियाँ वश हो जाती हैं, इस तपभावना रूप विधान के द्वारा साधु इन्द्रियाचार्य अर्थात् इन्द्रियों का शिक्षा देने वाला होता है और वह समाधान-अर्थात् रत्नत्रय में प्रवृत्त हो जाता है ।।१९५।।

इंद्रियार्थ सुखासक्तः परीषह पराजितः ।
जीवोऽकृतक्रियाः क्लीबो मुह्यत्याराधनाविधौ ।।१९६।।
लालितः सर्वदा सौख्यैरकारित परिक्रियः ।
कार्यकारी यथा ना श्वो बाह्यमानो रणांगणे ।।१९७।।
अकारित तपो योग्यश्चिरं विषय मूर्च्छितः ।
न जीवो मृत्युकालेऽस्ति परीषहसहस्तथा ।।१९८।।
विधापितः क्रियां योग्यां सर्वदा दुःख वासितः ।
बाह्यमानो यथा वाजो कार्यकारी रणक्षितौ ।।१९९।।

अर्थ—जो साधु उक्त तपो भावना रहित है अर्थात् अनशन आदि तपश्चर्या नहीं करता है वह इन्द्रिय सुखमें आसक्त होता है, परीषह उसे पराजित कर देती है अर्थात् वह परीषहोंपर विजय नही पाता, करने योग्य क्रिया को नही कर पाता और इसप्रकार शक्ति हीन नपुंसक जैसा हुआ आराधना विधि-सन्यासमरण या सम्यक्त्वादि चार आराधना करनेमें असमर्थ होता है ।।१९६।।

अर्थ—जिस प्रकार सदा जिसको सुखोंमें लालित किया है सवारी आदि परि-क्रिया जिससे नही करायी है ऐसा अश्व युद्ध स्थल में कार्य में लगाने पर भी अपने कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता ।।१९७।।

अर्थ—उसी प्रकार जो विषयोंमें मूर्च्छित है, योग्य तपको चिरकाल तक जिसने नहीं किया वह यति मरणकालमें परीषह वेदना आदि सहनेमें समर्थ नहीं हो सकता ।।१९८।।

विशेषार्थ—शब्दों का अभिप्राय समझकर चलना, दौड़ना, कूदना इत्यादि कार्योंका जिसे अभ्यास नहीं कराया है केवल सुखसे पुष्ट किया है ऐसा घोड़ा युद्ध भूमि में युक्त कार्य नहीं कर पाता स्वामीको सहायता नहीं देकर उलटे वहासे भाग जाता है। ठीक इसी तरह जिसने पूर्वकालमें तप नही किया है, क्षुधा आदि सहन नहीं किये हैं तो वह साधु मरणकालमें परीषह आदिके सहन करने में समर्थ नहीं होता ।

अर्थ—जिस अश्व द्वारा पहले कूदना इशारे पर चलना शीत आदि सहना इत्यादि कार्यों को कराया गया है सदा दुःखो से वासित किया है ऐसे अश्वको रण भूमि में ले जाने पर वह स्वामी के इशारे पर चल कर युद्धमें कार्यकारी होता है ।।१९९।।

विधापितस्तपो योग्यं हृषीकार्थ परांमुखः ।
जायते मृत्यु कालेंऽगी परीषह सहस्तथा ।।२००।।
चतुरंग परीणाम श्रुत भावनया परः ।
निर्व्याक्षेपः प्रतिज्ञातं स्वं निर्वाहयते ततः ।।२०१।।
स्वन्यस्तजिनवाक्यस्यरचितो चित कर्मणः ।
परीषहापदः शक्ता न कर्त्तुं स्मृतिलोपनम् ।।२०२।।
भीष्यमाणोऽप्यहोरात्रं भीमरूपैः सुरासुरैः ।
सत्व भावनया साधुं धुरि धारयतेऽखिलम् ।।२०३।।

अर्थ—उसी प्रकार इन्द्रियोके विषयोंसे जो विरक्त है अनशन आदि योग्य तपको जिसने पूर्वकालमें भलो प्रकार कर लिया है वह साधु मरणकालमें परीषह सहनेमे समर्थ होता है ।।२००।।

तपोभावना समाप्त हुई ।

ज्ञान भावना—

अर्थ—श्रुत भावना अर्थात् भली प्रकार से शास्त्रोंका अध्ययन जिसने कर लिया है वह अपनी श्रुत भावना द्वारा चतुरंग परिणाम-सम्यक्त्व आदि चार आराधना में उपयुक्त होता है । निर्व्याक्षेप अर्थात् विक्षेपविकल्प या आकुलता रहित होकर अपने प्रतिज्ञात नियम को अच्छी तरह निभाता है ।।२०१।।

अर्थ—जिसने जिनेन्द्र प्रभुके वाक्य अर्थात् आगमार्थ में अपने को लगाया है पठन मनन आदि उचित क्रियामें जो तत्पर है ऐसे साधु के मरणकालमें वेदना के समय भी परीषह उपसर्ग आदि स्मरण का नाश नही कर पाते । अर्थात् भली प्रकार शास्त्र ज्ञान में लगे रहने से वह ज्ञान सदा जाग्रत रहता है मरण की वेदना से भी वह विस्मृत नही होता । अथवा शास्त्राभ्यासी साधुके स्मृतिका नाश नहीं होता । इसप्रकार ज्ञान या श्रुत भावना का फल जानकर सदा ज्ञानमे भावना करनो चाहिये ।।२०२।।

श्रुतभावना पूर्ण हुई ।

सत्व भावना—

अर्थ—भयंकर रूपवाले देव और असुरों द्वारा दिन रात डराने पर भी साधु सत्व भावना से अखिल संयम धुरा को धारण कर लेते है ।।२०३।।

विमुह्यत्युपसर्गे नो सत्त्व भावनया यतिः ।
युद्धभावनया युद्धे भीषणेऽपि भटो यथा ॥२०४॥
कामे भोगे गणे देहे विवृद्धैकत्वभावनः ।
करोति निःस्पृहीभूय साधुर्धर्ममनुत्तरम् ॥२०५॥
स्वसु विधर्मतां दृष्ट्वा जिनकल्पीव संयतः ।
एकत्वभावनाभ्यासो न मुह्यति कदाचन ॥२०६॥
इति एकत्वं ।

अर्थ—सत्त्व भावना के बलसे साधु उपसर्ग के समय मोहित नही होता अर्थात् उपसर्ग पर विजय पाता है । जैसे कि जिसने युद्ध का अभ्यास कर लिया है ऐसा सुभट उस युद्ध भावना के बलसे भीषण युद्ध में भी डरता नहीं विजय पाता है ॥२०४॥

सत्त्व भावना समाप्त हुई ।

एकत्व भावना—

अर्थ—काममें, भोगमें संघमें और शरीरमें जिसने एकत्वकी भावना को बढ़ाया है अर्थात् ये काम भोग आदि मुझसे भिन्न है मैं सर्वथा अकेला हूं इत्यादि रूप एकत्व भावना युक्त जो साधु है वह निस्पृह होकर उत्कृष्ट धर्मको करता है ॥२०५॥

अर्थ—जिनकल्पी नागदत्त नामके मुनिराज अपने बहिन के साथ अनेक अत्याचार को होते हुए देखकर भी एकत्व भावना का अभ्यास होने से मोहित नहीं हुए, उन मुनिराज के समान ही एकत्व भावना वाले साधु किसी भी पदार्थ में मोह को प्राप्त नहीं होते हैं ॥२०६॥

नागदत्त मुनि कथा—नागदत्त नामके एक राज पुत्र थे, वैराग्य युक्त होकर उन्होंने जैनेश्वरी दीक्षा ली और घोर तपश्चरण करते हुए जिनकल्पी मुनिराज बने एक समय वे वनमे ध्यान के लिये प्रविष्ट हुए उस स्थान पर डाकुओं का अड्डा था, डाकुओं ने समझा कि यह व्यक्ति हमारा भेद पथिकों को बतायेगा ऐसा मानकर वे डाकु उन्हें त्रास देने के लिये उद्यत हुए किन्तु मुनिराज के स्वरूप को जानने वाले डाकुओंके सरदार ने त्रास देने से रोक दिया और कहा कि ये सब संसार माया से दूर हैं इन्हें किसी से ममत्व नहीं इत्यादि । मुनिराज कुछ काल तक वहीं ठहर गये । एक दिन

उपसर्ग महायोधां परीषहचमूं परां ।
कुर्वाणामल्पसत्वानां दुर्निवाररयां भयम् ॥२०७॥

उन नागदत्त मुनिराज की माता जो कि नगर के राजा की प्रमुख रानी थी और अपनी कन्याको तथा योग्य वैभव एवं परिकर को लेकर दूसरे देशमें जा रही थी, उसी वनमें पहुंची वह मुनिराज के दर्शन कर प्रश्न करती है कि हे साधो ! आप यहां वनमें निवास करते हो मुझे बताईये कि इस वनमें कुछ भय तो नहीं है ? मेरे साथ युवती कन्या अर्थात् आपकी बहिन है और वैभव है। एकत्व भावना से वासित है मन जिनका ऐसे वे श्रेष्ठ यति मौनस्थ रहे उत्तर नहीं दिया; जब कि वे जानते थे कि यहां चोरो का भय है। रानी वनमें आगे गमन कर जाती है और बीचमें डाकुओं द्वारा पकड़ी जाती है। डाकु समस्त माल तथा रानी और सुन्दर नव यौवना राजकन्या को अपने सरदार के निकट ले जाते है। सरदार खुश होकर कहता है देखो। मैंने पहले कहा था ना कि मुनिराज किसी को कुछ नहीं बताते है। इस वाक्य को सुनकर रानी अत्यन्त कुपित होकर कहती है हे सरदार ! मुझे छुरी दो जिस उदर में मैंने उस पापी मुनि को नव मास रखा उसको चीर डालती हू उसने मेरे उदर को अपवित्र किया है इत्यादि। इस वाक्य को सुनकर सरदार को मालूम होता है कि यह मुनिराज की माता है और यह सुन्दर कन्या बहिन है। मुनिराज के इतने विशिष्ट निस्पृह भाव को ज्ञात-कर सरदार एकदम विरक्ति को प्राप्त होता है और गद्‌गद् वाणी से कहता है कि हे माता ! तुम धन्य हो तुम तो जगतमाता हो, तुम्हारी कुक्षि धन्य है वह कदापि अपवित्र नहीं जिससे ऐसे महान वैरागी आतमा ने जन्म लिया। इत्यादि वाक्य से रानीको सांत्वना देकर रानी को अपनी माता और कन्या को बहिन सदृश आदर करके सम्पूर्ण वैभवके साथ उनके इष्ट देशमें पहुंचा देता है, तथा स्वय सर्व चौर्य आदि पापों का त्याग करता है। इसप्रकार नागदत्त नामा मुनिराज का यह अत्यन्त वैराग्य प्रद कथानक है।

एकत्व भावना समाप्त ।

धृति भावना—

अर्थ—उपसर्ग रूपी महान् योद्धा जिसमें है ऐसी परीषहरूपी दुर्वारवेग वाली बड़ी भारी सेना जो अल्पशक्ति वाले जीवोंको भय उत्पन्न करती है, उसको धीर वीर

धीरतासेनया धीरो विवेकशर जालया ।
जायते योधयन्नाशु साधुः पूर्ण मनोरथः ॥२०८॥

इति धृतिः ।

विधाय विधिना दृष्टिज्ञान चारित्रशोधनम् ।
चिरं विहरतां षष्टया यति भावनयाऽनया ॥२०९॥

इति भावनासूत्रं ।

साधु अपनी धृति भावना रूपी सेना द्वारा जो कि विवेक बाण समूह से पूर्ण है, उसके द्वारा युद्ध करके शीघ्र ही पूर्ण मनोरथ होता है अर्थात् परीषह आदि पर विजय प्राप्त कर लेता है। साधु इस धृति भावना द्वारा विधि पूर्वक दर्शन ज्ञान और चारित्र का शोधन करके चिरकाल तक विहार करें। कांदर्पी आदि अशुभ पांच भावनाओं का त्याग करके छठी तपोभावना आदि रूप भावना द्वारा रत्नत्रय का शोधन करें ॥२०७॥२०८॥ ॥२०९॥

(१०) भावना अधिकार समाप्त ।

॥ भक्तप्रत्याख्यानमरण अर्हं आदि अधिकार समाप्त हुआ ॥

साधुः सल्लेखनां कर्त्तुमित्थं भावितमानसः ।
तपसा यतते सम्यक् बाह्येनाभ्यंतरेण च ॥२१०॥
सल्लेखना द्विधा साधोरन्तरानन्तरेष्यते ।
तत्रांतरा कषायस्था द्वितीया कायगोचरा ॥२११॥
अभुक्तिरवमोदर्यं वृत्तिसंख्या रसोज्झनम् ।
कायक्लेशो विविक्ता च शय्या षोढा बहिस्तपः ॥२१२॥

इसप्रकार तप आदि भावना से वासित है मन जिसका ऐसा साधु सल्लेखना को करने के लिये बाह्य और अभ्यन्तर सम्यक् तपोंमें प्रयत्नशील होता है ॥२१०॥

साधुके सल्लेखना दो प्रकार हुआ करती है अभ्यन्तर और बाह्य, इनमे कषाय सम्बन्धी अभ्यन्तर सल्लेखना है और शरीर सम्बन्धी बाह्य सल्लेखना है । कषायों को आत्म भावना द्वारा कम करना कषाय सल्लेखना कहलाती है और शरीर को अनश-नादि तप द्वारा कम करना काय सल्लेखना कही जाती है ॥२११॥

बाह्य तप छह प्रकार का है—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस त्याग, कायक्लेश और विविक्त शय्यासन ॥२१२॥ आगे इसका स्वरूप बता रहे हैं ।

सार्वकालिकमन्यच्च द्वेधानशनमीरितम् ।
प्रथमं मृत्युकालेऽन्यद्वर्त्तमानस्य कथ्यते ॥२१३॥
एक द्वि त्रि चतुः पंच षट् सप्ताष्टनवादयः ।
उपवासाः जिनैस्तत्र षण्मासावधयो मताः ॥२१४॥
बहुदोषाकरे ग्रामे प्रवेशो विनिवारितः ।
संयमो वर्द्धितः पूतः कुर्वतानशनं तपः ॥२१५॥
आहारस्तृप्तये पुंसां द्वात्रिंशत्कवला जिनैः ।
अष्टाविंशतिरादिष्टा योषितः प्रकृतिस्थितः ॥२१६॥

अनशन नामके तपके दो भेद हैं सार्वकालिक और असार्वकालिक । सार्वकालिक समाधिमरण के कालमें होता है और असार्वकालिक इसके पहले होता है । जो यावज्जीव के लिये आहार का त्याग करता है उसको सार्वकालिक अनशन कहते हैं और जो दो चार दस आदि दिनों की मर्यादा लेकर किया जाता है वह असार्वकालिक अनशन है ॥२१३॥

असार्वकालिक उपवास अर्थात् दिनों की मर्यादा लेकर किये जानेवाले अनशन तपका वर्णन करते है—एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ इत्यादि उपवास करना असार्वकालिक अनशन तप है इन उपवासों को लगातार करने की अंतिम अवधि-मर्यादा छह मासकी है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है अर्थात् एक उपवास से लेकर दो तीन आदि छह मास तक करना असार्वकालिक उपवास कहलाता है ॥२१४॥

इस अनशन तपको करने से पवित्र संयम वर्द्धिगत होता है, तथा बहुत दोषों का आकर ऐसे ग्राममें प्रवेश रुक जाता है । अर्थात् उपवास करने से आहारार्थ ग्राममें जाना पड़ता था वह रुक जाता है, ग्रमादि में जाने से विविध दृश्य विविध जन सम्पर्क होता है उससे अनेक सकल्प विकल्पोकी उत्पत्ति होती है, कषाय वृद्धि के कारण भी मिलते है जैसे कोई दुष्ट गाली आदि देने लगता है अथवा राग की वृद्धि करने वाली मनोहर वस्तु देखने में आती है यदि उपवास है तो उक्त दोषों से भरे ग्राममें नही जाना पड़ता है और उससे सहज कषायभाव रागद्वेषभाव आदि दोष रोक दिये जाते हैं ॥२१५॥

अवमौदर्य तप—पुरुषका स्वाभाविक भोजन बत्तीस ग्रास प्रमाण है और स्त्रियोंका अट्ठावीस ग्रास प्रमाण है ऐसा जिनदेव ने कहा है । इतने आहार से तृप्ति

तस्मादेकोत्तर श्रेण्या कवलः शिष्यते परः।
मुच्यते यत्र तदिदमवमौदर्यमुच्यते ॥२१७॥
निद्राजयः समाधानं स्वाध्यायः संयमः परः।
हृषीक निर्जयः साधोरवमोदर्यतो गुणाः ॥२१८॥
चतस्रो गृध्नुतासक्ति दर्पा संयमकारिणीः।
नवनीत सुरामांस मध्वाख्या विकृतिर्विदुः ॥२१९॥

हो जाती है ॥२१६॥ भावार्थ—हजार चावलों का एक ग्रास माना है ऐसे बत्तीस ग्रास वाला आहार पुरुष के लिये क्षुधा शातिकारक है अट्ठाईस ग्रास प्रमाण आहार स्त्रियों के लिये तृप्तिकारक है।

उक्त प्रमाणभूत आहार मे से एक-एक ग्रास कम करते हुए एक ग्रास प्रमाण शेष तक घटाते जाना अवमौदर्य तप है। अर्थात् बत्तीस ग्रासों मे से एक ग्रास कम आहार लेना दो ग्रास कम लेना ऐसे करते-करते एक ग्रास ही आहार लेना इसप्रकार अवमौदर्य अनेक प्रकार का है।

अपने स्वाभाविक आहार में से एक ग्रास कम लिया अथवा कभी दो ग्रास, कभी दस ग्रास कम पन्द्रह ग्रास इत्यादि अनेक प्रकार से आहार को कम करना ये सब ही अवमौदर्य तप कहलाता है क्योंकि इन सब विधियों में भूख से कम खाया जाता है और भूख से कम खाना ही अवमौदर्य तपका लक्षण है ॥२१७॥

इस अवमौदर्य तपको करनेसे साधुको निद्राविजय गुण प्राप्त होता है, समाधान होता है अर्थात् जितना और जैसा आहार मिला उसीमें सन्तुष्टता आती है, स्वाध्याय भली प्रकार से हो जाता है उसमे प्रमाद नही आता। संयम का अच्छी तरह पालन होता है और इन्द्रियविजय गुण भी प्राप्त होता है ॥२१८॥

रस त्याग तपको कहते हैं—रस त्याग के कथन में सर्व प्रथम उन पदार्थों को बताते हैं कि जो महान अनर्थकारी हैं सर्वथा सर्वजन-यति और श्रावक सबके लिये त्याज्य हैं।

चार महा विकृतियां हैं—मक्खन, मांस, मधु और मद्य। मक्खन कांक्षा-गृद्धता को कराता है, मद्य अगम्यगमन का निमित्त है। मांस इन्द्रिय दर्पकारी है और

महाविकारकारिण्यो भव्येन भवभीरुणा ।
जिनाज्ञाकांक्षिणा त्याज्या यावज्जीवं पुरेव ताः ।।२२०।।

गुड़तैलदधिक्षीर सर्पिषां वर्जने सति ।
देशतः सर्वतः ज्ञेयं तपः साधो रसोज्झनम् ।।२२१।।

अशनं नीरसं शुद्ध शुष्कमस्वादु शीतलम् ।
भुंजते समभावेन साधवो निर्जितेन्द्रियाः ।।२२२।।

येऽन्येऽपि केचनाहारा वृष्या विकृतिकारिणः ।
ते सर्वे शक्तितस्त्याज्या योगिना रसवर्जिना ।।२२३।।

सन्तोषो भावितः सम्यग् ब्रह्मचर्यं प्रपालितम् ।
दर्शितं स्वस्य वैराग्यं कुर्वाणेन रसोज्झनम् ।।२२४।।

मधु असंयमकारी है । अथवा ये चारों ही निकृष्ट पदार्थ कांक्षा आदि सब दोषों को करते हैं अर्थात् एक मांस या एक मक्खन आदिमें एक एकमें सबके सब दोष भरे पड़े हैं । इसलिये जिनदेव की आज्ञा का पालन करने के इच्छुक संसार से भयभीत भव्य पुरुषको पहलेसे ही यावज्जीव तक ये पदार्थ सर्वथा त्याज्य हैं ।।२१९।।२२०।।

रस परित्याग तप—गुड़, तेल, दधि, दूध, घी इन रसोंका पूर्णरूप से या एक दो आदि रसोंका त्याग करना साधु का रस त्याग तप कहलाता है ।।२२१।। इन्द्रियोंको जिन्होंने वश कर लिया है ऐसे साधुजन भोजन नीरस हो, रूखा हो, चाहे ठण्डा हो, स्वाद रहित हो किन्तु शुद्ध हो उसे समभाव से ग्रहण कर लेते हैं । उसमें किसी प्रकार द्वेष भाव नहीं करते ।। २२२ ।। रस त्याग के इच्छुक योगीको गरिष्ठ आहार, विकार करने वाला आहार ऐसा अन्य कोई आहार हो उन सब प्रकार के आहारों को शक्ति अनुसार छोड़ देना चाहिये ।।२२३।। जो साधु इस रस त्याग को करता है वह अपने जीवन में सन्तोष प्राप्त कर लेता है, अच्छीप्रकारसे ब्रह्मचर्य का पालन तथा वैराग्य की वृद्धि को प्राप्त करता है । अर्थ यह है कि रसका त्याग करनेसे विकारी भोजन नहीं होता उससे ब्रह्मचर्य आदि सुरक्षित रहते हैं । जैसा मिला वैसा सन्तोष पूर्वक लेने में आता है क्योंकि रसोंकी लालसा नहीं रही ।।२२४।।

गृह्णाति प्रासुकां भिक्षां गत्वा प्रत्यागतो यतः ।
शम्बूकावर्त गोमूत्र पुटेषु शलभायनः ।।२२५।।
पाटकावसथ द्वार दातृ देयादि गोचरम् ।
संकल्पं विविधं कृत्वा वृत्तिसंख्या परो यतिः ।।२२६।।
लूना तृष्णालतारूढा चित्रसंकल्प पल्लवाः ।
कुर्वता वृत्तिसंख्यानं परेषां दुश्चरं तपः ।।२२७।।
तिर्यगर्कमुपर्यर्क मन्वर्कं प्रतिभास्करं ।
यतिग्रामान्तरं गत्वा प्रत्यागच्छति वा यतिः ।।२२८।।

वृत्तिपरिसख्यान—आहार को जाते समय साधुजन विविध नियम लेते है कि अमुक आहार मिले, अमुकव्यक्ति पड़गाहन करे, अमुक गलीमे मिले तो लेवूंगा अन्यथा नही, यहां पर इसीका वर्णन करते है–आहार के लिये गमन कर जिस रास्ते से जावूंगा वापिस लौटते समय विधिपूर्वक प्रासुक आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नही, इस विधि को गतप्रत्यागत विधि कहते हैं । शंखमें जैसे आवर्त्त होते है वैसे ग्रामादि मे आहार के लिये भ्रमण करते हुए आहार मिलेगा तो ग्रहण करूंगा, अथवा गोमूत्रवत् भ्रमण करते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो लूंगा, इषु-बाणके समान सीधी गली से जाते हुए या पतंगवत् अर्थात् एक निश्चित अमुक घरमे मिलेगा तो ग्रहण करूंगा, इसप्रकार नियम लेना ।।२२५।। अमुक मोहल्ले मे, घरके द्वार पर, अमुक दाता के यहा इत्यादि प्रकार आहार मिलनेका नियम लेना, आहार मे दाल ही लूंगा, मोठ ही लूगा अर्थात् ये पदार्थ मिले तो आहार करना अन्यथा नही इसतरह विविध प्रकार के सकल्प करके आहार लेना, ऐसे संकल्प पूर्ण नही हुए तो समाधान पूर्वक वसतिकामें लौट आना वृत्ति-परिसंख्यान तप है ।।२२६।। अन्य जनोंको दुष्कर ऐसे इस वृत्ति परिसंख्यान तपको करने वाले साधु द्वारा विचित्र संकल्परूप पत्तों वाली तृष्णारूपी लता काट दी जाती है अर्थात् उस साधुकी लालसा समाप्त होती है ।।२२७।।

कायक्लेश तप—जिस दिन कड़ी धूप हो उस दिन पश्चिम दिशा की तरफ गमन करना अनुअर्क गमन कहलाता है, सूर्यको तिरछे करके गमन, तिर्यक् अर्क गमन है । सूर्यके मस्तक पर रहते गमन उपरि अर्कगमन है । गर्मी के दिनों में इस-प्रकार सूर्य के प्रति गमन-विहार करना कायक्लेश तप है क्योंकि इस क्रिया द्वारा काय-

सावष्टंभं तनूत्सर्गं ससंक्रममसंक्रमम् ।
गृद्धोड्डीनमवस्थानं समपादैक पादकम् ।।२२६।।
पर्यंकमर्द्ध पर्यंक वीर पद्मगवासनम् ।
आसनं हस्ति शुण्डं च गोदोहमकराननम् ।।२३०।।
समस्फिगं समस्फिक्कं कृत्यं कुक्कुटकासनम् ।
बहुधेत्यासनं साधोः कायक्लेशविधायिनः ।।२३१।।

शरीर में क्लेश-कष्ट होता है तथा इस तपके इच्छुक यति किसी ग्राम में जाकर खड़े खड़े ही वापिस लौट आते हैं अर्थात् एक गांवसे दूसरे गांवमें जाना और तत्काल लौट आना बीचमें कही भी नही बैठना यह उक्त मुनिका कायक्लेश तप है ।।२२८।।

सहारा लेकर कायोत्सर्ग—खडे होना, एक स्थान से दूसरे स्थान मे जाकर वहां घन्टा दिन आदि काल तक खड़े होकर ध्यान करना ससंक्रम कायक्लेश है, उसी एक स्थानमें निश्चल होना असंक्रम है, गिद्ध पक्षी के समान अवस्थित होना अर्थात् गिद्ध जैसे दोनों पंखों को फैलाकर उड़ता है वैसे दोनों बाहुओं को फैलाकर खड़े रहना, दोनों पैरों को समान रखकर खड़े होना, एक पैर से खड़े रहना ये सब कायक्लेश हैं ।।२२६।। यहां तक खड़े होकर किये जाने वाले कायक्लेश का वर्णन किया ।

पर्यंक आसन लगाना, अर्द्ध पर्यंकासन, पद्मासन, गवासन, वीरासन, हस्तिशूण्डासन, गोदुह आसन, मकरासन ।।२३०।। तथा समस्फिग, असमस्फिक्क आसन लगाना, कुक्कुट आसन ऐसे अनेक प्रकारके आसन कायक्लेश तप तपने वाले साधुके हुआ करते है ।।२३१।। यहां तक दो कारिकाओंमें बैठने के आसन बताये हैं ।

विशेषार्थ—दोनो पांवों को गोद में लेकर प्रतिमावत् बैठना पर्यंकासन कहलाता है, एक पैर को गोद रखकर बैठना अर्द्ध पर्यंकासन है, इसीको क्रमशः पद्मासन और अर्द्ध-पद्मासन कहते है । गवासन गोवत् बैठना-स्त्रियां जिस तरह बैठकर जिनेन्द्र को नमस्कार करती हैं वैसा आसन । वीरासन-दोनों जंघाएँ दूर अन्तर पर स्थापित कर बैठना । हाथी जैसे अपनी सूण्ड को पसारता है वैसे एक हाथको अथवा एक पांवको फैलाकर बैठना हस्तिशूंडासन कहलाता है । गोदुह आसन-गायको दोहते समय जैसे बैठते हैं वैसा बैठना । मकरानन आसन-मगर के मुखके समान पांवों की आकृति बनाकर बैठना । समस्फिग का अर्थ संस्कृत टीका में "स्फिक्पिंड सम करणेनासनं" शब्दका प्रयोग

कोवंडलगडादण्ड शवशय्यापुरस्सरम् ।
कर्तव्या बहुधा शय्या शरीरक्लेशकारिणा ।।२३२।।
काष्टाश्मतृण भूशय्या दिवानिद्रा विपर्ययः ।
दुर्धराभ्रावकाशादि योग त्रितयधारणम् ।।२३३।।
दन्तधावन कण्डूति स्नान निष्ठोवनासनम् ।
यामिनीजागरो लोचः कायक्लेशोयमीरितः ।।२३४।।
सूत्रानुसारतः साधोः कायक्लेशं वितन्वतः ।
चितिताः सम्पदः सर्वाः सम्पद्यन्ते करस्थिताः ।।२३५।।

किया है और हिन्दीमे जंघा तथा कटि भाग को समान करके बैठना अर्थ किया है, इससे विपरीत अर्थात् जघा और कटिभाग सम न होकर विषम रहना असमस्फिक् आसन है। मुर्गेको तरह आकृति कर बैठना कुक्कुटिका आसन है। इन सब आसनों द्वारा कायमे कष्ट होता है अतः इस तपको कायक्लेश तप कहते है। आगे लेटकर किये जाने वाले कायक्लेश का वर्णन करते है।

धनुषवत् शयन दंड शयन कहलाता है, दण्ड के सदृश शयन लगड शयन– अवयवों को संकुचित करके शयन करना, शवशय्या-शव-मुर्दे के समान चित सोना। इसी तरह अनेक प्रकार की शय्या से सोना कायक्लेशकारी शय्या को करना कायक्लेश तप है ।।२३२।।

काष्ठ पर शयन, पाषाण पर शयन, दिनमे नही सोना, दुर्धर अभ्रावकाश आदि तीन योगों को धारण करना कायक्लेश है ।।२३३।।

भावार्थ—शीत ऋतुमें खुले मैदान मे अथवा नदी किनारे आदि स्थानों पर ध्यानसे दिन मास आदि कालतक स्थित होना अभ्रावकाश योग कहलाता है। ग्रीष्म-कालमें पर्वतपर ध्यान करना ग्रीष्मयोग है। वर्षा ऋतु मे वृक्ष के नीचे स्थित होकर ध्यान करना वृक्षमूलयोग है। इन क्लेशोको शान्त भाव से एवं स्वेच्छासे सहना काय-क्लेश तप कहलाता है।

दातोंन नही करना, खुजली, स्नान तथा थूकने का त्याग, रातमें जागते रहना, और केशलोंच ये सब कायक्लेश कहे गये हैं ।।२३४।। जो साधु सूत्रके अनुसार काय-क्लेश करता है उसके सम्पूर्ण चिन्तित संपदायें हस्तगत होती है ।।२३५।।

विविक्त वसतिः सास्ति यस्यां रूपरसादिभिः ।
सम्पद्यते न संक्लेशो न ध्यानाध्ययने क्षतिः ।।२३६।।
अन्तर्बहिर्भवां शय्यां विकटां विषमां समाम् ।
वांच्छत्यविकटां सेव्यां रामाषंढ पशूज्झिताम् ।।२३७।।
उद्गमोत्पादना वलभा दोषमुक्तामपक्रियां ।
अविविक्त जनागम्यां गृहशय्या विर्वाजतां ।।२३८।।
शून्यवेश्म शिलावेश्म तरुमूलगुहादयः ।
विविक्ता भाषिताः शय्या स्वाध्यायध्यान वर्धिकाः ।।२३९।।
अयोग्यजनसंसर्ग राटोकल कलादयः ।
अविविक्त स्थितेः सन्ति समाधान निषूदिन. ।।२४०।।

अब यहा विविक्तशय्यासन तप का निरूपण करते है—जिस वसतिका में रूप रस स्पर्श आदिसे संक्लेश नही होता और ध्यान अध्ययन में हानि होती है वह वसतिका विविक्त कहलाती है ।।२३६।। वसतिका ग्राम आदिके बाहर मे स्थित हो चाहे मध्य में स्थित हो विकट–खुले द्वारवाली हो चाहे अविकट–ढके द्वारवालो हो, समभूमियुक्त हो अथवा विषम भूमियुक्त हो किन्तु वह नियमसे स्त्री, नपुंसक और पशुओंसे रहित होनी चाहिये ।।२३७।। उद्गम, उत्पादना एषणा दोषोंसे मुक्त हो, संमार्जन आदि क्रिया विहोन हो, जनोंको अगम्य हो, गृहस्थो के संसर्ग से रहित हो ऐसी वसतिका चाहिये ।।२३८।।

भावार्थ—वसतिका उद्दिष्ट आदि दोषोंसे रहित होनो चाहिये जैसे आहार के उद्गम उत्पादन आदि दोष होते है और उन दोषोसे रहित आहार को साधुजन ग्रहण करते है । जो दोष गृहस्थ के आधीन है वह उद्गम दोष है, साधु द्वारा उत्पन्न कराया जाता है वह उत्पादन दोष है । एषणा आदि दोषोका तथा इन दोषोंका सविस्तार वर्णन भगवती आराधना टीका में है, वहांसे जान लेना चाहिये ।

विविक्त वसतिका कौनसो है यह बताते है—शून्यगृह, शिलागृह, वृक्षके कोटर, गुफा आदि जो कि स्वाध्याय और ध्यानकी वृद्धिकारक है वह विविक्त वसतिका कहलाती है ।।२३९।।

अयोग्य लोगोंका ससर्ग, राड़, कलकल शब्द, कलह आदि समाधान—शांति को नष्ट करने वाले दोष अविविक्त वसतिमें रहनेसे आते है ।।२४०।।

प्राग्भाराकृत्रिमाराम देवतादि गृहादिषु ।
जायते वसतः साधोः समाधानमखण्डितम् ।।२४१।।
एवमेकाग्रयमापन्नो ध्यानैः शुद्धप्रवृत्तिभिः ।
समितः पंचभिर्गुप्तस्त्रिभिरस्ति हितोद्यतः ।।२४२।।
तन्निर्जरयते कर्म संवृत्तोऽन्तमुहूर्ततः ।
षष्टाष्टमादिभिः साधुस्तपसा यदसवृतः ।।२४३।।
एवं भावयमानः संस्तपसा स्थिरमानसः ।
अप्रशस्तं परीणामं नाशयंश्चेष्टते तरां ।।२४४।।
तत्तपोऽभिमतं बाह्यं मनो येन न दुष्यति ।
योगायेन न हीयंते येन श्रद्धा प्रवर्तते ।।२४५।।

प्राग्भार अकृत्रिम बाग, देवता गृह आदिमे निवास करने वाले साधु के अखंड समाधान—शान्ति होती है ।।२४१।।

इसप्रकार विविक्त वसतिमें रहने से शृद्ध प्रवृत्ति द्वारा ध्यानमें एकाग्रता आती है तथा पांच समितियाँ पलती है, तीन गुप्तियाँ सिद्ध होती है, इस तरह वह साधु अपने हितमें उमद्यशील हो जाता है ।।२४२।।

जो साधु अशुभ मन वचन कायसे संवृत नही है अर्थात् गुप्तिका पालक नही है वह षष्ठोपवास-बेला अष्टमोपवास-तेला आदि तप द्वारा जितना कर्म नष्ट करता है उतना कर्म संवृत हुआ अर्थात् मनोगुप्ति आदि युक्त हुआ अन्तर्मुहूर्त्त मे नष्ट कर देता है ।।२४३।।

इसप्रकार गुप्तिकी भावना करता हुआ तप द्वारा जिसने मनको स्थिर कर लिया वह साधु अप्रशस्त परिणाम को नष्ट करता हुआ सतत चारित्र में प्रयत्नशील होता है ।।२४४।।

वास्तव में बाह्य तप वह है जिससे मन दूषित नहीं होता अर्थात् उतना बाह्य तप श्रेष्ठ है, जितना तप करने पर मनमें क्लेश नहीं होता । वह तप श्रेष्ठ है जिससे योग- आतापनादि या ध्यान कम नही होता, जिससे श्रद्धा बनी रहती है ।।२४५।।

बाह्येन तपसा सर्वा निरस्ताः सुखवासनाः ।
सम्यक् तनूकृतो देहः स्वः संवेगेऽधिरोपितः ।।२४६।।
संतोन्द्रियाणि दांतानि, स्पृष्टा योग समाधयः ।
जोविताशा परिच्छिन्ना, बलवीर्यमगोपितम् ।।२४७।।
रसदेहसुखानास्था जायते दुःखभावना ।
प्रमर्द्दनं कषायाणामिन्द्रियार्थेष्वनादरः ।।२४८।।
आहारखर्वता दांति समस्ता त्यागयोग्यता ।
गोपनं ब्रह्मचर्यस्य लाभालाभसमानता ।।२४९।।
निद्रागृद्धि मदस्नेहलोभ मोह पराजयः ।
ध्यानस्वाध्याययोर्वृद्धिः सुखदुःख समानता ।।२५०।।
आत्मा प्रवचनं संघः कुलं भवति शोभनं ।
समस्तं त्यक्त मालस्यं कल्मषं विनिवारितम् ।।२५१।।

बाह्य तप द्वारा सर्व सुखोपना निरस्त हो जाता है, शरीर भलीप्रकार कृश हो जाता है और अपने आत्मा को संसार भीरुतारूप संवेग में स्थापित किया जाता है ।।२४६।। बाह्य तप द्वारा इन्द्रियाँ वश होती हैं योग और समाधि अर्थात् रत्नत्रय में एकाग्रता प्राप्त होती है, जीवन की आशा नष्ट होतो है और बलवोर्य प्रगट होता है ।।२४७।। मधुर आदि रसोंमे और शरीर-सुखोंमें आस्था नहीं रहती, दुःख सहने की भावना होतो है । कषायोंका मर्दन होता है, इन्द्रियोके विषयोमें अनादर हो जाता है ।।२४८।। तथा आहार की वांछा नष्ट होती है, सब प्रकार की इच्छा का दमन होता है, समस्त आहारों को हमेशा के लिये समाधि के समय त्याग करना पड़ता है उस समस्त आहार को यावज्जीव त्याग करने की योग्यता अनशन आदि तप से आती है, ब्रह्मचर्य की रक्षा होतो है और लाभ तथा अलाभ दोनोंमें समभाव प्राप्त होता है ।।२४९।। निद्रा, लालसा, गर्व, स्नेह, लोभ, मोह इन सबका पराजय कर लेता है जो कि बाह्य तपको तपता है । ध्यान और स्वाध्याय में वृद्धि का होना और सुख दुःख दोनों में समान भाव बने रहना यह गुण भी तपश्चरण द्वारा ही प्राप्त होता है ।।२५०।। अपनो आत्मा, अपना वंश, अपना संघ, और जिनमत इन सबकी शोभा का कारण तप है, तपस्वी के समस्त आलस छूट जाते हैं और पापका निरोध होता है ।।२५१।।

मिथ्यादर्शनिनां सौम्यं संवेगो भूयसां सतां ।
मुक्तेः प्रकाशितो मार्गो जिनाज्ञापरिपालिता ।।२५२।।
संतोषः संयमो देहलाघवं शमवर्द्धनम् ।
तपसः क्रियमाणस्य गुणाः सन्ति यथायथम् ।।२५३।।
उद्गमोत्पादनाहार दोषभक्तं मितं लघु ।
विरसं गृह्णताहारं क्रियते विविधं तपः ।। (पाठान्तरम्)
आहारमल्पयन्नेवं वृद्धो वृद्धेन संयतः ।
तपसा संलिखत्यंगं वृद्धेनैकांततोऽथवा ।।२५४।।

मुनिराजों का उग्र तप देखकर मिथ्यादृष्टि जीव भी अपनी उग्रता छोडकर सौम्य बन जाते हैं अर्थात् जैनोंका तप बड़ा दुर्धर है ऐसा देखकर प्रसन्न होते है, तपश्चरण मे तत्पर इस मुनिको देखकर अन्य मुनिराजो को ससार से भय उत्पन्न होता है कि यह महात्मा संसारके कष्टसे भयभीत होकर मुक्ति के लिये कितना कठोर तप करता है ? हमें भी यह सांसारिक कष्ट भोगना न पड़े इसलिये अवश्य तप करना चाहिये इत्यादि । तपसे मुक्तिमार्ग का प्रकाशन होता है और जिन भगवान की आज्ञाका पालन होता है ।।२५२।। तपस्वी के जीवन में सन्तोष आता है, सयम आता है, शरीर में लघुता होती है अर्थात् तपसे शरीरका भारीपन-मोटापा नष्ट होता है । उपशम भाव वृद्धिगत होता है। इसप्रकार तप करने वाले के ये गुण यथा सम्भव प्राप्त होते है अर्थात् छह प्रकारके तप हैं इनमें से अनशन द्वारा शरीर लघुता, रस त्याग से सन्तोष इत्यादि गुण भी प्रगट होते हैं। इसीप्रकार अन्य अन्य तपके गुण भी समझना चाहिये ।।२५३।। मुनिराज उद्गम, उत्पादन और एषणा इन दोषों का त्याग करके मित लघु विरस ऐसे आहार को ग्रहण करते हुए विविध बाह्य तपको करते हैं अर्थात् निर्दोष आहार लेकर तप करना चाहिये, उद्दिष्ट आहार आदि छियालीस आहार सम्बन्धी दोष है उन दोषो से युक्त अशुद्ध ऐसा आहार करके कदापि तप नही करना चाहिये (पाठान्तर की अपेक्षा) ।

इसप्रकार यति आहार को अल्प करता हुआ वृद्धिगत तप द्वारा अर्थात् बेला तेला आदि क्रमसे आगे तपको बढाता है और उससे शरीर कृश करता है, अथवा कभी हीयमान तपसे प्रवृत्ति करता है ।।२५४।।

क्रमेणसंलिखत्यंगमाहारं खर्वयन्यतिः ।
प्रत्यहं वा गृहीतेन तपसा विधिकोविदः ।।२५५।।
आहारगोचरं रुग्रैर्नानाकारैरवग्रहैः ।
मुमुक्षुः संलिखत्यंगं संयमस्याविरोधकम् ।।२५६।।
या भिक्षु प्रतिमाश्चित्रा बले सति च जोविते ।
पोडयन्ति न ताः कायं संलिखं तं यथाबलं ।।
(पाठान्तरं)

विशेषार्थ—बेला तेला चौला इत्यादि रूपसे अनशन करना अनशन तप को वृद्धि है, बत्तोस ग्रास प्रमाण आहार मे से क्रमशः ग्रास कम करते रहना इत्यादि रूप अवमौदर्य तपकी वृद्धि है, एक रसका, दो रसका त्याग करना, कभी छहों रसोंका त्याग करना, रसत्याग तपको वृद्धि कहलाती है । आज इस गांवमें आहार तो लूंगा, आज इस मोहल्ले में मिलेगा तो लूंगा, आज इस घरमें मिलेगा तो लूंगा इत्यादि रूप वृत्ति-परिसंख्यान तपकी वृद्धि जानना । शून्य गृह निवास, पुनः ग्राम समीप वसतिमें निवास, पुनः गिरि गुफामें निवास इत्यादि रूप विविक्त शय्यासन तपकी वृद्धि होती है । और दिनमें आतपन योग लेकर रात्रिमें प्रतिमावत् निश्चल स्थित रहना इत्यादि रूप काय-क्लेश तपकी वृद्धि जानना चाहिये ।

क्रमसे आहार को घटाते हुए शरीर को घटाता जाय अथवा प्रतिदिन विविध-भिन्न-भिन्न प्रकार से तपको करते हुए विधिकोविद-तप की विधिको जानने वाला साधु काया को कृश करता है ।।२५५।।

संयम की विराधना न हो इसप्रकार से आहार सम्बन्धी उग्र-उग्र ऐसे नाना अवग्रह-नियमों द्वारा मुमुक्षुजन शरीरको कृश करते हैं ।।२५६।।

यथाशक्ति शरोर सल्लेखना करनेवाले साधुके बल और जोवन के रहने पर अनेक प्रकार की भिक्षु प्रतिमा का आचरण करने पर संक्लेश नहीं होता है और यदि शक्ति के अनुसार तप नहीं किया अधिक तोव्र गतिसे शरीर कृश किया तो महान् क्लेश होगा और उससे कर्मबन्ध होगा अतः यथाशक्ति तपमें प्रवृत्ति श्रेयस्कर है ।
(पाठान्तरकी अपेक्षा)

देहसल्लेखनाहेतुर्बहुधा वर्णितं तपः ।
वदन्ति परमाचाम्लमर्हता यत्र योगिनः ॥२५७॥
षष्टाष्टमादिभिश्चित्रैरुपवासैरतन्द्रितः ।
गृह्णाति मितमाहारमाचाम्लं बहुशः पुनः ॥२५८॥

विशेषार्थ—शरीर सल्लेखना का इच्छुक साधु यदि उत्तम सहनन वाला है धैर्य श्रुतज्ञान आदि गुणोसे मण्डित है परोषह उपसर्ग सहन किये हैं तो वह महासत्त्वशाली मुनि इस भिक्षुप्रतिमा विधिका अनुष्ठान कर सकता है, इस देशमें रहते हुए एक मास के अन्दर अमुक-अमुक दुर्लभ आहार मिलेगा तो ग्रहण करूंगा अन्यथा नहीं ऐसी प्रतिज्ञा करके उस मास के अन्तिम दिन प्रतिमायोग धारण करता है, यह एक प्रतिमा हुई ।

पूर्वोक्त आहार से शतगुणित उत्कृष्ट दुर्लभ ऐसे भिन्न-भिन्न आहारका व्रत ग्रहण करता है यह व्रत दोमासका तीनका, चार, पाँच, छह और सात मास तक क्रमशः चलता है, प्रत्येक महिने के अन्तिम दिन प्रतिमायोग धारण करता है, ये सात भिक्षु प्रतिमायें है।

पुनश्च सात-सात दिनोंमे पूर्व आहारकी अपेक्षा से शत गुणित उत्कृष्ट और दुर्लभ ऐसे भिन्न-भिन्न आहार तीन बार लेने को प्रतिज्ञा करता है, आहार को प्राप्ति होती है तो तोन, दो और एक ग्रास लेता है. ये तीन भिक्षु प्रतिमाये है। तदनन्तर रात्रि और दिनमें प्रतिमायोग धारण करता है पुनः प्रतिमायोग से ध्यानस्थ होता है ये दो भिक्षु प्रतिमाये है । इससे पहले अवधि और मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त होते है, अनन्तर सूर्योदय होने पर उक्त महामना महाधैर्यशालो मुनिराज केवलज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं । इस तरह ये बारह भिक्षु प्रतिमाये जिनागममे वर्णित है ।

शरीरकी सल्लेखना के लिये विविध तपोंका वर्णन अर्हन्त देवने किया है उन तपोंमें आचाम्ल तप उत्कृष्ट है ऐसा योगिजन कहते हैं ॥२५७॥

बेला, तेला आदि विविध उपवासों द्वारा तप करता हुआ निष्प्रमादी यति क्रमशः अल्प आहार को करता है पुनश्च बहुत प्रकार से आचाम्ल को करता है । अर्थात् दो तीन आदि उपवास करे मध्य-मध्य में अल्प आहार-अवमौदर्य करता रहे, फिर आचाम्ल विधि करे ॥२५८॥

कालो द्वादशवर्षाणि काले सति महीयसि ।
भक्तत्यागस्य पूर्णानि प्रकृष्टः कथितो जिनैः ।।२५९।।
विचित्रैः संलिखित्यंगं योगैर्वर्ष चतुष्टयं ।
समस्त रस मोक्षेण परं वर्ष चतुष्टयं ।।२६०।।
आचाम्ल रसहानिभ्यां वर्षे द्वे नयते यतिः ।
आचाम्लेन विशुद्धेन वर्षमेकं महामनाः ।।२६१।।
षण्मासीमप्रकृष्टेन प्रकृतेन समाधये ।
षण्मासीं नयते धीरः कायक्लेशेन शुद्धधीः ।।२६२।।
द्रव्यं क्षेत्रं सुधीः कालं धातुं ज्ञात्वा तपस्यति ।
तथा क्षुभ्यन्ति नो जातु वातपित्तकफा यथा ।।२६३।।

भावार्थ—आचाम्ल को यहाँ पर कांजिका शब्दसे कहा जाता है, केवल मांड लेना अथवा कुछ भातके कण जिसमे हो ऐसा माड हो लेना आचाम्ल या कांजिका आहार है । कोई केवल भातके आहार को आचाम्ल कहते हैं, कोई भात और इमली का पानी लेने को आचाम्ल कहते हैं ।

सल्लेखना का जो भेद भक्तप्रत्याख्यान है उसीका अति विस्तारसे वर्णन चल रहा है, इस भक्तप्रत्याख्यान का काल उत्कृष्ट रूपसे बारह वर्ष प्रमाण जिनेन्द्र देवने कहा है ।।२५९।। बारह वर्ष किस प्रकार व्यतीत करे सो बताते है-विविध आतपन आदि योग धारण करके चार वर्ष व्यतीत करता है, पुनः समस्त रसोंका त्याग करते हुए चार वर्षोंको पूर्ण करता है ।।२६०।।

आचाम्ल तप तथा रस त्याग द्वारा दो वर्ष पूर्ण करता है पुनः एक वर्ष केवल आचाम्ल तप द्वारा व्यतीत करता है ।।२६१।। इसप्रकार चार वर्ष उपवास द्वारा, चार वर्ष रस त्याग द्वारा, दो वर्ष आचाम्ल और रस त्याग दोनो द्वारा और एक वर्ष केवल आचाम्ल द्वारा व्यतीत होने पर, शुद्ध बुद्धि वाले वे क्षपक मुनिराज अन्तिम बारहवें वर्ष के प्रथम छह मास तो मध्यम तप द्वारा और द्वितीय छह मास उत्कृष्ट कायक्लेश-कारी तप द्वारा व्यतीत करते हैं ।।२६२।।

द्रव्य क्षेत्र काल और धातु-शरीर प्रकृति को जानकर साधु उस प्रकार से तप करता है जिस प्रकार से कि वात पित्त कफ दोष क्षुभित न हो ।।२६३।।

इत्थं सल्लेखनामार्गं कुर्वाणेनाप्यनेकधा ।
नैव त्याज्यात्म संशुद्धिः क्षपकेण पटीयसा ।।२६४।।
भावशुद्धया विनोत्कृष्टमपि ये कुर्वते तपः ।
बहिर्लेश्या न सा तेषां शुद्धि र्भवति केवला ।।२६५।।
कषायाकुलचित्तस्य भावशुद्धिः कुतस्तनी ।
यतस्ततो विधातव्या कषायाणां तनूकृतिः ।।२६६।।

विशेषार्थ--आहारको यहाँ पर द्रव्य शब्द से कहा है, कोई आहार शाक बहुल होता है, कोई रस बहुल, कोई कुलथी युक्त, निष्पाव चना आदिसे मिश्रित इत्यादि आहार को ज्ञात करना अर्थात् इस देश ग्राम आदिमें रस बहुल आहार प्राप्त होता है अथवा नही, शाक बहुल है इत्यादिको देखकर उपवास आदि तप करे जिससे शरोर शुष्कता या वात आदि दोष कुपित न हो। यह देश जल बहुल है इसमे वर्षा बहुत है, तथा इस क्षेत्रमे पानी नहीं है शुष्क प्रदेश है इत्यादि देखकर तप करना चाहिये क्योंकि अनूप देश अर्थात् जल बहुल देशमे उपवास ठीक होते हैं।

यह ग्रीष्मकाल है, यह शीतकाल है, ग्रीष्मकाल मे तपश्चरण कठिन पड़ता इत्यादि काल को जानना। मेरी शरीर प्रकृति कैसी है ? वात प्रधान है या कफ प्रधान है इत्यादि विचार करना चाहिये उससे रोग नही आते है।

कषाय सल्लेखना को कहते है—इस तरह अनेक प्रकार की तप विधि द्वारा सल्लेखना मार्ग को करते हुए चतुर क्षपक मुनि अपनी आत्म शुद्धि को कभी भी नही छोड़े। अर्थात् आत्म श्रद्धा, आत्म भावना की सुरक्षा पूर्वक हो तप करना चाहिये ।।२६४।।

भावशुद्धिके बिना जो साधुजन उत्कृष्ट भी तप करते हैं उनके आत्मशुद्धि नही होती है उनको वह तपकी क्रिया केवल बाह्य लेश्या मात्र है। अर्थात् ख्याति पूजा और लाभ आदि की इच्छासे तप करना आत्माकी शुद्धिका कारण नही है और आत्म-शुद्धि बिना कर्म निर्जरा नही होती अत. ऐसा तप मोक्षमार्गमे व्यर्थ है ।।२६५।।

कषायसे आकुलित है चित्त जिसका ऐसे व्यक्तिके भावशुद्धि कहाँसे हो सकती है ? इसलिये कषायोंको अवश्य ही कृश करना चाहिये ।।२६६।।

जेतव्यः क्षमया क्रोधो मानो मार्दव सम्पदा ।
आर्जवेन सदा माया लोभः सन्तोषयोगतः ।।२६७।।
चतुर्णां स कषायाणां न वशं याति शुद्धधीः ।
उत्पत्तिस्त्यज्यते तेषां सर्वदा येन स तत्त्वतः ।।२६८।।
तद्धेयं सर्वदा यत्र, कषायाग्नि रुदीयते ।
यत्र शाम्यत्यसौ वस्तु, तदादेयं पटीयसा ।।२६९।।
यद्युदेति कषायाग्नि, र्विध्यातव्यस्तदा लघु ।
शाम्यन्ति ह्यखिलादोषा, शमिते तत्र तत्त्वतः ।।२७०।।
रागद्वेषादिकं साधोः, संगाभावे विनश्यति ।
कारणाभावतः कार्यं, किं कुत्राप्यवतिष्ठते ।।२७१।।

कषायोको जीतने का उपाय दिखाते है—

साधुजनोंको क्षमा द्वारा तो क्रोधको जीतना चाहिये, मानको मार्दव संपत्ति द्वारा, मायाको सदा ही आर्जव धर्म द्वारा एवं सतोष योगसे लोभको जीतना चाहिये ।।२६७।।

जो शुद्ध बुद्धिवाला साधु है वह चारों ही कषायोके वशमें नहीं आता, क्योंकि वह उन कषायोकी उत्पत्ति ही सर्वदा होने नहीं देता ।।२६८।।

जहांपर कषायरूपी अग्नि उत्पन्न होती है उस द्रव्य क्षेत्र आदिको सदा ही छोड़ देना चाहिये और जहाँ पर कषायोंका शमन होता है उस द्रव्यादिको चतुर साधु को ग्रहण करना चाहिये ।।२६९।।

यदि कदाचित् कषायरूप अग्नि उत्पन्न भी हो जाय तो शीघ्र ही उसे बुझा देनी चाहिये । क्योंकि कषायोंके शान्त होनेपर शेष दोष वास्तवमें शान्त हो ही जाते हैं ।।२७०।।

परिग्रहके अभावमे साधुके रागद्वेष विनष्ट हो जाते है, क्या कारणके अभावमें कार्य होता हुआ कही देखा गया है ? नही ! मतलब जैसे मिट्टी या कपास रूप कारणके रहने पर घट और पट रूप कार्य उत्पन्न होता है अन्यथा नही । इसीप्रकार परिग्रहके अभावमे साधुके रागद्वेष नहीं होते हैं ।।२७१।।

वाक्या सहिष्णुतावात्या, प्रेरितः कोपपावकः ।
उदेति सहसा चण्डो, भूरिप्रत्युत्तरेन्धनः ॥२७२॥
स दग्ध्वा ज्वलितः क्षिप्रं रत्नत्रितय काननम् ।
विदधाति महातापं संसारांगारसंचयैः ॥२७३॥
जायमानः कषायाग्निः, शमनीयो मनीषिणा ।
इच्छामिथ्यातथाकारप्रणिपातादि वारिभिः ॥२७४॥

अब यहाँपर क्रोधरूप अग्नि कब कैसे प्रज्ज्वलित होती है एवं बढती है इसको बताते हैं—

खोटे वचन सहन नहो होनेरूप वायुसे जो प्रेरित हुई है ऐसी क्रोधरूपी प्रचंड अग्नि सहसा उत्पन्न हो जाया करती है और वह अग्नि प्रत्युत्तर रूपी बड़े भारी ईन्धन द्वारा भयंकर रूप धारण करती है ॥२७२॥

विशेषार्थ—यहाँ पर साधु आचार्य आदिके क्रोध कैसे उत्पन्न होता है किस कारण बढ़ता है इसको बतलाया है, शिष्यकी अयोग्य प्रवृत्ति रोकनेके लिये गुरु उपदेश देते हैं, परन्तु शिष्य जब प्रतिकूल वचन बोलता है तब गुरुको वह सहन नहीं होता, यह सहन नही होना ही एक तरह की वायु है, इससे गुरुके मनमें कोप अग्नि प्रज्ज्वलित होती है, गुरु पुनः शिष्यको समझानेका प्रयत्न करता है, शिष्य उत्तर-प्रत्युत्तर करता है उससे कोपाग्नि बढ़ती है । अथवा गुरुके कठोर आज्ञा परक वचन शिष्यको सहन नही होनेसे उसके कोप उत्पन्न होता है ।

इसप्रकार कोप रूपी अग्निके प्रगट होनेपर उससे रत्नत्रयरूपी वन शीघ्रतया जलकर भस्मसात् हो जाता है । उसमे ससार रूपी अंगारोंका समूह महा भंयकर संताप को करता है ॥२७३॥

इसप्रकार की कोपाग्निको कैसे शांत करे ! इसका उपाय बताते हैं—

जब क्रोधाग्नि उत्पन्न होती है तब उसे बुद्धिमानको इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार नमस्कार रूपी श्रेष्ठ जल द्वारा शान्त करना चाहिये ॥२७४॥

भावार्थ—शिष्य द्वारा गुरुको क्रोध उत्पन्न हो जाय तो उसका उपाय यहाँ बताया है—हे गुरुदेव ! आपके शिक्षा वचनको मैं अब चाहता हूँ, इसप्रकार शिष्यके नम्र वचन इच्छाकार कहलाता है । हे पूज्य ! मैंने आपको प्रतिकूल वचन सुनाया प्रत्युत्तर दिया अथवा पहले जो अपराध किया है वह दोष मिथ्या हो इसप्रकार कहना

संलिख्यं गौरवं संज्ञा नोकषाया महाभटाः ।
समस्ता निंदिता लेश्या समाधानं यता सता ।।२७५।।
वर्धितावग्रहः साधु प्रकटास्थिसिरादिकः ।
तनूकृतसमस्तांगो भवत्यध्यात्मनिष्ठितः ।।२७६।।
बाह्यामाभ्यन्तरीं कृत्वा योगी सल्लेखनामिति ।
संसारत्यजनाकांक्षी प्रकृष्टं कुरुते तपः ।।२७७।।
इति सल्लेखना सूत्रम् ।

मिथ्याकार है । भो भगवन् ! प्रसन्न होवो, मैं आपको नमस्कार करता हूँ इत्यादि रूप वचन कहना, आपकी शिक्षा बिलकुल सत्य है इत्यादि रूप कहना तथाकार कहलाता है ।

समाधान—शान्तभावमें यत्नशील सज्जन द्वारा कषायोंके समान गारव, संज्ञा तथा नौ नोकषाय रूपी महासुभट भी कृश करने चाहिये, समस्त अशुभ, कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओंको निन्दित करना चाहिये अर्थात् छोड़ देना चाहिये ।।२७५।।

विशेषार्थ—गौरव या गारव तीन है—ऋद्धि गारव, रस गारव, सातागारव । अपने ऋद्धिका गर्व करना ऋद्धि गारव है । सरस भोजन प्राप्तिका मान करना रस गारव है और अपने सुखिया जीवनका मद करना साता गारव है । संज्ञायें आहार, भय मैथुन और परिग्रह रूप चार हैं । संज्ञाका अर्थ यहाँपर वांच्छा लिया है आहारकी वांच्छा आहार संज्ञा है ऐसे अन्य तीन संज्ञाके विषयमे लगाना । नोकषाय नौ है—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद । ये सब महासुभट सदृश हैं क्योंकि इन पर विजय पाना अत्यन्त कठिन है । किन्तु मोक्षके इच्छुक जन इनपर परम उपशम भाव द्वारा विजय प्राप्त कर लेते हैं ।

जिसने अपने अवग्रह-यम नियमोको वृद्धिगत किया है समस्त शरीर कृश होनेसे नसा, जाल और अस्थियाँ जिनकी साफ-साफ दिखायी दे रही हैं ऐसे अंग उपांगों को कृश करनेवाला साधु अपने आत्मामें निष्ठ हो जाता है ।।२७६।।

बाह्य सल्लेखना—शरीर कृश करना और अभ्यन्तर सल्लेखना—कषाय कृश करना इन दोनो सल्लेखनाको करके संसारका त्याग अर्थात् परिभ्रमणको छोड़नेके इच्छुक योगी प्रकृष्ट तपको करता है ।।२७७।।

।। इति सल्लेखना सूत्र समाप्त ।।

न शक्नोम्य शुचि त्याज्यमिदं बोढुं महृत्क्षयि ।
विचिन्त्येति वपु स्त्यक्तुं गणं याति कृतक्रियः ।।२७८।।

अपि संन्यस्यता चिंत्यं हितं संघाय सूरिणा ।
परोपकारिता सद्भिः प्राणान्तेऽपि न मुच्यते ।।२७९।।

विज्ञाय काल माहूय समस्तंगणमात्मना ।
आलोच्य सदृशं भिक्षुं समर्थं गणधारणे ।।२८०।।

प्रदेशे पावनीभूते चारुलग्नादिके दिने ।
गणं निक्षिपते तत्र स्वल्पां कृत्वा कथां सुधी. ।।२८१।।

दिशा नामका बारहवां अधिकार—समाधिके अवसरको प्राप्त हुए आचार्य (अथवा साधु) ऐसा विचार करते हैं कि यह शरीर मलमूत्र रूप अशुचि है, नष्ट होनेवाला है, त्याज्य है अब मै इस शरीरको धारण करनेमे समर्थ नही हूँ । इस तरह शरीरत्याग का विचार करके जिसने समाधिकी सामग्रीको प्राप्त किया है ऐसा वह साधु अपने संघके शिष्योंके निकट जाता है ।।२७८।।

सल्लेखना करनेके इच्छुक आचार्यको संघके हितका विचार करना चाहिये अर्थात् मेरे जानेके बाद मुनि आर्यिका आदि चतुर्विध सघका अहित न हो जाय, संघस्थ साधुओंका रत्नत्रय धर्म सुरक्षित रहे इस बातका विचार आचार्य परमेष्ठी समाधिमरण धारण करते समय करते है । ठीक ही है सज्जन महापुरुष प्राणान्त मे भी परोपकार नही छोड़ते है ।।२७९।।

समाधिकालको ज्ञात करके आचार्य अपने संघको बुलाते है तथा सघ धारण करनेमें समर्थ अपने सदृश साधुको देखते हैं–सोचते है ।।२८०।।

पवित्र क्षेत्रमें वार तिथि नक्षत्र लग्न दिन आदि सौम्य हो उस दिन योग्य शिष्य पर अपना संघ समर्पित करते हैं अर्थात् नवीन आचार्य बनाते हैं । तथा उक्त नवीन आचार्य को एवं शिष्योंको थोड़े शब्दोंमें समझाते हैं ।।२८१।।

उक्तं च-क्षेपकः—

ज्ञान विज्ञान संपन्नः स्वगुरोरभिसंमतः ।
विनीतोधर्मशीलश्च यः सोऽर्हति गुरोः पदं ॥१॥

अविच्छेदाय तीर्थस्य, तं विज्ञाय गुणाकरं ।
अनुजानाति संबोध्य दिगयं भवतामिति ॥२८२॥

इति दिक् सूत्रम्

सकलं गण मामन्त्र कृत्वा गणि निवेशनं ।
स त्रिधा क्षमयत्येवं बाल वृद्धाकुलं गणं ॥२८३॥
यद्दीर्घकाल संवासममत्व स्नेह रागतः ।
अप्रिय भणितं किंचित्तत्सर्वंक्षमयामि वः ॥२८४॥

आचार्य पदके योग्य कौन है यह क्षेपक [मूलारा० दर्पणसे उद्धृत] कारिका द्वारा बताते हैं–जो ज्ञान विज्ञान संपन्न है, अपने गुरुका मान्य है, विनीत, रत्नत्रय धर्मका पालक है वह शिष्य आचार्य पदके योग्य है ॥१॥

रत्नत्रय धर्मरूप तीर्थका नाश न हो वह सदा प्रवर्त्तित रहे इस हेतुसे गुणोंके आकर स्वरूप नूतन–आचार्यको संबोधन करते हैं कि तुमको अब संघका अनुग्रह इसप्रकार करना चाहिये इत्यादि उस बाल आचार्यको दिशाबोध देना ही दिक् या दिशा कहलाती है अर्थात् नूतन आचार्यको पुराने भूतपूर्व आचार्य जो शिक्षा–उपदेश दिशा बोध देते हैं उसका वर्णन इस "दिशा" नामा बारहवें अधिकारमें होता है, और इसीलिये इसका दिक्-दिशा यह नाम है ॥२८२॥

क्षमण नामका तेरहवां सूत्राधिकार- –

सकल गणको बुलाकर उसमें नूतन आचार्यको स्थापन कर वह भूतपूर्व आचार्य मन वचन कायसे बाल वृद्ध साधु युक्त सघ से क्षमा मांगते हैं ॥२८३॥

हे संघस्थ साधुगण ! इस संघमें दीर्घकालसे रहते हुए ममता, स्नेह और रागके कारण आप लोगोंको जो कुछ अप्रिय कहा है उस कठोर वचनकी मैं क्षमा मांगता हूं ॥२८४॥

अपने आचार्य द्वारा इस तरह क्षमा मांगनेपर संघको क्या करना चाहिये यह बताते हैं—

प्रणम्य पतितः संघस्त्रातारं वत्सलं यतिम् ।
धर्माचार्यं निजं सर्वं सम्यक् क्षमयति त्रिधा ॥२८५॥

स सूत्रार्थ रहस्यज्ञः स्वार्थ निष्ठोऽपि यत्नतः ।
संविग्नश्चिंतयत्येवं गणं धीरो जिनाज्ञया ॥२८६॥

गंभीरां मधुरां स्निग्धां ग्राह्यामानंददायिनीं ।
अनुशिष्टि ददात्येवं स गणस्य गणेशिनः ॥२८७॥

रत्नत्रये विधातव्यं, वर्द्धमानं प्रवर्तनम् ।
कल्पाकल्प प्रवृत्तानां, सर्वेषामागमिष्यति ॥२८८॥

रत्नत्रय धर्म आदिके रक्षक, वात्सल्यको मानो साक्षात् मूर्त्ति हो है ऐसे धर्माचार्य यतिको नमस्कार कर चरणोंमें झुककर समस्त संघस्थ साधुजन अपने सर्व अपराधोंके प्रति भलीप्रकारसे मन वचन काय द्वारा क्षमा मांगते हैं ॥२८५॥

इसप्रकार संघद्वारा क्षमा याचना होनेपर पूर्व आचार्यका कार्य क्या है ? सो बतलाते है—

सूत्रार्थ और रहस्य ग्रन्थके ज्ञाता अर्थात् आगम-सिद्धांतके अर्थ करनेमे निपुण तथा प्रायश्चित्त ग्रन्थके विद्वान् पूर्व आचार्य यद्यपि अब अपना स्वार्थ जो समाधि है उसमें निष्ठ हो चुके हैं तो भी संसारसे भययुक्त धीर ऐसे वे गणकी चिंता करते है और उन्हें संबोधित करते हैं ॥२८६॥

उनका संबोधन अर्थात् उपदेश वचन कैसा रहता है यह बताते हैं—

जो वचन गंभीर अर्थात् सारभूत है, मधुर है, स्नेह भरा है, ग्राह्य है और आनन्ददायक है ऐसे वचन संघ और नूतन आचार्यको कहकर इसतरह शिक्षा देते हैं कि ॥२८७॥

कल्प योग्य अकल्प अयोग्य वस्तुओंमें यथायोग्य प्रवृत्ति करने वाले आप सभी को अब आगामी कालमें अनुष्ठेय ऐसे रत्नत्रय मार्गमें वृद्धिकारक प्रवर्त्तन करना चाहिये जिससे रत्नत्रय बढ़े वैसा करना चाहिये ॥२८८॥

जो नवीन आचार्य हैं उनको शिक्षा वचन कहते है—

संक्षिप्येहावितोऽम्भोधिं गच्छन्तीव महानदी ।
विस्तरन्ती विधातव्या, गुणशील प्रवर्तना ॥२८९॥

मा स्मकार्षी विहारं त्वं, मार्जाररसितोपमम् ।
मा नीनशो गणं स्वं च, कदाचन कथंचन ॥२९०॥

विध्यापयति यो वेश्म, नात्मीयमलसत्वतः ।
परवेश्मशमे तत्र, प्रतीतिः क्रियते कथम् ॥२९१॥

जिसप्रकार नदी उद्गम स्थानमें अल्प प्रमाण उत्पन्न होती है और सागरके तरफ जाती हुई महाप्रमाण होती है उसीप्रकार आपको भी प्रारम्भमें अल्प प्रमाणसे गुण, व्रत, शीलादि धारण कर उत्तरोत्तर उन व्रतादिमें बढ़ती हुई प्रवृत्ति करनी चाहिये अर्थात् अहिंसादि व्रत एवं शील आदि आगे आगे वृद्धिगत हो ऐसा करना चाहिये ॥२८९॥

जैसे मार्जारका शब्द पहले प्रथम बड़ा और अन्तमें अल्प रहता है वैसा तुम कदापि किसी तरह भी आचरण नही करना न संघसे कराना, ऐसा आचरण करके कभी भी अपना और सघका नाश नही करना अर्थात् प्रारम्भमें दुर्धर अति कठोर तप नियममें प्रवृत्ति करना और पीछे मंद आचरण (तप आदिमें प्रवृत्त ही नहीं होना उसमें अश्रद्धा हो जाना इत्यादि) करने लग जाना, ऐसा नही होना चाहिये तथा सर्वथा कठोर तप आदि आचरणसे अपना और सघका नाश नही करना ॥२९०॥

भावार्थ—सर्वदा कठोर आचरण करनेसे अकालमें समाधि या तीव्र रोगादि की संभावना हो जाती है अथवा पहलेसे अति कठोर तपश्चरण करनेसे आगे उनमें शिथिलता आकर वह उग्र चारित्र अंतमें मंद-मंद हो जाता है अथवा श्रद्धा घट जाती है । अत: प्रारम्भमें अल्प तप आदिसे प्रवृत्ति करना चाहिये जिससे आगे आगे श्रद्धा भावना बढ़े ।

जो आलसके कारण जलते हुए अपने घरको ही नहीं बुझाता उसमें कैसे विश्वास करें कि यह व्यक्ति जलते हुए पराये घरको बुझा देगा ! यहाँ भाव यह समझना कि जो साधु अपने व्रतोंको सुरक्षित नहीं रखेगा वह अन्यके व्रतोंको कैसे सुरक्षित रखेगा ? नहीं रख सकता ॥२९१॥

मुंचच्यवनकल्पं त्वं, विरोधं स्वान्यपक्षयोः ।
असमाधिकरं वादं, कषायानग्नि सन्निभान् ।।२९२।।

दर्शने चरणे ज्ञाने, श्रुतसारेषु यस्त्रिषु ।
निधातुं गणमात्मानमसमर्थो गणी न सः ।।२९३।।

दर्शने चरणे ज्ञाने श्रुतसारेषु य स्त्रिषु ।
निधातुं गणमात्मानं शक्तोऽसौगदितो गणी ।।२९४।।

यः पिण्डमुपधिं शय्यां दूषणैरुद्गमादिभिः ।
गृह्णीते रहितां योगी संयतः स निगद्यते ।।२९५।।

समये गणीमर्यादा तेषामाचारचारिणाम् ।
स्वच्छंदेन प्रवर्तेत लोक सौख्यानुसारिणा ।।२९६।।

नवीन ग्राचार्यको समझा रहे हैं कि हे साधो ! व्रतोंसे च्युति करानेवाले अतिचारोंको तुम छोड़ देना । स्वपक्ष और परपक्षमे अर्थात् जैन धर्मी और विधर्मी इनमें विरोध हो ऐसा कार्य नही करना । अग्निके समान अन्तर्बाह्यको जलाने वाली कषायोंको छोड़ो और शांतिका भंग करनेवाला वाद-विवाद छोडो ।।२९२।।

आगममें सारभूत ऐसे सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रमें अपनेको और संघको जो स्थिर नहीं करता, अर्थात् रत्नत्रय धर्ममें स्वपरको स्थापित करनेमे जो असमर्थ है वह आचार्य नहीं है—आचार्य पदके योग्य नहीं है ।।२९३।।

तो फिर कैसा आचार्य होता है ऐसा प्रश्न होनेपर बताते हैं—

श्रुतके सारभूत ऐसे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनोंमे अपनेको और संघको स्थापित करनेमे जो समर्थ है वह आचार्य है—आचार्य पदके योग्य है ।।२९४।।

जो साधु ग्राहार, उपकरण और वसतिको उद्गम आदि छियालीस दोषोंसे रहित ग्रहण करता है जिस आहार आदिमें उक्त दोष होवे तो ग्रहण नही करता वह योगी संयत कहलाता है ।।२९५।।

ज्ञानाचार आदि पंचाचारोंका जो पालन करते हैं उन आचार्योंकी मर्यादा आगममें पूर्वोक्त कही वैसी है, जो लौकिकसुखकी प्राप्ति जैसे हो वैसे स्वच्छन्द-मनचाहा प्रवर्त्तन करता है उसके वह मर्यादा नहीं है अर्थात् लौकिक सुखमें आसक्त मुनि आचार्य पदके योग्य नहीं है ।।२९६।।

ममत्व कुरुते हित्वा यो राज्यं नगरं कुलम् ।
तस्य संयमहीनस्य केवलं लिंगधारणम् ॥२९७॥

एवं संयम शैथिल्येदोषानुद्भाव्य गणिनं गणरक्षायां नियुक्ते—

त्वं कार्येष्वपरिस्रावी समदर्श्यखिलेष्वपि ।
भूत्वा विधानतो रक्ष बालवृद्धाकुलं गणम् । २९८॥
प्रव्रज्य संयमध्वंसि दूराजमपराजकम् ।
न क्षेत्रमात्मनोनेन सेवनीयं कदाचन ॥२९९॥
मावश्यके कृथा जातुप्रमादं वृत्तवर्धके ।
विज्ञाय दुर्लभां बोधिं निःसारेमानुषे भवे ॥३००॥

भावार्थ—जो मुनि स्वयं पंचाचारोंका निर्दोषपालक है, लौकिकसुखमें आसक्त नही है वह आचार्य बन सकता है अन्यथा नही । क्योंकि जो शिथिल आचार वाला है वह अन्य साधुओंको निर्दोष चारित्र पालन नहीं करा सकता । लौकिक सुख—गृहस्थ जैसा यथेष्ट भोजन करना, मृदुशय्या पर शयन, सुन्दर घरमें निवास इत्यादिमें जो आसक्त है वह आचार्य पदके योग्य कदापि नहीं है ।

जो पूर्वमें राज्य, नगर एवं कुलको छोड़कर त्यागकर दीक्षित हुआ है और पुनः उन्हीं नगरादिमें यह मेरा है, इत्यादि रूप ममत्व करता है वह संयमरहित है उसका मुनि बनना तो केवल वेष धारण करना है ॥२९७॥

इसप्रकार पुराने आचार्य नवीन आचार्यको चारित्रमें शिथिल होनेसे लगने-वाले दोषोको दिखाकर उन्हे संघरक्षामें नियुक्त करते हैं—

हे बालाचार्य ! यह गुरु अपरिस्रावो है ऐसा समझकर शिष्यगण तुम्हें अपना अपराध कहे तो उसको प्रगट मत करना । तुम सब कार्योंमें समदर्शी होवो । बालवृद्ध साधुओंसे पूर्ण ऐसे सघको तुम विधान पूर्वक रक्षा करना ॥२९८॥

जिस क्षेत्रमें दीक्षा लेनेवाले न हो, सयमका नाश होता हो जिसमें दुष्ट राजा हो अथवा जो देश राजा रहित हो उस क्षेत्रमे हे आचार्य ! तुम कभी भी नहीं रहना ॥२९९॥

संघस्थ साधुको शिक्षा देते हैं—भो मुनिगण ! चारित्रवर्द्धक ऐसे आवश्यकमें कभी भी प्रमाद नहीं करना, इस निःसार मनुष्य भवमें रत्नत्रय स्वरूप बोधिको दुर्लभ जानकर संयममें जागृत रहना ॥३००॥

संज्ञा गौरव रौद्रार्त ध्यान कोपादि वर्जिताः ।
समिताः पंचभिर्गु प्ता स्त्रिभिर्भवतसर्वदा ।।३०१।।
हृषीकदन्तिनो दुष्टान्विषयारण्यगामिनः ।
जिनवाक्यां कुशेनाशु वशे कुरुत यत्नतः ।।३०२।।
धन्यास्ते मानवा लोके मन्ये ये विषयाकुले ।
विचरंति गतग्रंथाश्चतुरंगे निराकुलाः ।।३०३।।
विनीता गुरुशुश्रूषाकारिणश्चैत्य भक्तयः ।
वत्सला भवतध्याने, स्वाध्यायोद्यत चेतसः ।।३०४।।
मा स्म धर्मधुरं त्याक्षुरभिभूताः परीषहैः ।
दुःसहैः कण्टकैस्तीक्ष्णै, ग्रामेयक वचोमयैः ।।३०५।।

सभी साधुग्रोंको आहार भय मैथुन परिग्रह इन चार संज्ञाओंसे रहित तीन गौरवोंसे एवं आर्त्त रौद्रध्यान तथा क्रोधादिसे रहित होना चाहिये। आप लोगोंको हमेशा ही तीन गुप्तियोंसे गुप्त और पंच समितियों युक्त होना चाहिये ।।३०१।।

हे साधुजन ! आप लोग प्रयत्नपूर्वक इन्द्रिय रूपी दुष्ट हाथी जो कि विषय-रूपी वनमें घूमना चाहते हैं उन्हें जिनेन्द्रके वचनरूपी अकुश द्वारा वशमें करे ।।३०२।।

पंचेन्द्रियोंके रूप शब्द आदि विषयोसे संकुल इस जगत्मे परिग्रहका त्याग करनेवाले साधुजन चार आराधनाओंमे निराकुल होकर प्रवृत्ति करते हैं वे ही मानव धन्य हैं ऐसा मैं मानता हूँ ।।३०३।।

आप सभी साधुजन हमेशा अपनेसे रत्नत्रयधर्म अथवा दीक्षामे बड़े गुरुजनोंकी शुश्रूषा करनेवाले होवो। सदा जिनप्रतिमाओंकी वंदना स्तुति भक्ति नमस्कार आदिमें उद्यत रहो। ध्यानमें अनुराग करो अर्थात् प्रसन्न मनसे ध्यानका अभ्यास करो। स्वाध्यायमें मनको लगाओ ।।३०४।।

भो मुनिगण ! दु सह परोषह द्वारा तीक्ष्ण कण्टक एवं ग्रामीण लोगोंके कठोर वचनों द्वारा पीड़ित होकर घबराकर धर्मधुराको छोड़ नहीं देना ।।३०५।।

आचार्य तपश्चरणके लिये संघको प्रेरित करते है—जो तीर्थंकर प्रभु देवेन्द्र द्वारा गर्भकालसे पूजित होते है। दीक्षा लेते ही जिन्हें चार ज्ञान होते है अर्थात् गर्भसे

धृवसिद्धिश्चतुर्ज्ञानस्तीर्थकृत् त्रिदशार्चितः ।
अनिगुह्य बलं वीर्यमुद्यतः कुरुते तपः ॥३०६॥
मुमुक्षूणां किमन्येषां, दुःखक्षपणकांक्षिणाम् ।
न कर्तव्यं तपो घोरं, प्रत्यवायाकुले जने ॥३०७॥
शक्तितो भक्तितः संघे, वात्सलास्ते चतुर्विधे ।
वैयावृत्यकराः शश्वज्जिनाज्ञानिर्जरार्थिनः ॥३०८॥
उपधीनां निषद्यायाः शय्यायाः प्रतिलेखनम् ।
उपकारोऽन्नभैषज्य मल त्यागादिगोचरः ॥३०९॥
मार्गे चोरापगा राजदुर्भिक्ष मरकादिषु ।
वैयावृत्यं विधातव्यं, सरक्षासंग्रहं सदा ॥३१०॥

मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीन ज्ञान रहते है और संयमके धारते ही चौथा मनःपर्ययज्ञान प्रगट होता है ऐसा महापुरुष भी बल और वीर्य बिना छिपाये तपको उद्यमशील होकर करते हैं ॥३०६॥

तो फिर दु.खोंका क्षय करनेके इच्छुक अन्य मुमुक्षु जनोंको बात ही क्या है ? विघ्नोंसे भरे हुए इस लोकमें सामान्य मुनियोको क्यों तप नहीं करना चाहिये ? अवश्य ही करना चाहिये । अर्थ यह है कि नियमसे जिनको मुक्ति होती है ऐसे तीर्थंकर देव भी जब तप करते हैं तब अन्य मुनिजनोंको तो वह तप अवश्य करने योग्य है ॥३०७॥

बालवृद्ध मुनियोंसे युक्त इस चतुर्विध संघमे हे मुनिराजों ! तुम सदा शक्ति और भक्तिसे वैयावृत्य करनेवाले बनो । यह वैयावृत्य तप निर्जराका कारण है अतः जिनेन्द्र देवको आज्ञाका पालन और कर्म निर्जराकी सिद्धिके लिये आप वात्सल्य युक्त हो सतत वैयावृत्य करना ॥३०८॥

वैयावृत्य करनेकी विधि आदिको बतलाते है—उपधि-पोछी कमंडलु, बैठनेके स्थान आसन आदि, शय्या घास पट्टे इन सबका शोधन करके परस्पर साधुजनोंमें उपकार करना चाहिये । तथा उन मुनिश्वरोंको आहारकी व्यवस्था रोगी मुनिके औषधको व्यवस्था, शौचादि सम्बन्धी व्यवस्था करना वैयावृत्य है ॥३०९॥

विहार करते समय मार्गमें चौर द्वारा, नदीके निमित्तसे, तथा राजा, दुर्भिक्ष इत्यादि कारणोंसे यतियोंको पीड़ा कष्ट होनेपर सदा ही वैयावृत्य करना योग्य है अर्थात् उनकी रक्षा करना उन्हें आश्रय देना चाहिये ॥३१०॥

समर्थो न विधत्ते यो, वैयावृत्यं जिनाज्ञया ।
अप्रच्छाद्य बल वीर्यमतो निर्धर्मक सकः ॥३११॥

आज्ञाकोपो जिनेन्द्राणां, श्रुतधर्मविराधना ।
अनाचारः कृतस्तेन, स्वपरागमवर्जनम् ॥३१२॥

विशेषार्थ—मुनिराजोंके बैठनेके स्थान, उपकरण आदिका शोधन करना, मुनिके योग्य निर्दोष आहार औषधिसे उपकार करना, अशक्त रोगी मुनिका मैल उठाना, साफ करना, धर्मका उपदेश देकर उनके परिणाम धर्ममे स्थिर करना, चलकर आनेपर पैरोंका दबाना, चोरसे, राजासे, नदीसे इत्यादि कारणोंसे उपद्रव आनेपर उन उपद्रवोंको विद्या आदिके बलसे दूर करना । दुर्भिक्ष देशसे मुनिको सुभिक्ष देशमें पहुंचा देना जिससे उन्हे आहारमे बाधा नही आवे । पीड़ित मुनिको आप डरो मत ! हम सब आपके है इत्यादि प्रकारसे सांत्वना देना, सेवा करना, ऐसा उपदेश समाधिके इच्छुक आचार्य संघस्थ साधुओको देते हैं ।

वैयावृत्य नही करनेसे आनेवाले दोष बताते है—

अपने बलवीर्यको न छिपाकर जिनेन्द्रकी आज्ञासे समर्थ होकर भी जो साधु तप नही करता है उससे अन्य कौन अधार्मिक हो सकता है ? ॥३११॥

जो वैयावृत्य नहीं करता उसके इतने दोष प्राप्त होते है—जिनेन्द्रकी आज्ञा का उल्लंघन, श्रुतमें कहे हुए धर्मका नाश, अनाचार और अपना परका और आगमका त्याग ॥३१२॥

विशेषार्थ—वैयावृत्य करना चाहिये ऐसी जिनेन्द्रको आज्ञा है अतः जो वैयावृत्य नही करता है उसको आज्ञा भग नामका दूषण आता है वैयावृत्य करनेवाले नही होगे तो मुनिजन मुनिधर्मका पालन नही कर सकते, इसतरह शास्त्रोक्त धर्मकी विराधना होती है । वैयावृत्य रूप तप आचार बताया है जिसने इस कार्यको नही किया उसके अनाचार दोष भी हुआ । वैयावृत्य नहीं किया जाय तो अपना तप नष्ट हुआ क्योकि वैयावृत्य तप ही है, उसको नही करनेसे संकटग्रस्त रोगी मुनिका त्याग ही हुआ समझना चाहिये । आगममें वैयावृत्य करनेकी आज्ञा है उसको हमने नहीं किया अतः आगमका भी त्याग हुआ इसतरह अनेक दोष वैयावृत्य नहीं करनेसे आया करते हैं ।

गद्यं—गुणपरिणाम, श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, संधान, तपःपूजा, तीर्थाविच्छित्ति, समाधि, जिनाज्ञा, संयम साहाय्य, दान, निर्विचिकित्सा, प्रभावना, संघ-कार्याणि, वैयावृत्यगुणाः ।

दह्यते सकलो लोको, महता मोहवह्निना ।
धग्धगित्येव कुर्वाणो, महावेदनया स्फुटम् ।।३१३।।

तत्र विध्यापिते सद्यो, भूयसा ज्ञानपाथसा ।
मग्ना दमपयोराशौ, सुखायंते तपोधनाः ।।३१४।।

निगृहीतेन्द्रियद्वारैः सर्वचेष्टासमाहितैः ।
धन्यैस्तपः समीरेण धूयन्ते कर्मरेणवः ।।३१५।।

इत्थं गुणपरीणामो, विद्यते यस्य निश्चितः ।
साधूनां भव्यबन्धूनां, वैयावृत्यं तनोतियः ।।३१६।।

वैयावृत्यके अठारह गुण बताते है—गुणपरिणाम, श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्र लाभ, संधान, तप, पूजा, तीर्थ अविच्छित्ति, समाधि, जिनाज्ञा, संयमसहाय, दान, निर्विचित्किसा, प्रभावना और संघकार्य ।

इनमेंसे गुणपरिणामको कहते हैं—

यह सम्पूर्ण विश्व धग् धग् करता हुआ महावेदनासे प्रगट हुई बड़ी भारी मोहरूपी अग्निद्वारा जल रहा है ।।३१३।।

उस मोहरूपी अग्निको विशाल ज्ञानरूपी जल द्वारा तत्काल बुझा देनेपर दम-इन्द्रियदमन रूपी महासागरमें मग्न हुए तपोधन साधु सुखी हो जाते है ।।३१४।।

सब चेष्टाये जिनमें समाहित हैं ऐसे इन्द्रिय द्वारोंको रोकने वाले धन्य पुरुषों द्वारा तपरूपी वायुसे कर्मधूलि उड़ायी जाती है ।।३१५।।

इसप्रकारके गुणके परिणाम उसके नियमसे होते हैं जो भव्यजीवोंके बंधुस्वरूप साधुजनोंकी वैयावृत्य करता है ।।३१६।।

जैसे जैसे रात दिन साधुका गुण परिणाम बढ़ता है वैसे वैसे जिनेन्द्रदेवके शासनमें उत्कृष्ट श्रद्धा वृद्धिगत होती है ।।३१७।।

यथा यथाऽनिशं साधोर्वर्धते गुणवासना ।
जिनेशशासने श्रद्धा, परोदेति तथा तथा ॥३१७॥

विनागुणपरीणामं वैयावृत्यं करोति नो ।
यतस्ततो मुमुक्षूणां, वैयावृत्यं व्यनक्ति सः ॥३१८॥

प्रवृद्धधर्मसंवेगः, श्रद्धया वर्धमानया ।
यतिः करोति वात्सल्यं, लोकद्वयसुखप्रदम् ॥३१९॥

भक्तिरर्हत्सु सिद्धेषु, धर्मसूरिषु साधुषु ।
वैयावृत्यकृतोत्कृष्टा, पूजा भवति सेविता ॥३२०॥

अर्हद्भक्तिः परा यस्य, विभीते भवतो न सः ।
येनावगाहिता गंगा, स किं नश्यति वह्नितः ॥३२१॥

श्रद्धाके बढ़नेपर सम्यक्त्वका वात्सल्य गुण होता है ऐसा कहते हैं—

जिस कारणसे गुणपरिणामके बिना मुमुक्षुओंके वैयावृत्यको नहीं करता उस कारणसे गुणपरिणाम वैयावृत्यको व्यक्त करता है ऐसा समझना चाहिये । बढ़ती हुई श्रद्धाके द्वारा वृद्धिगत हुआ है संवेगभाव जिसके ऐसा साधु इस लोक और परलोकमें सुखदायक ऐसे वात्सल्यको करता है ॥३१८॥३१९॥

भावार्थ—यह विश्व मोह अग्निसे जल रहा है, दुःखी हो रहा है । उसका यह मोह संताप ज्ञानरूप जल द्वारा ही नष्ट हो सकता है इत्यादि रूप परिणाम गुण परिणाम कहलाते हैं ।

भक्ति—

जिसने वैयावृत्य किया है समझना चाहिये कि उसने समस्त अर्हन्त परमेष्ठी, सिद्ध परमेष्ठी तथा साधु परमेष्ठी इन सबमें परमोत्कृष्ट भक्ति की है उनकी पूजा की है ॥३२०॥

जिस पुरुषके उत्कृष्ट जिनेन्द्रप्रभुकी भक्ति विद्यमान है उसको संसारका भय नहीं होता, अथवा जो जिनदेवकी भक्ति करता है उसका संसारभ्रमण नष्ट हो जाता है जिसने गंगानदीमें अवगाहन किया है क्या वह अग्निसंतापसे छूट नहीं जाता ? अवश्य छूटता है ॥३२१॥

संसार भीरुतोत्पन्ना, निःशल्या मंदराचला ।
जिनभक्तिर्दृढा यस्य, नास्तितस्य भवाद्भयं ।।३२२।।
निःकषायो यतिर्दान्तः पात्रभूतो गुणाकरः ।
महाव्रतधरो धीरो, लभते श्रुतसागरम् ।।३२३।।
दर्शनज्ञानचारित्र, संधानं क्रियते यतः ।
रत्नत्रयात्मके मार्गे, स्थाप्येते स्वपरौ ततः ।।३२४।।

जिस पुरुषके संसारके संवेगसे उत्पन्न हुई तथा माया आदि निदानसे रहित मंदर मेरुवत् निश्चल ऐसी अर्हन्तकी दृढ भक्ति मौजूद है उसके संसारभ्रमणके भयका अस्तित्व नहीं है अर्थात् भक्ति करनेवाला सम्यक्त्वी शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ।।३२२।।

पात्र लाभ नामके गुणको कहते हैं—

कषाय रहित इन्द्रियको वश करनेवाला गुणोंका आकर महाव्रतधारी धीर ऐसा मुनि पात्रभूत हुआ श्रुतसागरको प्राप्त करता है ।।३२३।।

भावार्थ—पात्र लाभ एक वैयावृत्यका गुण है इसके दो अर्थ संभव हैं एक तो जो वैयावृत्य करता है वह स्वय पात्रभूत होता है अर्थात् जैसे पात्र अनेक वस्तुओंके रखनेका आधार होता है वैसे ही वैयावृत्य-सेवा करनेवाला कषायोंका शमन, इन्द्रियोंका दमन, धैर्य शास्त्रोंमें पारंगतपना इत्यादि गुणोंका स्वयं पात्र होता है ये गुण उसका आश्रय लेते हैं । दूसरा अर्थ यह है कि जो वैयावृत्य करता है उस साधुको कषायोंका शमन करनेवाला, इन्द्रियोंका दमन करनेवाला महान शास्त्रज्ञानी ऐसा अन्य विशिष्ट साधु प्राप्त होता है । इसप्रकार पात्रलाभ गुणका कथन समझना चाहिये ।

संधान गुण—

जिससे दर्शन ज्ञान चारित्रका संधान किया जाता है रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गमें अपनेको और परको स्थापित किया जाता है उसकारण इस गुणको संधान यह नाम दिया है अर्थात् किसी कारणवश सम्यग्दर्शन आदि छिन्न हुए हों उन्हें पुनः अपने और परके आत्मामें जोड़ा जाता है उसको संधान कहते हैं ।।३२४।।

भावार्थ—संधान जोड़को कहते हैं । जो चीज टूट जाती है उसे किसी उपायसे जोड़ा जाता है यहाँपर रोग आदिसे रत्नत्रयमें शिथिलता आकर वह आत्मासे टूट जाता

वैयावृत्यं तपोऽन्तस्थं, कुर्वतानुत्तरं मुदा ।
वेदनाश्चापदाधारा, भिद्यंते कर्मभूधराः ॥३२५॥

त्रेधा विशुद्धचित्तेन, कालत्रितयवर्तिनः ।
सर्वतीर्थंकृतः सिद्धाः, साधवः संति पूजिताः ॥३२६॥

है तो वैयावृत्य द्वारा रोग दूर कर उस रोगग्रस्त साधुका रत्नत्रय पुनः जोड़ा जाता है अतः वैयावृत्यमे "संधान" नामका गुण निवास करता है ।

तपगुण—

हर्षपूर्वक वैयावृत्य नामके अभ्यन्तर तपको करनेवाले साधुके आपत्तिकी आधारभूत वेदना समाप्त होती है तथा कर्मरूपी पर्वत भी छिन्न भिन्न हो जाते है । अर्थात् रोगजन्य वेदना समाप्त होती है और कर्मोंकी महान् निर्जरा होती है ॥३२५॥

भावार्थ—तपश्चरणसे कर्मनिर्जरा होती है, वैयावृत्य स्वयं एक अंतरंग तप है, इस तपसे दो लाभ हैं एक तो जिसकी वैयावृत्य की उसकी रोग वेदना शात होती है और दूसरा लाभ स्वयंकी कर्मनिर्जरा होती है । अन्य उपवास आदि तपसे तो केवल अपने कर्मोंकी निर्जरारूप एक ही लाभ है किन्तु वैयावृत्य करनेसे स्वका तथा परका लाभ है यह इस गुणका तात्पर्य है ।

पूजागुण—

जिसने वैयावृत्य किया उसने विशुद्ध चित्तसे तीनकालके सभी तीर्थंकर सभी सिद्ध एवं साधु परमेष्ठीकी अर्चना की ऐसा समझना चाहिये ॥३२६॥

भावार्थ—वैयावृत्य करना चाहिये ऐसी तीर्थंकर देव आदिकी आज्ञा है और जो आज्ञाका पालन करना है वही उनकी अर्चना है । यदि आज्ञाका पालन तो न करे और पूजा आरती उतारे तो वह पूजा नही है । लोक व्यवहारमें भी देखा जाता है कि जो व्यक्ति माता-पिता गुरुजनकी आज्ञाका उल्लंघन करता है और केवल नमस्कारादि करता है तो उसे वास्तवमें गुरुजनोंका आदर करनेवाला नहीं मानते हैं । वैसे ही तीर्थंकर प्रभुकी आज्ञाका पालन ही उनकी पूजन है । आज्ञापालनके बिना वह पूजन अर्चन अधूरी है या व्यर्थ है ।

सूरिधारणया संघः, सर्वो भवति धारितः ।
न साधुर्भिविना संघो, भूरुहैरिव काननम् ॥३२७॥

साधुधारणया संघः सर्वो भवति धारितः ।
न साधुर्भिविना संघो भूरुहैरिव काननम् ॥३२८॥

एवं गुणपरीणाम प्रमुखैर्विविधैः परैः ।
प्राप्यते वर्त्तमानेन, समाधिः सिद्धि शर्मणा ॥३२९॥

तीर्थकी अव्युच्छित्ति नामका गुण—

धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति आचार्य आदिके वैयावृत्यसे होती है उसमें आचार्य परमेष्ठी के वैयावृत्यका माहात्म्य बताते हैं—

आचार्यके धारण करनेसे सर्व संघ धारण किया ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि साधुओंके बिना संघ नही होता जैसे वृक्षोंके बिना वन नही होता है ॥३२७॥

भावार्थ—साधु समुदाय संघ कहलाता है और संघका आधार आचार्य है । आचार्यकी वैयावृत्य करनेमे संघका संधारण हो जाता है ऐसा समझना चाहिये ।

उपाध्याय आदि अन्य नव प्रकारके साधुओंके वैयावृत्यका माहात्म्य बतलाते हैं—

साधुजनोंके संधारणसे सर्व संघका संधारण होता है, क्योंकि साधुओंके बिना संघ नही होता जैसे वृक्षोंके बिना वन नहीं होता ॥३२८॥

भावार्थ—"न धर्मो धार्मिकैर्विना" इस सूक्तिके अनुसार रत्नत्रय धर्म आचार्य आदि साधुजनोंके आधारसे रहता है और रत्नत्रयधारी सदा बने रहना उनका अभाव नही होना यही तीर्थकी अव्युच्छित्ति है । आचार्य आदिकी वैयावृत्य-सेवा करनेसे वे रत्नत्रयमें स्थिर होते है और उससे आगे आगे अन्य व्यक्ति भी दीक्षा शिक्षा द्वारा रत्नत्रय धर्म धारण करते जाते हैं उनकी धारा टूटती नहीं । यदि वैयावृत्य न किया जाय तो पुराना साधु सम्यक्त्वादिसे च्युत होगा साथमें नया कोई धर्मधारण नही करेगा । अर्थात् साधु जीवनके कष्ट और कोई सहायक नहीं इत्यादि बातोंको देखकर दूसरा कोई नवीन साधु नहीं बन सकेगा ।

जिनाज्ञा पालिता सर्वा, विजित्य गुणहारिणः ।
कृतं संयमसाहाय्यं कषायेन्द्रियवैरिणः ॥३३०॥

दत्तं सातिशयं दानमचिकित्सा च दर्शिता ।
संघस्य कुर्वता कार्यं, वाक्यं भावयतार्हताम् ॥३३१॥

समाधि गुण—

उपर्युक्त क्रमसे कहे गये गुण परिणाम आदि विविध प्रमुख नव गुणोंके द्वारा सिद्धि सुखमें प्रवर्त्तन रूप समाधि प्राप्त होती है ॥३२९॥

विशेषार्थ—गुण परिणाम, वात्सल्य, श्रद्धा, संधान, भक्ति, पात्र लाभ, तप, पूजा और तीर्थ अव्युच्छित्ति इन नौ गुणोंसे समाधिकी सहज सिद्धि हो जाती है। समाधिका अर्थ एकाग्रता है सिद्धिके सुखमें एकाग्रता अर्थात् मोक्षसुखको प्राप्त करनेमें तत्परता होना यह भी वैयावृत्यका एक गुण है। जो कारणमें आदर किया जाता है वह कार्यके आदरका ही सूचक है। कारणोंका संग्रह करनेसे इष्ट कार्य संपन्न होता है। जैसे घट कार्य करना है तो दण्ड, चक्र, चीवर मिट्टी आदिका संग्रह आवश्यक है वैसे ही गुण परिणाम, श्रद्धा, वात्सल्य आदिका संग्रह मोक्षसुखमें एकाग्रता (केवल मोक्षके सुखमें भाव होना अन्य सुखोंमें नहीं) रूप समाधि या धर्मध्यान शुक्लध्यानरूप समाधिमें कारण हैं। इसप्रकार वैयावृत्य करनेसे समाधिगुण प्राप्त होता है।

जिनाज्ञा गुण तथा संयम साहाय्य गुण—

जो वैयावृत्य करता है वह गुणको नष्ट करनेवाले कषाय और इन्द्रिय रूपी वैरियोंको जीतकर सर्व ही जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका पालन करता है तथा संयममें सहायता करता है ऐसा समझना चाहिये ॥३३०॥

भावार्थ—वैयावृत्य करनेवाला जिनाज्ञाका पालक इसलिये है कि जिनदेवकी आज्ञा है कि साधु परस्परमें सेवा वैयावृत्य करे। तथा जिसकी वैयावृत्य की उस मुनिके संयमकी रक्षा होती है अतः संयम सहाय्य गुण प्रगट होता है।

दान, निर्विचिकित्सा, प्रभावना और संघकार्य नामके शेष गुण एक ही कारिका द्वारा कहते हैं—

एवं गुणाकरी भूतं, वैयावृत्यं करोति यः ।
लभते तीर्थकृन्नाम, त्रैलोक्यक्षोभकारणम् ।।३३२।।

लभमानो गुणानेवं वैयावृत्यपरायणः ।
स्वस्थः संपद्यते साधुः स्वाध्यायोद्यतमानसः ।।३३३।।

जो वैयावृत्य करता है वह सातिशय दान देता है उसके निर्विचिकित्सा होती है, प्रभावना होती है । अर्हन्तदेवके वाक्यको हृदयमें भावना करता हुआ संघका कार्य करता है, अर्थात् सघ सम्बन्धी सब कार्य उसने किये जिसने कि वैयावृत्य की ।।३३१।।

भावार्थ—रत्नत्रयका दान सर्वश्रेष्ठ दान कहलाता है । रुग्ण साधुका वैयावृत्य करनेसे वह रत्नत्रयमे स्थिर होता है अतः वैयावृत्य करनेवाला दान देनेवाला है । रुग्ण साधुकी सेवा करते समय उसके शरीरका मल दूर करना, फोड़ा फुंसी आदि हुए हों उसकी सफाई करना इत्यादि क्रिया ग्लानि दूर किये बिना संभव नहीं अतः जो वैयावृत्य करता है वह निर्विचिकित्साको प्राप्त होता है । संघका प्रमुख कार्य साधुजनों का धर्मपालन है और वह वैयावृत्य करनेसे होता है अतः संघ कार्य नामका गुण भी इसीसे प्राप्त होता है ।

इसप्रकार संपूर्ण गुणोंकी खान स्वरूप वैयावृत्यको जो साधु करता है वह तीन लोकमें क्षोभ करनेवाले तीर्थंकर नाम कर्मको प्राप्त करता है अर्थात् उसके तीर्थकर प्रकृतिका बंध होता है जिससे तीसरे भवमें तीर्थंकर बन धर्म तीर्थका दिव्य देशना द्वारा प्रवर्त्तन करता है ।।३३२।।

जो वैयावृत्य करता है वह उपर्युक्त अठारह गुणोंको प्राप्त करता है और जो केवल स्वाध्यायमें उद्यमशील है वह मात्र अपना कार्य करता है ।।३३३।।

भावार्थ—वैयावृत्य करनेसे भक्ति, वात्सल्य, सवेग आदि गुण इसलिये प्राप्त होते हैं कि अन्य संघस्थ साधु समुदाय रत्नत्रय धारण प्रतिपालन उसका संवर्द्धन आदि में समर्थ तब होता है जब उसे पीड़ा कष्ट न हो । पीड़ाको दूर करनेसे सब सहज हो जाता है । जो केवल अपना ही स्वाध्याय आदि कार्य करता है उस साधुके अठारह गुण प्राप्त नहीं होते । तथा उस साधुके ऊपर जब आपत्ति आयेगी तब वैयावृत्य करने-

त्याज्याऽऽर्यासंगति, गंरवद्वह्निज्वालेव तापिका ।
दुर्नीतेरिव निद्यायाः, दुष्कीर्ति लभते ततः ।।३३४।।

स्थविरस्य प्रमाणस्य, शास्त्रज्ञस्य तपस्विनः ।
आर्यिकासंगतेः साधोरपवादोदुरुत्तरः ।।३३५।।

न किं यूनोऽल्पविद्यस्य, मंदं विदधतस्तपः ।
कुर्वाणस्यार्यिका संगं, जायते जनजल्पनम् ।।३३६।।

वालेका मुख देखना पड़ेगा तथा कहना पड़ेगा कि मेरी अमुक विपत्ति दूर करो । पर की वैयावृत्यमें परायण साधुके तो सभी स्वतः सेवा वैयावृत्य करनेमें तत्पर हो जाते है ।

आर्याजन सगति त्याग वर्णन—

साधुजनोंको आर्यिकाकी संगति छोड़ देनी चाहिये, यह आर्यिकाकी संगति विषके समान प्राण नाशक है, अग्निके ज्वाला समान संतापकारी है । दुर्नीति अर्थात् अन्यायसे और निंदासे जैसे अपयश होता है वैसे ही आर्यिकाकी संगति करनेसे मुनि-जनोंके अपयश होता है ।।३३४।।

विशेषार्थ—जो साधु आर्यिकाके साथ सहवास करता है उनका अनुसरण करता है वह अवश्यमेव लोक निन्दित होता है । पाप और अपकीर्तिसे तो असंयमी और मिथ्यादृष्टि भी डरते है फिर मुनियोंका क्या कहना ? वे सब योग्यायोग्य जानते हैं अतः उन्हें आर्यिकाका संग सर्वथा त्याज्य है ।

जो साधु स्थविर (वृद्ध) है, प्रमाणभूत है, शास्त्रज्ञ और तपस्वी है तो भी आर्यिकाकी संगतिसे दुस्तर अपवादको प्राप्त होता है ।।३३५।।

जब वृद्ध शास्त्रज्ञ आदि गुण विशिष्ट साधुकी यह बात है तो फिर जो युवा है अल्प बुद्धिवाला एवं तपस्वी नहीं है ऐसा साधु आर्यिकाकी संगति करता है उसके अपवाद-अपयश क्या नहीं होगा ? अवश्य होगा ।।३३६।।

आर्यिकाका मानस परिणाम यतिके संगतिसे शीघ्र नष्ट हो जाता है । ठीक ही है । देखो ! घृतको अग्निके समीप रखनेपर क्या वह काठिन्यपनेको नहीं छोड़ता

आर्यिका मानसं साधो, यतिसंगे विनश्यति ।
सर्पिर्वन्हेः समीपे हि, काठिन्यं किं न मुंचति ।।३३७।।

स्वयं साधोः स्थिरत्वेऽपि, संसर्गप्राप्तधृष्टता ।
क्षिप्रं विभावसोः संगे, सा लाक्षेव विलीयते ।।३३८।।

अविश्वस्तोऽगनावर्गे, सर्वत्राप्यप्रमादकः ।
ब्रह्मचर्यं यतिः शक्तो, रक्षितुं न परः पुनः ।।३३९।।

विमुक्तःसर्वतो जातः, सर्वत्र स्ववशो यतिः ।
आर्यिकानुचरीभूतो जायतेन्यवशः पुनः ।।३४०।।

आर्यिकावचने योगी, वर्तमानो दुरुत्तरे ।
शक्तो मोचयितुं न स्वयं, श्लेष्ममग्नेवमक्षिका ।।३४१।।

है ? छोड़ता ही है । अर्थात् जमा हुआ कठोर घृत अग्निके समीप पिघल जाता है वैसे आर्यिका का मानस साधु के समीप पिघल जाता है, विकृत हो जाता है ।।३३७।।

साधु स्वय कितना भी स्थिर क्यो न हो किन्तु वह आर्यासंगसे धृष्टता को प्राप्त कर शीघ्र ही चंचल हो उठता है जैसे कि अग्नि के संग से लाख शीघ्र विलीन हो जाती है ।।३३८।।

जो साधु सब प्रकार की महिलायें–बालिका, युवती, वृद्धा, कुरूपा, सुरूपा में अप्रमादी रहता है सदा सावधान रहता है, इनमे विश्वास नही करता है, संगति नहीं करता वही अपने ब्रह्मचर्यकी रक्षा करता है अन्य नही । अर्थात् स्त्री समाजमें विश्वास करनेवाला कभी भी ब्रह्मचर्य की सुरक्षा नही कर सकता ।।३३९।।

जो सपूर्ण धन धान्यादि परिग्रहोंसे रहित स्ववश हुआ मुनि है वह आर्यिका का अनुसरण करके पुनः अन्यके वश अर्थात् स्त्री, धन आदि परिग्रहके वश हो जाता है ।।३४०।।

जिसका पार पाना कठिन है ऐसे आर्यिकाके वचनको जो साधु मानता है उसकी बात स्वीकार करता है वह उससे अब अपना छुटकारा नही पा सकता जैसे

नार्या बन्धेन बन्धोऽन्यस्तुल्यो वृत्तच्छिदा यतेः ।
वज्रलेपः स नो तुल्यो, यो याति सह चर्मणा ।।३४२।।

ब्रह्मव्रतं मुमुक्षूणां, स्त्रीसंसर्गेण निश्चितम् ।
मंडूकः पन्नगेनेव भीषणेन विनाश्यते ।।३४३।।

चौराणामिव सांगत्यं, पुंसा सर्वस्व हारिणां ।
योगिना योषितां त्याज्यं, ब्रह्मचर्य प्रपालिना ।।३४४।।

इत्यार्यासंग त्यागः ।

कफ में पड़ी मक्खी उससे निकल नही सकती। वैसे ही आर्यामे परिचय करके उसके स्नेह से छूटना शक्य नही है ।।३४१।।

साधु के आचरणका नाश करनेवाला ऐसा आर्यिका का बंधन संबंध अन्य बंधन के समान नही है । जो चर्मके साथ एकमेक हो गया है ऐसा वज्रलेप भी उस बंधन की तुलना में कमजोर है । वह बंधन तो टूट सकता है किन्तु आर्या बंधन टूटता नही ।।३४२।।

भावार्थ—साधु के लिये आर्यिका का सहवास ऐसा बंधन है उसका वर्णन करनेके लिये जगत् में दृश्यमान कोई भी बधन उपमा रूप नही हो सकता, चर्म के साथ वज्रलेप भी उसके लिये उपमान नही, यह बंधन छूट सकता है परन्तु आर्यिका का परिचय ऐसा बंधन है कि उससे छुटकारा पाना अशक्य है ।

मुमुक्षु यतियोका ब्रह्मचर्य स्त्री ससर्ग द्वारा निश्चित ही विनष्ट हो जाता है, जैसे भीषण सर्प द्वारा मेढक नष्ट होता है ।।३४३।।

अतः साधुओं को ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये सर्वथा स्त्रियो का सम्पर्क त्याज्य बताया है, जैसे सर्वस्व लूटने वाले चोरोका सम्पर्क पुरुषो को सदा त्याज्य है । अभिप्राय यह है कि जो अपने ब्रह्मचर्य को सुरक्षित करना चाहते है उन साधु पुरुषों को बाल, वृद्ध, युवा, आर्यिका, श्राविका, गृहिणी इत्यादि हर प्रकार की स्त्री समुदाय का संसर्ग त्याग देना चाहिये, उनसे वार्त्तालाप, निवास, प्रतिक्रमण, चर्चा आदि सर्व क्रिया सर्वथा त्याग करने योग्य है ।।३४४।।

यद्यदन्यदपि द्रव्यं, किंचिद्बंधनकारणम् ।
ततस्त्रिधा निराकृत्य यतध्वं दृढसंयमाः ।।३४५।।

पार्श्वस्थासन्नसंसक्त कुशीलमृगचारिणः ।
मलिनीक्रियते शश्वत्कज्जलेनेव संगतम् ।।३४६।।

कषायाकुलचित्तानां पार्श्वस्थानां दुरात्मनां ।
भुजंगानामिव त्याज्यः, संगश्छिद्रगवेषिणाम् ।।३४७।।

आर्या संग के समान अन्य जो कोई द्रव्य, क्षेत्र, पदार्थ स्नेह बंधन का एवं कर्म बधन का कारण है वह सर्व ही मन वचन और कायसे छोड़कर संयममें दृढ चित्त मुनियों को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये अर्थात् संयम शीलव्रत आदिकी दृढ़ता स्थिरता तभी होगी जब स्नेह मोह और विकार कारक स्त्री आदि का संपर्क सर्वथा छोड़ दिया जायगा ।।३४५।।

पार्श्वस्थ आदि भ्रष्ट मुनियोंके संसर्ग का त्याग—

भ्रष्ट मुनियोंके पांच भेद है—पार्श्वस्थ, आसन्न, संसक्त, कुशील और मृग-चारी । इनकी संगति सदा ही चारित्र आदि को मलिन करने वाली होती है ।।३४६।।

भावार्थ—इन पांच मुनियोंका स्वरूप संक्षेपसे इसप्रकार है—मिथ्यामत जिसे इष्ट लगता है वह पार्श्वस्थ है, चारित्र में सर्वथा शिथिल अवसन्न या आसन्न है, अयोग्य अशिष्ट कार्य में प्रवृत्त मुनि संसक्त कहलाता है, स्वच्छन्द मनमानी प्रवृत्ति करनेवाला मृगचरित और प्रकट ही है कुशील जिसका ऐसा कुशील होता है । ये बाहर में केवल मुनिवेष में होते है किन्तु इनका आचरण मुनि जैसा नहीं होता ।

कषायसे आकुलित चित्तवाले, दुष्ट, जो सदा छिद्र—परदोषको ढूंढते रहते हैं ऐसे पार्श्वस्थ मुनियोका साथ छोड़ने योग्य है, जैसे सर्पों का साथ छोड़ने योग्य है । ।।३४७।।

लज्जां जुगुप्सनं योगी, प्रारम्भं निर्विशंकताम् ।
आरोहन् प्रियधर्मापि क्रमेणेत्यस्ति तन्मयः ॥३४८॥

तेषु संसर्गतः प्रीतिर्विस्रम्भः परमस्ततः ।
ततो रतिस्ततो व्यक्तं संविग्नोऽप्यस्ति तन्मयः ॥३४९॥

शुभाशुभेन गंधेन, मृत्तिका यदि वास्यते ।
तदा नान्यगुणैरत्र, कथ्यतां पुरुषः कथम् ॥३५०॥

जो मुनि पार्श्वस्थ मुनिका संग करता है उसे प्रारम्भ मे तो लज्जा और जुगुप्सा होती है किन्तु पीछे संगतिके कारण निर्विशंक होकर क्रम से उस पार्श्वस्थ मुनि-रूप हो जाता है जो कि पहले धर्म में प्रगाढ प्रीति करने वाला था ॥३४८॥

विशेषार्थ—प्रथम तो पार्श्वस्थ आदि भ्रष्ट मुनियों के साथ रहने में लज्जा और जुगुप्सा आती है, अर्थात् इस मुनिके साथ रहकर मैं अपने व्रत कैसे नष्ट करूं ! व्रतभग संसार भ्रमणका कारण है इत्यादि रूप लज्जा आती है किन्तु पीछे चारित्र मोहका उदय के वश हुआ व्रतभंग कर आरम्भ आदि मे प्रवृत्त होता है। यद्यपि यह मुनि पार्श्वस्थादिके सहवासके पूर्व दृढ़ चरित्र वाला था तो भी उक्त संसर्ग से पार्श्वस्थ जैसा बन जाता है।

पार्श्वस्थादिके साथ संगति होनेपर वास्तविक मुनिके भी उनके प्रति प्रेम होता है फिर उस भ्रष्टोमें विश्वास, उससे रति और अन्तमें स्वयं वैसा भ्रष्ट हो जाता है। जो कि पहले संवेग-वैराग्य सम्पन्न था। अर्थात् पार्श्वस्थ का संग करके मनसे भ्रष्ट होकर अन्तमें वचन तथा कायसे भी भ्रष्ट हो जाता है ॥३४९॥

यदि शुभ और अशुभ गंध द्वारा मिट्टी भी वासित की जाती है अर्थात् सुगंधित पदार्थ के साथ मिट्टी रखो तो सुगंधित और दुर्गंधित पदार्थ के साथ रखो तो दुर्गन्धित हो जाती है, अन्य वस्तुके गुणोसे इसप्रकार जड़ में भी परिवर्तन आता है तो पुरुष-चेतन आत्मामें कैसे नही आयेगा ? अवश्य आयेगा ॥३५०॥

शिष्टोऽपि दुष्टसंगेन विजहाति निजं गुणं ।
नीरं किं नाग्नियोगेन, शीतलत्वं विमुंचति ।।३५१।।

लाघवं दुष्टसंगेन, शिष्टोऽपि प्रतिपद्यते ।
किं न रत्नमयी माला, स्वल्पार्घाशवसंगता ।।३५२।।

संयतोऽपि जनैर्दुष्टो दुष्टानामिह संगतः ।
क्षीरपा ब्राह्मणः शोण्डः शोण्डानामिव शंक्यते ।।३५३।।

परदोषपरीवादग्राही लोकोयतोऽखिलः ।
अपवादपदं दोषं मुंचध्वं सर्वदा ततः ।।३५४।।

दुर्जनेन कृते दोषे, दोषमाप्नोति सज्जनः ।
कादम्बः कौशिकेनेव, दोषिकेणापदूषणः ।।३५५।।

शिष्ट पुरुष भी दुष्ट सङ्गति से निजगुण को छोड़ देता है। क्या अग्नि के संसर्गसे जल निज शीतलत्व गुणको नही छोड़ता है ? छोड़ता ही है ।।३५१।।

दुष्टके सम्पर्कसे शिष्ट पुरुष भी लघुता को प्राप्त होता है। क्या रत्न निर्मित माला भी शव के संसर्ग से अल्प मूल्य वाली नही होती ? होती ही है ।।३५२।।

सयमी मुनि भी दुष्टोंके संगतिमें आया हुआ, लोगोसे दुष्ट हो माना जाता है जैसे कि दुग्ध पीनेवाले ब्राह्मण मद्य पायीके सम्पर्कसे मद्यपायी रूप शकित किये जाते हैं। अर्थात् ब्राह्मण यदि शराबोके निकट दूध भी पोवे तो इसने शराब पी है इसप्रकार लोग उसपर शका करने लग जाते है, वैसे हो पार्श्वस्थके साथ रहा संयमी भी पार्श्वस्थ माना जाता है ।।३५३।।

हे यतिगण ! यह सम्पूर्ण लोक परके दोष को कहनेमें सदा ही उत्सुक रहता है, अतः अपवाद का स्थान ऐसा दोष तुम लोग सर्वथा छोड़ देना ।।३५४।।

दुर्जन द्वारा दोष किया जानेपर वह सज्जन को प्राप्त होता है अर्थात् दोष दुर्जन करता है और सज्जन ने यह दोष किया ऐसा लोग समझते हैं। जैसे दोषी उल्लू के द्वारा किया गया दोष निर्दोष हंसपक्षी पर आ पड़ता है ।।३५५।।

दुर्जनस्यापराधेन, पीडयन्ते सज्जना जने ।
अपराधपराचीनाः पृदाकोरिव डुंडुभाः ॥३५६॥

घूक-हंसकथा—

पाटलीपुत्र नगरीके गोपुर द्वार पर ऊपरी भागमें एक घूक (उल्लू) रहता था । एक दिन वह पक्षी उड़कर हंस के पास चला गया, दोनों की मित्रता हो गयी । हंस उस घूक को बहुत बड़ा श्रेष्ठ पक्षी मानता था अतः किसो दिन उसके साथ उक्त गोपुर द्वार के स्थान में आकर बैठ गया । उस समय नगर के राजा प्रजापाल दिग् विजय करने के लिये चतुरंग सेना को लेकर उस गोपुर द्वार से निकल रहा था । उल्लू ने राजा के दक्षिण भाग मे जाकर विरल शब्द किया जिससे राजा को क्रोध आया कि हम युद्ध के लिये प्रस्थान कर रहे हैं और यह दुष्ट पक्षो अपशकुन करता है उसने धनुष बाण लेकर निशाना बांधा किन्तु घूक बहुत चालाक था वह शीघ्र वहांसे उड़कर भाग गया बेचारे निर्दोष हंस को वह बाण लग गया और वह घायल होकर तत्काल मर गया ।

इसप्रकार नीच की संगति करने से निरपराधी हंस का प्राण नाश हुआ, उसे अकारण ही असमयमे मरना पड़ा अतः दुष्ट की सगति कभी नही करना चाहिये ।

कथा समाप्त ।

दुर्जन के अपराध से सज्जन पुरुष लोक में पोडा को प्राप्त होते है, जैसे अपराध रहित डुडुभ-विष रहित बड़ा सर्प पृदाकु-छोटे विषैले सर्पके काटने रूप अपराध से पोड़ा को प्राप्त होता है । भावार्थ यह है कि अपराध तो करता है दुर्जन और उसके संगति में आया हुआ सज्जन पुरुष है उसे उस अपराध का दण्ड भोगना पड़ता है क्योंकि दुर्जन तो अपराध करके भाग जाता है, छिप जाता है, झूठ बोलकर अपना बचाव कर लेता है । और सज्जन को इसने ही अपराध किया है ऐसा समझकर लोग दण्डित कर देते हैं । जैसे एक होता छोटा किन्तु जहरीला सर्प, और एक होता है निर्विष सर्प । विषैला छोटा सर्प किसीको काटकर कहीं छिप जाता है और लोग बड़े निर्विष सर्प को इसने ही काटा है ऐसा समझकर उसे मारते है ॥३५६॥

असंयतेन चारित्रं, संयतस्यापि लुप्यते ।
संगतेन समृद्धस्य, सर्वस्वमिव दस्युना ।।३५७।।

दुष्टानां रमते मध्ये, दुष्टसंगेन वासितः ।
विदूरीकृत वैराग्यो, न शिष्टानां कदाचन ।।३५८।।

दुष्टोऽपि मुंचते दोषं, स्वकीयं शिष्टसंगतः ।
किं मेरुमाश्रितः काको, न धत्ते कनकच्छविम् ।।३५६।।

पूजां सज्जनसंगेन, दुर्जनोपि प्रपद्यते ।
देवशेषाविगंधापि, क्रियते किं न मस्तके ।।३६०।।

असंयत पुरुष द्वारा संयमीजन का भी चारित्र लुप्त हो जाता है, जैसे कि समृद्धिशालो पुरुष का सर्वस्व-धन सपर्क मे आये हुए चोर द्वारा लूट लिया जाता है ।।३५७।।

दुष्ट संगति से वासित हुआ व्यक्ति अब दुष्टों की गोष्ठी में रमता है जिसने कि अपने वैराग्य भाव को दूर कर दिया है–छोड़ दिया है । दुष्ट के सगति मे आया पुरुष शिष्टो की गोष्ठो में कभो नही रमता ।।३५८।।

भावार्थ—दुर्जन को सगति से दुष्ट बना हुआ मनुष्य सज्जन मनुष्योंमें रहना–उनका सगति करना पसद नही करता है, वह तो वैराग्य को छोड़कर दुर्जनों के मध्यमें बड़े आनंदसे रहने लग जाता है ।

यहा तक दुर्जनकी सगतिमें आनेसे होनेवाले दोष बतलाये, अब आगे सज्जनका आश्रय लेनेसे उनको संगति करनेसे गुण आते है ऐसा बताते हैं—

जिसने सज्जनकी संगति की है ऐसा दुष्ट पुरुष भी अपने दोषको छोड़ देता है, क्या मेरु का आश्रय लेनेवाला काक कनककान्तिको नहीं प्राप्त करता ? अवश्य करता है ।।३५९।।

सज्जनके संगसे दुर्जन भी पूजा-आदरको प्राप्त कर लेता है । देवके शेषा स्वरूप माला गंधरहित होनेपर भी क्या मस्तकपर धारण नहीं की जाती ? अवश्य की जाती है ।।३६०।।

कातरोऽप्रियधर्मापि, व्यक्तं संविग्नमध्यगः ।
भीत्रपा भावनामानै, श्चारित्रे यतते यतिः ।।३६१।।
संविग्नः परमां कोटिं, साधुः संविग्नमध्यगः ।
गंधयुक्तिरिवायाति, सुरभिद्रव्यकल्पिताम् ।।३६२।।
एकोऽपि संयतो योगी, वरं पार्श्वस्थलक्षतः ।
सगमेन तदोयेन, चतुरंगं विवर्धते ।।३६३।।
वरं संयततः प्राप्ता, निदा संयमसाधनी ।
न त्व संयततः पूजा, शीलसंयमनाशिनी ।।३६४।।

कोई साधु धर्ममे रुचि नही करता किन्तु संयमीके मध्यमे रहने पर संयममें प्रयत्नशील होता है ऐसा कहते है—

सयमी जनोके—वैराग्यशील पुरुषोके मध्यमे रहा हुआ कातर एवं धर्मको अप्रिय माननेवाला भी यति भय, लज्जा भावना द्वारा चारित्रमे व्यक्त रूपसे प्रयत्नशील होता है ।।३६१।।

भावार्थ—किसी मुनिके रत्नत्रयमे रुचि नही रहती, बाहर ख्याति आदिमें रुचि रहती है किन्तु वह मुनि भी वैराग्यशील संयमी साधुके साथ रहने पर विचार करता है कि अहो ! यह मुनि धन्य है अपने चारित्रमे कितना उद्यमशील है इत्यादि इसतरह का विचार आनेसे तथा अपने निम्न आचरणकी लज्जा एव भय आनेसे स्वय चारित्रमें दृढ़ हो जाता है अत मुनि को चाहिये कि वह वैराग्यशील उत्तम चारित्र वाले मुनिकी संगति करे ।

संवेग सपन्न मुनियोंके मध्यमें निवास करनेवाला साधु उत्कृष्ट परम कोटिके वैराग्यको प्राप्त कर लेता है । जैसे सुगंधित द्रव्यके निकट रखी हुई वस्तु सुगंधीको प्राप्त होती है–सुगंधित बन जाती है ।।३६२।।

लाखों पार्श्वस्थ मुनियोकी अपेक्षा एक ही सयमी मुनि श्रेष्ठ माना गया है । उस एक के संगति से चतुरंग–सम्यक्त्व आदि चार आराधना वृद्धिको प्राप्त होती है ।।३६३।।

संयमी जनसे संयमको साधनेवाली निन्दा प्राप्त होना श्रेष्ठ है किन्तु असंयमी-जनसे शील-संयमका नाश करनेवाली प्रशंसा श्रेष्ठ नहीं है ।।३६४।।

गुणदोषौ प्रजायेते, संसर्गवशतो यतः ।
संसर्गः पावनः कार्यो, विमुच्यापावनं ततः ।।३६५।।

वाच्यो गणस्थितः पथ्यमनभीष्टमपि स्फुटम् ।
तत्तस्य कटुकं पाके, भैषज्यमिव सौख्यदम् ।।३६६।।

स्वान्तानिष्टमपि ग्राह्यं पथ्यं बुद्धिमता वचः ।
हठतः किं न बालस्य, दीयमानं घृतं हितं ।।३६७।।

।। इति दुर्जन संग वर्जनम् ।।

मा छेदयन्तु स्वयशो, मा कार्षुः स्वं प्रशंसनम् ।
लघवः स्वं प्रशंसन्तो, जायन्ते हि तृणादपि ।।३६८।।

स्वस्तवेन गुणा यांति, कांजिकेनैव सीधुनि ।
स दोषः परमस्तेषां, कोपः संयमिनामिव ।।३६९।।

गुण और दोष संसर्गके निमित्त से आया करते हैं इसलिये अपवित्र–दुष्टका संसर्ग त्याग करके पवित्र–सज्जनका संसर्ग करना चाहिये ।।३६५।।

संघस्थ साधुओंको संघमें रहकर हमेशा पथ्यकारी वचन बोलना चाहिये भले ही वह इष्ट नहीं लगता हो क्योंकि जैसे कड़वी औषधि आगामीकालमें सुखप्रद होती है वैसे ही हित और पथ्यभूत वचन तत्काल कडुवा लगने पर भी उसका विपाक मधुर सुखदायक होता है । अतः साधुजन परस्परमें वचन व्यवहार करें वह आत्महितकारी करे ।।३६६।।

जो वचन मन को भले ही अच्छा नहीं लगता हो किन्तु पथ्यकारी हो उसको बुद्धिमान को अवश्य ग्रहण करना चाहिये, क्या बालक को जबरदस्ती घी देनेपर हितकारी नहीं होता ? अवश्य होता है ।।३६७।।

हे साधुजन ! तुम अपने यश को छिन्न भिन्न नहीं करना, अपनी प्रशंसा मत करना । क्योंकि जो व्यक्ति अपने मुख से अपनी प्रशंसा करता है वह तृण से भी अति लघु-हीन हो जाता है ।।३६८।।

जैसे मदिरा का उन्माद कांजी के पीने से नष्ट हो जाता है वैसे ही अपनी प्रशंसा करने से गुण नष्ट हो जाते है । जिस तरह संयमी के क्रोध आना बड़ा दोष है उसीतरह अपनी प्रशंसा करना बड़ा दोष है ।।३६९।।

अनुक्तोऽपि गुणो लोके विद्यमानः प्रकाशते ।
प्रकटीक्रियते केन विवस्वानुदितो जनैः ॥३७०॥

कथ्यमाना गुणा वाचा, नासंतः संति देहिनः ।
षण्डका न हि जायन्ते, योषा वाक्यशतैरपि ॥३७१॥

विद्यमानं गुणं स्वस्य, कीर्त्यमानं निशम्य यः ।
महात्मा लज्जते चित्ते, भाषते स कथं स्वयं ॥३७२॥

निर्गुणोपि सतां मध्ये, सगुणोऽस्ति स्वमस्तुवन् ।
न श्लाघते यदात्मानं, गुणस्तस्य स एव हि ॥३७३॥

अपने गुण नही कहने पर भी विद्यमान रहते हैं । देखो ! सूर्य उदित हुआ है ऐसा किन लोगों द्वारा प्रकट किया जाता है ? अर्थात् जैसे सूर्य उदित हुआ ऐसा नही कहने पर भी वह प्रसिद्ध होता है वैसे ही अपने गुण नही कहनेपर भी वे स्वतः प्रसिद्धि पाते हैं ॥३७०॥

जो गुण असत् हैं अपनेमें नही हैं उनको वचन द्वारा कहने मात्र से कोई सत्रूप नही हो जाते है, कोई नपुंसक है तो उसको सैकड़ों वचनों द्वारा यह स्त्री है यह स्त्री है ऐसा कहने से वह स्त्री नहीं बन जाता, वह तो नपुंसक का नपुंसक ही रहता है ॥३७१॥

जो महान होता है वह अपने मौजूद वास्तविक गुण को कोई कह देवे तो मन में लज्जित होता है ऐसा व्यक्ति स्वय अपने मुख से उसको कैसे कह सकता है ? नहीं कह सकता ॥३७२॥

यदि कोई पुरुष गुणवान नहीं है निर्गुण है किन्तु सज्जनों के मध्य में अपनी स्तुति-प्रशंसा नही करता तो वह गुणवान माना जाता है । उसका तो यही गुण है कि अपनी स्तुति नहीं करना ॥३७३॥

अपने गुणों को अपने वचन से कहना गुणों का नाश करना है, और गुणों को अपने में धारण करना उनका प्रकाशन है । मतलब यह है कि व्यर्थ अपनी प्रशंसा

गुणानां नाशनं वाचा, क्रियमाणं निवेदनम् ।
प्रकाशनं पुनस्तेषां, चेष्टयास्ति निवेदनम् ।।३७४।।

अजल्पन्तो गुणान् वाण्या, जल्पन्तश्चेष्टया पुनः ।
भवन्ति पुरुषाः पुंसां, गुणिनामुपरि स्फुटम् ।।३७५।।

निर्गुणो गुणिनां मध्ये, ब्रुवाणः स्वगुणं नरः ।
सगुणोप्यस्ति वाक्येन, निर्गुणानामिव ब्रुवन् ।।३७६।।

सगुणो गुणिनां मध्ये, शोभते चरितैर्गुणं ।
ब्रुवाणो वचनैः स्वस्य, निर्गुणानामिवागुणः ।।३७७।।

यूयमासादनां कृध्वं, मा जातु परमेष्ठिनां ।
दुरन्ता संसृतिर्जन्तो, र्जायते कुर्वतो हि तां ।।३७८।।

करने से कोई गुणवान नही होता गुणों का अनुष्ठान करने से गुणवान होता है ।।३७४।।

जो गुणों को वाणी से नहीं बोलता, किन्तु क्रिया से बोलता है अर्थात् गुणवान का कार्य करता है ऐसे पुरुष गुणी पुरुषों के भी ऊपर हो जाते हैं अर्थात् गुणवान में श्रेष्ठ माने जाते हैं ।।३७५।।

गुणीजनों के मध्य में अपने गुण को कहनेवाला पुरुष निर्गुण बन जाता है । गुणवान पुरुष है और वह निर्गुणी के समान वचन से गुण को कहता फिरता है वह सगुण होकर भी निर्गुण जैसा है ।।३७६।।

गुणीजनों के मध्य में गुण को आचरण द्वारा प्रगट करता हुआ गुणी साधु पुरुष शोभा को प्राप्त होता है, निर्गुणी पुरुषों के समान जो अपने गुण कहता है वह गुण रहित माना जाता है ।।३७७।।

हे यतिजनो ! आप लोग कभी भी पंच-परमेष्ठियोंकी आसादना नहीं करना । क्योंकि उस आसादना को करनेवाला जीव दुरन्त संसारी बन जाता है, अर्थात् उसके संसार का जल्दी अन्त-किनारा नहीं आ पाता ।।३७८।।

त्यजतासंयमं त्रेधा, मुक्तिलक्ष्मीं जिघृक्षवः ।
सा दूरीक्रियते तेन, व्याधिनेव सुखासिका ॥३७६॥

मा ग्रहीषुः परीवादं, स्वसंघपरसंघयोः ।
संसारो वर्धतेऽनेन, सलिलेनेव पादपः ॥३८०॥

शोकद्वेषासुखायासवैरदौर्भाग्य भीतयः ।
विशिष्टानिष्टया पुंसां, जन्यन्ते परनिंदया ॥३८१॥

उत्थापयिषुरात्मानं, परनिंदां विधाय यः ।
अपरेणौषधे पीते, स नीरोगत्वमिच्छति ॥३८२॥

योऽन्यस्य दोषमाकर्ण्य, चित्ते जिह्रेति सज्जनः ।
परापवादतो भीतः, स्वदोषमिव रक्षति ॥३८३॥

भावार्थ—पंचपरमेष्ठीके आसादना करनेवाला मिथ्यादृष्टि हो जाता है और जो मिथ्यादृष्टि है वह अनत संसारमें भ्रमण करता रहता है ।

मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करने के इच्छुक पुरुषो ! तुम मन वचन काय से असंयम का त्याग करो । क्योकि असयम से मुक्ति दूर की जाती है, जैसे कि व्याधि से सुख पूर्वक बैठना नष्ट हो जाता है ॥३७९॥

भो ऋषिगण ! आप कभी भी स्वसंघ तथा परसंघ का अपवाद मत करना । अपवाद करने से संसार भ्रमण बढता है, जैसे कि जल से वृक्ष बढता है ॥३८०॥

विशिष्ट निष्ठा से की गयी परनिंदा से शोक, द्वेष, दुःख, आयास, बैर, दुर्भाग्य और भीति आदि उत्पन्न होते है ॥३८१॥

जो पुरुष परनिंदा करके अपना उत्थान करना चाहता है वह पर के द्वारा औषधिपान कर निरोग होना चाहता है । अर्थात् जैसे पर के औषधि पीने से खुद निरोग नही हो सकता वैसे ही पर की निन्दा करनेसे खुदका उत्थान हो नही सकता ॥३८२॥

सज्जन पुरुष अन्य के दोष को सुनकर मन मे लज्जित होता है, वह पर के अपवाद से भयभीत रहता है जैसे अपने दोष बाहर प्रगट न हो इस बात की रक्षा करता है वैसे हो पर के दोष को रक्षा करता है—पर के दोष न कहता है, न सुनता है ॥३८३॥

स्वल्पोप्यन्यगुणो धन्यं, तैलबिंदुरिवोदके ।
विवर्द्धते तमासाद्य, परदोषं न वक्ति सः ।।३८४।।
ग्राह्यस्तथोपदेशोऽयं सर्वोयुष्माकमंजसा ।
यथा गुणाकृता कीर्ति, र्लोके भ्राम्यति निर्मला ।।३८५।।
अनन्यतापकोऽखण्डब्रह्मचर्यो बहुश्रुतः ।
शांतो दृढचरित्रोऽय, मेषा धन्यस्य घोषणा ।।३८६।।
इदं नो मंगलं बाढमेव मुक्त्वा गणोप्यसौ ।
तोष्यमाणो गुणैः सूरे, रानंदाश्रु विमुंचति ।।३८७।।

सज्जन पुरुष अन्य का अल्पगुण हो तो उसको धन्य करता है अर्थात् जल में तेल का एक बिन्दु भी जैसे फैल जाता है वैसे सज्जन को प्राप्त पर का एक गुण भी वृद्धिगत होता है—लोक प्रसिद्धि में आ जाता है, ऐसा वह सज्जन पराये दोष को कभी नही कहता है ।।३८४।।

आचार्य परमेष्ठी अपने संघस्थ साधुओं को कह रहे हैं कि तुम सभी को भली प्रकार से यह उपर्युक्त सर्व उपदेश उस तरह ग्रहण करना चाहिये जिस तरह कि गुणों के द्वारा की गयी निर्मल कीर्ति लोक में विस्तृत हो ।।३८५।।

उस कीर्ति का फैलाव ऐसा होना चाहिये कि अहो ! इस संघ के साधुजन धन्य हैं, धन्य हैं, ये किसी को संताप नहीं देते, इनका अखण्ड ब्रह्मचर्य है, ये बड़े ही ज्ञानी पुरुष है, ये कभी कोप नहीं करते, चारित्र में दृढ हैं ।।३८६।।

इसप्रकार यहाँ तक विस्तार पूर्वक समाधि के इच्छुक आचार्य ने सघस्थ साधु समाज को उपदेश दिया इस गुरु के उपदेश को सुनकर सम्पूर्ण उपदेश को जिन्होंने भलीभांति स्वीकृत किया है ऐसे वे गुरु के प्रति एवं उनके उपदेश के प्रति जो कर्त्तव्य करते हैं उसे बतलाते हैं—यह सर्व ही उपदेश हम लोगो के लिये मगलभूत हैं बहुत ग्राह्य हैं श्रेष्ठ हैं इत्यादि कहकर सर्व संघ आचार्य के गुणों से संतुष्ट होता हुआ आनंद के अश्रु छोड़ता है अर्थात् गुरु के इसतरह स्वपरोपकारक अत्यन्त शुद्ध रत्नत्रय के वर्द्धन करने वाले वचनों को सुनकर सर्वसंघ के साधुओं के नेत्रों से हर्ष के अश्रु निकल पड़ते हैं ।।३८७।।

अयं नोऽनुग्रहोऽपूर्वो, यत्स्वांगमिव पालिताः ।
सारणावारणादेशा, लभ्यन्ते पुण्यभागिभिः ।।३८८।।

क्षमयामो वयं तद् यद् रागाज्ञानप्रमादतः ।
आदेशं ददतामाज्ञा भवतां प्रतिकूलिता ।।३८९।।

लब्धसिद्धिपथा जाताः, सचित्तश्रोत्रचक्षुषः ।
युष्मद्वियोगतो भूयो, भविष्यामस्तथाविधाः ।।३९०।।

सर्वजीवहिते वृद्धे, सर्वलोकैक नायके ।
प्रोषिते वा विपन्ने वा, देशाः शून्या भवंति ते ।।३९१।।

तुष्टायमान शिष्य समुदाय कह रहा है कि अहो ! हम लोगों के ऊपर यह अपूर्व अनुग्रह है जो अपने शरीर के समान हमारा पालन किया था, 'सारणा-गुण में प्रेरणा' 'वारणा–ऐसा मत करो इस तरह समझाना', 'आदेश–यह तुम्हारा कर्त्तव्य है' इत्यादि गुरु की बाते पुण्यशालियों को ही सुनने को मिलती हैं ।।३८८।।

हे आचार्य देव ! हम सभी आपसे क्षमा मांगते हैं कि जो हमने पहले राग, अज्ञान एवं प्रमाद से आदेश को देनेवाले आपकी आज्ञा का पालन नही किया हो, प्रतिकूल आचरण किया हो ।।३८९।।

हे प्रभो ! आपने हमें लब्ध सिद्धि पथ वाले कर दिया है अर्थात् मोक्ष का मार्ग प्राप्त कराया है, आपने हमे हृदय श्रोत्र और चक्षु दिये हैं अर्थात् हिताहित विवेक देकर हृदययुक्त किया, शास्त्र को पढाया जिससे कर्ण युक्त हुए जो कर्ण गुरु के उपदेश को नही सुनते वे कर्ण कर्ण ही नहीं हैं अथवा उस व्यक्ति का कर्ण पाना व्यर्थ है । आपने हमें आगम चक्षु बनाया है, हम तो अज्ञानी थे पहले हृदय शून्य, कर्ण शून्य और चक्षु विहीन थे क्योंकि इन हृदयादि से होने वाले धर्म लाभ को नहीं जानते थे आप तो समाधि के सन्मुख हैं आपके वियोग से पुनः दिग् भ्रमित होकर वैसे ही हो जायेंगे ।।३९०।।

भो भगवन् ! संपूर्ण जीवों के हित की वृद्धि करने वाले, संपूर्ण लोकों के एक नायक स्वरूप आपके समाधि के हेतु उपोषित हो जानेपर अथवा आपका समाधिमरण हो जानेपर सर्वदेश शून्य हो जायेगे ।।३९१।।

अनन्यतापिभिः सर्वे, गुणशीलपयोधिभिः ।
हीना बहुश्रुतैर्देशाः, सान्धकारा भवंति ते ।।३९२।।
सर्वज्ञैरिवयैर्बुद्धं, जन्यन्ते तत्त्वनिश्चयाः ।
देहनाशे प्रवासे वा, तेषामंधा भवति ते ।।३९३।।
वाक्यैराप्यायिता लोका, यैर्मेघा इव वारिभिः ।
येभ्यस्ते निर्गता वृद्धास्ते देशाः संति खंडिताः ।।३९४।।
दायकानामशेषस्य सूरिणामुपकारिणाम् ।
समानसुखदुःखानां, वियोगो दुःसहश्चिरं ।।३९५।।

छंद वंशस्थः–

पवित्रविद्योद्यतदानपंडितैस्तनूभृतां तापविषादनोदिभिः ।
गणाधिपैर्भाति विना न मेदिनी, निरस्तपंकैः सरसीव वारिभिः ।।३९६।।

अन्य को संताप नही देनेवाले सर्व गुण और शीलों के सागर, शास्त्रों मे पारंगत ऐसे आपके समाधिस्थ होनेपर उक्त गुणों से विशिष्ट जनो से ये सर्व देश रहित हो जायेंगे, अन्धकार मय हो जायेगे ।।३९२।।

सर्वज्ञ के समान ज्ञानवृद्ध आपके द्वारा जो लोगों को तत्त्वों का निश्चय कराया गया था अथवा लोग तत्त्वनिश्चय को प्राप्त हुए थे, अब आपके देह का नाश हो जाने पर अथवा इस संघ और देश को छोड़कर अन्यत्र चले जानेपर संघ और देश तत्त्वनिश्चय विहीन अंध जैसा हो जायेगा ।।३९३।।

धर्म वाक्यों द्वारा हम लोग संतोष से परिपूर्ण हुए थे जैसे कि जल द्वारा मेघ पूर्ण रहा करते है । जिन देशों से जलपूर्ण मेघ निकल जाते हैं वे देश धान्य विहीन खंडित-जन शून्य हो जाते है ऐसे ही आप वृद्ध पुरुषों के निकल जानेपर ये देश खंडित धर्म शून्य हो जायेगे ।।३९४।।

अहो ! बड़ा कष्ट है कि सम्पूर्ण ज्ञानादि गुणों के प्रदाता, उपकार करने वाले, सुख और दुखों में जो समान भाव रखते है ऐसे आचार्यों का वियोग अत्यन्त दुःसह है, चिरकाल तक दुःसह है ।।३९५।।

जीवों को पवित्र विद्यारूप श्रेष्ठ दान देने में पडित, ताप और विषाद को दूर करने वाले ऐसे आचार्य देव के बिना यह पृथ्वी शोभित नहीं होती, जैसे कीचड़ रहित जल के बिना तालाब शोभता नहीं ।।३९६।।

छद वशस्थ.–

बुधैर्न शीलैः रहिता नितम्बिनी, तपस्विदानैः रहिता गृहस्थता ।
गुरूपदेशैः रहिता तपस्विता, प्रशस्यते नित्यसुखप्रदायिनी ।।३९७।।

छंद वंशस्थ:–

मनीषितं वस्तु समस्तमंगिनां, सुरद्रुमाणामिव यच्छतां सदा ।
गुणैर्गुरूणां विरहो गरीयसां, न शक्यते सोढुमपास्तरेफसाम् ।।३९८।।

इति अनुशिष्टिसूत्रम् ।

आपृच्छ्येति गणं सर्वं चतुरंगमहोद्यमम् ।
करोत्याराधनाकांक्षी गंतुं परगणं प्रति ।।३९९।।
आज्ञाकोपो गणेशस्य पुरुषः कलहोऽसुखं ।
निर्भय स्नेह कारुण्य ध्यान विघ्ना समाधयः ।।४००।।

शीलों से रहित स्त्री, साधुजनों को दान दिये बिना गृहस्थपना तथा नित्य सुखप्रद गुरु के उपदेश बिना तपश्चरण बुद्धिमानों द्वारा प्रशंसनीय नही माना जाता है ।।३९७।।

कल्पवृक्षों के समान जीवों को समस्त मनोवांछित वस्तु को देनेवाले गुणों से गुरु ऐसे महान् पाप रहित गुरुओ का विरह सहन करना शक्य नही है ।।३९८।।

इसप्रकार संपूर्ण संघ को पूछकर चार आराधना रूप महान उद्यम को आचार्य करते हैं जो कि आराधनाकांक्षी है और अन्य संघ के प्रति गमन करने में उत्सुक है ।।३९९।।

यदि अपने संघ मे रहकर ही समाधि करें तो इतने दोष उपस्थित होते हैं— आचार्य के आज्ञा का कोप, कठोर वचन, कलह, दुःख, निर्भयता, स्नेह, कारुण्य, ध्यान विघ्न और असमाधि ।।४००।। इन सब दोषों को आगे क्रमसे बताते हैं ।

आज्ञाभंग दोष—

संघ में अनेक मुनि हैं उनमें स्थविर मुनि कभी पर का अपवाद करने में उद्यत हो जाते है कोई शिक्षाशील मुनि कठोर परिणामी कलह में तत्पर स्वच्छन्द हो

छंद उपजातिः-

परापवादोन्नतयो जरंतः शैक्ष्याः खरा युद्धपरानधीनाः ।
आज्ञाक्षतिं मंक्षु गणे स्वकीये कुर्वन्ति सूरेरसमाधिहेतुम् ।।४०१।।

छंद इन्द्रवज्रा

व्यापारहीनस्य ममत्वहानेः संतिष्ठमानस्य गणेऽन्यदीये ।
नाज्ञाविघाते विहितेऽपि सूरे रेतैरशेषैरसमाधिरस्ति ।।४०२।।

छंद शालिनी

बालान्वृद्धाञ्शैक्षकान्दुष्टचेष्टान् दृष्ट्वासूरि निष्ठुरं वक्ति वाक्यम् ।
किंचिद्रागद्वेषमोहादियुक्तास्ते वा ब्रूयुः संस्तवप्राप्तधाष्ट्र्याः ।।४०३।।

जाते हैं, इसप्रकार के शिष्य अपने संघ में आचार्य की आज्ञा का शीघ्र ही भंग कर डालते है जो आज्ञा भंग आचार्य के असमाधि का कारण बन जाता है अर्थात् आज्ञा नही मानने से आचार्य के परिणाम अशान्त होते हैं उससे उनकी समाधि बिगड़ती है ।।४०१।।

जब समाधि के इच्छुक आचार्य अन्य संघमें रहते है तब जिनका ममत्व हीन हुआ, जो संघ का कुछ कार्य नहीं करते है ऐसे उन आचार्य के उपर्युक्त उद्दंड मुनियों द्वारा आज्ञा भंग कर दिये जाने पर भी असमाधि नहीं होती, अर्थात् पर संघ में रहते हैं वहां तो दूसरे आचार्य की आज्ञा का भंग कोई उद्दंड शिष्य कर लेवे तो भी समाधि के इच्छुक आचार्य कोप को प्राप्त नही होते उनकी शान्ति नष्ट नहीं होती । अतः समाधि के वक्त आचार्य पराये संघमे जाते हैं ।।४०२।।

परुष दोष--

दुष्ट चेष्टावाले बाल वृद्ध शैक्ष मुनियों को देखकर आचार्य उन शिष्यों के प्रति निष्ठुर वाक्य कहते हैं, अथवा अपनी प्रसिद्धि के कारण धीट हुए तथा रागद्वेष मोहादि से युक्त हुए वे मुनि आचार्यदेवके प्रति कठोर वाक्य बोलने लग जाते हैं ।।४०३।।

इसप्रकार परुष वचन दोष उत्पन्न होता है ।

छंद उपजाति

वाक्याक्षमायामसमाधिकारी सूरेः समं तैः कलहो दुरन्तः ।
दोषास्ततो दुःखविषादखेदाः भवंति सर्वेष्वनिवारणीयाः ।।४०४।।

छद उपजाति

गणेन साकं कलहादिदोषं कुर्वत्सु बालादिषु दुर्धरेषु ।
गणाधिपस्य स्वगणप्रवृत्ते र्ममत्वदोषादसमाधिरस्ति ।।४०५।।

छद उपेन्द्रवज्रा

परीषहैर्घोरतमैः स्वसंघं निरीक्ष्यमाणस्य निपीडयमानं ।
गणे स्वकीये परमोऽसमाधिः प्रवर्तते संघपतेरवार्यः ।।४०६।।

समाधि के इच्छुक आचार्य स्व संघमें रहते है, वे कभी शिक्षा के वाक्य कह देवे और उसको कोई सहन न करे तो उन उद्दण्ड शिष्यो के साथ आचार्य का असमाधि करनेवाला महान कलह झगड़ा हो जावेगा, कलह से दुःख, विषाद, खेद ये दोष सबमे अनिवार्य रूप से होने लगते है ।।४०४।।

भावार्थ—जब शिष्य आज्ञा नही मानेगे तो आचार्य शिष्य को कठोर वचन कहेंगे, कठोर वचन सुनकर, क्षुल्लक मुनि स्थविर आदि कलह करते है कि ये आचार्य हमेशा ही हमें डाटते है, आज्ञा देते है उपदेश देते रहते है, हमे क्या जानकारी नही है ? इत्यादि । सो ऐसे कलहकारी वचन से आचार्य के मन मे दु.ख, खेद आदि प्रादुर्भूत होवेंगे अथवा ये आचार्य हमें कष्ट देते है इत्यादि सोचकर शिष्य समुदाय दुःख, विषाद खेद करने लग जाते हैं ।

संघ के साथ परस्पर में कलह विवाद आदि करते हुए बाल वृद्ध आदि धीट मुनियों को देखकर अपने गणमे रहने वाले आचार्य के ममत्वरूप दोष से असमाधि–अशान्ति होती है । अर्थात् संघ में कोई बाल आदि मुनि आपस में झगड़ा करते देखकर स्नेह वश आचार्य अशान्त हो जाते है अतः आचार्य को अन्तकाल मे स्वसंघमे नही रहना चाहिये ।।४०५।।

अथवा घोर परीषहो द्वारा अपने संघ को पीड़ित देखकर अपने संघ में रहने वाले आचार्य के अत्यन्त अशांति होना अनिवार्य है ।।४०६।।

परीषहेषु विश्वस्तः स्वगणे निर्भयो भवन् ।
याचते किंचनाकल्प्यं सेवते भाषते स्फुटम् ।।४०७।।

बालाः स्वांकोचिता दृष्टा वृद्धया विह्वल विग्रहाः ।
अनाथाश्चार्यिकाः स्नेहं जनयंति गुरोस्तवा ।।४०८।।

आर्यिकाः क्षुल्लिकाः क्षुल्लाः कारुण्यं कुर्वते यतः ।
ध्यानविघ्नोऽसमाधिश्च जायते गणिनस्ततः ।।४०९।।

गणिनः प्रेष्यशुश्रूषाभक्तपानादिकल्पने ।
स्वगणेप्यसमाधानं शिष्यवर्गे प्रमाद्यति ।।४१०।।

समाधिस्थ आचार्य यदि अपने संघ मे ही रहता है तो परीषहों के आनेपर स्वगण में विश्वस्त हुआ निर्भय होकर कुछ भी अयोग्य वस्तु की याचना कर सकता है एवं अयोग्य का सेवन तथा अयोग्य वचन स्पष्ट रूप से कह सकता है ।।४०७।।

भावार्थ—समाधिस्थ आचार्य को भूख प्यास आदि जब सतायेगी तब संघ से परिचित होने से निर्भयता से आहार आदि मांगने लग जायेंगे, खुद ही खाने लग जायेंगे । इत्यादि दोष स्वसंघमें रहने से आचार्य को होते है ।

जिन शिष्यों को बाल होने से गोदी के बालको के समान माना था अर्थात् बालकवत् उन्हें सम्हाला था तथा जो वृद्धावस्था के कारण विह्वल हो रहे हैं, जो अनाथ आर्यिकायें हैं वे सब समाधिके अवसरपर गुरुको स्नेह उत्पन्न करते हैं ।।४०८।।

दुःखी आर्यिका, क्षुल्लिका, क्षुल्लक आचार्य को करुणा उत्पन्न कर सकते है उससे आचार्यके ध्यानमे विघ्न आता है और अशान्ति होती है ।।४०९।।

अपने गण में समाधि को यदि करें तो आचार्य का जो कुछ कार्य-प्रैष्य-कार्य-हेतु अन्यत्र भेजना, सुश्रुषा-सेवा, हाथ पैर का मर्दन आदि, आहार पानादि हैं उनमें शिष्य प्रमाद करे अर्थात् प्रैष्य आदि कार्य को ठीक से नहीं करे तो आचार्य को अशान्ति होगी ।।४१०।।

छद शालिनी

एते दोषाः संति संघे स्वकीये सूरेः साधोस्तादृशस्यापि यस्मात् ।
तस्मात् त्यक्त्वा स्वं समाधानकांक्षी धीरः संघं स प्रयात्यन्यदीयं ।।४११।।

छद– उपजाति

भवंति दोषा न गणेऽन्यदीये संतिष्ठमानस्य ममत्वबीजं ।
गणाधिनाथस्य ममत्वहाने विना निमित्तेन कुतो निवृत्तिः ।।४१२।।

छंद–उपजाति

गणे स्वकीयेऽपि गुणानुरागी सत्यस्मदीयं गणमागतोऽयम् ।
मत्वेति भक्त्या निजया च शक्त्या प्रवर्तते तस्य गणः स्वकृत्ये ।।४१३।।

गृहीतार्थो गणी प्रार्थ्यः क्षपकस्योपसेदुषः ।
निर्यापकश्चारित्राढ्यो जायते सर्वयत्नतः ।।४१४।।

इसप्रकार इतने दोष अपने स घमें समाधि करने से आचार्य को प्राप्त होते हैं, तथा आचार्य सदृश अन्य प्रमुख मुनियोंके भी होते हैं, इसलिये समाधिका इच्छुक धीर आचार्य स्वसघ को छोड़कर दूसरे संघमे जाता है ।।४११।।

दूसरे संघ में रहने वाले आचार्यके ममत्वका बीज अर्थात् कारण नही रहता अतः पूर्वोक्त दोष वहांपर नही होते, वहां तो ममत्व हीन होता जाता है । बिना निमित्त के निवृत्ति कैसे होवे । अर्थात् ममत्व का निमित्त निजसघ वास है और ममत्व के अभाव का निमित्त परस घवास है इनके बिना ममताभाव और ममता का अभाव नही होता । अथवा निमित्तके बिना निवृत्ति-मोक्ष भी कहां से होवे ।।४१२।।

पराये संघमें आचार्यके प्रविष्ट होनेपर वहांके मुनि विचार करते है कि अहो ! स्वगणके होनेपर भी हमारे गुणोंमें अनुरागी होकर ये आचार्य हमारे गणमें आये हैं । इस तरह मानकर उस आचार्यके सेवामें मुनिसमुदाय भक्ति और निज शक्तिके अनुसार प्रवृत्त हो जाता है । अतः परगण प्रवेश ही श्रेष्ठ है ।।४१३।।

समाधिका इच्छुक क्षपक जिनके निकट पहुँचता है वह आचार्य जिसने शास्त्रों के गूढ़ अर्थ को भलीप्रकार ग्रहण किया है ऐसा होना चाहिये । प्रार्थ्य–प्रार्थना करने योग्य अथवा समाधिके लिये जिसकी अनेक मुनि प्रार्थना करते है ऐसा होना चाहिये । चारित्र से सम्पन्न होना चाहिये, इस तरह का निर्यापक आचार्य सर्व प्रयत्नसे प्राप्त करना चाहिये ।।४१४।।

संविग्नस्याघभीतस्य पादमूले व्यवस्थितः ।
अर्हद्वागमसारस्य भवत्याराधको यतिः ।।४१५।।

।। इति परगणचर्यासूत्रम् ।।

पंच षट् सप्त वा गत्वा, योजनानां शतानि सः ।
निर्यापकमनुज्ञातं, समाधानाय मार्गति ।।४१६।।

एकद्वित्रीणि चत्वारि, वर्षाणि द्वादशापि च ।
निर्यापक मनुज्ञातं, स मार्गयति निःश्रमः ।।४१७।।

एकरात्रतनूत्सर्गः, प्रश्नस्वाध्याय पंडितः ।
सर्वत्रैवाप्रतिबंधः, स्थांडिलः साधुसंयुतः ।।४१८।।

जो ससार शरीर और भोगोंसे उदासीन है, पापभीरु है, अर्हंतदेवके आगमके सारका ज्ञाता है ऐसे आचार्यके पादमूलमे जानेवाला यति आराधक-समाधिका साधक होता है ।।४१५।।

इसप्रकार परगणचर्या नामा पन्द्रहवाँ सूत्र पूर्ण हुआ ।

मार्गणा सूत्र—

समाधि मरण करनेवाला आचार्य पाचसौ अथवा छह सौ सातसौ योजन तक भी जाकर निर्यापक आचार्य (समाधिमरणकी समस्त विधिको जाननेवाले) को प्राप्त करनेके लिये, एवं मैंने भलीप्रकारसे निर्यापकका अन्वेषण कर लिया है, इसमें कोई त्रुटि नही की इसप्रकार अपने समाधानके लिये आचार्यका मार्गण करता है ।।४१६।।

मार्गणका काल प्रमाण बतलाते है—एक वर्ष अथवा दो, तीन चार वर्ष पर्यंत निर्यापकका अन्वेषण करता है, अथवा बारह वर्ष तक भी करता है, वह आचार्य श्रम रहित हो मार्गण करता ही जाता है ।।४१७।।

निर्यापक आचार्यकी खोजके लिये गमन करनेवाला आचार्य किसप्रकार गमन करें यह बताते हैं—एक रात्रि प्रतिमायोग धारण करना१ प्रश्न और स्वाध्यायमें कुशलता२ विहार पथमें सर्वत्र स्थानादि अप्रतिबद्ध रहना३ स्थडिलशायी४ और साधुओं से सयुक्त होना५ ये पाँच विशिष्ट कर्त्तव्य है निर्यापक का अन्वेषण करने वाले आचार्यके ।।४१८।।

यद्यपि प्रस्थितो मूले, सूरेरालोचनापरः ।
संपद्यते तरां मूक, स्तथाप्याराधको मतः ॥४१९॥
यद्यपि प्रस्थितो मूले, सूरेरालोचनापरः ।
विपद्यतेऽन्तरालेऽपि, तथाप्याराधकोऽस्ति सः ॥४२०॥

विशेषार्थ—निर्यापकको खोज करनेके लिये प्रस्थान करनेवाले आचार्यमें जो विशेषताये हैं उन्हें यहां कारिका मे बताया है, पांच विशेषतायें हैं। इनका स्वरूप भगवती आराधना टीकानुसार बताते है—एक रात्रि प्रतिमा योग—तोन उपवास करके चौथो रातमें ग्राम नगरादिके बाहर श्मशान वनादि स्थानपर पूर्व या उत्तरमें मुख कर नासाग्रदृष्टि एवं शरीर स्थिर करके सूर्योदय होनेतक ध्यानस्थ रहना एक रात्रि प्रतिमायोग कहलाता है। प्रश्नकुशल—विहार करते हुए मार्गमें गृहस्थ, आर्यिका, वृद्ध आदि को पूछकर अर्थात् रास्ते आदिके विषयमें पूछकर कार्य करनेमें कुशलता होना, इसतरह की कुशलता नही होगी तो इष्ट ग्रामादि के प्रति गमन करनेमे परेशानी होगी। स्वाध्याय कुशल—स्वाध्याय करके आहारार्थ ग्रामादिमें गमन करना स्वाध्याय कुशलता है। सर्वत्र अप्रतिबद्धता—विहार पथमें किसो विशिष्ट स्थानमे, विशिष्ट श्रावकमें यतियोंमें स्नेह युक्त नही होना, सर्वत्र अप्रतिबद्धता कहलाती है, यदि बीचमें किसीके प्रति मोह होगा तो आगे विहार नहीं कर पायेगा अतः सर्वत्र अप्रतिबद्धता चाहिये। स्थंडिलशायी—शरीरकी क्रिया–मल त्याग आदिके लिये प्रासुक स्थान देखना स्थंडिलशायित्व गुण है। साधु संयुत—विहार करते समय सहायता करनेवाले योग्य मुनिके साथ विहार करना। ये पांच विशेषतायें निर्यापकके अन्वेषणमें निकलनेवाले आचार्यकी हैं।

गुरुके निकट मैं आलोचना करूंगा ऐसी भावनासे कोई साधु विहार कर रहा है और दैव वश मार्गमें रोगादि से मूक अवस्था को प्राप्त होता है तो भी वह आराधक है ऐसा कहते है—मैं निर्यापक आचार्य के समक्ष जाकर अपने व्रत-संबंधी सर्व ही दोष कहूँगा, अपने दोषोंकी अवश्य आलोचना करूंगा इसप्रकार जिसके हृदय में दृढ भावना है और वह रास्ते में ही किसी कारण वश मूकावस्था को प्राप्त होवे तो भी अतिशय रूपसे आराधक ही माना जाता है ॥४१९॥

तथा उक्त साधु गुरुके निकट शुद्ध आलोचना करने की इच्छा लेकर विहार करता है और बीचमें उसकी मृत्यु हो जाती है तो भी वह चार प्रकार की आराधना करनेवाला–समाधिमरण करने वाला ही माना जाता है ॥४२०॥

आलोचना प्रवृत्तस्य, गच्छतः सूरि सन्निधिं ।
यद्यप्यस्त्यमुखः सूरि, स्तथाप्याराधकोऽस्ति सः ।।४२१।।

आलोचना प्रवृत्तस्य, गच्छतः सूरि सन्निधिं ।
यद्यपि म्रियतेसूरि, स्तथाप्याराधकोऽस्ति सः ।।४२२।।

संवेगोद्वेगसंपन्नः, शुद्धयं गच्छत्यसौ यतः ।
मनःशल्यं निराकर्तुं, भवत्याराधकस्ततः ।।४२३।।

भावार्थ—मन, वचन और काय के द्वारा रत्नत्रय में जो दोष लगे है उन सबकी आलोचना गुरु के निकट करूंगा ऐसी भावना लेकर जा रहे साधु के यदि रास्ते में ही मूकता आ जाय अथवा मरण ही हो जाय तो भी उसकी समाधि पूर्वक मृत्यु मानी जाती है, क्योंकि उसके परिणाम निर्मल हैं ।

आलोचना करने का संकल्प करके जो गुरु के पास जाने के लिये चला है । यदि आचार्य बोलने में असमर्थ हों तो भी वह आराधक है ।।४२१।।

जो आलोचना करनेके लिये गुरु के निकट जा रहा है और जिस गुरु के निकट जाना था वे आचार्य मर जाँय तो भी वह आराधक है ।।४२२।।

आलोचना किये बिना मृत्यु को प्राप्त हुआ मुनि आराधक कैसे माना जाता है इस प्रश्न का उत्तर देते है—जिसकारण रत्नत्रय की शुद्धि के लिये यह साधु गमन करता है तथा सवेग और उद्वेग सपन्न है अर्थात् ससार भीरुता के भाव और शरीर सुखादि तृष्णावर्द्धक भाव जिसके नहो हैं, जो मन के शल्य को निराकरण करने के लिये गमन करता है अर्थात् दोषों की आलोचना करने में किसी प्रकार मायादि शल्य नहीं रखूंगा ऐसी सुविशुद्ध भावना वाला उक्त साधु है उस कारण वह बीच में मृत्यु को प्राप्त होने पर भी आराधक माना जाता है ।।४२३।।

भावार्थ—अपराध करके भी जो आलोचना नहीं करता वह मुनि मायावी है, मायाशल्य होने से रत्नत्रय मे निर्मलता नही होती ऐसा विचार कर शल्य का उद्धार करने का जिसने निश्चय किया है, जिसके मन में संसार से भय उत्पन्न हुआ है, शरीर अपवित्र निःसार और दुःखदायक है, इन्द्रिय सुख तृष्णाग्नि बढ़ाता है ऐसा विचार कर उस सुख से जो निवृत्त हुआ है, रत्नत्रय में तीव्र रुचि वाला है ऐसा मुनि निज अपराध

आचार जीदकल्पानां जायते गुणदीपना ।
गुणाः स्वशुद्धच संक्लेशौ मार्दवार्जवचतुष्टयम् ॥४२४॥
आलोक्य सहसा यान्तमभ्युत्तिष्ठन्ति संयताः ।
आज्ञासंग्रहवात्सल्य प्रणामकृतयोऽखिलाः ॥४२५॥

को निवेदन करने के लिये गुरु के निकट जा रहा है उसके मार्ग में मूकता आने पर या मृत्यु होने पर भी उसको आराधना करने वाला ही माना गया है ।

निर्यापक के अन्वेषण में गमन करने वाले साधु के जो नूतन गुण प्रगट होते हैं उन्हें कहते हैं—आचार शास्त्र, जीद शास्त्र और कल्प शास्त्रो के गुणों का प्रकाशन होता है, अपनी परिणाम की शुद्धि, संक्लेश का अभाव, मार्दव तथा आर्जव इन चार गुणों की प्राप्ति निर्यापक की खोज में निकले हुए साधु को होती है ॥४२४॥

विशेषार्थ—आचार शास्त्र, जीद शास्त्र और कल्प शास्त्र ये निरतिचार रत्नत्रय का स्वरूप बतलाने वाले है, निर्यापक का अन्वेषक इन रत्नत्रयों की निर्मलता के लिये अवश्य प्रयत्न करता है अतः इन शास्त्रोक्त आचरणों का प्रगटीकरण होता है । आत्मा की शुद्धि होती है । संक्लेश परिणाम नष्ट होते है, अथवा विहार करना क्लेश दायक है ऐसा समझेगा तो गुरु के अन्वेषण के लिये कष्ट क्यों सहेगा ! किन्तु जिनको आराधना सिद्धि की इच्छा है वे कष्ट सहन कर गुरु का अन्वेषण करते हैं इसमें संक्लेश नहीं करते । गुरु के अन्वेषणार्थ विहार करने से आर्जव गुण प्रगट होता है, क्योंकि गुरु के निकट कपट छोड़कर आलोचना करता है । पराये संघ मे जाने से अभिमान का परिहार होता है इससे मार्दव भाव जागता है । इसतरह परगण मे जाने वाले मुनि को ये गुण अनायास ही प्राप्त हो जाते है ।

जब निर्यापक का अन्वेषक किसी एक संघ में प्रवेश करता है तब आते हुए उस साधु को देखकर शीघ्र ही सब सयत जन उठकर जिनदेव की आज्ञापालन वात्सल्य और प्रणाम हेतु खड़े हो जाते है ॥४२५॥

भावार्थ—अतिथि मुनि को आता हुआ देखकर परगणस्थ यति सहसा खड़े हो जाते हैं, खड़े हो जाने से जिनाज्ञा का पालन होता है, आगत मुनि की स्वीकृति हो जाती है और उनके प्रति वात्सल्य प्रगट होता है । आगत मुनि का आचरण भी इस उपाय से जाना जाता है इसलिये आगत मुनि को देखकर शीघ्र खड़े होना चाहिये ।

वास्तव्यागंतुकाः सम्यक् विविधैः प्रतिलेखनैः ।
क्रियाचारित्रबोधाय, परीक्षन्ते परस्परम् ।।४२६।।
आवश्यके ग्रहे क्षेपे, स्वाध्याये प्रतिलेखने ।
परीक्षन्ते वचोमार्गे विहाराहारयोरपि ।।४२७।।

वास्तव्य मुनि और आगंतुक मुनि एक दूसरे की क्रिया और चारित्र का बोध होने के लिये त्रिविध प्रतिलेखनों द्वारा अच्छी तरह से परस्पर में परीक्षा करते है ।।४२६।।

विशेषार्थ—आगंतुक मुनि और वास्तव्य मुनि परस्पर का आचरण देखते हैं । वास्तव्य मुनि परीक्षा करते है कि यह आया हुआ साधु समितियो का पालन करता है या नहीं । छह आवश्यक क्रियाये यथा समय होती है या असमय में होती है । आचार्यों के उपदेश मे मतभेद हुआ करता है उसका परिज्ञान करने हेतु अन्योन्य की परीक्षा करते हैं । आगत मुनि अपने साथ रहने योग्य है अथवा नही यह जानने के लिये भी परीक्षा करते है ।

छह आवश्यक क्रिया वास्तव्य मुनियों मे है या नही आगत मुनि में है या नही, वस्तुओं का रखना और उठाना देखभाल पूर्वक है या नहीं, स्वाध्याय में तत्परता कमंडलु आदि का शोधन, वार्त्तालाप, विहार और आहार इन सब विषयो में वे दोनो परस्पर का निरीक्षण करते है ।।४२७।।

विशेषार्थ—संवर और निर्जरा के लिये मुनिजन सामायिक वदना, स्तव, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकों को करते है, अवश्य करने योग्य होने से आवश्यक नाम वाले है । आगत मुनि यह देखता है कि वास्तव्य मुनि सामायिकादि को शास्त्रोक्त विधि से करते है अथवा नहीं, एवं वास्तव्य मुनि आगत मुनि की उक्त क्रियाओं का निरीक्षण करते है कि यह केवल द्रव्य सामायिक-आवर्त्त भक्तिपाठ आदि ही करता है या भाव सामायिक-रागद्वेषके त्याग रूप शुद्ध भाववाली सामायिक करता है । एक तीर्थकर की स्तुति वंदना में और चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तुति में भक्तिभाव है या नहीं, प्रतिक्रमण केवल पाठ का उच्चारण तो नही कर रहा, त्याज्य पदार्थ में कहीं आसक्ति तो नही कर रहा है । कायोत्सर्ग में शरीर की निश्चलता पूर्वक मन की निश्चलता है अथवा नही इत्यादि रूप से देखते हैं । नेत्रों से देखकर पुनः

देयः संघाटकोऽवश्यमागताय दिनत्रयम् ।
असंस्तुतस्य यत्नेन, शय्यासंस्तरकावपि ॥४२८॥

संघाटको न दातव्यो, नियमेन ततः परम् ।
यते युक्तचरित्रस्य, शय्यासंस्तरकावपि ॥४२९॥

गुल्लानस्य यतेः सूरे, रनिराकृतदूषणम् ।
उद्गमोत्पादनाहार दोषशुद्धिर्न जायते ॥४३०॥

शोधन कर उपकरणादि को उठाता रखता है या नहीं इन क्रियाओ में जीवों की सुरक्षा करता है या इधर उधर फेंक देता है । वचन कैसे बोलता है गृहस्थ जैसे या मिथ्यात्व वर्द्धक वचन तो नही बोलता इत्यादि रूपसे देखते है । अन्तर्मल का विसर्जन प्रासुक भूमि में गूढ स्थान पर करता है या नहीं, आहार को नव कोटि से परिशुद्ध करता है अथवा नहीं । इसतरह परस्पर मे परीक्षण करते है ।

आगत मुनि सघनायक का आश्रय कर निवेदन करता है कि हे गुरुदेव ! सहाय देकर मुझे अनुगृहीत कीजिये । इसप्रकार कहने पर उक्त मुनि के लिये तीन दिवस तक अवश्य ही संघ मे समिलित कर लेना चाहिये, तथा अभी प्रयत्न से परीक्षण नहीं हुआ है तो भी शय्या संस्तर उसे देना चाहिये ॥४२८॥

किन्तु तीन दिनो के बाद उसे संघाटक (संघमे आश्रय) नियम से नही देना चाहिये भले ही युक्त चारित्र वाला मुनि हो, उसे तीन दिन के बाद शय्या संस्तर भी नही देना चाहिये ॥४२९॥

भाव यह है कि आगंतुक मुनि का आचरण योग्य है किन्तु उसकी पूर्ण परीक्षा नहीं हो पायी है तो ऐसी स्थिति मे उसे संघाटक शय्यासंस्तर नही देना चाहिये । यदि आगत मुनि को तीन दिन में ज्ञात कर लेते है कि यह गण में रहने योग्य नही है तो उसे सहायता होगी ही नही, किन्तु जो योग्य है किन्तु पूर्ण परीक्षा नही हुई तो उसे आगे संघाटक नहो देते है ।

यहां पर प्रश्न होता है कि इस तरह परीक्षा का प्रयत्न क्यों करते हैं ? विना परीक्षा के सघाटक क्यो नही करते ? आगे इसी को बताते हैं—आगत मुनि के दोषों को दूर किये बिना ही उसे ग्रहण किया जाय तो आचार्य के उद्गम, उत्पादन और आहार संबंधी एषणा दोष इन दोषों को शुद्धि नही होती ॥४३०॥

छंद रथोद्धता—

स प्रणम्य गणनायकं त्रिधा, भाषते निशि विवाय संश्रितः ।
आगमस्य विनयेन कारणं, सिद्धये न विनयं विना क्रिया ।।४३१।।

छंद शालिनी—

विश्राम्यासो शल्यमुद्धर्तुकामः श्रान्तः स्थित्वा वासरं तं द्वितीये ।
तत्राचार्यं ढौकते वा तृतीये, न प्रारब्धं साधवो विस्मरन्ति ।।४३२।।
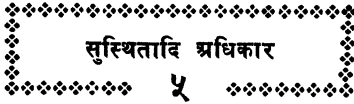
।। इति मार्गणासूत्रम् ।।

विशेषार्थ—आगत मुनि आलोचना नही करता, उद्गम, उत्पादना एषणा दोषों से युक्त आहार लेता है तो उसके साथ आचार्य रहता है या अन्य मुनियों को रहने के लिये अनुमति देता है वह भी आगत मुनिके समान सदोष माना जायगा। आगत मुनि उद्गमादि दोषों से अशुद्ध हुआ है तथा आलोचना द्वारा अपनी शुद्धि भी नही करता तो उसे संघ से अलग करना ही उचित है अन्यथा उसके साथ रहनेसे स्वयं आचार्य तथा सघ उसीप्रकार उद्गम आदि दोषों से युक्त आहार ग्रहण करने लग जायेंगे ।

आगत मुनि आचार्य को मन, वचन और काय से नमस्कार कर दिन अथवा रातमें उनके आश्रय में रहकर विनयपूर्वक अपने आने का कारण बतलाता है, ठीक ही है, क्योंकि विनय के बिना की गयी क्रिया कार्य सिद्धि के लिये नही हुआ करती है ।।४३१।। जो अपने शल्य को दूर करना चाहता है, विहार से थका हुआ है ऐसा वह आगत मुनि पहले दिन विश्राम करता है पश्चात् दूसरे या तीसरे दिन वहां के आचार्य के समीप उपस्थित होता है । ठीक ही है, क्योंकि प्रारंभ किये हुए कार्य को साधुजन भूलते नहीं है अर्थात् जिस कार्य के लिये आये है उसका विस्मरण नहीं होने देते, यहां आगत मुनि का कार्य आचार्य निकट अपना अभिप्राय निवेदन करना एवं आलोचना करना है ।।४३२।।

।। मार्गणा सूत्र समाप्त (१६) ।।

आचारी सूरिराधारी, व्यवहारी प्रकारकः ।
आयापायदृगुत्पीडि, सुखकार्यपरिस्रवः ॥४३३॥
एभिर्निर्यापकः सूरि, गुंणैरष्टभिरन्वितः ।
दातुमाराधनामीशः, पृथुकीर्तिरुपेयुषे ॥४३४॥
आचारी स मतः सूरि, रतिचारनिराकृतः ।
चर्यते चार्यते येन, पंचाचारोऽनुमन्यते ॥४३५॥

सुस्थित नामका सतरहवां अधिकार—

जिस आचार्यका आगंतुक मुनि आश्रय लेता है उसमें कौन कौनसे गुण रहते हैं ऐसा प्रश्न होनेपर उनके आठ गुणोंको बताते हैं—

आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान् प्रकारक (कर्त्ता) आयापायदृग्, उत्पीड़क, सुखकारी और अपरिस्रावी ॥४३३॥

इन आठ गुणोंसे समन्वित आचार्य निर्यापक होता है वह विशाल कीर्त्ति संयुक्त होता है अपने निकट आगत साधुको आराधना-समाधिमरणको देनेके लिये ऐसा निर्यापक ही समर्थ होता है ॥४३४॥

आचारवान्—

जो अतिचार रहित पंचाचार को स्वयं पालन करता है और दूसरोसे पालन कराता है वह आचार्य आचारवान् कहा जाता है ॥४३५॥

दशधा स्थितिकल्पे वा, सुस्थितो गतदूषणे ।
आचारी कथ्यते युक्तः सूरिरागममातृभिः ॥४३६।

अचेलकत्वमुद्दिष्ट, शय्येशाहारवर्जने ।
राजपिंडविवर्जित्वं, कृतिकर्म प्रवर्तनम् ॥४३७॥
व्रतप्ररोहणार्हत्त्वं, ज्येष्ठत्वं च प्रतिक्रमः ।
मासैकत्रस्थितिः पर्यास्थितिकल्पा दशेरिताः ॥४३८॥

अथवा दोष रहित दश प्रकारके स्थितिकल्पमें जो स्थित रहता है तथा तीन गुप्ति और पांच समिति रूप अष्ट प्रवचन मातासे युक्त होता है वह आचार्य आचारवान् कहा जाता है ॥४३६॥

दश प्रकारका स्थितिकल्प बतलाते हैं—

अचेलकत्व१ उद्दिष्ट शय्यात्याग२ उद्दिष्ट आहार त्याग३ राजपिंड त्याग४ कृतिकर्म प्रवृत्त५ व्रतारोपण अर्हत्व६ जेष्ठत्व७ प्रतिक्रमद मासैक वासिता९ और पर्या१० ये दश स्थितिकल्प हैं ॥४३७॥४३८॥

विशेषार्थ—अचेलकत्व—वस्त्रका अभाव चेल वस्त्रको कहते हैं यह उपलक्षण है इससे संपूर्ण पदार्थोंका त्याग यह अर्थ फलित होता है, रेशमी, सूती, ऊनी वृक्षके वष्कल अजिन-चर्म इत्यादि शरीरके आच्छादनके कारणभूत पदार्थ मात्रका त्याग अचेलक शब्दसे लिया जाता है । मुनिके इस गुणसे चौरका भय नहीं होता, वस्त्रको धोना सुखाना, फटने पर सीना, नये वस्त्र की याचना इत्यादि आरंभ हिंसा दीनता को करने वाले दोष उत्पन्न नहीं होते । वस्त्र रहित होनेसे वायुवत् निःसंग सर्वत्र अप्रतिहत विहार होता है, ध्यानमें स्थिरता वस्त्र त्यागसे होगी यदि वस्त्र रहेगा तो वायु आदिसे उसको सम्हालनेमें चित्त चंचल हो उठेगा । यह मेरा वस्त्र बहुत सुंदर है इत्यादि रूप अभिमान वस्त्रके त्यागी मुनिको नहीं होता । ऐसे और भी बहुतसे गुण वस्त्र त्यागसे प्राप्त होते हैं । यह अचेलकत्व स्थितिकल्प है ।

उद्दिष्ट शय्या त्याग—अपने निमित्तसे बनायी गयी वसतिका का त्याग करना उद्दिष्ट शय्यात्याग स्थितिकल्प है । उद्दिष्ट आहार त्याग—अपने निमित्तसे बनाया गया आहार ग्रहण नही करना उद्दिष्ट आहार त्याग नामा तीसरा स्थितिकल्प है ।

अवद्यभीरुकोनित्यं, दशस्वेतेषु यः स्थितः ।
क्षपकस्य समर्थोऽसौ, वक्तुं चर्यामदूषणाम् ।।४३६।।

राजपिंड त्याग—राजाके यहांपर आहार ग्रहण नही करना राजपिंड त्याग कहलाता है, राजाके यहां आहारार्थ मुनि प्रवेश करनेपर वहां कोई उन्मत्त दास-दासी उपहास कर सकते हैं, रत्नोके बहुमूल्य पदार्थ वहां रहते है उनका कोई अन्य अपहरण करें और दोषारोपण मुनि पर आवे कि यही राजमहलमें आया था इसीने रत्नहार चुराया इत्यादि वहां अत्यंत गरिष्ठ आहार ग्रहण करनेपर गृद्धता आयेगी—विकार आयेगा इत्यादि अनेक दोष राजपिंड ग्रहणसे हो सकते हैं अतः इसका त्याग बताया है यदि ये दोष नहीं आते हों तो राजपिंड ग्रहण कर सकता है ।

कृतिकर्म प्रवृत्त—छह आवश्यक क्रियायें आवर्त्त, शिरोनति दण्डक, कायोत्सर्ग आदिसे युक्त होती हैं उन सबको यथाविधि करना कृतिकर्म प्रवृत्त है, अथवा चारित्र संपन्न मुनिका, गुरुका, अपनेसे बड़े मुनिका विनय करना कृतिकर्म प्रवृत्तत्व स्थितिकल्प है । व्रतारोपण अर्हत्व—पांच महाव्रत, समिति आदि व्रतोंको योग्य मुमुक्षु जीवोंको देना अर्थात् योग्य शिष्योंको व्रतोंसे संपन्न करना । अमुक शिष्य व्रत धारणके योग्य है, अमुक नहीं इत्यादि जाननेकी बुद्धिका होना । दीक्षाके योग्य मुमुक्षुको दीक्षा देना आदि व्रतारोपण अर्हत्व है ।

जेष्ठत्व—आर्यिका, ऐलक आदि सबमें जेष्ठता मुनिमें होती है, अथवा मुनि समुदायमें चारित्र आदिसे विशिष्टता होना आचार्यका जेष्ठत्व स्थितिकल्प है ।

प्रतिक्रम—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणोंमें तत्परता प्रतिक्रम स्थितिकल्प है । मासैकवासिता—चातुर्माससे अन्य दिनोंमें एक स्थानपर एक माससे अधिक नहीं रहना मासैक वासिता है । पर्या-पाद्य—चातुर्मासमें विहार नहीं करना पर्या अथवा पाद्य नामका अंतिम दसवां स्थितिकल्प है । चातुर्मासमें विहार करनेसे हरित-काय आदि जीवोंकी विराधना होती है उससे असंयम होता है अतः साधुजन वर्षाकालमें विहार नहीं करते । इसप्रकार दश स्थितिकल्पों का वर्णन किया ।

इन दश स्थितिकल्पोंमें जो आचार्य स्थित है, नित्य ही पाप भीरु है, ऐसा आचार्य ही क्षपकको निर्दोष चर्याका प्रतिपादन करनेमें समर्थ होता है ।।४३६।।

उद्यतः पंचधाचारं यः कर्त्तुं समितक्रियः ।
क्षपकः पंचधाचारे प्रेर्यते तेन सर्वदा ॥४४०॥
अशुद्धमुपधिं शय्यां भक्तं पानं च संस्तरम् ।
सहायानप्यसंविग्नान् विधत्ते च्यवनस्थितिः ॥४४१॥

छद उपजाति—

सल्लेखनायाः कुरुते प्रकाशनां कथामयोग्यां क्षपकस्य भाषते ।
स्वैरं पुरस्तस्य करोति मंत्रणं गंध प्रसूनादि विधिं च मन्यते ॥४४२॥
सारणां वारणां नास्य कुरुते च्यवनस्थितः ।
क्षपकस्य महारंभं कंचित्कारयते गणी ॥४४३॥

जो आचार्य पाच प्रकारके आचारके पालनमें उद्यमशील है समिति क्रियामे तत्पर है उस आचार्य द्वारा हमेशा क्षपक पंचाचारमे प्रेरित किया जाता है । अर्थात् स्वयं आचार संपन्न होनेपर ही क्षपकको उसमे प्रेरित कर सकते है अतः आचार्य आचारवान् होना चाहिये ॥४४०॥

जो आचार्य अशुद्ध उपधि, अशुद्ध आहार पानी, अशुद्ध वसतिका, अशुद्ध संस्तर को ग्रहण करता है वह क्षपकके लिये वैराग्य रहित अर्थात् अशुद्ध आहार आदिको ग्रहण करने वाले मुनियोको संहायी बनायेगा । क्षपककी सेवा वैयावृत्यमें ऐसे मुनियोको नियुक्त करता है और उससे क्षपक अपने व्रत समाधि आदिसे च्युत हो जाता है । यह स्थिति न हो एतदर्थ आचार्यको आचारवान् होना जरूरी है ॥४४१॥

अयोग्य, आचार विहीन आचार्य असमयमे गृहस्थोंके समक्ष सल्लेखनाको प्रगट कर देता है । क्षपकको अयोग्य राजकथा आदि कथायें सुनाने लग जाता है । मनचाहा योग्य, अयोग्य विचार क्षपकके आगे कहने लग जाता है, लोगोंको गंध पुष्प आदि लानेको कहता है इत्यादि क्षपकके परिणाम बिगडने वाले कार्य अयोग्य निर्यापक करता है ॥४४२॥

जो निर्यापक च्यवनस्थित-भ्रष्ट है वह क्षपकको सारणा—रत्नत्रयमें लगाना, और वारणा-दोषोंसे रोकना नही कर पाता, क्षपकके लिये महारंभ आदि दोष जन्य कार्य जैसे महारंभ करके वसतिका बनवाना आदि आरभ हिंसा रूप कुछ भी कार्यको करायेगा ॥४४३॥

आचारस्थः पुनर्दोषान्यतः सर्वान्विमुंचति ।
निर्यापकस्ततः सूरिराचारस्थोऽभिधीयते ॥४४४॥

। इति आचारी ।

धीरोऽखिलांगपूर्वज्ञो यः कालव्यवहारवित् ।
आधारी स महाप्रज्ञो गंभीरो मंदरस्थिरः ॥४४५॥

चतुरंगमगीतार्थो नाशयेल्लोकपूजितम् ।
संसृतौ लप्स्यते भूयो नाशितं तच्च दुःखतः ॥४४६॥

संसारसागरे घोरे दुःखनक्रकुलाकुले ।
दुःखतोऽटाट्यमानेन प्राप्यते जन्म मानुषम् ॥४४७॥

देशोजाति कुलं रूपं कल्पता जीवितं मतिः ।
श्रवणं ग्रहणं श्रद्धा संयमो दुर्लभो भवेत् ॥४४८॥

जिसकारणसे आचार स्थित आचार्य उक्त दोषोंको नियमसे छोड़ देता है, उस कारणसे निर्यापक आचारवान् होना चाहिये ऐसा कहा है ॥४४४॥

आधारवान्—

जो आचार्य धीर है, संपूर्ण अंग और पूर्वका ज्ञाता है समय और व्यवहार को जाननेवाला, महाप्रज्ञ, सुमेरु सदृश स्थिर मनवाला और गंभीर है वह आधारी या आधारवान् कहा जाता है ॥४४५॥

आचार्य आधारवान् नही है अर्थात् शास्त्रका ज्ञाता नही है तो क्या हानि है इस बातको बताते है—

शास्त्रके गूढ़ सिद्धान्तका जो निर्यापक मर्मज्ञ नही है वह क्षपकके लोकपूजित चतुरंग अर्थात् चार आराधनाको नष्ट कर देता है । एक बार आराधनाके नष्ट हो जानेपर संसारमें वह पुनः प्राप्त होना अत्यंत कठिन है ॥४४६॥

दुःख रूपी नक्रोके समुदायसे जो भरपूर है ऐसे घोर ससार सागरमें भ्रमण करते हुए बड़ी कठिनाईसे मनुष्य जन्म प्राप्त होता है ॥४४७॥ मनुष्यभव प्राप्त होने पर भी योग्य देश अर्थात् जहां धर्माराधना है ऐसे देशमें जन्म होना दुर्लभ है, उसमें भी सज्जाति (जाति संकर, वीर्यसंकर आदि जिस जातिमें नहीं होते वह सज्जाति कहलाती

बहुदुर्लभसंतत्या साधुर्लब्ध्वापि संयमम् ।
लभते नाशसानिध्ये देशनां वृत्तिवर्द्धनीम् ॥४४९॥

है अर्थात् जिस जातिमें स्त्रियोंके एकबार ही विवाह होता है, पतिके मरनेपर या जीवित रहने पर किसी भी स्थितिमें दूसरा नहीं होता है, जो व्यभिचारी स्त्री की संतान परंपरा नही है, एवं गुण विशिष्ट सज्जातित्व होता है] और कुलका होना, नीरोगता, दीर्घायु, हेयोपादेय बुद्धि, जैन धर्मका श्रवण, ग्रहण और श्रद्धाका होना महान् दुर्लभ है, इन सबके होने पर भी सकल संयमको प्राप्त होना तो अत्यत दुष्कर है ॥४४८॥

विशेषार्थ—संसार परिभ्रमण पांच प्रकारका है द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव । इन पंच परावर्तनोंका वर्णन बहुत विस्तृत है । यहां अति संक्षिप्त-नाम मात्र बताते हैं—द्रव्य परिवर्त्तन—नारकादि चारों गतियोंके शरीरोंका बार-बार ग्रहण और विसर्जन एक विशिष्ट तरीकेसे होते रहना । क्षेत्र परिवर्त्तन—लोकाकाशके संपूर्ण प्रदेशों मे विशिष्ट क्रमसे जन्म मरण होना । काल परिवर्त्तन—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके प्रत्येक समयोंमे क्रमशः जन्म-मरणकी पुनः पुनः आवृत्ति होना । भव परिवर्त्तन—प्रत्येक गति संबंधी जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट तक सब तरहकी आयुको क्रमसे प्राप्त करते रहना । भाव परिवर्त्तन—कषाय अध्यवसान, योग स्थान आदि विशिष्ट तरीकेसे परावर्त्तन—परिवर्त्तन होते रहना । इसप्रकार परिवर्त्तनोंमे क्रमसे भ्रमण करते हुए इस जीवको मनुष्य भव मिलना दुर्लभ है, कैसे सो बताते हैं—तीन सौ तैतालीस घन राजू प्रमाण इस विशाल विश्वमे केवल ढाई द्वीपमें मनुष्य रहते हैं अतः सर्वत्र भ्रमण करते हुए यह स्थान दुर्लभतासे बहुत काल—अनंतकाल व्यतीत होनेपर प्राप्त होता है । इसकी दुर्लभता वैसी है जैसे साधुके मुखसे कठोर वचन निकलना दुर्लभ, या सूर्यमे अंधकार, क्रोधीमें दया, लोभीमें सत्यवचन, मानीमें परगुणकथन, स्त्रियोमे सरलता, दुष्टमें उपकार मानना, अजैनमतोंमे वास्तविक तत्त्वबोध जैसे ये सब दुर्लभ हैं वैसे ही मनुष्यभव मिलना दुर्लभ है । मनुष्य पर्याय मिलनेपर भी आर्यक्षेत्र, लोकपूजित जाति एवं कुल, प्रशस्त रूप, बालकालमें नही मरना, हेयोपादेय बुद्धि, नीरोगीपना, जैनधर्मके उपदेशका सुनना उसे ग्रहण करना और उसपर श्रद्धा होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है अर्थात् इन सबमेसे एक मिलता है तो दूसरा नही मिलता, दूसरा मिलता है तो तीसरा नहीं । सबका सब मिलना अति दुष्कर है, इनके मिलनेपर भी संयम प्राप्त होना दुर्लभ है । इसतरह बहुत कठिनाईसे क्षपक मुनिराजने संयमको प्राप्त किया है ।

प्रपाल्यापि चिरं वृत्तमश्रुताधारसन्निधौ ।
अलब्धदेशनो मृत्युकाले प्रभ्रंशते ततः ।।४५०।।

दोषेभ्यो वार्यते दुःखं, संन्यस्तः क्रियते सुखम् ।
छिद्यते सुखनो वंशः, कृष्यते दुःखतस्ततः ।।४५१।।

अयमन्नमयो जीव, स्त्याज्यमानस्त्वसौ कदा ।
आर्त्तरौद्राकुलीभूत, श्चतुरंगे न वर्तते ।।४५२।।

शिक्षान्नश्रुतिपानाभ्यां, साधुराप्यायितः पुनः ।
क्षुधातृष्णाभिभूतोऽपि, शुद्धध्याने प्रवर्तते ।।४५३।।

ऐसे बहु दुर्लभ संतति-परंपरासे प्राप्त सयमको क्षपक साधु प्राप्त करके भी अज्ञानी निर्यापकके सानिध्यमे धैर्यको बढ़ानेवाले उपदेशामृतको प्राप्त नही कर सकता ।।४४९।। और जिसको धर्मका उपदेश नही मिला है ऐसा वह क्षपक श्रुतज्ञानसे रहित उक्त निर्यापकके निकट अपने चिरकाल तक पाले हुए चारित्रको मृत्युकालमे नष्ट कर डालता है ।।४५०।। समाधिमे उद्यत उस क्षपकको उपदेशके द्वारा ही दोषोसे रोका जाता है, उपदेशसे ही उसका दुःख भुलाया जाता है और सुखी कराया जाता है । जैसे बांस जब तक अति छोटा अंकुर रूप है तब तक उसको सुखसे उखाडा जा सकता है किन्तु बड़ा हो जानेपर कठिनाईसे उखाड़ा जाता है, वैसे ही इन्द्रिय विषय भोजन पान आदिमें गया हुआ क्षपकका मन बड़ी कठिनाईसे रोका जा सकता है उसके लिये कर्ण प्रिय मधुर वाणीसे धर्मोपदेश देना अति आवश्यक है और ऐसा उपदेश अज्ञानी निर्यापक दे नही सकता ।।४५१।।

यह संसारी जीव अन्नमय है अर्थात् मनुष्य अन्न बिना रह नही सकता ऐसे अन्नका क्षपक त्याग कर रहा है उस समय कदाचित् अन्नके अभावमे आर्त्तरौद्र भावसे आकुलित हुआ क्षपक चार आराधनाओंमें प्रवृत्ति करना छोड़ देता है ।।४५२।। हितकी शिक्षा रूप उत्कृष्ट अन्न और शास्त्र श्रवण रूप पानके द्वारा क्षपक साधुको संतुष्ट तृप्त कराया जाता है उससे वह भूख प्याससे पीड़ित होनेपर भी पुनः शुद्ध ध्यानमें प्रवृत्त हो जाता है ।।४५३।।

क्षुधया तृष्णया साधोर्बाधितस्य ददाति न ।
उपदेशमशास्त्रज्ञः, समाधिजननक्षमं ।।४५४।।

ताभ्यां प्रपीडितो बाढं, भिन्नभावस्तनुश्रुतः ।
रोदनं याचनं दैन्यं, करुणं विदधाति सः ।।४५५।।

पूत्कुर्यादसमाधानपानं पिबति पीडितः ।
मिथ्यात्वं क्षपको गच्छेद्विपद्येता समाधिना ।।४५६।।

हित्वा निर्भर्त्स्यमानोऽसौ, संस्तरं गन्तुमिच्छति ।
पूत्कुर्वत्ययशस्तत्र, त्याज्यमाने च जायते ।।४५७।।

शास्त्रज्ञानसे रहित निर्यापक भूख और प्याससे पीड़ित क्षपक साधुको समाधि-शांतभावको उत्पन्न करनेमें समर्थ ऐसे विशिष्ट उपदेशको दे नही सकता । अत निर्यापक शास्त्रज्ञ होना आवश्यक है ।।४५४।।

क्षुधा और तृषासे अधिक पीड़ित हुआ क्षपक शुभ परिणामको छोड़ देता है, तथा वह हीनबुद्धि सुनने वालोंको करुणा दया उत्पन्न करनेवाला रुदन करने लग जाता है, भोजनकी याचना करता है तथा दीनता करता है ।।४५५।।

भूख प्याससे पीड़ित क्षपक जोरसे चिल्लाने लगता है, असमाधान पान— अर्थात् अकालमें पानी पीने लगता है । स्वयं खड़े होकर हाथसे गृहस्थ द्वारा प्रदत्त पानी योग्य समयपर पीना समाधिपान है और इससे विपरीत पान करना—बिना दिये बैठकर पानी पीना इत्यादि अयुक्त कार्य करता है । सदुपदेशके अभावमें मिथ्यात्व भावको प्राप्त हो जाता है अर्थात् सम्यक्त्व रत्नसे रहित होता है, और इस तरह असमाधिसे मृत्युको प्राप्त होता है ।।४५६।।

क्षपक उपर्युक्त अयुक्त कार्य करता है उस समय यदि उसका तिरस्कार किया जाय तो वह संस्तर छोड़कर भागना चाहेगा । रोने चिल्लाने वाले क्षपक को यदि संघ छोड़ देगा तो धर्मका महान् अपयश होगा । इससे स्पष्ट होता है कि शास्त्रज्ञानसे रहित निर्यापक क्षपकका नाश कर देता है ।।४५७।।

यहां तक निर्यापक शास्त्रज्ञ न हो तो क्या क्या दोष आते है यह बताया । अब निर्यापक शास्त्रज्ञ होनेपर जो लाभ होता है उसको कहते है—

समाधानविधिं तस्य, विधत्ते शास्त्रपारगः ।
दीप्यते दीपितः कर्णाहुतिभिर्ध्याननपावकः ॥४५८॥

क्षपकेच्छाविधानेन, शरीरप्रतिकर्मणा ।
समाधि कुरुते सम्यगुपायैरपरैरपि ॥४५९॥

वैय्यावृत्यकरैस्त्यक्तं, मा भैषीरिति भाषते ।
निषिध्य संसृतिं तस्य, समाधानं करोति सः ॥४६०॥

शास्त्रोंमें पारंगत निर्यापक क्षपकके समाधानविधिको करता है अर्थात् जिस तरह क्षपकका मन शान्त हो वेदनानुभव कम हो उसतरह प्रवृत्ति करता है, उस क्षपककी दीपित ध्यान रूपी अग्निको उपदेश रूपी आहुति द्वारा पुन दीप्त करता है, अर्थात् क्षपक धर्मध्यानमें लीन हो ऐसा उपदेश देता है ॥४५८॥

शास्त्रज्ञ निर्यापक क्षपककी इच्छा पूर्णकर उसे रत्नत्रयमें स्थिर करता है, शरीरकी बाधायें–पीड़ा दर्द कमजोरी को मिटा देता है, तथा अन्य अन्य भले उपाय जैसे मधुर भाषण, सुंदर उपकरण, प्राचीन सल्लेखना करनेवाले महापुरुषोंकी श्रेष्ठ कथायें सुनाना आदिसे भी क्षपकको समाधि करता है ॥४५९॥

वैयावृत्य करनेवाले मुनिजनोंने क्षपकको छोड़ दिया हो तो निर्यापक उसे दिलासा देता है कि तुम डरना नहीं, हम तुम्हारी सेवा करेंगे इत्यादि धैर्य वचन कहता है । जिससे संसार बढता है ऐसे कार्य या परिणामका निषेध करके निर्यापक क्षपकका समाधान करता है ॥४६०॥

भावार्थ––सुश्रूषा सेवा करने वाले मुनि क्षपककी भर्त्सना करते हैं कि तुम परीषह सहन नहीं करते हो, बहुत रोते चिल्लाते हो, तुम्हारेसे हम कुछ प्रयोजन नहीं रखते, तुम बहुत चंचल मन वाले हो इत्यादि । इसतरह क्षपकको तिरस्कृत होते देख निर्यापक शीघ्र उसको सांत्वना देता है भो क्षपक ! तुम अभय रहो ! तुम्हारा वैयावृत्य हम स्वतः करेंगे । ऐसा आश्वासन देकर क्षपकको रत्नत्रयमें स्थिर करना तथा जिन्होने क्षपकको डाटा था उन्हें समझाना कि अहो ! यह क्षपक महापुरुष है, इस महान् सन्यासविधिको कौन कर सकता है । आपको इनके प्रति कटुवचन नहीं कहना चाहिये । इसतरह योग्य निर्यापक दोनोंको क्षपक और वैयावृत्य कारकोंको समझाता है ।

जानाति प्रासुकं द्रव्यं गीतार्थो व्याधिनाशनम् ।
श्लेष्ममारुतपित्तानां विकृतानां च निग्रहम् ।।४६१।।
श्रुतपानं यतस्तस्मै बत्ते शिक्षण भोजनम् ।
क्षुत्तृष्णाकुलचित्तोऽपि ततो ध्याने प्रवर्तते ।।४६२।।

छद उपजाति—

गुणाः स्थितस्येति बहुप्रकारा गोतार्थमूले क्षपकस्य संति ।
संपद्यते काचन नो विपत्तिः संक्लेशजालं न च किंचनापि ।।४६३।।

आधारी ।

जानाति व्यवहारं यः, पंचभेदं सविस्तरम् ।
दत्तालोकितशुद्धिश्च, व्यवहारी स भण्यते ।।४६४।।

शास्त्रका ज्ञाता निर्यापक व्याधिनाशक शुद्ध प्रासुक आहारको जानता है कि अमुक वस्तु रोगनाशक है तथा जो कफ, वायु और पित्त विकृत हुए है उनका निराकरण करना भी अच्छी तरह जानता है ।।४६१।।

निर्यापक क्षपकके लिये श्रुतरूपी पान और हितकारी शिक्षारूप भोजन देता है जिससे वह भूखप्याससे आकुल चित्त होनेपर भी ध्यानमें प्रवृत्ति करता है ।।४६२।।

इसप्रकार शास्त्रके ज्ञाता निर्यापकके चरणमूलमे समाधि करनेवाले क्षपक साधुके बहुतसे गुण होते है । उस क्षपकको योग्य निर्यापकके निकट न कोई विपत्ति आती है और न कुछ संक्लेश भाव होता है । वह शान्तभावसे समाधिमरणमे अग्रसर होता है ।।४६३।।

इसप्रकार आधारी का कथन हुआ ।

व्यवहारीका कथन—

जो सविस्तर पांच भेदवाले व्यवहारको जानता है तथा जिसने बहुत बार शिष्यमण्डलीको प्रायश्चित्त दिया है, अपने गुरुका प्रायश्चित्त देनेका क्रम भी जिसने भलीभांति देखा है वह निर्यापक आचार्य व्यवहारी कहा जाता है ।।४६४।।

व्यवहारोमतो जीद, श्रुतज्ञागमधारणा ।
एतेषां सूत्रनिर्दिष्टा ज्ञेया विस्तरवर्णना ।।४६५।।
द्रव्यं क्षेत्रं परिज्ञाय, कालं भावकृतोद्यमम् ।
सम्यक्संहननमुत्साहं, पर्यायं पुरुषं श्रुतम् ।।४६६।।

आगे व्यवहारके पाचभेद बताते हैं—

यहांपर व्यवहार शब्दका अर्थ प्रायश्चित्त समझना चाहिये, उस प्रायश्चित्तके पांच भेद ये हैं—जीद, श्रुत, आज्ञा, आगम और धारणा। इन पांचों प्रायश्चित्तोंका सविस्तर वर्णन सूत्रोंमें निर्दिष्ट है, उन्हें वहींसे जानना चाहिये ।।४६५।।

विशेषार्थ—मूलाराधना दर्पणमे इन प्रायश्चित्तोका किंचित् उल्लेख किया है— बहत्तर पुरुषोके द्वारा जो प्रायश्चित्त विधि प्रवर्तित हो रही है अथवा बहत्तर आचार्यों द्वारा जिसका विधान किया है उसको वर्त्तमानके आचार्य कहते है ऐसे प्राचीन प्रायश्चित्त विधिको "जीद प्रायश्चित्त" कहते हैं। चौदह पूर्वोमें जिसका वर्णन है वह श्रुत प्रायश्चित्त है। ग्यारह अंगोंमें जो वर्णित है वह आगम प्रायश्चित्त विधि है। अन्य किसो स्थानमे रहनेवाले आचार्य अपने बड़े प्रमुख शिष्यको दोष बतलाकर उसको किसो दूसरे स्थानमे स्थित आचार्यके पास भेज देते है, और वे आचार्य दोषानुसार प्रायश्चित्त विधि बतलाकर उक्त शिष्यको वापिस लौटाते है वह "आज्ञा प्रायश्चित्त" है। अर्थात् आचार्यको प्रायश्चित्त लेनेका अवसर आया है उनको अन्य आचार्यके समीप जानेकी शक्ति या समय नही है ऐसी स्थितिमें अपने जेष्ठ शिष्यको दोषोंका विवरण देकर अन्य आचार्यके निकट भेज देते है वहा वह अपने गुरुके अभिप्राय एव आलोचनाके अनुसार सब बात कह देता है और उन्होंने जो भी प्रायश्चित्त दिया उसको लौटकर गुरुके लिये निवेदन कर देता है इसतरहकी विधिको आज्ञा प्रायश्चित्त कहते हैं। कोई साधु या आचार्य किसी कारणवश अकेला है और उसके जघाबल समाप्त हो चुका है अन्यत्र जा नही सकता, तब वह पहले प्रायश्चित्त विधिको जैसा सुना और देखा था वैसा अपने दोषानुसार ग्रहण करता है यह धारणा नामका प्रायश्चित्त कहलाता है।

प्रायश्चित्त देनेकी विधि—

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, उद्यमशीलता, सहनन, उत्साह, दीक्षाकाल और श्रुतज्ञान ये सब किस पुरुषमें किसप्रकारके है अर्थात् इस शिष्यने किस द्रव्यका आश्रय

रागद्वेषावपाकृत्य, व्यवहारविशारदः ।
व्यवहारी ददात्यस्मै, प्रायश्चित्तं विधानतः ।।४६७।।
व्यवहारापरिच्छेदी, व्यवहारं ददाति यः ।
अवाप्यासौ यशो घोरं, संसारमवगाहते ।।४६८।।

लेकर कौनसा दोष किया है, कौनसा क्षेत्र है, निषिद्ध क्षेत्रमे गया है इत्यादि बातोंका विचार प्रायश्चित्त देनेवाले आचार्य करते हैं ।।४६६।।

व्यवहारमें विशारद ऐसा आचार्य रागभाव और द्वेषभावको दूरकर विधि-पूर्वक प्रायश्चित्त देता है ।।४६७।।

विशेषार्थ—यतिजन अपने महाव्रत आदिमे अतीचार लगनेपर प्रत्याश्चित्त लेते है । अतीचार या दोष द्रव्य क्षेत्र आदिके आश्रयसे हुआ करते हैं । सचित्त वस्तुका उपयोग करनेसे द्रव्य प्रतिसेवना अर्थात् द्रव्य अतीचार होता है । वर्षायोगमें दो कोससे अधिक गमन करना, अथवा साधुके लिये सदा ही जो क्षेत्र निषिद्ध है उसमें यदि चला जाय तो क्षेत्र प्रतिसेवना होती है । आवश्यक क्रियाके कालका उल्लघन होना आदि रूपकाल प्रतिसेवना है । प्रमादभाव, दर्पभय इत्यादि भाव प्रतिसेवना कहलाती है । इन सब कारणोंको आचार्य देखते है कि इस शिष्यने द्रव्य प्रतिसेवना की है या क्षेत्र प्रति सेवना । तथा आचार्य यह भी देखते है कि यह यति प्रायश्चित्त लेनेमें किस भावसे प्रवृत्त हुआ है । साथ रहना चाहता है इसलिये, अथवा यशके लिये या केवल कर्म निर्जराके लिये । आचार्य यह भी देखे कि प्रायश्चित्तके लिये कितना उत्साह है । इस शिष्यका दीक्षाकाल कितना हो चुका है ? श्रुतज्ञान कम है या अधिक, वैराग्यशील है या नही । संहनन कैसा है । इन सब विषयोंको ज्ञातकर यथायोग्य तद् तद् दोषानुसार आचार्य प्रायश्चित्त देते हैं । यह योग्यता व्यवहार ग्रंथ-प्रायश्चित्त ग्रंथोंमें निपुणता होने पर होती है, अतः आचार्यको व्यवहारी होना चाहिये ।

जो व्यवहार शास्त्र—प्रायश्चित्त शास्त्रको नही जानता वह आचार्य यदि प्रायश्चित्त देता है तो वह अपयश को प्राप्त कर अन्त में घोर संसार में डूबता है ।।४६८।।

भावार्थ—शास्त्रज्ञान विना आचार्य प्रायश्चित्त देगा तो लोग कहेंगे कि यह मुखमें जो आया वह दण्ड देता है किस अपराधका कौनसा प्रायश्चित्त है यह इसे ज्ञात

व्यवहाराबुधः शक्तो, न विशोधयितुं परम् ।
किं चिकित्सामजानानो, रोगग्रस्तं चिकित्सति ॥४६९॥

छन्द वंशस्थ —

ततः समीपे व्यवहारवेदिनः, स्थितिर्विधेया क्षपकेण धीमता ।
सिसिक्षुणा बोधिसमाधिपादपौ, मनीषितानेक फलप्रदायिनौ ॥४७०॥

प्रवेशे निर्गमे स्थाने, संस्तरोपधिशोधने ।
उद्वर्त्तने परावर्ते, शय्यायामुपवेशने ॥४७१॥

उत्थापने मलत्यागे, सर्वत्र विधिकोविदः ।
परिचर्या विधानाय, शक्तितो भक्तितो रतः ॥४७२॥

आत्मश्रममनालोच्य, क्षपकस्योपकारकः ।
प्रकारको मतः सूरिः, स सर्वादरसंयुतः ॥४७३॥

ही नही । यह मुनिको शुद्धि क्या करेगा । यह व्यर्थ ही मुनियोंको कष्ट देता है । इत्यादि रूप अपकीर्ति अज्ञानी आचार्य प्रायश्चित्त देवे तो होती है । अयोग्य कार्य करनेसे उसका संसार भ्रमण भी बढ़ता है ।

व्यवहारको नहीं जाननेवाला आचार्य अन्य को प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करनेमें समर्थ नही हो सकता । चिकित्साको नही जाननेवाला पुरुष क्या रोगग्रस्तकी चिकित्सा-इलाज कर सकता है ? नही कर सकता ॥४६९॥ इस कारणसे बुद्धिमान् क्षपकको व्यवहारके ज्ञाता निर्यापकके समीप ही रहना चाहिये, कैसा है क्षपक मनोवांछित अनेक फल देनेवाले बोधि और समाधिरूप वृक्षोको जो सिंचना-वृद्धिगत करना चाहता है । अर्थात् जिसे अपने बोधि समाधिको बढाना है उस क्षपकको चाहिये कि वह व्यवहारी निर्यापकका आश्रय ले ॥४७०॥

प्रकारकत्व—

जो निर्यापक क्षपकको वसति आदिमें प्रवेश करानेमे, वसति आदि स्थानोंसे बाहर निकालनेमें प्रवीण है, खड़े करना, संस्तर और उपधिका शोधन करना, कमजोर क्षपकको कर्वट दिलाना, सीधेसे उलटा और उलटेसे सीधा सुलाना, बिठाना इन क्रियाओंमे जो निपुण है । तथा उठाकर खड़ा कर देना, मल-मूत्रका त्याग कराना इन

छंद वंशस्थ—

निपीड्यमानः क्षपकः परीषहैः, सुखासिकां याति सहायकौशलैः ।
यतस्ततस्तेन समाधिमिच्छता, निषेवणीया गुरवः प्रकारकाः ।।४७४।।

अस्ति तीरं गतस्यापि, रागद्वेषोदयः परः ।
परिणामश्च संक्लिष्टः, क्षुत्तृष्णादि परीषहैः ।।४७५।।
आलोचनां प्रतिज्ञाय, पुनर्विप्रतिपद्यते ।
लज्जते गौरवाकांक्षी, स तां कर्तुमपास्तधीः ।।४७६।।
ततः स्थापनाकारी, त्यागावज्ञानभीलुकः ।
क्षपको गुणदोषौ नो, पूजाकामो विवक्षति ।।४७७।।

सबमें चतुर है, सेवा-वैयावृत्य विधिमें शक्ति और भक्तिस सदा लगा रहता है । अपने को कितना श्रम हुआ है इसका विचार न करके सदा क्षपकका उपकार करता रहता है, ऐसा गुणवाला आचार्य प्रकारक कहा जाता है ।।४७१।।४७२।।४७३।।

परीषहों द्वारा पीड़ित हुआ क्षपक सहायता करनेमे कुशल ऐसे आचार्यादि द्वारा सुखशांतिको प्राप्त होता है, इसलिये समाधिमरणके इच्छुक क्षपकको प्रकारक गुण विशिष्ट आचार्यको सेवा करना चाहिये, अर्थात् प्रकारक आचार्यके निकट ममाधि करना चाहिये ।।४७४।।

।। प्रकारक वर्णन समाप्त ।।

आयोपाय दर्शित्व—

जिसके संसार सागरका तीर आ चुका है अथवा मनुष्य पर्यायका तीर-अन्त आ चुका है, ऐसे क्षपकके भी रागद्वेषका उदय तीव्र आ सकता है तथा क्षुधा तृषा आदि परीषह द्वारा संक्लेश युक्त परिणाम भी होते है ।।४७५।। कोई क्षपक प्रथम तो मैं निर्दोष आलोचना करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा करता है किन्तु फिर उस प्रतिज्ञाको छोड़ देता है । गौरवका आकांक्षी नष्ट बुद्धि ऐसा वह क्षपक आलोचना करनेमें लज्जित होने लग जाता है ।।४७६।।

क्षपकके मनमे विचार आता है कि यदि मैं अपराधका निवेदन करूंगा तो यह संघ मेरा त्याग कर देगा अर्थात् मुझे संघमें नही रहने देंगे, अथवा मेरा तिरस्कार करेंगे । इसतरह वह क्षपक आलोचना करनेमें भयभीत होता है । अथवा क्षपक मेरा

आयापायविधिर्येन हेयोपादेयवेदिना ।
विधयते क्षपकस्या सावायापायविगुच्यते ।।४७८।।

ततो वक्रमतेस्तस्य सामान्यालोचनाकृते ।
आयापायदिशा वाच्यौ गुणदोषौ गणेशिना ।।४७९।।

दुःखतः संयमं लब्ध्या शरीरी भवसागरे ।
सशल्यमृत्युना सारं नाशयत्यपचेतनः ।।४८०।।

आचरण शुद्ध है ऐसा सिद्ध करने हेतु स्वदोषोंको गुरु समक्ष नहीं कहना चाहता है, अपना महत्व स्थापित करना चाहता है । इसतरह पूजा प्रतिष्ठा ख्यातिका इच्छुक वह क्षपक गुण और दोषको नही देखता अर्थात् आलोचनामें महान् गुण है और आलोचना नही करनेमें बड़ा भारी दोष है ऐसा वह नही सोच पाता ।।४७७।।

क्षपकके द्वारा इसतरह लज्जा आदिके निमित्त शुद्ध आलोचना नही करनेपर निपुण निर्यापक जो कि हेय क्या है, उपादेय क्या है इसको अच्छी तरह जानते है वे उक्त क्षपकको आय और उपायको विधिका उपदेश देते है । इसतरहके आचार्यको आयोपाय दर्शी कहते है । आय–रत्नत्रयकी वृद्धिको कहते है और अपाय–रत्नत्रयके नाश को कहते है ।।४७८।। आलोचनामे मायाभाव रखनेवाले वक्रबुद्धि क्षपक द्वारा यदि सामान्य रूपसे आलोचना की है अर्थात् सामान्य २ अपराध बताता है विशेषको छिपाता है तो आयोपाय दर्शी आचार्य उस आलोचनाके गुण दोष कहते है ।।४७९।।

भावार्थ—क्षपक आलोचना न करे अथवा केवल अपने सामान्य दोषोंकी आलोचना करे तो आचार्य उसे समझाते है कि आप यदि आलोचना नहीं करेंगे तो आपके रत्नत्रयका नाश होगा और सभी दोषों का निवेदन रूप आलोचना करोगे तो रत्नत्रयधर्म प्राप्त होगा, उसमें निर्मलता आयेगी । जो कपट भावसे आलोचना करेगा उसका चारित्र नष्ट होगा इत्यादि ।

आचार्य क्षपकको उपदेश देते है कि ससारी प्राणी इस भवसागरमें बड़ी कठिनतासे संयमको प्राप्त कर पाता है, सयममें सार ऐसी समाधिको अज्ञानी शल्य युक्त मरण करके नष्ट कर डालता है अर्थात् जो मायाशल्यको नही छोड़ता, कपटपूर्वक आलोचना करता है वह सारभूत समाधि सहित संयमका भी नाश कर देता है ।।४८०।।

द्रव्यशल्ये यथा दुःखं सर्वांगीण व्यथोदयः ।
भावशल्ये तथा जन्तोर्विज्ञातव्य मनुद्धृते ॥४८१॥
कंटकेऽनुद्धृते प्राप्तो यथा त्वक्कील नालिकां ।
पूतिवल्मीकरन्ध्राणि प्राप्यांघ्रि सटति स्फुटम् ॥४८२॥
विविधं दोषमापन्नः संयमोऽनुद्धृते तथा ।
भयगौरवलज्जाभिः भावशल्ये विनश्यति ॥४८३॥
प्रभ्रष्टबोधिलाभोऽतश्चिरकालं भवार्णवे ।
जन्ममृत्युजरावर्ते जीवो भ्रमति भीषणे ॥४८४॥

जिसतरह द्रव्यशल्य-कांटा आदिके लग जानेपर सर्वांगीण पीड़ा और दुःख होता है उसीतरह भावशल्य-माया कपटको निकाल नहीं देगे तो जीवोंको ससार भ्रमण-रूप महान् दुःख होता है ॥४८१॥

जैसे कांटेको नहीं निकाला तो वह पहले चर्ममे घुसता है उससे पांवमे छिद्र होता है अनंतर पांवमे अंकुरवत् मांस वृद्धि होती है पुनः वह कांटा नाड़ी तक घुसनेसे वहाका मांस सड़ता है पुनः बहुतसे छिद्र होकर वह पाव निरुपयोगी बन जाता है ॥४८२॥

उक्त पैरके समान ही भय, गौरव और लज्जासे भावशल्य-मायाकपट को नहीं निकाल दिया तो विविध दोष युक्त हुआ संयम नष्ट हो जायगा ॥४८३॥

भावार्थ—क्षपक भयसे दोष छिपाता है कि यह मुझे बड़ा प्रायश्चित्त देगे । लज्जासे–यह आचार्य मेरा तिरस्कार करेंगे, अथवा अपना बड़प्पन दिखाने हेतु क्षपक आलोचना नहीं करता अतः आचार्य उसे कांटेका उदाहरण देकर समझाते हैं कि कांटा नहीं निकाला तो पैर सड़कर नष्ट हो जाता है, बेकाम हो जाता है ऐसे ही मनका मायाभाव नहीं निकाला तो संयम और समाधि नष्ट होती है ।

अहो क्षपकराज ! आलोचना नहीं करनेसे समाधि नहीं होती । जिसका बोधि समाधि लाभ नष्ट हो चुका है ऐसा जीव चिरकाल तक जन्म जरा और मरणरूपी भयंकर आवर्त जिसमें उठ रहे हैं ऐसे घोर संसार समुद्रमें परिभ्रमण करता है ॥४८४॥

तीव्रव्यथासु योनीषु पच्यमानः स संततं ।
तत्र दुःखसहस्राणि दीनो वेदयते चिरम् ॥४८५॥
मुहूर्तमप्यतः स्थातुं सशल्येन न शक्यते ।
आचार्यपादयोर्मूले तदुद्धर्तव्यमंजसा ॥४८६॥
जिनेंद्रवचनश्रद्धा जरामरणभीरवः ।
निराकृत भयव्रीडाः संपन्नार्जवमार्दवाः ॥४८७॥
पुनर्भवलतामूलमुत्पाटच निखिलं बुधाः ।
सवेगोत्पन्नवैराग्यास्तरन्ति भववारिधिम् ॥४८८॥
यतः प्रसूचने दोषं दोषाणां सूचने गुणं ।
(एवं) न तु दर्शयते सूरिरायापाय प्रदर्शकः ॥४८९॥
तदानीं क्षपको नूनं हेयादेयविमूढधीः ।
निवर्तते न दोषेभ्यो न गुणेषु प्रवर्तते ॥४९०॥

उस ससारमें तीव्र पीड़ावाली चौरासी लाख योनियोंमें समाधिको नष्ट करने वाला वह क्षपकका जीव सतत् सहस्रो दुःखोंको दीन हुआ भोगता है, अर्थात् सपूर्ण योनियोंमे भ्रमण करते हुए वहांके सर्व दुखोंका उसे सामना करना पड़ता है ॥४८५॥ इसीलिये हे क्षपक ! तुम्हारे लिये एक मुहूर्त्त भी शल्य युक्त रहना ठीक नही है । उस शल्यको तो आचार्य देवके चरण कमलोंमें भलोप्रकारसे निकाल ही देना चाहिये ॥४८६॥

जो जिनेन्द्रदेवको वाणीमें श्रद्धावान् है, जरामरणसे भयभीत है, भय और लज्जाको दूर करनेवाले हैं, मार्दव आर्जवयुक्त हैं । संसार स्वरूपके चिंतनसे संवेग और वैराग्यको प्राप्त हुए हैं ऐसे बुद्धिमान् क्षपक आलोचना करके पुनर्भवरूपी लताको जड़को उखाड़कर फेंक देते हैं और संसार सागरसे पार हो जाते है । अर्थात् भावशल्य जो माया छल कपट है उसके छोडनेमे शुद्ध आलोचना पूर्वक समाधिमरण होता है उससे संसार भ्रमण समाप्त हो जाता है ॥४८७॥४८८॥

आलोचना द्वारा गुरुको अपने अपराध नही बतानेमें बड़ा भारी दोष है और अपराधोंको बता देने में विशेष गुण है, ऐसा आचार्य यदि नही समझाते तो वे आयापायदर्शी नहीं हैं [यह श्लोक अशुद्ध प्रतीत होता है] ॥४८९॥ निर्यापक आचार्य द्वारा इसतरह आलोचनाके गुण नहीं बतानेपर वह क्षपक नियमसे हेय और उपादेयमें मूढबुद्धि होवेगा अर्थात् अपराधका निवेदन गुरुके समक्ष नहीं बताना तो हेय है, त्याज्य

आयापाय दिशस्तु समीपे स्थेयं बुद्धिमता क्षपकेण ।
तत्राराधयते चतुरगं नूनं विघ्नमशेषमपास्य ।।४६१।।

।। इति आयापायदिक् ।।

कश्चनाकथने दोषे दोषाणां कथने गुणे ।
वक्रात्मा कथ्यमानेऽपि नालोचयति तत्त्ववित् ।।४६२।।

एकान्ते मधुरं स्निग्धं गंभीरं हृदयंगमम् ।
स वाच्यः सूरिणा वाक्यं प्रांजलीकुर्वता मनः ।।४६३।।

है और अपराध निवेदन करना उपादेय-ग्रहण करने योग्य । ऐसा वह क्षपक नही समझ पायेगा अत: दोषोसे दूर नही होगा और गुणोंमे प्रवृत्ति नही करेगा ।।४६०।।

अतः बुद्धिमान् क्षपक मुनिको चाहिये कि वह आय अपाय दर्शक आचार्यके निकट रहे । उनके निकटमें ही निश्चयसे चार आराधना सर्व विघ्नरहित संपन्न होती है ।।४६१।।

।। आयापायदर्शी वर्णन समाप्त ।।

आचार्यके अवपीड़क या उत्पीड़ी गुणका वर्णन—

निर्यापक आचार्य द्वारा आलोचनासे होनेवाले गुण और आलोचनाके अभावमें होनेवाले दोष क्षपकको दिखा देनेपर अर्थात् अपने अपराध कहोगे तो गुण है और नहीं कहोगे तो दोष है इसतरह समझाने पर भी कोई कुटिल बुद्धिवाला क्षपक आलोचना नही करता ।।४६२।।

इस तरह क्षपकके आलोचना नही करनेपर आचार्य उसे पुन: एकान्तमे ले जाकर मिष्ट स्नेह भरे, गंभीर हृदयको हरनेवाले ऐसे सु दर वचन कहकर समझाते है, उसके मनको सरल निर्मल करते हैं ।।४६३।।

विशेषार्थ—क्षपक आलोचना नही करे तो आचार्य उसे किसी रम्य प्रदेशमें लेजाकर अत्यंत मधुर वाणीसे समझाते हैं कि हे आयुष्मन् ! रत्नत्रयमें दोष न हो ऐसा आप सदा ही प्रयत्न करते आये हो ! आप भय और लज्जाको छोड़ दीजिये, गुरुजन तो माता पिता सदृश होते हैं उनको अपने दोष बतानेमें क्या भय ! क्या बालक अपनी

कथायामकथायां च, दोषाणां गुणदोषयोः ।
कथायामपि नो कश्चि, दालोचयति वक्रधीः ।।४६४।।

दोषमुद्गाल्यते तत्स्थ, मुत्पीड्योत्पीडनो यतिः ।
मांसं कंठीरवेणेव शृगालः कुर्वता भयम् ।।४६५।।

मातासे सब बात नही कहता ? गुरु कभी भी शिष्यके दोषको प्रगट नही करते । परके दोष गुरुजन तो क्या अन्य भी प्रगट नही करते क्योकि उससे नीच गोत्रका बंध होता है । तुम अपने धर्मको मलिन मत करो, आलोचना द्वारा उसे सुविशुद्ध बनाओ अपने दोष बिलकुल निःशंक होकर कहो, हम तुम्हारे दोष किसीके भी सामने प्रगट नहीं करेंगे । कोई भी विद्वान् पराये दोष बाहर नही कहता । इत्यादि वाक्यसे क्षपकका मन आलोचनाकी ओर उद्यत करता है ।

कोई कुटिल बुद्धिवाला क्षपक ऐसा होता है कि उसको आलोचनाके नही करनेसे क्या दोष होता है इस बातको समझाया है अथवा नही समझाया तथा आलोचनाके गुण और दोष अर्थात् आलोचना करनेमे बहुत लाभ या गुण प्राप्त होते है और नही करनेमें बहुत दोष या हानि होती है ऐसे दोनो ही विषयोको आचार्य समझा चुके हैं फिर भी वह आलोचना नही करता ।।४६४।।

जब क्षपक समझाने पर भी आलोचना नही करता तब उत्पीडी या अवपीड़क गुणधारी आचार्य उस क्षपकमें स्थित जो दोष है उनको तिरस्कार डाँट फटकार द्वारा क्षपकसे उगलवा देते है, जैसे कि शृगालको डर दिखाकर सिंह उससे मास उगलवा लेता है ।।४६५।।

विशेषार्थ—आलोचना नहीं करने वाले क्षपकको आचार्य डाटकर डर दिखाकर कठोर वाणीसे उसका दोष निकलवा लेते हैं । वे कहते हैं–हे क्षपक ! रत्नत्रय धर्ममे तुमको बिलकुल आदर नही है, हे अपराधी ! तुम हमारे यहासे निकल जावो तुमको हमारेसे क्या प्रयोजन है । जब तुम अपना दोष रूप रोग दूर नहीं करना चाहते । केवल आहार का त्याग करनेसे सल्लेखना नहीं होती । यह क्या क्षपकत्व पदकी विडंबना करते हो । जब तुम कपट भाव नहीं छोड़ते तो तुमको अन्य यतिजन नमस्कार नही करेंगे इत्यादि ।

कंठीरव इवौजस्वी तेजस्वी भानुमानिव ।
चक्रवर्तीव वर्चस्वी, सूरिरुत्पीडकोऽकथि ।।४९६।।

यथावष्टभ्य हस्ताभ्यां, विदार्य वदनं घृतम् ।
बालं पाययते माता, रटन्तं हितकारिणी ।।४९७।।

अवपीड्य तथोत्पीडी हितारोपपरायणः ।
अनृजुं क्षपकं सूरि, र्दोषं त्याजयतेऽखिलं ।।४९८।।

भद्रः सारणया हीनो, न लिहन्नपि जिह्वया ।
ताडयन्नपि पादेन, भद्रः सारणया युतः ।।४९९।।

परकार्यपराचीनाः, सुलभाः स्वार्थकारिणः ।
आत्मार्थमिव कुर्वाणाः, परार्थमपि दुर्लभाः ।।५००।।

ये स्वार्थं कर्तुमुद्युक्ताः, परार्थमपि कुर्वते ।
कटुकैः परुषैर्वाक्यै, स्ते तरां संति दुर्लभाः ।।५०१।।

अवपीड़क गुणधारी आचार्य सिंहके समान ओजस्वी, सूर्यके समान तेजस्वी, चक्रवर्तीके समान वर्चस्वी होता है ।।४९६।।

जिसप्रकार हितकारिणी माता रोते हुए बालकको पकड़कर दोनों हाथोसे मुखको फाडकर घृतको पिलाती है ।।४९७।।

उसीप्रकार क्षपकके हित करनेमें तत्पर उत्पीड़क आचार्य पीडित करके जबरदस्ती उस कुटिल क्षपकसे सब दोषोंको छुड़वाता है ।।४९८।।

जो आचार्य जिह्वासे मधुर बोलते हुए भी सारणासे हीन है—क्षपकको गुणमे प्रेरित नहीं करते वे श्रेष्ठ नही है किन्तु दोष निकालने हेतु क्षपक को पैर से ताड़ित भी करे तो वह श्रेष्ठ है क्योकि सारणायुक्त है ।।४९९।।

जो परके कार्योंसे विमुख है केवल स्व कार्यमें ही लगे हैं ऐसे पुरुष तो सुलभ हैं, किन्तु अपने कार्यके समान पराये कार्योंको करते है ऐसे पुरुष सुलभ नहीं अति दुर्लभ है ।।५००।।

जो स्वकार्यको करनेमें उद्यमशील होकर साथमें पराये कार्यको भी करते हैं । पराये कार्योको संपन्न कराने के लिये कठोर एवं कड़वे वाक्य बोलने वाले पुरुष तो अत्यंत दुर्लभ हैं ।।५०१।।

निवर्तनं न दोषेभ्यो न गुणेषु प्रवर्तनम् ।
विधत्ते क्षपकः सर्वदोषमत्याजितो यतः ।।५०२।।

छंद शालिनी—

नित्योत्पीडी पीडयित्वा समस्तांस्तस्माद् दोषांस्त्याजयेत्तं हितार्थी ।
व्याधिध्वंसं किं विधत्ते न वैद्यः, तन्वन्बाधां व्याधितस्येष्टकारी ।।५०३।।

।। इति उत्पीडो ।।

दोषो निवेशितो यत्र, तप्ते तोयमिवायसि ।
न निर्याति महासारे, स ज्ञातव्योऽपरिस्रवः ।।५०४।।

यदि आचार्य क्षपकको जबरदस्ती दोषोंसे दूर नही करता एवं गुणोंमें प्रवृत्त नहीं करता है तो वह क्षपक बादर सूक्ष्म सब प्रकारके दोषोंको करेगा क्योंकि उसने दोष छुड़ाये नहीं—दोषोंका निष्कासन नहीं किया है ।।५०२।।

क्षपकके हितका इच्छुक उत्पीड़ी आचार्य क्षपकको कठोर वचन आदिसे पीड़ा पहुँचाकर उससे समस्त दोष हटाता है । ठीक ही है । क्योंकि रोगीका हितचितक वैद्यराज रोगीको कड़वी औषधिका सेवन पथ्यपालन आदि द्वारा बाधा पहुँचाकर व्याधिका नाश क्या नहीं करता है ? अवश्य करता है ।।५०३।।

उत्पीडक वर्णन समाप्त ।

अपरिस्रावीगुण—

क्षपक द्वारा दोषोंका निवेदन आचार्यके निकट करनेपर उस आचार्यमें वे दोष ऐसे गुप्त या समाप्त होते है जैसे कि तपे लोहेपर गिरा हुआ जल गुप्त-समाप्त-लीन हो जाता है । महासार भूत उन आचार्य से बाहर कभी भी नहीं निकलते हैं एवं गुण विशिष्ट आचार्य अपरिस्रावी विशेषण युक्त माने जाते हैं ।।५०४।।

भावार्थ—जैसे तपा हुआ लोहेका गोला चारों तरफसे पानीका शोषण कर लेता है शोषणके बाद वह जल कभी भी लोहेसे बाहर नही निकलता वैसे ही क्षपकने अपने छोटे बड़े गुप्त प्रगट सब तरहके दोष आचार्यको कह दिये हैं उनको सुनकर आचार्य उन्हें अपने मनमें ही रख लेते हैं अन्य यति श्रावक आदि किसीके समक्ष उन दोषोंको कभी भी नही बतलाते है वे आचार्य अपरिस्रावी हैं ऐसा समझना चाहिये ।

अतिचारास्तपोवृत्त ज्ञानसम्यक्त्वगोचराः ।
मनोवाक्काययोगेन, जायन्ते त्रिविधा यतेः ।।५०५।।

मुनिजनोंको सम्यक् ज्ञान चारित्र और तपमें मन वचन और काय द्वारा अतीचार लगा करते है, इसतरह मन द्वारा, वचन द्वारा तथा काय द्वारा तीन प्रकारसे अतीचार उत्पन्न होते है ।।५०५।।

विशेषार्थ—मूलाराधना टीकामें सम्यग्दर्शन आदिके अतीचारोंका सुविस्तृत वर्णन पाया जाता है । तदनुसार यहां किंचित् बताते हैं—सम्यक्त्वके अतीचार शका-कांक्षा आदि पांच या पच्चीस है ये सर्व विदित है । सम्यग्ज्ञानके अतीचार-अकालमें सिद्धान्त ग्रन्थका पढ़ना, गुरु का, शास्त्रका नाम छिपाना आदि रूप है इसका भी वर्णन हो चुका है । चारित्रके अतीचार-पंच महाव्रतोंके अतीचार चारित्रके अतीचार कहलाते है । प्रत्येक महाव्रतको पांच पांच भावनायें आगममें बतलायी हैं जैसे प्रथम अहिंसा महाव्रतको वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदान-निक्षेपण समिति, और आलोकित पान भोजन ये पांच भावनाये हैं । इन भावनाओंसे रहित व्रतपालन चारित्रके अतीचार हैं । तपके अतीचार—तप बारह प्रकारका है । प्रथम अनशन तपके अतीचार—स्वयंको उपवास है और दूसरोंको भोजन कराता है अनुमोदना करता है इत्यादि अनशन तपके अतीचार हैं । अवमौदर्य तपके अतीचार—भूखसे कम खाना रूप अवमौदर्य तपका अनुष्ठान करता है किन्तु मन मे भरपेट भोजनकी इच्छा है । तुम खूब खाओ इत्यादि कहना ये अवमौदर्य के अतीचार जानने । वृत्ति परिसंख्यान तपके अतिचार—सात घर तक जावूंगा अमुक दातासे अमुक वस्तु हो लूंगा इत्यादि नियम लेकर उसमें किसी कारणवश कमी करना इत्यादि । रसत्याग तपके अतीचार—रसका त्यागकर उसमें मनमें लालसा बनी रहना, दूसरोंको रसवाला आहार कराना इत्यादि । विविक्त शय्यासन तपके अतीचार—अमुक वसतिमें इतने काल तक एकान्तमे रहूँगा ऐसा नियम लेना और उस वसतिमें रहते हुए अरतिके भाव होना कि यह स्थान कष्टदायक है मैंने व्यर्थ ही यहां का नियम लिया इत्यादि । कायक्लेश तपके अतीचार—अमुक आसन या अमुक प्रतिमायोग आदिका पहले नियम लेना पुनः उसमे अरतिभाव होना या उष्णसे पीड़ित होनेपर शीतलताकी इच्छा करना इत्यादि । प्रायश्चित्त तपके अतीचार—आलोचना करनेमें आगममें कहे गये आकंपित आदि दोष लगाना । प्रतिक्रमणके अतीचार—किये गये अपराधोंके प्रति त्याग

विश्वस्तो भाषते सर्वानाचार्याणामसौ न सः ।
आचार्यो भाषतेऽन्येभ्यस्तां, स्तुवन् स्विदधार्मिकः ।।५०६।।
रहस्यभेदिना तेन, त्यक्ताः, कल्मषकारिणा ।
साधुरात्मा गणः संघो, मिथ्यात्वाराधना कृता ।।५०७।।
रहस्यस्य कृते भेदे, पृथग्भूयोवतिष्ठते ।
कोपतो मुंचते वृत्तं, मिथ्यात्वं वा प्रपद्यते ।।५०८।।

बुद्धि नही होना इत्यादि । ऐसे ही विनयतप आदिमें अतीचार होते है उन्हे आगमसे जान लेना चाहिये ।

क्षपक मुनि यह आचार्य विश्वस्त है शिष्यके दोषको अन्यको नही कहता ऐसा विश्वास करता है यदि ऐसा विश्वास पात्र आचार्य क्षपकके आलोचित दोषोको अन्य जनोंके समक्ष कहता है तो वह आचार्य जिनधर्मविहीन है, क्योकि क्षपकके दोषोंका प्रगट करना जैनधर्मसे बाह्य है—निषिद्ध है ।।५०६।।

क्षपकके गुप्त दोषोंका प्रकाशन करने वाले पापकारी उस आचार्यने चार आराधना नष्ट कर दी ऐसा समझना चाहिये, इतना ही नही उसने क्षपक साधुका त्याग किया, संघका त्याग, अपने आत्माका भी त्याग कर दिया और मिथ्यात्वको आराधना की ऐसा समझना ।।५०७।।

भावार्थ—क्षपकके आलोचित दोष प्रगट करना योग्य नही है, यदि प्रगट करेगा तो उसने क्षपकका उसीसमय त्याग किया ऐसा समझना, क्योंकि अपने दोष जन जनके प्रत्यक्ष हुए है यह देखकर क्षपक भय एवं लज्जासे अपना घात कर सकता है अथवा रत्नत्रय धर्मको छोड़ देगा, क्रोधित होकर संघका त्यागकर बाहर सघ और सघ नायककी निंदा करेगा, अतः क्षपकके दोषोको प्रकट करने वालेको क्षपकत्याग, संघत्याग, मिथ्यात्वकी आराधनादि रूप दोष उपस्थित होते है ।

अपने रहस्य प्रकट हुआ देख क्षपक मुनि सघसे पृथक् होगा या क्रोधसे दीक्षा चारित्र छोड़ देता है, अथवा मिथ्यात्वको प्राप्त हो जाता है ।।५०८।।

भावार्थ—क्षपक अपने दोषको प्रगट हुआ जान संघको छोड़ देता है, उसके मनमें विचार आता है कि अहो ! मैंने तो इन आचार्योको प्राणवत् माना था, आज

मारयत्यथवा सूरिं, साधुर्मानग्रहाकुलः ।
संसारकाननभ्रांतिं, न मन्यंते हि मानिनः ।।५०९।।

विश्वस्तो भाषते शिष्यः सूरेरग्रे स्वदूषणम् ।
परस्याथ पुनब्रूंते सदाचार बहिर्भवः ।।५१०।।

यथायं दूषितोऽनेन दूषयिष्यति न स्तथा ।
इति क्रुद्धो गणः सर्वः पृथक्त्वं प्रतिपद्यते ।।५११।।

एतस्याचार्यकं संघो विच्छिनत्ति चतुर्विधः ।
निर्घाटयति वा रुष्टो रोषतः क्रियते न किं ।।५१२।।

वह मानना निर्मूल हुआ है ऐसे आचार्य संघ एवं चारित्रसे बस हो। मिथ्यादृष्टि लोग ही अच्छे हैं इत्यादि परिणाम द्वारा क्षपक अपने श्रद्धा और चारित्रसे च्युत हो जाता है अतः आचार्यका अपरिस्रावी होना अति आवश्यक है।

अथवा अपने दोष प्रगट होते देख क्षपक मानरूपी पिशाचसे आकुलित होकर आचार्यको मार देता है। क्योंकि मानी व्यक्ति संसार भ्रमणको नहीं देखते, नही मानते ।।५०९।।

क्षपकके दोष आचार्य द्वारा प्रगट किये जानेपर संघके साधु विचार करते हैं कि अहो ! शिष्य तो आचार्य समक्ष विश्वस्त होकर अपने दोष प्रगट करता है और ये आचार्य उस दोषको दूसरोंको कह देते है, ये सदाचारसे रहित हैं ।।५१०।।

इस आचार्यने जैसे इस क्षपकको दूषित किया वैसे आगे हम लोगों को भी दूषित कर डालेंगे। इस तरह विचार कर कुपित हुआ सर्व संघ उस आचार्यको छोड़ देता है ।।५११।।

क्षपकके दोष प्रकट करने वाले आचार्यका चतुर्विध संघ नष्ट हो जाता है अर्थात् संघस्थ साधु उन्हें छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं। अथवा क्रोधावेशमें आचार्यको ही संघसे निकाल देते हैं। क्रोधसे क्या नहीं किया जाता ? अर्थात् क्रोधसे सब कुछ अयुक्त कार्य किये जा सकते हैं ।।५१२।।

आचार्यो यत्र शिष्यस्य विदधाति विडंबनां ।
धिक् तान्निर्धर्मकान्साधूनिति वक्तिजनोऽखिलः ।।५१३।।

विश्वासघातका एव दुष्टाः संति दिगंबराः ।
ईदृशीं कुर्वते निंदां मिथ्यात्वाकुलिता जनाः ।।५१४।।

पृष्टोऽपृष्टोऽपि यो ब्रूते न रहस्यं कदाचन ।
इत्यादयो न विधन्ते दोषास्तस्य गणेशिनः ।।५१५।।

छद द्रुतविलंबित—

इति विमुच्यरहस्यविभेदकं भजत गुह्यनिगूहकमंजसा ।
न हि विशुद्धहिताहितवस्तवो हितं प्रपोह्य भजंत्यहितं जनाः ।।५१६।।

क्षपकके दोष प्रकट करनेसे अखिल लोग कहनें लग जाते हैं कि देखो ! इस धर्ममे आचार्य ही अपने शिष्यके दोप बतलाकर विडंबना कर रहे है, धिक् धिक् ऐसे धर्मविहीन साधुओं को । ये जॅन साधु ऐसे ही होते है ।।५१३।।

ये दिगम्बर दुष्ट है ये जैन साधु इसतरह विश्वासघात करते है । मिथ्यादृष्टि लोग क्षपकके दोष प्रकट करनेपर इसतरह जैनधर्मकी निंदा करते है ।।५१४।।

जो आचार्य किसीके द्वारा क्षपकके दोषोके बारेमें पूछनेपर अथवा नही पूछने पर कभी भी उसके दोष नही बताता, उस श्रेष्ठ निर्यापक आचार्यके ऊपर कहे सघ-त्याग, आत्मात्याग आदि दोष नही लगते है ।।५१५।।

ग्रथकार निर्यापकाचार्यको उपदेश देते है कि उपर्युक्त अपरिस्रावी गुणको जानकर तुम क्षपकके दोषका भेदन-प्रगटीकरण कभी नही करना । तुम गुप्त दोषको प्रकट करना छोड़ दो, क्षपकके दोष छिपाओ । क्योंकि हित और अहितको जिन्होंने भलीप्रकारसे ज्ञात कर लिया है वे पुरुष कभी भी हितको छोड़कर अहितमें प्रवृत्त नहीं होते हैं । अर्थात् हित अहितके ज्ञाता पुरुष हितको करते हैं अहितको नहीं, वैसे ही क्षपकका अपराध प्रगट करना दोष है और उसे प्रकट नहीं करना गुण है ऐसा जानने वाले गुणको करते हैं दोष को नहीं ।।५१६।।

।। अपरिस्रावी वर्णन समाप्त ।।

शुश्रूषकप्रमादेन शय्यायामासनादिके ।
संपन्ने दीनवाक्येन शिष्यकाणामसंवृते ॥५१७॥

वेदनाया मसह्यायां क्षुत्तृष्णाहिमादिभिः ।
क्षपकः कोपमासाद्य मर्यादां बिभित्सति ॥५१८॥

निर्यापकेण शांतेन शमनीयः स सूरिणा ।
क्षमापरेण धीरेण कुर्वता चित्तनिर्वृति ॥५१९॥

बहुप्रकार पूर्वांग श्रुतरत्नकरंडकः ।
सर्वानुयोगनिष्णातो वक्ता कर्ता महामतिः ॥५२०॥

सुखकारीगुण—

क्षपकको सेवा-वैयावृत्य करनेवाले यतिजन सेवामे प्रमाद करके क्षपकको शय्याको समय पर ठीकसे न लगानेसे, आसन बिछानेमें देर करनेसे, अथवा सुंदर रीति से नही बिछानेसे, आहार पानीको व्यवस्थामें देरी करनेसे, अपमानजनक वचन बोलनेसे, असंयमी गृहस्थके निमित्त इत्यादि हेतुओंसे क्षपकको कोप उत्पन्न होता है । भूख, प्यास, गरमी, सर्दी आदि निमित्तोंसे तीव्र वेदना होनेपर भी क्षपक कुपित होता है और संयमकी मर्यादा तोड़नेकी इच्छा करने लग जाता है समाधिमरणके नियमोंका भग करने लग जाता है उससमय निर्यापक आचार्य अत्यत शांतभावसे धीरतापूर्वक क्षपकके चित्तको प्रसन्न करते हैं । आचार्य यदि शांतपरिणामी नही होगा तो वह भी क्षपकक समान कुपितहोकर क्षपकको डाटने लगेगा, या अभिमानी होगा तो क्षपकको प्रसन्न करनेका प्रयास ही नही करेगा । क्षमा-भावयुक्त वीर-तेजस्वी नहीं होगा तो वह क्षपकके अयुक्त वचन एवं कार्यसे शात नही रह पायेगा अर्थात् क्षापकके ऊपर क्षमाभाव नहीं रख सकेगा तेजस्विताके अभावमें क्षपकके ऊपर अपने वचनोंका प्रभाव नही डाल सकेगा अतः निर्यापक आचार्यको शांत, क्षमाशील, निरभिमानी एव धैर्यशाली होना चाहिये । एवं गुण विशिष्ट आचार्य क्षपकके उत्पन्न हुए चित्त कलुषताको शांत कर देते है ॥५१७॥५१८॥५१९॥

निर्यापक आचार्य बहुत प्रकारके अंग और पूर्व संबंधी ज्ञानरत्नोंकी मंजूषा–पेटी सदृश हुआ करते हैं अर्थात् जैसे पेटी तिजोरी या आलमारीमें सुवर्ण रत्न भरे रहते हैं वैसे आचार्यमें आचारांग आदि अंगोंका ज्ञान तथा पूर्वोंका ज्ञान भरा रहता है, वे

कथानां कथने दक्षो हेयादेय विशारदः ।
क्रुद्धं शास्ति यतिर्धीरः प्रकृतप्रतिपादकः ।।५२१।।
गंभीरां मधुरां श्रव्यां शिष्यचित्तप्रसादिनीं ।
सुखकारी ददात्यस्मै स्मृत्यानयनकारिणीम् ।।५२२।।
सुखकारी दधात्येनं मज्जन्तं दुस्तरे भवे ।
पूतरत्नभृतं पोतं कर्णधार इवार्णवे ।।५२३।।
शीलसंयमरत्नाढ्यं यतिनावं भवार्णवे ।
निमज्जंतीं महाप्राज्ञो बिभर्ति सूरिनाविकः ।।५२४।।
कर्णाहुतिं न चेद्दत्ते धृतिस्थामकरीं गणी ।
आराधनां सुखाहर्त्री जहाति क्षपकस्तदा ।।५२५।।

प्रथमानुयोग आदि चारो अनुयोगोके कथनमें निष्णात होते है, अनुयोग रचना करनेमे प्रवीण, महाबुद्धिशाली हुआ करते हैं ।।५२०।।

आराधना तथा वैराग्य संबंधी कथाओके कहनेमें दक्ष, हेय क्या है उपादेय क्या है इसका भलीभांति प्रतिपादन करनेमें निपुण, प्रकृत समाधिके विषयको समझानेमें प्रयत्नशील ऐसे धीर निर्यापक ही कुपित हुए क्षपकको शांत एवं प्रसन्न कर सकते है ।।५२१।।

वे निर्यापक बड़ी ही गंभीर, मधुर, कर्णप्रिय, शिष्यके चित्तको तत्काल प्रसन्न करनेवाली, सुखदायक क्षपकके विस्मृत हुए चित्तमें पुन. स्मरण करानेमें समर्थ ऐसी श्रेष्ठ वाणी द्वारा क्षपकके लिये दिव्य देशना—उपदेश देते हैं ।।५२२।।

एवं गुण विशिष्ट सुखकारी महान निर्यापक आचार्य दुस्तर भव समुद्रमें डूबनेके सन्मुख हुए क्षपकको सहारा देते हैं । जिसप्रकार श्रेष्ठ रत्नोंसे भरी समुद्रमें डूबती हुई नौकाका सहारा कर्णधार (खेवटिया) हुआ करता है, ठीक इसीप्रकार अठारह हजार शील और अनेक प्रकारके संयम रूपी रत्नोंसे युक्त यतिरूपी नौकाको जो कि भव समुद्रमें डूबनेके सन्मुख हो चुकी है उसको महाप्राज्ञ आचार्य रूपी कर्णधार-नाविक धारण करते है अर्थात् उस यतिनौका को डूबने नही देते ।।५२३।।५२४।।

यदि आचार्य जो कर्णोंके लिये सतोष कारक होनेसे आहुति सदृश हैं, धैर्य और स्थैर्य को करने वाली ऐसी श्रेष्ठ वाणी क्षपकको नही देते अर्थात् नहीं सुनाते हैं तो वह क्षपक सुखावह आराधनाको छोड़ देता है ।।५२५।।

क्षपकस्य सुखं वत्ते कुर्वन्यो हितदेशनाम् ।
निर्यापकं महाप्राज्ञं तमाहुः सुखकारणम् ॥५२६॥

ददाति शर्म क्षपकस्य सूरिर्निर्यापकः सर्वमपास्यदुःखम् ।
यतस्ततोऽसौ क्षपकेण सेव्यः सर्वे भजन्ते सुखकारिणं हि ॥५२७॥

॥ इति सुखकारी ॥

छद शशिकला—

शिवसुखमनुपममपरुजममलं व्रतवति शमवति हितकृति सकलं ।
वितरति यतिपतिरिति गुणकलितः शमयमदममयमुनिजन महितः ॥५२८॥

भावार्थ—निर्यापकके वचन कानोमे मधुर लगने वाले हुआ करते हैं आचार्य के वचन को सुनकर क्षपकको धैर्य आता है । लोक व्यवहारमें भी देखा जाता है कि कोई व्यक्ति,आपत्ति या रोग आदिसे घबराया हो और उसे कोई मिष्ट वचन द्वारा दिलासा देता है तो वह पुरुष कुछ धैर्यको प्राप्त होता है । यदि क्षपकके वेदना आदिसे पीड़ित होनेपर उसे उपदेश-रूप अमृत नही पिलायेंगे तो क्षपक मुक्ति सुखको कारणभूत ऐसी आराधनाको त्याग देगा ।

जो महाप्राज्ञ निर्यापक हितका उपदेश करते हुए क्षपक को सुख देते है अतः उस आचार्यको "सुखकारी" इस नामसे कहते है ॥५२६॥

जिस कारणसे निर्यापक आचार्य क्षपकके सर्व दुःखको दूर करके सुख देते है उस कारणसे यह आचार्य क्षपकके द्वारा सेवनीय होते हैं । ठीक ही है क्योंकि सब ही जीव सुखकारी पदार्थका आश्रय लेते है ॥५२७॥

निर्यापकके सुखकारी विशेषणका वर्णन समाप्त ।

शम–शान्ति, यम–व्रत नियम और दम–इन्द्रिय दमन स्वरूप जो मुनिजन है उनके द्वारा पूजित और गुणोंसे संयुक्त जो निर्यापक आचार्य है वह अनुपम, रोग रहित, निर्दोष हितकारी ऐसे सकल शिव सुखको महाव्रतधारी प्रशमभाववाले क्षपकके लिये अर्पित करता है ॥५२८॥

छंद वंशस्थ—

गुणैरमीभिः कलितोऽष्टभिर्जनैः समेत्यकीर्ति शशिरश्मिनिर्मलां ।
आराधनासिद्धिवरांगना सखीं ददाति सूरिः क्षपकाय निश्चितम् ।।५२६।।

इति सुस्थितः ।

निर्यापकगुणोपेतं मार्गयित्वातियत्नतः ।
उपसर्पत्यसौ सूरिज्ञानचरित्रमार्गकः ।।५३०।।

कृतिकर्म विधायासौ परिपूर्णं त्रिशुद्धितः ।
आचार्य वृषभं वक्ति मस्तकारोपितांजलिः ।।५३१।।

तीर्णश्रुतपयोधीनां समाधानविधायिनाम् ।
युष्माकमीश पादान्ते द्योतयिष्यामि संयमम् ।।५३२।।

आचारवान् आदि आठ गुणोंसे मण्डित निर्यापक आचार्य चन्द्र किरणके समान निर्मल ऐसी आराधना की सिद्धि रूपी श्रेष्ठ स्त्रीकी सखी नियमसे क्षपकके लिये देते हैं ।।५२९।।

[इस श्लोकमें "समेत्य जनैः" इन दो पदों का अर्थ संदर्भ नहीं बैठा अतः छोड़ दिया है] इसप्रकार अर्ह आदि चालीस अधिकारोंमेंसे सुस्थित नामका सतरहवां अधिकार समाप्त हुआ ।

उत्सर्पण नामका अठारहवां अधिकार—

ज्ञान चारित्र मार्ग पर चलने वाला, यह क्षपक साधु आचारत्व आदि आचार्य के गुणों से युक्त ऐसे निर्यापक आचार्य का बड़े प्रयत्न से अन्वेषण करके उनके निकट जाता है ।।५३०।।

मन वचन कायकी शुद्धि पूर्वक आवर्त शिरोनति कायोत्सर्ग सहित सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्य भक्तिरूप कृतिकर्म को परिपूर्ण करके अभ्यागत मुनि मस्तकपर अंजलिको रखकर आचार्य श्रेष्ठ को कहता है ।।५३१।।

हे ईश ! श्रुतरूपी सागरके पारगामी, समाधान करनेवाले ऐसे आपके चरणों के सानिध्यमें मैं अपने संयमको प्रकाशित–उज्ज्वल करूंगा ।।५३२।।

दीक्षा प्रभृति निःशेष विधायालोचनामहम् ।
बिजिहीर्षामि निःशल्यश्चतुरंगे निराकुलः ॥५३३॥
एव कृते स्वनिक्षेपे ततो ब्रूते गणेश्वरः ।
निर्विघ्नमुत्तमार्थं त्वं साधयस्व महामते ॥५३४॥

छद शालिनी—

धन्यः स त्वं वंदनीयो बुधानां साधो ? बुद्धिर्निश्चिता चास्तमोह ।
यस्यासन्नाराधनांसिद्धि दूतीं तीक्ष्णां जन्मारामशस्त्रीं गृहीतुम ॥५३५॥

छद उपेन्द्रवज्रा—

महामते तिष्ठ निराकुलः स्वं प्रयोजनं यावदिदं त्वदीयं ।
समं सहायैरवधारयामस्तत्त्वेन कृत्यं हि परीक्ष्य सद्भिः ॥५३६॥
। इति उपसर्पण सूत्रम् ।

भावार्थ--समाधिका इच्छुक क्षपक निर्यापक आचार्यको निवेदन करता है कि हे प्रभो ! मैं आपके पावन चरणोके आश्रयमे संयमका प्रकाशन करना चाहता हूँ, अर्थात् आलोचना आदिसे अपनेको शुद्ध करना चाहता हूँ ।

दीक्षाके दिनसे लेकर आजतक जो मेरे महाव्रत आदिमे दोष लगे है उन सबकी पूर्णतया आलोचना करके शल्य रहित होना चाहता हूँ निराकुल हुआ मैं अब चार आराधनाओंमे प्रवृत्ति करना चाहता हूँ ॥५३३॥

इसप्रकार क्षपक द्वारा विनयपूर्वक प्रार्थना करनेपर एवं समर्पित होनेपर निर्यापक आचार्य उससे कहते है कि हे महामते ! तुम निर्विघ्नतासे उत्तमार्थ–जो सल्लेखना है उसकी साधना करो ॥५३४॥

निर्यापक आचार्य क्षपकसे कह रहे है कि सिद्धि रूपी स्त्रीको दूतीके समान, जन्मरूपी उद्यान को नष्ट करनेके लिये तीक्ष्ण शस्त्रके समान आराधना को ग्रहण करने के लिये जिसकी बुद्धि निश्चित हो चुकी है ऐसे तुम धन्य हो । हे साधो ! तुम ज्ञानी पुरुषोंको वंदनीय हुए हो । अहो ! तुम मोहरहित हो ॥५३५॥

आचार्य क्षपकको कह रहे हैं कि हे महामते ! तुम निराकुल होकर संघमें ठहरो, जब तक कि अपना प्रयोजन है, तब तक, तुम्हारे इस विषयको परिचारक मुनि

आचार्यः करणोत्साहं विज्ञातुं तं परीक्षते ।
जिघृक्षाऽविचिकित्साभ्यामुत्तमार्थे समाधये ।।५३७।। इति परीक्षणम्
आराधनागत क्षेमं क्षपकस्य समीयुषः ।
दिव्येन निःप्रमादोऽसौ निमित्तेन परीक्षते ।।५३८।।

जनोके साथ भलीप्रकारसे अवधारण करते है, क्योंकि सज्जनोंको परीक्षा करके–विमर्श करके कार्य करना चाहिये ।।५३६।।

भावार्थ—आचार्य आगत मुनिको आश्वासन देते है कि हे यते ! आप धन्य है । जो आराधना करनेका निश्चय किया है । हम संघस्थ सेवाभावी परिचारक मुनियोके साथ इस विषयमें विमर्श करते है । आप तबतक सुखपूर्वक संघमें विश्राम करे । कोई कार्य परीक्षण करके करना चाहिये यह सर्वसमत बात है, अतः हम मुनियों के साथ विचार करते हैं ।

इस तरह उपसर्पण अधिकार पूर्ण हुआ (१८) ।

परीक्षा नामका उन्नीसवां अधिकार—

निर्यापक आचार्य आगत मुनिके आराधना क्रियाका कितना उत्साह है इस बातकी परीक्षा करते है । आचार्य यह भी देखते है कि इस साधुके मनोज्ञ आहार में अभिलाषा आसक्ति और अमनोज्ञ आहारमें ग्लानि है क्या ? अर्थात् इसके मिष्टाहार मे लपटता तो नही है । उत्तमार्थ जो चार आराधनाये है उनमे कितना उत्साह है । निर्विघ्न समाधि होनेके लिये इन सब विषयोंका आचार्य परीक्षण करते है ।।५३७।।

आराधना संपन्न कराने हेतु निकटमें आगत क्षपककी आराधनाके समय क्षेम-सुख शांति होगी या नही इसकी आचार्य निःप्रमादी होकर दिव्य निमित्त ज्ञान द्वारा परीक्षा करते है ।।५३८।।

विशेषार्थ—इस क्षपककी समाधि निर्विघ्न होगी या नहीं ? समाधिके लिये संस्तरमें आरूढ़ होनेपर इसके परिणाम शिथिल तो नही होंगे ? देशमें शुभ होगा या नही इत्यादि आगामी विषयकी जानकारी आचार्य किसी देवके द्वारा या निमित्तज्ञान आदिसे कर लेते है इसतरह क्षपकके भविष्यको परीक्षा करते हैं ।

परीक्षा अधिकार समाप्त (१९) ।

छंद शालिनी—

तं गृह्णीते मार्गवेदी गणं स्वं राज्यं क्षेत्रं भूमिपालं निरूप्य ।
साधुं सूरे गृह्णतो निःपरीक्षं चित्रा दोषा दुर्निवारा भवंति ।।५३६।।

।। इति निरूपणम् ।।

आपृच्छ्य क्षपकं सूरिर्गृह्णाति प्रतिचारकैः ।
अनुज्ञातमपृच्छायां त्रयाणां मनसः क्षतिः ।।५४०।। इति पृच्छा ।।

निरूपण नामका बीसवा अधिकार—

रत्नत्रय मार्गके ज्ञाता आचार्य अपने स्वयंका और संघका भाव देखकर राज्य एव राजा कैसा है ? समाधिमें बाधक तो नही है ? यह क्षेत्र या देश समाधिके योग्य है या नही इन सबको देखकर फिर समाधि के हेतु आये हुए क्षपकको ग्रहण करते है–समाधि करनेके लिये आज्ञा देते हैं । यदि बिना परीक्षा किये समाधिके लिये साधुको स्वीकृति देते है तो दुर्निवार विचित्र दोष आते है ।।५३६।।

विशेषार्थ—राज्य, राजा, संघ, शुभाशुभ विषयोंका विचार कर तथा स्वत: के और क्षपकके उत्साह आदिको देखकर आचार्य समाधिके लिये आज्ञा देते है । आचार्य सर्व प्रथम क्षपकको आहारमें लंपटता है या नही यह देखते है । यदि वह आहारमे लंपट है तो सदा आहारका चिंतन करेगा फिर आराधक कैसे होगा ? भूख आदिसे पीड़ित हुआ रोना चिल्लाना प्रारभ कर देगा । और इससे धर्मको दूषण प्राप्त होगा ।

क्षपककी आराधनामें विघ्न आयेगा या नहीं इसका निर्णय यदि नही किया जाय तो विघ्न आनेपर क्षपकका त्याग करनेसे उसके कार्य की सिद्धि नही होगी और उससे आचार्य की निंदा हो जायगी । इस क्षपकके समाधिकार्यसे राज्यमें शुभ होगा या अशुभ, इसका परीक्षण आचार्य करते है । राज्यादिमें अशुभ होगा ऐसा ज्ञात होता है तो उस राज्यको छोड़कर अन्य राज्यका आश्रय लेना पड़ता है, क्योंकि राज्य का नाश हुआ तो क्षपकको क्लेश होगा और आचार्यको भी संक्लेश होगा । गणको समाधि कार्यसे उपद्रव होगा ऐसा ज्ञात होनेपर समाधिकार्यको हाथमें नहीं लेते है ।

निरूपण अधिकार समाप्त (२०) ।

एकः संस्तरकस्थोऽग्नौ यजतेऽगं जिनाज्ञया ।
दुःकरैः संल्लिखत्यन्यस्तपोभिर्विविधैर्यति ॥५४१॥

पृच्छा नामका इक्कीसवां अधिकार—

समाधिके हेतु साधुके संघमे आनेपर आचार्य परिचारक-वैयावृत्य करनेमें कुशल मुनिजनोसे पहले पूछते है फिर क्षपकको ग्रहण करते है । यदि संघस्थ मुनियोंको न पूछा जाय तो अपने सघके और क्षपकके मनकी हानि होगी अर्थात् तीनो को क्लेश होगा ॥५४०॥

भावार्थ—आचार्य संघको पूछते है कि रत्नत्रयको आराधना करनेमें यह आगत मुनि अपनो सहायता चाहता है साधुके तपश्चरणमें आगत विघ्नको दूर करनेसे तीर्थकर गोत्रका बध होता है । जगत्‌मे लौकिकजन भी परोपकार करते हैं । हम तो मुनि हैं । भव्योका ससाररूपी कोचडसे निकलना बड़ा कठिन है समाधिके बिना इससे निकला नही जाता । यह मुनि अपने सहारे आत्महित करना चाहता है, यह एक तरहसे अपना सौभाग्य है । आपकी अनुमोदना होवे तो इस क्षपकको संरक्षण दिया जाय । यदि ऐसा न पूछे तो आचार्य क्षपक और सघस्थ मुनि इन सबको ही संक्लेश भाव उपजेगे । हमको तो आचार्य ने पूछा हो नही । हम सेवा क्यो करें । ऐसा सोचकर मुनि क्षपकको सेवा नही करेंगे । इससे आचार्य को दुःख होगा कि मैने समाधिके लिये रख लिया ये मुनि तो सेवामे परांमुख है इत्यादि । क्षपकके वेदनाका प्रतीकार आदि नही होनेसे तथा सहारा नही देखकर क्लेश होगा । अत. आचार्य परिचारक मुनियोको पूछकर क्षपकको स्वीकृत करते है ।

पृच्छा अधिकार समाप्त (२१)

एक संग्रह नामा बाईसवा अधिकार—

संघमे आचार्य एक हो क्षपकको संस्तरारूढ़ होने की आज्ञा प्रदान करते हैं ऐसा बताते है—

संस्तरमें स्थित होकर एक क्षपक जिनाज्ञा प्रमाण तपरूपी अग्निमें शरीरका दान करता है अर्थात् आहारत्यागादि द्वारा शरीर सल्लेखना करता है अर्थात् यावज्जीव आहारका त्याग कर शरीरकी पूर्णाहुति तप अग्निमें करता है । तथा अन्य

यजमानक्षते जैनैस्तृतीयो नानुमन्यते ।
द्वित्रिषुश्रितपात्रेषु समाधिर्हीयते तराम् ।।५४२।।

छंद रथोद्धता—

एकमेव विधिनार्यतिततः स्वीकरोति स्वसहायसम्मतम् ।
गृह्यते हि कवलः स एव यः पंडितेन वदने प्रशस्यते ।।५४३।।

इति एक संग्रहः ।

कोई एक यति उग्र उग्र विविध तपश्चरण द्वारा शरीरको कृश करता है भाव यह है कि एक संघमें एक साथ दो मुनि आहार का यावज्जीव त्याग कर संस्तरारूढ न होवे, एक संस्तरारूढ होवे और एक समाधि हेतु उग्र तप करे दूसरा यावज्जीव आहारका त्याग अभी नही करे ।।५४१।।

शरीरको सल्लेखना करनेमें उद्यत मुनिके हानि होती है इसलिये जैन आचार्य तीसरे क्षपक को आज्ञा नहीं देते है । यदि एक संघमें एक निर्यापकके निर्देशनमें दो तीन मुनियो को सस्तरारूढ कर लेते हैं तो उनको समाधि अतिशय रूपसे नष्ट होती है ।।५४२।।

भावार्थ—तीर्थंकर देवको आज्ञा है कि एक निर्यापक आचार्य एक ही क्षपक को सस्तरारूढ करता है, अर्थात् आहारका त्याग करनेको आज्ञा देता है । हां यदि दूसरा तपश्चरण द्वारा समाधिकी तैयारी करे तो कर सकता है इसतरह एक क्षपक सर्वथा आहारका त्याग कर समाधिमे उद्यत होता है । दूसरा क्षपक केवल उग्रतप करता रहता है, तीसरा मुनि उस समय सल्लेखना सन्मुख नही होता । क्योंकि एक साथ दो तीन यति यावज्जीव आहारका त्याग करते है तो उन सभी के चित्तका समाधान करना अर्थात् धर्मोपदेशना द्वारा उनके घबराये हुए मनको शांत करना, शरीर मर्दन, मलत्याग आदि वैयावृत्य करना आदि कार्योको एक निर्यापक कैसे करे ? नही कर सकता । तथा संघस्थ परिचारक मुनि भी इन सबके कार्योको एक साथ निभा नही सकते है सब पर सेवा वैयावृत्य द्वारा अनुग्रह नही किया जा सकता । एतदर्थ एक क्षपकका ही संस्तरारूढ़ होनेको आज्ञा है ।

इसप्रकार जिनाज्ञासे निर्यापक एक ही क्षपकको विधिपूर्वक स्वसहायकी संमति देकर स्वीकार करता है । ठीक ही है क्योंकि वही ग्रास ग्रहण किया जाता है जो पंडित

मध्ये गणस्य सर्वस्य क्षपकं भाषते हितम् ।
इत्थं कारयितुं शुद्धां विधिनालोचनां गणी ।।५४४।।
समस्तं स्पृश चारित्रं निरस्य सुखशीलताम् ।
परीषहचमू घोरां सहमानो निराकुलः ।।५४५।।
रूपगधरसस्पर्शशब्दानां मा स्म भूर्वशः ।
कषायाणां विधेहि त्वं शत्रूणामिव निग्रहम् ।।५४६।।

द्वारा मुखमे प्रशंसनीय माना जाता है, अर्थात् मुखमें उतना बड़ा ही ग्रास लिया जाता है जो भलोप्रकार चबाकर गलेमे उतारा जा सके और ऐसा ग्रास लेना ही प्रशंसा योग्य होता है । यदि बडा ग्रास या दो तोन ग्रास एक साथ मुखमें भर लिये जांय तो ठसका आना, मुखसे बाहर निकल जाना, चबा नही सकना आदि परेशानियां हो जाती हैं ऐसा खाना बुद्धिमान ठीक भी नही मानते । इसीप्रकार एक क्षपकको ही निर्यापक समाधि हेतु स्वीकार करता है ।।५४३।।

एक संग्रह अधिकार समाप्त (२२)

क्षपक को आचार्य का उपदेश—

सर्व संघके मध्यमे शुद्ध आलोचना को विधिपूर्वक कराने हेतु निर्यापक क्षपकको इसप्रकार हितकारी वचन कहता है ।।५४४।।

भावार्थ—संघके मध्यमें क्षपकको उपदेश इसलिये देता है कि सघको भी समाधि का स्वरूप ज्ञात हो एव संघ वैयावृत्यमें तत्पर हो । किस समय क्या प्रवृत्ति होनो चाहिये इत्यादि विषयकी जानकारी होवे ।

आचार्य क्षपकको दिव्यदेशना देते है कि भो मुने ! संपूर्ण महाव्रत आदि चारित्रका तुम स्पर्श करो अर्थात् निर्दोष रीत्या व्रताचरण में तत्पर हो । अब तुम्हें सुखियापन छोड़ देना चाहिये । घोर परीषह रूपी सेनाको सहन करते हुए तुम निराकुल रहना अर्थात् परीषह आनेपर घबराना–आकुलता आदिको नही करना ।।५४५।।

भावार्थ—हे क्षपक ! तुम सुख स्वभावका त्यागकर परीषह सहन करनेमें तत्पर हो जावो । क्योंकि सुख स्वभावी मुनि आहार वसति आदिको शुद्धि नहीं करता—उद्गम आदि दोष युक्त आहारादि ग्रहण करता है उससे चारित्र की शुद्धि नहीं होती ।

रागद्वेषकषायाक्ष संज्ञाभिर्गौरवादिकम् ।
विहायालोचनां शुद्धां त्वं विधेहि विशुद्धधीः ।।५४७।।

स षट्त्रिंशद् गुणेनापि व्यवहार पटीयसा ।
कर्तव्यैषा महाशुद्धिरवश्यं परसाक्षिका ।।५४८।।

अष्टाचारादयो ज्ञेयाः स्थितिकल्पागुणा दश ।
तपो द्वादशधा षोढावश्यकं षट्षडाहृतम् ।।५४९।।

हे क्षपकराज ! रूप, गध, रस, स्पर्श और शब्द इन पाच इन्द्रियोके विषयो के वशमें तुम कभो नहीं होना । जैसे शत्रुओका निग्रह करते है वैसे कषायोका निग्रह भी तुम भलीप्रकारसे करो ।।५४६।।

आलोचना नामका तेवीसवा अधिकार (२३) ।

निर्यापक उपदेश दे रहे हैं कि हे साधो ! राग, द्वेष, कषाय, इन्द्रिय और सज्ञासे रहित होकर तथा ऋद्धि गारव, सात गारव और रस गारव को छोडकर विशुद्ध-बुद्धिवाले तुम शुद्ध आलोचना को करो ।।५४७।।

जो क्षपक व्यवहार चतुर है और छत्तीस गुण समन्वित है उसको भी गुरु की साक्षी पूर्वक महाशुद्धि कारक यह आलोचना अवश्य करनी चाहिये ।।५४८।।
छत्तीस गुण बताते है—

आचारी, आधारी आदि आठ गुण तथा अचेलकत्व आदि दश, स्थिति कल्प बारह प्रकारका तप और छह आवश्यक ये छह गुणित छह अर्थात् छत्तीस गुण है ।।५४९।।

भावार्थ—निर्यापक क्षपकको समझा रहे है कि जो स्वय आचार्य है आचारी आदि गुणोंसे मण्डित है तो भी अन्य आचार्य के समक्ष अपने व्रत संबधी अपराधों की आलोचना अवश्य करता है । यहापर आचारी आदि छत्तीस गुण आचार्य परमेष्ठीके बताये हैं वैसे अन्य प्रकारसे भी छत्तीस गुण होते है । जैसे—आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह तप, पांच समिति और तीन गुप्ति ये छत्तीस गुण हैं । ऐसे अन्य प्रकारसे भी है ।

सर्वे तीर्थकृतोऽनंत जिनाः केवलिनो यतः ।
छद्मस्थस्य महाशुद्धि वदन्ति गुरु सन्निधौ ।।५५०।।
कुशलोऽपि यथा वैद्यः स्वं निगद्यातुरो गदम् ।
वैद्यस्य परतोऽज्ञात्वा विदधाति परिक्रियाम् ।।५५१।।
जानतापि तथा दोषं स्वमुक्त्वा परके गुरौ ।
परिज्ञाय विधातव्या महाशुद्धीः पटीयसा ।।५५२।।

जितने अतीतकालमे तीर्थंकर हुए है अनंत केवली जिन हुए हैं वे सर्व ही छद्मस्थ जीवोंकी महाशुद्धि गुरुके निकट होती है ऐसा बतलाते हैं।।५५०।।

विशेषार्थ—गर्भावतरण आदि पांच कल्याणक धारी तीर्थंकर कहलाते हैं। संपूर्ण ज्ञानावरण का जिनके क्षय हो चुका है और केवलज्ञान युक्त हैं उन्हें केवली कहते है। कर्म शत्रुओं को जीतने वाले जिन है इन सभी महापुरुषोने उपदेश दिया है कि जो जीव छद्मस्थ है अर्थात् जबतक उसे केवलज्ञान प्राप्त नही हुआ है तब तक महामुनि आदि भी क्यों न हो किन्तु उसको अपने दोषोकी आलोचना गुरु की साक्षीसे अवश्य करनी चाहिये। इसतरह शास्त्रोक्त विधि क्षपकको निर्यापक आचार्य समझाते हैं।

निर्यापक कह रहे है कि हे क्षपक ! देखों चतुर वैद्य भी रोग युक्त होनेपर अपने रोग को दूसरे वैद्यको बतलाकर उससे रोग दूर करने की विधि को ज्ञातकर रोग का प्रतीकार करता है। अर्थात् वैद्य स्वयं अपनी चिकित्सा नही करता, परवैद्यसे कराता है, वैसे ज्ञानी हो, आचार्यादि हो उन्हे भी अन्य आचार्यकी साक्षीसे आलोचना कर अपना भव-रोग दूर करना चाहिये ।।५५१।।

क्षपक स्वयं आचार्य है चतुर है दोष निवृत्तिकी विधि को स्वय जानता है तो भी अन्य आचार्यके निकट स्वदोषो को कहकर विधिको जानकर अपनी महाशुद्धि कर लेनी चाहिये ।।५५२।।

भावार्थ—परके साक्षी पूर्वक अपराध निवेदन करके आत्मशुद्धिका विधान इसलिये भी है कि एक महान् क्षपक आचार्य को भी अन्य गुरु के निकट अपने दोषोंकी आलोचना करते देखकर सभी यतिजन उसी तरह प्रवृत्ति करेंगे, अर्थात् आत्माके शुद्धि का यही क्रम है ऐसा समझकर वे भी पर साक्षीसे शुद्धिकरण करेंगे। अन्यथा सर्व लोक स्वसाक्षीसे शुद्धि करेंगे, क्योंकि लोक प्रायः गतानुगतिक होते है।

ततः सम्यक्त्व चारित्रज्ञान दूषणमादितः ।
एकाग्र मानसः सर्वं, त्वमालोचय यत्नतः ॥५५३॥

विद्यते यद्यतीचारो मनोवाक्काय संभवः ।
आलोचय तदा सर्वं निःशल्यीभूतमानसः ॥५५४॥

कालेऽमुकत्र देशे वा जातो भावनयानया ।
दोषो ममेति विज्ञाय त्वमालोचय सर्वथा ॥५५५॥

आलोचना द्विधा साधोरौघी पदविभागिका ।
प्रथमा मूलयातस्य परस्य गदिता परा ॥५५६॥

इसलिये सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्रमें जो दोष हुआ हो उसकी हे क्षपक ! तुम एकाग्रमन पूर्वक आलोचना करो ॥५५३॥

यदि मन वचन और कायसे अतीचार हुआ है तो उस सबकी निःशल्य मन होकर आलोचना करो ॥५५४॥

इस समय पर अमुक देशमे इस भावना द्वारा यह दोष मेरेसे हुआ था, इस तरह सब द्रव्य क्षेत्र आदि को ज्ञातकर हे यते ! तुम सब प्रकारसे आलोचना करो ॥५५५॥

साधुकी आलोचना दो प्रकारकी बतायो है औघी और पद विभागी । इनमेंसे मूलको (मूल नामके प्रायश्चित्तको) प्राप्त हुए यतिके तो पहली औघी आलोचना कही गयी है तथा मूलको छोड़ अन्य विषयक आलोचना पदविभागी कही जाती है ॥५५६॥

विशेषार्थ—आलोचनाके दो भेद है औघी और पदविभागी औघीको सामान्यालोचना और पदविभागीको विशेषालोचना भी कहते है । जिस साधुकी दीक्षा महा अपराधसे नष्ट हो चुकी है उसको औघी आलोचना करनी चाहिये अर्थात् उसे तो इतना कहना होगा कि मेरे सर्व ही व्रत समाप्त हुए है मैं मूलस्थानको प्राप्त हूँ—पुनर्दीक्षाके योग्य हू । जिस साधुके ऐसा महा अपराध नही हुआ है उसको पदविभागी आलोचना करना चाहिये अर्थात् इस महाव्रतमें अमुक दोष मुझमे हुआ है इत्यादि रूप कहना चाहिये । इसीको आगे कहते हैं ।

ओघेन भाषतेऽनल्पदोषो वा सर्वघातकः ।
इतः प्रभृति वांछामि त्वत्तोऽहं संयम गुरो ! ।।५५७।।
अपराधोऽस्ति यः कश्चिज्जातो यत्र यथा यदा ।
ब्रूते पदविभागीं तां सूरौ तत्र तथा तदा ।।५५८।।
कंटकेन यथा विद्धे सर्वांगव्यापि वेदना ।
जायते निर्वृ तस्तस्मिन्नुद्धृते शल्यवर्जितः ।।५५९।।
दुःखव्याकुलित स्वान्तस्तथा शल्येन शल्यितः ।
निःशल्यो जायते यः स लभते निर्वृतिं पराम् ।।५६०।।
मायानिदानमिथ्यात्व भेदेन त्रिविधं मतम् ।
अथवा द्विविधं शल्यं द्रव्यभावात्मकं मतम् ।।५६१।।

जिसके महादोष हुआ है या व्रतोका सर्वनाश हुआ है वह सामान्यसे कहता है कि हे गुरुदेव ! मेरे सर्व व्रत नष्ट हो चुके हैं मै आजसे आपके द्वारा सयमको प्राप्त करना चाहता हूँ । इसतरह औघो आलोचना होती है ।।५५७।।

जिसकालमें जिस देशमे, जिस प्रकारसे जो अपराध हुआ है उसकालमें उस-देशमें उसप्रकारसे उसदोषको आचार्यके समक्ष कहता है, यह पद विभागी आलोचना कहलाती है ।।५५८।।

आलोचना माया शल्यको छोडकर करनी चाहिये ऐसा कहते है—

जिसप्रकार कांटेके लग जानेपर सर्वांग व्यापी वेदना होती है और उसके निकाल देनेपर शल्यरहित सुख होता है । उसीप्रकार माया मिथ्या और निदान शल्यसे युक्त मुनि दुःखसे व्याकुलित मनवाला हो जाता है और जब माया आदि शल्यसे रहित होता है अर्थात् अपने दोषोकी आलोचना करता है तब परम सुखको प्राप्त होता है ।।५५९।।५६०।।

शल्यके तीन भेद है—माया, निदान और मिथ्यात्व अथवा शल्यके दो भेद हैं, एक द्रव्य शल्य और दूसरा भाव शल्य । छल या कपट को माया शल्य कहते हैं । परभवमें भोगोंकी वांछा करना निदान शल्य है । विपरीत श्रद्धाको मिथ्यात्व कहते है । द्रव्य और भावशल्यका स्वरूप आगे कह रहे हैं ।।५६१।।

भावशल्यं त्रिधा तत्र ज्ञानादि त्रयगोचरम् ।
द्रव्यशल्यमपि त्रेधा सचित्ताचित्तमिश्रकम् ।।५६२।।

अनुद्धृते प्रमादेन भावशल्ये शरीरिणः ।
लभंते दारुणं दुःखं द्रव्यशल्यमिवानिशम् ।।५६३।।

भावशल्य मनुद्धृत्य ये म्रियन्ते विमोहिनः ।
भयप्रमादलज्जाभिः कस्याप्याराधका न ते ।।५६४।।

दुःसहावेदनैकत्र द्रव्यशल्येऽस्त्यनुद्धृते ।
भावशल्येपुन.सास्ति जन्तोर्जन्मनि जन्मनि ।।५६५।।

उसमें भावशल्यके तीन भेद होते हैं ज्ञानका शल्य, दर्शनका शल्य और चारित्रका शल्य । द्रव्य शल्यके भी तीन भेद हैं सचित्त द्रव्यशल्य, अचित्त द्रव्यशल्य और मिश्र द्रव्यशल्य ।।५६२।।

विशेषार्थ—अकाल पठन आदि ज्ञानका शल्य है, शंका आदि दर्शनका शल्य है, समिति आदिमें अनादर करना चारित्रका शल्य है । ये भाव शल्यके भेद हुए । दास आदि सचित्त द्रव्य शल्य है, सुवर्णादि अचित्त द्रव्य शल्य और ग्रामादि मिश्र द्रव्य शल्य है । भाव यह है कि साधु इन सबका त्याग किये हुए होते है किन्तु कदाचित् मनमें इन वस्तुओके प्रति ममत्व हो तो वह द्रव्य शल्य है, क्योकि यह मोह भाव भी कांटेको तरह क्लेश कारक है । अकाल अध्ययन आदि तो साधु जीवनमे लगने वाले अतीचार हैं ।

यदि प्रमादवश भावशल्यको नही निकाला जाय तो संसारी जीव द्रव्य शल्यके द्वारा जैसे दारुण दुःख को प्राप्त होते है वैसे साधुजन भी इस भाव शल्यसे सतत् दारुण दुःखको प्राप्त होते हैं ।।५६३।।

भय प्रमाद और लज्जाके कारण जो मोही क्षपक भावशल्य का त्याग किये बिना मरण करते है वे दर्शन आराधना आदि चार आराधनाओंमेसे किसीके भी आराधक नहीं होते हैं ।।५६४।। यदि द्रव्य शल्यका निष्कासन नही किया जाय तो एक भवमें दुःसह वेदना होती है, किन्तु भावशल्य को दूर न किया जाय तो इस जीवको जन्म जन्ममें दुःसह वेदना भोगनी पड़ती है ।।५६५।।

चारित्रं शोधयिष्यामि काले श्व प्रभृता वहम् ।
शेमुषोमिति कुर्वाणा गतं कालं न जानते ॥५६६॥

रागद्वेषादिभिर्भग्ना ये म्रियन्ते सशल्यकाः ।
दुःखशल्याकुलेभीमे भवारण्ये भ्रमंति ते ॥५६७॥

उद्धृत्य कुर्वते कालं भावशल्य त्रिधापि ये ।
आराधनां प्रपद्यते ते कल्याण वितारिणीं ॥५६८॥

कोई क्षपक ऐसा बुद्धि या विचार करे कि मैं कल या परसों अपने चारित्रका शोधन [आलोचना] करूंगा वह क्षपक गये हुए काल को नही जानता है ॥५६६॥

भावार्थ—जो मुनि ऐसा विचार करता है कि मैं अभी आलोचना नहीं करता, फिर कभी करूंगा, कल परसों करूंगा, सो ऐसा सोचने वाला कालको नही जानता कि कब मृत्यु आयेगी और मैं बिना आलोचना किये ही मर जावुंगा । तथा अधिक दिन व्यतीत होनेपर अतीचार विस्मृत भी हो जाते है। अतः साधुको तो हमेशा ही जब अतीचार लगे तभी गुरुके समक्ष आलोचना करके शुद्धि करनी चाहिये और क्षपकको सन्यासके अवसर पर तो सर्व आलोचना शीघ्र ही कर लेनी चाहिये ।

आयुका कोई निश्चय नही कि कब पूर्ण हो जाय । जो राग द्वेष आदिसे भग्न हुए शल्य सहित मरण करते है वे दुःखरूपी काटोसे भरे भयकर भव रूपी अरण्यमें भ्रमण करते है ॥५६७॥

जो तीन प्रकारके भावशल्यको निकालकर मृत्युको करते है वे कल्याण को देनेवाली आराधनाको प्राप्त करते है ॥५६८॥

विशेषार्थ—भाव शल्योका स्वरूप पहले बता दिया है, इन शल्योको हृदयसे निकाल कर अतीचारोंकी आलोचना गुरुके समक्ष करके प्रायश्चित्तसे जो अपने आत्मा को निर्मल बनाते हैं और सल्लेखना करते हैं उन क्षपक साधुओके आराधना सिद्ध होती है । दीक्षासे लेकर मृत्यु तक जो तपश्चरण किया जाता है उसकी सफलता आराधना की प्राप्तिसे होती है ।

सम्यक्त्ववृत्तनिःशल्या दूरोत्सारित गौरवाः ।
विहरंतिविसंगा ये कर्म सर्वं धुनंति ते ॥५६९॥

इति ज्ञात्वा महालाभं निःशल्यीभूतचेतसां ।
शुद्धदर्शनचारित्रो विहरस्वाप शल्यकः ॥५७०॥

सम्यगालोचयेत्सर्वमनुद्विग्नमविस्मृतम् ।
अनिर्गूढमनिर्मोहं निर्मूलमपगौरवम् ॥५७१॥

भयमानमृषामाया मुक्तेन प्रांजलात्मना ।
बालेनेवाभिधेयानि कृत्याकृत्यानि धीमता ॥५७२॥

सम्यक् स्वज्ञानवृत्तेषु विधायालोचनां यते ।
कुरु सल्लेखनां सम्यक् क्रमेणापास्तकल्मषः ॥५७३॥

जो सम्यक्त्व और चारित्र संबधी शल्यसे रहित है गौरव–गारवको दूरसे ही जिन्होने त्याग दिया है निःसंग अर्थात् परिग्रह रहित हुए वायुवत् विहार करते हैं वे साधुजन सर्व कर्मका नाश करते है ॥५६९॥

आचार्य क्षपकको उपदेश द्वारा समझा रहे है कि हे क्षपक ! इसप्रकार जिनका शल्य रहित चित्त है ऐसे निःशल्य चित्तवाले साधुओके आराधना प्राप्ति रूप महालाभ होता है ऐसा जानकर तुम शुद्ध दर्शन और शुद्ध चारित्र रूप तथा शल्य रहित हो विहार–आचरण करो ॥५७०॥

हे क्षपक ! तुम खेद रहित सम्यक् आलोचना करो वह आलोचना ऐसी होवे कि जो दोष विस्मृत हुए हो उन्हें स्मरण करके आलोचना करो। किसी भी दोष को बिना छिपाये आलोचना करो, गौरव रहित और मोहरहित हो दीक्षासे लेकर आजतक जितने अतिचार लगे हो वे निर्मूलतया–पूर्णरूपसे गुरुके समक्ष निवेदन कर दो ॥५७१॥

भय, मान, असत्यसे रहित, सरल मनसे बालकके समान सभी कार्य और अकार्योंका निवेदन बुद्धिमान् क्षपक द्वारा होना चाहिये। अर्थात् सरल स्वभावसे जैसे बालक अपने योग्य अयोग्य कार्योंको बता देता है वैसे क्षपकको अपने द्वारा किये गये कार्य अकार्य को निर्यापक से निवेदन कर देना चाहिये ॥५७२॥

इत्युक्त' सूरिणोत्कृष्टां चिकीर्षुः क्षपकोमृति ।
जात सर्वांग रोमांचः प्रमोद भर विह्वलः ।।५७४।।

चैत्यस्य सम्मुखः प्राच्यामुदीच्या वा दिशः स्थितः ।
कायोत्सर्गस्थितो धीरो भूत्वा कायेऽपि निस्पृहः ।।५७५।।

मुक्तशल्य ममत्वोऽसावेकत्वं प्रतिपद्यते ।
शल्यमुत्पाटयिष्यामि पादमूलेगणेशिनः ।।५७६।।

हे यते ! सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रमे जो अतीचार हुए है उनकी आलोचना करके सम्यक् क्रम पूर्वक जिसका पाप नष्ट हुआ है ऐसे तुम सल्लेखना को करो ।।५७३।।

इसप्रकार आचार्य द्वारा क्षपकको उपदेश दिये जानेपर उत्कृष्ट समाधिमरण को करनेका इच्छुक क्षपक सर्वांगमे रोमाचित हो जाता है । अत्यत प्रसन्नता से हर्ष विभोर होता है ।।५७४।।

विशेषार्थ—निर्यापक द्वारा कल्याणकारो अत्यंत वैराग्य वर्द्धक तथा धर्ममे गाढ अनुराग को उत्पन्न करनेवाला उपदेश सुनते हो क्षपकके सारे शरीरमे आनंदसे रोमांच आ जाते है । वह क्षपक विचार करता है कि अहो ! ये गुरुवर्य हमारे अकारण बंधु है, कितनी हृदयस्पर्शी वाणीसे मुझे समझा रहे । अहो ! इन्हे सचमुचमे रत्नत्रय मार्ग में महान् भक्ति है जिससे इतना प्रयत्नशील होकर मुझे आलोचनामे उद्यत कर रहे हैं । ये धन्य है, यही कर्णधार है ये ही मुझे ससार समुद्रसे पार करेंगे, इत्यादि ।

शुद्ध आलोचनाको मैं करता हूँ ऐसी गुरुको स्वीकृति देकर उक्त क्षपक जिन प्रतिमा के सम्मुख या पूर्व अथवा उत्तर दिशाके तरफ मुख करके खड़ा हो जाता है और शरीरमे भी नि.स्पृह वह धोर कायोत्सर्ग करता है ।।५७५।।

विशेषार्थ—गुरुको दोषोका निवेदन करनेके पहले विधिपूर्वक–सामायिक दण्डक, योस्यामि दण्डक आवर्त शिरोनति युक्त सिद्ध भक्ति करके कायोत्सर्गमें लीन होता है । इससे दोषोंका स्मरण हो जाता है ।

शल्य और ममत्वको जिसने छोड़ दिया है ऐसा यह क्षपक एकत्व भावको प्राप्त होता है । मैं आचार्यके चरण मूलमें शल्यको उखाड़कर फेंक दूंगा ऐसा विचार करता है ।।५७६।।

इत्यकेत्वगतः कृस्त्नं दोषं स्मरति यत्नतः ।
इत्थं स प्रांजलीभूय सर्वं संस्मृत्य दूषणं ।।५७७।।
एति शल्यं निराकर्तुं सर्वं संस्मृत्यदूषणं ।
आलोचनादिकं कर्त्तुं युज्यते शुद्धचेतसः ।।५७८।।
आलोचनादिकं तस्य संभवेच्छुद्ध भावतः ।
अपराण्हेऽथ पूर्वाण्हे शुभलग्नादिके दिने ।।५७९।।
निःपत्रः कटुकः शुष्कपादपः कंटकाचितः ।
विच्छायः पतितः शीर्णो दवदग्धस्तडिद्धतः ।।५८०।।

इसतरह एकत्वभावको प्राप्त हुआ क्षपक समस्त दोषको स्मरण करता है, अतः इसप्रकार प्राजल होकर सर्व दोष स्मरणमें लाता है ।।५७७।।

भावार्थ—जब क्षपक एकत्व भावमय होता है तब मैं अतीचार रहित हूँ मैं तो केवलज्ञान दर्शन स्वभाववाला हूँ । मुझसे शरीर, रागद्वेष शल्य, गारव आदि सब विकार भिन्न हैं, शरीरके नाशसे इसके मान अपमानसे मेरा कुछ भी बिगड़ता नहीं । मैं अब मायाको छोड़कर अतीचारोंको दूर करूँगा । ऐसा विचार कर क्षपक दोषोंको स्मरण करता है कि मुझसे कौन कौनसे दोष हुए हैं ? कब हुए है इत्यादि ।

सर्व दोषोंका स्मरण करके शल्यका निराकरण करनेके लिये गुरुके निकट आता है । क्योंकि शुद्ध मनवालेके हो आलोचना आदि करना योग्य होना है ।।५७८।।

आलोचनाके लिये उचित काल आदिका निर्देश करते है—

उस क्षपकको शुद्ध भावसे आलोचना आदि संभव है अर्थात् आलोचनाके समय भाव शुद्ध होना चाहिये, पूर्वाह्न या अपराह्नके समयमे, शुभ दिन, शुभ तिथि और शुभ लग्न में आलोचना करनी चाहिये । यहा भाव और काल आलोचनाके लिये कैसा हो यह बताया है ।।५७९।।

आलोचनाके लिये *योग्य स्थान*—

जिस स्थान पर पत्तोंसे रहित वृक्ष हो, सूखा वृक्ष, कांटेदार वृक्ष, कडुआ निंब आदिका वृक्ष, छाया रहित या गिरा हुआ, जोर्ण, अग्निसे या बिजलीसे जला हुआ वृक्ष हो वह स्थान आलोचनाके योग्य नही है ।।५८०।।

क्षुद्राणामल्प सत्वानां देवतानां निकेतनम् ।
तृणपाषाण काष्ठास्थिपत्रपांस्वादि संचयाः ।।५८१।।
शून्यवेश्मरजो भस्म वर्चः प्रभृति दूषिता ।
रुद्रदेवकुलं त्याज्यं निद्यमन्यदपीदृशम् ।।५८२।।
चिकारयिषतां शुद्धां साधुमालोचनां स्फुटम् ।
सूरीणां सर्वथा स्थानमसमाधान कारणम् ।।५८३।।
जिनेन्द्र यक्ष नागादि मदिरं चारुतोरणम् ।
सरः स्वच्छपयः पूर्णं पद्मिनीखंडमंडितम् ।।५८४।।
पादपैरुन्नतैः सेव्यं सर्व सत्वोपकारिभिः ।
आरामे मंदिरे नम्रैः सज्जनैरिव भूषिते ।।५८५।।
समुद्रनिम्नगादीनां तीरमक्ष मनोहरम् ।
सच्छायं सरसं वृक्षं पवित्रफलपल्लवं ।।५८६।।

क्षुद्र अल्पशक्ति वाले देवोका स्थान जहापर घास, पत्थर, काष्ट, हड्डी, पत्ते और मिट्टी धूलिके ढेर लगे हों, धूलि, राख, मल आदि से भरा हुआ सूना घर या कोई स्थान हो, या रुद्र आदिका देवालय हो ये सब स्थान आलोचनाके योग्य नही है, तथा इन्हीके समान अन्य कोई निंदनीय स्थान भी योग्य नही है त्याज्य है ।।५८१।।५८२।।

जो निर्यापकाचार्य क्षपक द्वारा परिशुद्ध आलोचना करवाना चाहते हैं उन्हे उक्त असमाधान–अशाति कारक स्थान सर्वथा छोड़ देने चाहिये ।।५८३।।

आलोचनाके अयोग्य स्थानोको कहकर अब योग्य स्थानोंका निर्देश करते है—

श्री देवाधिदेव जिनेन्द्र प्रभुका मदिर हो अथवा सुदर तोरणसे युक्त यक्ष नागादिका मदिर हो । कमलवनोसे सुशोभित स्वच्छ जलसे पूर्ण सरोवर हो । सब जीवोंके लिये उपकारक ऐसे उन्नत वृक्षोसे मडित स्थान हो, नम्र सज्जनोके द्वारा भूषित मदिरमे अथवा सज्जनोंके समान वृक्षोंसे भूषित उद्यान आलोचना योग्य स्थान होता है । इन्द्रियोके लिये मनोहर ऐसे समुद्र और नदीके किनारे, छायादार, पवित्र पत्र पुष्पोसे फलोंसे युक्त रसोले वृक्षोंसे युक्त स्थान आलोचना के लिये श्रेष्ठ कहा जाता है ।।५८४।।५८५।।५८६।।

शस्तमन्यदपि स्थानमुपेत्य गणनायकः ।
आलोचनामसंक्लेशां क्षपकस्य प्रतीच्छति ॥५८७॥
जिनार्चाया दिशः प्राच्या कौबेर्या वा स सन्मुखं ।
शृणोत्यालोचनां सूरिरेकस्यैको निषण्णवान् ॥५८८॥

उपर्युक्त स्थानोंके समान अन्य भी कोई प्रशस्त स्थान हो उस स्थानमें जाकर निर्यापक आचार्य क्षपकको सक्लेशरहित शुद्ध आलोचनाको सुनते है ॥५८७॥

आलोचनाको सुनते समय आचार्य को किस तरह बैठना चाहिये यह बताते हैं—

जिनप्रतिमाके सन्मुख बैठकर या पूर्व दिशामें अपना मुखकर क्षपकका मुख उत्तरमें करे अथवा उत्तरमें अपना और क्षपकका पूर्व दिशामे मुख कराके बैठकर एकाकी आचार्य एक क्षपकको आलोचनाका श्रवण करता है ॥५८८॥

विशेषार्थ—समाधिके इच्छुक क्षपककी आलोचना किस स्थानपर किसकालमें कैसे स्थित होकर किस भावपूर्वक होती है इन विषयोंका बहुत ही सुंदर वर्णन है। शुभ मुहूर्त्त, शुभ लग्न, शुभ नक्षत्र आदिके रहनेपर आलोचना योग्य काल है। जिन मंदिर, मनोहर उद्यान, कमलोंसे परिपूर्ण स्वच्छ सरोवर, नदी आदिका तट अथवा ऐसे अन्य कोई प्रशस्त स्थान हो वे सब आलोचनाके योग्य माने जाते हैं। पूर्वाभिमुख बैठना इसलिये प्रशस्त है कि पूर्वमे सूर्यका उदय होता है सूर्योदयके समान आराधना प्रकाशमान उन्नत होती जाय इस अभिप्रायसे पूर्वाभिमुख होकर बैठता है उत्तरमें विदेहमे सीमधर आदि तीर्थंकर सदा ही विद्यमान रहते है अतः उत्तराभिमुख होना प्रशस्त है। जिन-प्रतिमा समुख बैठना तो साक्षात् शुभ परिणामका कारण होनेसे प्रशस्त है। एक आचार्य एक ही क्षपककी आलोचना सुनते है अनेक क्षपककी नहीं। यदि अनेक गुरु आलोचना सुननेको बैठे तो क्षपकको लज्जा आना संभव है लज्जासे वह अपने दोष ठीकसे नहीं कहेगा। अनेक क्षपकोंके दोष एक साथ एक आचार्य अवधारण नहीं कर सकेगा। अतः एक क्षपक और एक ही आचार्य रहे। हा यदि कोई आर्यिकादि आलोचनामे उद्यत है तो आचार्यके निकट एक मुनि उपस्थित हो या अन्य आर्यिकाके साथ आलोचक आर्यिका होवे तब आचार्य उसकी आलोचना सुनते हैं। क्षपक जब आलोचना कर रहा है तब आचार्य उसे तत्परतासे सुने, अन्यथा क्षपक आलोचना करनेमें निरुत्साह हो जायगा

छंद उपजाति—

कृत्वा त्रिशुद्धि प्रतिलिख्य सूरि प्रणम्य मूर्धस्थित पाणिपद्मः ।
आलोचना मेष करोति मुक्त्वा दोषानशेषानपशल्यदोषः ।।५८६।।

(२३) इति आलोचना ।

कि ये गुरु मुझ जैसे क्षपककी अन्तिम आलोचना भी ठीकसे नही सुनते, इन्हें क्या सुनाया जाय ? और आलोचक क्षपक उस समय माया, भय रागद्वेष आदि परिणामोंको छोड़कर आलोचना करे यह भाव शुद्धि है । इसप्रकार शुभकाल, प्रशस्त स्थान में प्रसन्न मन युक्त हो आचार्य निर्मल परिणाम युक्त हुए क्षपकको आलोचना सुनते है ।

उक्त आलोचनाके स्थान पर नेत्रसे तथा पीछीसे शोधनकर शांत भावसे क्षपक को बैठ जाना चाहिये, मन, वचन, कायकी शुद्धि करके कृतिकर्म सहित आचार्यको नमस्कार करे, कैसा है क्षपक ? जिसने शल्य दोषका त्याग कर दिया है तथा जिसने पीछी से युक्त दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर रखे हैं । ऐसा क्षपक सपूर्ण दोषोको कहकर आलोचना करता है ।।५८६।।

विशेषार्थ—देव वंदना प्रतिक्रमण आदि कार्योंको यतिजन कृतिकर्म सहित करते हैं । प्रत्येक कार्यमें पृथक् पृथक् भक्तिपाठ होता है, जैसे देववंदनामे चैत्यभक्ति और पंचगुरु भक्तिका पाठ करते है । भक्ति पाठ करते समय सर्वप्रथम विज्ञप्ति करके मै अमुक भक्ति करता हूँ ऐसी प्रतिज्ञा करके—"नमोस्तु देववंदना क्रियायां भावपूजा वंदनास्तवसमेतं चैत्यभक्ति कायोत्सर्गं कुर्वेहं" इसतरह प्रतिज्ञा करके तीन आवर्त्त (हाथ जोड़कर तीन बार विशिष्ट रीतिसे घुमाना) एक शिरोनमन करके सामायिक दण्डक करके तीन आवर्त्त एक शिरोनमन सहित कायोत्सर्ग करे, पुनः तीन आवर्त्तादि सहित थोस्सामि दण्डक करके पुनः आवर्त्तादि कर जो भक्तिपाठ है उसे करे । इसतरह क्रियामें जितने भक्तिपाठ आगममे बताये है उनमें यही आवर्त्त आदिकी पुनः पुनः विधि होती है । अर्थात् एक भक्तिमें बारह आवर्त्त, चार शिरोनमन तथा दो प्रणाम होते हैं । यहां क्षपकको आचार्य सानिध्यमें आलोचना करना है अतः आचार्य वंदना क्रियाकी विधि होगी, इसमें सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्य भक्तिका पाठ होगा, इन भक्तियों को उक्त आवर्त्तादि पूर्वक करके आचार्यको पंचांग नमस्कार करना चाहिये । पुनश्च

अनुकंप्यानुमान्यं हि यद्दृष्टं स्थूलमन्यथा ।
छन्नं शब्दाकुलं भूरि सूयं व्यक्तं च तत्समं ।।५९०।।

सूरिं भक्तेन पानेन प्रदानेनोपकारिणा ।
विनयेनानुकम्प्य स्वं दोषं वदति कश्चन ।।५९१।।

अपनो आराधना सिद्धि हो एतदर्थ योगभक्ति करनो चाहिये । इसप्रकार कृतिकर्म करके विनयपूर्वक आलोचना करे ।

आलोचना अधिकार समाप्त (२३)

गुण दोष नामा चौबीसवां अधिकार—

अब आलोचना करते वक्त जो दोष संभव हैं उन्हें क्रमसे बताते हैं—

आलोचनाके दश दोष है—अनुकंपित, अनुमानित, यद्दृष्ट, स्थूल, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी ।।५९०।।

इन दोषोंका विवरण इसप्रकार है—गुरुके मनमे अपने विषयमे दया उत्पन्न करके आलोचना करना अनुकपित दोष है । गुरुके अभिप्रायको किसी उपायसे जानकर आलोचना करना अनुमानित दोष है । जो दोष किसीने देखे है केवल वही कहना यद् दृष्ट दोष है । छोटे दोष छिपाकर केवल बड़े दोष कहना स्थूल दोष है, और बड़े अपराध छिपाकर सूक्ष्मको कह देना सूक्ष्म दोष है । जहां सामूहिक प्रतिक्रमण आदिके कारण कोलाहल हो रहा है उस वक्त आलोचना करना शब्दाकुलित दोष है । एक आचार्यको दोषोंका निवेदन कर पुनः अन्य आचार्यके निकट दोष निवेदन करना बहुजन दोष है । अज्ञानी गुरुको दोष बताना अव्यक्त दोष है और जिस दोषकी आलोचना करना हो वह दोष जो गुरु करता है उसके पास आलोचना करना तत् सेवी दोष है । इसका विस्तृत कथन कारिकाओं द्वारा आगे और भी कर रहे है ।

अनुकपित दोष—

आचार्यके लिये आहार पानी उपकरण प्रदान करके, तथा विनय द्वारा अनुकपा उत्पन्न करके कोई क्षपक आलोचना करता है ।।५९१।।

आलोचितं मया सर्वं भविष्यत्येष मे गुणं ।
करिष्यतीति मन्तव्यं पूर्व आलोचनामलः ॥५९२॥

कश्चित् क्रीत्वा विषं भुंक्ते नरो मत्वाहितं हितं ।
जीवितार्थी यथा मूर्खस्तथेयं शुद्धिरिष्यते ॥५९३॥

मधुरालोचनंषादौ विपाके सेविता सती ।
तीव्रं करोति किंपाक फल भुक्तिरिवासुखं ॥५९४॥

भावार्थ—स्वतः भिक्षा लब्धि सपन्न होनेसे आचार्यको प्रासुक, उद्गम आदि दोषोंसे रहित आहार पानीसे वैयावृत्य करके, पीछी कमडलु प्रदान करके आचार्यके मनमें अपने प्रति दया भाव उत्पन्न कराके कोई क्षपक आलोचना करता है। यह अनुकंपित दोष है।

आचार्यको आहार आदिसे सतुष्ट एवं दयायुक्त करनेपर मेरे द्वारा सर्व आलोचना हो जायगी, इससे मुझे बड़ा लाभ होगा अर्थात् आहारादिसे संतुष्ट हुए आचार्य मुझे अल्प प्रायश्चित्त देंगे इस तरह विचार वह क्षपक करता है। यह आलोचना का पहला दोष है ॥५९२॥

भावार्थ—क्षपक अपने मनमें गुरुके प्रति इसतरह तुच्छ विचार करता है कि मेरे उपकरण प्रदानसे ये गुरुजन संतुष्ट होवेंगे और उससे कम प्रायश्चित्त देंगे। सो गुरुके प्रति यह मानसिक अविनय है अतः इसतरह की आलोचना सदोष मानी जाती है।

जैसे कोई जीवनको चाहनेवाला पुरुष विष को खरीदकर खाता है और उस अहित को ही हित मानता है तो वह मूर्ख कहलाता है। उसीप्रकार आत्मशुद्धि—रत्नत्रय शुद्धिके लिये क्षपक आलोचना करता है और उससे गुरु को उपकरण दानादिके छलसे पुनः माया शल्यकी पुष्टि करता है, अतः विषको खरीदकर खाने वालेके समान ही यह क्षपक है, उसकी शुद्धि वैसी ही है अर्थात् ऐसी आलोचनासे कदापि शुद्धि नहीं होती ॥५९३॥

अनुकंपित दोष युक्त की गयी यह आलोचना प्रारंभमें मधुर लगती है। [क्योंकि इससे कम प्रायश्चित्त मिलनेकी आशा है] किन्तु विपाककालमें—आगामी

रक्तस्य कृमिरागेण शुद्धिर्लाक्षारसेन वा ।
वस्त्रस्य जायते जातु नैषा शुद्धिःपुनध्रुवम् ।।५९५।।

धीरैराधारितं धन्याः कुर्वते दुश्चरं तपः ।
दुःखाम्भसो भवाम्भोधेर्दुस्तरास्तारकं परम् ।।५९६।।

बलमापहारपार्श्वस्थ सुखशीलतया तपः ।
न प्रकृष्टमलं कर्तुं वदत्येवमधार्मिकः ।।५९७।।

पार्श्वस्थत्वमनारोग्यं दौर्बल्यं बह्निमंदता ।
भगवंस्तव विज्ञाता मदीयाः सकलाः स्फुटम् ।।५९८।।

कालमें [सदोष आलोचनासे—भवभ्रमण होनेसे] तीव्र दुःखको उत्पन्न करतो है । जैसे किंपाक फल देखनेमें सुंदर और खानेमें मधुर होनेपर भो विपाक कालमें मरणका दुःख उत्पन्न करता है ।।५९४।।

कृमिरंग से रगे हुए वस्त्रको अथवा लाक्षा रसके रगसे रंगे हुए वस्त्रकी शुद्धि कदाचित् (सफेद साफ होना) हो सकती है किन्तु अनुकंपित दोष युक्त की गयी आलोचनासे निश्चयसे शुद्धि नही हो सकती ।।५९५।।

भावार्थ—जैसे कृमिरगादिसे रंगा वस्त्र सफेद नहो होता वैसे मायाचारसे की गयी आलोचनासे रत्नत्रयकी शुद्धि नही होतो है ।

(२) अनुमानित दोष—

क्षपक आचार्य समक्ष मानो अपनी धार्मिकता दिखाता हुआ कहता है कि जिसे धीर पुरुषोंने किया है जो दुःखरूप जल वाले दुस्तर ऐसे भवसागरसे पार उतारने वाला है ऐसे कठोर तपको जो मुनिजन करते हैं वे धन्य है ।।५९६।।

मैं इसप्रकारके उग्र तपको करनेमें समर्थ नही हूँ । इसप्रकार वह अधार्मिक क्षपक अपना बल छिपाकर एवं पार्श्वस्थ होनेसे सुखमें आसक्त हुआ गुरुसे कहता है । अर्थात् गुरुसे मैं कमजोर हूँ, मेरेमें उपवासकी सामर्थ्य नही ऐसा कहता है ।।५९७।।

उक्त क्षपक कह रहा है कि हे भगवन् ! मेरे पार्श्वस्थत्व, रोगीपन, दुर्बलता, मंदाग्नि रूप सब कमियोंको आप स्पष्ट रूपसे जानते हो हैं ।।५९८।।

आलोचयामि निःशेषं कुरुषे यद्यनुग्रहम् ।
त्वदीयेन प्रसादेन विशुद्धिर्मम जायताम् ॥५९९॥

कुर्वाणस्यानुमान्येति सूरिमालोचनां यतेः ।
भवत्यालोचनादोषो द्वितीयः शल्यगोपकः ॥६००॥

सेव्यमानो यथाहारो विपाके दुःखदायकः ।
अपथ्यः पथ्यशेमुष्या तथेयं शुद्धिरीरिता ॥६०१॥

परैः सूचयते दृष्टमदृष्टं या निगूहति ।
महादुःखफला तेन मायावल्ली प्ररोप्यते ॥६०२॥

यदि दृष्टमदृष्टं च नालोच्यति दूषणं ।
तदास्त्यालोचनादोषस्तृतीयो दोषवर्धकः ॥६०३॥

आप मुझपर यदि अनुग्रह करें तो समस्त आलोचना को करता हूँ । आपके प्रसादसे मेरी शुद्धि हो जाय ॥५९९॥

इसप्रकार आचार्यको कहकर उनके निकट आलोचना करने वाले क्षपक मुनि के शल्यका गोपन करने वाला दूसरा अनुमानित नामका दोष होता है ॥६००॥

जिसप्रकार अपथ्य भोजनका यह पथ्यकारक है ऐसी बुद्धिसे सेवन किया जाता है तो वह विपाकमें दुःखदायक होता है । उसीप्रकार गुरु को अपनी कमजोरी बताकर कम प्रायश्चित्त का आश्वासन लेकर आलोचना करनेवालेकी आलोचना विपाक कालमें दुःखदायक होती है । उससे शुद्धि नही होती ॥६०१॥

(३) यद् दृष्ट दोष—

जो क्षपक परके द्वारा देखे दोषों को गुरुके समक्ष कहता है और जो दोष नहीं देखा हो उसको छिपा देता है, ऐसे उस क्षपक द्वारा महादुःखरूप फलवाली मायाबेल रोपी जाती है, अर्थात् देखे दोष बताना और नही देखे हुए को छिपाना यही माया है इससे क्षपकको महान् कष्ट उठाना पड़ता है ॥६०२॥

यदि दृष्ट और अदृष्ट–परके द्वारा देखे हुए और नहीं देखे हुए दोनों प्रकार के दोषोंकी आलोचना क्षपक नही करता है तो उसका वह अपराध को बढ़ाने वाला आलोचना का तीसरा दोष होता है ॥६०३॥

छंद रथोद्धता —

दोषशुद्धिरपचेतसा पुनः कल्मषैरिति कृता निधीयते ।
वालुकासु रचितोऽवटः पुनर्वालुकाभिरभितो हि पूर्यते ।।६०४।।

स्थूलं व्रतातिचारं यः सूक्ष्मं प्रच्छाद्य जल्पति ।
पुरतो गणनाथस्य सोऽर्हद्वाक्य बहिर्भवः ।।६०५।।

न चेद्दोषं गुरोरग्रे स्थूलं सूक्ष्मं च भाषते ।
विनयेन तदा दोषश्चतुर्थः कथनाश्रयः ।।६०६।।

छंद शालिनी—

बाह्याकारेणातिशुद्धोऽपि साधुर्नांतः शुद्धिं याति मायाविशल्यः ।
भृंगारो वा कांसिकः शोध्यमानो बाह्ये शुद्धिं कश्मलांतः प्रयाति ।।६०७।।

मैं दोषकी शुद्धि करता हू ऐसा सोचकर क्षपक आलोचनामें उद्यत हुआ था किन्तु बिना देखे दोषको छिपाने की मायारूप कल्मष द्वारा उसी दोषको वह नष्ट-बुद्धि करता है । जैसे कोई बालूमे खड्डा खोदता है तो वह खड्डा खोदते समय ही पुनः बालूसे भर जाता है । अर्थात् बालूमें खड्डा खोदना जैसे व्यर्थ है वैसे दृष्ट दोष को छिपाकर शेष की आलोचना करना व्यर्थ है ।।६०४।।

(४) बादर दोष—

जो क्षपक सूक्ष्म दोषको छिपाकर व्रतोंके स्थूल अतीचार को आचार्यके समक्ष कहता है वह क्षपक अर्हन्त देवकी वाणीसे बहिर्भूत है । उसको आलोचना सदोष है ।।६०५।।

गुरुके आगे सूक्ष्म और बादर दोनों दोषोंको विनयपूर्वक नही कहता है तो वह उसकी आलोचनाका चौथा दोष है ।।६०६।।

छलपूर्वक आलोचना करनेवाला क्षपक बाह्य आकारसे अति शुद्ध प्रतीत होता है, किन्तु भावादि शल्यवाला वह साधु अंतरंगकी शुद्धिको प्राप्त नही होता । जैसे कांसेका कमंडलु या झारी साफ करते हुए भी बाहरसे साफ स्वच्छ होती है अदरमें मैलो–हरो नोली रहती है ।।६०७।।

आसने शयने स्थाने संस्तरे गमने तथा ।
आर्द्रगात्रपरामर्शे गर्भिण्या बालवत्सया ॥६०८॥

परिविष्टेऽभवद् दोषो यः सूक्ष्मः स निगद्यते ।
स्थूलं प्रच्छाद्य येनासौ जिनवाक्यपराङ्मुखः ॥६०९॥

स्थूलं सूक्ष्मं च चेद्दोषं भाषते न गुरोःपुरः ।
मायाव्रीडामदाविष्टः सदा दोषोऽस्ति पंचमः ॥६१०॥

छद उपजाति—

रसेन पीतं जतुना प्रपूर्णं कूटं विपाके कटकं गृहीतं ।
यथा तथेत्थं विहितं विधत्ते विशोधनं तापमपारमुग्रम् ॥६११॥

---

(५) सूक्ष्म दोष—

जो क्षपक अपने सूक्ष्म दोषो को बताता है कि मैंने आसन पर बैठते समय शोधन नही किया, शयनमे, खड़े होनेमें पोछोसे मार्जन नहीं किया। गमन करते समय हिमाच्छादित भूमिपर गमन किया, वर्षा आदिके कारण अप्रासुक जलसे गीले हुए शरीर को सूखे बिना ही हाथोसे पोंछ डाला। आहार करते समय जो स्त्री पांच माहसे अधिक गर्भभार को धारण कर रही है उससे आहार लिया। गोदीके बालकको स्तनपान कराके आयी हुई स्त्रीसे दिया हुआ आहार लिया है। इसप्रकारके सूक्ष्म–छोटे छोटे दोष बड़े दोषोंको छिपाकर जिसके द्वारा कहे जाते है वह क्षपक जिनवाक्यसे परांमुख है, सदोप है ॥६०८॥६०९॥

सूक्ष्म और बादर दोषोंको यदि गुरुके आगे नहीं कहता है तो उस क्षपकके सदा माया लज्जा और गर्वसे भरा हुआ पंचम दोष है इस दोषको करने वाले क्षपकका यह अभिप्राय रहता है कि यदि मैं बड़े दोष कहूँगा तो आचार्य बड़ा प्रायश्चित्त देंगे या मुझे त्याग देंगे। अथवा इतने छोटे दोष ही बता रहा है तो बड़े क्यों नही कहेगा। ऐसा विश्वास आचार्यको दिलाने हेतु छोटे दोषका कथन करता है ॥६१०॥

जिसप्रकार नकली कड़ा (हाथका कंगन पाटला आदि) बाहरसे सुवर्णसे मढा रहता है और अन्दर लाखसे पूरित होता है, उस कड़ेको खरीद लेवे तो आगे वह

आद्ये व्रते द्वितीये वा दोषः संपद्यते यदि ।
सूरे ! कस्यापि कथ्यस्व विशुद्धयति तदा कथम् ॥६१२॥

इत्यन्यव्याजतश्छन्नं पृच्छ्यते चेत्स्वशुद्धये ।
तदानीं जायते दोषः षष्ठः संसारवर्द्धकः ॥६१३॥

भोजने च कृतेऽन्येन तृप्तिरन्यस्य जायते ।
अपरस्य तदाशुद्धिर्विहिता परभर्मणा ॥६१४॥

आत्मशुद्धिं विधत्ते यः प्रपृच्छ्य परभर्मणा ।
अपरेणौषधे पीते स्वस्यारोग्यं करोति सः ॥६१५॥

तापकारी होता है। उसप्रकार सूक्ष्मदोष को बताकर बडे दोषको छिपाने वाली आलोचना करे तो दोष शुद्धि नही होती, बल्कि अपार और उग्र ऐसा सताप ही होता है ॥६११॥

भावार्थ—बड़े बड़े दोष छिपाकर छोटे दोष गुरुको कहना उसतरह निःसार है जिसतरह अंदरसे लाख भरे कड़े के ऊपर सुवर्ण चढ़ाना है। ऐसा कड़ा कोई खरीदे तो उसे कुछ लाभ नही है क्योंकि आगे उसका कुछ भी मूल्य नहीं रहता। ऐसे ही बड़े दाष या पापको छिपाकर छोटे छोटे बतानेसे गुरु समझेगा कि पापसे अत्यंत डरनेसे यह छोटे भी दोष कह रहा है यह बहुत ही पापभीरु है इत्यादि। गुरुको ऐसी प्रतीति कराने हेतु क्षपक मायाचार करता है, ऐसा क्षपक सुवर्णका झोल चढ़े कड़ेके समान भीतर निःसार और बाहर चमकीला जैसा है।

(६) छन्न दोष—

क्षपक छलसे आचार्यको पूछता है कि हे गुरुवर्य ! किसीको प्रथम अहिसा महाव्रतमे अथवा दूसरे सत्य महाव्रतमे दोष लगता है तो वह किसप्रकार शुद्ध होता है इस बातको मुझे समझाओ ॥६१२॥

इसप्रकार अन्य मुनिके बहाने अपनी शुद्धिके लिये प्रच्छन्न रीत्या गुरुसे पूछा जाता है तब संसार बढ़ानेवाला छठा छन्न नामा दोष आता है ॥६१३॥

यदि अन्यके भोजन करनेपर अन्यकी तृप्ति होती हो तो अन्यके द्वारा आलोचना शुद्धि करनेपर किसी अन्यकी शुद्धि होना संभव है। अन्य मुनिके बहाने पूछकर जो

संयमे चेत्कृतेऽन्येन विमुक्ति लभते परः ।
परव्याजकृता शुद्धिस्तदा शोधयते परम् ।।६१६।।

छद-उपजाति—

गुरोर्निजं दोषमभाषमाणो दोषस्य यः कांक्षति शुद्धिमज्ञः ।
मन्ये स तोयं मृगतृष्णिकातो जिघृक्षतेऽन्नं शशिबिंबतो वा ।।६१७।।

शब्दाकुले चतुर्मासपक्षवर्षक्रियादिने ।
यथेच्छ पुरतः सूरेरालोचयति योऽधमः ।।६१८।।

अव्यक्तं वदतः स्वस्य दोषान्संक्लिष्ट चेतसः ।
आलोचनागतो दोषः सप्तमः कथितः जिनैः ।।६१९।।

क्षपक अपनी शुद्धि करना चाहता है वह किसी अन्य पुरुष द्वारा औषध पीनेपर अपना आरोग्य करना चाहता है ।।६१४।।६१५।।

परके छलसे अपनी आलोचनाकी शुद्धि तब सभव है जब अन्य मुनि द्वारा संयम पालन करनेपर किसी अन्य मुनिराजको मुक्तिका लाभ होता हो ।।६१६।।

जो अज्ञ क्षपक अपने दोषको गुरुके समक्ष बिना कहे ही दोषको शुद्धि करना चाहता है, वह मरीचिकासे जलको चाहता है अथवा चन्द्र बिंबसे अन्न चाहता है ऐसा मैं मानता हूँ ।।६१७।।

(७) शब्दाकुलित दोष—

चातुर्मासिक, पाक्षिक, वार्षिक प्रतिक्रमण आदि क्रियाके दिन है उससे कोलाहल शब्द हो रहा है, उस वक्त जो अधमक्षपक अपनी इच्छानुसार आचार्यके आगे आलोचना करता है । अपने दोषोंको अव्यक्त रीत्या संक्लिष्ट मनसे कहनेवाले क्षपकके आलोचनामें होने वाला सातवां शब्दाकुलित दोष होता है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।।६१८।।

शुद्धिको जाननेवाले महान् गणधरादि ऐसी शुद्धिको घटीयंत्रमें होनेवाले घटके समान मानते हैं अथवा फूटे घड़ेके समान या चुंदरज्जु सदृश मानते हैं ।।६१९।।

अरगर्तघटीयंत्रं समां भिन्नघटोपमां ।
चुंदरज्जुनिभामेनां शुद्धिं शुद्धिविदो विदुः ।।६२०।।

सूरिभक्तिभरानम्रः सूरिपादाम्बुजद्वयम् ।
प्रणम्य भाषते कश्चिद् दोषं सर्वं विधानतः ।।६२१।।

तस्य सूत्रार्थदक्षेण रत्नत्रितय शालिना ।
व्यवहारविदा दत्तं प्रायश्चित्तं यथोचितम् ।।६२२।।

यत्कल्प व्यवहारांग पूर्वादिश्रुतभावितम् ।
तदालोच्य विधानेन वत्तं सूत्रपटोयसा ।।६२३।।

विशेषार्थ—अरघट यंत्रमें सकोरे जैसे लगे रहते है और वे एक तरफसे भरकर आते है और एक तरफमे खाली होते जाते हैं । अथवा भग्न घटमे पानी ऊपरसे तो डाला जाता है और नीचेसे निकल जाता है । इसीप्रकार जब शब्दसे कोलाहल हो रहा है उस वक्त गुरुजनके पास आलोचना करना शब्दाकुलित दोष है ।

फूटे घटमे पानी नही टिकता वैसे शब्दाकुलित दोष आत्मशुद्धि को नही होने देना । चुंदरज्जु काष्ठमे छेद करने वाले बर्माको घुमाते समय उसमे बंधी रस्सी एक तरफसे खुलती है और एक तरफसे बँधती जाती है वैसेही शब्दाकुलित दोष युक्त आलोचना करनेवालेके मुखमे दोष कहा जा रहा है—अपराध खुल रहा है किन्तु आचार्य ठीकसे नहीं सुन पाय ऐसी माया मनमे होनेसे माया अपराधसे पुनः कर्म बध कर रहा है ।

(८) बहुजन दोष—

कोई क्षपक अत्यंत भक्तिके भारसे नम्र हुआ आचार्यके चरणकमल युगलको प्रणाम करके सभी दोषोंको विधिपूर्वक कहता है ।।६२०।। और सूत्रार्थमे निपुण रत्नत्रय-धारी व्यवहारके वेत्ता आचार्य द्वारा उस अपराधका यथोचित प्रायश्चित्त किया जाता है ।।६२१।। जो कि प्रायश्चित्त ग्रंथ, अंग प्रविष्ट ग्रंथ और पूर्व ग्रंथोंमें कहा गया है उसको आलोचनाके अनुसार सूत्रमे विशारद आचार्य द्वारा दिया गया है ।।६२२।। उस योग्य आचार्यके वचनपर श्रद्धा-विश्वास नही करके उक्त क्षपक पुनः दूसरे आचार्यको पूछता है सो वह आलोचना विषयक आठवां दोष कहा है ।।६२३।।

अश्रद्धाय वचस्तस्य स यथा पृच्छते परं ।
अष्टमः कथितो दोषस्तदालोचन गोचरः ।।६२४।।

छंद-उपजाति—

दोषावतीर्णोऽपि ददाति पीडां परप्रकारेण विशोध्यमानः ।
व्रणो हि शुष्कोऽपि करोति बाधां प्रचाल्यमानः किमुताविषह्यः ।।६२५।।

आगमेन चरित्रेण बालो भवति यो यतिः ।
तस्यालोचयतो दोषं स्वं दोषो नवमो मतः ।।६२६।।

निवेदितं मया सर्वं नासौ जानाति दूषणम् ।
विश्राणयति मे शुद्धिं प्रणिधायेति मानसे ।।६२७।।

एक आचार्य द्वारा प्रायश्चित्त देकर दोष दूर करनेपर भी पुनः अन्य आचार्य अन्य प्रकारसे उस दोषका शोधन करते हैं इसतरह पुनः विशुद्धमान दोष क्षपकको पीड़ा उत्पन्न करता है, जैसेकि व्रण-घाव शुष्क हुआ है किन्तु उसको पुनः पुनः छेड़ो–मसलदो तो वह असह्य बाधा को करता है ।।६२४।।

(९) अव्यक्त दोष—

जो आचार्य आगमज्ञान तथा चारित्रसे बाल है अर्थात् आगमज्ञान और चारित्र विहीन है, ज्ञान चारित्र जिसका कमजोर है ऐसे आचार्यके निकट अपने दोषको आलोचना करना उसका यह अव्यक्त नामका नौवा दोष है ।।६२५।।

गुरुके निकट आलोचना करनेवाला क्षपक मनमें यह सोचता है कि मैंने सर्व दोष मन वचन कायकी एकाग्रता करके शुद्धिपूर्वक कह दिये, ये मेरे लिये शुद्धि प्रदान करेंगे, किन्तु आगमज्ञान विहीन वह गुरु दोषको नहीं जानता है ।।६२६।।

यह अव्यक्त दोष युक्तकी गयो आलोचना बड़े भारी पश्चात्तापको देती है, जैसेकि दुष्टोंकी संगति या नकली सुवर्ण खरीदना पश्चात्तापको देता है ।।६२७।।

दुष्टोंकी संगति समय समय पर पश्चात्ताप कराती है कि हाय ! मैंने ऐसे पुरुषकी संगति क्यों की ? यह बहुत दुःख देता है इत्यादि । तथा अज्ञानतावश नकली सुवर्ण खरीदे तो जब उसके अलंकार आदि बनायेंगे तो वह नहीं बन पायेंगे तब

इदमालोचनं दत्ते पश्चात्तापं दुरुत्तरं ।
दुष्टानामिव सांगत्यं कूटं स्वर्णमिवाथवा ।।६२८।।

पार्श्वस्थानां निजं दोषं पार्श्वस्थो भाषते कुधीः ।
निचितो निचितैर्दोषैरेषोऽपि सदृशो मया ।।६२९।।

जानीते मे यतः सर्वां सर्वदा सुखशीलताम् ।
प्रायश्चित्तं ततो नैष महद् दास्यति निश्चितम् ।।६३०।।

एतस्य कथने शुद्धिः सुखतो मे भविष्यति ।
अयमालोचनादोषो दशमो गदितो जिनैः ।।६३१।।

उक्तो दोषः सदोषस्य सदोषेण न नाश्यते ।
रक्तरक्तं कुतो वस्त्रं रक्तेनैव विशोध्यते ।।६३२।।

पश्चात्ताप होता है कि हाय ! मैने नकली सुवर्ण कैसे खरीदा इत्यादि । ठीक इसी प्रकार अज्ञानी गुरुके निकट अल्पज्ञानी क्षपक मुनि आलोचना करे तो उसे आगे पश्चात्ताप होता है क्योंकि उस अज्ञानी गुरुके प्रायश्चित्त से उसके रत्नत्रयकी शुद्धि नही होती है ।।६२८।।

(१०) तत्सेवो दोष—

कोई दुर्बुद्धि पार्श्वस्थ क्षपक पार्श्वस्थ आचार्यके निकट दोष कहता है, वह सोचता है कि यह आचार्य दोषोसे सयुक्त है और मैं भी दोष युक्त हूँ, यह मेरे समान है ।।६२९।। यह मेरे सर्व सुखिया स्वभावको जानता है, अतः निश्चित ही बड़ा प्रायश्चित्त मुझे नही देगा ।।६३०।। ऐसे आचार्यके निकट दोषको कहनेपर मेरी शुद्धि सुखपूर्वक होवेगी । इसतरह करनेवाले क्षपकके यह दशवा तत्सेवी नामका आलोचना दोष होता है ऐसा जिनेन्द्र द्वारा कहा गया है ।।६३१।।

सदोष आचार्यके निकट कहा गया सदोष क्षपकका दोष नष्ट नहीं हो सकता है, जैसे कि लाल रगसे रगा हुआ वस्त्र लाल रंग द्वारा शुद्ध-सफेद नही होता है ।।६३२।।

छंद उपेन्द्रवज्रा—

जिनेशवाक्यप्रतिकूलचित्ता यथा विमुक्तिं दवयंति पूताम् ।
तथा विशुद्धिं कुधियो वदन्तो दोषाकुलानां निजदूषणानि ।।६३३।।

हित्वा दोषान्दशापोति त्यक्तमायामदादिकः ।
स विनीतमनाः सूरेरालोचयति यत्नतः ।।६३४।।

गृहस्थवचनं मुक्त्वा मौनं च करनर्तनम् ।
सम्यक् सुस्पष्टया वाचा वक्ति दोषान्गुरोः पुरः ।।६३५।।

उक्तं च—

मूक संज्ञांग वलने भ्रूक्षेपं हस्त नर्तनं ।
गृहिणां वचनं चैव तथा शब्दं च घर्घरं ।।१।।

विमुञ्चाभिमुखं स्थित्वा गुरूणां गुणधारिणां ।
स्वापराधं समाचष्टे विनयेन समन्वितः ।।२।।

जिसप्रकार जिनेन्द्र देवको वाणीसे प्रतिकूल चित्तवाले जीव अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव पवित्र मुक्तिको अपनेसे दूर करते हैं, उसप्रकार दुर्बुद्धि क्षपक दोषोसे युक्त आचार्य को निज दोषोंको कहता हुआ शुद्धिको अपनेसे दूर करता है ।।६३३।।

भावार्थ—जैसे मिथ्यादृष्टि जीव जिनेन्द्र वचनमें श्रद्धा नही करता अत: उसे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती । अश्रद्धाके कारण उलटे मुक्ति दूर होती है अर्थात् संसार भ्रमण बढता ही जाता है । वैसे दोष युक्त आचार्यके निकट आलोचना करना शुद्धिको प्रदान न करके उलटे शुद्धिसे दूर करता है ।

इसप्रकार आलोचनाके दस दोषोंका वर्णन पूर्ण हुआ ।

पूर्वोक्त दस दोषोंको छोड़कर मायामद आदिका त्यागी विनीत भाववाला क्षपक मुनि आचार्यके निकट प्रयत्नसे आलोचना करता है ।।६३४।।

गृहस्थके वचन मौन और हाथोंका मटकाना आदिको छोड़कर भलीप्रकार स्पष्ट वाणीसे गुरुके आगे दोषोंको कहता है ।।६३५।। इस विषयमें अन्य ग्रन्थमें भी कहा है कि मूकत्व, संज्ञा, अंगोंको मोड़ना, कटाक्ष छोड़ना, हाथका नचाना, गृहस्थ वचन, घर्घर शब्द इन सब विकारोंका त्यागकर, गुणवान् गुरुके सन्मुख बैठकर, विनय-पूर्वक अपने अपराधको क्षपक कहता है ।।१।।२।।

एक द्वि त्रि चतुः पंचहृषीकांगि विराधने ।
असूनृतवचस्तेय मैथुनग्रन्थसेवने ॥६३६॥
दर्शनज्ञानचारित्र तपसां प्रतिकूलने ।
उद्गमोत्पादनाहार दूषणानां निषेवणे ॥६३७॥
दुर्भिक्षे मरके मार्गे वैरिचौरादिरोधने ।
योऽपराधो भवेत्कश्चिन् मनोवाक्कायकर्मभिः ॥६३८॥
सर्वदोषक्षयाकांक्षी संसारश्रमभीलुकः ।
आलोचयति तं सर्वं क्रमतः पुरतो गुरोः ॥६३९॥

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय व चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवोंकी विराधना मैंने की है । असत्य वचन, चोरी, मैथुन, परिग्रह इन पापोंमे प्रवृत्ति हुई है ॥६३६॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपको नष्ट करनेवाला प्रतिकूल आचरण किया हो, उद्गम, उत्पादना और एषणा संबंधी छियालीस दोषोंका सेवन किया गया हो ॥६३७॥

दुर्भिक्षके समय, रोग आनेपर, मार्गमे चोर वैरी आदिके द्वारा निरोध-रुकावट हो जानेपर मनवचन काय द्वारा जो कोई अपराध हुआ है । उन सभी अपराधोंको क्रमशः गुरुके आगे क्षपक आलोचना करता है, कैसा है क्षपक ? जो समस्त दोषोंका नाश करना चाहता है तथा ससारके कष्टोसे भयभीत है ॥६३८॥६३९॥

विशेषार्थ—अहिंसा महाव्रत आदिमे अतिचार लगना जैसे पृथिवीकायिक जीवको विराधना जमीन को कूटने आदिसे होती है, वस्त्रादिसे हवा करनेपर वायुकायिक को, ओस बर्फ वर्षाके पानी आदिमें गमन करनेस जलकायिक की, अग्निसे सेक करना आदिसे अग्निकायिककी, तृण आदि पर गमन करनेसे वनस्पति कायिक की विराधना साधु द्वारा संभव है । ऐसे ही द्वीन्द्रिय आदिकी विराधनाके विषयमें लगाना । सत्य-महाव्रतके अतिचार जैसे कठोर वचन, असभ्य वचन आदि बोलना । अचौर्य महाव्रतके अतिचार जैसे—किसीको गिरी हुई-पड़ी हुई वस्तु उठानेको अन्य जनसे कहना आदि । ब्रह्मचर्य महाव्रतके अतिचार जैसे-सुंदर स्त्रीका अवलोकन, उसके साथ रागभावसे संभाषण आदि । परिग्रहत्याग महाव्रतके अतिचार जैसे-गृहस्थोचित वस्तुका ग्रहण, उसका शोधन आदि करना । सम्यक्त्वके अतिचार शंका कांक्षा आदि है । ज्ञानके अतिचार अकाल

स सामान्यविशेषाभ्यामभिधाय स्वदूषणम् ।
विधत्ते गुरुणा दत्तां विशुद्धिं शुद्धमानसः ।।६४०।।

मनुष्यः कृतपापोऽपि कृतालोचननिंदनः ।
संपद्यते लघुः सद्यो विभारोभारवानिव ।।६४१।।

भावशुद्धिं न कुर्वन्ति भवन्तोऽपिबहुश्रुताः ।
चतुरंगे विमूढा ये दुःखपीड्या भवन्ति ते ।।६४२।।

अध्ययनादि हैं । चारित्रके अतिचार—समिति आदिके पालनमें शिथिलता, चारित्रका कुछ फल नही है ऐसे भाव होना आदि । तपके अतिचार—उपवास आदि तप करते समय असयम रूप प्रवृत्ति करना आदि । मुनिके आहार देनेमें गृहस्थ द्वारा जो दोष होते हैं वे उद्गम दोष है । मुनिके द्वारा जो उत्पन्न कराये जाते हैं वे उत्पादन दोष हैं । आहार ग्रहण करते समय दाता द्वारा जो दोष प्रवृत्त होते हैं वे एषाणा दोष हैं । ये कुल छियालीस है । देशमें दुर्भिक्ष होनेपर अयोग्य आहार करना, रोग होनेपर औषधि को याचना करना, विहार करते समय चोरादिके द्वारा बाधित होनेपर छिपना भागना आदि से मुनियोको दोष लगते है । इन सब ही दोषों का गुरुके समक्ष विनयभावसे निवेदन करना आलोचना कहलाती है । अहिंसा आदि व्रत, समिति, तप आदिमें बहुत प्रकारके अतिचार लगते हैं इस विषयका सुविस्तृत विवेचन मूलाराधना ग्रथमे बहुत ही सुंदर रीतिसे किया है ।

वह शुद्ध मनवाला क्षपक सामान्य आलोचना और विशेष आलोचना द्वारा अपने दोषोंको गुरुके समक्ष कहकर गुरु द्वारा दी गयी विशुद्धि अर्थात् प्रायश्चित्तको ग्रहण करता है ।।६४०।।

भावार्थ—गुरुने जो भी प्रायश्चित्त दिया हो उसमें फिर राग द्वेष नही करता कि अधिक प्रायश्चित्त दिया है, कैसे इतने उपवास आदि करूं ? ऐसा वह शिष्य नही सोचता है, प्रायश्चित्तका पूरा पालन करता है ।

पापी मनुष्य भी यदि निन्दा गर्हा आलोचना करता है तो वह शीघ्र ही पाप भारसे हल्का हो जाता है, जैसे बहुतसा भार-बोझा ढोनेवाला पुरुष भारको उतारकर हल्का हो जाता है ।।६४१।।

त्रिःकृत्वालोचनां शुद्धां भिक्षोर्विज्ञाय तत्त्वतः ।
स मध्यस्थो रहस्यज्ञो दत्ते शुद्धि यथोचितां ।।६४३।।

राजकार्यातुरा सत्य सशल्यानामिव त्रिधा ।
दोषाणां पृच्छना कार्या सूरिणागमवेदिना ।।६४४।।

दोषान्न प्रांजलीभूय भाषते यद्यशेषतः ।
न कुर्वन्ति तदा शुद्धि प्रायश्चित्त विचक्षणाः ।।६४५।।

जो मुनि महाज्ञानी होकर भी चारित्र आदिमें भावोकी शुद्धिको नहीं करते हैं, वे चार आराधनाओंमें विमूढ हुए दुःखोंसे पीड़ित होते है अर्थात् सम्यक्त्व आदिके दोषो की सरल मनसे आलोचना द्वारा शुद्धि नहीं करते हैं वे आराधना को प्राप्त नही करते, और इससे चतुर्गतिके दुःखोको भोगते है ।।६४२।।

क्षपक साधुकी तीन बार की गयी शुद्धि-आलोचना को भलीप्रकार जानकर प्रायश्चित्त ग्रंथके ज्ञाता मध्यस्थ (रागद्वेषके उद्रेकसे रहित) आचार्य दोषानुसार उचित शुद्धिको–प्रायश्चित्तको देते है ।।६४३।।

जिसप्रकार राजकार्य, रोगी, असत्य और शल्यके विषयमें तीन बार पूछा जाता है उसीप्रकार आगमके ज्ञाता आचार्यको क्षपकसे दोषोंके विषयमे तीन बार पूछना चाहिये ।।६४४।।

भावार्थ—राजाके द्वारा कहे हुए कार्यको राजासे तीन बार यथावसर पूछा जाता है कि क्या यह कार्य इसप्रकार करूँ ? रोगीको तीन बार वैद्य पूछता है कि तुमने क्या खाया था इत्यादि ? असत्यभाषीसे तीन बार पूछकर वास्तविक बात जानो जाती है । शल्य–काटा या घाव होनेपर तीन बार देखा पूछा जाता है । इसी तरह क्षपकको उसके अपराधों को तीन बार पूछा जाता है–तीन बार उससे आलोचना कराते हैं । इस तरह करनेसे पता चलता है कि यह वास्तविक रूपसे दोष को कह रहा है या नही ? यदि तीनों बार एक तरहसे ही दोषोंका निवेदन करता है तो समझना चाहिये कि यह सरल भावसे आलोचना कर रहा है । और यदि तीनो बार पृथक् पृथक् रूपसे दोष कथन करता है तो आचार्यको समझना चाहिये कि यह क्षपक कुटिल भावसे आलोचना कर रहा है ।

निःशेषं भाषते दोषं यदि प्रांजलमानसः ।
तदानीं कुर्वते शुद्धि व्यवहारविशारदाः ।।६४६।।

सम्यगालोचते तेन सूत्र मीमांसते गणी ।
अनालोच्य न कुर्वंति महान्तः कांचन क्रियां ।।६४७।।

ज्ञात्वा वक्रामवक्रां वा सूरिरालोचनां यतेः ।
विदधाति प्रतीकारं शुद्धिरस्ति कुतोऽन्यथा ।।६४८।।

जातस्य प्रतिसेवातो हानिर्वृद्धिश्च देहिनाम् ।
पापस्य परिणामेन तीव्रामंदा च जायते ।।६४९।।

यदि क्षपक मुनि सरल भावसे संपूर्ण दोषोंको नहीं कहता है तो प्रायश्चित्तमें कुशल आचार्य उसको शुद्धि नही करते है अर्थात् उसको प्रायश्चित्त नही देते है ।।६४५।। यदि क्षपक सरल मनवाला होकर समस्त दोष कहता है तो व्यवहार शास्त्र–प्रायश्चित्त शास्त्रमें विशारद आचार्य उसकी शुद्धि करते है, उसे प्रायश्चित्त देते है ।।६४६।।

क्षपक द्वारा सम्यक् आलोचना करनेपर आचार्य प्रायश्चित्त ग्रंथका अवलोकन करते हैं अर्थात् अमुक अपराध इससे हुआ है इसके लिये कौनसा प्रायश्चित्त उचित है इत्यादि रूपसे ग्रंथावलोकन द्वारा विचार करते है क्योंकि महापुरुष बिना विचार किये किसी भी कार्यको नही करते है ।।६४७।।

आचार्य क्षपक यतिको सरल या कुटिल आलोचना अच्छी तरह जान करके उसका प्रतीकार करते है—प्रायश्चित्त द्वारा दोषोकी शुद्धि करते है । अन्यथा अर्थात् आलोचनाके बिना जाने शुद्धि किसतरह संभव है ।।६४८।।

जीवोंके जो अपराध या दोष हुए है उनमें हानि और वृद्धि हो जाया करती है । पापके परिणामसे तीव्रता और मदता होती है आशय यह है कि जिससमय अपराध किया उससमय तीव्र अशुभ परिणाम था तो तीव्र पापबंध हुआ तदनंतर शुभ परिणाम हुआ तो उस पापबंधमें हानि हो जाती है यदि पीछे भी तीव्र अशुभ परिणाम हुए तो उक्त पापबंधमें और अधिक वृद्धि होती है यह एक बात है । तथा जब उस अपराधकी आलोचना गुरु समक्ष करते है उसमें भी अनेक तरहके परिणाम होते हैं यदि आलोचना के समय परिणाम अति निर्मल है तो पापबंधमें बहुत हानि या पापकर्मका संक्रमण द्वारा

स्थिरत्वं नयते पूर्वं संसारासुखकारणं ।
एतेषां चिनुते पापं सक्लिष्टः क्षिपते गुणम् ।।६५०।।

कृत्वापि कल्मषं कश्चित् पश्चात्ताप कृशानुना ।
दह्यमानमना देशं सर्वं वा हंति निश्चितम् ।।६५१।।

नालिकाधमवज्ज्ञात्वा प्रमाणं कुरुते सुधीः ।
ततः शुध्यति यावत्या तावतीं स परिक्रियां ।।६५२।।

उल्लाघीकुरुते वैद्यो वैद्यशास्त्रविशारदः ।
यथातुरं कृताभ्यासो रोगातंकादिपीडितम् ।।६५३।।

नाश हो जाता है। यदि आलोचनाके समय परिणाममें अल्प निर्मलता है तो बँधे पाप को कम हानि होगी ।।६४९।।

संक्लेश परिणाम संसार दुःखके कारण रूप ऐसे पहलेके बँधे हुए पापकर्मको दृढ़–अधिक तीव्र शक्तिवाला कर देता है तथा नया कर्म संचय भी कर देता है और सम्यक्त्वादि गुणका नाश करता है ।।६५०।।

कोई मुनि पापको करके भी पीछे—पश्चात्ताप रूपी अग्निके द्वारा जिसका मन जल रहा है ऐसा हुआ उस पापको एक देशरूप या पूर्णतया नियमसे नष्ट कर डालता है अर्थात् अपराध द्वारा पापका बध पहले हुआ किन्तु पीछे पश्चात्ताप हुआ कि हाय ! हाय ! मैंने बहुत गलत कार्य किया है इस कार्यसे ससार भ्रमण होता है अब ऐसा कभी नही करूंगा। ऐसे पश्चातापसे बँधा हुआ कर्म आंशिक या पूर्ण रूपसे नष्ट होता है। जितनी परिणाम में निर्मलता होगी उतना कर्मनाश होगा ।।६५१।।

बुद्धिमान्, प्रायश्चित्त ग्रंथके ज्ञाता आचार्य सुनारके समान क्षपकके परिणाम जानकर जितने प्रायश्चित्तसे क्षपक शुद्ध होगा उतना प्रायश्चित्त उसे देते हैं अर्थात् सुनार जंसे जितने तापसे यह सुवर्ण शुद्ध होगा ऐसा जानकर उतना ताव देकर सुवर्णको शुद्ध करता है। वैसे ही आचार्य क्षपक जितने प्रायश्चित्तसे शुद्ध होगा उतना प्रायश्चित्त देते है ।।६५२।।

जैसे वैद्यक ग्रंथमे विशारद तथा जिसने बहुतबार रोगीको चिकित्सा करके अभ्यास किया है ऐसा वैद्य रोग आतंक अदिसे पीड़ित रोगी को रोग रहित करता है

गणाधिपः　कृताभ्यासो　व्यवहारविचक्षणः ।
क्षपकं　मलिनीभूत　निर्मली　कुरुते　तथा ॥६५४॥

गणस्थिते　सतीदृक्षे　स्थविरेऽध्यापके　तथा ।
अस्ति　प्रवर्तको　वृद्धो　बालाचार्योऽथ यत्नतः ॥६५५॥

स　चारित्रगुणाकांक्षी कृत्वा　शुद्धि　विधानतः ।
गुरोरंते　समाचारी　विशुद्धयं　चेष्टते　तराम् ॥६५६॥

प्रसन्न-सुखी करता है। वैसेही प्रायश्चित्त ग्रथमें विशारद तथा जिसने बहुतबार प्रायश्चित्त देकर मुनिको शुद्ध करनेका अभ्यास किया है अर्थात् जिसने बहुत बार शिष्योको प्रायश्चित्त दिया है ऐसा आचार्य दोषोंसे मलिन हुए क्षपकको प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध-निर्मल करता है ॥६५३॥६५४॥

आचारी आधारी आदि गुणोंसे समन्वित आचार्य संघमे कदाचित नही है स्थविर और उपाध्याय भी नही हैं तो ऐसे अवसर पर वृद्ध प्रवर्त्तक मुनि अथवा जो अभी नया आचार्य बना ऐसे बालाचार्यको प्रयत्न पूर्वक निर्यापक गुरु बनाया जाता है अर्थात् मुनिको सल्लेखना करनी है और सघमे आचार्य विद्यमान नही है तो जो वृद्ध प्रवर्त्तक आदि श्रेष्ठ मुनि है उनको निर्यापक गुरु मानकर उनसे सल्लेखना सपन्न करायी जाती है ॥६५५॥

विशेषार्थ—संघमें किसीको समाधिका अवसर प्राप्त है और आचारवान् आदि गुणोके धारक आचार्य नही है तो उन जैसे स्थविर मुनि निर्यापक बनाये जाते है, जो रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्गके ज्ञाता है एव चिरकालसे दीक्षित है उसे स्थविर मुनि कहते हैं। स्थविर मुनिका अभाव हो तो आचार्य सदृश गुणोंके धारक उपाध्याय को निर्यापकका कार्य सौपा जाता है, उसका भी अभाव हो तो वृद्ध प्रवर्तक मुनि इस कार्य को करते है—निर्यापक बनाये जाते है। अल्पश्रुतज्ञानी होकर भी जो सर्व संघकी मर्यादा एवं चारित्रका जानकार हो उसे प्रवर्तक मुनि कहते हैं।

चारित्र गुणोका जो आकाक्षी है ऐसा क्षपक विधि विधानसे गुरुके समीप आलोचना शुद्धिको करके समाचारी अर्थात् अपने योग्य आचरण को जिसने कर लिया है ऐसा होकर अतिशय आत्मविशुद्धिके लिये सदा प्रयत्नशील रहता है ॥६५६॥

वर्षासु विविधं स्पृष्ट्वा तपःकर्म विधानतः ।
सुखवृत्तो स हेमन्ते सस्तरं प्रतिपद्यते ॥६५७॥

छद उपजाति—

निस्पर्शवन्निश्चतुरंग दोषं गुरूपदेशेन विशुद्धचेताः ।
प्रवर्तते शुद्धगुणाधिरूढः संसारकान्तार विलंघनाय ॥६५८॥

। इति गुणदोषौ ।

छद स्रग्विणी—

गाथका वादका नर्तकाश्चाक्रिकाः शालिका मालिकाः कोलिका वांशिकाः ।
काष्ठिका लौहिका मास्सिकाः पात्रिकाः कांडिका दांडिकाश्चार्मिकाशिछम्पकाः ॥६५९॥

भावार्थ—निर्मल परिणाम, निर्मल चारित्र प्राप्तिकी जो तीव्र इच्छा रखता है अर्थात् मेरा चारित्र उज्ज्वल हो मैं सदा मोक्षपुरुषार्थमें उद्यत होऊ । ऐसी जिसकी श्रेष्ठ भावना है वह क्षपक निर्दोष आलोचना को गुरुके समीप करता है । प्रायश्चित्तको ग्रहण कर पालनकर रत्नत्रयमें प्रवृत्ति करता है तथा समाधिके लिये गुरुके निर्देशानुसार सदा जाग्रत रहता है ।

वह क्षपक वर्षाकालमें अनेक प्रकारके तपश्चरणको विधिपूर्वक करता है, पुनः सुखपूर्वक उपवास आदि जिममे संपन्न होते है ऐसे हेमन्त ऋतुमे संस्तर ग्रहण करता है ॥६५७॥

दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आराधनाओंके दोषोको दूरकर गुरुके उपदेशसे विशुद्ध चित्तवाला क्षपक शुद्ध गुणोमे आरूढ हुआ संसार रूप वनका उल्लघन करनेके लिये प्रयत्न करता है । अर्थात् गुण और दोषोको जानकर गुणोमे प्रवृत्ति और दोषोसे निवृत्ति करता है ॥६५८॥

इसप्रकार गुणदोषनामा चौबीसवां अधिकार पूर्ण हुआ ।

(२५) शय्या अधिकार—

क्षपकके लिये सन्यासमे कौनसी वसतिका अयोग्य है इस बातको बतलाते है—

गायक, वादक, नर्तक, चाक्रिक, शालिक (हाथी घोड़े आदिको शालामें नियुक्त पुरुष) मालाकार, कोलिक (कोली) वांशिक (बाँसुरी बजाने वाले या बांस

छंद स्रग्विणी—

चारणा वारणा वाजिनो मेषका मद्यपाः पंडकाः सार्थिकाः सेवकाः ।
ग्राविकाः कोट्टपालाः कुलाला भटाः पण्यनारीजनाद्यूतकारा विटाः ।।६६०।।

छंद स्रग्विणी—

संति यस्याः समीपे निकृष्टक्रिया सा न शय्या निषेव्या कदाचिद् बुधैः ।
पालयद्भिः समाधानरत्नं सदारूढससारकान्तारविच्छेदकम् ।।६६१।।

पञ्चाक्षप्रसरो यस्यां विद्यते न कदाचन ।
त्रिगुप्तो वसतौ तस्यां शुभध्यानोऽवतिष्ठते ।।६६२।।

उद्गमादिमलापोढा सप्रकाशागतक्रिया ।
संस्कारकरणायोग्या सम्मूर्च्छन विवर्जिता ।।६६३।।

पर चढ़कर खेल दिखाने वाले) काष्ठिक—बढ़ई, लौहिक, लुहार, मात्सिक-मछलीमार, पात्रिक (बर्तन बेचनेवाले) काडिक दांडिक (दंडा खेलनेवाले या बेचनेवाले) चार्मिक-चमार, छिपका-रंगरेज ।।६५९।। चारण-भाट, बारण, घुड़सवार, मेढ़ेको पालन करनेवाले, मद्यपायी, पडे, सार्थिक, सेवक, ग्राविक—पत्थरका काम करनेवाले, कोटपाल, कुम्हार, सुभट, वेश्या, जुआरी, बदमाश ।।६६०।।

ऐसे ऐसे निकृष्ट कार्य करनेवाले लोग जिस वसतिकाके समीप रहते है वह वसतिका उत्पन्न हुए ससाररूपी वनका नाश करनेवाले समाधान रत्नका जो पालन कर रहे है ऐसे बुद्धिमान मुनिजनो द्वारा कभी भी सेव्य—रहने योग्य नही होती है ।।६६१।।

जिस वसतिमें पाचों इन्द्रियोंका प्रसर कभी नही होता अर्थात् स्पर्शन आदि इन्द्रियां अपने स्पर्शादि विषयोके तरफ नही दौड़ती है—जहां इन विषयोका अभाव है । जो मन वचन कायकी रक्षक है ऐसी वसतिमें शुभ ध्यान करता हुआ क्षपक निवास करता है ।।६६२।।

वसति उद्गम आदि दोषोसे रहित, प्रकाश युक्त, लेपन मार्जन आदि क्रियासे रहित अथवा अपने लिये नही बनायी हो, सस्कार रहित और संमूर्च्छन जीवोसे रहित होना चाहिये ।।६६३।। वसति मिथ्यादृष्टिके लिये अगम्य हो अर्थात् अजैन जिसमें प्रवेश

मिथ्यादृष्टिजनागम्या गृहिशय्याविवर्जिताः ।
द्वित्रा वसतयो ग्राह्या. सेव्या विध्वस्ततामसाः ।।६६४।।

निबिडाः संवृतद्वाराः सुप्रवेशविनिष्क्रमाः ।
सकवाटा लसत्कुडया बालवृद्धजनोचिताः ।।६६५।।

उद्यानमंदिरे हृद्ये गुहायां शून्यवेश्मनि ।
आगंतुक निवासे वा स्थितिः कृत्या समाधये ।।६६६।।

क्षपकाध्युषिते धिष्ण्ये धर्मश्रवणमंडपः ।
जनानंदकरः श्रेयः कर्तव्यः कटकादिभिः ।।६६७।। इति शय्या

नहीं करते ऐसी हो । गृहस्थोकी वसतिसे दूर हो या जिसमें गृहस्थ नहीं रहते हो, अधकार रहित हो ऐसी दो तीन वसतिकाये ग्रहण करनी चाहिये, यही वसति सेवनीय है ।।६६४।।

वसति मजबूत होना चाहिये, द्वारोसे ढकी हुई, जिसमें जाना आना सरल रीतिसे हो सके ऐसी हो, कवाटयुक्त दृढ़ दिवालवाली, बाल वृद्ध लोगोंको योग्य होना चाहिये ।।६६५।।

वसतिके लिये सुंदर उद्यानका मदिर योग्य है अथवा गुफा, शून्य घर, धर्मशाला इत्यादिमे समाधिके लिये निवास करना चाहिये ।।६६६।।

क्षपकके द्वारा जहां निवास किया गया है उस श्रेष्ठ स्थान पर धर्म श्रवणके लिये मंडप चटाई आदि द्वारा बनाना चाहिये जो लोगोको आनददायक और श्रेयस्कर हो ।।६६७।।

भावार्थ—गायक आदि निकृष्ट लोगोके गृहोसे वर्जित सुदृढ योग्य वसतिमें क्षपकको आचार्य निवास कराते है । वह स्थान अपने उद्देश्यसे बना हुआ नही हो यदि ऐसी वसति न हो तो चटाई बांस आदिसे वसति करानी चाहिये । क्षपककी सल्लेखना देखनेके लिये भव्य जीव आते है उनको धर्म श्रवण अन्य मुनिजन कराते है एतदर्थ धर्म श्रवण मंडप भी वसतिके पास होना चाहिये ।

इसप्रकार शय्या अथवा वसति नामा पच्चीसवां अधिकार पूर्ण हुआ ।

उत्तराशाशिराः क्षोणीशिलाकाष्ठतृणात्मकः ।
संस्तरो विधिना कार्यः पूर्वाशामस्तकोऽथवा ।।६६८।।
निःस्निग्धत्व सुखस्पर्शः प्रासुको निर्बिलोघनः ।
संस्तरः क्रियते क्षोणीप्रमाणरचितः समः ।।६६९।।
विध्वस्तोऽस्फुटितोऽकम्पः समपृष्ठो विजंतुकः ।
उद्योते मसृणः कार्यः संस्तरोऽस्ति शिलामयः ।।६७०।।
लघुर्भूमिसमो रुन्द्रो निःशब्दः स्वप्रमाणकः ।
एकांगः संस्तरोऽछिद्रः श्लक्ष्णः काष्ठमयो मतः ।।६७१।।

---

(२६) संस्तर अधिकार—

पूर्वोक्त गुणवाली वसतिमें पृथ्वीरूप, शिलारूप, काष्ठरूप या तृणरूप संस्तर विधिपूर्वक करना चाहिये जिसमें क्षपकका मस्तक उत्तर दिशामे होवे या पूर्व दिशामें होवे ऐसी सस्तरकी रचना होनी चाहिये ।।६६८।।

भावार्थ—क्षपकको जिसपर शयन करना है वह जमीन भूमिरूप होता है, अथवा पत्थर-शिलारूप होता है, या घासका होता है अथवा लकड़ीका होता है उसमें उत्तर दिशामें मस्तक करके या पूर्व दिशामें मस्तक करके क्षपक शयन करे क्योंकि विदेह क्षेत्रस्थ तीर्थंकर उत्तर दिशामे है और पूर्व दिशा प्रकाशमान सूर्यके उदयका कारण है अत: ये दिशाएँ प्रशस्त मानी है ।

भूमि सस्तर कैसा हो सो बताते है—

आर्द्रता—गीलेपनेसे रहित, सुखस्पर्श वाली, निर्जन्तुक बिल रहित, ठोस, क्षपकके शरीर प्रमाण रचित ऐसी समभूमिरूप संस्तर किया जाता है ।।६६९।।

शिलामय संस्तर—

दाह घर्षण आदिसे विध्वस्त हुआ, टूटा हुआ नहीं हो, स्थिर, समतल, जन्तु-रहित, चिकना, ऐसा शिलामय सस्तर प्रकाशयुक्त स्थानमें करना चाहिये।।६७०।।

काष्ठमय संस्तर—

काष्ठ—लकड़ीका बनाया हुआ संस्तर हल्का हो, भूमि बराबर हो अर्थात् फड जैसी होती है वैसा हो अथवा चार पांच अंगुल भूमिसे ऊँचा हो, इससे अधिक ऊँचा होनेसे क्षपकको गिरने आदिसे अपाय होनेकी संभावना रहती है । विस्तीर्ण खटखट शब्द

कृत्यस्तृणमयोऽसंधिः संस्तरो निरुपद्रवः ।
निःसम्मूर्च्छैरपच्छिद्रो मृदुः सुप्रतिलेखनः ।।६७२।।

प्रमाणरचितो योग्यः कालद्वितय शोधनः ।
आरोढव्यस्त्रिगुप्तेन संस्तरोऽयं समाधये ।।६७३।।

निर्यापके समर्प्य स्वं समस्तगुणशालिनि ।
प्रवर्तते विधानेन क्षपकः सस्तरे स्थितः ।।६७४।।

छंद भुजंगप्रयात—

तृणक्षोणिपाषाणकाष्ठप्रशस्ते स्थितःसंस्तरेधर्ममार्गप्रवीणः ।
धुनीतेसमस्तानिकर्माणियोगी रणेयोधवर्गोबलानीवधीरः ।।६७५।।

।। इति संस्तरः ।।

नहीं करता हो, क्षपकके शरीर प्रमाण हो, एक लकड़ीसे रचित हो, छिद्ररहित, चिकना ऐसा काष्ठमय सस्तर होता है ।।६७१।।

तृणमय संस्तर—

संधिरहित, निरुपद्रव अर्थात् गांठ रहित, संमूर्च्छन जीवोंसे रहित, छेद रहित, कोमल, जिसका शोधन भलीप्रकारसे हो सके ऐसा तृणमय-घासका सस्तर करना चाहिये ।।६७२।।

अपने शरीर प्रमाण रचा गया, योग्य, दोनों सध्याओंमें जिसका शोधन किया जाता है ऐसा यह सस्तर होता है उस संस्तरमे समाधिके लिये क्षपकको अशुभ मन वचन कायका गोपन करके आरोहन करना चाहिये ।।६७३।।

संस्तर पर आरूढ हुआ क्षपक समस्त गुणोंसे युक्त निर्यापकमें अपनेको समर्पित करके विधिपूर्वक प्रवृत्ति करता है । अर्थात् निर्यापकको शरण मानकर तदनुसार आचरण करता है ।।६७४।।

तृण, काष्ठ, पृथ्वी और शिलामय प्रशस्त संस्तरमें आरूढ रत्नत्रयरूप धर्म मार्गमें प्रवीण होता हुआ वह क्षपक योगी समस्त कर्मोंका नाश करता है । जैसे कि धीर योद्धा वर्ग रणागणमें पर सेनाको नष्ट कर डालता है ।।६७५।।

।। इति संस्तर ।।

निर्यापकादि अधिकार

६

स्थेयांसः प्रियधर्माणः संविग्नाः पापभीरवः ।
ख्याताश्छंदानुगमनाः कल्पाकल्प विचक्षणाः ।।६७६।।
प्रत्याख्यानविदो धीराः समाधानक्रियोद्यताः ।
षट्ताडिताष्ट संख्याना ग्राह्या निर्यापकाः पराः ।।६७७।।
आमर्शनपरामर्श गमस्थानशयादिषु ।
उद्वर्तनपरावर्त प्रसाराकुंचनादिषु ।।६७८।।

---

(२७) निर्यापक अधिकार—

आलोचना आदि परिकर को जिसने कर लिया है उक्त लक्षणवाली वसतिमें विधिपूर्वक किये गये संस्तर पर जो आरूढ़ है ऐसे उस क्षपक मुनिके समाधिमे सहायक अड़तालीस मुनि होते हैं वे मुनि कैसे हों यह बताते है—

जो मुनि चारित्रमे स्थिर हैं, रत्नत्रयधर्म जिन्हें प्रिय है ससारसे उदासीन हैं, पापभीरु हैं, प्रसिद्ध हैं, क्षपकके इशारेको, अभिप्रायको बिना कहे जानते है, योग्य अयोग्यको जाननेमें कुशल है । त्यागकी विधिमें निपुण, परीषह सहनमे धीर, क्षपकको समाधान कराने वाले, ऐसे गुणवाले अड़तालीस निर्यापक–परिचारक मुनि समाधिमे ग्रहण करने चाहिये ।।६७६।।६७७।।

उक्त अड़तालीस मुनियोंमे चार परिचारक मुनि क्षपकके शरीरके एकदेशमें हाथ फेरना, सर्वांगमें हाथ फेरना, गमन कराना, क्षपकको खडा करना, सुला देना, करवट दिलाना, उलटा सुलाना, हाथ पैरको फैलाना और सिकोडना इत्यादि शरीरका

देहकर्मसु चेष्टन्ते क्षपकस्य समाधिदाः ।
चत्वारो यतयो भक्त्या परिचर्या परायणाः ॥६७९॥

स्त्रीराजमन्मथाहार द्रव्यदेशादिगोचराः ।
विमुच्य विकथाः सर्वाः समाधाननिषूदनीः ॥६८०॥

अनाकुलमनुद्विग्नमव्याक्षेपमनुद्धतं ।
अनर्थहीनमश्लिष्टमविचलितमद्रुतम् ॥६८१॥

प्रह्लादजनकं पथ्यं मधुरं हृदयंगमं ।
धर्मं वदन्ति चत्वारो हृद्यचित्रकथोद्यताः ॥६८२॥

क्षपकस्य कथाकथ्या सा यां श्रुत्वा विमुञ्चते ।
सर्वथा विपरीणामं याति संवेगनिर्विदौ ॥६८३॥

भवत्याक्षेप निर्वेग निर्वेदजनिकाः कथाः ।
क्षपकस्योचितास्तिस्रो विक्षेपजनिका तु नो ॥६८४॥

कार्य करनेमे प्रयत्नशील रहते हैं । कैसे है वे मुनि ? क्षपकको समाधान देनेवाले है, भक्तिसे सेवा करनेमें तत्पर हैं ॥६७८॥६७९॥

अन्य चार मुनि क्षपकके धर्मोपदेशमें नियुक्त होते हैं, वे मुनि शांतिको नष्ट करनेवाली ऐसी स्त्रीकथा, राजकथा, काम, आहार, द्रव्य देश आदिसे संबद्ध सर्व विकथाओंको छोडकर धर्मका उपदेश देते है ॥६८०॥ उपदेश सुनाते समय, आकुलता उत्पन्न न हो ऐसे वचन बोलते है तथा उद्वेग रहित विक्षेप–क्षोभ रहित, उद्दडतासे रहित, अर्थहीन शब्दोंको छोड़कर, कठिनतासे रहित, शीघ्रता और मदतासे रहित ऐसे वचन बोलते है ॥६८१॥ जो वचन क्षपकको आनद उत्पन्न करते है, हितकर मधुर मनोहर है ऐसे वचनोंसे अनेक अनेक सुंदर कथा कहनेमे निपुण वे मुनि धर्मको कहते है ॥६८२॥

क्षपकको ऐसी कथा कहनी चाहिये जिसको सुनकर सर्वथा विपरिणाम– अशुभ परिणामको वह छोड़ दे और सवेग निर्वेदको प्राप्त हो । संसारसे भय होना सवेग है और शरोर भोगसे विरक्त होना निर्वेद है ॥६८३॥

क्षपकको आक्षेप जनिका, निर्वेद जनिका और निर्वेग जनिका ऐसी तोन कथायें कहनो चाहिये, विक्षेप जनिका कथाको नही कहना चाहिये ॥६८४॥

कथा साऽक्षेपणी ब्रूते या विद्याचरणादिकम् ।
विक्षेपणीकथावक्ति परात्मसमयौ पुन ।।६८५।।
संवेजनी कथा ब्रूते ज्ञानचारित्रवैभवा ।
निर्वेदनी कथा वक्ति भोगांगादे रसारताम् ।।६८६।।
विक्षेपणीरतस्यास्य जीवितं यदि गच्छति ।
तदानीमसमाधानमल्पशास्त्रस्य जायते ।।६८७।।

जिसमे सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रका वर्णन हो वह आक्षेप जनिका—आक्षेपणी कथा है और जिसमे जैनमत तथा परमतका निरूपण हो वह विक्षेपणी कथा है अर्थात् जिसमे परमतका खण्डन हो और जैनमतका मण्डन हो ऐसी न्याय रूप विक्षेपणी कथा है ।।६८५।।

सम्यक्त्वज्ञान और चारित्र द्वारा आत्मामें कैसा वैभव उत्पन्न होता है, तपश्चरण द्वारा ऋद्धि किसप्रकार प्रगट होती है इत्यादिका वर्णन करनेवाली सवेजनी कथा है । पंचेन्द्रियोंके भोग और शरीर किस प्रकार नि.सार है इसका वर्णन निर्वेदनी कथामें होता है ।।६८६।।

विशेषार्थ—धर्मकथाके चार भेद है आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेदनी । रत्नत्रय धर्मका अर्थात् सम्यक्त्वका, मतिश्रुत आदि पांचों ज्ञानोंका, सामायिक आदि चारित्रोका वर्णन करनेवाली आक्षेपणी कथा है । वस्तु सर्वथा नित्य ही है अथवा सर्वथा अनित्य है इत्यादि रूप मिथ्यादृष्टिके मतका पहले पक्ष उपस्थित करके पुनः उसका निरसन कर जैनमतको स्थापित कर देना इत्यादि न्याय ग्रंथरूप विक्षेपणी कथा हुआ करती है । रत्नत्रय धर्मका आराधन करनेसे कैसे वैभव प्राप्त होते है उसी भवमें ऋद्धियां, परभवमें देवेन्द्र, चक्रवर्त्तित्व, बलदेव आदिका सुख प्राप्त होता है ऐसी धर्मके फलमे हर्ष बढाने वाली सवेजनी कथा है । यह शरीर अशुचि सप्त धातुमय है शुद्ध भी भोजन आदिको तत्काल अशुद्ध करता है । यह भोग महाभयानक कष्ट उत्पन्न करते है, नरक आदि कुगतियोमे भ्रमण कराते है इत्यादिरूप शरीर और भोगोंका वास्तविक स्वरूप बतलाने वाली निर्वेदनी कथा है । इन चार प्रकारकी कथाओंमेसे विक्षेपणी कथाको छोड़कर शेष तीन कथाये क्षपकको सुनानी चाहिये ।

इस क्षपकके यदि विक्षेपणी कथा सुनते हुए जीवन समाप्त हो जाय तो उस वक्त क्षपकके लिये वह कथा अशांतिकारक होती है । क्योंकि इसमें परमतका वर्णन है

कथया बहुश्रुतस्यापि, नासन्ने मरणे सति ।
अनाचारं न कुर्वन्ति, महांतो हि कदाचन ।।६८८।।

विक्षेपिणीं विमुच्यातः, समाधान विधायिनः ।
कथयन्ति कथास्तिस्रो, निस्त्रिदंडस्त्रिगौरवाः ।।६८९।।

तपोभाव नियुक्तस्य, प्रत्यासन्न मृतेर्यतेः ।
ते वदंति तथा तस्य, भवत्याराधको यथा ।।६९०।।

तस्या नयन्ति चत्वारो, योग्यमाहारमश्रमाः ।
निर्मानाः लब्धिसंपन्ना, स्तदिष्टं गतदूषणं ।।६९१।।

उसको सुनते समय मरण हो जाय तो अल्प ज्ञानी क्षपक परमतको सत्य मानकर उसमें श्रद्धान करते हुए मरण करनेसे सम्यग्दर्शनादिसे च्युत होगा । इसलिये क्षपकको विक्षेपणी कथा नही सुनाते है ।।६८७।।

यदि क्षपक बहुश्रुत है बहुतमे परमत स्वमतके शास्त्रोंका ज्ञाता है तो भी उसे मरणके निकट होनेपर विक्षेपणी कथा नही सुनानी चाहिये, क्योंकि महापुरुष कदाचित् भी अनाचार नही करते है । आशय यह है कि आगमज्ञानी क्षपकके लिये भी विक्षेपणी कथा समाधिमे सहायक नही होती, विक्षेप ही कराती है अतः बहुश्रुत क्षपकको भी यह कथा त्याज्य है ।।६८८।।

अतः विक्षेपणी कथाको छोड़कर समाधान करनेवाले परिचारक मन, वचन, कायके अशुभ परिणति तथा तीन गारवोंको नष्ट करनेवाली आक्षेपणी आदि तीन कथाओको ही कहते हैं ।।६८९।।

मृत्युके निकट होनेसे जो अतिशयरूपमे श्रेष्ठ उग्र तप भावनामे तत्पर है ऐसे उस क्षपकको उसप्रकार का धर्मोपदेश देते है जिसप्रकारसे कि वह आराधनाओका उत्तम आराधक हो ।।६९०।। इसप्रकार चार मुनि क्षपकको धर्मकथा सुनानेमे कैसे तत्पर होते है यह बताया ।

अब चार मुनि क्षपकके आहारचर्यामे तत्पर रहते है यह बताते हैं—

जो मुनि ऋद्धि सपन्न है, श्रम रहित है, मान रहित हैं, ऐसे चार मुनि क्षपक के लिये इष्ट, उद्दिष्ट आदि दोषसे रहित, योग्य ऐसे आहारको लाते है–आहारकी व्यवस्था कराते है ।।६९१।।

पानं नयंति चत्वारो द्रव्यं तदुपकल्पितं ।
अप्रमत्ताः समाधानमिच्छन्तस्तस्य विश्रमाः ॥६६२॥

विशेषार्थ—क्षपकके लिये आहारकी व्यवस्था ऐसे मुनि करें कि जो अश्रम, निर्मान् और लब्धि संपन्न हैं । आहारको व्यवस्था करनेमें जो श्रमका अनुभव नहीं करते अर्थात् हम कबतक आहारकी व्यवस्था करे ? हम तो थक गये है ऐसे भावसे जो रहित है वे अश्रम हैं । हमें ऐसा काम करना पड़ता है इत्यादि मानके भाव नही करने वाले निर्मान मुनि हैं । लब्धि सपन्न विशेषण तो बहुत महत्वपूर्ण है, जिन मुनियोंके आहार संबंधो ऋद्धि प्राप्त हैं वे क्षपकके आहारको व्यवस्था निर्दोष सपन्न कर सकते हैं । परिचारक मुनि द्वारा व्यवस्थित किया गया आहार उद्दिष्ट आदि दोष और वात पित्तादि दोषसे रहित होना चाहिये तथा प्रासुक होना चाहिये ।

यहां पर कोई शंका करे कि आहारको लाना आदि मुनिजन कैसे कर सकते हैं ? सो उसका समाधान यह है कि समाधिस्थ साधुके शक्ति क्षीण होनेपर वह स्वयं आहारको जा नही सकता अत. प्राचीन कालमे अन्य मुनि श्रावकोंके वसतिमे जाकर वहांसे प्रासुक निर्दोष आहार ले आते थे । इस विषयमें गुरुजनोंके मुखसे इसप्रकार सुना है कि जब कोई मुनि भक्त प्रत्याख्यान मरणको धारण करता था तब उसकी वैयावृत्यमें अन्य मुनिजन जुट जाते थे । उन मुनियोमेसे जिन्हे लाभांतराय आदिका तीव्र उदय नहीं है, जिन्हें आहारको प्राप्ति अत्यन्त सुलभतासे हुआ करती है ऐसे मुनि आहारार्थ श्रावकोके यहां जात हैं वहां पड़गाहन आदि होनेपर आहारकी थाली सामने आजानेपर तपद्या भक्तिके अनतर स्वय आहार नही करते और मौनको छोड़कर श्रावकोंके द्वारा उस आहारको जहां क्षपक मुनि स्थित है वहां साथमें ले आते है और उस क्षपक मुनि का आहार करवाते हैं और स्वयं उस दिन उपवास करते हैं ।

वर्त्तमानमें मुनिगण श्रावकोंके निकट धर्मशाला आदिमे निवास करते है अतः सल्लेखना विधिमें हरप्रकारसे श्रावकों द्वारा सहायता मिलती है इसलिये क्षीणकाय क्षपक मुनिके योग्य आहारको व्यवस्था श्रावक कर लेते है ।

आगे और भी क्षपकके वैयावृत्यमें तत्पर होनेवाले मुनियोंका कर्त्तव्य बतला रहे है ।

मलं क्षपन्ति चत्वारो वर्चः प्रस्रवणादिकम् ।
शय्यासंस्तरकौ कालद्वये प्रतिलिखन्ति च ।।६६३।।

क्षपकावसथद्वारं, चत्वारः पान्ति यत्नतः ।
धर्मश्रुतिगृहद्वारं, चत्वारः पालयन्ति ते ।।६६४।।

निशिजाग्रति चत्वारो, जितनिद्रामहोद्यमाः ।
वार्ता मार्गन्ति चत्वारो, यत्नाद् देशादि गोचरां ।।६६५।।

बहिर्वदन्ति चत्वारः, स्वपरागमकोविदाः ।
अनन्तः शब्दपातं ते जनानां निखिलाः कथाः ।।६६६।।

क्षपकके समाधानको चाहने वाले, अप्रमत्त श्रमरहित ऐसे चार मुनि क्षपकके लिये योग्य और इष्ट ऐसे पानक द्रव्यको लाते हैं—पानक द्रव्यकी व्यवस्था करते हैं ।।६९२।।

चार मुनि क्षपकके मल मूत्र कफ आदिका क्षेपण करते हैं, दोनों संध्याओंमें वसति और संस्तरका शोधन भी करते है ।।६९३।।

चार मुनि क्षपकके वसतिके द्वारकी रक्षा करते है अर्थात् मिथ्यादृष्टि, क्षपक को अशांति करने वाले व्यक्ति क्षपकके निकट नही आपायें इत्यादि कार्यके हेतु चार मुनि वसतिके दरवाजे पर नियुक्त होते है । अन्य चार मुनिधर्म श्रवण मंडपके द्वारकी रक्षा करते हैं ।।६९४।।

जिन्होंने निद्राको जीत लिया है महान् उद्यमशील है वे मुनि रात्रिमे क्षपक के निकट जागरण करते हैं अर्थात् रात्रिमें शयन नही करते । चार चतुर मुनि अपने निवासभूत इस देशमें क्या स्थिति चल रही है ? इस नगरमें शुभ अशुभ कौनसी वार्त्ता है ? इत्यादि बातोंका निरीक्षण करते रहते हैं ।।६९५।।

स्वपर आगम ज्ञानमें कुशल ऐसे चार मुनि क्षपकके दर्शनार्थ आगत लोगोंको धर्म कथायें सुनाते हैं अर्थात् आक्षेपणी आदि कथाये धर्मोपदेश, सिद्धांतोंका कथन इत्यादि रूप उपदेश श्रावक आदिको देते हैं, कहांपर देते हैं ? वसतिके बाहर देते हैं क्षपकके निकट शब्द नही पहुंच सके इतने दूर रहकर अन्य जनोंको उपदेश देते हैं ।।६९६।।

चत्वारो वादिनोऽक्षोभ्याः सर्वशास्त्रविशारदाः ।
धर्मदेशनरक्षार्थं, विचरन्ति समन्ततः ॥६९७॥

एवमेकाग्र, चेतस्काः, कर्मनिर्जरणोद्यताः ।
निर्यापका महाभागाः, सर्वे निर्यापयन्ति तं ॥६९८॥

कालानुसारतो ग्राह्याश्चत्वारिंशच्चतुर्युताः ।
भरतैरावतक्षेत्र भाविनो मुनिपुङ्गवाः ॥६९९॥

हेयाः क्रमेण चत्वारश्चत्वारस्तावदंजसा ।
यावत्तिष्ठन्ति चत्वारः कालेसंक्लेशसंकुले ॥७००॥

कालानुसारिणौ प्राह्यौ द्वौ जघन्येन योगिनौ ।
भरतैरावतक्षेत्र भवौ निर्यापकौ यती ॥७०१॥

सर्व शास्त्रोंमें निपुण, क्षोभरहित–किसी भी कारणसे जिन्हें उत्तेजना नहीं आती, जो वादमें कुशल हैं ऐसे चारवादी मुनिराज धर्मकथा को कहने वालेकी रक्षा हेतु धर्म श्रवण मडपके चारों ओर विचरण करते हैं ॥६९७॥

इसप्रकार ये अड़तालीस महाभाग, कर्मनिर्जरणमे उद्यत एकाग्रचित्त हुए सभी निर्यापक उस क्षपकको संसारबंधनसे निकालनेके लिये प्रयत्नशील रहते है ॥६९८॥

काल परिवर्त्तनके अनुसार भरत और ऐरावत क्षेत्रमें होनेवाले मुनिपुंगव चवालीस ग्रहण करने चाहिये ॥६९९॥

भावार्थ—भरत ऐरावत क्षेत्रमे उत्सर्पिणी आदि कालोका परिवर्तन हुआ करता है तदनुसार वहांके मनुष्योंमें गुणोको हीनाधिकता होतो है अतः सदा इतने उत्कृष्ट गुणवाले मुनि नही मिलते इसलिये मध्यम रीत्या चवालीस मध्यम गुणवाले मुनि निर्यापक रूपसे ग्रहण किये जाते है ।

तथा संक्लेश बहुत कालमें जैसे जैसे हीन काल स्थिति होवे तदनुसार चार चार निर्यापकोंकी संख्या क्रमशः कम करना, ऐसे चार संख्या शेष रहने तक कर सकते हैं अर्थात् चार मुनियोंको भी निर्यापक बनाया जाता है । अत्यंत निकृष्ट कालमें भरत ऐरावत क्षेत्रमे जघन्य रूपसे दो योगी निर्यापक पदरूपसे ग्रहण करने योग्य हैं ॥७००॥७०१॥

आत्मा त्यक्तः परं शास्त्रं, एकोनिर्यापको यदि ।
असमाधेर्मृतिर्व्यक्ते, यमसौ दुर्गतिः परा ॥७०२॥
भिक्षाद्यविधानेन, क्षपकप्रतिकर्मणा ।
अनारतं प्रसक्तेन, स्वस्त्यक्तोऽन्यो विपर्ययः ॥७०३॥
स्वस्यापरस्य वा त्यागे, यतिधर्मो निराकृतः ।
ततः प्रवचनस्त्यागो, ज्ञानविच्छेदको मतः ॥७०४॥

समाधिमें उद्यत क्षपककी परिचर्यामे दो से कम निर्यापक होवे तो स्वयं निर्यापककी आत्माका क्षपकका और प्रवचनका त्याग हो जाता है। अकेला निर्यापक क्षपकको समाधान शांति नही करा सकेगा और उससे उसकी असमाधिसे मृत्यु हो जाती है, यह तो प्रत्यक्ष हो हो जाता है और असमाधिमे मरा क्षपक दुर्गतिमें जाता है ॥७०२॥

अकेला निर्यापक यदि क्षपकको सेवा, आहार, मल, त्याग आदि कार्योमें सतत् लगा रहेगा तो अपने आहार ग्रहण करना, विश्राम लेना आदिको नही कर सकेगा अतः स्वयंका त्याग हुआ अर्थात् स्वयं वेदनासे पोड़ित होगा और यदि निर्यापक अपने आहार आदिमें लगेगा तो क्षपककी सेवा नहीं होनेसे उसका त्याग होगा ॥७०३॥

इस तरह अपना अथवा क्षपकका त्याग होनेसे मुनिधर्मका नाश हुआ क्योंकि जब निर्यापक और क्षपकका अशांतिसे मरण होगा तो मुनिधर्मका नाश हुआ है और उससे प्रवचनका भी नाश हुआ, क्योंकि मुनिके अभावमें शास्त्रज्ञान कहा रहेगा ? समाप्त ही होगा ॥७०४॥

भावार्थ—क्षपकको सेवामे हानि होनेसे वह सक्लेश परिणामसे मरेगा उससे उसको कुगति हुई सो क्षपकका नाश हुआ, क्षपकके अशांतिसे मरण होनेसे निर्यापक को महान् क्लेश होगा। यदि निर्यापक अपने आहारादिमे लगा रहेगा तो वैयावृत्य धर्म का निर्यापक द्वारा त्याग हो जाता है। यदि वैयावृत्यमे ही सदा लगा रहता है तो निर्यापक आहारादिके अभावमें मृत्युको प्राप्त होता है, निर्यापक आगमका महान् ज्ञाता होता है उसकी मृत्यु होनेसे शास्त्रोंका ज्ञान लुप्त हुआ, उपदेशका भी अभाब होगा इसतरह प्रवचनका अभाव हो जाता है। अतः कभी भी एक निर्यापक क्षपकके समाधिके लिये ग्रहण नही किये जाते, कमसे कम दो ग्रहण किये जाते है जिससे एक निर्यापक

क्षपकस्यात्मनो वास्ति त्यागतो व्यसनं परम् ।
भवेत्ततोऽसमाधानं, क्षपकस्यात्मनोऽपि वा ।।७०५।।

क्षुधादिपीडितः शून्ये, सेवते याचते यतः ।
क्षपकः किंचनाकल्पं, दुर्मोचम-यशस्ततः ।।७०६।।

यतोऽसमाधिनामृत्यु ं, याति निर्यापकं विना ।
क्षपको दुर्गति भीमां, दुःखदां लभते ततः ।।७०७।।

चतुर्विधस्य संघस्य, कश्चन प्रेषयेत्ततः ।
संन्याससूचकाचार्यो, निर्यापकगणेशिना ।।७०८।।

यदि सेवामे तत्पर है तो दूसरा अपने आहारादि कार्योंको कर लेगा और दूसरा क्षपकके निकट सेवामे सलग्न है तो पहला आहारादि अपनी क्रिया कर लेगा इससे क्षपक निर्यापक और प्रवचन तीनोकी सुरक्षा होती है ।

क्षपकके अथवा अपने त्यागसे क्षपकको अथवा अपनेको महाकष्ट होता है और उससे क्षपक अथवा निजको अशाति पैदा होती है ।।७०५।।

जब क्षपकका त्याग होगा अर्थात् निर्यापक अपने आहारादि कार्यमें लगेगा अकेला क्षपक भूख प्याससे पीड़ित हुआ कुछ भी अयोग्य आहारादि को मागने लगता है और उससे महान् अपयश होगा।।७०६।।

भावार्थ—यदि क्षपकको छोड निर्यापक आहारार्थ बाहर जायेगा तो अकेला क्षपक कुछ भी अयोग्य कार्य वेदनाके वशीभूत हुआ करेगा अथवा मिथ्यादृष्टिके पास जाकर आहारादिकी याचना करेगा इससे धर्मको और क्षपकको महान अपकीर्ति होती है ।

निर्यापकके बिना क्षपक अशातिसे मृत्युको प्राप्त होता है और अशांतिसे मरण करनेसे भयानक दुःखदायक दुर्गतिमें जाता है ।।७०७।।

क्षपकके समाधिमरणकी सूचना देनेवाला कोई आचार्य चतुर्विध संघके निकट समाधिकी सूचना भेजता है तब निरतिचार रत्नत्रयका पालन करनेवाले निर्यापक आचार्य द्वारा क्षपक की समाधि की जा रही है ऐसा सुनकर सभी मुनियोको वहां आना चाहिये और यदि मंद चारित्रवाला समाधि कराता है ऐसा ज्ञात होता है तो अन्य साधु क्षपकके निकट आते हैं अथवा नही आते है। भाव यह है कि निर्दोष आचार्य द्वारा

श्रुत्वा सल्लेखनां सर्वै, रागन्तव्यं तपोधनैः ।
कारितां शुद्धवृत्तेन, भजनीयमतोऽन्यथा ॥७०९॥

एति सल्लेखनामूलं, भक्तितो यो महामनाः ।
स नित्यमश्नुते स्थानं, भुक्त्वा भोग परंपराः ॥७१०॥

एकत्र जन्मनि प्राणी, म्रियते यः समाधिना ।
अकल्मषः स निर्वाणं, सप्ताष्टैर्लभते भवैः ॥७११॥

यो नैति परया भक्त्या, श्रुत्वोत्तमार्थ साधनम् ।
उत्तमार्थमृतौ तस्य, जन्तोर्भक्तिः कुतस्तनो ॥७१२॥

उत्तमार्थमृतौ यस्य, भक्तिर्नास्ति शरीरिणः ।
उत्तमार्थमृतिस्तस्य, मृतौ संपद्यते कुतः ॥७१३॥

समाधि कार्य संपन्न होता है तो सर्व मुनि अवश्य आते हैं और शिथिलाचारी द्वारा समाधि सम्पन्न हो रही है तो भजनीय है, जावे अथवा नहीं जावे ॥७०८॥७०९॥

योग्य आचार्य द्वारा क्षपककी सल्लेखना हो रही सुनकर जो महामना भक्तिसे क्षपकके निकट आता है वह स्वर्गकी भोग परपराको भोगकर शाश्वत मोक्ष स्थानको प्राप्त कर लेता है ॥७१०॥

जो जीव एक जन्ममे समाधि द्वारा मरण करता है वह निर्दोष क्षपक सात आठ भवों द्वारा निर्वाणको प्राप्त करता है ॥७११॥

जो पुरुष किसी क्षपक द्वारा उत्तमार्थ साधन-समाधिमरण किया जा रहा सुनकर परम भक्तिसे क्षपकके समीप नही जाता (उनको सेवा भक्ति दर्शन नही करता) उस जीवके समाधिमरणमें भक्ति कैसो कहाँसे होगी ? अर्थात् नही होगी ॥७१२॥

जिस जीवके उत्तमार्थ मरणमें भक्ति नही है उस जोवके उत्तमार्थ मरण मरणकालमें कैसे हो सकता है ? नही हो सकता । अर्थात् जो क्षपकके सल्लेखनाको देखता है, हाथसे सेवा करता है, भक्ति पूर्वक क्षपकको वदना करता है उसका सल्लेखना मरण अवश्य होता है । जो ऐसा नहीं करता उसका समाधि पूर्वक मरण नहीं होता ॥७१३॥

तस्यासंवृतवाक्यानां, न पार्श्वे देयमासितुं ।
वचनैरसमाधानं, तदीयंर्जायते यतः ।।७१४।।

गीतार्थैरपि नो कृत्या, स्त्रीसक्तार्थादिका कथा ।
आलोचनादिकं कार्यं, तत्राति मधुराक्षरम् ।।७१५।।

प्रत्याख्यानोपदेशादौ, सर्वत्रापि प्रयोजने ।
क्षपकेण विधातव्यः, प्रमाणं सूरिराश्रितः ।।७१६।।

तेन तैलादिना कार्या, गण्डूषाः सन्त्यनेकशः ।
जिह्वावदनकर्णादि, नैर्मल्यं जायते ततः ।।७१७।।

क्षपकके निकट कल कल वचन, लोक विरुद्ध वचन, निरर्गल वचन आदिको बोलने वाले लोगोंको ठहरने नही देना चाहिये क्योकि उन वचनों द्वारा क्षपकको अशांति होती है ।।७१४।।

आगमार्थके ज्ञाता मुनियोको भी क्षपकके समीप स्त्रीमें आसक्तिकारक कथा अर्थकथा आदि कुकथाएँ नही करनी चाहिये । उसके पास तो अति मधुर वाणीसे आलोचना आदिकी कथा करनी चाहिये अर्थात् अमुक अमुक मुनिने इसतरह शुद्ध आलोचना की है इत्यादि रूप धर्मवर्द्धक कथा करना योग्य है ।।७१५।।

प्रत्याख्यान, उपदेश आदि सभी प्रयोजनमें क्षपकको आचार्यको प्रमाण मानना होता है ।।७१६।।

भावार्थ—क्षपक मुनि प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, उपदेश सुनना आदि कार्योंको निर्यापक आचार्यके आज्ञाके अनुसार करता है, तीन प्रकारके आहारका त्याग आदि भी उनकी आज्ञानुसार करता है ।

आहारका त्याग करनेपर कृश हुए क्षपकको तैल त्रिफला आदिसे अनेक बार कुल्ला कराना चाहिये, जिससे उसके जीभ, मुख, कान आदिकी निर्मलता होती है अर्थात् अनेक तरह की औषधि या तैलसे कुल्ला करानेसे जीभ साफ होती है, बोलनेकी शक्ति आती है । कानमे तेल डालनेसे सुननेकी शक्ति बनी रहती है ।।७१७।।

छद उपजाति—

भवन्ति येषां गुणिनः सहाया, विघ्नं विना ते ददते समाधि ।
समाधिदानोद्यतमानसैस्ते, ग्राह्याः प्रयत्नेन ततो गणेन्द्राः ।।७१८।।
इति निर्यापकः ।

अप्रकाश्य त्रिधाहारं, त्याज्यते क्षपको यदि ।
तदोत्सुकः स कुत्रापि, विशिष्टे जायतेऽशने ।।७१९।।
ततः कृत्या मनोज्ञानामाहाराणां प्रकाशना ।
सर्वथा कारयिष्याति त्रिविधाहारमोचनम् ।।७२०।।
कश्चिद् दृष्ट्वा तदेतेन, तीरं प्राप्तस्य किं मम ।
इति वैराग्यमापन्नः, संवेगमवगाहते ।।७२१।।
आस्वाद्य कश्चिदेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ।
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ।।७२२।।

जिनके गुणवान् मुनि सहायक होते हैं, वे सहायक क्षपकको विघ्न बाधाके बिना समाधि देते है । अत: समाधिदानमे उद्यत मनवाले मुनियों द्वारा प्रयत्नसे निर्यापक आचार्य ग्रहण करने चाहिये ।।७१८।।

(२७) इति निर्यापक अधिकार समाप्त

(२८) प्रकाशन अधिकार—

यदि क्षपकसे तीन प्रकारके आहारको (अन्न, स्वाद्य, लेह्य) बिना दिखाये त्याग कराया जाता है तो उस समाधिस्थ क्षपकको किसी विशिष्ट भोजनमें उत्सुकता बनी रह सकती है ।।७१९।। इसलिये निर्यापक आचार्य द्वारा सुंदर सुंदर आहारों को क्षपकके लिये दिखाना चाहिये, फिर सर्वथा यावज्जीव तीन प्रकारके आहारका त्याग कराना चाहिये ।।७२०।। निर्यापक द्वारा मनोहर आहार दिखा देनेपर कोई क्षपक विचार करता है कि अहो ! आयुका किनारा जिसके आ चुका है ऐसे मुझे अब इस आहारसे क्या प्रयोजन है ? मुझे इसका त्याग करना चाहिये । इसतरह वैराग्य भाव वाला क्षपक संवेग को, संसार भीरुताको प्राप्त होता है ।।७२१।।

कोई क्षपक दिखाये गये उक्त आहारका स्वाद लेकर पुनः विचार करता है कि आयुके तटपर पहुँचे हुए मुझे इस आहारसे क्या मतलब है इसतरह सोचकर वैराग्य

अशित्वा कश्चिदंशेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ।
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ।।७२३।।

वल्भित्वा सर्वमेतेन तीरं प्राप्तस्य किं मम ।
इति वैराग्यमापन्नः संवेगमवगाहते ।।७२४।।

वल्भित्वा सुन्दराहारं रसास्वादनलालसः ।
कश्चित्तमनुबध्नाति सर्वं देशं च गृद्धितः । ७२५।।

इति प्रकाशना ।

कुरुते देशनां सूरिरायापायविशारदः ।
निराकर्तुं मनःशल्यं सूक्ष्मं निर्यापयन्नमुम् ।।७२६।।

युक्त हो संवेगका अवगाहन करता है अर्थात् आहारका त्याग यावज्जीवके लिये कर लेता है ।।७२२।।

कोई क्षपक उक्त आहारको किंचित् ग्रहण कर सोचता है कि जीवनके तीर को प्राप्त हुए मुझे इस आहारसे क्या प्रयोजन है ! इसतरह विचारकर वैराग्य युक्त हो संवेगका अवगाहन करता है ।।७२३।।

कोई क्षपक उक्त मनोहर आहारको पूर्णतया खाकर सोचता है कि अहो ! धिग् धिग् आहार वांछाको । आयुके तटको प्राप्त हुए मुझे आहारसे क्या मतलब है ? इसतरह सोचकर वैराग्ययुक्त संवेगको प्राप्त होता है ।।७२४।।

कोई क्षपक मुनि दिखाये गये सुदर मिष्ट आहारको पूर्णरूपसे खा लेता है, रसके आस्वादनमें आसक्त ऐसा वह उक्त आहारको एक देश या पूर्ण रूपसे गृद्धिके कारण पुनः पुनः चाहता है अर्थात् आहारकी अभिलाषा करता है त्याग नहीं करता ।।७२५।।

।। प्रकाशन नामका अट्ठावीसवां अधिकार समाप्त ।।

(२९) हानि अधिकार—

जब क्षपक मनोज्ञ आहारमें आसक्त होता है तब आचार्य उस आसक्तिसे होने वाली हानिको बताते है—

आय और अपाय अर्थात् इन्द्रिय संयमका विनाश और असंयमकी प्राप्ति को जानने और क्षपकको दिखलानेमें जो विशारद हैं ऐसे आचार्य क्षपकके उस आसक्ति

कश्चिदुद्धरते शल्यं क्षिप्रमाकर्ण्य देशनां ।
करोति संसृतित्रस्तः सूरीणां वचसा न किं ॥७२७॥

समाधानीयतो गृध्नोः संत्याज्य सकलं गणी ।
एकैकं हापयन्नेवं प्रकृते दधते शनैः ॥७२८॥

रूप सूक्ष्म मनके शल्यको दूर करनेके लिये दिव्य उपदेश देते हैं। किसतरह देते है ? क्षपकको प्रसन्न करते हुए उसको शांति उपजाते हुए उपदेश देते है ॥७२६॥

गुरुके द्वारा उपदेश देनेपर कोई क्षपक उस देशनाको सुनकर शीघ्र ही उस शल्य–आहारवांछा को त्याग देता है और संसारसे भयभीत होता है अर्थात् भोग आहार संसार आदिमे वैराग्य उपजानेवाला उपदेश सुननेसे क्षपकको ससारसे भीरुता आती है कि अहो ! इस आहारके कारण मैंने अतीतमे अनंत दु ख उठाये है अब भी आसक्तिको नही छोडूंगा तो पुनः वही दुःख उठाने पड़ेंगे इसतरह जाग्रत हुआ क्षपक संसारसे भयभीत होता है । ठीक ही है ! आचार्यके वचन द्वारा क्या क्या हित नहीं होता ? सब ही हित होता है ॥७२७॥

समाधिका इच्छुक व सरस आहारकी गृद्धतासे युक्त उस क्षपकके सकल आहार मे से एक एक आहारका त्याग कराते हुए वे आचार्य क्रमशः प्रकृत आहारमें उसे धीरे धीरे स्थापित करते है । ७२८॥

विशेषार्थ—क्षपकको समाधिके लिये तीन प्रकारके आहारका त्याग कराते है । त्याग कराते समय उसको इष्ट मिष्ट ऐसा आहार दिखाते है तब कोई क्षपक देखने मात्रसे, कोई चखने मात्रसे, कोई ग्राशिक मिष्ठान खाकर के और कोई पूर्ण आहार लेकर उस सरस भोजनसे विरक्त हो जाता है किन्तु कोई क्षपक पूरा सरस आहार करनेके बाद भी मिष्ट आहारकी लालसा नहीं छोड़ता तब आचार्य आहारकी असारता रूप विराग भरा उपदेश देकर त्याग कराते है । कोई मिष्टाहार एवं देशना सुनकर भी विरक्त नही होता तब आचार्य संपूर्ण सरस आहारमेसे एक एक प्रकारका आहार त्याग कराते रहते है । पुनः सर्व सरस आहारका त्याग कराके प्रकृतमे जैसा आहार पूर्व चल रहा था नीरस आदि रूप, उसमे क्षपकको स्थापित करते है ।

छद उपजाति—

क्रमेण वैराग्यविधौ नियुक्तो निरस्य सर्वं क्षपकस्ततोऽन्नं ।
आराधनाध्यानविधानदक्षैः स पानकर्भावयते श्रुतोक्तौ ।।७२९।।
इति हानि ।

लेपालेपघनस्वच्छ सिक्थासिक्थविकल्पतः ।
पानकर्मोचितं पानं षोढेद कथित जिनैः ।।७३०।।

आचाम्लेन क्षयं यातिश्लेष्मा पित्तं प्रशाम्यति ।
परं समीररक्षार्थं प्रयत्नोऽस्य विधीयताम् ।।७३१।।

पुन. वैराग्यविधिमें स्थापित किया गया क्षपक क्रमशः सर्व ही अन्न आहार का त्याग करता है उस क्षपकको आचार्य आराधना तथा ध्यानके विधानमे प्रवीण शास्त्रमें जैसा कथन है वैसे पेय पदार्थों द्वारा भावित करते है अर्थात् सादे नीरस अन्न का भी सर्वथा त्याग कराके क्षपकको केवल जल आदि पेय पदार्थ दिया जाता है ।।७२९।।

हानि नामा उनतीसवां अधिकार समाप्त ।

(३०) प्रत्याख्यान अधिकार—

लेप–हाथको चिपकनेवाला पान, अलेप अर्थात् नही चिपकनेवाला पान, गाढ़ा पान, केवल जल, कणयुक्त पान और कण रहित पान इसप्रकार पानक आहार छह प्रकारका है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।।७३०।।

भावार्थ—इमली आदिका पानक लेप है, मांड वगैरह अलेप है, चावलके कणों से युक्त मांड सिक्थ है और जिसमें कण नहीं हो वह असिक्थ पान है । इनमेसे यथायोग्य पानक क्षपकके लिये दिया जाता है ।

आचाम्लसे कफ नष्ट होता है और पित्त शांत हो जाता है । वायु रक्षाके लिये भी आचाम्ल ठीक है अतः इसका प्रयोग करना चाहिये ।।७३१।।

भावार्थ—निकट है मृत्यु जिसके ऐसे क्षपकके वातपित्त कुपित न होवे ऐसा पानक उसे देना चाहिये । आचाम्लसे प्रायः कफ आदि नष्ट होते हैं अतः इस पानकका प्रयोग यथायोग्य क्षपकको प्रकृति देखकर करना चाहिये । भाव यह है कि आयुर्वेदानुसार जिससे वात कफादि न हो या उनमें वृद्धि न हो ऐसा पानक क्षपकको दिया जाता है ।

ततोऽसौ भावितः पानैर्जाठरस्य विशुद्धये ।
मलस्य मधुरं मंदं पायनीयो विरेचनम् ।।७३२।।

अनुवासादिभिस्तस्य शोध्यो वा जाठरोमलः ।
अनिरस्तो यतः पीडां महतीं विदधाति सः ।।७३३।।

आराधकस्त्रिधाहारं यावज्जीवं विमोक्षति ।
निवेद्यमिति सघस्य निर्यापक गणेशिना ।।७३४।।

क्षपको वाऽखिलांस्त्रेधा निःशल्यीभूतमानसः ।
क्षान्तः क्षमयते भवताः ! क्षमागुण विचक्षणः ।।७३५।।

तदनंतर जिसको पानक आहार दिया जा रहा है ऐसे क्षपकके पेटकी विशुद्धिके लिये तथा मलका विरेचन करनेके लिये मंद मधुर पानक पिलाना चाहिये ।।७३२।।

कांजीमें भोगे हुए बिल्व पत्तोंसे क्षपकके पेटको सेकना, नमक आदिकी बत्ती गुदाद्वारमें लगाना इत्यादि क्रियासे क्षपकके उदरके मलका शोधन कर लेना चाहिये, क्योंकि यदि उदरका मल न निकाला जाय तो महान पीड़ा होती है ।।७३३।।

यह आराधक अब तीन प्रकारके आहारोंका यावज्जीव त्याग करेगा ऐसा संघको निर्यापक आचार्य निवेदन करते है ।।७३४।।

शल्य रहित हो गया है मन जिसका ऐसा तथा क्षमागुण युक्त विचक्षण यह क्षपक आप सभी लोगोसे मन, वचन, कायद्वारा क्षमा मांगता है, आप भक्त है इसप्रकार शांत स्वभावो आचार्य सघको निवेदन करते हैं ।।७३५।।

भावार्थ—क्षपकके द्वारा यावज्जीवके लिये तीन प्रकारके आहारका त्याग करनेके सन्मुख होनेपर इस बातकी सूचना आचार्य सर्व संघको देते है तथा क्षमा कराने हेतु ब्रह्मचारीके हाथमे क्षपकको पीछी देकर आचार्य सर्व संघके पास जाकर कहते है कि क्षपक आप सबसे प्रार्थना कर रहा है कि मैं आपसे मन, वचन, कायकी शुद्धिपूर्वक क्षमा मांगता हूँ, मेरा किसीसे वैर नही है । इसतरह सर्व संघ को निवेदन करते हैं । क्षपक अशक्त होनेके कारण सबके निकट जा नही सकता, अतः पीछो दिखाकर आचार्य क्षमाभावकी प्रतीति संघको कराते हैं ।

आराधनास्य निर्विघ्ना सम्यक् संपद्यतामिति ।
स याति सकलः संघस्तनूत्सर्गमसभ्रमम् ॥७३६॥

तं चतुर्विध माहारमाचार्यो विधिकोविदः ।
मध्ये सर्वस्य सघस्य स प्रत्याख्यापयेत्ततः ॥७३७॥

त्रिविध वा परित्याज्यं पानं देयं समाधये ।
अवसाने पुनः पानं त्याजनीयं पटोयसा ॥७३८॥

छंद शालिनी—

यन्निर्दिष्टं पान कर्माधिकारे दातुं शक्तं तत्समाधानरत्नम् ।
षोढा पानं युज्यते तस्य पातुं त्रेधाहारं त्यागकालेपवित्रम् ॥७३९॥

इति प्रत्याख्यानं ।

आचार्येऽध्यापके शिष्ये संघे सार्धमिके कुले ।
योऽपराधो भवेत्त्रेधा सर्वं क्षमयते स तं ॥७४०॥

इसतरह क्षमा याचना करनेपर इस क्षपककी आराधना निर्विघ्न समीचीनतया संपन्न होवो इस भावनासे संपूर्ण संघ शांतिपूर्वक कायोत्सर्ग करता है ॥७३६॥

क्षमा याचनाके अनतर सर्व संघके मध्यमें विधिमें कुशल ऐसे आचार्य क्षपकके द्वारा चतुर्विध आहारका त्याग कराते है ॥७३७॥ अथवा क्षपकके भावनानुसार संघके समक्ष पहले तीन प्रकारके आहारका त्याग कराना चाहिये तथा शांतिके लिये पानक पेय देना चाहिये, फिर अन्तमे कुशल आचार्य क्षपकको पानकका भी त्याग करा देते हैं ॥७३८॥

पान क्रिया अधिकारमे जो छह प्रकारका पानक बतलाया है, जो कि क्षपकको समाधान रूपी रत्नको देनेमे समर्थ है अर्थात् जो पानक क्षपकको शांति कराता है व्याकुलताको कम करता है उस पवित्र पानकको तीन प्रकारके आहारके त्याग करानेपर पिलाना चाहिये ॥७३९॥

प्रत्याख्यान नामका तीसवां अधिकार समाप्त ।

(३१) क्षामण अधिकार—

प्रत्याख्यानके अनंतर आचार्य, उपाध्याय, शिष्य संघ, साधर्मिक कुल इन मुनियोंके विषयमें मन, वचन और काय द्वारा जो अपराध हुआ है कषाय भाव हुआ है उन सब अपराध एवं कषाय भावकी क्षपक क्षमा मांगता है ॥७४०॥

मूर्धन्यस्तकराम्भोजो रोमांचांचितविग्रहः ।
त्रिधा क्षमयते सर्वं संवेगं जनयन्नसौ ।।७४१।।

योऽपराधोमयाकारि मनसा वपुषा गिरा ।
क्षमये तमहं सर्वं निःशल्यीभूतमानसः ।।७४२।।

छद मंदाकिनी—

ममपितृजननीसदृशः शश्वत्त्रिभवनमहितः सुयशाः संघः ।
प्रियहितजनकः परमां क्षांति रचयतकृतवानहमक्षान्ति ।।७४३।।

इति क्षामणा ।

मस्तक पर रखा है हस्तकमल जिसने, रोमांचयुक्त हो रहा है शरीर जिसका ऐसा यह क्षपक संवेगभावको प्रगट करता हुआ सर्व संघसे मन, वचन, कायकी शुद्धि पूर्वक क्षमा मागता है ।।७४१।।

भावार्थ—मुमुक्षुके जो भी कर्त्तव्य होते है उन सबको मैंने कर लिया है इस विचारसे जिसके हृदयमें प्रसन्नता हो रही है और इसीलिये हर्षके रोमांच जिसके गात्रमें फूट पड़े हैं ऐसा वह क्षपक अपने मस्तकपर दोनों हाथ जोड़कर रखता है और सर्व संघको नमस्कार करता है तथा सर्व साधर्मी मुनियोंमे अनुराग उत्पन्न करता हुआ क्षमा ग्रहण कराता है ।

क्षपक कहता है कि भो मुनिगण ! मेरे द्वारा मनसे, वचनसे, कायसे जो भी अपराध किया गया है उस अपराधको निःशल्य मानस युक्त हो मैं सबसे क्षमा मांगता हूँ ।।७४२।।

अहो ! यह सघ मेरे पिता माता तुल्य है, सदा हो त्रिभुवनमें पूज्य है, यशस्वी है, प्रिय और हितको उत्पन्न करनेवाला है, ऐसे आप सभीकी मैंने शांति भग की है, सो अब आप परम क्षमा-शातिको करें अर्थात् मैं सब संघसे क्षमा याचना करता हूँ सर्व संघ मेरे को क्षमा प्रदान करे । मैं भी आपके अपराधको भूल जाता हूँ इसप्रकार क्षपक द्वारा महान विशुद्धि को करने वाली क्षमा की जाती है, क्षमा याचना की जाती है ।।७४३।।

इकतीसवां क्षामण अधिकार समाप्त ।

क्षपयित्वेति वैराग्यमेष स्पृशन्ननुत्तमम् ।
तपः समाधिमारूढश्चेष्टते क्षपयन्नघं ।।७४४।।
अप्रमत्तागुणाधाराः कुर्वन्तः कर्मनिर्जराम् ।
अनारतं प्रवर्तंते, व्यावृत्तौपरिचारकाः ।।७४५।।
यज्जन्मलक्षकोटीभि, रसंख्याभी रजोऽर्जितम् ।
तत्सम्यग्दर्शनोत्पादे, क्षणेनैकेन हन्यते ।।७४६।।

---

(३२) क्षपण अधिकार—

इसप्रकार क्षमाको करके यह क्षपक उत्कृष्ट वैराग्यका स्पर्श करता हुआ, तप और समाधिमें आरूढ़ होकर पापका नाश करते हुए प्रयत्नशील—जाग्रत रहता है ।।७४४।। समाधिमे उद्यत क्षमा युक्त इस क्षपककी वैयावृत्त्यमें परिचारक मुनि सतत् लगे रहते हैं, कैसे हैं वे मुनि ? प्रमाद रहित है गुणोकी खानि है और कर्म निर्जराको कर रहे है अर्थात् वैयावृत्त्य नामके इस तप द्वारा जो कर्मोंकी बड़ी भारी निर्जरा कर रहे है ।।७४५।।

आशय यह है कि गणकी रत्नत्रय धर्ममें स्थिर करने वाले आचार्य और परिचारक मुनि ये सब ही दिन रात क्षपककी सुश्रुषामे तत्पर रहते है अतः उनके कर्मों की निर्जरा होती है ।

जो असंख्यात लक्ष कोटी जन्मो द्वारा कर्म अर्जित हुआ है वह सब सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होनेपर एक क्षणमे नष्ट हो जाता है ।।७४६।।

विशेषार्थ—समाधिमरण एक महायज्ञ है जिसमे बिना किसी खेद, जोश, मोहके प्रसन्नता से रत्नत्रय का पालन करते हुए क्षपक अपने प्राणो की आहुति देता है, ऐसे महान् धर्ममय मुनिराजके दर्शन वंदन भक्ति सेवा आदि जो भी व्यक्ति करता है उसके अनेक भवोके पापोंका नाश तो होता ही है इसमें तो कोई शका ही नही है । विशेष तो यह है कि यदि किसीके कालादि लब्धि निकट आ चुकी है तो उसे उस वक्त क्षपकके दर्शन एव उनकी महान् तपस्याके देखनेसे अत्यधिक धार्मिक स्नेह वश रोमांच आ जाते हैं, परिणाम की विशुद्धि बढती जाती है और इस तरह वह कुछ ही क्षणमें क्षयोपशम विशुद्धि आदि लब्धिसे समन्वित हुआ सम्यक्त्व रत्न को प्राप्त कर लेता है । क्षपकके परिचारक मुनि आदिके भी कदाचित् सम्यक्त्व नहीं है या होकर नष्ट हो चुका है तो उन्हें भी क्षपक की हृदय की प्रसन्नता पूर्वक की गयी सेवा आदि से उस वक्त सम्यक्त्व

धुनीते क्षणतः कर्म, संचितं बहुभिर्भवैः ।
व्यावृत्तोऽन्यतमेयोगे प्रत्याख्याने विशेषतः ।।७४७।।
प्रतिक्रान्तौ तनुत्सर्गे स्वाध्याये विनये रतः ।
अनुप्रेक्षासु कर्मेति धुनीते संस्तरस्थितः ।।७४८।।

छंद प्रहरणकलिता—

अनशननिरते तनुभृति सकलं, भवभयजनकं विगलति कलिलं ।
अनुहिमकिरणे ह्य दयति तरणौ, कमलविकसने च घनमिव तमः ।।७४९।।

इति क्षपणं ।

प्राप्त हो सकता है । क्षपक के स्वयके भी सम्यक्त्व नही है, होकर छूट गया है तो उस वक्त रत्नत्रय धर्मका सतत् उपदेश आचार्य द्वारा मिलता रहनेसे सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है । सम्यग्दर्शन होते ही असंख्यात भवोमे उपार्जित कर्म राशि चूर-चूर हो जाती है अर्थात् पाप प्रकृतियोंका अनुभाग खण्डन, स्थिति खण्डन आदि होते हैं । नया कर्म भी बहुत अल्प स्थिति वाला बंधता है । अतः क्षपकका वैयावृत्य उसका दर्शन, भक्ति आदि सभी मुमुक्षुको सर्वथा उपादेय है ।

बारह प्रकार के तपश्चरण, वृक्ष मूल आदि योग इत्यादि को करनेमें तत्पर हुए जीव बहुत-बहुत भवों द्वारा सचय को प्राप्त हुए कर्मो को क्षणमात्रमें नष्ट कर डालते है, अर्थात् तपस्या द्वारा अनेक भवोंके कर्म निर्जीर्ण कर देते है और सल्लेखनामे यावज्जीव चतुराहार का त्याग करने पर तो विशेष रूपमे कर्मोंको निर्जरा होती है ।।७४७।।

सस्तर स्थित क्षपक प्रतिक्रमणमें तत्पर है चाहे कायोत्सर्गमें लीन है अथवा स्वाध्याय और विनयमें प्रवृत्त है, अनुप्रेक्षाओंके चिन्तनमें लगा हुआ है इनमेसे जो कोई कार्य कर रहा हो सबमें ही उसके कर्मको निर्जरा होती है ।।७४८।।

जीवके अनशन तपमे उद्यत होनेपर ससार के भय को उत्पन्न करनेवाला समस्त पापकर्म नष्ट होता है, जैसेकि चन्द्रमाके पोछे कमलोके विकासका कारण ऐसे सूर्यके उदित होनेपर गाढ अधकार नष्ट हो जाता है ।।७४९।।

क्षपणनामा बत्तीसवा अधिकार समाप्त ।

अनुशिष्टि महाधिकार
७

निर्यापको गणी शिक्षां, संस्तरस्थाय यच्छति ।
कुर्वन्संवेग निर्वेदौ, कर्णे जपमथानिशम् ॥७५०॥

अनुशिष्टं न चेद् दत्ते, क्षपकाय गणाग्रणीः ।
त्यजेदाराधनादेवीं, तदानीं सिद्धि संफलीम् ॥७५१॥

शोधयित्वोपधिं शय्यां, वैयावृत्यकरानपि ।
निःशल्यीभूय सर्वत्र, साधो ! सल्लेखनां कुरु ॥७५२॥

निर्यापक आचार्य संस्तरमे स्थित क्षपकके लिए शिक्षा उपदेश प्रदान करते हैं । तदनतर क्षपक को सवेग निर्वेदको कराते हुए कानमे सतत जाप सुनाते है ।

अर्थात् जब क्षपक अत्यंत क्षीण शक्तिक हो जाता है तब निकटमें बैठकर कानमे बहुत मधुर वाक्य या पंच परमेष्ठी का जप सुनाते हैं ।।७५०।।

क्षपकके लिये यदि आचार्य शिक्षा उपदेश नही देते तो सिद्धि जिसका फल है ऐसो आराधना देवोको क्षपक छोड देगा अर्थात् बिना शिक्षाके क्षपक समाधिसे च्युत हो जायगा ।।७५१।।

आचार्य क्षपकके लिये यह शिक्षा देते है कि हे साधो ! तुम उपधि–पीछी आदि शय्या वसति और वैयावृत्य करनेवाले को भी भलीप्रकार परीक्षा करो शोधन करो कि यह उपधि निर्दोष निर्जन्तुक देखी हुई है या नही ? यह पीछी कमडलु आसन निर्दोष अनुद्दिष्ट है या नहीं ? यह वसति उद्दिष्ट दोष रहित निर्जन्तुक है क्या ? वैयावृत्य

मिथ्यात्ववमनं दृष्टि, भावनां भक्तिमुत्तमां ।
रतिं भावनमस्कारे, ज्ञानाभ्यासे कुरूद्यमम् ।।७५३।।

मुने ! महाव्रतं रक्ष, कुरु कोपादिनिग्रहम् ।
हृषीकनिर्जयं द्वेधा, तपोमार्गे कुरूद्यमम् ।।७५४।।

भवद्रुम महामूलं मिथ्यात्वं मुंच सर्वथा ।
मोह्यते सगुणां बुद्धि, मद्येनेव मुने ! लघु ।।७५५।।

करनेवाले वैयावृत्यमें असंयम तो नहीं करते ? इसप्रकार पहलेसे ही देखो परीक्षण करो । परीक्षण करके सर्वत्र निःशल्य होकर सल्लेखना करो ।।७५२।।

हे क्षपकराज ! तुम मिथ्यात्वका वमन करो सम्यक्त्व की भावनाको तथा परमेष्ठी में उत्तम भक्ति को करो । परिणाम शुद्धि रूप भाव पंचनमस्कारमे रति और ज्ञानाभ्यासमें उद्यम करो ।।७५३।।

भावार्थ—यह श्लोक सूत्ररूप है । इसमे मिथ्यात्व व मनका उपदेश ग्यारह श्लोकोंमें है । सम्यक्त्व भावनाके वर्णनमें नौ, भक्तिके वर्णनमें नौ, पंच नमस्कार वर्णनमें सात और ज्ञानाभ्यास के वर्णन में सत्तरह श्लोक हैं ।

हे मुने ! महाव्रतकी रक्षा करो, क्रोधमान आदि कषायोंका निग्रह और इन्द्रियों पर विजय करो । दो प्रकारके बाह्य अभ्यतर तपमार्गमे उद्यम करो ।।७५४।।

भावार्थ—यह श्लोक भी सूत्ररूप है । ऊपरके श्लोकमें कहे हुए मिथ्यात्व वमन आदि पाँच विषयोके वर्णन के त्रेपन श्लोकोंके अनंतर इस श्लोकमे कथित महाव्रत की रक्षा आदि चार विषयोंका वर्णन है ८०५ श्लोकसे लेकर १४२१ श्लोक तक महाव्रत रक्षा इस विषयका वर्णन होगा । कषाय निग्रह और इन्द्रिय विजयका वर्णन सम्मिलित रूपसे है वह १४२२ से लेकर १५१८ तक है । तपके उद्यम का वर्णन १५१९ से लेकर १५४६ श्लोक तक है ।

हे मुने ! संसार रूपी महावृक्षके मूलस्वरूप मिथ्यात्वको सर्वथा छोड़ दो । क्योंकि मिथ्यात्व गुणवाली बुद्धिको शीघ्र ही मोहित करता है, जैसेकि मद्य द्वारा बुद्धि मोहित होती है ।।७५५।।

पिब सम्यक्त्व पीयूषं, मिथ्यात्वविष मुत्सृज ।
निधेहि भक्तितश्चित्ते, नमस्कारमनारतम् ॥७५६॥
मिथ्यात्व मोहिताः सत्यमसत्यं जानते जनाः ।
कुरंगा इव तृष्णार्ताः, सलिलं मृगतृष्णिकाम् ॥७५७॥
मिथ्यात्व मोहतो जन्तो, वरं कनकमोहनम् ।
दत्तेमृत्युसहस्राणि, प्रथमं न परं पुनः ॥७५८॥
अनादिकालमिथ्यात्व भावितो न प्रवर्तते ।
सम्यक्त्वेऽयं यतस्तेन, प्रयत्नोऽत्र विधीयते ॥७५९॥

भावार्थ—गुणवाली बुद्धि आठ प्रकारकी है सुश्रुषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊहा, अपोह और तत्त्वाभिनिवेश । सुश्रुषा—धर्मको सुननेकी, सात तत्त्वोंको सुननेकी इच्छा होना । श्रवण—धर्मगुरुके निकट जाकर धर्मको सुनना । उपदिष्ट तत्व को हृदयमें धारण करना । विज्ञान—जाने हुए तत्वको विशेष जानना । ऊहा—तत्त्व की परीक्षा । अपोह—अतत्त्वसे अथवा हेय तत्त्वसे हटना । तत्त्वाभिनिवेश—तत्त्वों पर विश्वास । इसप्रकारकी बुद्धि को मिथ्यात्व नष्ट कर देता है ।

आचार्य उपदेश दे रहे हैं कि हे यते ! मिथ्यात्वरूपी विषको छोड़कर सम्यक्त्व रूपी अमृतका पान करो । तुम अपने मनमें सदा ही नमस्कार मंत्रको धारण करो ॥७५६॥

जो जीव मिथ्यात्वसे मोहित होते हैं वे असत्य को ही सत्य समझ बैठते है, जैसे प्याससे पीड़ित हिरण मरीचिका को ही जल मान बैठते है ॥७५७॥

इस जीव के लिये मिथ्यात्व कारणसे होने वाले मोह परिणामसे तो धतूरेसे होने वाला मोह परिणाम अच्छा है, क्योंकि धतूरा पीनेसे होनेवाला मोहभाव तो केवल एकबार मृत्यु देता है किन्तु पहला मिथ्यात्व मोह तो हजारों बार मृत्युको देता है ॥७५८॥

जिसकारणसे अनादिकाल से चले आये मिथ्यात्वसे भावित हुआ यह जीव सम्यक्त्वमें प्रवृत्ति नही करता, सम्यक्त्वमें रत नहीं होता उस कारण से हे क्षपक ! इस सम्यक्त्वमें प्रयत्न किया जाता है, सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करते हैं ॥७५९॥

विषाग्निकृष्णसर्पाद्याः, कुर्वन्त्येकत्र जन्मनि ।
मिथ्यात्वमावहेद् दोषं, भवानां कोटिकोटिषु ।।७६०।।
विद्धो मिथ्यात्वशल्येन, तीव्रां प्राप्नोति वेदनां ।
कांडेनेव विषाक्तेन, कानने निःप्रतिक्रियः ।।७६१।।
मिथ्यात्वोत्कर्षतः संघश्रीसंज्ञस्य विलोचने ।
गलिते प्राप्तकालोऽपि, यातोऽसौ दीर्घसंसृतिम् ।।७६२।।

विष, अग्नि, कृष्णसर्प आदि एक जन्ममें दोष उत्पन्न करते हैं मृत्युको करते हैं । किन्तु मिथ्यात्व करोड़ों-करोडों भवोंमें दोष करता है ।।७६०।।

मिथ्यात्व शल्यसे विद्ध हुआ जीव तीव्र वेदनाको प्राप्त होता है, जिसप्रकार कि जंगलमें जिसके पास प्रतीकार करनेका कोई साधन नहीं है ऐसे जीवके विषैले कांटेसे विद्ध होनेपर तीव्र वेदना होती है ।।७६१।।

सघश्री नामके व्यक्तिके मिथ्यात्व भावकी तीव्रताके कारण दोनों नेत्रोंकी ज्योति नष्ट हो गयी थी और अन्तमें मरण कर वह दीर्घ संसारी हो गया था ।।७६२।।

संघश्री मन्त्री की कथा

आन्ध्र देश के कनकपुर नगर में सम्यक्त्व गुण से विभूषित राजा धनदत्त राज्य करते थे । उनका सङ्घश्री नामका मन्त्री बौद्धधर्मावलम्बी था । एक दिन राजा और मन्त्री दोनों महल की छत पर स्थित थे । वहाँ उन्होंने चारणऋद्धि धारी युगल मुनिराजोंको जाते हुये देखा । राजा ने उसी समय उठकर उन्हें नमस्कार किया और वहीं विराजमान होकर धर्मोपदेश देनेको प्रार्थना की । मुनिगणों ने राजा की विनय स्वीकार कर धर्मोपदेश दिया, जिससे प्रभावित होकर मन्त्री ने श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये और बौद्ध गुरुओके पास जाना छोड़ दिया । किसी एक दिन बौद्ध गुरु ने मन्त्री को बुलाया । मन्त्री गया, किन्तु बिना नमस्कार किये ही बैठ गया । भिक्षु ने इसका कारण पूछा, तब संघश्री ने श्रावक के व्रत आदि लेनेकी सम्पूर्ण घटना सुना दी । बौद्धगुरु जैनधर्मके प्रति ईर्षासे जल उठा और बोला—मन्त्री ! तुम ठगाये गये, भला आप स्वयं विचार करो कि मनुष्य आकाश मे कैसे चल सकता है ? ज्ञात होता है कि राजा ने कोई षडयन्त्र रचकर तुम्हे जैनधर्म स्वीकार कराया है । भिक्षुक की बात सुनकर अस्थिर बुद्धि पापात्मा मन्त्री ने जैनधर्म छोड़ दिया । एक दिन राजा ने अपने

कटुकेऽलाबुनि क्षीरं, यथा नश्यत्यशोधिते ।
शोधिते जायते हृद्यं, मधुरं पुष्टिकारणम् ।।७६३।।

तपोज्ञानचरित्राणि, समिथ्यात्वे तथांगिनि ।
नश्यंति वान्तमिथ्यात्वे जायन्ते फलवन्ति च ।।७६४।।

छन्द द्रुतविलंबित—

विविधदूषणकारि कुदर्शनं, लघु विमुच्य कुमित्रमिवोत्तमाः ।
सकलधर्मविधायि सुदर्शनं, सुविभजन्ति सुमित्रमिवाशनम् ।।७६५।।

इति मिथ्यात्वापोहनम् ।

दरबार में जैनधर्म की महानता और चारणऋद्धिधारी मुनिराजों के चमत्कार सुनाये, और उस घटना को सुनानेका अनुरोध मन्त्रीसे भी किया । मन्त्री बोला—"महाराज ! असम्भव है, न मैंने अपनी आँखोसे देखा है और न इस प्रकार को बात सम्भव है ।" मन्त्री की असत्य बात सुनकर राजा को बहुत विस्मय हुआ किन्तु उसी क्षण मन्त्री के दोनों नेत्र फूट गये और वह दुर्गति का पात्र बना । "जैसी करनी वैसी भरनी" के अनुसार ही उसने फल प्राप्त किया ।

संघश्री की कथा समाप्त ।

जिसका अदरका गूदा साफ नही किया है ऐसे कड़वी तूंबडीमें रखा हुआ दूध जैसे नष्ट हो जाता है और उसी तूंबड़ी को अदरसे साफ करनेपर उसमे दूध रखनेपर वह मधुर मनोहर दूध पुष्टिकारक हो जाता है ।।७६३।।

ठीक इसीप्रकार मिथ्यात्व युक्त जीवमें तप, ज्ञान और चारित्र नष्ट हो जाते हैं और मिथ्यात्व को जिसने वमन कर डाला है ऐसे जीवमें तपज्ञानादि फलदायक होते हैं ।।७६४।।

जिसप्रकार विविध दोषोंको करने वाले खोटे मित्र को शीघ्र ही छोड़ दिया जाता है उसीप्रकार भव्य जीव विविध दोष–कुगतिगमनादिको करने वाले इस मिथ्यात्व को शीघ्र ही छोड़कर, समस्त धर्मको करनेवाले सुमित्रके समान इस सम्यक्त्व का सेवन करते हैं ।।७६५।।

विशेषार्थ—यहापर बारह श्लोकों द्वारा मिथ्यात्व परिणाम का कितना कष्ट-दायक फल होता है यह बताया है जो अत्यत हृदयग्राही है । सचमुचमें इस जीवका

मा स्म कार्षीः प्रमादं त्वं सम्यक्त्वे भद्रवर्धके ।
तपोज्ञानचरित्राणां, सस्यानामिव पुष्करं ॥७६६॥

सारं द्वारं पुरस्येव वक्त्रस्येव विलोचनम् ।
मूलं महीरुहस्येव, संज्ञानादेः सुदर्शनम् ॥७६७॥

बलानि नायकेनेव, शरीराणीव जंतुना ।
ज्ञानादीनि प्रवर्तंते, सम्यक्त्वेन विना कुतः ॥७६८॥

भ्रष्टोऽस्ति दर्शनभ्रष्टो, व्रतभ्रष्टोऽपि नो पुनः ।
पतनं ह्यस्ति संसारे, न दर्शनममुंचतः ॥७६९॥

यदि कोई वैरी है तो मिथ्यात्व ही है। अनादिकालसे आजतक जो संसार परिभ्रमण हुआ है वह एक मिथ्यात्व के कारण हो हुआ है। ऐसे कष्टप्रद मिथ्यात्वका त्याग करने की श्रेष्ठ प्रेरणा आचार्य देवने क्षपकको दी है।

सम्यक्त्व भावना—

हे क्षपक ! कल्याण की बुद्धि करनेवाले सम्यक्त्वमें तुम जरा भी प्रमाद मत करना। यह सम्यक्त्व तो तपस्या, ज्ञान और चारित्रका आश्रय है या इन तीनोंको वृद्धि करनेवाला है, जैसे धान्योंका आश्रय मेघ है। अर्थात् मेघ जैसे धान्योंको वृद्धि करते हैं वैसे हो सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र तथा तपकी वृद्धि करता है। अथवा यों कहिये सम्यक्त्व के बिना इन ज्ञानादि को उत्पत्ति हो नही होती है। ऐसे सम्यक्त्वमें कभी भी प्रमाद नही करना—सम्यक्त्व नष्ट नही होने देना ॥७६६॥

जिसप्रकार नगरका सार गोपुर द्वार है, मुखका सार नेत्र है, वृक्षका सार जड़—मूल है उसप्रकार ज्ञान आदिका सार सम्यग्दर्शन है ॥७६७॥

जिसतरह सेनानोके बिना सेना अपने कार्यमें प्रवृत्त नही हो पाती, जीवके बिना शरीर प्रवर्त्तन नहीं कर पाता उसतरह सम्यक्त्वके बिना ज्ञानादि स्वकार्यमें प्रवृत्त कहांसे हो ? नही हो सकते ॥७६८॥

सम्यग्दर्शनसे जो भ्रष्ट है वह वास्तवमे भ्रष्ट है किन्तु व्रतभ्रष्ट नही है क्योकि दर्शनसे भ्रष्ट होनेपर संसारमे चिरकाल तक भ्रमण होता है किन्तु दशनको नही छोड़ा है तो चिरकाल तक भ्रमण नहीं होता है ॥७६९॥

ये धर्मभावमज्जादि प्रेमरागानुरंजिताः ।
जैने संति मते तेषां, न किंचिद्वस्तु दुर्लभम् ।।७७०।।
श्रेणिको व्रतहीनोऽपि निर्मलीकृतदर्शनः ।
आर्हंत्यपदमासाद्य सिद्धिसौधं गमिष्यति ।।७७१।।

धर्मानुराग, भावानुराग, मज्जानुराग और प्रेमानुराग इन रागोंमें जो रंजायमान हैं उनके लिये जैनमतमें कुछ भी वस्तु दुर्लभ नही है ।।७७०।।

विशेषार्थ—कोई लोग भावानुरागी होते हैं, जैसे श्रेष्ठी जिनदत्त । अर्थात् जो जिनेश्वरने वस्तुस्वरूप कहा है वह सत्य ही है ऐसा दृढ़ श्रद्धान करनेवाला मनुष्य तत्त्व का स्वरूप मालूम नही हो तो भी जिनेश्वरका कहा हुआ तत्त्व कभी असत्य नही होता ऐसी श्रद्धा भावानुराग है ।

मज्जानुराग—जैसे पांडवोमे जन्मसे लेकर ही अतिशय स्नेह था वह मज्जानुराग है । प्रेमानुराग—जैसे मणिचूल नामके देवने अपने मित्र सगर चक्रवर्त्ती को बार बार समझाकर भोगोसे विरक्त किया था, जिसके ऊपर प्रेम है उसे बारंबार समझाकर सन्मार्गमें लगाया जाता है वह प्रेमानुराग है । धर्मानुराग—रत्नत्रय धर्ममे दृढ-गाढ़ अनुराग, रुचि प्रतीति होना धर्मानुराग है । ये सब अनुराग जैनधर्मसे सबद्ध होनेसे उपयोगी हैं । ऐसे अनुराग करनेवालेके सब वस्तु सुलभतासे प्राप्त होती है, उन्हें कुछ भी दुर्लभ नही है अर्थात् ये अनुराग सम्यक्त्व युक्त होनेसे महान् हैं । ऐसे तो अनुराग हेय है किन्तु सम्यक्त्व युक्त जीवोमे प्रारंभमें ये होते है । यहां विशेष यह दिखाना है कि अनुराग हेय होनेपर भी सम्यक्त्वके कारण श्रेष्ठ माने गये हैं । यह सम्यक्त्व की महिमा है । इसप्रकार सम्यग्दर्शन की श्रेष्ठता आचार्य देव क्षपक को बता रहे है ।

देखो ! सम्यक्त्वका माहात्म्य । निर्मल कर लिया है सम्यक्त्वको जिसने ऐसा श्रेणिक राजा व्रतोंसे हीन होनेपर भी आर्हन्त्य पदकी कारणभूत तीर्थंकर प्रकृतिको प्राप्त करके आगे सिद्धिके सौधको–निर्वाणको प्राप्त करेगा ।।७७१।।

राजा श्रेकिककी कथा

भगवान् महावीरके समयकी बात है, राजगृही नगरीमें राजा श्रेणिक राज्य करता था । उसको अनेक रानियां थी, उनमें प्रमुख चेलना थी । वह अत्यंत धर्मात्मा, सम्यक्त्व रत्नसे अलंकृत थी । राजाकी पहले बौद्धधर्ममें श्रद्धा थी । चेलना का और

अच्छिन्ना लभ्यते येन कल्याणानां परंपरा ।
मूल्य सम्यक्त्वरत्नस्य न लोके तस्य विद्यते ।।७७२।।

उसका इस विषयमें सदा विवाद चलता था। एक दिन राजा वन विहारमें गया वहापर एक मुनिराज ध्यानमे बैठे थे, उन्हें देखकर जैनधर्मके द्वेषसे मुनिराजके गलेमे मरा सर्प डाल दिया। राजाने बातचीत करते हुए चेलनाको यह वृत्तांत सुनाया। चेलना अत्यंत दुःखी हुई उसने कहा—हा ! प्राणनाथ ! आपने यह अत्यंत निंदनीय पापकर्म करके अपनेको दुर्गतिका पात्र बनाया है। बड़े खेदकी बात है कि मेरे रहते हुए ऐसा कुकृत्य करके आप आगामी भवमें चिरकाल तक कष्ट भोगेगे ? इत्यादि विलाप करती हुई चेलना श्रेणिकके साथ वनमे आयी मुनिराजका उपसर्ग दूर किया। ध्यान को विसर्जित करके चरणोंमें प्रणाम करते हुये दोनों राजा रानोको मुनिराजने समान ही सद्धर्मवृद्धि-रस्तु आशीर्वाद दिया। महाराजके उत्तमक्षमा भावको देखकर श्रेणिकको मिथ्या मान्यता चूर चूर हो गयी। उसका हृदय अपने कुकृत्यके कारण पश्चात्तापसे भर आया। उसने बहुत देर तक मुनिराजसे क्षमायाचना की तथा उनसे धर्मोपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया।

श्रेणिकने भगवान महावीरके समवशरणमें जाकर प्रभुकी स्तुति वंदना पूजा की तथा उनकी दिव्य वाणो सुनो। जब जब प्रभुका समवशरण राजगृहीके विपुलाचल पर आता तब तब राजा दर्शनार्थ जाता। भगवानके निकट श्रेणिकने साठ हजार प्रश्न किये एवं तत्व सिद्धांत आदि संबधी समस्त जिज्ञासायें शांत की। परिणामोंकी अत्यंत विशुद्धि द्वारा क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया तथा परमार्हंत्य पदका कारण ऐसे तीर्थंकर नामकर्म का बंध किया। अष्टाग सम्यक्त्व रत्नोसे अलंकृत वह श्रेणिक आगामो कालमें पदम नामका तीर्थंकर होगा।

इसप्रकार सम्यक्त्वके माहात्म्यसे श्रेणिकने अपने अनंत ससार परिभ्रमण का नाशकर मुक्तिको सन्निकट कर लिया है।

कथा समाप्त।

जिस सम्यत्व द्वारा निरतर अभ्युदय आदिकी कल्याण परंपरा प्राप्त होतो है उस सम्यक्त्व रत्नका मूल्य लोकमे नही है अर्थात् वह तो अमूल्य है, उसका मूल्याकन हो नहीं सकता ।।७७२।।

सम्यक्त्वस्य च यो लाभस्त्रैलोकस्य च यस्तयोः ।
सम्यक्त्वस्य मतो लाभः प्रकृष्टः सारवेदिभिः ।।७७३।।
त्रैलोक्यमुपलभ्यापि ततः पतति निश्चितम् ।
अक्षयां लभते लक्ष्मीमुपलभ्य सुदर्शनम् ।।७७४।।

छंद उपेन्द्रवज्रा—

ददाति सौख्यं विधुनोति दुःखं भवं लुनीते नयते विमुक्ति ।
निहन्ति निंदां कुरुते सपर्यां सम्यक्त्वरत्नं विदधाति किं न ।।७७५।।

(इति सम्यक्त्वं)

भक्तिमर्हत्सु सिद्धेषु चैत्येष्वाचार्यसाधुषु ।
विधेहि परमा साधो ! निश्चयस्थितमानसः ।।७७६।।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेके बाद यदि नही छूटता है तो नियमसे वह देव और मनुष्यमे ही जन्म लेता है । देवोमे भी इन्द्र, प्रतीन्द्र, अहमिन्द्र, सामानिक आदि श्रेष्ठ वैमानिक देवोंमें ही जन्म लेगा । अभियोग्य, व्यंतर किल्विषिक आदि हीन देवोंमें कदापि जन्म नही लेगा । मनुष्योमे चक्रवर्ती, बलदेव, कामदेव, मंडलीक महा-मंडलीक आदि श्रेष्ठ मनष्योंमें जन्म लेगा । दरिद्री, नीचकुली, हीनशक्तिक, विकलांग बेरूप आदि मनुष्य कदापि नही बनेगा । इसतरह कुछ भव लेकर मुक्त होगा । अतः यही कहा है कि सम्यक्त्व धारा प्रवाह रूपसे कल्याण परंपराको देता है ।

सम्यक्त्व का लाभ और तीन लोकका लाभ ये दो लाभ हैं, इनमे जो सम्यक्त्व का लाभ है वह लाभ सर्वश्रेष्ठ है, उत्कृष्ट है ऐसा सारभूत रत्नत्रयके ज्ञाता गणधरादि देव कहते हैं ।।७७३।। क्योंकि त्रैलोक्य को प्राप्त करके भी यह जीव उससे नियमसे गिर जाता है और सम्यक्त्वको प्राप्त करके नियमसे यह जीव अक्षय मुक्ति लक्ष्मी को हमेशाके लिये प्राप्त कर लेता है ।।७७४।।

यह सम्यक्त्व रत्न सौख्यको देता है, दुःखको नष्ट करता है, संसारको काटता है, मोक्षमें ले जाता है, निन्दा—अपयशको नष्ट करता है, पूजा—आदरको प्राप्त कराता है, सम्यक्त्व क्या नही करता ? सब कुछ करता है ।।७७५।।

सम्यक्त्व भावना समाप्त ।

भक्ति—

हे साधो ! निश्चित स्थिर मन वाले तुम अरहंतोंमें परम भक्ति करो, सिद्धोंमें, जिन प्रतिमाओमें, आचार्य और साधुओमें उत्कृष्ट भक्तिको करो ।।७७६।।

जिनेंद्रभक्तिरेकापि निषेद्धुं दुर्गतिं क्षमा ।
आसिद्धिलब्धितो दातुं सारां सौख्यपरंपराम् ।।७७७।।

सिद्धचैत्यश्रुताचार्यसर्वसाधुगता परा ।
विच्छिनत्ति भवं भक्तिः कुठारीव महीरुहम् ।।७७८।।

नेह सिध्यति विद्यापि सफला न हि जायते ।
किं पुनर्निर्वृतेर्बीजं भक्तिहीनस्य सिध्यति ।।७७९।।

भक्तिमाराधनेशानां योऽकुर्वाणस्तपस्यति ।
स वपत्यूषरे शालीननालोच्य समं ध्रुवम् ।।७८०।।

ते बीजेन विना सस्यं वारिदेन विना जलम् ।
कांक्षन्ति ये विना भक्तिं कांक्षंत्याराधनां नराः ।।७८१।।

अकेली जिनेन्द्र भगवानकी भक्ति भी दुर्गतिको रोकनेके लिये समर्थ है तथा मोक्ष प्राप्ति होनेतक सारभूत अभ्युदयसुख परंपराको देनेके लिये समर्थ है ।।७७७।।

सिद्धोंकी भक्ति तथा जिन प्रतिमा, शास्त्र, आचार्य एवं सर्व साधु परमेष्ठियोमें की गयी श्रेष्ठ भक्ति संसारका नाश कर देती है, जैसेकि वृक्षको कुल्हाड़ी नष्ट कर देती है ।।७७८।।

जो भक्तिसे रहित है उसके विद्या भी सिद्ध नही होती, पहलेको प्राप्त हुई विद्या भक्तिहीन पुरुषके फलदायक नही होती तो फिर मोक्षके बोज स्वरूप रत्नत्रय भक्तिविहीनके क्या सिद्ध हो सकता है ? नही हो सकता ।।७७९।।

जो पुरुष आराधनाके स्वामी स्वरूप अरहंत आदिकी भक्तिको नहीं करते हुए तपस्या करता है वह ऊसर भूमिमे चावलको बोता है अर्थात् ऊसर भूमिमे चावलोको बोना जैसे व्यर्थ है वैसे ही अरंहतादिको भक्ति बिना तपस्या करना व्यर्थ है ।।७८०।।

जो पुरुष जिनेन्द्रकी भक्तिके बिना आराधनाको करना चाहते है वे बीजके बिना धान्यको चाहते हैं और मेघके बिना जलको चाहते हैं अर्थात् बीज विना धान्य प्राप्त नहीं होता, मेघ विना जल नही मिलता वैसे ही जिनेन्द्र भक्ति विना आराधनाकी प्राप्ति नही होती ।।७८१।।

विधिनोप्तस्य सस्यस्य वृष्टिर्निष्पादिका यथा ।
तथैवाराधनाभक्तिश्चतुरंगस्य जायते ॥७८२॥
वंदनाभक्तिमात्रेण पद्मको मिथिलाधिपः ।
देवेंद्रपूजितो भूत्वा बभूव गणनायकः ॥७८३॥

जैसे विधिपूर्वक धान्यके बोनेपर वर्षाकी सफलता होती है अर्थात् फसल आ जाती है, वैसे अरहंत आदिकी आराधना करनेरूप भक्तिके होनेपर चार आराधनाकी सिद्धि होती है ॥७८२॥

भावार्थ—हल जोतना आदि सब विधि करके अनाजको बोया जाय फिर उसमे मेघ बरसे तब फसल आती है वैसे आराधनाको जिन्होंने पहले प्राप्त किया है ऐसे अरहंतादिकी भक्ति करनेपर चार आराधनाकी सिद्धि होती है, बीज बोनेरूप जिनेन्द्र भक्ति है और आराधनापूर्वक समाधिमरण फसल रूप है ।

मिथिला नगरीका राजा पद्मरथ जिनेन्द्र की वदना करू इस भावरूप भक्ति मात्रसे ही देवेन्द्र पूजित होकर गणधर हुआ था ॥७८३॥

राजा पद्मरथकी कथा

मगधदेश के अन्तर्गत मिथिलानगरी में परमोपकारी, दयालु और नीतिज्ञ राजा पद्मरथ राज्य करते थे । वे एक दिन शिकार खेलने गये । वहा उनका घोड़ा दौड़ता हुआ कालगुफाके समीप जा पहुँचा । गुफा मे सुधर्म मुनिराज विराजमान थे । मुनिराज के शुभ-दर्शनोसे महाराज पद्म अति प्रसन्न हुए । घोड़े से उतरकर उन्होंने भक्ति भावसे मुनिराजको नमस्कार किया । महाराज ने राजा को धर्मोपदेश दिया जिससे वे अति प्रसन्न हुए और विनीत शब्दोमे बोले—गुरुराज ! आपके सदृश और कोई मुनिराज इस पृथ्वी पर है या नही ? यदि है तो कहाँ पर है ? मुनिराज बोले—राजन् ! इस समय इस देश में साक्षात् १२ वें तीर्थंकर वासुपूज्य स्वामी विद्यमान हैं, उनके सामने मैं तो अति नगण्य हूँ । मुनिराजके वचन सुनकर राजाके मनमे भगवानके दर्शन करने की प्रबल इच्छा जागृत हो गई और वह अपने परिजन-पुरजनोके साथ भगवानके दर्शनार्थ चल पड़ा । उसी समय धन्वन्तरि चरदेव अपने मित्र विश्वानुलोम चर ज्योतिषी देव को धर्म परीक्षाके द्वारा जैनधर्मकी श्रद्धा करानेके लिये वहाँ आया, उसने भगवानके दर्शनार्थ जाते हुए राजा पर घोर उपसर्ग किया, किन्तु भक्तिरससे भरा हुआ राजा

छंद-समानिका—

रोगमारिचौरवैरि भूपभूत पूर्वकाणि ।
भक्तिराशु दुःखदा निहन्ति सेविताऽखिलानि ।।७८४।।

इति भक्तिः ।

आराधनापुरोयानं मा स्मैकाग्रमना मुच ।
शुद्धलेश्यो नमस्कारं संसारक्षयकारकम् ।।७८५।।

एकोप्यर्हन्नमस्कारो मृत्युकाले निषेवितः ।
विध्वंसयति संसारं भास्वानिव तमश्चयम् ।।७८६।।

ससारं न विना शक्यं नमस्कारेण सूदितुं ।
चतुरंगगुणोपेतं नायकेनेव विद्विषम् ।।७८७।।

मंत्रियों के द्वारा समझाए जाने पर भी नही रुक सका तथा "ॐ नमः वासुपूज्याय" कहता हुवा बढ़ता ही गया । समवसरण में पहुँचकर राजा ने जन्मजन्मान्तरोंके मिथ्या-भावोंको नाश करने वाले भगवान वासुपूज्यके दर्शन किये, दीक्षा ली और चार ज्ञानोंसे युक्त होते हुवे गणधर हो गये ।

कथा समाप्त ।

रोग, मारी, चौर, वैरी, राजा और भूत इनके द्वारा होनेवाले समस्त दुःखों को सेवित की गयी जिनेन्द्र भक्ति शीघ्र ही नष्ट कर देती है ।।७८४।।

इसप्रकार भक्तिका वर्णन किया ।

एकाग्र मनवाले और शुद्ध है लेश्या जिसकी ऐसे हे क्षपक ! ससारका क्षय करने वाला और आराधनाका पुरोयान—मुख्य वाहन सदृश इस णमोकारको तुम मत छोड़ना ।।७८५।।

मृत्युकालमें एक अर्हन्तका नमस्कार भी सेवन किया जाय तो वह संसारका नाश कर देता है, जैसे सूर्य अंधकार समूहका नाश करता है ।।७८६।।

पंच नमस्कारके विना ससारका विच्छेद करना शक्य नही है, जैसे हाथी, घोड़ा, रथ और पदाति रूप चतुरंग सेना वाले शत्रु राजाका नाश सेनानायकके विना शक्य नहीं है ।।७८७।।

विद्विषो नायकेनेव चतुरंगं बलीयसा ।
संसारस्य विघाताय नमस्कारेण योज्यते ॥७८८॥

नमस्कारेण गृह्णाति देवीमाराधनां यतिः ।
पताकामिव हस्तेन मल्लो निश्चितमानसः ॥७८९॥

अज्ञानोऽपिमृतो गोपो नमस्कारपरायणः ।
चम्पाश्रेष्ठिकुले भूत्वा प्रपेदे संयमं परम् ॥७९०॥

बलवान् सेना नायक या राजा द्वारा जिसप्रकार शत्रुका चतुरंग सैन्य नष्ट किया जाता है उसप्रकार ससारका नाश करनेके लिये नमस्कार मत्र प्रयुक्त किया जाता है, नमस्कार द्वारा संसारका घात किया जाता है ॥७८८॥

यति नमस्कार द्वारा आराधना रूपी देवीको ग्रहण करता है जैसे निश्चित मनवाला मल्ल हाथ द्वारा पताका को ग्रहण करता है ।।७८९।।

एक ग्वाला अज्ञानी था किन्तु नमस्कारमें तत्पर-णमोकार मंत्रके उच्चारण करनेमें तत्पर होता हुआ मरा और चंपानगरीके श्रेष्ठी कुलमें उत्पन्न होकर परम संयमको प्राप्त हुआ था ॥७९०॥

सुभग ग्वालेकी कथा

अङ्गदेशान्तर्गत चम्पापुरी नगरीका राजा धात्रीवाहन था । उसकी रानीका नाम अभयमती था । उसी नगरीमे वृषभदास नामका एक सेठ रहता था, जिसकी स्त्री का नाम जिनमती था । इस सेठके यहाँ सुभग नामका ग्वाला था, जो सेठकी गाये चराया करता था । शीतकालमे एक दिन जब वह गाये चराकर घर लौट रहा था तब उसने एक मुनिराजको ध्यानारूढ देखा । "इस भीषण शीतमे ये कैसे बचेंगे" इस विकल्प से वह अधीर हो उठा । वह रात्रि भर आग जलाकर मुनिराजकी शीत वेदना दूर करता रहा । प्रात. मुनिराज ने अपना मौन विसर्जित किया और धर्मोपदेशके साथ साथ उस ग्वाल बालकको "णमो अरिहंताण" यह मंत्र भी दिया । वे स्वयं भी यह पद बोलते हुए आकाशमार्गसे चले गये । मन्त्र उच्चारणके साथ ही मुनिराजका आकाशमें गमन देखकर ग्वालेको इस मत्र पर अटल श्रद्धा हो गयी और वह निरन्तर भोजनादि सम्पूर्ण क्रियाओं के पूर्व महामन्त्रका उच्चारण करने लगा । एक दिन उसकी गायें गंगापार

छंद भुजंगप्रयात—

समस्तानि दुःखानि विच्छिद्य सद्यः । सुखानि प्रभूतानि साराणि दत्वा ॥
मुदा सेव्यमानं विधानेन मोक्षे । विबाधानि दत्ते नमस्कारमित्रम् ॥७६१॥

इति नमस्कारः ।

न शक्यते वशीकर्तुं विना ज्ञानेन मानसं ।
अंकुशेन विना कुत्र क्रियते कुंजरो वशे ॥७६२॥

स्वस्यस्तं कुरुते ज्ञानं नानानर्थपरं मनः ।
पुरुषस्य वशे विद्या पिशाचमिव दुर्ग्रहम् ॥७६३॥

चली गई, उन्हें वापस लानेके लिये वह गगामें कूदा । कूदते ही उसका पेट एक तीक्ष्ण काष्ठके घुसनेसे फट गया । उस समय उसने महामन्त्रका उच्चारण करके अपने ही सेठ के पुत्र होनेका निदान कर लिया । निदानके फलानुसार वह सेठके यहाँ पुत्र रूपमें उत्पन्न हुवा । बालकका नाम सुदर्शन रखा गया । काल पाकर सेठ सुदर्शनने राज्यवैभवका भोग किया । अन्तमें दीक्षा धारण की और स्त्रियों एवं देवियोंके द्वारा घोर उपसर्गको प्राप्त होते हुए वे मोक्षगामी हुए ।

कथा समाप्त ।

प्रसन्नतासे सेवन करनेपर यह नमस्कार मंत्ररूपी मित्र शीघ्र ही समस्त दुःखों का नाशकर सारभूत प्रभूत सुखोंको देकर पुनः मोक्षमें अव्याबाध सुखोंको देता है ॥७६१॥

नमस्कार वर्णन समाप्त ।

ज्ञानाभ्यास—

ज्ञानके विना मनको वश करना शक्य नही है, अंकुशके विना हाथी क्या कहीं पर वशमें किया जाता है ? नहीं किया जाता । उसप्रकार ज्ञानके बिना मन वशमें नहीं किया जाता ॥७६२॥

नाना अनर्थोंको करनेमे लगे हुए इस मनको ज्ञान अपने वशमें कर लेता है, जैसे विद्या दुष्ट दुराग्रही पिशाचको पुरुषके वशमें कर देती है ॥७९३॥

ज्ञानेन शम्यते दुष्टं नित्याभ्यस्तेन मानसम् ।
मंत्रेण शम्यते किं न सुप्रयुक्तेन पन्नगः ।।७६४।।

नियम्यते मनोहस्ती मत्तो ज्ञानवरत्रया ।
हस्ती वारण्यकः सद्यो भयदायो वरत्रया ।।७६५।।

मध्यस्थो न कपिः शक्यः क्षणमायासितुं यथा ।
मनस्तथा भवेन्नैव मध्यस्थं विषयैर्विना ।।७६६।।

सदा रमयितव्योऽसौ जिनवाक्यवने ततः ।
रागद्वेषादिकं दोषं करिष्यति ततो न स. ।।७६७।

ज्ञानाभ्यासस्ततो युक्तः क्षपकस्य विशेषतः ।
विवेध्यं कुर्वतस्तस्य चंद्रकव्यधन यथा ।।७६८।।

नित्य अभ्यस्त हुए ज्ञानके द्वारा दुष्ट–अशुभ खराब विचार वाला मन शांत हो जाता है, ठीक ही है भलीप्रकारसे जिसका प्रयोग किया गया है ऐसे मत्र द्वारा क्या कृष्ण सर्प शान्त नही होता ? होता ही है ।।७६४।।

मत्त ऐसा मन रूपी हाथी ज्ञान रूपी सांकलसे बाँधा जाता है अर्थात् खोटे विचार करने वाले मनको ज्ञानके द्वारा नियत्रित करते है । जैसे जंगली हाथी भयप्रद कठोर सांकल द्वारा शीघ्र ही बाँधा जाता है ।।७९५।।

जिसप्रकार बदर मध्यस्थ होकर—चुपचाप एक क्षणके लिये भी बैठनेमें समर्थ नही होता है, उसप्रकार मन विषयोके बिना नही रहता है, रूप, रस, शब्द आदि विषयोंमें विचरण करता है, मध्यस्थ नही रहता ।।७९६।। अत चतुर पुरुषको चाहिये कि वह इस मनरूपी बंदरको जिन वाक्य रूपी–शास्त्ररूपी सुदर वनमे रमाता रहे । जिससे वह रागद्वेष आदि दोषोको नही करे ।।७६७।।

जिसप्रकार लक्ष्यवेधका अभ्यास करनेवाला पुरुष एक दिन अवश्य ही चन्द्र वेध कर लेता है, उसीप्रकार क्षपकको अपने मनको नित्य ज्ञानाभ्यासमे विशेष रूपमे लगाना चाहिये ।।७९८।।

भावार्थ—धनुर्विद्याको सीखनेवाला प्रतिदिन बाण चलाकर ठीकसे लक्ष्यतक बाण पहुँचे और लक्ष्यको वेध देवे ऐसा अभ्यास करता रहता है । जब भलीप्रकार लक्ष्य-

शुक्ललेश्यस्य यस्यान्ते दीप्यते ज्ञानदीपिका ।
तस्य नाशभयं नास्ति मोक्षमार्गे जिनोदिते ॥७९९॥

ज्ञानोद्योतो महोद्योतो व्याघातो नास्य विद्यते ।
क्षेत्रं द्योतयते सूर्यः स्वल्पं सर्वमसौ पुनः ॥८००॥

वेधका अभ्यास हो जाता है तब वह वीर चन्द्रक वेध करनेमे समर्थ हो जाता है। चन्द्रक वेध-महल आदिके छतपर एक तीव्र वेगसे घूमनेवाला चक्र रहता है उसमें एक विशिष्ट चिह्न रहता है जो कि तीव्र गतिसे चक्रके साथ घूमता है, उस चन्द्रकके ठीक नीचे जल-कुंड जलसे भरा रहता है उस जलमें ऊपरका फिरता हुआ चक्र दिखायी देता है, धनुर्विद्यावाला वीर पुरुष जलकुंडमें चक्रके चिह्नको देखकर हाथोंसे बाण चलाकर उस लक्ष्यको वेध देता है, इसमे देखना नीचे और बाण चलाना ऊपर होता है ऐसी विशिष्ट बाणकी क्रियाको चन्द्रकवेध कहते है। इस कठिनतर कार्यको बाण विद्याके सतत् अभ्यास से ही संपन्न किया जाता है। ऐसे ही यह चक्रवत् सतत् भ्रमण करनेवाला मन है इसको एकाग्र करना चन्द्रक वेधसे भी कठिन है क्योंकि चन्द्रक वेध दृश्य है और मन और मनके विचार अदृश्य हैं केवल अनुभव गम्य है। विषयोमे भ्रमण करते हुए इस मनके कारण संसारमें अनंत दुःख उठाने पडते है। अतः क्षपकको आचार्य उपदेश दे रहे है कि तुम्हे इस मनको ज्ञानाभ्यासमें लगाकर वश कर लेना चाहिये।

शुद्ध लेश्या (पीत, पद्म, शुक्ल) वाले जिस पुरुषके (क्षपकके) निकट सदा-ज्ञानरूपी दीपक प्रज्ज्वलित रहता है, उसके जिनोपदिष्ट मोक्षमार्गमें नष्ट-होनेका कोई भय नहीं होता है ॥७९९॥

भावार्थ—जिनागमका सतत् अभ्यास करनेसे कही स्खलन होना, विपरीत श्रद्धा होना, तत्त्वोंमें शंकित होना, आचरणमे अज्ञानता आदि मार्गसे च्युत करनेवाले प्रसंग नही आते, जैसे जिसके हाथमे दीपक जल रहा है उसको अंधेरे मार्गमे कही गिरना, चोट आना, विपरीत दिशामे चले जाना आदिका प्रसग नहीं आता।

ज्ञानका प्रकाश ही महाप्रकाश है, इसका व्याघात नही होता, सूर्य तो स्वल्प क्षेत्रको प्रकाशित करता है, किन्तु ज्ञान सर्व क्षेत्र को प्रकाशित करता है। अर्थात् सपूर्ण विश्वको (लोकालोकको) जानता है ॥८००॥

ज्ञानं प्रकाशकं वृत्तं गोपकं साधकं तपः ।
त्रयाणां कथिता योगे निर्वृतिर्जिनशासने ।।८०१।।

करणेन विना ज्ञानं संयमेन विना तपः ।
सम्यक्त्वेन विना लिंगं क्रियमाणमनर्थकम् ।।८०२।।

ज्ञानोद्योतं विना योऽत्र मोक्षमार्गे प्रयास्यति ।
प्रयास्यति वने दुर्गे सोऽन्धोऽन्धतमसे सति ।।८०३।।

संयमं श्लोकखंडेन निवार्य मरणं यमः ।
यदि नीतस्तदा किं न जिनसूत्रेण साध्यते ।।८०४।।

जिनशासनमें ज्ञानको प्रकाशक माना है और चारित्रको गोपक (रक्षक) तथा तपको साधक माना है इन तीनोंका योग (एकता) होनेपर मोक्ष होता है ।।८०१।।

विशेषार्थ—जो वस्तुको देखनेके लिये सहायक हो वह प्रकाशक कहलाता है, ज्ञान हेय उपादेय आदि तत्त्वोंको साक्षात् दिखाता है अतः प्रकाशक है । जो आपत्ति कष्ट हिंसा आदिसे आत्माकी रक्षा करता है वह गोपक कहलाता है चारित्र भी पाप अशुभ शुभ भाव आदिसे रक्षा करता है अतः गोपक है, जो कार्य का साधन करे उसे साधक कहते हैं, तप मोक्षमार्गकी सिद्धि करता है, कर्मोंका नाश करता है अत. साधक है ।

करण-आचरणके विना ज्ञान, संयमके बिना तप और सम्यक्त्वके बिना दीक्षा ग्रहण करना व्यर्थ होता है ।।८०२।। जो पुरुष ज्ञानरूपी प्रकाशके बिना मोक्षमार्गमे गमन करेगा वह उसके समान है जो कि अंध है और रात्रिके अंधकारमें गहन वनमें गमन करता है ।।८०३।।

यदि यम नामके मुनि आधे श्लोकका स्मरण उच्चारण स्वाध्याय करते हुए मरणरूप आपत्तिको रोककर उत्तम संयमको भी प्राप्त हुआ था तो जिनसूत्र द्वारा क्या नही सिद्ध हो सकता है ? सब सिद्ध हो सकता है ।।८०४।।

यम मुनिकी कथा

उड्र देशान्तर्गत धर्म नगरमें राजा यम राज्य करते थे । उनकी रानीका नाम धनवती, पुत्रका नाम गर्दभ और पुत्रीका नाम कोणिका था । किसी ज्योतिषीने कोणिका

दृढसूर्योऽथ शूलस्थो जातो देवो महर्द्धिकः ।
नमस्कारश्रुताभ्यासं कुर्वाणो भक्तितो मृतः ॥८०५॥

की जन्मपत्रिका देखकर राजासे कहा कि इस कन्याका जिसके साथ विवाह होगा वह संसारका सम्राट होगा । यह बात सुनकर राजाने अन्य क्षुद्र राजाओंकी दृष्टिसे बचानेके लिये कन्याको बड़े यत्नसे रखना शुरु कर दिया ।

एक समय धर्म नगरमे सुधर्माचार्य ५०० मुनिराजोके साथ आये और नगरके बाहर उद्यानमें ठहर गये । अपनी विद्वत्ताके गर्वसे गर्वित राजा यम समस्त परिजन और पुरजनोके साथ मुनियोंकी निन्दा करता हुआ संघके दर्शनार्थ जा रहा था, किन्तु गुरु निन्दा और ज्ञान मदके कारण मार्गमें ही उसका सम्पूर्ण ज्ञान लोप हो गया और वह महामूर्ख बन गया । इस अनहोनी घटनासे राजा अत्यन्त दुःखो हुआ और उसने पुत्र गर्दभको राज्य भार देकर अपने अन्य ५०० पुत्रोंके साथ दीक्षा लेली । दीक्षा लेनेके बाद भी वे मूर्ख ही रहे अर्थात् पचनमस्कारका उच्चारण भी वे नही कर सकते थे । इस दुःखसे दुखित होकर यम मुनिराज गुरुसे आज्ञा लेकर तीर्थ यात्राको चल दिये । मार्गमें उन्होंने गर्दभ युक्त रथ, गेंद खेलते हुये बालक और मेंढ़क एवं सर्पके निमित्तसे होने वाली घटनाओंसे प्रेरित होकर तीन खण्डश्लोकों की रचना की ।

यम मुनिराज, साधु सम्बन्धी प्रतिक्रमण, स्वाध्याय एवं कृति कर्म आदि सभी क्रियाएँ इन तीन खण्ड श्लोको द्वारा ही किया करते थे, इसीके बलसे उन्हे सात ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई थी ।

यममुनिकी कथा समाप्त ।

दृढ़ सूर्य चोर चोरीके अपराधके कारण शूलीपर चढा हुआ था, वहांपर स्थित होकर ही वह भक्तिसे नमस्कार मंत्ररूपी श्रुतके अभ्यासको करता हुआ मरा और स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ ॥८०५॥

दृढ सूर्य चोरकी कथा

दृढ़ सूर्य नामका चोर था । वह एक दिन अपनी प्रेमिका वेश्याके कहनेसे राज्यमें चोरी करने गया । वह सीधा राजमहल पहुँचा । भाग्यसे हार उसके हाथ पड़ गया । वह उसे लिये हुए राजमहलसे निकला । उसे निकलते ही पहरेदारोंने पकड़

मृत्युकाले श्रुतस्कंधः समस्तो द्वादशांगकः ।
बलिनाशक्तचित्तेन यतो ध्यातुं न शक्यते ॥८०६॥

एकत्रापि पदे यत्र संवेगं जिनभाषिते ।
संयतो भजते तन्न त्यजनीयं ततस्तदा ॥८०७॥

छंद प्रहरण कलिता—

जिनपतिवचनं भवभयमथनं शशिकरधवलं कृतबुधकमलं ।
धृतमिति हृदये हतमलनिचये वितरति कुशलं विदलति कलिलम् ॥८०८॥

॥ इति ज्ञानम् ॥

लिया । सवेरा होते ही वह राजसभामे पहुँचाया गया । राजाने उसे शूलीकी आज्ञा दी । वह शूली पर चढाया गया । इसी समय धनदत्त नामके एक सेठ दर्शन करनेको जिन मन्दिर जा रहे थे । दृढ़ सूर्यने उनके चेहरे और चालढालसे उन्हे दयालु समझकर उनसे कहा—सेठजी, आप बड़े जिनभक्त और दयावान् है, इसलिये आपसे प्रार्थना है कि मैं इस समय बड़ा प्यासा हूँ, सो आप कहीसे थोड़ासा जल लाकर मुझे पिलादे तो आपका बड़ा उपकार हो ।

परोपकारी धनदत्त स्वर्ग-मोक्षका सुख देनेवाला पच नमस्कार मंत्र उसे सिखाकर आप जल लेनेको चला गया । वह जल लेकर वापिस लौटा, इतनेमें दृढ सूर्य मर गया । पर वह मरा नमस्कार मंत्रका ध्यान करते हुए । उसे सेठके इस कहने पर पूर्ण विश्वास हो गया था कि यह विद्या महाफलको देनेवाली है । नमस्कार मंत्रके प्रभाव से वह सौधर्म–स्वर्गमें जाकर देव हुआ । सच है–पंच नमस्कार मत्रके प्रभावसे मनुष्यको क्या प्राप्त नहीं होता ?

दृढ़सूर्य चोरकी कथा समाप्त ।

मरणकालमें समर्थ मनवाले बलवान् पुरुष द्वारा भी समस्त द्वादशांग आगमका स्मरण ध्यान करना शक्य नही होता । अतः जिनेन्द्र प्रतिपादित उक्त आगममेंसे जिसमें क्षपकको प्रसन्नता हो संवेगभाव जगे उस एक पदको उस मरण समयमें नहीं छोड़ना चाहिये ॥८०६॥८०७॥

जिनेन्द्रके वचन [आगम] संसारके भयका मथन करनेवाले हैं, चन्द्रमाकी किरणोके समान धवल हैं, बुद्धिमान रूप कमलको विकसित करनेवाले हैं, ऐसे वचनको मल

यावज्जीवं विमुंचस्व यते ! षड्जीवहिंसनम् ।
शरीरवचनस्वांतैः कृतकारित मोदितैः ॥८०९॥

यथा न ते प्रियं दुःखं सर्वेषां देहिनां तथा ।
इति ज्ञात्वा सदारक्ष तान्स्वंस्वमिव यत्नतः ॥८१०॥

क्षुधा तृष्णाभिभूतोऽपि विधाय प्राणिपीडनम् ।
मा कार्षीरपकारं त्वं वपुर्वचनमानसैः ॥८११॥

दोषोंका समुदाय अर्थात् राग मत्सर, अहंकार आदि जिसमें नहीं है ऐसे हृदयमें धारण करो, वह वचन पापका दलन करता है और पुण्यको देता है । अर्थात् जिनेन्द्र कथित आगमके ज्ञानसे संसारका भय नष्ट होता है क्योंकि आगमाभ्यासी पुरुष सतत् मोक्ष पुरुषार्थमें जागरूक रहते है अत. पापका नाश एव पुण्यका लाभ होता ही है । इसप्रकार ज्ञानाभ्यासकी प्रेरणा आचार्य ने दी है ॥८०८॥

इसतरह सातसौ इक्कावन नंबरके सूत्ररूप श्लोकमे कथित मिथ्यात्वका वमन, सम्यक्त्वकी भावना, भक्ति, नमस्कार और ज्ञानाभ्यास इन पांच विषयोंका विवेचन यहां तक हुआ ।

आगे सातसौ बावन श्लोकमें निर्दिष्ट महाव्रत रक्षा, कषायनिग्रह, इन्द्रिय-विजय, तपमें उद्यम इन चारोंका कथन चलेगा । इनमें महाव्रतका बहुत विस्तृत वर्णन है ।

अहिंसा महाव्रत—

हे यते ! तुम यावज्जीव तक षट्काय जीवोंकी [पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रस कायिक] हिंसाका मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनासे त्याग करो ॥८०९॥

जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है वैसे सभी प्राणियोंको नही है, ऐसा जानकर अपने समान ही उन सबकी यत्नसे सदा रक्षा करो ॥८१०॥

हे साधो ! तुम क्षुधा तृषासे पीड़ित होनेपर भी काय, वचन, मनसे प्राणियों को पीड़ा देकर अपना अपकार मत करना ॥८११॥

हर्षोत्सुकत्वदीनत्वरत्यरत्यादिसंयुतः ।
त्वं भोगपरिभोगार्थं मा कार्षीर्जीवबाधनम् ॥८१२॥
माक्षिकं मक्षिकाभिर्वा स्तोकस्तोकेन संचितं ।
मा नीनशो जगत्सारं संयमं चेन्न पूरयेः ॥८१३॥
नृत्व जातिः कुलं रूपमिंद्रियं जीवितं बलम् ।
श्रवणं ग्रहणं बोधिः संसारे संति दुर्लभाः ॥८१४॥

हर्ष, उत्सुकता, दीनपना, रति, अरति आदि खोटे भावोंसे युक्त होकर तुम भोग और उपभोगके लिये जीवोंको बाधा मत देना ॥८१२॥

जैसे मधु मक्खियों द्वारा थोड़ा थोडा करके मधुका सचय किया जाता है वैसे हे यते ! तुम्हारे द्वारा थोडा थोडा करके जो सयम संचित किया गया है उस जगत्में सारभूत संयमको यदि पूरित पूर्ण न कर सको तो नष्ट मत करना ॥८१३॥

इस संसारमे मनुष्य भव मिलना दुर्लभ है उसमे उच्च जाति, कुल उससे दुर्लभ है । पुन रूप, इन्द्रियोंकी पूर्णता, दीर्घायु, बल, धर्मश्रवण, धर्मग्रहण दुर्लभ है सबसे अधिक दुर्लभ बोधिका मिलना है ॥८१४॥

विशेषार्थ—यहांपर मनुष्यभव, जाति कुल आदिकी उत्तरोत्तर दुर्लभताको बतलाया गया है । चारों गतियोके जीवोमेसे मनुष्यगतिके जीवोंकी संख्या अल्प है । यह ससारी जीव सबसे अधिक तिर्यचगतिमे जन्म लेता है । देव नारकोके अपेक्षा भी मनुष्य गतिमें बहुत कम बार जन्म लेनेका अवसर मिलता है । मनुष्योमे उच्चकुल और उच्चजातिवाले मनुष्य अल्पसंख्यक है यह प्रत्यक्षसे ही दिखाई देता है । अनेक मनुष्य हीनांग अधिकांग अधे मूक बहिरे भी है अतः इन्द्रियोंकी पूर्णता सबको प्राप्त नही है । बहुतसे जीव माताके गर्भमें ही मर जाते है कोई महिना, वर्ष आदि अल्पकालही जीकर मर जाते है दीर्घायुका होना कठिन है । पुनश्च बलवान् शरीर होना सुलभ नही है । इन सबके होते हुए समीचीन धर्मको सुननेकी इच्छा होना और उस धर्मका उपदेश देनेवाले मिलना दुर्लभ है । वर्तमानमे करोड़ो अरबों मनुष्योमें कितने ऐसे मनुष्य हैं जिन्हे जिनधर्म सुननेको मिलता है ? सुननेपर उसे ग्रहण करना अतिदुर्लभ है क्योकि प्रायः श्रोताओकी प्रवृत्ति होती है कि इस कानसे सुनना और उस कानसे निकाल देना । सुने हुए विषयके अनुसार आचरण अत्यंत कठिन है । सबसे अधिक

देवैरेकं वृणीष्व त्वं त्रैलोक्य जीवितव्ययोः ।
इत्युक्तो जीवितं मुक्त्वा त्रैलोक्यं वृणुतेऽत्र कः ॥८१५॥

त्रैलोक्येन यतो मूल्यं जीवितव्यस्य जायते ।
जीवजीवितघातोऽतस्त्रैलोक्यहननोपमः ॥८१६॥

प्राप्यदुर्लभसंतत्या श्रामण्यं सुखसाधकम् ।
एकाग्रमानसो रक्ष निधानमिव सर्वदा ॥८१७॥

अल्पं यथाणुतो नास्ति महदाकाशतो यथा ।
अहिंसाव्रततो नास्ति तथा परमुरुव्रतम् ॥८१८॥

पर्वतेषु यथा मेरुश्चक्रवर्ती यथा नृषु ।
जीवरक्षाव्रत सारं सर्वस्मिन्नपि व्रते तथा ॥८१९॥

दुर्लभ रत्नत्रयकी प्राप्ति रूप बोधि है क्योंकि ऊपर कहे अनुसार कदाचित् धर्मश्रवण और धर्मग्रहण हो गया तो भी विशुद्धि आदि लब्धियोंके बिना सम्यक्त्व आदिकी प्राप्ति नहीं होती है ।

जीवोंको अपना जीवन कितना प्रिय है यह दिखाते हैं—

देवों द्वारा प्रसन्न होकर वरदान मिले कि हे मानव ! तुम तीन लोक और अपना जीवन इन दोनोमेसे एकको मांगो ! इसप्रकार कहनेपर जीवनको छोड़कर तीन-लोकको कौन स्वीकार करेगा ? कोई भी स्वीकार नही करेगा ॥८१५॥ इससे ज्ञात होता है कि तीनलोकके मूल्यसे अधिक मूल्य जीवनका है अतः किसी जीवके जीवनका घात–हिंसा करना तीन लोकके घातके समान है ॥८१६॥ पूर्वोक्त प्रकार मनुष्यादि पर्याय और उसमे भी दुर्लभ बोधि है जो कि श्रामण्यरूप है, उस दुर्लभ परपरासे मिले हुए सुखके साधनभूत श्रामण्य-मुनिपनेको प्राप्त करके हे क्षपक ! एकाग्रमन होकर निधिके समान इसकी तुम सदा ही रक्षा करना ॥८१७॥

जैसे इस विश्वमें अणुसे छोटा कोई अन्य पदार्थ नही है और आकाशके समान अन्य कोई महान्–बड़ा पदार्थ नही है अर्थात् अणु सबसे छोटा और आकाश सबसे बड़ा है । वैसे ही अहिंसा व्रतसे अन्य कोई बड़ा व्रत नही है ॥८१८॥

जिसप्रकार पर्वतोंमें सारभूत श्रेष्ठ पर्वत सुमेरु है, मनुष्योमें महान् चक्रवर्त्ती है, उसीप्रकार सर्व व्रतोंमें श्रेष्ठव्रत जीवरक्षा व्रत–अहिंसाव्रत है ॥८१९॥

यथाऽकाशे स्थितो लोको धरण्यां द्वीपसागराः ।
सर्वव्रतानि तिष्ठन्ति जीवत्राणव्रते तथा ॥८२०॥
यथा तिष्ठंति चक्रस्य न तुंबेन विनारकाः ।
एतैविना न तिष्ठन्ति यथा चक्रस्य नेमयः ॥८२१॥
तथा शीलानि तिष्ठन्ति न विना जीवरक्षया ।
तस्याः शीलानि रक्षार्थं सस्यादीनां यथा वृतिः ॥८२२॥
व्रतं शीलं तपो दानं नैर्ग्रन्थ्यं नियमो गुणः ।
सर्वे निरर्थकाः सन्ति कुर्वतो जीवहिंसनम् ॥८२३॥
आश्रमाणां मतो गर्भः शास्त्राणां हृदयं परम् ।
पिंडं नियमशीलानां समतानामहिंसनम् ॥८२४॥
असूनृतादिभिर्दुःखं जीवानां जायते यतः ।
परिहारस्ततस्तेषां अहिंसाया गुणोऽखिलः ॥८२५॥

जैसे यह जगत् आकाशके आधारपर स्थित है, द्वीप सागर पृथिवीके आधार पर स्थित है, वैसे अहिसा–व्रतके आधार पर सर्वव्रत स्थित है ॥८२०॥

जैसे चक्रके तुंबीके बिना आरोकी स्थिति नही है और आरोंके बिना चक्रके नेमि [धुरा] की स्थिति नही होती है । वैसे अहिसाके बिना शील नहीं ठहरते । अहिसाकी रक्षाके हेतु ही शीलोंका पालन बताया है । जैसेकि धान्योकी रक्षाके हेतु खेतोमें बाड़ होती है ॥८२१॥८२२॥

जीवकी हिंसा करनेवालेके व्रत, शील, तप, दान, मुनिपद नियम और गुण ये सब ही निरर्थक हुआ करते है ॥८२३॥

यह अहिंसा सब आश्रमोका गर्भ है, शास्त्रोका हृदय है और नियम शील तथा समताका पिंड है ॥८२४॥

असत्य, चोरी आदि पापोसे जीवोंको दुःख होता है अतः उनका परिहार त्याग करते हैं, उन पापोंका परिहार करनेसे जो गुण होता है वह सर्व ही अहिसाका गुण है ॥८२५॥

गोस्त्रीब्राह्मणबालानां धर्मो यद्यस्त्यहिंसनम् ।
न तदा परमो धर्मः सर्वजीवदया कथम् ।।८२६।।

सर्वैः सर्वे समं प्राप्ताः संबंधा जंतुभिर्यतः ।
संबंधिनो निहन्यंते ततस्तान्निघ्नता ध्रुवम् ।।८२७।।

आत्मघातोऽङ्गिनां घातो दया तस्यात्मनो दया ।
विषकांड इव त्याज्या हिंसातो दुःखभीरुणा ।।८२८।।

उद्वेगं कुरुते हिंस्रो जीवानां राक्षसो यथा ।
संबंधिनोऽपि नो तस्य विश्वासं जातु कुर्वते ।।८२९।।

इह बंधं वधं रोधं यातनां देशधाटनम् ।
हिंस्रो वैरमभोग्यत्वं लब्ध्वा गच्छति दुर्गतिम् ।।८३०।।

गाय, स्त्री, ब्राह्मण और बालकका घात नही करना यदि धर्म माना जाता है तो सर्व ही जीवोंपर दया करना परमधर्म कैसे नही माना जायगा ? अर्थात् माना ही जायगा ।।८२६।।

जब इस संसारमें अनादिकालसे परिभ्रमण करते हुए सब जोव सभी जीवोंके साथ सबंधको प्राप्त हो चुके है तब उन जीवोको मारनेवाला नियमसे अपने सबंधियोंको मारता है ऐसा ही सिद्ध होता है ।।८२७।।

पर जोवका घात करना अपना घात कहलाता है और पर जीवकी दया अपनी दया कहलाती है । इसलिये हिसासे होनेवाले दु खोंसे जो डरते है उन्हें विषकांडके समान हिंसाको छोड़ देना चाहिये ।।८२८।।

हिंसक व्यक्ति समस्त जोवोको उद्वेग-भय उत्पन्न करता है जैसे राक्षस सबको भय उत्पन्न करता है । हिंसकके ऊपर उसके संबंधी जन भी विश्वास नही करते हैं ।।८२९।।

पर जीवोंकी हिंसा करनेवाला व्यक्ति इस लोकमें बंधन, वध, कारागृह, अनेक शारीरिक, मानसिक यातनाको प्राप्त करके तथा देश निकाला, वैर और जातिसे च्युति को प्राप्तकर अंतमें दुर्गतिमें जाता है ।।८३०।।

यतो रुष्टः परं हत्वा कालेन म्रियते स्वयम् ।
हतहंत्रोस्ततो नास्ति विशेषस्तं क्षणं विना ॥८३१॥

अल्पायुर्दुर्बलो रोगी विरूपो विकलेन्द्रियः ।
दुष्टगंधरसस्पर्शो जायतेऽमुत्र हिंसकः ॥८३२॥

एकोऽपि हन्यते येन शरीरीभवकोटिषु ।
म्रियते मार्यमाणोऽङ्गी विधानैर्विविधरसौ ॥८३३॥

दुर्गतौ यानि दुःखानि दुःसहानि शरीरिणाम् ।
हिंसाफलानि सर्वाणि कथ्यन्ते तानि सूरिभिः ॥८३४॥

हिंसातोऽविरतिर्हिंसा यदि वा वधचिंतनम् ।
यतः प्रमत्ततायोगस्ततः प्राणवियोजकः ॥८३५॥

द्वेषिकी कायिकी प्राणघातिकी पारितापिकी ।
क्रियाधिकरणी चेति पंच हिंसाप्रसाधिकाः ॥८३६॥

जिसकारण रुष्ट–क्रोधी पुरुष परको मारकर यथासमय स्वय मर जाता है, अतः कहना चाहिये कि मारा गया और मारनेवाला इन दोनोमे कुछ विशेषता नही है, केवल कालकी विशेषता है अर्थात् हिसकने जिसे मारा वह पहले मरा और खुद हिंसक पीछे मरा और कुछ नहीं ॥८३१॥

हिंसक व्यक्ति मरकर मरलोकमे अल्पायु, दुर्बल, रोगी, कुरूप, विकल-इन्द्रिय, नेत्र आदिसे विहीन ऐसा होता है तथा खोटे रस, गध, स्पर्शवाला होता है ॥८३२॥

जो व्यक्ति एक भी जीवको मारता है तो वह जीव करोड़ों भवोमे विविध प्रकारोसे मारा जाकर अंतमे मरणको प्राप्त हो जाता है ॥८३३॥

इन ससारी प्राणियोंको नरक आदि दुर्गतियोमे जो दुःसह दुःख भोगने पड़ते हैं वे सब भी हिंसाके कटुक फल हैं ऐसा आचार्योंने कहा है ॥८३४॥

हिंसासे विरत नही होना हिसा है अथवा किसीको मारनेका चितवन करना हिंसा है क्योंकि अविरति आदि प्रमत्तयोग है और प्रमत्तयोगसे प्राणोका वियोग होता है ॥८३५॥

द्वेषिकी क्रिया–पर द्वारा हरण आदिसे जो द्वेष होता है उस द्वेष युक्त क्रिया को द्वेषिकी क्रिया कहते हैं । दुष्टतासे शरीरकी क्रिया करना कायिकी क्रिया है, प्राण

हिंसा त्रिभिश्चतुर्भिश्च पंचभिः साधयन्ति ताः ।
क्रिया बंधः समानेन द्वेषिको कायिकी क्रिये ।।८३७।।

जोवाजोवविकल्पेन तत्राधिकरणं द्विधा ।
शतमष्टोत्तरं पूर्वं द्वितीयं च चतुर्विधम् ।।८३८।।

विधिना योगकोपादिसंरंभादिकृतादयः ।
भिदा भवंति पूर्वस्य गुण्यमानाः परस्परम् ।।८३९।।

घातक क्रिया प्राणघातिको क्रिया कहलाती है । परको संताप देनेवाली पारितापिकी क्रिया है और हिंसाके उपकरण ग्रहण करना क्रियाधिकरणी क्रिया है, ये पांच हिंसाकी प्रसाधक क्रियायें हैं ।।८३६।।

उपर्युक्त द्वेषिकी आदि क्रियायें मन, वचन, काय द्वारा क्रोधादि चार कषाय और स्पर्शनादि पाच इन्द्रियों द्वारा हिंसाको सिद्ध करातो हैं और इस हिंसासे होनेवाला कर्मबंध समान और असमान दो तरहसे होता है । द्वेषिकी और कायिकी क्रिया समान है तो समान बध होगा अन्यथा नही ।।८३७।।

हिंसाके अधिकरण दो है जोवाधिकरण और अजीवाधिकरण, उनमें जीवाधिकरण एकसौ आठ भेदवाला है और दूसरा अजीवाधिकरण चार प्रकारका है ।।८३८।।

जोवाधिकरणके एकसौ आठ भेद—

मनोयोग, वचनयोग, काययोग ये तीन योग । क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय, संरंभ, समारंभ, आरभ ये तीन तथा कृत, कारित और अनुमोदित ये तीन इसप्रकार इनका परस्पर गुणा करनेपर पहले जीवाधिकरणके एकसौ आठ भेद हो जाते हैं ।।८३९।।

भावार्थ—तीन योग, चार कषायें ये तो प्रसिद्ध हैं कृत-खुद करना, कारित-अन्यसे कराना, अनुमोदित-करते हुएको भला मानना अनुमोदित है । संरंभ आदि तीन का स्वरूप आगेकी कारिका द्वारा बताते हैं ।

संरंभोऽकथि संकल्पः समारंभो वितापकः ।
शुद्धबुद्धिभिरारंभः प्राणानां व्यपरोपकः ॥८४०॥

निर्वर्तना सनिक्षेपा संयोगः सनिसर्गकः ।
द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः स्युर्द्वितीयस्य यथाक्रमम् ॥८४१॥

निर्वर्तनोपधिर्देहो दुःप्रयुक्तोऽभिधीयते ।
निक्षेपः सहसादृष्टदुर्दृष्टाप्रत्यवेक्षणौ ॥८४२॥

शुद्ध बुद्धिवाले गणधर आदिने सरंभ आदिका लक्षण इसप्रकार बताया है— किसी कार्यका संकल्प करना सरंभ कहलाता है। कार्यके उपकरण एकत्रित करना संमारंभ है जो कि जीवोके लिये तापकारक है, कार्य प्रारभ कर देना है आरंभ, यह प्राणोंका घातक रूप है ॥८४०॥

दूसरे अजीवाधिकरणके निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग ऐसे मूलमे चार भेद हैं, पुनः निर्वर्तनाके दो, निक्षेपके चार, संयोगके दो और निसर्गके तोन भेद हैं ॥८४१॥

निर्वर्तनाके दो भेद बताते है—शरीर द्वारा खोटी प्रवृत्ति अथवा शरीरको खोटे कार्यमें लगाना शरीर निर्वर्तना कहलाती है। उपधिनिर्वर्तना–उपकरणोंका निर्माण, जिनके द्वारा जीवोंको बाधा हो अथवा जिनके निर्माणमे हो जीव घात होता है उसे उपधि निर्वर्तना कहते है। निक्षपके चार भेद है–सहसानिक्षेप–किसी भी वस्तुको शीघ्रता से रखना। अदृष्टनिक्षेप–बिना देखे और शीघ्रतासे वस्तुको रखना। दुर्दृष्टनिक्षेप असावधानीसे वस्तुको रखना। अप्रत्यवेक्षणनिक्षेप बिना देखे सीधे हो वस्तुको रखना ॥८४२॥

विशेषार्थ—निर्वर्तनाके दो भेद हैं शरीर निर्वर्तना, उपधि निर्वर्तना। शरीर की दुष्ट कार्यमे प्रवृत्ति होना शरीर निर्वर्तना है और उपधि उपकरणोके निर्माण और प्रयोगमें हिंसा होना उपधि निर्वर्तना है। तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थमे छठे अध्यायके नौवें सूत्रमें आगत निर्वर्तना शब्दके टोकाकार ने मूलगुण निर्वर्तना और उत्तरगुण निर्वर्तना ऐसे दो भेद किये है। शरीर मन, वचन, श्वासोच्छ्वासको रचना मूलगुण निर्वर्तना है और काष्ठ, मिट्टी आदिसे चित्रादिकी रचना उत्तर गुण निर्वर्तना है। निक्षेपके चार भेद

आहारोपधिभेदेन द्विधा संयोजनं मतम् ।
दुःसृष्टाः स्वान्तवाक्काया निसर्गस्त्रिविधो मतः ।।८४३।।

और उनके लक्षण इस मरणकंडिकामें और तत्त्वार्थसूत्रकी टीका दोनोमें समान हैं । संयोग तथा निसर्गके भेद इन ग्रंथोंमें समान पाये जाते है । संयोगके दो भेद हैं भक्तपान संयोग और उपकरण सयोग । तत्त्वार्थ सूत्रमें आहार और पानीका मिलाना भक्तपान संयोग है और कमंडलु आदिका अन्यके उपकरणसे शोधन करना उपकरण संयोग ऐसा कहा है, भगवती आराधनाकी टीकामें इसका अच्छा खुलासा किया है कि आहार और पानीका ऐसा संयोजन कि जिस सयोजनसे सम्मूर्च्छन जीवोंकी उत्पत्ति हो । इसीप्रकार उपकरण संयोगमे उपकरणका परस्परमे मिलाना मात्र नहीं किन्तु इसतरह मिलाना कि जिससे जीव पीड़ा संभव है, जैसे शीत स्थानमें रखे हुए कमंडलु आदिको धूप आदिसे तप्त हुई पीछीसे मार्जन करना, पुस्तकका मार्जन करना इत्यादि । इससे शीतस्थान और उष्णस्थानके सम्मूर्च्छन जीवोंका व्याघात संभव है । निसर्गके तीन भेद हैं—

मनकी दुष्ट प्रवृत्ति मनःनिसर्ग है, वचनकी दुष्ट प्रवृत्ति वचननिसर्ग है और कायकी दुष्ट प्रवृत्ति कायनिसर्ग है । तत्त्वार्थसूत्रकी सर्वार्थ सिद्धि आदि टीकामे निर्वर्तनाके जो भेद और लक्षण किये हैं एवं सयोगके भेद तथा लक्षण किये हैं उनमें यह स्पष्ट नहीं होता कि निर्वर्तना आदि आस्रवके अधिकरण किसप्रकार है । किन्तु इस ग्रंथमे स्पष्ट हो जाता है । आस्रवके आधार या अधिकरण दो हैं, जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण, जीव या जीवके भाव एव क्रियाके आधारसे जो आस्रव होता है वह जीवाधिकरण है और अजीवकी क्रियाके आधारसे जो आस्रव हो वह अजीवाधिकरण है । जीवाधिकरणके संरंभ आदि भेद किये वे इसतरह है कि पुण्यास्रव और पापास्रव दोनोंके लिये हेतु है । किन्तु अजीवाधिकरणके निर्वर्तना आदि भेद बताये है उन भेदोंका वर्णन जो तत्त्वार्थ सूत्रकी टीकामे है उससे स्पष्ट नही होता है कि वे आस्रवके आधार किसप्रकार है । इस ग्रंथमें निर्वर्तनादिका वर्णन इसतरह है कि ये पापास्रवके आधार किसप्रकार होते है यह स्पष्ट हो जाता है । जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण दोनोमें हिंसारूप प्रवृत्ति बतायी है । संरंभ आदि प्रायः हिंसाके हेतुरूप है । निर्वर्तना आदि भी इसीरूप है । यह ठीक भी है क्योंकि पापोंमें प्रमुख पाप हिंसा है, अन्य पाप इसमे गर्भित हो सकते हैं ।

अजीवाधिकरणके निर्वर्तना और निक्षेपके भेद तथा लक्षण बताकर अब संयोग और निसर्गके भेद एवं लक्षण कहते हैं—आहार और पानका परस्पर इसतरह मिलाना

नास्तीन्द्रियसुखं किंचिज्जीवहिंसां विना यत ।
निरपेक्षस्ततस्तस्मिन्नहिंसां पाति पावनीम् ।।८४४।।

कषायकलुषो यस्माज्जीवानां कुरुते वधम् ।
निःकषायो यतिस्तस्मादहिंसारक्षणक्षमः ।।८४५।।

शयनासननिक्षेप ग्रहचंक्रमणादिषु ।
सर्वत्राप्यप्रमत्तस्य जीवत्राणं व्रत यतेः ।।८४६।।

विवेक नियताचारप्रासुकाहारसेविनि ।
मनोवाक्काय गुप्तेऽस्ति दयाव्रतमखंडितम् ।।८४७।।

आरंभेऽङ्गिवधे जन्तुरप्रासुकनिषेवणे ।
प्रवर्ततेऽनुमोदे च शश्वज्ज्ञानरतिं विना ।।८४८।।

जिससे जीव बाधा हो वह आहार पान सयोग है और पीछी कमंडलु पुस्तक आदि उपधि या उपकरणोंका परस्परमें इसतरह मिलाना जिससे जीव बाधा हो वह उपधि सयोग है । निसर्गके तोन भेद है मनकी दुष्प्रवृत्ति, वचनकी दुष्प्रवृत्ति और कायकी दुष्प्रवृत्ति ।।८४३।। जिस कारणसे इन्द्रिय सुख जीव हिंसाके बिना प्राप्त नही होता उस कारणसे जो इन्द्रिय सुखकी अपेक्षा नही करता वह पवित्र अहिंसाका पालन करता है अर्थात् अहिसाका पालन करनेके लिये इन्द्रियके सुखोका त्याग आवश्यक है । जिस कारणसे कषायसे कलुषित चित्तवाला व्यक्ति जीवोका वध करता है उसकारणसे कषाय रहित मुनि अहिसा के पालनेमे समर्थ माना जाता है ।।८४४।।८४५।। शयन, आसन, किसी वस्तुका रखना, उठाना, भ्रमण इत्यादि सभी क्रियाओमें अप्रमत्त मुनिका जीव रक्षाव्रत है अर्थात् इन सब क्रियाओंको करते समय प्रमादको छोड़कर जीवोको रक्षा करना यही मुनिका व्रत (अहिंसा व्रत) है ।।८४६।। जो मुनि विवेक पूर्वक आचरण करता है प्रासुक आहारका सेवन करता है, मन, वचन, कायको गुप्त-वशमे रखता है उस मुनिराजमे दयाव्रत अर्थात् अहिसाव्रत अखडित माना जाता है ।।८४७।।

यह जीव सतत् ज्ञानमे रति अर्थात् लगन नहीं होनेके कारण प्राणिवधमें, आरंभमें, अप्रासुक आहारमें प्रवृत्ति करता है तथा इनमें प्रवृत्त हुए अन्य जीवोंकी अनुमोदना करता है अर्थात् ज्ञानाभ्यासमें यदि लगन-रुचि नही है तो व्यर्थके आरंभ आदिमें मन जाता है वचनादिसे भी प्रवृत्ति करता है ।।८४८।।

मुनिनानिच्छता लोके दुःखानि धृतये सदा ।
उपयोगो विधातव्यो जीवत्राणव्रते परः ।।८४९।।

छंद-शालिनी—

अप्येकाहर्व्यापकेन प्रकृष्टः प्राप्तः पाणः प्रातिहार्यं सुरेभ्यः ।
एकेनैव प्राणिरक्षाव्रतेन क्षिप्तः क्रूरोऽनेकनक्रौघमध्ये ।।८५०।।

जो इसलोकमें दुःखोंको नहीं चाहता है उस मुनिको धैर्य पूर्वक सदा ही अहिंसा व्रतमे उपयोग लगाना चाहिये ।।८४९।।

एक दिनके प्राणिरक्षाव्रतसे चंडाल देवोंके द्वारा प्रातिहार्यको प्राप्त हुआ था और एक ही हिंसासे क्रूर राजपुत्र अनेक नक्रोसे युक्त जलाशयमे फेंका गया था ।।८५०।।

यमपाल चंडालकी कथा—

पोदनपुरमे राजा महाबल रहता था एक बार उसने नंदीश्वर पर्वमें आठ दिन के लिये जीव घात एवं मांस निषेध समस्त नगरमें घोषित किया । एक दिन राजाके पुत्रने ही मेढ़ेको मारकर खा लिया क्योंकि वह मांसलोलुपी था । उसके कृत्यका जब राजाको पता चला तब उसने उन्हे कठोर प्राण दण्डको सजा दी । न्यायप्रिय राजाका न्याय सचमुचमे सबके लिये समान होता है । कुमारको वध स्थान पर ले जानेको कहा और चंडालको मारनेके लिये बुलाया गया, वह दिन चतुर्दशी तिथिका था, यमपालने एक मुनिसे चतुर्दशीके दिन हिंसा नही करनेका नियम लिया था । उसने अपने नियमपर अडिग रहते हुए फासी देनेको मना करते हुए कहा कि मेरा आज अहिंसाव्रत है मैं यह काम नही कर सकता । राजाको क्रोध आया । राजाने कहा कि इन दोनोंको ले जाकर शिशुमार तालाबमें पोटली बांधकर फेक दो ।

राजाज्ञाके अनुसार कर्मचारियोंने दोनोंकी पृथक् पृथक् पोटली बांधकर तालाब में डाल दी । यमपालके अहिंसाव्रतके प्रभावसे उसको देवोंने जलसे निकालकर सिंहासन पर बिठाया और उसके अहिंसा व्रतमें दृढ़ रहनेकी भूरि-भूरि प्रशसा की । जो पापी मांसलोलुपी राजकुमार था, उसको तो सब मगरमच्छ खा गये । इसप्रकार एक दिनके अहिंसाव्रतसे चंडाल बड़ी भारी विभूति और आदरको प्राप्त हुआ तो जो विधिपूर्वक पूर्ण

छद-वंशस्थ—

परां सपर्यां ददती निरत्यये निवेशयन्ती बुधयाचिते पदे ।
करोत्यहिंसा जननीव पालिता सुखानि सर्वाणि रजांसि धुन्वती ।।८५१।।

।। इति अहिंसा महाव्रतं ।।

मुंचासत्यं वचः साधो ! चतुर्भेदमपि त्रिधा ।
संयमं विदधानोऽपि भाषादोषेण बाध्यते ।।८५२।।

प्रथमं तद्वचोऽसत्यं यत् सतः प्रतिषेधनम् ।
अकाले मरणं नास्ति नराणामिति यद्वचः ।।८५३।।

अहिंसा महाव्रतका पालन करेगा उस मुनिके विषयमे क्या कहना ? वह तो निर्वाणको प्राप्त करता है ।

अहिंसाव्रतके वर्णनका उपसंहार—

यह अहिंसा रूप जननी श्रेष्ठ पूजाको देती है, बुधजनोंके द्वारा याचित ऐसे अविनाशी पदमे प्रवेश कराती है, पापोका नाश कराती हुई सर्व सुखोको करती है इस-तरह अहिंसाका पालन करनेपर इच्छित फल मिलते है ।।८५१।।

सत्य महाव्रतका वर्णन—

हे साधो ! तुम मन, वचन, कायसे चार प्रकारके असत्यका त्याग करो, संयम को धारण करते हुए भी यह जीव भाषादोष–असत्य रूप दोषसे कर्मद्वारा बाधित होता है अर्थात् संयम पालन–अहिंसाका पालन करनेपर भी यदि असत्य बोलता है तो उसके कर्मबंध अवश्य होता है ।।८५२।।

चार प्रकारका असत्य कौन है सो बताते हैं—

पहला असत्य वह है जो सत् मौजूद वस्तुका निषेध करता है, जैसे मनुष्योंके अकालमें मरण नहीं होता ऐसा कहना प्रथम कोटिका असत्य है क्योंकि आगम (तथा तर्कसे) में मनुष्यके अकाल मरण होनेका कथन है और यह वचन उस सत् का अपलाप करता है अतः असत्य है ।।८५३।।

कलशोऽस्तीति यद्‌ब्रूते द्रव्यादीनां चतुष्टयम् ।
अपर्यालोच्य यत्प्रोक्तमभूतोद्भावकं जिनैः ॥८५४॥

द्वितीयं तद्वचोऽसत्यमभूतोद्भावनं मतम् ।
असत्यकाले सुराणां च मृत्युरित्येवमादि यत् ॥८५५॥

तृतीयं तद्वचोऽसत्यं यदनालोच्य भाषते ।
पदार्थमन्यजातीयं गौर्वाजीत्येवमादिकम् ॥८५६॥

सावद्यं गर्हितं वाक्यमप्रियं च मनीषिभिः ।
त्रिप्रकारमिति प्रोक्तं तुरीयकमसूनृतम् ॥८५७॥

अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इस चतुष्टयकी अपेक्षाओंका विचार न करके जो घट पहले था उसको वर्तमानमें है ऐसा कहना अभूत उद्भावक असत्य वचन है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ॥८५४॥

भावार्थ—घट पहले था उसको अभी है ऐसा कहना कालकी अपेक्षा किये बिना कहा गया अतः यह असत्य है, अमुक क्षेत्रमे है और अमुक क्षेत्रमें नहीं है इसका कुछ विचार नही करना विपरीत बोलना क्षेत्रकी अपेक्षा असत्य है, इसीप्रकार कृष्ण वर्णका घट है तो भी उसका सर्वथा निषेध करना कि घट है ही नहीं इत्यादि रूपसे पहले असत्यके विकल्प संभव है ।

अभूतके उद्‌भावन रूप दूसरा असत्य वह है कि देवोंके अकालमे मरण होता है ऐसा कहना । आगममें देवोंके अकालमरणका निषेध है अतः उसका अस्तित्व कहना असत्य वचन है इसीप्रकार अन्य उदाहरण भी समझना ॥८५५॥

पदार्थ अन्य जातिका है और उसको अन्य जातिका कहना तीसरा बिना सोचे कहा गया असत्य है । जैसे बैल है उसे यह घोड़ा है ऐसा कहना इसीतरह अन्य उदाहरणमें लगा लेना ॥८५६॥

चौथे असत्यके मनीषियोंने तीन भेद बताये हैं, सावद्य वचन, गर्हित वचन और अप्रिय वचन ॥८५७॥

कर्कशं निष्ठुरं हास्यं परुषं पिशुनं वचः ।
ईर्ष्यापरमसंबद्धं गर्हितं सकलं मतम् ॥८५८॥
प्राणिघातादयो दोषाः प्रवर्तंते यतोऽखिलाः ।
सावद्यं तद्वचो ज्ञेयं षड्विधारंभवर्णकम् ॥८५९॥
अवज्ञाकारणं वैरं कलहं त्रासवर्द्धकम् ।
अश्रव्यं कटूकं ज्ञेयमप्रियं वचनं बुधैः ॥८६०॥
रागद्वेष मद क्रोध लोभमोहादिसंभवं ।
वितथं वचनं हेयं संयतेन विशेषतः ॥८६१॥
विपरीतं ततः सत्यं काले कार्ये मितं हितम् ।
निर्भक्ताविकथं ब्रूहि तदेव वचनं शृणु ॥८६२॥
नरस्य चदन चंद्रचंद्रकांतमणिर्जलम् ।
न तथा कुरुते सौख्यं वचनं मधुरं यथा ॥८६३॥

कर्कश, निष्ठुर, हास्यमिश्रित, परुष, चुगली, ईर्षापरक और असबद्ध ये सब वचन गर्हित कहे जाते हैं ॥८५८॥

जिस वचनसे प्राणी वध आदि अखिल दोष उत्पन्न होते हैं वह सावद्य वचन है जो कि षट्काय जीवोंके आरंभका कथन करता है ॥८५९॥

अवज्ञाके कारण रूप वचन, वैर, कलह, त्रासको बढ़ानेवाले वचन, नहीं सुनने योग्य वचन, कटूक वचन ये सब अप्रिय वचन हैं, ऐसा बुद्धिमान् कहते है ॥८६०॥

राग, द्वेष, मद, क्रोध, लोभ, मोहादिसे उत्पन्न हुआ असत्य, वचन, सयत द्वारा विशेष रूपसे त्याज्य है ॥८६१॥

ऊपर कहे गये सब प्रकारके असत्य वचनसे विपरीत जो सत्य है ऐसे सत्य वचनको यथा समय कार्यवश हित और मितरूप बोलना चाहिये तथा जो भोजन कथा आदि विकथासे रहित है ऐसा वचन हे मुने ! तुम बोलना और ऐसे ही वचनको सुनना ॥८६२॥

इस मनुष्यको चंदन, चन्द्रमा और चन्द्रकांत मणिसे उत्पन्न हुआ जल वैसा सुख (शीतलता) नहीं करता है जैसा मधुर वचन सुख शांति करता है, शीतलता प्रदान करता है ॥८६३॥

स्वकीये परकीये वा धर्मकृत्ये विनश्यति ।
त्वमपृष्टो वदान्यत्र पृष्ट एव सदा वद ।।८६४।।
गदंति ऋषयः सत्यं याद्विद्या निखिलाः कृताः ।
तन्म्लेच्छस्यापि सिध्यन्ति सर्वदा सत्यवादिनः ।।८६५।।
वह्यते न हुताशेन न निमज्जति वारिणि ।
धन्यः सत्यबलोपेतो नरो नद्यापि नोह्यते ।।८६६।।
वश्या भवंति सत्येन देवताः प्रणमन्ति च ।
विमोचयन्ति सत्येन ग्रहतः पांति च स्फुटम् ।।८६७।।
नरो मातेव विश्वास्यः पूज्यो गुरुरिवाखिले ।
सत्यवादी प्रियो नित्यं स्वबंधुरिव जायते ।।८६८।।
भाषमाणो नरः सत्यं लभते प्रीतिमुत्तमाम् ।
बुधानंदकरीं कीर्ति शशांककरसुंदराम् ।।८६९।।

हे यते ! स्वकीय या परकीय धर्मकार्यका यदि नाश हो रहा हो तो उस समय तुम बिना पूछे, बिना कहे बोलना और अन्य समयमें पूछने पर ही बोलना ।।८६४।।

ऋषीजन सत्य ही बोलते है उनके द्वारा निखिल विद्यायें को गयो हैं, वे विद्यायें सत्यवादी म्लेच्छको भी सिद्ध होती हैं अर्थात् यदि मानव म्लेच्छ है किन्तु सत्य-भाषी है तो उसको भी विद्या सिद्ध हो जाती है फिर अन्यकी बात क्या ? ।।८६५।।

सत्य वचन रूप बल जिसके पास है वह धन्य मनुष्य अग्नि द्वारा नही जलता है, पानोमें नही डूबता, बड़े वेगसे बहनेवालो नदी उसे बहाके नही ले जा सकती ।।८६६।।

सत्यसे देवता वश हो जाते है नमस्कार करते हैं, सत्यके कारण देवता ग्रह-पिशाचसे छुड़वा देते हैं और रक्षा करते है ।।८६७।।

सत्यवादी मनुष्य माताके समान सबके द्वारा विश्वसनीय होता है, गुरुके समान पूज्य होता है और नित्य ही बंधुके समान प्रिय होता है ।।८६८।।

सत्य बोलने वाला मनुष्य उत्तम प्रीतिको प्राप्त करता है और विद्वान् को आनंद करनेवाली चन्द्र किरणके समान सुंदर कीर्तिको सत्यवादो ही प्राप्त करता है ।।८६९।।

गुणानामालयः सत्यं मत्स्यानामिव नीरधिः ।
प्रमाणमस्ति सत्येन वर्जितोऽपि गुणैः परैः ॥८७०॥

संपद्यंते गुणाः सत्ये संयमो नियमस्तपः ।
संयतोऽपि मृषावादो जायते तृणतो लघुः ॥८७१॥

मुंडो जटी शिखी नग्नश्चीवरी जायतां नरः ।
विडंबनाखिला सास्य वितथं यदि भाषते ॥८७२॥

कालकूटं यथान्नस्य यौवनस्य यथा जरा ।
गुणानां विद्धि सर्वेषां नाशक वितथं तथा ॥८७३॥

स्वमातुरप्यविश्वास्यो मृषाभाषणलालसः ।
शेषाणां किमु लोकानां न शत्रुरिव जायते ॥८७४॥

एकेनासत्यवाक्येन सत्यं बह्वपि हन्यते ।
सर्वत्र जायते नित्यं शंकितोऽसत्यभाषकः ॥८७५॥

सत्य गुणोंका आलय है, जैसे मछलियोका आलय-स्थान समुद्र है, अन्य गुणोंसे रहित होनेपर भी एक सत्यसे मनुष्य प्रमाणभूत माना जाता है ॥८७०॥

सत्यके होनेपर सर्वगुण प्राप्त होते है सयम, नियम और तपकी सिद्धि होती है, सयत भी यदि मृषावादी है तो वह तृणसे हीन हो जाता है ॥८७१॥

यह मनुष्य चाहे मुंडन कर लेवे, जटा धारण करे, नग्न हो जाय, गेरूआ आदि वस्त्र पहने, किन्तु यदि वह असत्य बोलता है तो उसका मुडन आदि सब ही कार्य विडंबना मात्र हो जाता है ॥८७२॥

जैसे अन्नका नाशक कालकूट विष है, यौवनकी नाशक जरा है, वैसे सर्व गुणों का नाशक असत्य भाषण है ॥८७३॥ झूठ बोलनेकी जिसकी आदत है ऐसे मनुष्यपर स्वयंकी माता भी विश्वास नही करती तो फिर शेष लोगोंका वह शत्रुके समान क्या नही होगा ? होगा ही ॥८७४॥

एक असत्य वाक्य द्वारा बहुतसा सत्य भी नष्ट हो जाता है। असत्यभाषी मानव सर्वत्र सदा शंकित बना रहता है अर्थात् असत्यवादीको सदा शंका रहती है कि मेरा असत्य प्रकट न हो जाय ॥८७५॥

अप्रत्ययो भयं वैरमकीर्तिर्मरणं कलिः ।
विषादो मत्सरः शोकः सर्वेऽसत्यस्य बांधवाः ॥८७६॥
आयासरसनाछेद सर्वस्वहरणादयः ।
इहासत्येन लभ्यंते परत्र नरकावनिः ॥८७७॥
कलिलस्यास्रवद्वारं वितथं कथितं जिनैः ।
निष्पापो हि वसुस्तेन श्रितेन नरकंगतः ॥८७८॥

अविश्वास, भय, बैर, अकीर्त्ति, मरण, विवाद, विषाद, मत्सर और शोक ये सब असत्यके बंधुजन है ॥६७६॥ असत्य बोलनेसे इस लोकमें महाभयानक कष्ट जिह्वा छेद और सर्वस्व हरण हो जाता है और परलोकमें नरकगतिकी प्राप्ति होती है ॥८७७॥

असत्य पापोंका आस्रव द्वार है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है, क्योकि इसका आश्रय लेनेसे निष्पाप वसु राजा नरकमें गया ॥८७८॥

राजा वसुकी कथा

स्वस्तिकावती नगरीमें राजा विश्वावसु राज्य करता था उसके पुत्रका नाम वसु था। वसु राजपुत्र एक ब्राह्मण पुत्र नारद ये क्षीरकदंब उपाध्यायके पास पढे थे, उपाध्यायका पुत्र पर्वत भी उन दोनोके साथ पढा, समय पर क्षीरकदवने दीक्षा ली, राजा विश्वावसु ने भी दीक्षा ली। अब वसु राजा बन गया। एक दिन पर्वत और नारदमें "अजैर्यष्टव्यं" इस शास्त्र वाक्य पर विवाद हुआ, पापी पर्वतने इस वाक्यका अर्थ बकरोंसे हवन करना अर्थात् पशुयज्ञ करना ऐसा किया और दयालु नारदने पुराने धान्योंसे हवन करना ऐसा किया। नारदका अर्थ करना बिलकुल सत्य था। पर्वतका कहना झूठा था। दोनों विवाद करते हुए राजा वसुके पास पहुँचे दोनोंने अपनी बात रखी। यद्यपि राजा जान रहा था कि नारदका कहना सत्य है तो भी उसने पर्वतकी पक्ष ली क्योंकि वह पर्वतकी मातासे वचनबद्ध हुआ था कि मैं पर्वतकी पक्षमें बोलूँगा। जब राजसिंहासन पर बैठे हुए पर्वतकी पक्ष लेकर वसु झूठ बोलता है तो उस महापाप-रूप असत्य भाषणसे उसका सिंहासन पृथ्वीमें धस गया और वसु वहाँपर घुटकर तत्काल मरा और नरकमें चला गया। इसतरह असत्यके कारण घोर यातना वसुको भोगनी पड़ी।

वसुराजाकी कथा समाप्त।

असत्यवादिनो दोषाः परत्रापि भवन्ति ते ।
मुंचतोऽपि प्रयत्नेन मृषाभाषादिदूषणम् ।।८७९।।

ये संति वचनेऽलीके दोषा दुःखविधायिनः ।
त एव कथिता जैनैः सकलाः कर्कशादिकाः ।।८८०।।

असत्यमोचिनो दोषा मुंचंति सकला इमे ।
तद्विपक्षा गुणाः सर्वे लभ्यन्ते बुधपूजिताः ।।८८१।।

छंद :—

भवभयविचयनवितथविमोची निरुपमसुखकरजिनमतरोची ।
परमं दवयति कलिलमशेषं वशयति मुनिनुतवचनविशेषम् ।।८८२।।

इति सत्यमहाव्रतं ।

इस लोकमे जो असत्यवादी हैं उसके अविश्वास आदि जो दोष बताये है वे परलोकमे भी होते हैं भले ही वहाँ परलोकमें असत्य आदि को प्रयत्नसे छोड़ने वाला हो अर्थात् यहां असत्य भाषण किया और परलोकमे नहीं किया तो भी उसपर आरोप होता है कि इसने झूठ बोला था, इसपर कोई विश्वास नही करता था इत्यादि ।।८७९।।

असत्य वचनमे जो दु खदायी दोष होते है वे ही सब दोष कर्कश, कलह आदि रूप वचनोमे होते है ऐसा जिनेन्द्रने कहा है ।।८८०।।

जो असत्यका त्यागी है उसके पूर्वोक्त अविश्वास आदि सब दोष छूट जाते है और उन दोषोंसे विपरीत विश्वासपात्र होना, विरोध नही होना, सर्वप्रिय होना इत्यादि ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा पूजित रूप सर्वगुण प्राप्त होते है ।।८८१।। ससारके भय समूहका कारण जो असत्य है उस असत्यका जो त्यागी है और निरुपम सुखकर ऐसे जिनमतकी जो रुचि करता है ऐसा वह महापुरुष-मुनि सर्व पापोंको दूर करता है अथवा पापको नष्ट करनेके लिये वह दव-अग्निके समान है, तथा मुनि द्वारा स्तुत्य ऐसे वचन विशेषको वह सत्यवादी वश करता है ।।८८२।।

सत्य महाव्रतका वर्णन समाप्त ।

बह्वल्पं च परद्रव्यमदत्तं मा ग्रहीस्त्रिधा ।
व्रतस्य ध्वंसने शक्तं दंतानामपि शोधनम् ॥८८३॥
दूरस्थितं फलं रक्तं यथा तृप्तोऽपि मर्कटः ।
ग्रहीतुं धावते दृष्ट्वा भूयो यद्यपि मोक्ष्यति ॥८८४॥
तथा निरीक्षते द्रव्यं यद्यत्तत्तज्जिघृक्षति ।
जीवस्त्रिलोकलाभेऽपि लोभग्रस्तो न तृप्यति ॥८८५॥
यथा विवर्द्धते वातः क्षणेन प्रथते यथा ।
प्रथते क्षणतो लोभस्तथा मंदोऽपि देहिनः ॥८८६॥
प्रवृद्धे च ततो लोभे कृत्याकृत्यविचारकः ।
स्वस्य मृत्युमजानानः साहसं कुरुते परं ॥८८७॥
सर्वोप्यथ हृते द्रव्ये पुरुषो गतचेतनः ।
शक्तिविद्ध इव स्वान्ते सदा दुःखायते तराम् ॥८८८॥

हे साधो ! तुम बहुत हो या अल्प किसी भी परद्रव्यको मन, वचन, कायसे बिना दिये ग्रहण मत करना, दांतोंका शोधन करने वाली वस्तु भी यदि बिना दिये ली जाय तो वह व्रतका नाश करनेमे समर्थ है ॥८८३॥

जैसे तृप्त हुआ भी बंदर है किन्तु वह दूरमें स्थित लाल फलको देखकर ग्रहण करनेके लिये दौड़ता है भले ही पीछे छोड़ देगा । वैसे लोभ ग्रस्त जीव जो जो वस्तु देखता है उसी उसीको ग्रहण करना चाहता है, वह तो तीन लोकका लाभ होनेपर भी तृप्त नही होता है ॥८८४।८८५॥

जैसे वायु क्षणमें बढती है विस्तीर्ण होती है वैसे जीवका मंदभी लोभ क्षण मात्रमें बढ़ता है तीव्र होता है ॥८८६॥

इसतरह लोभके वृद्धिगत हो जानेपर कृत्य और अकृत्यको विचारने वाला पुरुष अपनी मृत्युको नहीं जानता हुआ अति साहस करता है ॥८८७॥

द्रव्यके चुराये जानेपर सर्व ही पुरुष मृत्यु जैसी अवस्थाको प्राप्त होता है, वह सदा मनमें अत्यंत दुःखका वेदन करता है, जैसे शक्ति नामके शस्त्रसे विद्ध हुआ पुरुष अत्यंत दुःखी होता है ॥८८८॥

द्रविणे प्रहिलीभूय म्रियतेऽथ हृते नरः ।
हाकारमुखरः क्षिप्रं नृणामर्थो हि जीवितम् ॥८८९॥

विशंति पर्वतेऽम्भोधौ युद्धदुर्गवनादिषु ।
त्यजंति द्रव्यलोभेन जीवितं बांधवानपि ॥८९०॥

विद्यमाने धने लोका जीवन्ति सहबंधुभिः ।
तस्मिन्नपहृते तेषां सर्वेषां जीवितं हृतम् ॥८९१॥

न विश्वासो दया लज्जा संति चौरस्य मानसे ।
नाकृत्यं धनलुब्धस्य तस्य किंचन विद्यते ॥८९२॥

अपराधे कृतेऽप्यत्र पक्षे लोकोऽपि जायते ।
बंधवोऽपि न चौरस्य पक्षे संति कदाचन ॥८९३॥

धनके चुराये जानेपर यह मनुष्य पागल होकर हा हा कार करता हुआ शीघ्र ही मर जाता है, क्योंकि मनुष्योंका जीवन धन है ॥८८९॥

धनके लोभसे ये संसारी प्राणी पर्वत पर चढ जाते है, समुद्रमे प्रवेश करते हैं, युद्ध भूमि, दुर्ग, वनादिमें प्रवेश कर जाते है और जोवन तथा बधुजनोंको भी छोड़ देते है ॥८९०॥

परके धन चुरानेपर इसप्रकार वह जीव कष्ट उठाता है जिसका कि धन चोरीमें गया है, इसतरह आचार्य देव चोरीसे होनेवाली महान् हानिको दिखला रहे है । आगे और भी कहते हैं कि यह संसारी लोक धन होनेपर बधुजनोके साथ सुखपूर्वक जीवित रहते है, ऐसे उस धनके अपहरण करनेपर सभी बंधुजनोका जीवन ही अपहरण किया ऐसा समझना चाहिये अर्थात् जिसने किसीकी चोरी की उसने उसका और उसके समस्त परिवारके जीवनका नाश किया ऐसा समझना चाहिये ॥८९१॥

चोरके मनमें विश्वास दया और लज्जा नहीं रहती है, उस धन लोभीके तो कोई अकार्य ही नही रहता जिसको कि वह नहीं करे ॥८९२॥

यदि कोई हिंसा आदि अन्य अपराध करे तो उसके पक्षमें लोक कदाचित हो जाते हैं किन्तु चोरके पक्षमें बांधव भी नहीं होते हैं ॥८९३॥ अन्य कोई दोष करने पर

वितरंति जनाः स्थानं दोषेऽन्यत्र कृते सति ।
स्तेये पुनर्न मातापि पुत्रपातकदायिनि ॥८९४॥

द्रव्यापहरणं द्वारं पापस्य परमिष्यते ।
सर्वेभ्यः पापकारिभ्यः पापीयांस्तस्करो मतः ॥८९५॥

आश्रयं स्वजनं मित्रं दुराचारो मलिम्लुचः ।
सर्वं पातयते दोषे दुष्पमे दुर्यशस्यपि ॥८९६॥

वधं बंधं भयं रोधं सर्वस्वहरणं मृतिम् ।
विषादं यातना लोके तस्करो लभते स्वयम् ॥८९७॥

शंकमानमना निद्रां तस्करो जातु नाश्नुते ।
कुरंग इव वित्रस्तो वीक्षते सकला दिशः ॥८९८॥

आकर्ण्य मूषिकस्यापि शब्दं शंकित मानसः ।
धावते सर्वतः सद्यः स्खलन्स्वमरणाकुलः ॥८९९॥

लोक उस सदोष को रहने हेतु स्थान देते है किन्तु अत्यंत पापदायक चोरीके करनेपर उस चोरको माता भी रहनेके लिये स्थान नहीं देती है ॥८९४॥

पापका सर्वोत्कृष्ट द्वार पराये धनको चुराना है । समस्त पापी जीवोमें अधिक पापी चोर है ऐसा माना गया है ॥८९५॥

चोरका दुराचार अर्थात् चोरी रूप जो पाप है वह उसके सर्व ही आश्रयभूत स्वजनको और मित्रको भी भयंकर दोष–कष्ट और अपयशमें डाल देता है ॥८९६॥

इस लोकमें चोर स्वयं वध, बंध, भय, रोध, सर्वस्वहरण, मरण, विषाद और यातनाको प्राप्त होता है ॥८९७॥

चोर शंकित मनयुक्त हुआ कदाचित् भी निद्राको नहीं ले पाता । वह हिरणके समान भयभीत हुआ संपूर्ण दिशाओंको देखता रहता है (कि कहीसे कोई पकड़नेको न आजाय) ॥८९८॥

चोर सदा ही शंकित मनयुक्त हुआ चूहेके शब्दको सुनकर तत्काल मरणकी शंकासे आकुल हो स्खलित हुआ चारों तरफ दौड़ने लग जाता है ॥८९९॥

अदत्ते तृणमात्रेऽपि गृहीते संयतोऽपि ना ।
अप्रत्येयो यथा स्तेनस्तृणतो जायते लघुः ॥६००॥
विधाय पुरुषः स्तेयं नारकीं वसतिं गतः ।
सहते वेदनास्तत्र चिरकालं सुदुःसहाः ॥६०१॥
लभते दारुणं दुःखं स्तेनस्तिर्यग्गतावपि ।
प्राप्नोति प्रायशः पापो योनीं नीचामसौ चिरम् ॥६०२॥
नृत्वेऽहृता हृता वार्थाः पलायंतेऽखिलाः स्वयम् ।
न चीयंते प्रयत्नेऽपि स्वयं यास्यति वा ततः ॥६०३॥
श्रीभूतिर्महतीं प्राप्य पुरमध्ये विडम्बनाम् ।
परद्रव्यरतो दीनः प्रपेदे दीर्घसंसृतिम् ॥६०४॥

कोई संयमी मुनि है और वह बिना दिये तिनके मात्रको भी ग्रहण करता है तो चोरके समान अविश्वस्त हो जाता है तथा तृणसे भी हीन हो जाता है ॥६००॥ जो पुरुष चोरी करता है वह नरकमें जाता है और वहांपर चिरकाल तक घोर वेदनाको सहता है ॥६०१॥

चोर तिर्यंचगतिमें भी दारुण दु.ख उठाता है । यह पापो प्राय· नीच योनिको ही चिरकाल तक प्राप्त करता है ॥९०२॥

चौर्य पाप करनेवाला व्यक्ति कदाचित् मरकर पुनः मनुष्य भी हो जाय अथवा अनेक कुगतिमे भ्रमण कर कदाचित् पुनः मनुष्य हो जाय तो उसका धन चोरीमें चला जाता है अथवा बिना चोरीके संपूर्ण धन अपने आप नष्ट हो जाता है । कितना भी प्रयत्न करो किन्तु उसका धन बढता नही, जो है वह स्वय चला जाता है ॥६०३॥

पराये धनमें आसक्त हुआ श्रीभूति नामका ब्राह्मण नगरमे बड़ी भारी विडंबना तिरस्कारको प्राप्त करके दीन हुआ अंतमे दीर्घ ससारको प्राप्त हुआ अर्थात् बहुत काल-तक संसारमें भ्रमण करता रहा ॥६०४॥

श्रीभूतिकी कथा—

भरतक्षेत्रके सिंहपुर नगरमें सिंहसेन राजा रहता था, उसकी रानीका नाम रामदत्ता और पुरोहितका नाम श्रीभूति था । श्रीभूति जनेऊमें कैंची बांधकर घूमा

एते दोषा न जायंते परद्रव्यविवर्जने ।
तद्विपक्षा गुणाः सन्ति सुंदरा दत्त भोजिनः ।।६०५।।
इंद्रराज गृहस्वामि देवतासमर्धार्मिभिः ।
वितीर्णं विधिना ग्राह्यं रत्नत्रितयवर्धकम् ।।६०६।।

करता और कहता था कि यदि मैं असत्य बोल जाऊँ तो इस कैंचीसे अपनी जीभ काट दूंगा । इससे उसकी सत्यवादीसे सत्यघोष है ऐसा नाम प्रसिद्ध हुआ । एक दिन एक समुद्रदत्त सेठ उसके पास बहुमूल्य पांच रत्न रखकर कमानेके लिये विदेश गया, कमाकर जहाजमें बैठकर आरहा था कि जहाज डूब गया, किसी लकड़ीके सहारे सेठ किनारे पहुँचा । वह अपने रत्न लेनेके लिये सत्यघोषके पास गया किन्तु उसने कहा तुम्हारे कोई भी रत्न मेरे पास नहीं है, इसप्रकार कहकर श्रीभूति-सत्यघोषने बिचारेको घरसे निकाल दिया । वह रोता हुआ नगरमें घूमने लगा, वह एक बात कहता जाता था कि इस सत्यघोषने मेरे पाच रत्न लिये है, वह प्रतिदिन राजमहलके पासके वृक्षपर बैठकर यही बात कहता । एक समय रानी रामदत्ताने सोचा कि यह पागल नही है, रोज एक ही बात करता है, इसकी परीक्षा करनी चाहिये, रामदत्ताने सत्यघोषको जुआमें हराकर उसकी जनेऊ घरमें भेजकर चुपकेसे रत्न मंगा लिये । राजाने उनको और रत्नोंमें मिलाकर समुद्रदत्त को दिखाये, उसने अपने हो रत्न लिये उससे राजाको निश्चय हुआ कि यह सत्य कह रहा है । फिर राजाको श्रीभूति पर बड़ा क्रोध आया । उसके लिये तीन थाल गोबर खाना, पहलवानोके तीन मुक्के खाना या समस्त धन देना ये तीन दण्डोमेंसे एक दण्ड स्वीकार करनेको कहा । वह पापो पहलवानके मुक्के खाते हुए मर गया और नरकमे चला गया ।

कथा समाप्त ।

दत्तभोजी अर्थात् श्रावक द्वारा दिये हुए भोजनको करनेवाले मुनिके परद्रव्य का त्याग कर देनेसे ऊपर कहे सर्व दोष नही होते है किन्तु उन दोषोंके विपक्षी जो गुण हैं वे सब प्राप्त होते है ।।६०५।।

साधुओंको इन्द्र, राजा, गृहस्थ, देवता और साधर्मीजनोंके द्वारा विधिपूर्वक दिया गया एवं रत्नत्रयकी वृद्धि करनेवाला ऐसा पदार्थ ही ग्राह्य बताया है ।।६०६।।

छंद-वंशस्थ—

विमुंचते यः परवित्तमंजसा निरीक्ष्यमाणं सदृशं मृदा सदा ।
अनन्यसाधारणभूतिभूषितः स याति निर्वाणमपास्तकल्मषः ।।६०७।।

इति अचौर्य महाव्रतं ।

अब्रह्म दशधा त्यक्त्वा रामावैराग्यपंचके ।
निवेश्य मानसं पाहि ब्रह्मचर्यमनारतम् ।।६०८।।

निरस्तांगांगरागस्य स्वदेहेऽपि विरागिणः ।
जीवे ब्रह्मणि या चर्या ब्रह्मचर्यं तदीर्यते ।।६०९।।

गद्य—स्त्रीरूपाद्यभिलाषवस्तिमोक्षणवृष्याहार सेवनतत्संसक्तद्रव्यानुरागतद्वारांगनिरीक्षण-सत्कार संस्कारादरतातीतरतस्मरणानागताभिलषणेष्टविषयनिषेवणस्वरूपं दश-विधमब्रह्म मंतव्यम् ।।६१०।।

जो पुरुष परके धनको मिट्टीके समान देखता हुआ सदा ही भलीप्रकारसे छोड़ देता है वह अन्यमे नहीं पाये जानेवाली ऐसी विभूतिसे भूषित हुआ तथा पाप जिसका नष्ट हो चुका है ऐसा होकर निर्वाणको जाता है अर्थात् अचौर्य व्रतके प्रभावसे मुक्तिको प्राप्त करता है ।।६०७।।

इति चौर्य वर्णन समाप्त ।

अथ ब्रह्मचर्य वर्णन—

हे क्षपक ! तुम दशप्रकारके अब्रह्मका त्याग करके पाच प्रकारके स्त्री संबंधी वैराग्यमें मन को लगाकर सतत् ब्रह्मचर्य व्रतकी रक्षा करो ।।६०८।।

अपने और स्त्रीके शरीरके रागको जिसने नष्ट कर दिया है ऐसे विरागी मुनि के अपने आत्मारूप ब्रह्ममे जो चर्या होती है उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं ।।६०९।।

अब दस प्रकारका अब्रह्म गद्यसे बताते है—स्त्रीके मनोहर रूप देखनेकी अभिलाषा होना यह अब्रह्मका पहला भेद है, वस्तिमोक्षण–लिंगमें विकार होना, वृष्याहार सेवन, गरिष्ठ आहारका सेवन, स्त्रीके द्वारा संसक्त हुए शय्या आदिमें

आपाते मधुरं रम्यमब्रह्म वशधाप्यवः ।
विपाके कटुकं ज्ञेयं किंपाकमिव सर्वदा ॥६११॥
दोषाः कामस्य नारीणामाशौचं वृद्धसंगतिः ।
संगदोषाश्च कुर्वंति स्त्रीवैराग्यं तपस्विनः ॥६१२॥
दृश्यंते भुवने दोषा यावन्तो दुःखदायिनः ।
पुरुषस्य क्रियन्ते ते सर्वे मैथुनसज्ञया ॥६१३॥

छंद-मोटक—

ध्यायति शोचति सीदति रोदिति, वल्गति भ्राम्यति नृत्यति गायति ।
क्लाम्यति माद्यति रुष्यति तुष्यति, जल्पति कामवशो विमना बहु ॥६१४॥

अनुराग होना, स्त्रीके सुन्दर अंगोंका निरीक्षण, स्त्रोका सत्कार करना, स्त्रोका वस्त्रादिसे संस्कार करनेमें आदरभाव होना, अतीतमें भोगे हुएका स्मरण, आगामीकालमें भोगनेकी अभिलाषा और अपनेको इष्ट लगनेवाले विषयोंका सेवन करना ये दस अब्रह्म हैं ॥९१०॥

ये दस ही प्रकारका अब्रह्म तत्काल तो मधुर और रम्य मालूम होता है किन्तु उदयकालमे सर्वदा कटुक फलदायी होता है, जैसे किंपाक फल तत्काल मधुर लगता है किन्तु विपाकमें अत्यत कटुक–प्राणोका घातक होता है ॥६११॥

कामके दोष, स्त्रियोंके दोष, शरीरके दोष, वृद्ध सगति और संग–संगतिके दोष इसप्रकार ये पांच बाते मुनिको स्त्रियोसे वैराग्य भावको कराने वाली है ॥९१२॥

आगे सर्वप्रथम कामके दोषोंका विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं—

इस संसारमे जितने दुःखदायी दोष दिखायी देते हैं वे सब पुरुषके मैथुन संज्ञासे किये जाते है ॥६१३॥

कामके वशमें हुआ विक्षिप्त पुरुष अपनी इष्ट स्त्रीका ध्यान करता है, वह न मिले तो शोच करता है, पीड़ित होता है, रोता है, बकता है, भ्रमित होता है, नाचता है, गाता है, खिन्न होता है, मत्त होता है, कुपित होता है, कभी मिलनेकी आशा हो जाय तो संतुष्ट होता है, व्यर्थ ही बोलने लगता है तथा उसको कभी पसीना आता है,

छंद-स्रग्विणी—

स्विद्यते खिद्यते तप्यते मुह्यते, याचते सेवते मोदते धावते ।
मुंचते गौरवं गाहते लाघवं, किं न मर्त्यो विधत्ते मनोजातुरः ॥६१५॥

आसने शयने स्थाने नगरे भवने वने ।
स्वजनेऽन्यजने कामी रमते नास्तचेतनः ॥६१६॥

न रात्रौ न दिवा शेते न भुंक्ते न सुखायते ।
दष्टः कामभुजंगेन न जानाति हिताहिते ॥६१७॥

कामाकुलितचित्तस्य मुहूर्तो वत्सरायते ।
सर्वदोत्कंठमानस्य भवनं काननायते ॥६१८॥

हस्तन्यस्तकपोलोऽसौ दीनो ध्यायति संततम् ।
प्रस्विद्यति तुषारेऽपि कंपते कारणं विना ॥६१९॥

खेदित होता है, सताप करता है, मोहित होता है, याचना करता है, सेवा करता है, इष्ट स्त्रीके दिखनेपर हर्षित होता है, दौड़ता है, अपने जाति कुलादिके गौरवको छोड़ देता है, हीनताको प्राप्त होता है कामातुर हुआ मानव क्या-क्या नही करता ? सब कुछ अयोग्य कर डालता है ॥६१४॥६१५॥

कामके द्वारा नष्ट हो गयी चेतना जिसकी ऐसा कामी पुरुष आसनमे, शयनमें, स्थानमें, नगरमे, भवनमें, वनमें, स्वजनमें और परजनमे कही भी नही रमता है ॥६१६॥

न रातमें सोता है और न दिनमे भोजन करता है न कही सुखका अनुभव करता है, कामरूपी सर्प द्वारा काटा गया पुरुष हित अहितको नही जानता है । काम वासनासे आकुलित चित्तवाले मनुष्यको एक मुहूर्त्तकाल वर्ष जैसा लगता है सर्वदा उत्कठित मनवाले उस पुरुषको सुंदर महल वनके समान प्रतीत होता है ॥६१७।६१८॥

यह कामी पुरुष सतत् अपनी इष्ट स्त्रीके हाथको कपोलमें रखकर ध्यान करता है, उसे तुषार पड़नेपर भी अर्थात् शीतके समय भी पसीना आने लगता है और वह कारणके बिना ही कांपने लगता है ॥६१९॥

अरत्यग्निशिखाजालैर्ज्वलद्भिरनिवारितैः ।
सोन्तर्विदह्यते पीतैस्तप्तैस्ताम्रद्रवैरिव ।।६२०।।

मंदायते मतिर्याति सद्यो वचनकौशलं ।
मदनेन ज्वरेणेव बाधितस्य वितापिना ।।६२१।।

काम्यमानं जनं कामी यदा न लभते कुधीः ।
मुमूर्षति तदोद्विग्नो नगप्रपतनादिभिः ।।६२२।।

संकल्पांडक जातेन विषयच्छिद्रवासिना ।
रागद्वेषद्विजिह्वेन वृद्धचिंतामहाक्रुधा ।।६२३।।

दष्टकामभुजंगेन लज्जानिर्मोकमोचिना ।
दर्पदंष्ट्राकरालेन रतिवक्त्रेण नश्यति ।।६२४।।

कामी पुरुष जिसका निवारण अशक्य है ऐसे जाज्वल्यमान अरतिरूप अग्निके शिखाजाल द्वारा अन्तरमें जलता रहता है, मानो उसने तपाया हुआ तांबेका पिघला हुआ रस ही पी लिया हो । अर्थात् जैसे तांबेके पिघले खोलते हुए रसको पीनेसे अंदर में भयंकर दाह होती है वैसे कामरूपी अग्नि द्वारा पुरुषको अंदरमें भयंकर दाह होती है ।।६२०।।

कामीकी बुद्धि मंद हो जाती है, तत्काल ही वचन कौशल नष्ट हो जाता है, संतापकारक मदनके ज्वरसे पीड़ित हुए पुरुषकी यह स्थिति होती है ।।६२१।। यह खोटी बुद्धिवाला कामी जब इच्छित स्त्री जनको प्राप्त नहीं कर पाता तब दुःखी हुआ पर्वतसे गिरना आदि क्रिया द्वारा मरना चाहता है ।।६२२।।

जो संकल्प रूप अंडेसे पैदा हुआ है, विषयरूप वामीमे बिलमे रहता है और बढ़ती हुई चितासे जो महाक्रोधित है ऐसे रागद्वेष रूप दो जीभवाले कामरूप सर्पद्वारा जो काटा जा चुका है, कैसा है यह कामसर्प ? लज्जारूपी काचुली जिसने छोड़ दी है, दर्परूपी भयंकर जिसकी दाढ़ है और रतिरूप मुख है ऐसे कामवासना रूप कराल सर्पसे काटा हुआ पुरुष शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ।।६२३।६२४।।

आशीविषेण दष्टस्य सप्तवेगाः शरीरिणः ।
दष्टस्य स्मरसर्पेण जायंते दश दुःसहा ।।६२५।।

शोचति प्रथमे वेगे द्वितीये तां दिदृक्षते ।
तृतीये निश्वसित्युच्चैर्ज्वरस्तुर्ये प्रवर्तते ।।६२६।।

दह्यते पंचमे गात्रं भक्तं षठे न रोचते ।
प्रयाति सप्तमे मूर्च्छामुन्मत्तो जायतेऽष्टमे ।।६२७।।

आशीविष सर्प द्वारा काटे हुए प्राणोके तो सात ही वेग होते है किन्तु काम-रूपी सर्प द्वारा काटे हुए पुरुषके दश भयकर वेग हुआ करते है ।।६२५।।

भावार्थ—भयंकर विषैले सर्प या आशीविष नामके सर्पके काटनेपर उस विषाक्त पुरुषके शरीरमे विषके उद्रेक रूप वेग सात आते हैं । प्रथम वेगमें उस पुरुषका रक्त काला पीला हो जाता है, नेत्र मुख आदिमे कीड़े चल रहे हों ऐसा लगता है । दूसरे वेगमे शरीरमें गांठे पड़ गयी हो ऐसा लगता है । तीसरे वेगमे मस्तक भारी होता है तथा नेत्र बंद करता है । चौथे वेगमें थूकता है तथा उल्टी करता है, नीद आती है । पांचवेमे दाह पैदा होती है, हिचको आती है । छठे वेगमे हृदय पीड़ा होने लगती है शरीर भारी होता है मूर्च्छा आती है और सातवे वेगमे पीठ कमर आदि भग्न होते है तथा शरीरकी सर्व चेष्टाये समाप्त हो जाती है ।

अब यहांपर कामके दश वेग बतलाते है—

किसी स्त्रीको देखकर पुरुषके मनमें काम वासना उत्पन्न होती है उसमें दश अवस्थायें होती है दश प्रकारको चेष्टाये वह कामो करने लग जाता है उन्हीको कामके दश वेग कहते है । पहले वेगमे कामी शोकयुक्त होता है, दूसरे वेगमे उस इष्ट स्त्रीको देखनेकी इच्छा करता है । तीसरे वेगमें जोर-जोरसे श्वास लेने लगता है । चौथे वेगमें ज्वर आ जाता है ।।६२६।। पांचवे वेगमे शरीर जलने लगता है । छठे वेगमें भोजन नही रुचता । सातवेंमें मूर्च्छा आती है । आठवेमें पागल होता है ।।६२७।।

नौवे वेगमे कुछ जान नहीं पाता है और दसवेमे प्राणोंको छोड़ देता है । ये वेग संकल्प-वासनाके अनुसार तीव्र या मंद हुआ करते हैं आशय यह है कि किसी कामी को मंद रूप किसी कामीको तीव्ररूप वेग होते हैं तथा किसोको एक या दो या तीन

न वेत्ति नवमे किंचिद्दशमे मुच्यतेऽसुभिः ।
सकल्पतस्ततो वेगास्तीव्रा मंदा भवंति वा ।।६२८।।
ज्येष्ठे सूर्यः सिते पक्षे मध्याह्ने विमलेऽम्बरे ।
नरं दहति नो तद्वद्वर्धमानो यथा स्मरः ।।६२६।।
दिवसे प्लोषते सूर्यो मनोवासो दिवा निशम् ।
अस्ति प्रच्छादनं सूर्ये मनोवासिनि नो पुनः ।।६३०।।
वह्निर्विध्याप्यते नीरैर्मन्मथो न कदाचन ।
प्रप्लोषते बहिर्वह्निर्बहिरन्तश्च मन्मथः ।।६३१।।
बंधुं जातिं कुलं धर्मं संवासं मदनातुरः ।
अवमन्य नरः सर्वं कुरुते कर्म निंदितम् ।।६३२।।
पिशाचेनेव कामेन व्याकुलीकृतमानसः ।
हिताहितं न जानाति निर्विवेकीकृतोऽधमः ।।६३३।।

वेग आकर रुक जाते है, गुरुजनोंसे शिक्षाको प्राप्तकर वह कामी सँभल भी जाता है ।।९२८।।

जेष्ठका मास हो, शुक्ल पक्ष हो, मध्याह्नका समय हो तथा आकाश मेघ रहित हो, उस समयका सूर्य भी मानवको वैसा संतापकारी नही होता है जैसा बढता हुआ काम सतापकारी होता है ।।९२९।। सूर्य तो दिनमे ही सुखाता है किन्तु काम रात-दिन सुखाता है–कष्ट देता है । सूर्यके सतापका प्रच्छादन तो है (छाता वगैरह) किन्तु कामके संतापका प्रच्छादन नही है ।।६३०।।

अग्निको जलद्वारा बुझाया जाता है किन्तु कामाग्नि किसीके द्वारा नहीं बुझतो । अग्नि तो बाहर ही अर्थात् शरीरको ही जलाती है किन्तु कामाग्नि अदर और बाहर आत्मा और शरीर दोनोको जलाती है ।।९३१।। कामी पुरुष अपने बंधुजन जाति, कुल, धर्म और संवास इन सबका तिरस्कार करके निंद्य कर्मको करता है ।।६३२।।

पिशाचके समान कामद्वारा व्याकुल कर दिया है मानस जिसका ऐसा तथा जिसको विवेक रहित कर दिया है ऐसा अधम कामासक्त पुरुष हित और अहितको नहीं

नोपकारं कुलीनोऽपि कृतघ्न इव मन्यते ।
लज्जालुरपि निर्लज्जो जायते मदनातुरः ॥६३४॥

स्तेनो वा जागरूकेभ्यः संयतेभ्यः प्रकुप्यति ।
हितोपदेशिनं कामी द्विषन्तमिव पश्यति ॥६३५॥

सूर्योपाध्यायसंघानां जायते प्रतिकूलिकः ।
धार्मिकत्वं परित्यज्य प्रेर्यमाणो मनोभुवा ॥६३६॥

महात्म्यं भुवनख्यातिं श्रुतलाभं च मुंचति ।
सतृणावज्ञया सारं मोहाच्छादित चेतनः ॥६३७॥

जीर्णं तृणमिव मुख्यं चतुरंगं विमुंचतः ।
नाकृत्यं विद्यते किंचिज्जिघृक्षोर्विषयामिषम् ॥६३८॥

गृह्णात्यवर्णवादं यः पूज्यानां परमेष्ठिनाम् ।
अकृत्यं कुर्वतस्तस्य मर्यादा कामिनः कुतः । ६३९॥

जान पाता है ॥६३३॥ कामी कुलीन होनेपर भी कृतघ्नी पुरुषके समान अपने उपकारी का उपकार नही मानता तथा लज्जायुक्त होनेपर भी कामसे निर्लज्ज हो जाता है ॥६३४॥

जैसे चोर जागनेवाले व्यक्ति पर कुपित होता है वैसे कामी पुरुष सयमी मुनि-जनोंपर कुपित होता है। अपने लिये हितकर बात कहने वाले को यह कामी शत्रुके समान देखता है ॥६३५॥

कामसे प्रेरित हुआ पुरुष–[मुनि] धार्मिकपनेको [व्रताचरण आदिको] छोड़कर आचार्य उपाध्याय और संघके प्रतिकूल हो जाता है ॥६३६॥ मोहसे आच्छादित हो गयी है चेतना जिसकी ऐसा कामी अपना माहात्म्य लोक प्रसिद्धि और सारभूत श्रुतलाभ–शास्त्रज्ञान इन सबकी तृणके समान अवज्ञा करके इन्हें छोड़ देता है ॥६३७॥ सम्यक्त्व आराधना आदि चार आराधना जो कि मोक्ष मार्गमे प्रमुख है, उसको भी जीर्ण तृणके समान कामी छोड़ देता है, ठीक है, विषयामिषको चाहनेवाले के लिये कुछ भी अकृत्य नहीं रहता अर्थात् वह नहीं करने योग्य कार्यको करता ही है

स दुःखमयशोऽनर्थं कल्मषं द्रविणक्षयम् ।
संसारसागरेऽनंते भ्रमणं च न मन्यते ।।६४०।।

उच्चोऽपि सेवते नीचं विषयामिषकांक्षया ।
स्मरार्तः सहतेऽवज्ञां मानवानपि मानवः ।।६४१।।

कुलीनो निंदितं कर्म कुरुते विषयाशया ।
जिघृक्षुर्नर्तकीं वृत्तं चारित्रं त्यक्तवान्न किं ।।६४२।।

।।९३८।। जो कामी पूज्य पचपरमेष्ठियोंके अवर्णवादको करता है उस कामीके अकार्य करते हुए मर्यादा कहाँसे होगी ? कामी तो सब मर्यादाओंको भंग कर डालता है ।।६३६।।

भावार्थ—कामीपुरुष अरहंत आदि पचपरमेष्ठियोंकी निंदा करता है, यदि स्वयं मुनि है तो कामके वश होकर मुनिपनेका त्याग भी कर देता है । इसतरह कामी सब कुछ अकृत्यको करने लग जाता है ।

कामी पुरुष विषयासक्त हुआ अपने दुःखको अपयशको, अनर्थको, पापको, धननाशको नही मानता है तथा अनंत संसार सागरमें भ्रमण होगा यह नहीं मानता है भाव यह है कि मैं काम वासनासे अपने ब्रह्मचर्य व्रतका (अणुव्रत या महाव्रतरूप ब्रह्मचर्यका) कुलीन आचरणका नाश करूंगा तो मुझे दुर्गतिमे महान दु:ख भोगना पड़ेगा । इस लोकमे धनका नाश अपकीर्त्ति आदि होंगे, अंतमें संसारमें चिरकाल तक घूमना पड़ेगा, ऐसा कामीको विचार नही आता है ।।९४०।। विषयसेवनके लिये उच्च-कुलीन भी कामी नीच–जाति कुलादिसे हीन पुरुषको सेवा करता है, मानी होकर भी अवमानको सहता है ।।९४१।। कुलीन भी कामी पुरुष विषय सेवनकी इच्छासे निन्द्य कर्म करता है क्या नर्तकीको प्राप्त करनेकी इच्छावाले साधुने अपना सुंदर आचरण-वाला चारित्र छोड़ नही दिया था ? ।।९४२।।

वारत्रिक नामके भ्रष्ट मुनिकी कथा—

कुरुजांगल देशमें दत्तपुर नगरमें शिवभूति ब्राह्मणके दो पुत्र थे, सोमशर्मा और शिवशर्मा । दोनोंको विप्रने वेद पढाया । किसी दिन छोटा भाई शिवशर्मा वेदके सूत्रोका अशुद्ध उच्चारण कर रहा था । बड़े भाई सोमशर्माने उसको शुद्ध पढनेको कहा किन्तु

कामी शूरोऽपि तीक्ष्णोऽपि मुख्योपि भवति स्फुटम् ।
विगर्वः श्रीमतो वश्यो वैद्यस्य गदवानिव ।।९४३।।

विधत्ते चाटु नीचस्य कुलीनो मानवानपि ।
मातरं पितरं वाचा दासं कुर्वन्नपत्रपः ।।९४४।।

वह पुनः पुनः अशुद्ध बोलता रहा तब बड़े भाईने उसको तीन बार चाँटे लगाये उस दिनसे सब लोग उसको वारत्रिक कहने लगे "त्रिक मायने तीन और वार मायने बार" तीन बार मारनेसे वारत्रिक नाम प्रसिद्ध हुआ। आगे वह बालक वेद वेदांगमें पारंगत हुआ। किन्तु लोगो द्वारा वारत्रिक नामसे पुकारे जानेसे उसे दुःख होता रहता, किसी दिन जैनमुनिसे धर्मोपदेश सुनकर उसको वैराग्य हुआ दीक्षा लेकर वह वारत्रिक देश-देशमें विहार करने लगा। एक दिन आहारार्थ नगरमे आ रहा था, मार्गमे एक कन्याकी बरातमें वेश्याका सुंदर नृत्य हो रहा था, उस नृत्यकारिणी पर वारत्रिक मुनि मोहित हो गये। नर्त्तकी और वारत्रिक अब साथ रहने लगे। घूमते हुए दोनों राजगृह नगरोमें राजा श्रेणिकके समीप अपनी सुंदर नृत्यकला दिखा रहे थे। राज सभामे एक विद्याधर उपस्थित था उसको नृत्य देखते हुए जातिस्मरण हो गया और उसने नर्त्तकी आदिके पूर्वभव बताये जिससे वारत्रिक नर्त्तकी तथा और भी अनेक प्रेक्षक लोगोंको वैराग्य हो गया, वारत्रिकने पुनः मुनि दीक्षा ग्रहण की। नर्त्तकीने अपने योग्य श्राविकाके व्रत स्वीकार किये। इसप्रकार वारत्रिक मुनि स्त्रीके रूपको देखने मात्रसे दीक्षासे भ्रष्ट हो गया था।

कथा समाप्त।

कामी शूर भी है, तीक्ष्ण और मुख्य है तो भी विषयके आधीन होता हुआ मानरहित होकर धनवानके वश हो जाता है जैसेकि रोगी पुरुष वैद्यके वश हो जाता है ।।९४३।। कामी स्वयं कुलीन और मानयुक्त होने पर भी नीचकी चाटुकारी करता है, तथा वचन द्वारा माता पिताको दास करता हुआ निर्लज्ज होता है ।।९४४।।

भावार्थ—कामांध विषय सेवनके लिये, इच्छित स्त्रीके लिये आप स्वयं कुलवान् है तो भी हीन जातिके पुरुषके पैरको दबाना आदिरूप खुशामद करता है तथा मेरी मां तुम्हारी दासी है मेरे पिता तुम्हारे दास हैं ऐसा निर्लज्ज होकर कहता है।

न पश्यति सनेत्रोपि सश्रोत्रोऽपि शृणोति न ।
कामार्त्तः प्रमदाकांक्षी वंतीव हृतचेतनः ।।६४५।।

सलिलेनेव कामेन सद्यो जाड्यविधायिना ।
दक्षोऽपि जायते मंदो नीयमानः समंततः ।।६४६।।

वर्षद्वादशकं वेश्यां निषेव्यापि स्मरातुरः ।
नाज्ञासीद्गोरसंदीवः पदांगुष्ठमशोभनम् ।।६४७।।

कामांध पुरुष नेत्रवान् होकर भी देखता नही, कर्णयुक्त होकर भी सुनता नहीं, इसतरह कामसे पोड़ित स्त्रीका अभिलाषी वनहाथीके समान संमूढ हो जाता है अर्थात् जैसे वन हाथी हथिनीके वश हुआ कुछ भी देखता सुनता नही वैसे ही कामी पुरुष होता है ।।६४५।।

जैसे जलप्रवाहमें डूबता हुआ पुरुष जड़ता युक्त-मूर्च्छित हो जाता है वैसे काम द्वारा चतुर भी पुरुष शीघ्र ही चारो ओरसे मंद हो जाता है अर्थात् उसको कार्य कुशलता नष्ट होतो है—मूर्च्छितसा हो जाता है ।।६४६।। कोई गोरसंदीव नामा मुनि कामार्त्त होकर बारह वर्ष तक वेश्याका सेवन करता हुआ भी उसके अशोभन-जीर्ण नष्ट पैरके अंगूठेको नही जान सका था ।।६४७।।

गोरसदीव नामके भ्रष्ट मुनिकी कथा

श्रावस्ती नगरीका राजा द्वीपायन था उसका दूसरा नाम गोरसंदीव या गोचर सदीव था । एक दिन वह राजा वनक्रीड़ाके लिये जा रहा था मार्गमे एक आम्रवृक्ष मजरीसे भरा हुआ देखकर राजाने एक मंजरीको कौतुकवश तोड़ लिया राजा आगे निकल गया । पीछेसे आनेवाले जनसमुदायने राजाका अनुकरण किया अर्थात् सभीने एक एक करके उस आम्रवृक्षकी मंजरी तोड़ ली पुन: पत्ते तथा डालियां भी नष्ट कर दी । राजा वनक्रीडा करके वापिस लौटा तो वृक्षको न देखकर पूछा । लोगोंसे वृक्ष नष्ट होनेका वृत्तात सुना तथा उस वृक्षको केवल ठूठसा खड़ा देखकर अकस्मात् राजाको वैराग्य हुआ और उसने जैनेश्वरी दोक्षा ग्रहण की । अब वे मुनि होकर विहार करते हुए उज्जयिनीमें आहारार्थ पहुँचे । किसी एक घरके आंगनमें वे प्रविष्ट हुए वह गृह कामसु दरी वेश्याका था । वेश्याको देखकर मुनि मोहित होगये और वहीं रहने लगे ।

शीतमुष्णं क्षुधां तृष्णां दुराहारं पथि श्रमम् ।
दुःशय्यां सहते कामी वहते भारमुल्बणम् ।।६४८।।

छंद-स्रग्विणी—

क्षुभ्यते कृष्यते लूयते पूयते प्राप्यते पाद्यते सीव्यते चित्र्यते ।
छिद्यते भिद्यते क्रीयते दीर्यते खन्यते रज्यते सज्यते कामिना ।।६४९।।

छंद-दोधक—

गोमहिषीहयरासभरक्षी काष्ठतृणोदकगोमयवाही ।
प्रेषणकंडणमार्जनकारी कामनरेन्द्रवशोस्ति मनुष्यः ।।६५०।।

आयुधैर्विविधैः कीर्णां रणक्षोणीं विगाहते ।
लेखनं कुरुते दीनः पुस्तकानामनारतम् ।।६५१।।

बारह वर्ष व्यतीत होगये किसी दिन वेश्याके पैरके अंगूठेपर दृष्टि गयी तो देखा कि इसके अंगुष्ठमें कुष्ठ है उससे पुनः वैराग्यभाव जाग्रत होनेसे उस द्वीपायन या गोरसदीवने पुनः दीक्षा ग्रहण की ।

इसप्रकार गोरसदीव मुनि स्त्रीके रूप देखनेमे आसक्त होनेसे अपने चारित्रसे भ्रष्ट हो गये थे ।

कथा समाप्त ।

कामाध व्यक्ति शीत उष्णकी बाधा को, भूख प्यासको, खोटे भोजनको, सहन करता है, मार्गके श्रमको, खोटी शय्याको सहता है तथा बड़े भारी बोझको ढोता है ।।९४८।। कामी क्षोभित होता है, खेती करता है, फसलको काटता है, खलियान साफ करता है, धान्य आदिको प्राप्त करता है, कपड़े सीने लगता है, चित्रकारी करता है, छेदन भेदन करता है, खरीदता है, काष्ठका विदारण करता है, छीलता है, वस्त्रादिको रंगाता है, बुनता है ।।६४९।। कामरूपी राजाके आधीन हुआ मनुष्य, गाय, भैंस, घोड़े और गधोंकी रक्षा करने लगता है, काष्ठ, घास, जल, गोबर को ढोता है, स्वामी द्वारा जहां भेजा जाय वहा जानेरूप प्रेषण कार्यको करता है । मूसलसे कूटना और झाडूसे गृह आदि साफ करना आदि नीच कामको करता है ।।६५०।। कामार्त्त विविध आयुधोसे युक्त रणभूमिमें प्रवेश करता है—युद्ध करता है, दीन होकर सतत् पुस्तकोका लेखन करता है अर्थात् स्त्रीकी अभिलाषासे उसकी प्राप्तिके लिये कोई उसे पुस्तकोके लेखनमें लगावे तो उसको करने लगता है ।।९५१।।

संयुक्तां कर्षति क्षोणीं गर्भिणीमिव योषितम् ।
अधीत्य बहुशः शास्त्रं कुरुते शिशुपाठनम् ।।९५२।।

शिल्पानि बहुभेदानि तनुते परतुष्टये ।
विधत्ते वंचनां चित्रां वाणिज्यकरणोद्यतः ।।९५३।।

अवमन्य भवाम्भोधौ पतनं बहुवीचिके ।
किं किं करोति नो कर्म मर्त्यो मदनलंघितः ।।९५४।।

दुर्मोचैः कामिनीपाशैः कामो वेष्टयते कुधीः ।
लालापाशैरिवात्मानं कोशकारकृमिः स्वयम् ।।९५५।।

रागो द्वेषो मदोऽसूया पैशून्यं कलहो रतिः ।
वचनेर्ष्या परासूतिर्दोषाः सन्ति स्मरातुरे ।।९५६।।

तिलनाल्यामिव क्षिप्रं, तप्तलोह प्रवेशने ।
तिलानां देहिनां पीडा, योन्यां लिंग प्रवेशने ।।९५७।।

गर्भिणी स्त्रीके समान संयुक्त पृथिवीका कर्षण करता है अर्थात् जमीनमें हल चलाता है, बहुतसे शास्त्रोंको पढकर बालकोंको पढ़ाने लगता है ।।९५२।।

परको संतुष्ट करनेके लिये कि यह मुझे वांछित स्त्रीको देगा, बहुत भेदवाले शिल्पोंको करता है । व्यापार पेशामे उद्यत हुआ विविध प्रकारकी ठगायी करता है ।।९५३।। बहुत दुःखरूपी लहरे जिसमे उठ रही है ऐसे भवसमुद्रमें गिरना पड़ेगा इस बातका विचार किये बिना मदनातुर मानव क्या क्या कार्य नही करता ? सब कुछ कर डालता है ।।९५४।। खोटी बुद्धिवाला कामी जिसका छुडाना कठिन है ऐसे कामपाशोंसे स्वयं अपनेको वेष्टित करता है, जैसे रेशमका कोड़ा अपने ही मुखकी लाररूपी पाशसे स्वयको वेष्टित करता है ।।९५५।। कामी पुरुषमे राग, द्वेष, मद, असूया, पैशून्य, कलह, रति, ईर्षाके वचन, परका तिरस्कार इतने दोष होते हैं ।।९५६।। कामातुर पुरुष जब काम सेवन करता है उस समय कितना जीवघात होता है यह बताते हैं—जैसे तिलोंसे भरे नालीमें तपाया हुआ लोहा डाला जाय तो तिल पीड़ित होते हैं अर्थात् चट-चट करते हुए जल भुन जाते हैं वैसेही स्त्रीकी योनिमे लिंग प्रविष्ट होनेपर वहांके सम्मूर्च्छन जीव नष्ट हो जाते हैं ।।९५७।। कामातुर पुरुष चाहती हुई स्त्री हो अथवा बिना चाहती

इच्छावती मनिच्छां वा, दुर्बलां दुर्लभां कुधीः ।
अज्ञात्वा याचते कामी, सर्वाचार बहिर्भवः ॥९५८॥

परकीयां स्त्रियं दृष्ट्वा किं कांक्षति विमूढधीः ।
न हि तां लभते जातु पापमर्जयते परम् ॥९५९॥

अभिलष्य चिरं लब्ध्वा परनारीं कथंचन ।
अनिर्वृत्तमविश्वस्तं सेवने तादृगेव सः ॥९६०॥

यत्र तत्र प्रदेशे तामंधकारे कथंचन ।
अवाप्य त्वरितो भीतो रतिसौख्यं किमश्नुते ॥९६१॥

सर्वस्वहरणं रोधं वधं बंधं भयं कलिम् ।
तज्ज्ञातिपार्थिवादिभ्यो लभते पारदारिकः ॥९६२॥

अनर्थकारणं पुंसां कलत्रे स्वेपि मैथुने ।
करोति कल्मषं घोरं परकीये न किं पुनः ॥९६३॥

हो–दुर्बल हो, दुर्लभ हो, कैसी भी हो उस बातको बिना जाने ही मांगता है–चाहता है सेवन करता है वह तो सर्व सदाचारसे बहिर्भूत हो जाता है ॥९५८॥

बडा अफसोस है कि विमूढ बुद्धि कामी पुरुष परायी स्त्रीको देखकर उसको क्यों चाहता है ? क्योंकि अन्य पुरुषकी स्त्रीको प्राप्त तो कर नही सकता है किन्तु व्यर्थ ही पापोका संचय कर लेता है ॥९५९॥ चिरकाल तक अभिलाषा करके जैसे तैसे कदाचित् परायी स्त्री मिल भी जाय तो उसका सेवन करनेमें अतृप्ति और अविश्वास होनेके कारण वह कामी पहलेके समान ही रह जाता है अर्थात् जब परनारी नही मिली थी तब अतृप्त था और मिलनेपर कोई देख न लेवे इत्यादि भावरूप आकुलताके कारण अतृप्त ही रहता है ॥९६०॥ जहां-तहा किसी स्थानपर उस नारीको किसीप्रकार प्राप्त करके भी वह भयभीत पुरुष शीघ्रतासे रतिसुखको किसतरह पा सकता है ? नही पा सकता ॥९६१॥ परायी नारीका सेवन करनेवाला पुरुष उस परायी नारीके जाति या कुटुंबके लोगों द्वारा एव राजादिके द्वारा सर्वस्वहरण विरोध, वध, बधन, भय और कलहको प्राप्त होता है अर्थात् जिसकी वह स्त्री है उसके पति, भाई, मामा आदि इस परस्त्रीसेवीको मारना, धन लूटना आदि महान कष्ट देते है ॥९६२॥ अपनी स्त्रीके साथ मैथुन सेवन करनेपर भी यदि पुरुषोंके अनर्थका कारण होता है तो फिर परायी

यथाभिद्रूयमाणासु स्वसृमातृसुताविषु ।
दुःखं संपद्यते स्वस्य परस्यापि तथा न किम् ।।९६४।।

इत्थमर्जयते पापं परपीडाकृतोद्यमः ।
स्त्रीनपुंसकवेदं च नीचगोत्रं दुरुत्तरम् ।।९६५।।

भुज्यते यदनिच्छंती क्लिश्यमानांगनावशा ।
तदेतस्याः पुरातन्याः परदाररतेः फलम् ।।९६६।।

योषावेषधरः कर्म कुर्वाणो न यदश्नुते ।
कांक्षितं शर्म तत्तस्य परदाररतेः फलम् ।।९६७।।

नारीके साथ मैथुन सेवन करनेपर घोर पाप क्या नही होगा ? होगा ही ।।९६३।। अपनी बहिन, माता और पुत्री आदिके साथ कोई दुराचार करे तो जैसे अपनेको दुःख होता है वैसे परायी नारी, बहिन आदिके साथ स्वयं दुराचार करनेपर परको दुःख क्या नहीं होगा ? अवश्य होगा ।।९६४।।

इसप्रकार कामी पुरुष परायी नारीके सेवनसे परको पीड़ा करनेमें उद्यमी हुआ पापका संचय करता है तथा स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, नीचगोत्र इन दुरुत्तर कर्मोंका बंध करता है ।।९६५।।

जो नही चाहती है ऐसी परायी नारी जो कि परपुरुषके वशमे आनेसे अत्यंत दुःखी हो रही है उसको कोई कामुक हठात् भोगता है तो इस विषयमें उस स्त्रीका पूर्व जन्मका पापका फल है जो पहले भवमे परस्त्री सेवनसे अर्जित किया गया था ।।९६६।।

भावार्थ—किसी परायी नारीका कोई पुरुष जबरदस्ती उसे दुःखी करके सेवन करता है तो समझना चाहिये कि उक्त स्त्रीने पूर्व जन्ममें पुरुष अवस्थामें परस्त्रीका जबरन सेवन किया था । वह पहले भवमे परनारीमे प्रेम करता था ।

स्त्रीका वेष धारनेवाला व्यक्ति अर्थात् जो नपुंसक है और ऊपरसे स्त्रीका वेष पहनता है वह कामक्रीडाको करता हुआ भी इच्छित काम सुख नही पाता है, सो यह उसके पूर्व भवके परस्त्री सेवनका फल है ।।९६७।।

भावार्थ—जो पूर्वभवमे परस्त्री सेवन करता है वह आगामी भवमें नपुंसक होता है, नपुंसकको देखकर समझना चाहिये कि इसने पूर्वभवमे परनारीका सेवन किया था ।

जननी भगिनी भार्या देहजा बहुजन्मसु ।
प्रायस्साकीर्तिकारिण्यस्तस्य संति विशीलिकाः ॥९६८॥

विशीलो दुर्भगोऽमुत्र जायते पारदारिकः ।
निर्दोषोऽप्यश्नुते बंधं संक्लेशं कलहं वधम् ॥९६९॥

महान्तं दोषमासाद्य भवेऽत्र स्मरमोहितः ।
मृत्वा कडारपिंगोऽगाच्छ्वभ्रं दुःसहवेदनम् ॥९७०॥

परस्त्रीका सेवन करनेसे कामी पुरुषको बहुत जन्मो तक कुशीला माताकी प्राप्ति होती है तथा उसकी भगिनी, पत्नी, पुत्री भी कष्ट तथा अपकीर्ति करनेवाली दुराचारिणी होती है । आशय यह है कि जो परायी नारीका शील बिगाड़ देता है उसके भव भवमें माता बहिन भार्या आदि कुशीला होती हैं जैसे उसने किसी परायी पुत्री पत्नी आदिका शील नष्ट कर दिया उसे कुशीला बनाया वैसे ही उसके पुत्री पत्नी आदिका दूसरा कोई पुरुष शील बिगाड़ देगा ॥९६८॥

जो परनारीका सेवन करता है वह अगले भवमें कुरूप और दुराचारी बनता है । वह कदाचित् निर्दोष भी हुआ तो उसे अकारण ही बध, संक्लेश, कलह, वधको भोगना पड़ता है अर्थात् खोटा काम नही करनेपर भी उसपर दोषारोपण आता है और उससे उसको बांध देना, मार देना आदिका कष्ट अकारण ही भोगना पड़ता है ॥९६९॥

कामसे मोहित हुआ कडारपिंग इस भवमे महान दोषको प्राप्त कर मरा और दुःसह वेदनावाले नरकमें चला गया ॥९७०॥

कडारपिंगकी कथा

कांपिलय नगरमें राजा नरसिंह था उसका मंत्री सुमति नामका था । उसके एक कडारपिंग नामका पुत्र हुआ वह अत्यंत कामासक्त था । एक दिन उसने कुबेरदत्त सेठकी सर्वांगसुंदरी प्रियंगुसुंदरी पत्नी को देखा । देखकर वह उसपर आसक्त हुआ । सुमति मंत्रीने पुत्रका हाल जानकर पहले तो कामवासनाको मनमें धिक्कारा किन्तु पुत्रके मोहमें आकर प्रियंगुसुंदरी को हस्तगत करनेके लिये उसके पति कुबेरदत्तको द्वीपांतरमें भेजना चाहा किन्तु प्रियंगुसुंदरी बुद्धिमती थी उसने ताड़ लिया कि यह कामी कडार-

भवंति सकला दोषा नैवामी ब्रह्मचारिणः ।
संपद्यंते गुणाश्चित्रास्तद्विपक्षा विरागिणः ।।९७१।।

छंद-वसंततिलका—

कामाध्वना कुचफलानि निषेवमाणा रम्ये नितंबविषये ललनानदीनाम् ।
विश्रम्य चारुवदनाम्बु निपीयमानाः सौख्येन नारकपुरीं प्रविशंति नीचाः।९७२।

पिंगकी करतूत है । उसने पतिको समझाया कि द्वीपांतर जानेका केवल दिखावा करो आगे की बात मैं सम्हाल लूंगी । कडारपिंग कुबेरदत्तको द्वीपांतर गया समझकर प्रियंगुसुंदरीके पास रातके समय आया । उस सुंदरीने पाखाने के कमरेको साफ सुथरा कराके उसमें एक बिना निवारके पलंगपर एक चादर बिछा दिया था, प्रियंगुसुंदरी ने आये हुए कडारपिंगको उक्त पलंगपर बैठने को कहा । जैसे ही वह पापी बैठने लगा वैसे ही धड़ामसे अत्यंत दुर्गंधमय पाखानेके मैलमे जा पड़ा । अब कडारपिंगको बहुत पश्चात्ताप हुआ उसने निकालने के लिये सुंदरीसे बहुत प्रार्थना की किन्तु पापका फल भोगनेके लिये उसने उसको नही निकाला । छह मास व्यतीत होनेपर कुबेरदत्तने द्वीपांतरसे आनेका बहाना किया । राजा और मंत्रीने उसे जो किंजल्क पक्षी लानेको कहा था, सेठने पाखानेसे कडारपिंगको निकालकर उसको पक्षियोंके पंख लगाकर मुख काला कर हाथपैर बांध पीजड़ेमे डालकर राजाके समक्ष उपस्थित किया तथा वास्तविक सब वृत्तांत कह सुनाया । राजाको कडारपिंगके ऊपर कोप आया और उसने उस कामी पापीको प्राणदंड दिया, कडारपिंग मरकर नरक गया । इसप्रकार परायी नारीके सेवन का भाव करनेसे तथा साक्षात् सेवन करनेसे महाभयानक दुःख उठाना पड़ता है ऐसा जानकर इस पापसे विरक्त होना चाहिये ।

कडारपिंगकी कथा समाप्त ।

ऊपर कहे गये समस्त दोष ब्रह्मचारीके नही होते है, उस विरागीके तो उन दोषोसे विपक्षभूत अनेक अनेक मनोहर गुण ही हुआ करते है ।।९७१।।

कामुक नीच पुरुष स्त्री रूपी नदियोंके रम्य नितंबविषयमे कामरूपी रास्तेसे आकर कुचरूपी फलोका सेवन कर वहां विश्राम करके स्त्रीके मुखका जल (लार) पीता हुआ सुखपूर्वक नरकपुरीमे प्रवेश कर जाता है ।।९७२।।

छंद-वंशस्थ—

नरो विरागो बुधवृंदवंदितो जिनेंद्रवद्ध्वस्त समस्त कल्मषः ।
विदह्यमानं ज्वलता दिवानिशं स्मराग्निना लोकमवेक्षतेऽखिलम् ।।९७३।।

जननीं जनकं कांतं तनयं सहवासिनं ।
पातयंति नितंबिन्यः कामार्ता दुःखसागरे ।।९७४।।

स्त्रीनिःश्रेण्योन्नतस्यापि दुरारोहस्य लीलया ।
मस्तकं नरवृक्षस्य नीचोऽप्यारोहति द्रुतम् ।।९७५।।

भावार्थ—जैसे कोई पथिक मार्गमे आनेवाली नदीके किनारेपर विश्राम कर वहांके फलोंका भक्षण कर नदीका मिष्ट जल पीकर सुखपूर्वक अपने इष्ट नगरको चला जाता है, वैसेही कामी पुरुष कामरूप मार्गसे स्त्रीरूपी नदीके नितबरूपी किनारे पर कुच-रूपी फलोंको खाकर मुखका जल पीता हुआ नरकमे चला जाता है अर्थात् स्त्रीका सेवन करनेवाला नरकगतिमे जाता है ।

जो पुरुष विरागसंपन्न है अर्थात् स्त्रीमें राग नहीं करता है—वह ज्ञानी पुरुषों द्वारा वंदित होता है, जिनेन्द्र देवके समान समस्त पापोंका नाश करनेवाला होता है अर्थात् वह विरागी क्रमशः अणुव्रत महाव्रत ग्रहणकर जिनेन्द्र बन जाता है, अब वह केवलज्ञानी (अथवा श्रुतज्ञानी) कामरूपी अग्निसे दिनरात अतिशय रूपसे जलते हुए अखिल लोकको देखता है ।।९७३।।

कामदोष वर्णन समाप्त ।

कामसे पीड़ित हुई नारी अपने माता, पिता, पति, पुत्र और कुटुंब परिवारको दुःख सागरमें डाल देती है । भाव यह है कि कामांध स्त्री अपने इष्ट यारको पानेके लिये पति माता आदिको कष्टमें डाल देती है यदि उसे ऐसे गलत कार्यके लिये मना किया जाय तो मानती नही । उसके स्वैराचारसे अपकीर्त्ति होनेके कारण पति पिता परिवार दुःखी होने लगता है ।।९७४।।

स्त्री रूपी नसैनी जिसमे है जो उन्नत है और कठिनाईसे चढा जाता है ऐसे पुरुषरूपी वृक्षके मस्तक पर नीच व्यक्ति भी शीघ्रतासे चढ़ जाता है ।।९७५।।

मान्या ये संति मर्त्यानामक्षोभ्या बलिनामपि ।
सर्वत्र जगति ख्याता महांतो मंदरा इव ।।९७६।।

शठैस्ते स्त्रीजनैस्तीक्ष्णैर्नाम्यन्ते क्षणमात्रतः ।
नितांतकुटिलीभूतैरंकुशैरिव दंतिनः ।।९७७।।

आसन्रामायणादीनि स्त्रीभ्यो युद्धान्यनेकशः ।
मलिनाभ्योऽब्दमालाभ्यः सलिलानीव विष्टपे ।।९७८।।

विश्रंभसंस्तवस्नेहा जातु संति न योषितः ।
त्यजन्ति वा परासक्ताः कुलं तृणमिव द्रुतम् ।।९७९।।

विस्रंभयन्ति ता मर्त्यं प्रकारैर्विविधैर्लघु ।
विस्रंभः शक्यते कर्तुमेतासां न कथंचन ।।९८०।।

भावार्थ—वृक्ष ऊंचा है किन्तु उसके पास नसैनी होवे तो छोटा कदवाला आदमी भी उसपर चढ़ जाता है वैसे पुरुष बलवान और उच्चकुलीन है किन्तु उसकी स्त्री यदि कुशीला है तो उसकी अवहेलना नीच भी करने लग जाता है । अर्थात् दुराचारिणी स्त्रीके पतिकी लोग हँसी करते हैं अपमान करते हैं ।

इस संसारमें मनुष्योंमें जो मान्य हैं, बलवान् पुरुष द्वारा भी जो क्षोभित नहीं होते, जगतमे सब जगह प्रसिद्ध हैं महान् सुमेरु पर्वतके समान हैं । ऐसे महापुरुष भी मूर्ख तथा कठोर स्त्रियों द्वारा क्षणमात्रमे निम्नकोटिके किये जाते हैं अर्थात् उनकी पूजा, आदर आदि क्षणभरमे नष्ट किये जाते है, जैसे अतिशय कुटिल अंकुश द्वारा हाथी झुकाये जाते हैं नम्र किये जाते हैं ।।९७६।।९७७।।

इस जगतमें स्त्रियोंके हेतु ही रामायण आदिके महायुद्ध अनेकों बार हुए थे । जैसे काली मेघमालाओंसे जल निसृत होता है ।।९७८।।

स्त्रियोंमें विश्वास, प्रशंसा और स्नेहगुण कभी भी नही होते । कामार्त्त पराये पुरुषोंमें आसक्त नारी तृणके समान अपने कुलको गिनकर शीघ्र ही छोड़ देती है । अर्थात् पर-पुरुषमें आसक्त हुई स्त्री अपने कुलको तिनके बराबर भी नहीं गिनती ।।९७९।। ये महिलाये विविध हाव-भाव छल कपट प्रयोगोंसे शीघ्र ही पुरुषको विश्वास उत्पन्न

स्वल्पेऽपि विहिते दोषे कृतदोषसहस्रशः ।
उपकारमवज्ञाय स्वं विघ्नन्ति पतिं कुलम् ।।६८१।।

आशीविषा इव त्याज्या दूरतो नीतिहेतवः ।
दुष्टा नृपा इव क्रुद्धास्ताः कुर्वन्ति कुलक्षयम् ।।६८२।।

अकृतेप्यपराधे ता नीचाः स्वच्छंदवृत्तयः ।
निघ्नंति निर्घृणाः पुत्रं श्वशुरं पितरंपतिम् ।।६८३।।

उपकारं गुणं स्नेहं सत्कारं सुखलालनम् ।
न मन्यंते परासक्ता मधुरं वचनं स्त्रियः ।।६८४।।

साकेताधिपतिर्देवरतिः प्रच्याव्य राज्यतः ।
देव्या नदीहृदे क्षिप्तो रक्तया पंगुरक्तया ।।६८५।।

कराती है किन्तु पुरुष इन महिलाओंको किसीप्रकार भी विश्वास उत्पन्न नही करा सकता है ।।९८०।। खुदने हजारो बार दोष किये हों तो कोई बात नहीं किन्तु पति द्वारा थोड़ासा भी दोष हो जाय तो कुलटा नारी पतिके उपकारको अवज्ञा करके उसको मारती है खुदका और कुलका भी नाश कर डालती है ।।९८१।। हितकर यह है कि महिलाये तो आशीविष सर्पके समान दूरसे ही छोड़ने योग्य है, यदि ये कुपित हो जाय तो कुलका क्षय कर देती है, जैसे दुष्ट राजा लोग कुपित होनेपर कुलका क्षय कर डालते है ।।९८२।।

स्वैराचारिणी नीच स्त्रियाँ अपराधके नही करनेपर भी निर्दयी होकर अपने पुत्र, पिता और पतिको मार डालती हैं ।।९८३।। पर पुरुषोमे आसक्त हुई स्त्रियाँ अपने पतियोंके उपकारको, गुणको, स्नेहको, सत्कारको, सुख लालनको, मिष्ट वचनको कुछ भी नही गिनती (अर्थात् मेरा पति कितना उपकारक है मुझे कितने सुखमे रखता है मेरेसे कितना अच्छा व्यवहार करता है इत्यादि सब ही बातोको भूल जाती है और पतिकी अवहेलना करती है अन्य पुरुष जो कि कुछ भी लायक नही है दोषयुक्त बेरूप है उस पर प्रेम करने लग जाती है) ।।९८४।। अयोध्याके नरेश देवरति नामके राजाको राज्यसे च्युत कराके रक्ता नामको उसकी ही रानीने एक पंगु कुरूप दुष्ट पुरुष पर आसक्त होकर नदीके गहरे प्रवाहमें डाल दिया था ।।९८५।।

गोपवत्या क्रुधा छित्वा ग्रामकूट सुताशिरः ।
राजा सिंह बलः कुक्षौ शक्त्येर्ष्यापरया हृतः ।।९८६।।

रक्ता रानीकी कथा

परपुरुष आसक्त रक्ता नामकी रानी थी उसका संक्षिप्त दुश्चरित्र इसतरह है कि अयोध्या नगरीका देवरति नामका राजा था उसकी रक्ता रानी उसे प्राणोंसे भी अधिक प्यारी थी । उसके अत्यधिक प्रेमके कारण राज्यका त्यागकर राजा सदा अंतःपुरमें रहने लगा अतः मंत्रियोंने उसे राज्यसे च्युत कर दिया । राजा रानीको लेकर अन्यत्र चला गया । वहाँ किसी पंगुके मधुर गानको सुनकर रक्ता उसपर आसक्त हो गयी और अपने पति देवरति राजाको किसी बहाने नदीमें डालकर खुद उस पंगु पुरुषके साथ रहने लगी । पंगुको एक टोकरीमें रखकर अपने मस्तक पर लेकर जगह-जगह भ्रमण करती रही, पंगु मधुर गान सुनाता, जिससे दोनोंकी आजीविका होती थी । इधर राजा नदीके प्रवाहसे किसीतरह निकल आया और पुण्योदयसे मंगलपुरीका शासक–राजा बन गया । घूमती हुई रक्ता वहां पहुंची । राजाने पहिचान लिया और इस स्त्री चरित्रसे विरक्त होकर उसने दीक्षा ग्रहण की । इसप्रकार पर पुरुष पर आसक्त हुई नारीकी दुष्ट चेष्टाये हुआ करती हैं ।

कथा समाप्त ।

गोपवतीने क्रोधसे ग्रामकूटकी पुत्रीका मस्तक काट दिया था और अपने पति सिंहबलके पेटमें ईर्ष्यावश भालाको घोंपकर उसे मार डाला था ।।९८६।।

गोपवतीकी कथा

राजा सिंहबलकी रानी गोपवती थी यह अत्यन्त दुष्ट स्वभाववाली थी । एक दिन राजाने ग्रामकूट नामके नगरके शासककी सुभद्रा नामकी पुत्रीसे विवाह कर लिया । इससे गोपवती क्रोधित हुई, उसने उस सुभद्राको मार डाला और उसका कटा हुआ मस्तक राजाको दिखाया, राजाको इससे महान् दुःख हुआ, जैसे ही वह उसको दण्डित करनेमें उद्यत हुआ वैसे उस दुष्टाने उसको भी भाले द्वारा मार डाला । दुष्ट स्त्रीके लिये क्या कोई कुकृत्य शेष रहता है जिसे कि वह न कर सके ? वह तो सब कुछ कुकृत्य कर डालती है ।

कथा समाप्त ।

वीरवत्यापि शूलस्थस्तेन छिन्नोष्ठया निजः ।
ओष्ठश्छिन्नो ममानेन पापयेत्युदितं मृषा ।।६८७।।
व्याघ्रे विषे जले सर्पे शत्रौ स्तेनेऽनले गजे ।
स विश्वसिति नारीणां यो विश्वसिति दुर्मनाः ।।६८८।।

शूलीपर स्थित यारके द्वारा जिसका ओठ छिन्न हुआ ऐसी पापी दुराचारिणी वीरवतीने राजाके पास जाकर झूठ कहा कि मेरे पतिने मेरा ओठ काट दिया है ।।६८७।।

वीरवतीकी कथा—

दत्त नामके वैश्यकी पत्नीका नाम वीरवती था यह एक चोरके प्रेममें फंसी थी । एक दिन चोरी करते हुए रंगे हाथ वह चोर पकड़ा गया । उसे राजाने शूलीपर चढ़ानेकी सजा दी । चंडालने उसे श्मशानमें ले जाकर शूलीपर चढा दिया । वीरवती दुःखी हुई । रातके समय उससे अंतिमबार मिलनेके लिये श्मशानमे पहुची, ऊँचे स्थान शूलीपर चढ़े हुए चोरका आलिंगन करनेके लिये उसने अधजली लकड़ियाँ और शव इकट्ठे किये और उसपर चढकर उससे मिलने लगी इतनेमे लकड़िया खिसक गयी और वह अकस्मात् नीचे गिर पड़ी उससे उसका ओठ चोरके मुहमे रह गया—दांतोंसे कट गया । वह दुष्टा दौड़कर छुपकेसे घर लौटी । वहा शोर मचाया कि पतिने मेरा ओठ काट डाला है । राजाके पास शिकायत गयी उसने पतिको दण्डित करना चाहा किन्तु इतनेमे किसीसे रहस्यका पता चला । तब राजाने निरपराध दत्त पतिको छोड़ दिया और दुराचारिणी वीरवतीका मुख काला कर शिरके केशोका मुडन करवाके गधेपर बैठाकर उसको अपने देशके बाहर निकाल दिया ।

कथा समाप्त ।

जो पुरुष नारियों पर विश्वास करता है वह समझ लेना चाहिये कि व्याघ्र पर, विषपर, गहरे जलाशय पर, शत्रुपर, चोर पर, अग्नि और हाथी पर विश्वास करता है ।

भाव यह है कि व्याघ्र आदिमें विश्वास करना जैसे घातक है वैसे स्त्रीके ऊपर विश्वास करना घातक है । क्योंकि कदाचित् व्याघ्र आदि उस महादोषको नहीं करते

व्याघ्रादयो महादोषं कदाचित्तं न कुर्वते ।
लोकद्वयविघातिन्यो यं स्त्रियो वक्रमानसाः ॥६८६॥

सकश्मलाशया रामाः प्रावृषेण्या इवापगाः ।
स्तेनवत्स्वार्थतन्निष्ठाः सर्वस्वहरणोद्यताः ॥६६०॥

दारिद्र्यं विस्रसां व्याधिं यावन्नाप्नोति मानवः ।
जायते तावदेवास्याः कुलपुत्र्या अपि प्रियः ॥६६१॥

प्रसूनमिव निर्गंधं द्वेष्यो भवति निर्धनः ।
म्लानमालेव र्वाषष्ठो रोगीक्षुरिव नीरसः ॥६६२॥

हैं जिस महादोषको कुटिल मनवाली इस लोक और परलोकका नाश करनेवाली स्त्रियां करती हैं, अर्थात् व्याघ्रादि केवल प्राण हो ले सकते हैं किन्तु कुटिल कुशीला स्त्रिया तो प्राणोके साथ यश, सन्मान, धन आदिको भी हर लेती हैं, इन सबका नाश कर डालती हें ॥६८८॥६८६॥

जैसे वर्षाॠतुमें नदियां मैले जलोंसे युक्त होती है वैसे स्त्रियां मलिन आशय– मन युक्त होती हैं, नदीमें वर्षाकालमे कूडा कचरा मिट्टी आदि होनेसे उसका जल मलिन होता है और स्त्रियोमें मोह ईर्ष्या असूयादि होनेसे उनका चित्त मलिन होता है। जैसे चोर अपने स्वार्थ, जो चोर कर्म है उनमे सदानिष्ठ होते है सर्वस्व हरण करनेमें लगे रहते है, वैसे स्त्रियां मधुर वचन कटाक्ष आदिसे पुरुषके सर्वस्व हरण करनेमें लगी रहती हें ॥६६०॥

कुलवंती नारीको भी पति तब तक प्रिय लगता है जब तक उसके दरिद्रता नही आती या बुढापा ओर रोगको वह पुरुष प्राप्त नही होता है। बुढ़ापा रोग दारिद्र आनेपर उच्चकुलीन स्त्रियां भी पतिको चाहना छोड देती है ॥६६१॥

निर्धन पुरुष स्त्रीके लिये सुगध रहित पुष्पके समान अच्छा नहीं लगता उसके लिये द्वेषका कारण हो जाता है। वृद्ध पुरुष मुरझाई हुई मालाके समान अप्रिय होता है और रोगी पुरुष जिसका रस निकाला गया है ऐसे नीरस इक्षु-गन्नेके समान अनिष्ट लगता है। अभिप्राय यह है कि धनयुक्त पुरुष तो स्त्रियोंको सुंगधयुक्त पुष्पके समान

बंचयन्ति नरान्नार्यः समस्तानपि हेलया ।
जानंति वचनं पौंस्नं तदीयं न नराः पुनः ।।९९३।।

छंद-वंशस्थ—

यथा यथा स्त्री पुरुषेण मन्यते तथा तथा सा कुरुते पराभवं ।
यथा यथा कामवशेन मन्यते तथा तथा सा कुरुते विटंबनाम् ।।९९४।।

भवंति सर्वदा योषा मत्तास्तंबेरमा इव ।
स्वं दासमिव मन्यते पुरुषं मूढमानसा ।।९९५।।

छंद-रथोद्धता—

शीलसंयम तपोबहिर्भवास्ता नरांतरनिविष्टमानसाः ।
चिंतयन्ति पुरुषस्य सर्वदा दुःखमुग्रमपकारिणो यथा ।।९९६।।

प्रिय होता है और धनहीन निर्गंध फूलके समान अप्रिय होता है । युवक ताजी मालाके सदृश प्रिय और वृद्ध मुरझाई माला सदृश अप्रिय होता है । निरोग पुरुष रसीले गन्नेके समान प्रिय और रोगी नीरस गन्नेके समान अप्रिय होता है ।।९९२।।

नारियां समस्त पुरुषोंको लोला मात्रसे ठग लेती है अर्थात् हास्य, शपथ, मधुर किन्तु झूठे वचन आदिसे पुरुषको अपनेमें फसाती है, पुरुषका वचन किस अभिप्राय का है, कपट युक्त है या नही इत्यादि बातोंको नारी तत्काल जान लेती है किन्तु उस नारीके कपट प्रयोगको पुरुष नही जान पाते ।।९९३।।

पुरुष जैसे–जैसे स्त्रीकी बात मानता है वैसे–वैसे वह स्त्री पुरुषका तिरस्कार करती है । जैसे–जैसे कामवश पुरुष द्वारा उसकी मान्यता होती है वैसे वह नारी पुरुषका अपमान करती है ।।९९४।।

मूढ़ स्त्रियां अपने पतिको दासके समान मानती है, महिलाये सर्वदा ही हाथियोंके सदृश मदोन्मत्त रहती हैं ।।९९५।। जिनका मन पर पुरुषोंमे लगा हुआ है, जो शील, संयम, तपसे बहिभूत–रहित है ऐसी महिलायें सदा ही अपने पतिके लिये भयंकर दुःख देनेको सोचती हैं, जैसे कि अपकारी व्यक्ति दुःख देनेकी सोचते हैं ।।९९६।।

कुर्वन्ति दारुणां पीडामामिषाशनलालसाः ।
अपराधं विनाप्येताः पुंसां व्याघ्रा इवाधमाः ।।९९७।।

शंपेव चंचला नारी संध्येव क्षणरागिणी ।
छिद्रार्थिनां भुजंगीव शर्वरीव तमोमयी ।।९९८।।

सिकतातृणकल्लोलरोमाणि भुवनत्रये ।
यावन्ति सन्ति तावन्ति मानसानि मृगीदृशाम् ।।९९९।।

नगभूमिनभोऽम्भोधिसलिलक्षर्नभः स्वताम् ।
शक्यते परिमा कर्तुं स्त्री चित्तानां न सर्वथा ।।१०००।।

यथा समीरणोल्कांभोबुद् बुदाश्चिररोचिषः ।
एकत्र नावतिष्ठंते तथंताश्चलवृत्तयः ।।१००१।।

जिसप्रकार मांसके भोजनके इच्छुक व्याघ्र बिना अपराधके भी जीवोंको दारुण पीड़ा देते है–मार देते हैं उसप्रकार ये अधम कामार्त स्त्रिया पुरुषोंको बिना अपराधके दारुण पीड़ा देती हैं ।।९९७।। यह नारी विद्युत्के समान चंचल, संध्याके समान क्षण-भरके लिये रागी, छिद्रकी इच्छुक भुजंगीके समान और रात्रिके समान अंधकारमय होती है ।।९९८।।

भावार्थ—विद्युत् आकाशमें चमककर नष्ट होती है वैसी नारीकी बुद्धि चपल होती है । सध्याके समय आकाशमे लालिमा क्षणभर टिकती है वैसे नारीको प्रीति अल्पकालीन होती है, सर्पिणी जैसे छिद्र–बिलको चाहती है वैसे नारी पराये छिद्र–दोष देखना चाहती है और जैसे रात्रि अंधकारमय होती है वैसे स्त्रियोंका मन वासना द्वेष आदि रूप अंधकार युक्त हुआ करता है ।

तीन लोकमे जितने बालुके कण है, जितने तृणके तिनके हैं, समुद्रमें जितनी लहरें हैं मनुष्योंके शरीरों पर जितने रोम हैं उतने मानस विकार मनके अभिप्राय या मनके भाव स्त्रियोंके हुआ करते हैं ।।९९९।। संसारमें पर्वत, भूमि, नभ, सागरका जल, आकाशके नक्षत्र इन सबकी गणना करना शक्य है किन्तु स्त्रियोंके चित्तोंकी गणना करना सर्वथा शक्य नहीं है ।।१०००।। जैसे वायु, उलका, जलके बुलबुले, विद्युत् ये पदार्थ एक जगह टिकते नही वैसे ये स्त्रियाँ एक पुरुषसे अधिक समय तक प्रीति नहीं करती

गृहीतुं शक्यते जातु परमाणुरपि ध्रुवम् ।
न सूक्ष्मं योषितां स्वान्तं दुष्टानामिव चंचलम् ॥१००२॥

क्रुद्धः कंठीरवः सर्पः स्वीकर्तुं जातु शक्यते ।
न चित्तं दुष्टवृत्तीनामेतासामति भीषणम् ॥१००३॥

रूपं संतमसि द्रष्टुं विद्युद्द्योतेन पार्यते ।
चेतश्चलस्वभावानां योषाणां न कथंचन ॥१००४॥

हरंति मानसं रामा नराणामनुवर्तनैः ।
तावद्यावन्न जानंति रक्तं कुटिलचेतसः ॥१००५॥

हसितैः रोदनैर्वाक्यैः शपथैर्विविधैः शठाः ।
अलीकैर्मानसं पुंसां गृह्णन्ति कुटिलाशयाः ॥१००६॥

हरंति पुरुषं वाचा चेतसा प्रहरंति ताः ।
वाचि तिष्ठति पीयूषं विष चेतसि योषिताम् ॥१००७॥

हैं ॥१००१॥ कदाचित् परमाणुको ग्रहण कर सकते हैं–पकड़ सकते हैं किन्तु स्त्रियोके सूक्ष्म मनको–सूक्ष्म अभिप्रायको ग्रहण नहीं कर सकते हैं । जैसे दुष्ट व्यक्तियोके चंचल मनको ग्रहण नहीं कर सकते वैसे नारीके चंचल मनको पकड नही सकते है ॥१००२॥ कदाचित् क्रोधित सिंह और सर्पको पकड़ सकते हैं किन्तु दुष्ट दुराचारिणी इन स्त्रियोंके अति भयंकर मनको पकड़ नही सकते हैं ॥१००३॥ विद्युत् प्रकाश द्वारा अंधकारमें रूप देखना शक्य है किन्तु चंचल स्वभाववाली युवतियोंके चित्तको देखना किसी प्रकार भी शक्य नही है ॥१००४॥ कुटिल चित्तवाली स्त्रियां पुरुषोंके चित्तको अनुकूल प्रवृत्ति द्वारा तब तक हरण करती है जब तक कि उस पुरुषको अपनेमें अनुराग युक्त हुआ नहीं जानती अर्थात् अपनेमे पुरुषको आसक्त होनेतक उसके मनके अनुसार स्त्रियां चलती हैं पुरुषको अपनेमें आसक्त बनाके ही छोड़ती हैं ॥१००५॥ कुटिल मनवाली शठ स्त्रियां हँसी द्वारा रुदन द्वारा, विविध वाक्य और शपथ द्वारा एवं झूठ संभाषणों द्वारा पुरुषोंके चित्तको ग्रहण करती है अर्थात् पुरुषको अपने वशमें कर लेती हैं ॥१००६॥ दुष्ट स्त्रियां अपने वचनसे पुरुषको हर लेती है तथा मनसे उसपर प्रहार करती हैं अर्थात् वाणी तो मीठी बोलती हैं और मनमें उस पुरुषको नष्ट करनेका सोचती हैं । सच है स्त्रियोंके वचनमे तो अमृत है और मनमें विष भरा रहता है ॥१००७॥

पाषाणोऽपि तरेत्तोये न दहेदपि पावकः ।
न चित्तं पुरुषे स्त्रीणां प्रांजलं जातु जायते ॥१००८॥

प्रांजलत्वं विना स्त्रीषु विस्रंभो जायते कथम् ।
विस्रंभेण विना तासु जायते कीदृशी रतिः ॥१००६॥

बाहुभ्यां जलधेः पारं तीर्त्वा याति परं ध्रुवम् ।
न मायाजलधेः स्त्रीणां बहुविभ्रमधारिणः ॥१०१०॥

सव्याघ्रेव गुहा रत्नैर्बहुभेदैर्विराजते ।
रमणीया सदोषा च जायते महिला सदा ॥१०११॥

न दृष्टमपि सद्भावं वक्रधीः प्रतिपद्यते ।
गोधान्तर्द्धि विषत्ते सा पुरुषे कुलपुत्र्यपि ॥१०१२॥

कदाचित् जलमे पाषाण तैरने लग जाय, अग्नि किसीको न जलावे ऐसा संभव है किन्तु पुरुषपर स्त्रियोंका चित्त सरल भावरूप नही हो सकता ॥१००८॥

जब स्त्रियोंमे सरलता नही है तो उनमे विश्वास किसप्रकार कर सकते है ? और विश्वासके बिना उन स्त्रियोंमें रति किस तरह हो सकती है ? ॥१००९॥

कदाचित् दोनों बाहु द्वारा तैरकर सागरका किनारा पा सकते हैं किन्तु स्त्रियोंके बहुतसे विभ्रमरूपी भंवरवाले मायारूपी सागरका किनारा पाना नियमसे शक्य नहीं है ॥१०१०॥

जिसप्रकार कोई गुफा बहुत प्रकारके रत्नोसे शोभायमान है किन्तु सिंह व्याघ्र युक्त है, उसप्रकार महिला सुंदर और दोषयुक्त है ॥१०११॥

भावार्थ—पर्वतकी गुफा रत्नोंसे मनोहर लगती है, किन्तु उसके भीतर सिंहादि क्रूर जन्तु होनेसे भयावह होती है, वैसे स्त्री सुंदर रूपवाली है किन्तु मनमें कुटिलता वासना, छल, ईर्षा आदि दोष भरे होनेसे भयावह है ।

कुटिल बुद्धिवाली स्त्री कुलवान् हो तो भी किसीके द्वारा दोषके देखने पर भी उस दोषको स्वीकार नहीं करती, जैसे गोह नामका जानवर किसी स्थान पर चिपक जानेपर उसे छोड़ता नहीं, वैसे स्त्री पुरुषके द्वारा उसका दोष बतानेपर भी उस दोषको न स्वीकार करती है और न छोड़ती है ॥१०१२॥

दोषाच्छादनतः सा स्त्री वधूर्वधविधानतः ।
प्रमदागदिता प्राज्ञैः प्रमादबहुलत्वतः ॥१०१३॥
नारिर्यतः परोऽस्त्यस्यास्ततो नारी निगद्यते ।
यतो विलीयते दृष्ट्वा पुरुषं विलया ततः ॥१०१४॥
कुत्सिता नुर्यतो मारी कुमारी गदिता ततः ।
बिभेति धर्मकर्मभ्यो यतो भीरुस्ततोमता ॥१०१५॥
यतो लाति महादोषं महिलाभिहिता ततः ।
अबला भण्यते तेन न येनास्ति बलं हृदि ॥१०१६॥
जुषते प्रीतितः पाप यतो योषा ततो मता ।
यतो ललति दुर्वृत्ते ललना भणिता ततः ॥१०१७॥

भावार्थ—स्त्री अपने दोषको छिपाती ही है भले ही उसको प्रत्यक्ष देख लिया हो, कुलवंती नारी भी दोषको स्वीकार नहीं करेगी कि मैंने यह दोष किया है । उलटे यह दोष मुझमे है नही मैंने किया ही नही ऐसा कहती है जैसे गोह प्राणी किसी स्थानका आश्रय लेकर उसको इतना चिपक जाता है कि उसको कितना भी छुडाया जाय किन्तु उस स्थानको छोड़ता नहीं । अथवा गोह पुरुषको देखकर अपनेको छिपानेकी कोशिश करता है वैसे ही स्त्री मुझे कोई देख न लेवे ऐसी कोशिश करती है । सैकड़ों प्रयत्न करनेपर भी स्त्री अपने हठको नही छोड़ती ।

अब यहां स्त्रीवाचक जो जो नाम है उनका निरुक्ति अर्थ बतलाते हैं—

दोषोंका आच्छदन करनेसे यह नारी 'स्त्री' कहलाती है वध करनेसे वधू कहलाती है तथा प्रमादकी बहुलताके कारण उसे प्राज्ञपुरुष 'प्रमदा' कहते है ॥१०१३॥ पुरुषके लिये इससे बढकर अन्य कोई शत्रु नहीं है अतः "नारी" कही जाती है (न अरिः इति नारी) पुरुषको देखकर विलीन होती है—छिप जाती है अतः विलया है ॥१०१४॥ पुरुषके कुत्सित मरणका उपाय करनेसे "कुमारी" कहलाती है जिसकारणसे धर्म कार्यसे डरती है उस कारणसे "भीरु" नामवाली है ॥१०१५॥ जिसकारणसे महादोष लाती है उस कारणसे महिला कहलाती है । जिसकारणसे हृदय बल नहीं रखती उस कारणसे "अबला" नामसे कही जाती है ॥१०१६॥ प्रीतिपूर्वक पाप सेवन करनेसे "योषा" मानी जाती है, खोटे आचरणमें लगी रहती है अतः "ललना" कही जाती है ॥१०१७॥

नामान्यपि दुरर्थानि जायंते योषितामिति ।
समस्तं जायते प्रायो निंदितं पापचेतसाम् ॥१०१८॥

मत्सराविनयायासक्रोधशोकायशोभियाम् ।
सर्वासां कारणं रामा विषाणामिव सर्पिणी ॥१०१९॥

कुलजातियशोधर्मशरीरार्थशमादयः ।
नाश्यंते योषया सर्वे वात्यया तोयदा इव ॥१०२०॥

पावकः सुखवारूणां आवासो दुःखपाथसाम् ।
प्रक्षयो व्रतरत्नानामनर्थानां निकेतनम् ॥१०२१॥

असत्यानां गृहं योषा वंचनानां वसुंधरा ।
कुठारी धर्मवृक्षाणां सिद्धिसौधमहार्गला ॥१०२२॥

दोषाणामालयो रामा मीनानामिव वाहिनी ।
गुणानां नाशिका माया व्रतानामिव जायते ॥१०२३॥

पापिनी स्त्रियोंके नाम भी खोटे अर्थवाले हुआ करते है । ठीक ही है, क्योंकि पापी चित्तवालोके समस्त मन वचन आदि प्रायः निंदित हुआ करते हैं ॥१०१८॥ मत्सर, अविनय, कष्ट, क्रोध, शोक, अयश, भय इन सभोका कारण स्त्री है जैसे विषका कारण सर्पिणी है ॥१०१९॥ स्त्री द्वारा कुल, जाति, यश, धर्म, शरीर, धन और प्रशमभाव आदि समस्त प्रशस्त पदार्थ नष्ट किये जाते हैं जैसे आंधी द्वारा मेघ नष्ट किये जाते हैं, ॥ १०२० ॥ सुखरूपी लकडियोके लिये नारो पावक-अग्नि है, दुःखरूपी जलका मानो निवास स्थल है, व्रतरूपी रत्नोके नाशका कारण है और सर्व अनर्थोंका निकेतन (घर) नारी ही है ॥१०२१॥ स्त्री असत्य भाषणोंका गृह है, ठगाईको भूमि है, धर्मरूपी वृक्षोको काटनेवाली कुठारी नारी ही है, सिद्धि रूपी महलकी यह महा अर्गल है ॥१०२२॥ दोषोंका स्थान स्त्री है जैसे मछलियोका स्थान नदी है गुणोंको नष्ट करनेवाली स्त्री है जैसे कि माया-छलकपट व्रतोको नष्ट करनेवाली है ॥१०२३॥ पुरुष आदिको बांधनेके लिये स्त्री पाशके सदृश है, उन पुरुषोंको काटनेके लिये तलवार समान है, छेदनेके लिये पैना भाला है और डूबनेके लिये फँसनेके लिये, अगाध कीचड़ सदृश है ॥१०२४॥ यह नारी पुरुषोंका

बंधने महिला पाशः खड्गः पुंसां निकर्तने ।
छेदने निशितः कुंतः पंकोऽगाधो निमज्जने ॥१०२४॥

नराणां भेदने शूलं वहने नगवाहिनी ।
मारणे दारुणो मृत्युर्मलिनीकरणे मषी ॥१०२५॥

अनलो दहने पुंसां मुद्गरश्चूर्णने परः ।
ज्वलंती पवने कंडूः करपत्रंविपाटने ॥१०२६॥

उष्णश्चंद्रो रविः शीतो जायते गगनं घनम् ।
नादोषा प्रायशो रामा कुलपुत्र्यपि जातु चित् ॥१०२७॥

छंद रथोद्धता—

सर्पिणीव कुटिला बिभीषणा वैरिणीव बहुदोषकारिणी ।
मंडलीव मलिना नितंबिनी चाटुकर्म वितनोति यच्छतम् ॥१०२८॥

नारीभ्यः पश्यतो दोषानेतानन्यांश्च सर्वथा ।
चित्तमुद्विजते पुंसो राक्षसीभ्य इव स्फुटम् ॥१०२९॥

भेदन करनेके लिये शूलके सदृश है, बहाकर ले जाने हेतु पर्वतकी नदी है, मारणमें दारुण मृत्युवत् है और मलिन करनेके लिये स्याही सदृश है ॥१०२५॥ पुरुषोंको जलाने के लिये मानो अग्नि ही है, चूर्ण करानेमे मुद्गर समान है, वासना रूप अग्निको बढ़ाने के लिये पवन है और पुरुषका हृदय विदारण करनेके लिये करोंत है ॥१०२६॥ कदाचित् चन्द्रमा उष्ण हो सकता है, सूर्य शीतल हो सकता है, गगन घनीभूत हो सकता है किंतु कुलवती स्त्रियां भी प्रायः दोष रहित नहीं देखी जाती हैं ॥१०२७॥ यह स्त्री सर्पिणीके समान कुटिला, वैरीके समान भयंकर बहुत दोषोंको करनेवाली होती है, मडलीके समान मलिन यह नारी सेकड़ों चाटुकर्मको करती रहती हैं अर्थात् पुरुषको वश करने हेतु उसकी चाटुकारी करती है ॥१०२८॥ नारी द्वारा होनेवाले इन दोषोको तथा अन्य भी बहुतसे दोषोंको देखकर पुरुषका चित्त सर्वथा उनसे उद्विग्न हो जाता है अर्थात् ऐसे दोष युक्त नारियोंसे फिर पुरुष प्रेम नहीं करते उनसे डरते हैं जैसे राक्षसीसे अतिशय डर लगता है ॥१०२९॥ स्त्री विषयक इन दोषोको जानकर विद्वान् पुरुष

योषास्त्यजंति विद्वांसो दोषान्ज्ञात्वेति दूरतः ।
व्याघ्रीरिव कृपाहीनाः परामिष परायणाः ।।१०३०।।
दोषा ये संति नारीणां नराणां ते विशेषतः ।
द्रष्टव्या दुष्टशीलानां प्रकृष्टबलतेजसाम् ।।१०३१।।
व्याघ्राइव परित्याज्या नरा दूरं कुचेतसः ।
रामाभिः शुद्धशीलाभी रक्षंतीभिर्निजं व्रतम् ।।१०३२।।
यथा नरा विमुंचंते वनिता ब्रह्मचारिणः ।
त्याज्यास्ताभिर्नरा ब्रह्मचारिणीभिस्तथा सदा ।।१०३३।।
न रामा निखिलाः संति दोषवन्त्यः कदाचन ।
देवता इव दृश्यंते वंदिता बहवः स्त्रियः ।।१०३४।।
मातरस्तीर्थकर्तृणां भुवनोद्योतकारिणां ।
जायंते वनिता धन्याः शक्रवंद्यक्रमांबुजाः ।।१०३५।।

इनको दूरसे ही छोड़ देते है, जैसे निर्दयी, परके मांसमें आसक्त ऐसी व्याघ्रियोको दूरसे ही छोड़ देते हैं ।।१०३०।।

इसप्रकार यहांतक पुरुषोंको स्त्री संबधी दोषोंको बतलाकर उनसे विरक्त रहनेका उपदेश दिया, अब आगे स्त्रियोको मोक्षमार्गमे स्थिर कराने हेतु उपदेश देते हैं—

जो दोष नारियोंमे कहे हैं वे दोष दुष्ट स्वभाववाले और उत्कृष्ट बल तेज वाले पुरुषोंमे भी विशेषतया देखने चाहिये अर्थात् पुरुषसे अपने मोहको हटानेके लिये पुरुषके दोषोंको देखते सोचते रहना चाहिये ।।१०३१।। शुद्ध शीलवती अपने ब्रह्मचर्य व्रतकी रक्षा करनेवाली स्त्रियों द्वारा खोटी बुद्धिवाले पुरुषोको दूरसे ही छोड़ देना चाहिये, जैसे कि व्याघ्रको दूरसे छोड देते है ।।१०३२।। जैसे ब्रह्मचारी पुरुषों द्वारा स्त्रिया त्याग दी जाती हैं वैसे ब्रह्मचारिणी स्त्रियों द्वारा पुरुष सदा त्याज्य होते हैं ।।१०३३।। सभी स्त्रियां दोष युक्त कभी भी नही होती, बहुतसी स्त्रियां देवताओके समान वंदनीय भी देखी जाती हैं ।।१०३४।। तीनों लोकोमें प्रकाश करनेवाले तीर्थंकर प्रभुकी मातायें इन्द्र द्वारा वंदनीय हैं चरण कमल जिनके ऐसी श्रेष्ठ धन्य महिलायें भी होती ही है ।।१०३५।।

शलाकापुरुषास्ताभिर्जन्यंते भुवनार्चिताः ।
धात्रीभिरिव शुद्धाभिर्मणयः पुरुतेजसः ॥१०३६॥

पुंरत्नानि न जायंते शुद्धशीलाः स्त्रियो विना ।
विना नीरदमालाभिः पानीयानां क्व संभवः ॥१०३७॥

आजन्म विधवा काश्चिद्ब्रह्मचर्यमखंडितम् ।
धरति दुर्धरं धन्या ज्वलद्दीपमिवोज्ज्वलम् ॥१०३८॥

कन्याभिरार्यिकाभिश्च चीयते दुश्चरं तपः ।
विच्छिद्य शमशस्त्रेण मन्मथप्रतिबन्धकम् ॥१०३९॥

ध्रियते शुद्धशीलाभिर्यावज्जीवमदूषितम् ।
पतिब्रह्मव्रतं स्त्रीभिः पराभिः पूजितं सताम् ॥१०४०॥

देवेभ्यः प्रातिहार्याणि प्राप्ता विख्यातकीर्तयः ।
योषाः शीलप्रसादेन श्रूयंते बहवो भुवि ॥१०४१॥

ऐसी धन्य माताओं द्वारा तीन भुवनोमें पूजित शलाका महापुरुष उत्पन्न किये जाते हैं, जैसेकि शुद्ध पृथ्वी द्वारा उत्कृष्ट तेजवाले रत्न उत्पन्न किये जाते हैं ॥१०३६॥ शुद्ध शीलवाली महिलाओंके बिना तीर्थंकर, बलदेव जैसे नररत्न उत्पन्न नही हो सकते, जैसे मेघ मालाओंके बिना जलकी उत्पत्ति कहांसे हो सकती है ? नहीं हो सकती ॥१०३७॥ इस धरातल पर विधवा स्त्रियां विवाह होते ही तत्काल पतिदेवके मृत्यु होनेसे ब्रह्मचर्यको अखड रखती है अथवा पतिके मृत्युके पश्चात् सदा ब्रह्मचर्यकी रक्षा करती है । अनेक धन्य स्त्रियां प्रारंभसे जलते हुए दीपकके समान उज्ज्वल दुर्धर ऐसे ब्रह्मचर्यको धारण करती हैं ॥१०३८॥ कुमारी कन्याओं द्वारा, आर्यिकाओं द्वारा प्रशम-भावरूप शस्त्रसे मन्मथ प्रतिबंधको छेदकर घोर तप तपा जाता है अर्थात् कन्या आदि काम वासनाका त्यागकर उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य पालन करती हैं, आर्यिकायें ब्रह्मचर्यके साथ उग्र-उग्र तप करती है ऐसी नारिया धन्य है निर्दोष है ॥१०३९॥ अनेक अनेक शुद्ध स्वभाव वाली श्रेष्ठ स्त्रियां सज्जन पुरुषों द्वारा पूजित निर्दोष पति ब्रह्मव्रत अर्थात् अपने एक पतिको छोड़कर अन्य सभी पुरुषोंके त्याग रूप व्रतको यावज्जीव तक पालन करती है ॥१०४०॥ विख्यात है कीर्त्ति जिनकी ऐसी बहुतसी महिलायें इस पृथिवीपर

शीलवंत्यो विलोक्यंते ता धन्या बुधवंदिताः ।
समर्थाः शीतलोकतुं या ज्वलंतं हुताशनम् ।।१०४२।।
सर्वशास्त्रसमुद्राणां वंदितानां जगत्त्रये ।
सवित्र्यः सन्ति शीलाढ्याः साधूनां चरमांगिनाम् ।।१०४३।।
निमज्ज्यंते न पानीयैर्नीयंते न नदीजलैः ।
सत्यो व्यालैर्न भक्ष्यन्ते न दह्यन्ते हुताशनैः ।।१०४४।।
मोहोदयेन जायंते स्त्रीपुंसामशुभाः शुभाः ।
परिणामा इति ज्ञात्वा मोहो निंद्यो न जन्तवः ।।१०४५।।

सुनी जाती है जिन्होने अपने शील प्रसादसे देवेन्द्रों द्वारा प्रातिहार्य प्राप्त किये थे ।।१०४१।।

भावार्थ—सीता, अंजना, द्रौपदी, अनंतमती, चंदना आदि अनेक श्रेष्ठ स्त्रियाँ इस पृथिवोमें प्रसिद्ध हैं कि जिन्होने अपने पावन शीलव्रत द्वारा देवोंका भी आसन कंपायमान किया या देवोंके द्वारा जिन्होने सिंहासन, छत्र चामर आदि विभूतिको प्राप्त किया था । जैसे सीता जब अपने शीलकी परीक्षा दे रही थी उस वक्त देवने अग्निका जल करके उसको सिंहासन पर बिठाकर जयकार, दुंदुभिनाद, पुष्पवृष्टि आदि अतिशय किये थे । जब अंजना भयानक वनमे गुफामें रही थी तब उसके पास आते हुए सिंहको देवने ही भगा दिया था ऐसे अन्य-अन्य नारियोंका उज्ज्वल ब्रह्मचर्यका प्रताप शास्त्रोंमें पढनेको मिलता है । अतः सब स्त्रिया दुष्टा कुलटा है ऐसा नही समझना न सब पुरुष ही दुष्ट कुलटे है न सब स्त्रियां कुलटा है ।

बुद्धिमान द्वारा वंदित शीलवान् नारियां देखी जाती है वे नारियां इस ससार में धन्य है जो कि जलती हुई अग्निको ठडा करनेमे समर्थ है ।।१०४२।। जो समस्त शास्त्र समुद्रोके पारगामी है, तीन लोकमे वंदित है, चरम शरीरी है ऐसे साधुओंकी शील संपन्न मातायें भी होती ही हैं ।।१०४३।। जो सत्य है वह जल द्वारा डुबाया नही जा सकता, नदी जल द्वारा बहाया नही जा सकता, जंगली पशुओं द्वारा भक्षण नही किया जा सकता और अग्नि द्वारा जलाया नही जासकता है ।।१०४४।। इस संसारमें स्त्री और पुरुष दोनोंके ही मोहके उदयमे शुभ और अशुभ दोनो तरहके परिणाम हुआ करते हैं ऐसा जानकर मोहकी निंदा करना चाहिये, जीवोंकी नही ।।१०४५।।

साधारणेऽत्र सर्वेषां जीवानामनिवारिते ।
दुष्टाः सन्ति परिणामास्ततः कार्योऽस्य निग्रहः ।।१०४६।।

श्लाघ्या भवति नार्योऽपि शुद्धशीला महीयसा ।
स्त्री पुमानिति कुर्वन्ति शेमुर्षी मंदमेधसः ।।१०४७।।

सामान्येन ततो नेह निंदिताः सन्ति योषितः ।
शुद्धशीला न गच्छंति दूषणं हि कदाचन ।।१०४८।।

छंद रथोद्धता—

शुद्धशीलकलितासु जायते नांगनासु चरितं मलीमसं ।
आस्पदं हि विदधाति तामसं हंसरश्मिषु कदाचनापि किं ।।१०४९।।

इतिस्त्री दोषाः ।

इस विचित्र विश्वमें सभी जीवोंके बिना किसी रुकावटके सब तरहके–भले बुरे कुशील और सुशील परिणाम होते हैं इसलिये जो दुष्ट परिणाम है उनका कारण जो मोह है उसका निग्रह करना चाहिये ।।१०४६।।

संसारमें शुद्ध शीलयुक्त नारियां भी महापुरुषों द्वारा प्रशंसनीय होती है, जो मंद बुद्धि हैं वे ही यह स्त्री है यह पुरुष है ऐसी भेद बुद्धि करते है । आशय यह है कि स्त्री हो चाहे पुरुष। यदि दुष्ट कुशीली है तो दोनों ही निंदनीय है और यदि शीलवान सदाचारी है तो दोनों प्रशंसनीय हैं इस दृष्टिसे दोनोंमें भेद नही है ।।१०४७।। इसीलिये तो सामान्यतया स्त्रियां ही निंदित नही की गयी हैं अर्थात् कोई यह न समझे कि स्त्रियों की ही केवल निंदा की है । स्त्री हो चाहे पुरुष यदि कुशील दुराचारी हैं तो दोनों निंदित हैं । शुद्ध शील स्वभाववाली स्त्रियां कभी भी दूषणको प्राप्त नही होती हैं ।।१०४८।।

शुद्ध शीलवान स्त्रियोंमें चारित्र मलिन नही होता, क्या कभी हंस रश्मियोंमें तामस स्थान पाता है ? नही पाता अर्थात् हस सदृश उज्ज्वल किरणोंमें जैसे मलिन अधकारका रहना संभव नही वैसे शुद्ध शीलवती नारियोंमें मलीन आचरण संभव नही है ।।१०४९।।

देहस्य बीजनिष्पत्तिक्षेत्राहारोजन्मवृद्धयः ।
प्रंसाश्च निर्गमोऽशौचं ज्ञेयं व्याधिरनित्यता ॥१०५०॥

विशेषार्थ—आचार्य अमितगतिने इस ग्रंथमें पुरुषोको विशेषतया मुनिजनोंको स्त्रियोंसे विरक्ति कराने हेतु स्त्रियोंमे दोष बताये हैं । पुनश्च स्त्रियोंको पुरुषोसे विरक्ति कराने हेतु पुरुषोंमें दोष बताये है, किन्तु स्त्रियोंके दोष वर्णनमें बहुत विस्तार किया है । सर्वत्र ब्रह्मचर्यके वर्णनमें यही तरीका देखा जाता है कि प्रथम सविस्तर स्त्रियोंके दोष दिखाये जाते है और अंतमे पुरुषोंके दोष बहुत थोड़े वाक्यों द्वारा बताये जाते हैं । अधिक वर्णन होनेसे स्त्री सबंधी दोषोंपर तो पाठक या श्रोताजनोंकी दृष्टि जाती है किन्तु पुरुष संबंधी दोषोपर नहीं जाती । किन्तु यह उनकी बुद्धिकी ही कमी समझनी चाहिये । आचार्योंने कभी भी सर्वथा नारीकी निंदाकी हो ऐसा नही है । स्त्री हो चाहे पुरुष खोटे आचरण करे तो दोनों निंद्य है ।

बहुतसे लोग कुतर्क किया करते है कि आचार्य ग्रंथ रचना करते हैं और वे पुरुष है ही, अतः स्त्रियोंके दोषोंको बतलाते हैं । यदि स्त्रियां ग्रंथ रचना करे तो ऐसा नही होता या नही होगा ? किन्तु यह सर्वथा असत्य है । जो तत्त्वज्ञ है वह ऐसा न समझता है न प्रतिपादन ही करता है । शास्त्रोंमें सर्वत्र ब्रह्मचर्यके वर्णनमें मुख्यतया स्त्री संबंधी दोषोका वर्णन करनेमें तीन हेतु हैं—

प्रथम तो मोक्षमार्गमे निर्बाधगतिसे गमन पुरुषही कर सकता है अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति पुरुषके ही होती है, स्त्रियां मोक्ष मार्गपर चलती है किन्तु उनका गंतव्य तक निर्बाध गमन नही है । जो मार्गपर तो चले किन्तु मंजिल तक नही पहुच पावे उनको मार्ग संबधी कथनमें मुख्यता कैसे हो सकती है ?

दूसरा हेतु—चारों पुरुषार्थोंमें पूर्ण सफलता पुरुषोंको मिलती है अर्थात् धर्म आदि पुरुषार्थको पूर्ण रूपेण करनेके लिये पुरुष ही सक्षम है । तीसरा हेतु—जो व्यक्ति जिस कार्यको प्रारंभसे अंततक पूर्ण कर सके उसी व्यक्तिको उस कार्य संबंधी उपदेश दिया जाता है । लौकिक कार्यमे भी यही बात है ।

अंतमें निश्चित रूपसे यही समझना चाहिये कि यदि पुरुषोंको अपने ब्रह्मचर्य को निर्मल रूपसे पालन करना है तो उन्हें स्त्रियोंका संपर्क, उनमें अनुराग अवश्य छोड़ना पड़ेगा ऐसा नहीं होता कि उनसे अनुराग तथा संपर्क करते रहें और ब्रह्मचर्य

देहस्याशुचिनिर्बीजं यतो लोहितरेतसी ।
ततोऽसावशुचिर्ज्ञेयो यथा गूथाज्यपूरकः ॥१०५१॥
द्रष्टुं घृणायते देहो वर्चोराशिरिव स्फुटम् ।
स्प्रष्टुमालिंगितुं भोक्तुं तद्बीजो भुज्यते कथम् ॥१०५२॥

निर्दोष बना रहे । जब किसी भी वस्तुका अनुराग तोड़ना है तो उस वस्तुके दोष देखने से ही अनुराग टूट सकता है अन्यथा नही । इसलिये पुरुषोंको सर्वोत्कृष्ट व्रत परिपालनार्थ स्त्री संबंधी दोष अवलोकन कर उनसे विरक्ति करनी चाहिये और स्त्रियोंको सर्वोत्कृष्ट व्रत परिपालनार्थ पुरुष सबधी दोष अवलोकन करके उनसे विरक्ति करनी चाहिये क्योंकि स्त्री और पुरुष दोनोंका एक दूसरेके प्रति आकर्षण होता है, उस आकर्षणको समाप्त करनेके लिये एक दूसरेकी सगति वार्त्तालाप आदि त्याज्य होते हैं । "अंगार सदृशी नारी, नरः घृतोपमो मतः । अस्तु ! शास्त्रके हार्दको समझकर विवाद छोड़ देना चाहिये और तात्त्विक पैनी दृष्टि अपनाकर स्त्री और पुरुष दोनोंको ही अपने ब्रह्मचर्य का निर्दोष परिपालन करना चाहिये इसीमे कल्याण है ।

स्त्री संबंधी दोषोंका कथन कर उनसे मुनिजनोंकी विरक्ति करायी अब शरीर संबंधी दोषोंको प्रतिपादन उससे वैराग्य कराने हेतु करते हैं—

शरीरके वर्णन करनेमें ये बारह प्रकरण है—

शरीरका बीज, उसकी निष्पत्ति क्षेत्र, आहार, जन्म, वृद्धि–जन्मक्षणसे लेकर आगे शरीरकी वृद्धि होना, अवयव, निर्गम–कर्ण आदिसे मलका निकलना, अशुचित्व, असारता, व्याधि, अनित्यता इनके द्वारा शरीरका वर्णन करेगे ॥१०५०॥

क्रमशः देहके बीजका वर्णन तीन कारिकाओ द्वारा करते हैं—जिसकारणसे शरीरका बीज माताका रक्त और पिताका वीर्य है उस कारणसे वह अशुचि है, जैसेकि मलसे निर्मित घृतपूरक–घेवर ॥१०५१॥

यह शरीर मलोंकी राशि सदृश है उसको देखना भी घृणा कराता है तो स्पर्शन करनेके लिये आलिगन करनेके लिये और भोगनेके लिये किसप्रकार शक्य है ? अर्थात् रक्त वीर्यरूप बीजवाले इस घृणित शरीरको कैसे भोग सकते हैं–मैथुन सेवन कैसे कर सकते हैं ? ॥१०५२॥

कणिकाशुद्धितः शुद्धः कणिकाघृतपूरकः ।
वर्चोबीजः कथं देहो विशुद्धयति कदाचन ॥१०५३॥
॥ इति बीजं ॥

दशाहं कलिलीभूतं दशाहं कलुषीकृतं ।
दशाहं च स्थिरीभूतं बीजं गर्भेऽवतिष्ठते ॥१०५४॥

मासेन बुद्बुदीभूतं तन्मासेन घनीकृतम् ।
मांसपेशी च मासेन जायते गर्भपंजरे ॥१०५५॥

मासेन पुलकाः पंच मासेनांगानि षष्ठके ।
उपांगानि च जायंते गर्भवासनिवासिनः ॥१०५६॥

गेंहूके आटेसे बना घृतपूरक इसलिये शुद्ध है कि वह शुद्ध आटेसे बना है किन्तु मलरूप बीजवाला देह कैसे शुद्ध हो सकता है ? अर्थात् घेवरका उपादान शुद्ध है अतः घेवर शुद्ध है और शरीरका उपादान अशुद्ध रक्त वीर्य है अतः शरीर अशुद्ध है, वह कदापि शुद्ध नहीं हो सकता ॥१०५३॥

शरीरके बीजका वर्णन समाप्त ।

मानवके शरीरके निर्माणका क्रम पांच श्लोकों द्वारा कहते हैं—माता पिताका रजोवीर्य माताके उदरमे मिश्रित होकर दश दिन तक कलल अवस्थारूप अर्थात् तांबा और चांदीको गलाकर जैसे विलीन किया जाता है वैसे रजोवीर्यका होना कलल अवस्था है । उस रूप दस दिन तक रहता है । पुनः दश दिन तक वह कलुषित रूप रहता है । फिर दस दिन तक स्थिर रूप होकर रहता है ॥१०५४॥ इसप्रकार एक मास पूर्ण होने पर एक मास तक बबूलेकी अवस्थाको प्राप्त होता है, पुनः एक मासमें घनीभूत होता है और पुनः गर्भपंजरमें उक्त गर्भ मांसपेशी रूप एक महिनेमें बनता है ॥१०५५॥ पुनः पांचवें महिनेमें उस गर्भमें पांच पुलक अर्थात् दो हाथ दो पैर और एक शिर इस रूप पांच अंकुर उक्त मांस पिंडमें निकलते हैं । छठे मासमें अग और उपांगोंकी रचना होती है अर्थात् दो हाथ, दो पैर, नितंब, उर, पीठ और मस्तक ये आठ अंग एवं कान, नाक, ओठ, अंगुली आदि उपांग इनकी रचना छठे मासमें होती है ॥१०५६॥

चर्मरोमाणि जायंते मासे तस्यात्र सप्तमे ।
स्पंदोऽष्टमे विनिर्याणं नवमे दशमे ततः ॥१०५७॥
यतोऽशुचीनि सर्वाणि कललादीनि कारणम् ।
वर्चासीव ततो देहो जुगुप्स्यो महतां सदा ॥१०५८॥
इति निष्पत्तिः ।

तिष्ठत्यामाशयस्याध ऊर्ध्वं पक्वाशयस्य सः ।
जरायुर्वेष्टितो मासान्नवात्रामेध्यमध्यगः ॥१०५६॥
मासमेकं स्थितोऽध्यक्षं वर्चोमध्ये जुगुप्स्यते ।
निजोऽपि न कथं गर्भे वांते नवदश स्थितः ॥१०६०॥
इति क्षेत्रम् ।

सातवें मासमे चर्म और रोम आते हैं । आठवें मासमें उस गर्भमें हलन-चलन होने लगता है और नवमें या दसवें मासमें उदरसे निकलना होता है अर्थात् प्रसूति होती है ॥१०५७॥

इसप्रकार कलल आदि सभी अवस्थाये अशुचि हैं इसीलिये महापुरुषों द्वारा सदा ही यह देह मलराशिके समान जुगुप्सा-ग्लानि करने योग्य है ॥१०५८॥

शरीर निष्पत्तिका वर्णन समाप्त ।

शरीर निर्माण जहां होता है उस गर्भाशय रूप क्षेत्रको अशुचिताको बताते है—माताके उदरमें गर्भकी स्थिति-उसके रहनेका क्षेत्र आमाशय-खाये हुए अन्नका पाचन होनेके पूर्व जो स्थान रहता है वह आमाशय है और पक्वाशय अर्थात् जठर-पेटको अग्नि द्वारा जो पक-पच चुका है ऐसे अन्नके रहनेका स्थान पक्वाशय कहलाता है । उस आमाशयके नोचे और पक्वाशयके ऊपर इसतरह बीचमें जरायुसे वेष्टित वह गर्भ नव मास तक रहता है जो कि अमेध्य मध्यग कहलाता है अर्थात् आमाशय और पक्वाशयके बीचमें होनेसे अमेध्य मध्यग कहा जाता है ॥१०५९॥

मल स्थानपर एक महिने तक कोई व्यक्ति रहता हुआ अपनेको दिखता है तो वह भले ही अपना हो तो भी ग्लानि करने योग्य हो जाता है तो फिर नव मास पर्यंत वमन स्थानीय माताके गर्भमें रहा हुआ यह अपना शरीर कैसे ग्लानि करने योग्य नहीं होगा ? होगा ही ॥१०६०॥

पिच्छिलं चर्वितं वर्न्तैर्मिश्रितं श्लेष्मणा च यत् ।
अन्नं मात्रशितं युक्तं पित्तेन कटुकात्मना ।।१०६१।।

अमेध्यसदृशं वांतं समीरेण पृथक्कृतम् ।
ऊर्ध्वं कटुकमश्नाति विगलंतमसौ रसम् ।।१०६२।।

ततोऽस्ति सप्तमे मासे नाभौ ह्युत्पलनालवत् ।
ततो नाभ्या तया वान्तं तदादत्ते स गर्भगः ।।१०६३।।

अमेध्यं भक्षयन्नेकं मासं दृष्टो जुगुप्स्यते ।
निजोपि न कथं गर्भे मासान्नवदशानसौ ।।१०६४।।

इति आहार ।

भावार्थ—कोई अपना निजी व्यक्ति भी है और मल मूत्रके स्थानपर थोड़े कालतक रहता है तो हम उस व्यक्तिकी ग्लानि निंदा आदि करने लग जाते हैं किन्तु अपना निज शरीर नौ महिने तक माताके द्वारा भुक्त उच्छिष्ट अन्नके मध्य रहता है तो यह कैसे ग्लानिकारक नहीं होगा ? फिर भी मूढ जन इस शरीर पर स्नेह करते है ।

माताके उदरमें शरीरके लिये कैसा आहार मिलता है यह बताते है—

दांतोंके द्वारा चबाया हुआ कफसे गीला एवं मिश्रित कडुवे पित्तसे युक्त ऐसा माता द्वारा भुक्त अन्न होता है तथा जो मलके समान है वांत है खल भाग जिसका वायु द्वारा पृथक् किया गया है ऐसे आहारका ऊपरसे रस गलता है तब उस रसकी एक एक कड़वी बूंदको गर्भस्थ जीवयुक्त शरीर ग्रहण करता है अर्थात् जब हम माताके उदरमें रहते हैं तो माताके खाये हुए झूठे अन्नके रसको ही अपना आहार बनाते हैं ।।१०६१।। ।।१०६२।।

छह मासतक तो इसतरह बीतते हैं । सातवें मासमें कमलकी नालकी तरह नाभि स्थानपर नाभि सहित एक नाल उत्पन्न होती है तब वह गर्भस्थ जीवसहित शरीर उस नाभि-नाल द्वारा माता द्वारा वांत आहारको ग्रहण करता है ।।१०६३।। किसीको एक माहतक अशुचिको खाते हुए देखा जाय तो उसकी ग्लानि आती है, भले

शोणितप्रस्रवद्द्वारं दुर्गंधं जठराननं ।
अवाच्यजन्मभूतस्य लज्जनीयमशौचकम् ।।१०६५।।
परो बस्तिमुखस्पर्शी महद्भिर्निद्यते यदि ।
उदरद्वारसंस्पर्शी विनिंद्यो न तदा कथम् ।।१०६६।।
इति जन्म ।
निंद्यानि लज्जनीयानि कर्माणि कुरुते शिशुः ।
कृत्याकृत्यमजानानो सेव्यासेव्यं च मूढधीः ।।१०६७।।

ही वह व्यक्ति अपना हो हो । तो फिर जो नव या दस मासतक गर्भमे अमेध्य भक्षण करता है ऐसा यह शरीर कैसे ग्लानिकारक नही होगा ? अर्थात् ऐसे शरीरसे ग्लानि आना चाहिये ।।१०६४।।

गर्भस्थ शरीरके आहारका वर्णन समाप्त ।

शरीरका जन्म—

मनुष्यका जन्म जिससे होता है वह रक्त और मूत्र निकलनेका द्वार है, दुर्गंध युक्त है, जठर—उदरका मुख है शब्द द्वारा कहने योग्य नही है, लज्जाकारक और अशुचि है ऐसा माताका योनि स्थान है उससे मानवका या शरीरका जन्म होता है ।।१०६५।।

यदि उदरका स्पर्श करनेवाला महान् पुरुषों द्वारा निंदनीय होता है तो उदरद्वार स्पर्शी—योनि स्थानका स्पर्श करनेवाला निंदनीय कैसे नही होगा ? होगा ही ।।१०६६।।

जन्म वर्णन समाप्त ।

जन्मवृद्धिका कथन करते हैं—

गोदीका बालक—शिशु निंद्य और लज्जाकारक कामोंको करता रहता है वह मूढ़ बुद्धि कार्य और अकार्य तथा सेव्य और असेव्यको नही जानता है अर्थात् छोटेसे बालकको यह काम करना योग्य है यह पदार्थ खाने योग्य है ऐसा विचार नहीं रहता है ।।१०६७।।

स चर्मपूयमांसास्थिवर्चोमूत्रकफादिकं ।
स्वस्यापरस्य वा वक्त्रे क्षिपते विगतत्रपः ।।१०६८।।

यत्किंचित्कुरुते ब्रूते बालः खादत्यलज्जितः ।
हदते विगतज्ञानः प्रदेशे यत्र तत्र वा ।।१०६९।।

बाले यदि कृतं कोऽपि कृत्यं संस्मरति स्वयम् ।
तदात्मन्यपि निर्वेदं यात्यन्यत्र न किं पुनः ।।१०७०।।

अमेध्यस्य कुटो गात्रममेध्येनैव पूरिता ।
अमेध्यं स्रवते छिद्रं अमेध्यमिव भाजनम् ।।१०७१।।

इति वृद्धि ।

शतानि त्रीणि संत्यस्थ्नां मज्जापूर्णानि विग्रहे ।
सधीनामपि तावन्ति सन्ति सर्वत्र मानुषे ।।१०७२।।

वह निर्लज्ज शिशु अपने या परके मुखमे चर्म, हड्डी, पीप, मास, मल, मूत्र और कफ आदिको डालता है उसे कुछ ज्ञान या समझ नही रहती है ।।१०६८।। वह शिशु जो कुछ भी कार्यको करता है जो चाहे कुछ भी बोलता है । निर्लज्ज हुआ कुछ भी खाता है । जिसको ज्ञान नही है ऐसा यह बालक जहां तहां मलको कर डालता है ।।१०६९।। बाल अवस्थामें स्वयं जो अयोग्य कार्य किया था उस कृत्यको यदि कोई स्मरण कर लेवे अथवा उसको कदाचित् अयुक्त कृत्यकी याद आ जाय तो वैराग्य होता है फिर अन्य स्त्री आदिके विषयमे क्या निर्वेद नही होगा ? होगा ही । आशय यह है कि हमने स्वयंने बचपनमे जो जो गलत कार्य किये उनकी याद आवे तो ग्लानि से मन भर जाता है और उससे किसीको वैराग्य भी हो जाता है । जब स्वयके बचपन की यह वार्ता है तो अन्य स्त्री आदिके शरीरसे ग्लानि क्यों नही होगी ।।१०७०।। यह शरीर अमेध्य-अशुचिकी कुटी-झोंपड़ी है वह अमेध्यसे ही भरी है और अमेध्यको झराती है, जैसे अमेध्यसे भरा पात्र यदि छिद्र सहित हो तो अमेध्यको झराता है ।।१०७१।।

शरीर वृद्धि वर्णन समाप्त ।

मांसपेशीशिरास्नायुशतान्यंगे यथाक्रमम् ।
पंच सप्त नव प्राज्ञाः सर्वदापि प्रचक्षते ।।१०७३।।

शिराजालानि चत्वारि कंडराणि च षोडश ।
शिरामूलानि षट् चैव मांसरज्जुद्वयं तथा ।।१०७४।।

कालेयकानि सप्तांगे त्वचः सप्त निवेदिताः ।
सर्वत्र कोटि लक्षाणामशीतो रोमगोचरा ।।१०७५।।

आमपक्वाशयस्थानं षोडशैवांत्रयष्टयः ।
कुथितस्याश्रयाः सप्त शरीरे संति मानुषे ।।१०७६।।

नव संति व्रणास्यानि मुच्यमानानि कश्मलम् ।
तिस्रः स्थूणाशतं देहे मर्मणां सप्तसंयुत ।।१०७७।।

शुक्रमस्तिष्कमेदांसि प्रत्येक सूरयो विदुः ।
स्वकीयांजलिमानानि मनुष्याणां कलेवरे ।।१०७८।।

षडंजलिमितं पित्तं वसांजलित्रयप्रमा ।
श्लेष्मा पित्तसमो रक्तमर्द्धाढकमितं मतम् ।।१०७९।।

शरीरके अवयवोका वर्णन—

इस मानवके शरीरमे तीनसौ हड्डियां हैं जो कि मज्जा नामकी दुर्गंध धातुसे युक्त हैं तथा सधियां भी तीनसौ हैं ।।१०७२।। शरीरमे मांस पेशियां पाच सौ, शिराये सातसौ और स्नायु नौसौ हैं ऐसा प्राज्ञ कहते है ।।१०७३।। तथा शिराओके जाल चार, सोलह कंडरा, छह शिराओके मूल और मांस रज्जु दो है ।।१०७४।। शरीरमे कालेयक सात है, सात त्वचा है और अस्सो लाख कोटि रोम है ।।१०७५।। आमाशय और पक्वाशयमे सोलह आंते है तथा दुर्गंधके आशय सात हैं ।।१०७६।। इस देहमें व्रण मुख नौ है जो दुर्गंधिको झराते हैं । तीन स्थूणा–वात पित्त कफ हैं और मर्मस्थान एक सौ सात हैं ।।१०७७।। मानवोंके शरीरमे शुक्र, मस्तक और भेद ये तीनों अपने अपने हाथसे अंजुली प्रमाण है ऐसा आचार्य कहते है ।।१०७८।। शरीरमे छह अंजुली प्रमाण पित्त हैं, तीन अंजुलो प्रमाण वसा नामा धातु है । कफ पित्तके समान छह अंजुली है, रक्त आधा आढक [बत्तीस पल प्रमाण] है ।।१०७९।। मल छह प्रस्थ प्रमाण है मूत्र आधा

षट्प्रस्थप्रमितं वर्चो मूत्रमर्द्धाढकप्रमम् ।
नखानां विंशतिर्दन्ताद्वात्रिंशत्प्रकृता मताः ॥१०८०॥
कायः कृमिकुलाकीर्णः कृमिणो वा व्रणोऽखिलः ।
तं सर्वं सर्वतो व्याप्य स्थिताः पंचचरण्यवः ॥१०८१॥
इत्यंगेऽवयवाः सन्ति सर्वे कुथितपुद्गलाः ।
नैकोऽप्यवयवस्तत्र पवित्रो विद्यते शुचिः ॥१०८२॥
दग्धनिःशेषचर्माणं पांडुरांगीं गलद्रसां ।
दिदृक्षतेऽपि नो कोऽपि वल्लभामपि वल्लभः ॥१०८३॥
अभविष्यन्न चेद्गात्रं पिहितं सूक्ष्मया त्वचा ।
को नामेदं तवास्प्रक्ष्यन्मक्षिकापत्रतुल्यया ॥१०८४॥
कर्णयोः कर्णगूथोऽस्ति तथाक्ष्णोर्मलमश्रु च ।
सिंघाणकाख्यो निद्या नासिकापुटयोर्मलाः ॥१०८५॥

आढक है, नख बीस है, दांत बत्तीस है सब अवयवोंका यह जो प्रमाण बताया वह स्वाभाविक रूप है (विकृत अवयव हीनाधिक भी हुआ करते है एवं मल आदिक भी विकृत होनेपर हीनाधिक हो जाते हैं) ॥१०८०॥ यह शरीर कृमिकुलोंसे भरा है, जैसे व्रण–घाव कृमियोसे भरा रहता है। ऐसे इस शरीरको सब ओरसे व्याप्त करके पाच वायुयें स्थित है ॥१०८१॥ इस शरीरमे सर्व ही अवयव कुथित–सड़े पुद्गल स्वरूप है। उसमें एक भी अवयव पवित्र शुचि नही है ॥१०८२॥ जिसका समस्त चर्म जल गया है जिससे सफेद अगवाला हो गया है एवं सड़ा रक्त जिससे झर रहा है ऐसा यह शरीर बन जाय तो वह भले ही प्रिय था किन्तु ऐसा होनेपर अपना प्रिय व्यक्ति भी उसे देखने की इच्छा भी नही करता है ॥१०८३॥

मक्खीके पंखके समान पतले चर्मसे यह शरीर यदि ढका हुआ नही होता तो उसको कौन व्यक्ति स्पर्श करता ? कोई भी नही करता ॥१०८४॥

शरीर अवयव वर्णन समाप्त ।

निर्गमका वर्णन—

अब इस शरीरसे क्या निकलता है शरीरमें क्या-क्या पैदा होता है यह बताते है—

लालानिष्ठीवनश्लेष्म पुरोगा विविधा मलाः ।
जायते सर्वदा वक्त्रे दंतकीटाकुलव्रणे ॥१०८६॥

ये मेहगुदयोः सन्ति वर्चोमूत्रादयो मलाः ।
न वक्तुमपि शक्यंते वीक्षितुं ते कथं पुनः ॥१०८७॥

चिक्कणो रोमकूपेषु स्वेदः सर्वेषु सर्वतः ।
यूकाः षट्पदिका लिक्षाजायंते सर्वदा ततः ॥१०८८॥

गात्रैर्मुंचति वर्चांसि विग्रहो निखिलैरपि ।
गूथपूर्णो घटो गूथ छिद्रितो विवरैरिव ॥१०८९॥

गुह्यं रवयवं. स्त्रीणा निचितैर्विविधैर्मलैः ।
सारासारप्रदृष्टानां मानसं ह्रियते कथम् ॥१०९०॥

लज्जनीयेऽतिबीभत्से मूढधी रमते कथम् ।
योनौ क्लिन्ने स्रवद्रक्ते निंद्ये कृमिरिवव्रणे ॥१०९१॥

कर्णोंमें कर्णोका मल रहता है तथा आंखोमे उसका मैल और अश्रु निकलते हैं। नाकके पुटोमें सिघान आदि निद्य मल हुआ करते है ॥१०८५॥ मुखमे लार, थूक, कफ आदि विविध मल सदा हो रहते हैं, कैसा है यह मुख ? जिसमे दातोंके मसूड़ोमें कीड़ोंका कुल और व्रण रहते हैं ॥१०८६॥ मेदन और गुदामे क्रमशः मूत्र और मल आदि रहते हैं जिनको कहनेके लिये भी शक्य नही उनका देखना किसतरह शक्य है ? अर्थात् ये मेदन आदि पदार्थ निदनीय होनेसे देखने कहने योग्य नही हैं ॥१०८७॥ संपूर्ण रोम कूपोंमें चिकणा पसीना होता है, जिससे कि सदा जू लीक अर्थात् चर्मकी यूका जूं उत्पन्न होती है ॥१०८८॥ सारे ही शरीर अवयवोसे मैल निकलता है, जैसे मैलसे भरे छिद्रवाले घटके छिद्रोंसे सतत् मैल झराता है ॥१०८९॥ स्त्रियोंके विविध मलोंसे भरे गुह्य अवयवोसे सार असारको देखने वाले मनुष्योंका मन कैसे लज्जित नहीं होता ? ॥१०९०॥

अति लज्जाका कारण, घिनावने, आर्द्र, रक्त झराते हुए निंद्य ऐसे स्त्रीके योनिमें मूढ बुद्धि कैसे रमता है ? वह तो वैसा है जैसे व्रणमें कीड़े रमते हैं ॥१०९१॥

अंगारस्येव कायस्य बहिरंतश्च दृश्यते ।
नैकोप्यवयवः शुद्धः सर्वथा मलिनात्मनः ।।१०९२।।

कायो जलैः पयोधोनां धाव्यमानोऽखिलैरपि ।
स्वभावमलिनो जातु नांगार इव शुध्यति ।।१०९३।।

अभ्यंगोद्वर्तनस्नानमुखदंताक्षिधावनैः ।
शश्वद्विशोध्यमानोऽपि दुर्गंधं वाति विग्रहः ।।१०९४।।

मृत्तिकांजनपाषाणधातुत्वङ्मूलवल्लिभिः ।
केशास्यवासतांबूलधूपपुष्प दलादिभिः ।।१०९५।।

प्रच्छाद्य निंदितं गंधं भुज्यतेऽन्यकलेवरम् ।
हिंग्वादिभिरिव द्रव्यैः पिशितं विघृणात्मभिः ।।१०९६।।

जिसप्रकार कोयलेका अंदरका और बाहरका एक भी अवयव शुद्ध (शुक्ल) नही होता सर्वथा मैला (काला) ही होता है, उसप्रकार शरीरका एक भी अवयव शुद्ध दिखायी नहीं देता ।।१०९२।।

निर्गम वर्णन समाप्त ।

शरीर अशुचि वर्णन—

सागरोंके संपूर्ण जलसे धोने पर भी यह स्वभावसे मैला शरीर कदाचित् भी शुद्ध नही होता, जैसे कोयला शुद्ध नही होता है ।।१०९३।। अभ्यंग, उद्वर्त्तन स्नान द्वारा तथा मुख प्रक्षालन, दांत धोवन, आंख प्रक्षालन आदि द्वारा यह शरीर सतत् शुद्ध करने पर भी दुर्गंधमय पदार्थोंको उगलता रहता है ।।१०९४।। मुलतानी आदि मिट्टी द्वारा, अंजन, पाषाण स्वरूप अनेक प्रकारके रत्न, सुवर्ण आदि धातु या जल, छाल, जड़, बेल आदि पदार्थों द्वारा केश और मुख आदिका संस्कार तथा तांबूल, धूप, पुष्प, पत्र आदिसे निंदित और दुर्गंधित शरीरको प्रच्छादित कर और सुगंधित करके उस स्त्री अथवा पुरुषके शरीरको भोगा जाता है अर्थात् घिनावने भागोंको ढककर दुर्गंधित भागो को जबरदस्ती सुगधित करके कामुक स्त्री पुरुष उस शरीरका भोग करते हैं जैसे कि घिनावने दुर्गंधित मांसको हिंग आदि द्रव्योसे संस्कारित कर दुष्ट निदनीय पुरुष खाते है ।।१०९५।।१०९६।। यदि यह शरोर मयूरके समान स्वभावसे मनोहर होता तो

मयूरदेहवद्देहो यद्यभास्यन्निसर्गतः ।
अभविष्यत्तदा शोभा तस्मिन्नीक्षणतोषिणी ।।१०९७।।

आत्मनः पतितो खेलो यदि स्प्रष्टुं घृणायते ।
तदा रामामुखांभो हि पीयते कुथितं कथम् ।।१०९८।।

वीक्ष्यमाणो मनुष्याणां बहिरंतश्च वीक्ष्यते ।
एरंडदंडवद्देहो न सारोऽत्र कदाचन ।।१०९९।।

चमरीणां कचं क्षीरं गवां शृङ्गाणि खड्गिनां ।
भुजंगानां मणिः पिच्छं बर्हिणां करिणां रदः ।।११००।।

कस्तूरिका कुरंगाणामित्थं सारो विलोक्यते ।
शरीरे न पुनर्नृणां कोऽपि क्वापि कदाचन ।।११०१।।

छंद–द्रुत विलंबित—

कुथित सद्मनि वा कुथितैः कृते कृमिकुलैर्विविधैरभितो भृते ।
शुचि नृणां सकलाशुचिमंदिरे भवति किंचन नात्र कलेवरे ।।११०२।।

उसकी शोभा नेत्रको प्रसन्न करती अर्थात् स्वभावसे सुंदर वस्तुको देखनेमें संतोष होता है, यह शरीर तो ऊपरसे जबरन मनोहरसा किया गया है स्वतः सुंदर नही है ।।१०९७।। अपने स्वयंके मुखसे गिरा हुआ थूक यदि स्पर्श करनेके लिये घृणा करता है तो स्त्रीके मुखका सड़ा जल अर्थात् लार किसप्रकार पी जाती है ? यह बड़ा आश्चर्य है ।।१०९८।।

अशुचिका वर्णन समाप्त ।

अशारता वर्णन प्रारंभ—

मनुष्योके शरीरको अंदरसे बाहरसे देखते है तो वह एरंड दंडके समान असार ही नजर आता है इसमें कदाचित् भी सार दृष्टिगोचर नही होता है ।।१०९९।। चमरी गायके केश, गायोंका दूध, हिरणके सींग, सर्पोंकी मणि, मयूरोके पंख, हाथियोंके दांत और हिरणोकी कस्तूरी इतने पदार्थ तिर्यंचके शरीरसे कदाचित् कथंचित् सारभूत देखे जाते हैं किन्तु मानवोंके शरीरमें कहींपर कदाचित् भी कोई पदार्थ सारभूत दृष्टिगोचर नही होता है ।।११००।।११०१।।

यदि षण्णवतिरोगाः संभवंति विलोचने ।
कियंतस्ते तदा नृणां सर्वत्रापि कलेवरे ।।११०३।।

कोटयः पंचाष्टषष्टीश्च लक्षाः सह सहस्रकैः ।
नवभिर्नवतिः पंचशत्याशीतिश्चतुर्युता ।।११०४।।

पीनस्तनीन्दुवक्त्रा या तारुण्ये हरते मनः ।
अनिष्टा जायते जीर्णा सेक्षुयष्टिरिवारसा ।।११०५।।

या यौवने प्रिया कांता सर्वावयवसुंदरी ।
दुर्गंधा कुथितास्ति बीभत्सा विरसा मृता ।।११०६।।

यह मानव शरीर सड़े पदार्थोंका मानो घर है, सड़े पदार्थोंसे ही निर्मित है, विविध कीड़ोंके समुदायसे चारों ओरसे भरा है, संपूर्ण अशुचिका स्थान है, ऐसे इस कलेवरमें कुछ भी शुचि और सार वस्तु नहीं है ।।११०२।।

असारता वर्णन समाप्त ।

रोग वर्णन—

मानवके इस शरीरमें यदि एक नेत्रमें छ्यानवे रोग संभव हैं तो सारे शरीरमें कितने रोग होंगे ? सारे शरीरमें तो पांच करोड, अड़सठ लाख, निन्यानवे हजार, पांच सौ चौरासी रोग संभव हैं ।।११०३।।११०४।।

रोग वर्णन समाप्त ।

अध्रुव–अनित्यता वर्णन—

सुंदरी पीनस्तनी चन्द्र सदृश मुखवाली नारी तरुण अवस्थामें मनको हरती है वही नारी वृद्धावस्थामें अनिष्ट बुरी हो जाती है जैसे नीरस इक्षु-गन्ना अनिष्ट हो जाता है ।।११०५।। जो कांता यौवनमें सर्वांग सुंदरी और अत्यंत प्यारी थी वह मर जानेपर दुर्गंधित, बीभत्स, सड़ी, विरस हो जाती है अर्थात् स्त्रीका मृतक शरीर घिनावना होता है जो पहले सुहवना लगता था ।।११०६।।

म्रियते वल्लभा पूर्वं स्वयं वा म्रियतेपुरा ।
जीवंती जीवतो वान्यैर्ह्रियते बलिभिर्बलात् ।।११०७।।
विरज्यते स्वयं तस्याः सा वा तस्य विरज्यते ।
परेण वा समायाति तिष्ठंती वा विरुध्यते ।।११०८।।
चिरं तिष्ठति संस्कारे काष्ठग्रावादिरूपकम् ।
कलेवरं मनुष्याणां न संस्कारे महत्यपि ।।११०९।।
यौवनेंद्रियलावण्यतेजोरूप बलादयः ।
गुणाः क्षणेन नश्यंति शारदा इव नीरदाः ।।१११०।।
गतस्याहारदानार्थं सुरतस्य तपस्विनः ।
क्षणान्न किं महादेव्या नष्टः कुष्ठेन विग्रहः ।।११११।।

दांपत्य जीवनकी अध्रुवता—

कभी किसीकी पहले पत्नी मर जाती है तो कभी किसीका पति मर जाता है, कभी तो बलवान् अन्य पुरुष जीवित पतिके पत्नीको जबरन हरके ले जाता है ।।११०७।। अथवा पति पत्नी जीवित तो हैं किन्तु पति अपनी पत्नीसे किसी कारणवश विरक्त उदासीन हो जाता है या पत्नी अपने पतिसे नाराज उदास या विरक्त हो जाती है अथवा पत्नी अपने पतिको छोड़कर अन्य पुरुषके साथ चली जाती है या पुरुष अपनी पत्नीको छोड़कर परायी नारीके साथ कही चला जाता है, कभी पति पत्नी साथ रहते हैं किन्तु परस्परमें विरुद्ध रहते है ।।११०८।। इसतरह दांपत्य जीवन दुःखरूप होता है ।

शरीर अध्रुवता—

काष्ठ, पाषाण आदिके स्त्री या पुरुष, आदिके बने हुए चित्र–प्रतिमा स्टेचू आदिका संस्कार करते रहो तो वे पदार्थ चिरकाल तक ठहरते हैं–नष्ट नही होते किन्तु मनुष्योंके शरीरमें स्नान, व्यायाम, आहार आदि बहुतसे सस्कार करने पर भी वह ठहरता नहीं नष्ट हो जाता है ।।११०९।। शरीरका यौवन, इन्द्रियां, लावण्य, तेज, रूप, बल आदि गुण क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं, जैसे शरद्कालीन मेघ क्षणभरमें नष्ट हो जाते है ।।१११०।। सुरत नामका राजा मुनिको आहार देनेके लिये गया इतनेमें ही उसकी पट्टरानीका शरीर क्षणमात्रमें कुष्ठ रोगसे क्या नष्ट–व्याप्त नही हुआ था ? हुआ ही था ।।११११।।

हंतुमग्रे कृतो मूढो दुर्निवारेण मृत्युना ।
सेवते विषयं वध्यः पाणेनेव सुरादिकम् ।।१११२।।

व्याघ्रेणाग्रे कृतो हंतुं बिले साऽजगरे गतः ।
छिद्यमाने दृढं लग्नो मूले विविधमूषिकैः ।।१११३।।

सुरत राजाकी कथा—

अयोध्याका नरेश सुरत नामका था पांचसौ रानियोकी शिरोमणि सती नामकी प्रमुख रानी पर अत्यधिक स्नेह होनेसे सदा उसके निकट रहता था । राजाके मनमे मुनिदानका तो बहुत भाव रहता था उसने सब राजकार्य छोड दिये थे किन्तु मुनियों को आहार देनेका कार्य हमेशा करता रहता, अन्य कार्य सब मन्त्रियो पर छोडा था । एक दिन अपनी प्राण प्रियाके कपोल पर तिलक रचना कर रहा था इतनेमे आहारार्थ मुनिका आगमन हुआ । राजा रानीका श्रृंगार करना छोडकर आहार देनेको चला गया । रानीको इससे क्रोध आया उस पापिनोने बहुत अपशब्द गाली अपवाद आदिसे मुनिकी महान निंदा को सब सखी दास दासियोके समक्ष बहुत कुछ दुष्ट निद्य वाक्य कहती ही रही इससे मुनि निंदारूप भयकर पापसे उसके शरीरमे तत्काल गलित कुष्ठ हो गया । दुर्गंध आने लगी । राजा आहार देकर लौटता है और रानीकी दशा देखकर स्तंभित हो जाता है । उसको वैराग्य होता है सर्व राज्यपाट छोड़कर जिनदीक्षा ग्रहण करता है । रानी कुछ समय बाद मरकर दुर्गतिमे चली जाती है । इसप्रकार यौवनका जोश, रूपका गर्व करनेसे रानीकी दुर्दशा हुई ।

कथा समाप्त ।

जैसे कोई चांडाल आदि नीच पुरुष है उसको अपराधके वश मृत्यु दण्ड मिल चुका है उस वक्त भी वह सुरापान आदि करता है (आयी हुई मृत्युका सोच नही करता है) वैसे मूर्ख पुरुष दुर्निवार मृत्यु द्वारा मारनेके लिये आगे करने पर भी अर्थात् मृत्यु निकट आ जानेपर भी विषयका सेवन करता है ।।१११२।।

जिसको मारनेके लिये आगे व्याघ्र खड़ा है ऐसा कोई पथिक जिसमें अजगर है ऐसे कूपके वृक्षकी डालको दृढ़तासे पकड़ लेता है, वृक्षकी जिस डालको पकड़ा है वह विविध चूहों द्वारा काटा जारहा है, ऐसी भयानक स्थितिमें पड़ा वह मूढबुद्धि आगेकी

अपश्यन्नग्रतो मृत्युं यथा कश्चन मूढधीः ।
पतन्मधुकणास्वादे विधत्ते परमां रतिम् ॥१११४॥

मृत्युव्याघ्रेक्षितो दुःखसर्पे जन्मबिले गतः ।
लूयमानस्तथा मूढो बहुभिर्विघ्नमूषकैः ॥१११५॥

आशामूले दृढं लग्नो विषयास्वादने रतिम् ।
महतीं कुरुते नाशमपश्यन्नग्रतः स्थितः ॥१११६॥

मृत्युको नहीं देखता गिरते हुए मधुके बिंदुओंके स्वादमें परम रति करता है। जैसे यह पुरुष महामूढ माना जाता है वैसे मृत्युरूपी व्याघ्र जिसके आगे खड़ा देख रहा है ऐसा मोही प्राणी-मनुष्य दुःख रूपी सर्प जिसमे हैं ऐसे जन्म रूपी कूपमें लगा हुआ संसार वृक्ष जिसको कि आशारूपी डाल बहुतसे विघ्नरूपी चूहो द्वारा काटी जा रही है उसको दृढ़तासे पकड़कर लटका है और उस भयावह स्थितिमे आगेको मृत्युको नही देखता हुआ स्त्री आदि विषयके स्वादमें बड़ी भारी प्रीति करता है वह पुरुष महामूढ है ॥१११३॥ ॥१११४॥१११५॥१११६॥

भावार्थ—यहापर ससारी प्राणियोंके मोहको विडंबनाका आचार्यने दिग्दर्शन किया है। यह एक रूपक है इस रूपकको "संसार वृक्ष" नामसे हम लोग जानते हैं। कोई पथिक सघन वनमें रास्ता भूल गया है, इधर उधर मार्गको खोज करता है कि अकस्मात् सामने व्याघ्र दिखाई देता है यद्यपि भटकते हुए बहुत समय हो जानेसे उसके पैरोमें शक्ति नही है, भूखा प्यासा है—तो भी जान लेकर भागता है पुनः पीछे एक जंगली हाथी लग जाता है बिचारा घबराकर दौडते हुए एक अंध कूपके किनारमें स्थित वट वृक्षकी जटाको पकड़कर कूपमें लटक जाता है, इधर उक्त हाथी क्रोधित हुआ वृक्षको उखाड़नेका प्रयत्न कर रहा है, जिस जटाको पथिकने पकड़ा है वह दो चूहों द्वारा खाया जा रहा है और अल्पकालमें ही कटकर नीचे गिरेगा, उसी जटाके ऊपरी भागमें मधु-मक्खियोका छत्ता है, वृक्षके हिलनेसे उसपर बैठी मक्खियां उड़ उड़कर पथिकको बुरी तरहसे काटने लगती हैं, किन्तु उस मधु छत्तेसे मधुकी कुछ बिंदु पथिकके मुखमें पड़ती है, अब वह पथिक इतनी भयावह स्थितिमें गुजर रहा है फिर भी मधुके स्वादमें सब कष्ट भयको भूला हुआ है तत्काल होनेवाली मृत्युको भी वह भूल चुका है। यह एक रोमांचकारी बोध कथा है। इस रूपकको हर मुमुक्षुजनोंको अपने पर घटित

छंद–शालिनी—

रामावर्चोमध्यवर्ती मनुष्यः क्रीडत्येषोऽमेध्यरूपः शिशुर्वा ।
वर्चोलिप्तोऽमेध्यमध्यं प्रवृत्तो कीदृक्सारं निंदनीय स्वभावं ।।१११७।।

छद–उपजाति—

अमेध्यनिर्माणममेध्यपूर्णं निषेव्यमाणंर्वनिता शरीरम् ।
यैर्मन्यते स्वं शुचिरस्तबोधैर्हास्यास्पदं कस्य न ते भवंति ।।१११८।।

छद–उपजाति—

बीजादयो येन शरीरधर्माश्चित्ते क्रियन्ते बुधनिंदनीयाः ।
निषेव्यते मेध्यमयी न नारी कदाचनामेध्यकुटीव तेन ।।१११९।।

कर चिंतन करना चाहिये कि यह चतुर्गतिरूप संसारमे मानव देहरूप वृक्ष है, मार्ग भूला हुआ पथिक मैं स्वयं हूं । मृत्यु रूपी व्याघ्र मेरे आगे आया मैं डरसे भागा जा रहा था कि आकस्मिक कष्ट रूप जंगली हाथीने मेरा पीछा किया, मैं दौड़कर मित्ररूपी वृक्षकी डाल पकड़कर लटक गया उस डालको शुक्लपक्ष कृष्णपक्षरूपी चूहे काट रहे है अर्थात् समय व्यतीत हो रहा है मृत्युके क्षण निकट आ रहे हैं । डालीके ऊपरी भागमें गृहरूपी छत्ता है और उसमें पचेन्द्रियके विषय, भोजन, वस्त्र, काम सेवनादि रूप मधु एकत्रित है । मक्खियां विघ्न, रोग, चिता परिवार आदि है जो मुझे चारों ओरसे घेरकर काटे जा रहे है । ऐसी भयकर परिस्थितिमें गुजरता हुआ भी मैं उस विषय सेवनरूप मधुकी बिंदुओंके स्वादमें प्रेम कर रहा हू । अहो बड़ा आश्चर्य है ! 'धिक् धिक् मां'' ''किमान्धर्प मतः परम्'' ।

अध्रुव वर्णन समाप्त ।

यह अपवित्र कामी मनुष्य स्त्रीरूपी विष्ठाके मध्यवर्त्ती हुआ क्रीड़ा करता है अर्थात् स्त्रियोंके घिनावने अवयवमें रतिपूर्वक क्रीड़ा करता है, जैसे विष्टासे लिप्त बालक विष्टाके बीचमें खेलता है । अहो यह निंदनीय स्वभाव कैसे सार हो सकता है ? नहीं हो सकता ।।१११७।।

अशुचिसे निर्मित, अशुचिसे भरा हुआ स्त्रियोंके शरीरका, जिन नष्ट बुद्धिवाले पुरुषों द्वारा सेवन किया जाता है और उसके सेवनसे जो अपने आपको पवित्र मानते है

छद—उपजाति—

निरोक्षते यो वपुषः स्वभाव वर्चोनिवासस्य विनश्वरस्य ।
देहे स्वकीयेऽपि विरज्यतेऽसौ दोषास्पदायाः किमु नांगनायाः ।।११२०।।

वृद्धं वृद्धं नराः शीलंस्तरुणंस्तरुणा यतः ।
जायंते तरुणा वृद्धास्ततः शीलं बुधैः स्तुतम् ।।११२१।।

यथा यथा वयोहानिः पुरुषस्य तथा तथा ।
मंदाः कामरतिक्रीडादर्परूप बलादयः ।।११२२।।

वे पुरुष किसके हँसीके पात्र नहीं होते ? होते ही हैं ।।१११८।। बुद्धिमानों द्वारा निंदनीय ऐसे बीज, निष्पत्ति, क्षेत्र, आहार आदि शरीरके धर्म जिस पुरुष द्वारा विचारमें लाये जाते हैं, उस पुरुष द्वारा कभी भी अशुचिकी कुटीके समान अशुचिरूप नारी सेवित नहीं होती है ।।१११९।।

जो मलका घर, विनश्वर ऐसे शरीरके स्वभावको जानता देखता है वह पुरुष अपने शरीरसे भी विरक्त रहता है तो दोषके स्थान स्वरूप स्त्रीके शरीरसे क्या विरक्त नहीं होगा ? अवश्य होगा ।।११२०।।

ब्रह्मचर्य व्रतके परिपालनमें पुरुषोंके लिये स्त्रियोंसे वैराग्य होना आवश्यक है, स्त्री वैराग्यके निमित्त तीन है, कामदोषका विचार स्त्री दोषका विचार और देहकी अशुचित्व । इनका वर्णन क्रमशः यहां तक कर दिया है । अब ब्रह्मचर्यमें सहायक जो वृद्ध सेवा है उसको बतला रहे है—

जिनका शील अर्थात् ब्रह्मचर्य, क्षमा आदि धर्म बढे हुए हैं वे वृद्ध है और जिनके उक्त शील तरुण है अर्थात् अल्प है या वृद्धिगत नही है, अथवा है नहीं वे पुरुष तरुण हैं क्योंकि यहां जो शीलवान नर है उसे तो वृद्ध कहा है और जो शीलवान नही है वह तरुण है, वयसे तरुण और वृद्धकी बात यहां विवक्षित नहीं है, इसीलिये बुद्धिमानों द्वारा शील ही स्तुत्य होता है ।।११२१।।

जैसे जैसे पुरुषके वयकी हानि होती है, वैसे वैसे उसके कामेच्छा रतिक्रीडा, गर्व, रूप और बल आदि मंद मंद होते हैं ।।११२२।।

शांतोऽपि क्षोभ्यते मोहो युवसंगेन देहिनः ।
कर्दमः पतता क्षिप्रं प्रस्तरेणेव वारिणः ।।११२३।।

उदीर्णोऽप्यंगिनो मोहो वृद्धसंगेननिश्चितम् ।
पंकः कतकयोगेन सलिलस्येव शाम्यति ।।११२४।।

शांतोप्युदीयते मोहः पुंसस्तरुणसंगतः ।
लीनः किं मृत्तिकागंधो नोदेति जलयोगतः ।।११२५ ।

रहितो युवसंगत्या मोहः सन्नपि लीयते ।
जीवस्य जलसंगत्यापुष्पगंधइवस्फुटं ।।११२६।।

भावार्थ—मनुष्यकी आयु जैसे जैसे कम होती है अर्थात् वृद्धत्व आता है वैसे-वैसे उसका विषयोंमे प्रेम कम होता है, रति क्रीडा मंद होती है, खोटे भाव, काम सेवन की इच्छा कम होती है, तरुण अवस्थामे ये काम आदिक विकार दुर्निवार होते है। वृद्धत्व आनेपर सब विकार शांत होने लगते है इसीलिये वृद्ध पुरुषोकी सेवा उनका सहवास ब्रह्मचर्यमे महान् उपयोगी होता है ।

जीवोका मोह शात भी हुआ हो किन्तु वह तरुणके ससर्गसे क्षुभित हो जाता है, जैसे जलमे पत्थरके गिरनेसे शांत भी कर्दम कीचड शीघ्र ही क्षुभित–उछल जाता है उससे जल मलिन बन जाता है । भाव यह है कि किसी पुरुषका मन शांत है काम विकार शांत है तो भी उसे तरुणका ससर्ग नही करना चाहिये क्योकि उसके संसर्गसे मनविकार युक्त होता है ।।११२३।।

इस जीवका मोह बढा हुआ भी हो तो वह भी वृद्धजनोके संपर्कसे निश्चित ही शात हो जाता है, जैसेकि जलका कर्दम कतक द्रव्य–फिटकरी आदिसे शांत हो जाता है । अर्थात् जलका कीचड़ फिटकरीसे नीचे बैठ जाता है वैसे वृद्धकी संगतिसे बढ़ा हुआ भी कामविकार शांत होता है ।।११२४।। किसी पुरुषका मोह शांत हुआ है किन्तु यदि उसने तरुण पुरुषकी संगतिको है तो उसका मोह प्रगट हो जाता है बढ जाता है । ठीक ही है ! मिट्टीकी गध यद्यपि स्वयं शांत अर्थात् अप्रकट है उसमें कोई गंध नहीं आरही है तो भी उस मिट्टीकी गंध जलके सयोगसे क्या प्रगट नहीं होती ? होती ही है ।।११२५।। मोह मौजूद है किन्तु वह पुरुष तरुणकी संगतिसे रहित है तो उसका मोह

युवापि वृद्धशीलोऽस्ति नरो हि वृद्धसंगतः ।
मानापमान भीशंकाधर्मबुद्धित्रपादिभिः ॥११२७॥

वृद्धस्तरुणशीलोऽस्ति नरस्तरुणसंगतः ।
विश्रंभनिर्विशंकत्वमोहप्रकृतियोगतः ॥११२८॥

इंद्रियार्थरतिर्जीवो युवगोष्टया विमूढधीः ।
शौण्डगोष्टया यथा शौण्डः सुरां कांक्षति सर्वदा ॥११२९॥

विश्रब्धश्चपलाक्षो यः स्वैरी तरुणसंगतः ।
महिलाविषयं दोषं स शीघ्रं लभते नरः ॥११३०॥

ध्वांतैकांतकुशीलेहदर्शनैः करणैस्त्रिभिः ।
कुत्सितो जायते भावः स्त्रीपुंसानामसंशयम् ॥११३१॥

शांत अप्रगट हो जाता है । जैसे पुष्पमे सुगंध है किन्तु उसमे जलका संयोग होनेसे वह सुगंध लीन नष्ट अप्रकट हो जाता है ॥११२६॥ युवक पुरुष भी वृद्ध संगसे वृद्ध जैसे स्वभाव शीलवाला या शांत हो जाता है । वह वृद्धका समागम करनेवाला तरुण, मान, अपमानके भयसे, शंकासे और धर्म बुद्धि तथा लज्जासे वृद्ध जैसा आचरण करता है ॥११२७॥ कोई पुरुष वृद्ध है किन्तु तरुणकी संगति की है तो वह भी तरुणके शील-स्वभाव जैसा बन जाता है जैसे तरुण पुरुष स्त्रियोंपर विश्वास कर भय रहित निःशंक होता है, स्वभावसे मोहयुक्त होता है वैसे उसकी संगतिमें वृद्ध हो जाता है ॥११२८॥ तरुणकी गोष्ठीमें बैठनेसे जीव विमूढ बुद्धिवाला हुआ इन्द्रियोके विषयोमे प्रेम करनेवाला हो जाता है शराबीकी गोष्ठीमे बैठनेसे शराबी हुआ शराबकी इच्छा करता है ॥११२९॥ जो मनुष्य तरुणकी सगतिमे आया है वह स्त्रियों पर विश्वस्त होता है, उसकी इन्द्रियां चंचल होती है, स्वच्छद होता है वह शीघ्र ही महिलाके संबंधसे होनेवाले दोषको प्राप्त होता है ॥११३०॥ स्त्री और पुरुषोंके इन तीन कारणोसे कुत्सित भाव होते हैं— अंधकार एकान्त और काम सेवन करते हुए स्त्री पुरुषको देखना ॥११३१॥

भावार्थ—स्त्री और पुरुषके एकान्तमें अकस्मात् मिलनेसे अथवा अंधकार होनेसे अथवा काम सेवन करते हुए स्त्री पुरुषको देखनेसे, इन तीन कारणोसे स्त्री पुरुषों के मनमें काम वासना जाग्रत होती है । भारतीय परंपरामें इसीलिये प्राचीन कालमें

निसर्गमोहितस्वान्तो दृष्ट्वा श्रुत्वाभिलष्यति ।
विषयं सेवितुं जीवो मदिरामिवमद्यपः ।।११३२।।
चारुदत्तो विनीतोऽपि जातः संसर्ग दोषतः ।
वेश्यामांससुरासक्तः कुलदूषणकारकः ।।११३३।।

कुमार अवस्थासे ही स्त्री पुरुषोंको एकत्र सहवासका निषेध है । कुमार कुमारियोंका एक साथ अध्ययन, यत्र तत्र घूमना इत्यादिका निषेध था । वर्त्तमानमे स्त्री पुरुषोंकी सह शिक्षा, स्त्री पुरुषोंका एक स्थान पर नौकरी आदि करना यह सब कामको उत्तेजनाका कारण है, नाटक सिनेमा आदि देखनेमें तो पूर्वोक्त तीनों कारण एक साथ मिल जाते है एकान्त, अंधकार और अश्लील दृश्य (कामसेवन करते हुएके आंशिक दृश्य) यही कारण है कि अध्यात्म प्रधान भारत देशमे कुशील व्यसनकी वृद्धिका कोई ठिकाना ही नही रहा है । नूतन पीढोको अब सीता, चंदना, अंजना और सुदर्शन, जयकुमार आदि शीलवान नर-नारियोंकी कथाये काल्पनिक लगती हैं क्योकि ऐसा दृढशील उनमें खुदमें तो है नही और न कही दिखाई देता है । किन्तु जिन्हें आगामी भवमे नपुंसक नही होना हो, नरकादि कुगतिमें जानेका भय हो वे नर-नारी अपनी प्राचीन परंपराका उल्लंघन न करे । वर्त्तमानके जोवनमें भी जो कुशील आचरणसे, स्वास्थ्य हानि, भयंकर गुप्त रोग धनहानि आदि और अन्तमें बेमौत मरण आदि इन दुःखोंसे छुटकारा तभी हो सकता है जब पूर्वाचार्यके वचनका पालन करे ।

एक तो ससारी जीवोंका निसर्गतः मोहयुक्त मन रहता है दूसरे यदि कामका विषय देखे सुने तो उसको देखकर सुनकर व्यक्ति कामकी अभिलाषा करने लगता है, विषय सेवनके लिये इच्छा करता है । जैसे मदिरा पायी मदिराको देखकर सुनकर मदिराकी इच्छा करता है ।।११३२।।

चारुदत्त विनीत था तो भी संसर्ग दोषसे वेश्या मांस मदिरामें आसक्त हुआ और कुलमें दूषण लगानेवाला हुआ ।।११३३।।

चारुदत्तकी कथा—

चंपापुरीमें भानुदत्त नामका सेठ रहता था । उसकी पत्नी सुभद्रासे चारुदत्त नामका गुणी पुत्र हुआ । कुमार कालसे विद्याका अधिक प्रेमी होनेसे विवाह होनेपर

तरुणस्यापि वैराग्यं शीलवृद्धेन जायते ।
क्रियते प्रस्नुतक्षीरा वत्सस्पर्शेन गौर्न किम् ।।११३४।।

भी स्त्री संपर्कसे दूर रहकर सदा विद्याभ्यास कला आदिमें ही लगा रहता था । किसी दिन माता आदि कुटुंबोके द्वारा किये गये उपायसे वह वसंतसेना वेश्या पर मोहित होकर उसीके यहां रहने लगा । घरका सब धन बरबाद हुआ । परिवारको बहुत पश्चात्ताप हुआ लेकिन अब क्या हो सकता था ? जब चारुदत्त को धन रहित देखा तब वसंतसेनाकी माताने कपटसे उसे घरसे बाहर निकाल दिया । चारुदत्त अत्यंत लज्जित एवं दुःखो होकर धनोपार्जनके लिये विदेश यात्रा करता है धन सग्रहकर जहाज द्वारा जैसे ही वापिस लौटता है कि जहाज तूफान द्वारा डूब जाता है । पुनः अनेक कष्टोंका सामना करते हुए धन कमाता है किन्तु दुर्दैववश फिर जहाज डूबता है ऐसा सात बार होता है किन्तु आयुके प्रबल होनेसे सातो बार लकड़ीके सहारे किनारे लगता है । इसो बाचमें एक ठग संन्यासी द्वारा अंधकूपमे गिराया जाता है वहाँ कूपमे उसोके समान धोखेसे पहुँचे हुए मरणासन्न पुरुषको णमोकार मंत्र सुनाकर समाधि कराता है जिससे वह देव बनता है । वहांसे किसो उपायसे निकल आता है । परिवारके रुद्रदत्त नामके व्यक्तिसे भेट होती है उसके साथ द्वीपातर जानेका विचार होता है दुष्ट रुद्रदत्त बकरे को मारकर उसकी खालको उलटीकर उसमे बैठकर पक्षो द्वारा रत्नद्वीपमे जानेका उपाय बताता है । चारुदत्तके मना करते हुए भी उसके सो जानेके बाद रुद्रदत्त बकरे को मारता है, चारुदत्तकी नीद खुलती है, उसने बकरेको मरते हुए णमोकार मत्र सुनाया । द्वीपांतरमे चारुदत्त पहुंचा । पापी रुद्रदत्त बीचमे मर गया । उक्त द्वीपमे चारुदत्तको महामुनिके दर्शन होते है । वहांसे विद्याधरकी सहायतासे वह अपने चंपापुर में सुरक्षित पहुंच जाता है । इसप्रकार कुशीलकी संगतिसे चारुदत्तने महान कष्ट भोगे ।

कथा समाप्त ।

कोई पुरुष तरुण है किन्तु शीलवान् वृद्धकी संगति करता है तो उस वृद्ध संगसे उसके वैराग्य भाव हो जाता है, जैसे बछड़के स्पर्शसे गाय दूध झराने लगती है ।।११३४।।

जो पुरुष हर्षपूर्वक गुरुजनोंका कहा हुआ करता है, वृद्धोंसे युक्त वसतिका आश्रय लेता है, तरुण व्यक्तिकी संगति छोड़ देता है वह निर्मल ब्रह्मचर्यकी रक्षा करता

छंद-रथोद्धता—

यः करोति गुरुभाषितं मुदा संश्रये वसति वृद्धसंकुले ।
मुंचते तरुणलोकसंगतिं ब्रह्मचर्यममलं स रक्षति ॥११३५॥

छद-उपजाति—

रजो धुनीते हृदयं पुनीते तनोति सत्वं विधुनोति कोपम् ।
मानेन पूत विनयं नयंति किं वृद्ध सेवा न करोत्यभीष्टम् ॥११३६॥

मानस स्वल्पसत्वस्य स्त्रीसंसर्गे विनश्यति ।
जघनस्तनवक्त्राणि पश्यतो बहु चल्यते ॥११३७॥

निरस्यति ततो लज्जां संस्तवं कुरुते तत. ।
ततो भवति निःशंकस्ततो विश्वसिति ध्रुवम् ॥११३८॥

विश्वासे सति विश्रंभो विश्रभः प्रणये सति ।
रामासु परमा पुंसः प्रणये जायते रतिः ॥११३९॥

है ॥११३५॥ यह वृद्ध सेवा पापको नष्ट करती है, हृदयको पवित्र बनाती है, शक्तिको बढ़ाती है, क्रोधका नाश करती है, विनयसे युक्त करती है, मानसे रहित करती है । यह वृद्ध सेवा किस अभीष्ट सिद्धिको नहीं करती ? सब ही इष्टको करती है ॥११३६॥

वृद्ध सेवा वर्णन समाप्त ।

स्त्रियोंके सहवाससे होनेवाले दोषोंका कथन करते हैं—

जिस पुरुषमें धैर्य सत्त्व अल्प है उस पुरुषका मन स्त्रियोके संसर्गसे नष्ट–विकार युक्त होता है । स्त्रियोके जघनभाग स्तन मुखादिको देखनेसे उसका चित्त अत्यंत चंचल हो जाता है ॥११३७॥ मन चंचल होनेपर उसकी लज्जा समाप्त होती है, वह स्त्रीको स्तुति करने लगता है, फिर गुरुजनोंका भय समाप्त होकर नि.शंक हो जाता है, तदनंतर नियमसे स्त्री पर विश्वास करता है ॥११३८॥ विश्वास होनेपर परस्परमें मन मिलता है, उससे प्रणय होता है फिर उस पुरुषके स्त्रीमें परम रति होती है ॥११३९॥ नारियोंके देखनेसे उनके निकट जाना-आना होनेसे तथा उनके साथ

नारीणां दर्शनोद्देश भाषणप्रतिभाषणैः ।
आकृष्यते मनो नृणामयस्कांतैरिवायसम् ।।११४०।।

हासोपहासलीलाभिर्गुप्तगात्रप्रकाशनैः ।
विलासैर्विभ्रमैर्हावैर्भावैः सह गमागमैः ।।११४१।।

मन्मनैः कोमलैर्वाक्यैर्हृद्यैर्विस्रंभभाषणैः ।
गति स्थितिद्युतिक्रीडानर्मविव्वोकमोट्टनैः ।।११४२।।

वक्रावलोकनैः स्त्रीणां वैराग्यं ह्रियते नृणाम् ।
शरीरस्पर्शिभिः क्रुद्धैः पन्नगैरिव जीवितम् ।।११४३।।

योषितां नर्तनं गानं विकारो विनयो नयः ।
द्रावयन्ति मनो नृणां मदनं पावका इव ।।११४४।।

भाषण प्रतिसंभाषण करनेसे पुरुषोंका मन उनके प्रति आकर्षित हो जाता है, जैसे चुंबक द्वारा लोह आकर्षित होता है ।।११४०।। नारियोके हास्य मंद मीठी मुस्कान और लीला पूर्वक गमन आदि क्रियाओंसे, उनके द्वारा गुप्त अंग-स्तन आदिके दिखानेसे, कटाक्षपूर्वक अवलोकन विलासपूर्ण चेष्टा अर्थात् नेत्रोका मटकाना, भौहे चलाना और हावभाव क्रियाओंसे उनके साथ देशादिमें गमनागमन करनेसे पुरुषका मन चचल हो जाता है ।।११४१।। मनके हरने वाले कोमल वाक्यों द्वारा हृदयके लिये सतुष्टिकारक वचनों द्वारा तथा उन स्त्रियोके साथ विश्वास युक्त भाषण करना, मदभरी चाल चलना, कमरमें हाथ रखकर खड़े होना, शरीरकी काति, क्रीड़ा, मजाक विव्वोक अर्थात् दो भौहे के बीचके भागको सिकोड़ना, मोहन इन क्रियाओ द्वारा तथा टेढ़ी नजरसे देखना इत्यादि स्त्रियोंको चेष्टाओंसे पुरुषोंका वैराग्य नष्ट किया जाता है । जैसे जिनके शरीरका स्पर्श किया गया है और उस कारणसे जो क्रोधित हो गये हैं ऐसे सर्पों द्वारा जीवन नष्ट किया जाता है ।।११४२।।११४३।।

स्त्रियोंके नृत्य, गीत, विकारको देखना तथा उनका विनय करना, उनको कहीं ले जाना इत्यादि क्रियायें मनुष्योंके मनको पिघला देती हैं । जैसे मदनको···अग्नि पिघला देती है ।।११४४।।

महिला मन्मथावासविलासोल्लासितानना ।
स्मृता पि हरते चित्तं वीक्षिता कुरुते न किं ॥११४५॥
निर्मर्यादं मनः संगात्संमूढं सुरतोत्सुकम् ।
पूर्वापरमनाहृत्य शीलशालं विलंघते ॥११४६॥
कषायेन्द्रियसंज्ञाभिर्गारवैर्गुरुकाः सदा ।
सर्वे स्वभावतः संगादुद्भवन्त्यचिरेण ते ॥११४७॥
मातृस्वसृसुताः पुंस एकांते श्रयतो मनः ।
शीघ्रं क्षोभं व्रजत्येव किं पुनः शेषयोषितः ॥११४८॥
निःसारां मलिनां जीर्णां विरूपां रोगिदुर्दशम् ।
तिरश्चीं वा समीहेत नृमनो मैथुनं प्रति ॥११४९॥

महिला मन्मथका आवास है, विलास भावमे उल्लसित हो रहा है मुख जिसका ऐसी होती है स्मरणमे आनेमात्रसे वह चित्तको हर लेती है तो फिर देखनेपर क्या नहीं करेगी ? अर्थात् देखने पर तो वह पुरुषको अवश्य ही अपने वशमें करेगी ॥११४५॥

स्त्रीके संगसे पुरुषका मन मर्यादाको तोड देता है वह मोहित हुआ सुरत-रति क्रीड़ा के लिये उत्सुक हो उठता है और पूर्वापर का कुछ भी विचार नहीं करके शील-रूपी शाल-परकोटेका उल्लंघन कर डालता है ॥११४६॥

सभी संसारी प्राणी स्वभावतः कषाय इन्द्रियवशता और आहारादि चार संज्ञाओंसे भारी-युक्त हुआ करते हैं तथा गारव-घमडसे युक्त होते है ऐसी स्थितिमें उन्हें यदि स्त्रीजनका संग मिले तो शीघ्र ही वे कषाय आदि चारो अतिशय रूपसे प्रगट होने लग जाते हैं ॥११४७॥ यदि अपनी माता, बहिन और पुत्री भी है और उसका एकांतमें सहवास होता है तो उससे पुरुषका मन शीघ्र ही क्षोभको प्राप्त होता है, ऐसी स्थितिमें शेष महिलाओंके एकांत संपर्कमें पुरुषका मन क्या क्षुभित नही होगा ? होगा ही ॥११४८॥

स्त्री निःसार है, मलिन है, वृद्ध है, कुरूप है, रोगी है, जिसके नेत्र भयावह है ऐसी स्त्रीको भी मनुष्यका मन काम सेवनेके लिये चाहता है और तो क्या कामुक मन तिर्यंचिनीको भी चाहने लग जाता है ॥११४९॥

दृष्टश्रुतानुभूतानां विषयाणां रुचिस्मृतिः ।
नारीससर्गं एषोऽपि विरहेऽप्यस्ति योषितः ।।११५०।।

वृद्धो गणी तपस्वी च विश्वास्यो गुणवानपि ।
अचिराल्लभते दोषं विश्वस्तः प्रमदाजने ।।११५१।।

किं पुर्नविकृताकल्पाः स्वैरिणः शेषसाधवः ।
नारी संसर्गतो नष्टा न संति स्वल्पकालतः ।।११५२।।

जैनिकासगतो नष्टश्चरणाच्छकटो यतिः ।
वेश्यायाः सह संसर्गान्नष्टः कूपवरस्तथा ।।११५३।।

रुद्रः पाराशरो नष्टो महिलारक्तया दृशा ।
देवर्षिः सात्यकिदेवपुत्रश्च क्षणमात्रतः ।।११५४।।

स्त्री का विरह भी होवे अर्थात् स्त्री वर्त्तमानमें निकट नही है उस वक्त देखे सुने तथा अनुभूत विषयोकी रुचि तथा स्मृति हो जाया करती है, वह स्मृति और रुचि भी एक तरहका स्त्री संपर्क ही कहा जाता है ।।११५०।।

पुरुष चाहे वृद्ध है, आचार्य है, तपस्वी है तथा सभोके द्वारा विश्वसनीय है, गुणवान् भी है, किन्तु यदि वह स्त्रीजनों पर विश्वास करता है तो शीघ्र ही अपयश आदि दोषको प्राप्त होना है ।।११५१।। जब महामुनि महा तपस्वीजनोकी ऐसी बात है, तो जो विकृत मनयुक्त है स्वच्छंद है ऐसे शेष साधु नारीके संपर्कसे स्वल्पकालमे क्या नष्ट नहीं होते ? होते ही है ।।११५२।। जैनिका नामकी स्त्रीके सगसे शकट मुनि चारित्रसे भ्रष्ट हुए तथा कूपवर (कूपार) मुनि वेश्याके साथ संसर्ग करनेसे नष्ट हुए थे । रुद्र तथा पाराशर महिलाओंको आसक्ति पूर्वक देखनेसे नष्ट हुए थे और देवर्षि और देवपुत्र तथा सात्यकि स्त्री संपर्कसे क्षणमात्रमें नष्ट हुए थे ।।११५३।११५४।।

विशेषार्थ—यहांपर ब्रह्मचर्य महाव्रतका अतिविस्तार पूर्वक वर्णन करते समय स्त्री संगसे होनेवाले दोष हानि आदिको आचार्य बता रहे है । प्राचीन कालमें स्त्रीसंगसे जिनकी हानि हुई, भव भवांतर नष्ट हुए, उनका कथन करते हुए यहां सात व्यक्तियोंके नाम कंठोक्त बताये हैं । उन सातोमेंसे एक अजैन साधु था शेष सभी दिगंबर जैन मुनि थे । इन सातोंकी कथा यहां अति सक्षिप्त बतायी जाती है—

सात्यकि और रुद्रकी कथा—

गंधार देशमें महेश्वर नगरका राजा सत्यंधर था उसके पुत्रका नाम सात्यकि था, इसकी सगाई राजा चेटककी पुत्री जेष्ठाके साथ हो चुकी थी। किसी कारण वश जेष्ठा राजपुत्रीने आर्यिका दीक्षा ली। जब सात्यकिको यह ज्ञात हुआ तो उसने भी समाधिगुप्त मुनीश्वरके समीप जिनदीक्षा ग्रहण की। एक दिन जेष्ठा आदि अनेक आर्यिकायें अपनी गणिनीके साथ महावीर भगवान्के समवशरणमे जा रही थी। मार्गमें पानी बरसने लगा इससे सब आर्यिका संघ तितर-बितर हो गया। जेष्ठा आर्यिका एक गुफामें पहुची वहां साडी खोलकर निचोड़ रही थी, गुफामें सात्यकि मुनि तपश्चरण कर रहे थे। वहां अकस्मात् जेष्ठाको देखकर उनका मन विचलित हुआ। दोनोंका समागम हुआ। अनंतर वर्षाके समाप्त होनेपर आर्यिका संघ एकत्रित हुआ। जेष्ठा ने अपनी गणिनी यशस्वती आर्यिकासे घटित घटना बतायी। गणिनीने अपवाद न हो इस उद्देश्यसे जेष्ठाको उसकी बड़ी बहिन राजा श्रेणिककी पट्टदेवी चेलनाके पास रखा। नव मास व्यतीत होनेपर बालक हुआ। उसके पालनका भार चेलना ने लिया। जेष्ठा पुनः छेदोपस्थापना प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध होकर तपमे लीन हुई। सात्यकिने भी अपने गुरुके निकट तत्काल पुनर्दीक्षा ग्रहण की। इसप्रकार स्त्रीके निकट होनेसे सात्यकि मुनि भ्रष्ट हुए।

इधर उनका पुत्र चेलनाके पास वृद्धिगत हुआ, उसका नाम रुद्र था। यह क्रूर स्वभाव वाला होनेसे अपने समीपवर्ती बालकोको पीटता रहता, इससे उलाहना आनेपर चेलनाने कुपित होकर कह दिया कि किसका पुत्र और किसको कष्ट दे रहा है ? इतना सुनकर रुद्रने राजा श्रेणिकसे अपने जन्मका वृत्तांत विदित किया और उसने उदास हो दीक्षा ली। वह ग्यारह अंग और दश पूर्व क्रमसे पढ रहा था। दसवें विद्यानुवाद पूर्वके अध्ययन पूर्ण होनेपर रोहिणी आदि विद्याये उसके समक्ष उपस्थित हुईं। रुद्रमुनिने लोभवश विद्यायें स्वीकार करली। अब वह स्वच्छंद भ्रमण करने लगा। एक दिन वनमें सरोवर पर अनेक राजकन्यायें स्नानार्थ आयी थी, उन्हे देखकर रुद्र कामबाणसे विद्ध हुआ और विद्याके बलसे सबको हरणकर अपना बना लिया। कन्याओंके पिताने उससे युद्ध किया किन्तु रुद्रके पास विद्याका बल होनेसे राजा हार गये और इसतरह रुद्र मुनि भ्रष्ट होकर उन स्त्रियोंके साथ रमने लगा। अंतमें मरकर नरक गया। इसप्रकार स्त्री संसर्गसे रुद्रकी दुर्गति हुई।

सात्यकि और रुद्रकी कथा समाप्त।

पाराशरकी कथा—

पाराशर नामका एक जटाधारी तापसी था। उसने कुतप द्वारा कुछ विद्या सिद्ध की थी। एक दिन नौका द्वारा नदी पार कर रहा था। नौका को एक धीवरकी सत्यवती नामकी लड़की चला रही थी। जो सुंदर थी, उसपर पाराशर मोहित हो गया। धीवरसे उसको मांगकर जंगलमें उसके साथ रहने लगा। इसतरह वह तपस्वी लड़कीको देखकर कामुक हो अपने तपसे भ्रष्ट हो गया। अतः स्त्रीसे सदा दूर रहना ही साधु-व्रतीको श्रेयस्कर है।

कथा समाप्त।

शकट नामके भ्रष्ट मुनिकी कथा—

एक शकट नामके मुनि आहारके लिये वनसे कौशांबी नगरीके निकट आ रहे थे, मार्ग कुछ लंबा था, नगरके बाहर एक कुटीमें शून्य स्थान समझकर वे बैठ गये, वहा कुटियामे एक दासकर्म करनेवाली स्त्री रहती थी, मुनिने उसे पहिचान लिया कि पहले बालक अवस्थामे यह और मैं एक साथ पढते थे। मुनि अपने आहारके प्रयोजनको भूल गये और उस जैनिका–जयनी नामकी स्त्रीसे वार्तालाप करने लगे। इसमे दोनोंका मन परस्परमें आकृष्ट हो गया और शकट मुनिने अपना निर्मल चारित्र उस स्त्रीके किंचित् कालके सगतिसे ही छोड़ दिया और उसके साथ वह भ्रष्टाचारी रहने लगा।

कथा समाप्त।

कूपार नामके भ्रष्ट मुनिकी कथा—

पाटलीपुत्र नगरमे अशोक नामका राजा था उसका एक अत्यन्त पराक्रमी पुत्र कूपार (कूपकार) नामका था। किसी दिन विहार करते हुए वरधर्म आचार्य संघ सहित नगरके बाह्य उद्यानमें आकर ठहर गये नागरिक समूह दर्शनार्थ जा रहा था, कूपार राजकुमार भी उनके साथ गया, आचार्यसे वैराग्यप्रद धर्मोपदेशको सुनकर कुमारको ससारसे विरक्ति हुई और उसने जिनदीक्षा ग्रहण की। किसी दिन एक विषम पर्वत पर वह कूपार मुनि ध्यानारूढ हुए। इधर उनके पिता अशोक राजाको पुत्र वियोगका अत्यंत दुःख हुआ, उस राजाके यहां एक गणिका बीरवती नामकी नृत्य-कारिणी थी उसने राजाको कहा मैं आपके पुत्रको वापस ला सकती हू, आप चिंता शोक न करें। इतना कहकर उसने आर्यिका वेष लिया साथमें बहुतसी दासियोको भी

भुजंगीनामिव स्त्रीणां सदा संगं जहाति यः।
तस्य ब्रह्मव्रतं पूतं स्थिरीभवति योगिनः ।।११५५।।
अविश्वस्तोऽप्रमत्तो यः स्त्रीवर्गे सकले सदा ।
यावज्जीवमसौ पाति ब्रह्मचर्यमखंडितम् ।।११५६।।
अहं वर्ते कथं किं मे जनः पश्यति भाषते ।
चिंता यस्येदृशी नित्यं दृढब्रह्मव्रतोऽस्ति सः ।।११५७।।

आर्यिकाका वेष दिलाकर वे सभी जिस पर्वतपर ध्यानारूढ कूपार मुनि थे, वहां आई, वीरवती तो पर्वतके नीचे ठहर गयी और अन्य स्त्रियां ऊपर जाकर मुनिसे कहती हैं कि भो योगीश्वर ! हम सब आर्यिकाये तो यहा दर्शनार्थ आ चुकी किन्तु एक आर्यिका पर्वतपर चढनेमे असमर्थ है आप कृपा करके उन्हे दर्शन देवे । मुनि धर्म वात्सल्यसे नीचे आये, उनके आते ही गणिकाने उन्हे हावभाव विलास द्वारा अपने वशमें कर लिया । इसतरह वह कूपार यति उस गणिका वीरवतीके निमित्तसे भ्रष्ट होगये ।

कथा समाप्त ।

जो नागिनीके समान स्त्रियोंका सग सदा छोड़ता है उस योगीके पवित्र ब्रह्मचर्य स्थिर होता है ।।११५५।।

जो सदा ही समस्त स्त्री वर्गमे विश्वास नही करता सदा उनसे सावधान रहता है वही पुरुष अपने ब्रह्मचर्यको यावज्जीवन पर्यंत अखण्डित रूपसे सुरक्षित रखता है ।।११५६।। मैं किसप्रकार चाल चल रहा हूँ ? मेरे को जन किस दृष्टिसे देखते हैं, मेरे विषयमें जनसमुदाय क्या कहता है, इसप्रकारकी चिंता विचार जिस पुरुषको नित्य रहती है वही दृढ़ ब्रह्मचर्य व्रतधारी है ।।११५७।।

भावार्थ—जन समुदायसे मेरा अपवाद न हो, मेरा अपमान, धर्मका अपमान है, मैंने सर्वोत्कृष्ट व्रत धारण किया है उसमें किसी प्रकार परिवर्तन तो नही हो रहा ? इन बातोंको जो सोचेगा जनापवादसे जिसे लज्जा आती है वही अपने ब्रह्मचर्यको सुरक्षित रखेगा ! जिसे इन बातोंकी परवाह नही, लोक कुछ भी कहें, इसपर शरम नहीं है, धर्मकी अप्रभावनाका कुछ भान नहीं है वह स्वच्छन्द आचरण कर अपने ब्रह्मचर्यमें शिथिल होगा ।

न पश्यत्यंगनारूपं ग्रीष्मार्कमिव यश्चिरम् ।
क्षिप्रं संहरते दृष्टि तस्य ब्रह्मव्रतं स्थिरम् ।।११५८।।
गंधे रूपे रसे स्पर्शे शब्दे स्त्रीणां न सज्जति ।
जातु यस्य मनस्तस्य ब्रह्मचर्यमखंडितम् ।।११५६।।

छद-मालिनी—

द्विपमिव हरिकांता मंक्षु मीनं बकीव । भुजंगमिव मयूरी मूषिकं वा बिडाली ।
गिलति निकटवृत्तिः संयतं निर्दया स्त्री । निकटमिति तदीयं सर्वदा वर्जनीयं ।।११६०।।

छद-मालिनी—

प्रथयति भवमार्गं मुक्तिमार्गं वृणक्ति । दवयति शुभबुद्धि पापबुद्धि विधत्ते ।
जनयति जनजल्पं श्लोकवृक्षं लुनीते । वितरति किमु कष्टं सगतिर्नांगनानाम् ।।११६१।।

इति स्त्रीसंसर्ग दोषाः ।

जो स्त्रियोंके रूपको ग्रीष्मकालीन सूर्यके समान चिरकाल तक नही देखता है शीघ्र ही अपनी दृष्टि उसरूपसे हटा लेता है उसका ब्रह्मचर्य स्थिर होता है ।।११५८।।

भावार्थ—जिसप्रकार जेष्ठ मासके मध्याह्न कालीन सूर्यको कोई भी नही देख पाता । कदाचित् देख लेवे तो तत्काल वहांसे दृष्टि हटा लेता है उसोप्रकार जो पुरुष स्त्रीको देखता ही नहीं और कदाचित् दृष्टि पड़े तो तत्काल अपनी दृष्टिका सकोच कर लेता है । वही अखड ब्रह्मव्रतधारी होता है । फिर राग भावकी मुख्यता है ही । यदि मनमें स्त्री रूपको देखनेका अभिप्राय है और बाहरसे केवल दृष्टि हटाता है उससे लाभ नहीं है ।

जिस पुरुषका मन स्त्रियोके मनोहर गंध, रूप, रस, स्पर्श और शब्दमे कभी भी नहीं जाता उस पुरुषका ब्रह्मचर्य अखडित रहता है ।।११५६।।

अब स्त्री संसर्गसे होनेवाले दोषोंके वर्णनका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

जिसप्रकार निकटमे आये हुए हाथीको सिंहनी खा जाती है, समीपमें आये हुए मत्सको बगुली शीघ्र ही निगल जाती है, मयूरी सर्पको मार डालती है, बिल्ली चूहेको खा जाती है ठीक इसीप्रकार निर्दयी स्त्री निकटमे आवे तो संयत मुनिका संयम नष्ट कर डालती है इसलिये हमेशा ही उस स्त्रीकी निकटता त्याज्य है छोड़ने योग्य है, ।।११६०।। स्त्रियोकी सगति संसार मार्गको विस्तृत करती है और मोक्षमार्गको नष्ट

यदि ते जायते बुद्धिर्लोकद्वितय मैथुने ।
उद्योगः पंचधा कार्यः स्त्रीवैराग्ये तदा त्वया ।।११६२।।

करती है, पुण्य बुद्धिको तो जला देती है और पापबुद्धिको उत्पन्न करती है, जनापवादको उत्पन्न करती है प्रशंसारूप वृक्षको काट डालती है । अहो यह स्त्री संगति क्या-क्या कष्ट नही देती ? ।।११६१।।

स्त्री ससर्ग दोष वर्णन समाप्त ।

सस्तरमें स्थित क्षपकके लिये निर्यापकाचार्य महाव्रतोंका उपदेश दे रहे है उसके अन्तर्गत ब्रह्मचर्य नामके चौथे महाव्रतका उपदेश विस्तार पूर्वक देते हुए कह रहे है कि—

हे क्षपक ! उभय लोकमें मैथुन सेवनकी यदि तुमको इच्छा हो जाय तो तत्काल ही पांच प्रकारका उद्योग स्त्री वैराग्यमें करना चाहिये । अर्थात् स्त्रीके दोष, शरीरके दोष आदिका विचार करना चाहिये ।।११६२।।

विशेषार्थ—ब्रह्मचर्यका अखड निर्दोष पालन करनेके लिये आचार्योंने यहांतक पांच प्रकारका उपदेश दिया है जो स्त्रियोसे वैराग्य उत्पन्न कराता है, स्त्रियोंमे जो आसक्ति है, राग-प्रेम है, मनमें जो कामुकता है उसको दूर करनेके लिये अत्यत हृदय-ग्राही पांच प्रकरण क्रमश यहां तक बताये है, सर्वप्रथम काम दोषोंका प्रकरण आया है, कि काम सेवन किसप्रकार निद्य है, पुनः स्त्रीके दोष बताये, फिर स्त्री और पुरुष दोनोके शरीरके दोष बताये कि अपना खुदका और जिससे भोग करना चाहता है, उसका शरीर कितना घिनावना है । पुन. वृद्ध सेवा प्रकरण है जो शीलवान पुरुषकी सेवा करता है वह ब्रह्मचर्यका पालन करनेमे समर्थ होता है और जो शीलवान नही है उसके संपर्कसे ब्रह्मव्रतमें कैसी शिथिलता आती है यह वृद्ध सेवा प्रकरणमें बहुत सुदर रोत्या समझाया है । अतमें स्त्रीजनोंके सगतिसे होनेवाले दोषोंका कथन है । इसप्रकार कामदोष, स्त्रीदोष, शरीर दोष, वृद्धसेवा और स्त्री ससर्गदोष कथन द्वारा वैराग्य उत्पन्न कराया गया है अर्थात् स्त्रीसे वैराग्य होनेके लिये इन पांचों विषयोंका विचार करते रहना चाहिये । क्षपकको आचार्य प्रेरणा देते हैं कि तुम वैराग्य परक इन पांच विषयोंका विचार करते रहना जिससे ब्रह्मव्रतमें सर्वदा दृढ़ता बनी रहे ।

लिप्यते वर्तमानोऽपि विषयेषु न तैर्यतिः ।
पद्मजातं जले वृद्धं जातु किं लिप्यते जलैः ।।११६३।।
विषयैर्विष्टपस्थस्य चित्तमस्पर्शनं यतेः ।
सागरं गाहमानस्य सलिलैरिव जायते ।।११६४।।
न दोषश्वापदे भीमे वंचनागहने यतिः ।
नश्यति स्त्रीवनेऽलीक पादपेऽशुचितातृणे ।।११६५।।

विषयोंके मध्यमें रहता हुआ भी यति वैराग्य परक इन कामदोष आदि पांच विषयोंका चिंतन करता है तो उन विषयोसे लिप्त नही होता है, जैसेकि कमलोंका समूह जलमें ही वृद्धिगत होता है किन्तु जल द्वारा क्या लिप्त होता है ? नहीं होता है ।।११६३।।

जिसप्रकार सागरमें प्रविष्ट हुए पुरुषका जल द्वारा स्पर्श नहीं होना आश्चर्य-कारी है उसप्रकार विषयमे स्थित यतिके विषयोंसे स्पर्शित नहीं होना उनसे अलिप्त ही रहना आश्चर्यकारी है ।।११६४।।

दोषरूपी श्वापद–जगली पशु जिसमें रहते हैं वंचना–ठगाईसे जो गहन हो रहा है, भयावह है, असत्य रूपो वृक्षोसे जो भरा है, अशुचिरूपी घाससे व्याप्त है, ऐसे स्त्रारूपी वनमें निवास करते हुए भी मुनि नष्ट नही होता ।।११६५।।

विशेषार्थ—कोई पुरुष भयानक वनमे रहे तो उसे जगली पशु द्वारा सघन वृक्ष एवं नुकोली घास द्वारा महान् कष्ट होता है । यहांपर मोक्षमार्गके पथिक मुनिजनोंके लिये स्त्रो हो एक भयावह वन है, वनमें जंगली पशु हैं इसमे असूया, चपलता आदि दोषरूपी पशु हैं । लता गुल्म आदिसे वनका रास्ता गहन होता है, यहां मायाके कारण रास्ता गहन हो रहा है । वनमें अनेक सघन वृक्ष होते हैं, यहां अनेक प्रकार असत्य, ठगाई आदिके वचन ही वृक्ष हैं । वनमें विविध प्रकारकी घास होतो है । यहां अशुचि अवयवरूप घास है । ऐसी स्त्रीवनमें भो मुनिजन दिग्भ्रमित नहीं होते अर्थात् अपने ब्रह्मव्रतसे च्युत नहीं होते, यही इनकी महानता है ।

स्त्री एक नदी स्वरूप है नदोमें कल्लोलें हैं इसमें शृंगाररूपी कल्लोलें हैं । नदोमें जल है इसमें यौवनरूपी जल है, नदोमें वेग होता है इसमें विलास विभ्रम रूपी

भूरिश्रृंगारकल्लोला यौवनाम्बुर्वधूनदी ।
न बिलासास्पदा हासफेना वहति संयतम् ।।११६६।।
विलाससलिलोत्तीर्णा यैस्तीव्रा यौवनापगा ।
अग्रस्ताः प्रमदाग्राहैस्ते धन्या मुनिपुंगवाः ।।११६७।।
धन्यं स्त्रीव्याधनिर्मुक्ताः कटाक्षेक्षणसायकाः ।
विध्यंति विषयारण्ये वर्तमानं न योगिनम् ।।११६८।।
न विब्बोकरदोऽस्येति विलासनखरो मुनिम् ।
कटाक्षाक्षोंऽगनाव्याघ्रस्तारुण्यारण्यवर्तिनम् ।।११६९।।

छंद उपजाति—

त्रिलोकदाही विषयोद्धतेजाः । तारुण्यतृण्याज्वलितः स्मराग्निः ।
न प्लोषते यं स्मृतिधूमजालः । स वंदनीयो विदुषा महात्मा ।।११७०।।

वेग है तथा नदीमे फेन रहता है तो इस स्त्रीरूपी नदीमे मद मुस्कान, ललित हास्यरूपी फेन है ऐसी स्त्री रूपी नदी भी संयमी मुनिको बहाके नही ले जाती है ।।११६६।। जिन मुनिजनोके द्वारा विलासरूप जलवाली यौवन रूपी तीव्र वेगशाली नदी पार हुई है तथा जो स्त्रीरूपी मगरो द्वारा ग्रस्त नही हुए है वे मुनिराज धन्य है ।।११६७।। विषयरूपी वनमें स्थित यतिको स्त्रीरूपी व्याध-शिकारी द्वारा छोड़े गये कटाक्ष ईक्षण रूपी बाण बेधित नही करते हैं वह यति धन्य है अर्थात् वे मुनिजन धन्य है जिनका मन स्त्रीद्वारा मोहित नही होता ।।११६८।। विब्बोक=दो भौहेंके मध्य भागको सिकोडना ही है, दांत जिसके विलास अर्थात् आंखें मटकाना हो है, नख जिसके और कटाक्ष रूपी आंख वाला स्त्री रूपी व्याघ्र–शेर तारुण्य रूपी वनमे विचरण करनेवाले मुनिको नही पकडता है । वही मुनि धन्य है ।।११६९।।

तीन लोकोंको जलाने वाली, विषय रूपी बढते तेजसे युक्त, तारुण्य रूपी घास-फूससे प्रदीप्त हुई एवं स्मृति रूपी धुंआ जाल जिससे निकल रहा है ऐसी कामरूपी अग्नि जिसको नहीं जलाती; वह महात्मा विद्वान् द्वारा वंदनीय है अर्थात् जिसका चित्त काम वासनासे रहित है वह वद्य है ।।११७०।।

विपुल यौवनरूपी जलवाला रतिरूपी लहरोंसे व्याप्त दुस्तर ऐसे विषय रूपी समुद्रको जो निराकुल हुआ पार करता है वह इस संसारमें धन्य पुरुषोंमें महा धन्य

छंद द्रुत विलंबित—

विपुलयौवननीरमनाकुलो विषय नीरनिधिंरतिवीचिकम् ।
इहवधूमकरैरकदर्थितस्तरति धन्यतमः परदुस्तरम् ॥११७१॥

इति ब्रह्मचर्यव्रतं ।

बाह्यमाभ्यंतरं संगं कृतकारितमोदनैः ।
विमुंचस्व सदा साधो ! मनोवाक्कायकर्मभिः ॥११७२॥

मिथ्यात्ववेदहास्यादि क्रोध प्रभृतयोऽन्तराः ।
एकत्रिषट्चतुः संख्याः संगाः संति चतुर्दश ॥११७३॥

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपद च चतुष्पदम् ।
यानं शय्यासनं कुप्यं भांडं संगा बहिर्दश ॥११७४॥

धन्यतम है । कैसा है वह ? जो उक्त विषयरूपी समुद्रको पार करते समय स्त्री रूपी मगरोंसे पीड़ित नहीं हुआ है । भाव यह है कि युवा अवस्थामे भी जिसे काम वासना नही सताती, जो स्त्रियोंके मोहमें नही फँसता निराकुल भावयुक्त हो अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करता है वही पुरुष महान् है वही महामुनि श्रेष्ठ है धन्य है ॥११७१॥

इसप्रकार ब्रह्मचर्य व्रतका वर्णन समाप्त हुआ ।

पांचवे महाव्रतका वर्णन करते है—

हे साधो ! तुम बाह्य और अभ्यंतर दोनों परिग्रहोंका मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना द्वारा सदाके लिये त्याग कर दो ॥११७२॥

अभ्यतर परिग्रह—

मिथ्यात्व एक वेद तीन—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, हास्यादि छह-हास्य, रति अरति, शोक, भय और जुगुप्सा, कषाय चार-क्रोध मान, माया और लोभ ये अंतरंग चौदह परिग्रह हैं ॥११७३॥

बाह्य परिग्रह—

क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद (दो पैरवाले मनुष्य, दास दासो) चतुष्पद (चार पैरोंवाले, घोड़ा, बैल, गाय आदि) यान—पालकी आदि सवारी, कुप्य—वस्त्रादि, भांड—हीग मिरच मसाले आदि इसप्रकार ये चौदह बाह्य परिग्रह हैं ॥११७४॥

नाभ्यंतरः ससंगस्य साधोः शोधयितुं मलः ।
शक्यते सतुषस्येव तंदुलस्य कदाचन ।।११७५।।
उदीयते यदा लोभो रागः संज्ञा च गारवं ।
शरीरी कुरुते बुद्धि तदादातुं परिग्रहम् ।।११७६।।
ग्रंथो लोकद्वये दोषं विदधाति यतेस्ततः ।
स्थितिकल्पो मतः पूर्वं चेलादिग्रंथमोचनः ।।११७७।।
उद्देशामर्शकं सूत्रमाचेलक्यमिति स्थितम् ।
लुप्तोऽथवादिशब्दोऽत्र तालप्रालम्बसूत्रवत् ।।११७८।।

बाह्य परिग्रह त्यागकी महत्ता बताते हैं—

बहिरंग परिग्रह युक्त साधुके अंदरका मल अर्थात् अंतरंग परिग्रहका शोधन करना अशक्य है अर्थात् बहिरंग परिग्रहके त्याग किये बिना अभ्यंतर परिग्रह कषायादि है उनका शोधन-दूर करना शक्य नही है । जैसे कि बाहरके तुषसे संयुक्त चावलके अंदरके मैलरूप लालिमाका शोधन करना लालिमाको दूर करना शक्य नहीं होता है ।।११७५।।

जब लोभको उदय उदीरणा होती है जब यह मेरा है ऐसा रागभाव तथा उपकरण आदिके देखनेसे परिग्रहकी इच्छा होना रूप संज्ञा तथा परिग्रहमे तीव्र अभिलाषा होती है तब यह संसारी प्राणी परिग्रहको ग्रहण करनेकी बुद्धि करता है ।।११७६।।

यह परिग्रह दोनों लोकोंमे मुनिके लिये दोष उत्पन्न करता है अर्थात् परिग्रहके होनेपर उसका संरक्षण, संस्कार आदि करने पड़ते हैं उससे अशुभ भाव होते हैं यह इस लोकके दोष हुए तथा परलोकमें कुगतिमें जाना पड़ेगा यह परलोक संबंधी दोष हैं । ये दोष परिग्रह वालेके होते है अतः साधुजनोके लिये सर्वप्रथम वस्त्र आदि परिग्रहका त्याग रूप पहला स्थिति कल्प कहा है अर्थात् साधुओंके दश प्रकारके स्थितिकल्प (आचरण विशेष) बताये हैं उनमें पहला स्थिति कल्प आचेलक्य वस्त्र त्याग है ।।११७७।।

यहांपर शंका होती है कि जब पहले स्थितिकल्पका नाम आचेलक्य है जिसका कि अर्थ वस्त्र त्याग है तो साधुओंको केवल वस्त्रका त्याग करना चाहिये अन्य परिग्रहके

चेलमात्रपरित्यागी शेषसंगी न संयतः ।
यतोमतमचेलत्वं सर्वं ग्रंथोज्झनं ततः ।।११७९।।

त्यागकी आवश्यकता नही है ? इस प्रकारकी शंकाका आगेकी कारिकामें समाधान करते है—

आचेलक्य नामका जो सूत्र है वह देशामर्शक है, आचेलक्य शब्दकी निरुक्ति करते समय "न चेलं इति अचेल तस्यभाव आचेलक्यं" है इसमे चेल शब्द उपलक्षण रूप है अतः चेल वस्त्रके साथ अन्य परिग्रहका निषेध भी हो जाना है अथवा इस सूत्रमें आदि शब्दका लोप हुआ है । जैसे तालप्रलब सूत्रमे हुआ है ।।११७८।।

विशेषार्थ—आचेलक्य, उद्दिष्ट भोजन त्यागी आदि दस स्थिति कल्प हैं । इन सबका विस्तृत वर्णन आगममे पाया जाता है । आचेलक्य शब्दकी निरुक्ति—"न चेल इति चेल ग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं, तेन सकल धन धान्यादि परिग्रह त्यागः गृह्यते" अर्थात् चेल–वस्त्रका त्याग इस शब्दमें वस्त्र परिग्रहका उपलक्षण है, जो उपलक्षण रूप अर्थ होता है उसमें उक्त शब्दके अर्थके साथ अन्य उसके समान अर्थका ग्रहण स्वतः हो जाता है । जैसे किसीने कहा "काकेभ्यो रक्षतां सर्पिः" कौवेसे घी की रक्षा करो तो इस वाक्यमें कौवा उपलक्षण है कौवा और कौवेके समान और जो कोई घी को नष्ट करता है उन सभीसे घी को बचाओ । यह अर्थ ध्वनित होता है । ऐसे ही आचेलक्य शब्दमें चेलका त्याग तथा चेल वस्त्र समान अन्य धन धान्य आदिका त्याग भी इसी आचेलक्य शब्दमे निहित है । इसप्रकार आचेलक्य धारण किया इसका अर्थ समस्त वस्त्र धन आदि परिग्रहका त्याग है । अथवा इस आचेलक्य शब्द चेलका निषेध करते समय आदि शब्द लुप्त हुआ समझना चाहिये । जैसे "तालप्रलंब" सूत्रमें आदि शब्द लुप्त हुआ है । साधुकी योग्य चर्या बताते समय कल्प ग्रंथमें "ताल प्रलब वनस्पति नही खाना चाहिये" "ताल पलब ण कप्पदि" ऐसा सूत्र है । इसमे ताल शब्द केवल ताड वृक्षका वाचक न होकर वनस्पतिके एक देशरूप वृक्ष विशेषका वाचक है । इस सूत्रमें आदि शब्दका लोप है । अर्थात् ताल आदि वनस्पतियोका भक्षण नही करना चाहिये ऐसा अर्थ इष्ट है । केवल तालवनस्पतिको नही खाना ऐसा अर्थ अभीष्ट नही है । इसीप्रकार यहां आचेलक्य शब्दमे केवल वस्त्रका निषेध नही है किन्तु समस्त परिग्रहका निषेध इष्ट है ।

जिसकारणसे वस्त्रका त्याग करे और शेष परिग्रहको रखे तो वह संयत नहीं

छंद वंशस्थ—

परिग्रहार्थं प्रणिहन्ति देहिनो वदत्यसत्यं विदधाति मोषणं ।
निषेवते स्त्रीं श्रयते परिग्रहं न लुब्धबुद्धिः पुरुषः करोतिकिम् ।।११८०।।

संज्ञा गौरवपैशुन्यविवादकलहादयः ।
दोषा ग्रंथेन जन्यंते दुर्नयेनेव सर्वदा ।।११८१।।

क्रोधं लोभं भयं मायां विद्वेषमरति रतिम् ।
द्रविणार्थी निशाभुक्ति विदधाति विचेतनः ।।११८२।।

है उस कारणसे अचेलत्व शब्दसे सर्व परिग्रह त्याग ही अचेलत्व है ऐसा निश्चय होता है ।।११७९।।

संसारी प्राणी परिग्रहके लिये जीवोंका वध करता है, असत्य भाषण करता है, चोरी करता है, स्त्री सेवन करता है, परिग्रहका आश्रय लेता है, इसतरह लोभयुक्त बुद्धिवाला पुरुष क्या गलत कार्य नही करता ? सब कुछ पाप करता है ।।११८०।।

संज्ञा—आहारादि की वांछा, गौरव—रस गारव आदि तीन प्रकारका दर्प, चुगली, विवाद और कलह आदि दोष परिग्रह द्वारा उत्पन्न किये जाते है, जैसे दुर्नय द्वारा कुनय या अनीतिसे दर्प विवाद आदि दोष होते है ।।११८१।।

भावार्थ—परिग्रहके कारण मैं बड़ा हूँ इत्यादि गर्व होता है, धन रक्षा हेतु वैर कलह करता है, झूठ चोरी आदि पाप करता है अतः परिग्रह सर्वदोषोंका मूल है ।

धनका इच्छुक जन क्रोध, लोभ, भय, माया द्वेष, अरति, रति और रात्रि भोजन भी मोहित होकर करता है ।।११८२।।

भावार्थ—धनके उपार्जनके लिये किसीसे कुपित होता है कोई धनका नाश न कर देवे चोर न आ जाय इत्यादि भय परिग्रह उत्पन्न करता है । धनको कमानेके लिये उसकी बढ़तीके लिये माया जाल को रचता हुआ स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है । किसीने धन खर्च आदि किया तो उमसे द्वेष करने लगता है । रात्रि भोजन भी करने लगता है । वर्तमानमें श्रावक जन तो धनके लिये प्रायः रात्रि भोजन करते हुए दिखाई देते हैं । इसप्रकार परिग्रह सर्व अनर्थ कराता है ।

ग्रंथो महाभयं नृणामेकरथ्ये सहोदरौ ।
ग्रंथार्थं हिंसितुं बुद्धि यत्तोऽकार्ष्टां परस्परम् ॥११८३॥

तस्कराणां भयं जातमन्योन्यद्रविणार्थिनाम् ।
मद्येमांसे विषं घोरं यतः संयोज्य मारिताः ॥११८४॥

मनुष्योंके लिये परिग्रह महाभय रूप है, देखो ! एक रथ्या नामके ग्राममे दो सगे भाई थे, उन्होने परिग्रहके लिये एक दूसरेको मारनेकी बुद्धि की थी ॥११८३॥

सगे दो भाईयोकी कथा—

दशार्ण देशमे एक रथ नामका नगर था उसमे दो सगे भाई रहते थे । दुर्भाग्य वश उनके दरिद्रता आयी । दोनों अपने मामाके समीप गये उन्होंने आठ रत्न दिये और कहा कि इनसे आप अपनी आजीविका का साधन बनाओ । दोनो भाई धनदेव और धनमित्र अपने नगर की ओर आ रहे थे । मार्गमे रत्नोको अकेले ही हड़पने को दुर्भावना से एक दूसरे को मार डालने का विचार आया, किन्तु कुछ दूर जानेपर सुबुद्धि आयी और बुरे विचार एक दूसरेको बताकर उन्होने रत्नो को नदीमें फेंक दिया । उन रत्नों को बड़ी मछलीने निगल लिया । धीवरने जब उस मछली को चीरा तो उसके पेटसे वे रत्न निकले । किन्तु धोवर उनकी कीमत नहीं जानता था अतः बाजारमे बेचने आया, कर्म संयोग वश उन धनदेव धनपुत्र की माताने उनको खरीदा, जब उसे ये रत्न हैं ऐसा मालूम हुआ तो उसके लोभमे पुत्रोंको मारना चाहा, फिर पश्चात्ताप कर उसने उन रत्नोंको अपनी लड़की धनमित्राको दिया, रत्नोंको पाते ही उसके भी भाव सबको मारने के हुए । फिर सम्हल कर माताको मनका बुरा भाव बताया । सबने बैठकर विचार किया कि अहो ! यह रत्न आदि धन परिग्रह अत्यंत दुःखप्रद है, यह ससार असार है धिक् मोह माया को । ऐसा विचार कर वे सभी दीक्षित होगये । इसप्रकार परिग्रहके ममत्वसे भाईयोंकी बुद्धि भ्रष्ट हुई थी ।

सगे दो भाईयोंकी कथा समाप्त ।

एक दूसरेके हिस्सेका धन ग्रहण करनेकी इच्छा वाले चोरोंको आपसमें भय हुआ और उन्होंने शराब तथा मांसमें घोर विष मिलाकर एक दूसरेको मार डाला ॥११८४॥

संगो महाभयं यस्माच्छ्रावकेण कर्थितः ।
निहितेऽपहृते द्रव्ये तनूजेन तपोधनः ।।११८५।।

चोरोकी कथा—

धनदत्त, धनमित्र आदि बहुतसे सेठके पुत्र व्यापारके लिये बहुतसा धन लेकर एकवनसे जा रहे थे । मार्गमें चोरोने उन्हें लूट लिया । विशाल धनको प्राप्तकर उन चोरोंकी नियत बिगड़ गयी सबके मनमें भाव आया कि अकेलेके हाथ सब धन आ जाय । रात्रिमे भोजन करने बैठे, उन्हींमेंसे एक ने खानेके लिये लाये गये निद्य मांसमे विष मिला दिया । सबने उसे खा लिया यहातक कि जिसने विष मिलाया था उसने भी भ्रमवश खा लिया एक सागरदत्त नामके वैश्यपुत्रने नही खाया था वह बच गया उसने धन लोभके दुष्परिणामको साक्षात् देखा था इससे उसको वैराग्य हुआ । सब धन वही पड़ा रहा, एक बचा हुआ सागरदत्त मुनिके निकट दीक्षित हो गया । इसप्रकार एक धन लिप्सा सर्व चोरोके मृत्युका कारण बनी ऐसा जानकर धनकी लालसा का त्याग करना चाहिये ।

कथा समाप्त ।

परिग्रह ही महाभय है क्योकि एक श्रावक द्वारा साधुको धनके कारण ही कष्ट दिया गया था, उस श्रावकने कहीपर धन गाड रखा था उसको पुत्रने चुरा लिया जिससे उक्त श्रावकको मुनिपर शंका हुई थी अतः अनेक प्रकारकी कथा द्वारा मुनिको व्याकुल किया था ।।११८५।।

धनलोभी जिनदत्तकी कथा—

उज्जैन नगरीमें एक जिनदत्त नामका सेठ था उसके पुत्रका नाम कुबेरदत्त था । एक दिन नगरके श्मशानमें मणिमाली यति मृतक शय्यासे ध्यान कर रहे थे । एक कापालिक विद्या सिद्धिके लिये वहां आया और मुनिराजको मृतक समझकर उनके मस्तकका तथा अन्य दो शवोंके मस्तकोंका चूल्हा बनाकर उसने आग जलायी उस चूल्हे पर हांडी चढाकर चावल पकाने लगा । मुनिराज आत्मध्यानमें लीन हुए वे आत्मा और शरीरके पृथक् पृथक्पनेका विचार करने लगे किन्तु उनका मस्तक अकस्मात् हिल गया उससे हांडी गिर पड़ी चूल्हा बुझ गया और कापालिक डरकर भाग गया । प्रातः हुआ किसीने मुनिको कष्टमय स्थितिमें देखा और जिनदत्त सेठको वह समाचार दिया । सेठ अतिशीघ्र वहां पहुंचा मुनिकी स्थितिको देखकर उसको बहुत दुःख हुआ

वर्षं वातं क्षुधं तृष्णां तापं शीतं श्रमं क्लमं ।
दुर्भुक्तं सहतेऽर्थार्थी भारं वहति पुष्कलं ।।११८६।।

छंद-द्रुत विलंबित—

कृषति दीव्यति सीव्यति खिद्यते वपति पश्यति त्रस्यति याचते ।
धमति धावति वल्गति सेवते रुदति ताम्यति नृत्यति गायते ।।११८७।।

तत्काल मुनिराजको अपने गृह चैत्यालयमें ले गया चतुर वैद्यको सलाहसे लाक्षामूल तेल द्वारा मुनिराजका जला हुआ मस्तक ठीक हो गया जिनदत्तने गुरुकी महान वैयावृत्यकी चातुर्मासका समय अत्यत निकट था अतः सेठके प्रार्थनापर मुनिने गृह चैत्यालयमें वर्षा-योग स्थापित किया । किसी दिन अपने व्यसनी पुत्र कुबेरदत्तसे धनको रक्षा हेतु सेठने मुनिराजके बैठनेके स्थानमें धनको गाड दिया । इस बातको कुबेरदत्तन छिपकर देखा था, अतः मौका पाकर उसने धनको उक्त स्थानसे निकाल कर अन्यत्र गाड दिया । वर्षायोग पूर्ण होनेपर मुनिराज विहार करते हैं, सेठने उनके जाते ही धनको खोदकर देखा तो मिला नही । अब उसको भ्रम हुआ कि मुनिने इस धनको चुराया है वह मुनि-राजके निकट जंगलमे पहुंच जाता है और कथाओके माध्यमसे धन हरणकी बात कहता है मुनिराज भी समझ जाते हैं और वे भी कथाओ द्वारा अपनी निर्दोषता कहते है । उन कथाओके नाम—दूत, ब्राह्मण, व्याघ्र, बैल, हाथी, राजपुत्र, पथिक, राजा, सुनार, वानर, नेवला, वैद्य, तपस्वी, चूतवन लोक और सर्प । इन कथाओंको सेठ पुत्र कुबेरदत्त भी सुन रहा था । पिताके मुनिराजके प्रति होनेवाले दुर्भावको जानकर उसको वैराग्य हुआ उसने पिताको सब सत्य वृत्तांत कह दिया कि मैंने धनको खोदके निकाला है । उसने धन लिप्साकी बड़ी भारो निंदा की जिनदत्तको भी बड़ा पश्चात्ताप हुआ । दोनों पिता पुत्रने मुनिराजसे क्षमा मांगी और उन्हीके निकट जिनदीक्षा ग्रहण की ।

कथा समाप्त ।

वर्षाकी बाधा वायुकी बाधा, भूख, प्यास, धूप, हिम, श्रम, क्लम और खोटा भोजन इन सबको धनका इच्छुक पुरुष सहता है तथा बहुतसे भारको ढोता है अर्थात् कुली बनकर भार ढोकर धन कमाता है ।।११८६।।

धनार्थी पुरुष खेती करता है, क्रीड़ा करता है, वस्त्रको सीता है, खेदित होता है, धान्य बोता है, देखता है, घबराता है, याचना करता है, अग्निको धोंकता है, दौड़ता है,

छंद–द्रुत विलंबित—

पठति जल्पति लुंठति लुंपते हरति रुष्यति नश्यति लिख्यति ।
रजति कस्यति दहति सिंचति मुह्यति वंदते ॥११८८॥

छंद द्रुतविलबित—

श्वसिति रोदिति माद्यति लज्जते हसति तृष्यति दृष्यति नृत्यति ।
तुवति गृध्यति रज्यति सज्जते द्रविण लुब्धमनाः कुरुते न किम् ॥११८९॥

क्रीणाति वयते वस्त्रं गोमहिष्यादि रक्षति ।
अर्थार्थी लोहकाष्टास्थिस्वर्णकर्म करोति ना ॥११९०॥

छद द्रुतविलबित—

रुधिरकर्दमदुर्गममाहवं निशितशस्त्रविदारितकुंजरं ।
हरिपुरस्सर जंतुबिभीषणं भ्रमति वित्तमना गहनं वनम् ॥११९१॥

बकने लगता है, सेवा कर्म करता है । रोता है, दुःखी होता है, नाचता है, गाता है ॥११८७॥ पढता है, चिल्लाता है, किसोका धन डाकू बनकर लूटता है, छिपता है, अपहरण करता है, रोष करता है, सतुष्ट होता है । नष्ट हो जाना चाहता है । रक्षक बनता है, कृषक बनता है, जलता है, संचय करता है, मोहित होता है, धनके लिये किसीकी वदना करता है ॥११८८॥ जोर जोरसे श्वास लेता है, रोता है, मत्त होता है, लज्जित होता है, हँसता है, तृष्णा करता है, दर्प करता है, नाचता है, खेद करता है, गृद्धि करता है, रंज करता है, लगा रहता है इसप्रकार धनमे लुब्ध हुआ है मन जिसका ऐसा पुरुष क्या क्या नही करता ? ॥११८९॥ धनार्थी पुरुष वस्त्रको बेचता है, बुनता है, गो महिष आदि को रक्षा करता है, लोहकर्म, काष्ट कर्म, अस्थि कर्म, सुवर्ण कर्म करता है ॥११९०॥ धनार्थी रक्तके कोचड़से जो दुर्गम है ऐसे रणमें प्रवेश करता है, कैसा है रण ? पैने पैने शस्त्रोंसे विदारित किया है हाथियोंको जहां तथा धनमें है मन जिसका ऐसा वह पुरुष शेर आदि बहुतसे जंगली पशुओसे भीषण ऐसे गहन वनमें भ्रमण करता है ॥११९१॥ विशाल लहरों द्वारा मानो आकाशको छू रहा है ऐसे समुद्र में जो कि मकर आदि जलचर जीवोंसे व्याप्त है उसमे जीवनसे भी निस्पृह हुआ और धनार्जनमें ही आसक्त हुआ व्यक्ति प्रवेश करता है ॥११९२॥

छद द्रुतविलबित—

विपुलवीचिविगाढनभस्तलं मकरपूर्वकवार्चरसंकुलम् ।
जलनिधिं द्रविणार्जनलालसोविशति जीवितनिस्पृहमानसः ॥११६२॥

छद द्रुतविलबित—

निधनमृच्छति तत्र यदेकको भवति कस्य तदा धनमर्जितम् ।
विविधविघ्नविनाशितविग्रहो जनतयाखिलयापि जुगुप्सते ॥११६३॥

छद भुजग प्रयात—

लुनीते धुनीते पुनीते कृणीते न दत्ते न भुंक्ते न शेते न वित्ते ।
सदाचारवृत्ते बहिर्भूतचित्तो धनार्थी विधेयं विधत्ते निकृष्टम् ॥११६४॥

गिरिकंदरदुर्गाणि भीषणानि विगाहते ।
अकृत्यमपि वित्तार्थं कुरुते कर्म मूढधीः ॥११६५॥

जायते धनिनो वश्यः कुलीनोऽपि महानपि ।
अपमानं धनाकांक्षी सहते मानवानपि ॥११६६॥

कांपिल्यनगरेऽर्थार्थं परितापं दुरुत्तरं ।
प्राप्य पिण्याकगंधोऽगाल्ललल्लकं नरकं कुधी. ॥११६७॥

धनार्थी पुरुष अकेला ही धन कमाता हुआ जब मृत्युको प्राप्त होता है तब उसका वह अर्जित धन किसका होता है ? विविध विघ्न बाधाओं द्वारा नष्ट कर डाला है अपने शरीरको जिमने ऐसा वह पुरुष तो अखिल जनता द्वारा निंदनीय हो जाता है ॥११६३॥ धनार्थी पुरुष खेतमें फसलको काटता है, धुनता है, खलियान साफ करता है, धान्य बेचता है, अपना धन धान्य न किसीको देता है और न स्वयं खाता है, न सोता है और न कुछ जान पाता है, वह धनार्थी तो सदाचार वृत्तिसे बहिर्भूत चित्तवाला होकर निकृष्ट कार्यको करता है ॥११६४॥ धनके लिये मूढ बुद्धि पुरुष भीषण गिरि कदर दुर्गमे प्रवेश करता है, अकृत्यको भी कर डालता है ॥११६५॥ धनका आकांक्षी पुरुष धनिकोंके वशमे हो जाता है, भले ही स्वय महान् है, कुलवान् भी है, अभिमानी होकर भी अपमान सहता है ॥११६६॥ कांपिल्य नगरमें धनके लिये कठोर परितापको प्राप्त होकर पिण्याकगंध नामका कुबुद्धि पुरुष लल्लक नामके नरकके बिलमे गया था ॥११६७॥

कुर्वतोऽपि परां चेष्टामर्थलाभो न निश्चितं ।
संचीयते विपुण्यस्य नार्थो लब्धोऽपि जातुचित् ।।११९८।।

पिण्याकगंधको कथा—

कांपिल्य नगरमें रत्नप्रभ राजा राज्य करता था उसी नगरमे एक पिण्याकगंध नामका सेठ था वह करोड़पति होकर भी अत्यंत लोभी कृपण और मूर्ख था । न स्वयं धनका भोग करता न किसी परिवार जनोंको करने देता । सब कुछ होते हुए भी खल खाया करता इसलिये उसका नाम पिण्याकगंध पड़ा था । पिण्याक खलीको कहते हैं यह सेठ उस पिण्याक को सूंघकर गंध लेकर खाया करता अत. पिण्याकगंध नामसे पुकारा जाता था । एक दिन राजाने तालाबका निर्माण कराया, उसकी खुदाईमे एक नौकरको लोहेकी संदूकमे बहुतसी सलाइयां मिली । नौकरने एक एक करके पिण्याकके यहां उन सलाइयोको बेचा । पहले सलाई लेते समय तो उस सेठको मालूम नहीं पडा कि यह सलाई किस धातुकी है लोहेकी समझकर खरीदो । पीछे ज्ञात हुआ किन्तु लोभवश लोहेके मूल्यमें खरीदता रहा । किसी दिन वह अन्यत्र गया हुआ था जब नौकर सलाई बेचने आया तो सेठके पुत्रने सलाई खरीदनेको मना किया । नौकर दूसरी जगह बेचनेको गया इतनेमे सिपाहीने उसे पकड़ लिया और राजाके समक्ष उपस्थित किया । नौकर ने सब बात बतादी कि पिण्याकगंधको सलाई बेची है और लोहेके भावमें बेची है । राजाको क्रोध आया उसने सेठका सारा धन छीन लिया । जब पिण्याकगंधको अपने धनका नाश होना मालूम हुआ तो अत्यत रौद्रभावसे उसने कुपित होकर अपने पैर काट डाले कि इन पैरोसे मैं यदि दूसरे ग्राम नही जाता तो मेरा धन नही लुटता । इसतरह पैरके कट जानेसे तीव्र वेदनाके साथ वह मर गया और छठे नरकके लल्लक नामके तीसरे इन्द्रक बिलमे उत्पन्न हुआ । वहांपर भयंकर वेदना सहता रहा । इसप्रकार परिग्रहका मोह महान परितापका कारण है ऐसा जानकर भव्योको उसका त्याग करना चाहिये ।

पिण्याकगंधकी कथा समाप्त ।

बहुतसा पुरुषार्थ करनेपर भी धनका लाभ होना निश्चित नही है तथा पुण्य-रहित जोवके कदाचित् कुछ धन हो जाय तो वह सचित नहीं रह पाता नष्ट हो जाता है ।।११९८।। धनका संचय कदाचित् हो भी जाय तो पुरुष कभी तृप्त नहीं होता, जैसे

नार्थे संचीयमानेऽपि पुरुषो जातु तृप्यति ।
अपथ्येन यथा व्याधिर्लोभो लाभेन वर्द्धते ॥११९९॥

नदीजलैरिवाम्भोधिरिंधनैरिव पावकः ।
लोकैस्त्रिभिरपि प्राप्तैर्न जीवो जातु तृप्यति ॥१२००॥

महाधनसमृद्धोऽपि पटहस्ताभिधोवणिक् ।
जातस्तृप्तिमनासाद्य लुब्धधीर्दीर्घसंसृतिः ॥१२०१॥

अपथ्य सेवनसे व्याधि बढती जाती है वैसे धनके लाभसे पुनः पुनः लोभ बढ़ता जाता है ॥११९९॥ जिसप्रकार नदियोंसे सागर और ईंधनोसे अग्नि तृप्त नहीं होती है उसीप्रकार तीन लोक के प्राप्त हो जाने पर भी जीव कभी तृप्त नहीं होता है ॥१२००॥

महा समृद्धशाली पटहस्त नामका वणिक् तृप्त न होकर धनमे अत्यत आसक्त है बुद्धि जिसकी ऐसा होकर दीर्घ संसारी बन गया था ॥१२०१॥

फणहस्त—पटहस्त वणिककी कथा—

चंपापुरीमें राजा अभयवाहन अपनी पुंडरीका रानीके साथ सुखपूर्वक राज्य करता था । उस नगरीमे एक महाकजूस लुब्धक नामका सेठ था, सेठानी नागवसु थी । वर्षाऋतुका समय था । रात्रिके समय नदीमे बहकर आयी हुई लकड़ियोंको लुब्धक इकट्ठी कर रहा था । रानी पुंडरीकाने इस दृश्यको देखा और लुब्धकको दरिद्री समझकर राजासे धन देनेको कहा । राजाने पता लगाकर सेठको बुलाया और कहा कि तुम्हें जो द्रव्य चाहिये सो खजानेसे ले जाओ । सेठने कहा—मुझे एक बैल चाहिये, राजाने कहा—गोशालामेसे जैसा चाहिये वैसा बैल ले जाओ । सेठने उत्तर दिया राजन् ! मैं जैसा चाहता हूं वैसा बैल आपके गौशालामें नही है । तब आश्चर्ययुक्त होकर राजाने पूछा कि तुम्हे कैसा बैल चाहिये ? सेठने कहा—मेरे पास एक बैल तो है किन्तु उसका जोडा नही होनेसे चिंतित हूं । राजा विस्मित हो उसका बैल देखनेको चला, राजाको घरपर आये देख सेठ सेठानीने उनका स्वागत किया । सेठने तलघरमे स्थित, मयूर, हंस, सारस, मैना, अश्व, हाथी आदि पशु-पक्षियोकी रत्न सुवर्णनिर्मित युगलोको दिखाकर सेठने कहा कि इनमें एक बैल कम है उसके लिये मैं परेशान हू । राजा उसका वैभव

हाहाभूतस्य जीवस्य किं सुखं तृप्तितो विना ।
आशया ग्रस्यमानस्य पिशाच्येव निरंतरम् ।।१२०२।।

छंद स्रग्विणी—

हन्यते ताडयते बध्यते रुध्यते मानवो वित्तयुक्तोऽपराधं बिना ।
पक्षिभिः किं न पक्षी गृहीतामिषः खाद्यते लुंच्यते दोषहीनः परैः ।।१२०३।।

देखकर दंग रह गया तथा इतने धनके होते हुए भी लकड़ियां इकट्ठी करने जैसे निंद्य-कार्यमें प्रवृत्त देखकर उसके चाहकी दाहपर बड़ा खेद भी हुआ ।

राजा जब वापिस जाने लगा तब सेठानी नागवसुने सेठके हाथमें रत्नोंका भरा सुवर्णथाल राजाको भेंटमे देनेके लिये दिया । सेठका सारा रक्त मानों सूख हो गया इतने रत्नोके देते समय उसके दोनो हाथ लोभ और क्रोधके मारे कांपने लगे, राजाके तरफ थाल करते वक्त उसके हाथ नाग फणके सदृश राजाको दिखाई पड़े । राजा समझ चुका था कि यह सेठ महालोभी, कृपण, नीच एवं निंद्य है उसके भावोंके अनुसार उसके हाथोंका परिवर्त्तन देखकर राजाने उसकी निंद्य भावना एव परिग्रह लोभकी बहुत निंदा की और "यह फण हस्त है" ऐसा उसका नामकरण करके राजा अपने महलमे लौट आया । इधर सेठ धन कमाने हेतु विदेश गया था वहासे लौटते समय समुद्रके मध्य उपार्जित धनके साथ डूब गया और परिग्रहके महालोभके कारण मरकर नरकमे चला गया ।

कथा समाप्त ।

जिसको धनकी हाय-हाय लगी है ऐसे पुरुषको धन मिल भी जाय किन्तु तृप्ति नहीं होती और तृप्तिके बिना क्या सुख ? वह तो आशा द्वारा सदा ग्रस्त रहता है । जैसे किसीको पिशाची लग जाय तो वह निरतर दुःखी रहता है वैसे आशा—मुझे यह मिल जाय, अमुक वस्तुकी प्राप्ति होनी चाहिये इसप्रकारकी आशा पिशाचीसे ग्रस्त मानव धनके रहते हुए भी कभी सुखी नहीं होता ।।१२०२।। धनिक पुरुष अपराधके बिना भी किसी अन्य धनके इच्छुक व्यक्ति द्वारा मारा जाता है, ताड़ित होता है, बांधा जाता है, रोका जाता है, ठीक ही है ! देखो ! जिसने मासको ग्रहण किया है ऐसा पक्षी दूसरे पक्षियोंका कुछ अपराध दोष नही करता किन्तु अन्य पक्षियों द्वारा क्या खाया नहीं जाता, नोचा नही जाता ? जाता ही है ।।१२०३।।

छंद उपेन्द्रवज्रा—

प्रियासवित्रीपितृदेहजादौ सदापि विश्वासमनादधानः ।
न त्रायमाणः सकलां त्रियामां प्रयातिनिद्रां धनलुब्धबुद्धिः ॥१२०४॥

अरण्ये नगरे ग्रामे गृहे सर्वत्र शंकितः ।
आधारान्वेषणाकांक्षी स्ववशो जायते कदा ॥१२०५॥

धीरैराचरितं स्थानं विविक्तं धनलालसः ।
विहाय भूरिलोकानां मध्ये गेहीव तिष्ठति ॥१२०६॥

शब्दं कंचिदसौ श्रुत्वा सहसोत्थाय धावति ।
सर्वतः प्रेक्षते द्रव्यं परामृशति मुह्यति ॥१२०७॥

आरोहति नगं वृक्षमुत्पथेन पलायते ।
निघ्नंस्तनुमतो भीतो ह्रदं विशति दुस्तरम् ॥१२०८॥

धनमें लुब्ध हुई है बुद्धि जिसकी ऐसा पुरुष अपनी स्वयकी पत्नी, माता, पिता, पुत्री आदिमें विश्वास नहीं करता, सदा स्वय हो धनकी रक्षामे लगा रहता है, तीन प्रहर प्रमाण समस्त रात्रिमें निद्रा नहीं लेता है ॥१२०४॥ धनका लोभी धनकी रक्षाके लिये उपयुक्त स्थानको खोजता रहता है, अरण्यमे, नगरमे, ग्राममे, घरमें सर्वत्र ही शंकित रहता है कि मेरा धन कोई देख न लेवे चुरा न लेवे ? वह स्ववश–स्वाधीन कब होता है ? अर्थात् नही होता सदा धनके आधीन रहता है ॥१२०५॥

धनका लोभी पुरुष धीर वीर महापुरुषों द्वारा जो स्थान सेवित किया जाता है ऐसे विविक्त एकान्त स्थानको छोडकर बहुतसे लोकोंके मध्यमें गृहस्थवत् रहता है (क्योकि उमे डर लगता है कि इस एकांत स्थानमे मेरा धन कोई चुरा नही लेवे) ॥१२०६॥ धनलुब्ध मानव रात्रिमे किंचित् भी शब्द सुनता है तो तत्काल उठकर भयसे भागने लगता है, चारों ओर देखने लगता है कि कोई धन चुराने आया तो नही ? अपने धनको बार-बार छूकर देखता है कि वह कही चला तो नही गया। धन पर सदा मोहित रहता है ॥१२०७॥ मेरा धन चोर ले जायगा इस भयसे वह परिग्रह-वान् पुरुष पर्वत पर चढ जाता है, वृक्षपर चढ जाता है, ऊबड खाबड खराब रास्तेमे भाग जाता है। जीव जन्तुका घात करते हुए कही घुस जाता है, भयसे कभी अगाध सरोवरमे प्रविष्ट होता है ॥१२०८॥ उस धनके परवश हुए पुरुषका धन जबरदस्ती

अवशस्य नरस्यार्थो हृठतो बलिभिः परैः ।
दायादैस्तस्करैर्भूपैस्त्रायमाणोऽपि लुट्यते ।।१२०९।।
कलिं कलकलं वैरं कुरुते नाथते परं ।
म्रियते मार्यते लोकैर्हस्यते चार्थलंपट ।।१२१०।।
कृशानुमूषिकांभोभिः संचितोऽर्थो विनाश्यते ।
तत्र नष्टे पुनर्बाढं दह्यते शोकवह्निना ।।१२११।।

छंद द्रुत विलंबित—

श्वसिति रोदिति सीदति वेपते गतवति द्रविणे ग्रहिलोपमः ।
करनिविष्टकपोलतलोऽधमो मनसि शोचति पूत्कुरुतेऽभितः ।।१२१२।।
अंतरे द्रव्यशोकेन पावकेनेव ताप्यते ।
बुद्धिमंदायते बाढ मुह्यत्युत्कंठते तराम् ।।१२१३।।

बलवान् अन्य किसीके द्वारा लूट लिया जाता है, परिवारके भागीदार उसके धनको छीन लेते है अथवा चोर या राजा द्वारा उसका रक्षित किया हुआ भी धन लूट लिया जाता है ।।१२०९।। धनका लपटी व्यक्ति दूसरोंके साथ झगड़ा करता है, बकबक करने लगता है, वैर करता है । कभी अन्यसे धनकी याचना करने लगता है । धनको रक्षा करते हुए मर जाता है या अन्य द्वारा मारा जाता है, अधिक लोभी एव कृपणकी लोक हसी करते है ।।१२१०।। बहुत ही प्रयाससे संचित किया गया धन अग्नि, चूहे और जल द्वारा नष्ट किया जाता है उस धनके नष्ट हो जानेपर वह अधिक रूपसे शोक अग्नि द्वारा जलने लगता है अर्थात् अत्यंत कठिनाईसे कमाये हुए धनका नाश हुआ देखकर उस व्यक्तिको बहुत भारी शोक सताप होता है ।।१२११।।

जिसका धन नष्ट हुआ है वह पुरुष जोर जोरसे श्वास लेने लगता है, रोता है, खेद करता है, कापता है । इसतरह धनके चले जानेपर पागलके समान चेष्टा करता है, हाथोंको कपोलपर रखकर वह अधम मनमें बड़ा अफसोस करता है, पुकारने लगता है ।।१२१२।।

धन-द्रव्यका नाश होनेसे उत्पन्न हुआ जो शोक है उसके द्वारा मनके भीतर संतप्त होता है, जैसे अग्निसे जलनेपर संताप होता है उससे अधिक संताप उसे होता है, उसकी बुद्धि मंद पड़ जाती है, अतिशय रूपसे मोहित होता है तथा उत्कंठित होता

उन्मत्तो बधिरो मूको द्रव्ये नष्टे प्रजायते ।
चेष्टतो पुरुषो मर्तुं गिरिप्रपतनादिभिः ॥१२१४॥

चेलादयोऽखिला ग्रंथाः संसजंति समंततः ।
संति सन्निहिताश्चित्रास्तस्मिन्नागंतुकास्तथा ॥१२१५॥

छंद स्रग्विणी—

बंधने छोटने छेदने भेदने पाटने धूनने चालने शोषणे ।
वेष्टने क्षालने स्वीकृतौ क्षेपणेऽर्थस्य पीडा परा जायते देहिनाम् ॥१२१६॥

तेभ्यो निरसने तेषां ध्रुवा योनिवियोजना ।
दोषा मर्द्दनसंघट्टवितापमरणादयः ॥१२१७॥

सचित्ता ग्रंगिनो घ्नन्ति स्वयं संसक्तमानसाः ।
गृहोतुर्जायते पापं तन्निमित्तमसंशयम् ॥१२१८॥

है ॥१२१३॥ धनके नष्ट हो जानेपर वह पुरुष पागल हो जाता है, बहिरा गूंगा होता है और अंतमें पहाड़ आदिसे गिरकर मरनेकी चेष्टा करता है ॥१२१४॥

ओढने आदिके वस्त्र आदि जितने परिग्रह है वे सब ही चारों ओरसे संमूर्च्छन जीवोंसे सहित हैं, नवीन विचित्र विचित्र जीव भी उनमें उत्पन्न होते रहते हैं ॥१२१५॥

भावार्थ—वस्त्र आदि परिग्रहोंमे संमूर्च्छन जीव उत्पन्न होते ही रहते है जैसे वस्त्रमें जू, दीमक ग्रादि उत्पन्न होते हैं। धान्यमे लट, घुन आदि लग जाते है। खाद्य पदार्थ ग्रधिक दिनके होनेपर उनमे रसज समूर्च्छन जीव उत्पन्न होते है। इसीप्रकार ग्रन्य वस्तुग्रोमे भी जीव उत्पन्न होते है।

परिग्रह धारी पुरुष जब अपने धन धान्य ग्रादि परिग्रहोका बंधन करना—बांध देना, छोड़ना, छेदना, भेदना, उखाड़ना, हिलाना, छानना, सुखाना, वेष्टित करना, धोना, पहनना, फेकना ग्रादि क्रियाये करता है तब उन परिग्रहोंमे होनेवाले जीव एवं उनके आसपासमे रहनेवाले जीवोंको बड़ी भारी पीडा होती है ॥१२१६॥ जब वस्त्रादि परिग्रहोंसे उन जीवोको निकालते है तब नियमसे उनका योनि स्थान—उत्पत्ति स्थान बदलता है और उससे उन जीवोका मर्द्दन सघट्टन, परिताप ग्रोर मरण हो जाया करता है ॥१२१७॥

दास दासी आदि सचित्त परिग्रह जो कि स्वयं भी धनमें आसक्त मनवाले हैं वे जीवोंका घात करते हैं अथवा उन सचित्त परिग्रहरूप दास आदिका उनके स्वामी द्वारा

देहस्याक्षमयत्वेन देहसौख्याय गृण्हतः ।
अक्षसौख्याभिलाषोऽस्ति सकलस्य परिगृहः ॥१२१६॥
रक्षणस्थापनादीनि कुर्वाणोऽर्थस्य सर्वदा ।
निरस्ताध्ययनो ध्यानं व्याक्षिप्तः कुरुते कथम् ॥१२२०॥
अर्थप्रसक्तचित्तोऽस्ति निःस्वो बहुषु जन्मसु ।
ग्रासार्थमपि कर्माणि निद्यानि कुरुते सदा ॥१२२१॥

बंधन, पीड़न आदि रूप घात किया जाता है और उस निमित्तसे निःसंशय ही पाप बंध होता है । भाव यह है कि दास दासी आदिको खेती आदिमें नियुक्त करते हैं तब वे जीवोंका घात करते हैं उससे उन दासादिको पाप बंध होता है और उनका स्वामी दासादिको उक्त कार्यमें लगाता है अतः स्वामीको भी पापबंध होता है, इसतरह दोनोंको पापका बंध होता है ॥१२१८॥

यह शरीर इन्द्रियमय है अर्थात् पांचों इन्द्रियोंका अभिन्न भूत आधार है, शरीरको सुख हो इस हेतुसे वस्त्र आदिको मनुष्य ग्रहण करता है अर्थात् शरीरको धूप, हवा आदिसे बाधा न होवे एतदर्थ वस्त्र आदिको धारण करता है, इसतरह परिग्रह-धारीके इन्द्रिय सुखकी अभिलाषा–इच्छा रहती है और इच्छा नियमसे पापबंधका कारण है ॥१२१९॥

सर्वदा धनका संरक्षण रखना उठाना आदि कार्योंको करनेवालेके शास्त्रका अध्ययन नही होता, व्याकुल चित्तवाला पुरुष ध्यानको कैसे कर सकता है ? ॥१२२०॥

भावार्थ—परिग्रह सरक्षणमें लगे हुए व्यक्तिको स्वाध्याय करनेका अवसर नहीं मिलता है उसका समस्त समय परिग्रहके संमार्जन आदिमे नष्ट होता है । चित्त भी आकुल व्याकुल रहता है अतः एकाग्रचित्त रूप ध्यान भी परिग्रहधारीके संभव नहीं है ।

जो व्यक्ति सदा परिग्रहमें ही आसक्त मनवाला होता है उसको बहुत जन्मोंमे दरिद्रता आती है अर्थात् परिग्रहमें आसक्ति रखनेवाला जीव भव-भवमे दरिद्री बनता है, वह भोजनके लिये सदा निद्य कार्योंको करता है, अर्थात् जूते उठाना, पगचंपी करना, भार ढोना आदि खोटे काम करता है तथा उसे ग्रास-ग्रासके लिये भीख मांगनी पड़ती है ॥१२२१॥

लभते यातनाश्चित्रा ग्रंथहेतून्भवान्तरे ।
संक्लिश्यत्याशया ग्रस्तो हाहाभूतोऽर्थ लुब्धधीः ।।१२२२।।

अमीभिरखिलैर्दोषैर्ग्रंथत्यागी विमुच्यते ।
सूरिभिस्तद्विपक्षैश्च निलयीक्रियते गुणैः ।।१२२३।।

अंकुशो गतसंगत्वं विषयेभनिवारणम् ।
इंद्रियाणां परागुप्तिः पुरीणामिव खातिका ।।१२२४।।

विषयेभ्यो दुरंतेभ्यस्त्रस्यति ग्रंथवर्जितः ।
अल्पमंत्रौषधो मर्त्यः सर्पेभ्य इव सर्वदा ।।१२२५।।

धनमें लुब्ध बुद्धिवाला पुरुष भवांतरमें भी अनेक यातनाओंको प्राप्त होता है, धनकी हाय-हाय करता है, धनकी आशासे ग्रस्त हुआ सदा ही सक्लेश करता रहता है ।।१२२२।।

इसप्रकार यहातक परिग्रह धारण करनेमें जो दोष होते हैं उनका वर्णन किया, आगे जो परिग्रहका त्याग कर देता है उसके उक्त दोष नही होते एवं दोषके विपक्षी गुण प्राप्त होते है ऐसा प्रतिपादन करते है—

परिग्रहका त्यागी इन समस्त दोषोंसे छूट जाता है और दोषोसे विपरीत गुणोंका निलय-स्थान बनता है अर्थात् कृपणता, निंदा, पापसंचय आदि दोष तो नष्ट हो जाते है और उनके विपक्षीभूत जो उदारता, प्रशसा, पुण्य संचय, नि.स्पृहः आदि गुण है वे प्राप्त होते है ।।१२२३।।

परिग्रहसे रहित होना रूप जो गुण है वह मानो विषयरूपी हाथीको रोकनेवाला अकुश ही है तथा नगरोंकी रक्षा करनेवाली परिधाके समान इन्द्रियोंकी परम गुप्ति है अर्थात् जिसके परिग्रह नही है वह विषयोंमे नही फसता तथा समस्त इन्द्रियां भी उसके वशमे हो जाती हैं ।।१२२४।।

परिग्रहका त्यागी सदा दुरंत पंचेन्द्रियके विषयोंसे भयभीत रहता है जैसे जिसके पास मंत्र औषधि अल्प है ऐसा मनुष्य सर्पोसे भयभीत रहता है ।।१२२५।।

भावार्थ—जिसको सर्पोंका विष दूर करनेका ज्ञान नही है, मंत्र औषधि आदि का प्रयोग नहीं जानता है वह पुरुष सर्पोंसे युक्त वनादिमे बहुत सावधानीसे रहता है ।

रागो मनोहरे ग्रंथे द्वेषश्चास्त्यमनोहरे ।
रागद्वेषपरित्यागो ग्रंथत्यागे प्रजायते ॥१२२६॥

शीतादयोऽखिलाः सम्यग्विषह्यन्ते परीषहाः ।
शीतादिवारकं संगं योगिना त्यजता सदा ॥१२२७॥

शीतवातातपादीनि कष्टानिसहते यतः ।
क्रियतेऽनादरो देहे निःसंगेन ततः परं ॥१२२८॥

इसीप्रकार क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान आदि मंत्र औषधि जिसके पास नहीं है ऐसे तपोधन मुनिराज राग-द्वेष आदि सर्पोंसे भरे विषयरूपी वनमें सावधान होकर रहते हैं। अभिप्राय यह है कि परिग्रहका त्याग करनेसे रागद्वेष नष्ट होते हैं तथा विषयाभिलाषा भी समाप्त होती है।

मनोहर इष्ट परिग्रहमे रागभाव होता है और अमनोहर अनिष्ट परिग्रहमें द्वेषभाव होता है अतः परिग्रहका त्याग करनेपर रागद्वेषका त्याग स्वतः हो जाता है ॥१२२६॥

शीत आदिकी बाधाको रोकनेवाले परिग्रहका त्याग करनेवाले मुनिद्वारा सदा शीत, उष्ण, दंशमशक आदि संपूर्ण परीषह भलीप्रकारसे सहन किये जाते हैं ॥१२२७॥

भावार्थ—साधुजन कर्मोंकी निर्जराके लिये सदा प्रयत्नशील रहते है, क्योंकि पूर्व संचित कर्म अन्यथा नष्ट नही होते है। कर्म निर्जराका प्रमुख कारण तप तथा परीषह सहना है। वस्त्र, घर आदिका त्याग कर देनेसे, शीतकी बाधा, धूपकी बाधा आदि स्वतः सहन हो जाती है, इसतरह परिग्रह त्यागको महत्ता बतायी है।

आगे कहते हैं कि हिंसादि असंयमका मूल शरीरका मोह है जिसने परिग्रह त्यागा वह शरीरका मोह भी छोड़ता है—

जिसकारणसे मुनिजन शीत, वायु, आतप आदि कष्टोको सहते हैं उस कारणसे उन निःसंग मुनि द्वारा शरीरमें अनादर–निर्ममत्व किया जाता है। अर्थात् जो शीत आदि परीषहोंको सहता है उसके शरीरका ममत्व नहीं रहता है ॥१२२८॥

व्याक्षेपोऽस्ति यतस्तस्य न ग्रंथान्वेषणादिषु ।
ध्यानाध्ययनयोर्विघ्नो निःसंगस्य ततोऽस्ति नो ॥१२२९॥

दर्शितास्ति मनःशुद्धिः संगत्यागेन तात्विकी ।
संगासक्तमना जातु संगत्यागं करोति किम् ॥१२३०॥

निःसंगे जायते व्यक्तं कषायाणां तनूकृतिः ।
कषायो दीप्यते संगैरिधनैरिव पावकः ॥१२३१॥

लघुः सर्वत्र निःसंगो रूपं विश्वासकारणम् ।
गुरुः सर्वत्र सग्रंथः शंकनीयश्च जायते ॥१२३२॥

मुनिके धन आदि परिग्रहोका अन्वेषण करना आदि क्रियाओमें व्याकुलता नहीं रहती इसलिये ध्यान और अध्ययनमे उस निःसग मुनिके कोई विघ्न बाधा नही होती ॥१२२९॥

आशय यह है कि जो परिग्रहमे विरक्त है उसे परिग्रहोको ढूढनेको चिंता नहीं होती। मेरी अभिलषित वस्तु कहां गयी, कहा मिलेगी ऐसा सोच करना किसीको उस वस्तुके विषयमें पूछना कि क्या आपने मेरी अमुक वस्तु देखी है इत्यादि। मिलने पर आनंद और नही मिलनेपर विषाद होता है। यह सब निष्परिग्रहीके नही होता, इसीलिये उसके शास्त्र स्वाध्यायमे कोई बाधा नही आती वह सतत् शास्त्राभ्यासमे लीन रहता है तथा चित्त निराकुल होनेसे धर्मध्यान आदिकी भी सिद्धि हो जाती है।

परिग्रहके त्याग द्वारा वास्तविक मनकी शुद्धि दृष्टिगोचर होती है, जिसका मन परिग्रहमे आसक्त है वह क्या कभी परिग्रह त्याग कर सकता है? नही कर सकता ॥१२३०॥

परिग्रह रहित निसग मुनिमे कषायोंकी कृशता (कम करना) व्यक्त होती है, क्योंकि परिग्रह द्वारा कषाय वृद्धिगत होती है, जैसे ईंधन द्वारा अग्नि वृद्धिगत होती है। अर्थात् परिग्रहका त्याग करनेवाला ही कषायोंको क्षीण कर सकता है, परिग्रह धारीके कषायोंको वृद्धि होती है ॥१२३१॥

परिग्रह रहित मुनि सर्वत्र लघु अर्थात् भार रहित होते हैं उन्हे गमनागमनमें किसीप्रकार की चिंता नही रहती। उनका नग्न दिगबर रूप विश्वासका कारण होता

प्रतिबंधप्रतीकारप्रतिकर्म भयादयः ।
निर्ग्रंथस्य न जायंते दोषाः संसारहेतवः ॥१२३३॥

महाश्रमकरे भारे रभसाद्भारवानिव ।
निरस्ते सकले ग्रंथे निर्वृतो जायते यतिः ॥१२३४॥

भवंतो भाविनो भूता ये भवन्ति परिग्रहाः ।
जहाहि सर्वथा तांस्त्वं कृतकारितमोदितैः ॥१२३५॥

यावन्तः केचन ग्रंथाः संभवन्ति विराधकाः ।
निर्वृत्तः सर्वथा तेभ्यः शरीरं मुंच निःस्पृहः ॥१२३६॥

है, क्योंकि वस्त्रादि शरोरपर नहीं होनेसे किसोको कुछ भय या शंका नही होतो कि इसने कपड़ेमें कुछ शस्त्र आदि तो नहीं छिपाये हैं ? जो व्यक्ति परिग्रह युक्त है वह सर्वत्र गुरु भारवाला गमनागमनमें चिंतावान् होता है अर्थात् मेरी अमुक वस्तु है उसे किसप्रकार देशांतरमें ले जाऊं इत्यादि चिता परिग्रहधारोके होती है तथा इसने वस्त्रादिमें कुछ अवश्य छिपाया है इसप्रकार वह लोगों द्वारा शंकनोय होता है ॥१२३२॥

निर्ग्रन्थके संसारके हेतुभूत प्रतिबध, प्रतोकार, प्रतिकर्म और भय आदि दोष नही होते है । पराधोनता होना कही जाने आनेमे रुकावट होना प्रतिबंध कहलाता है । उसका ऐसा प्रतोकार–बदला लेना है इत्यादिको प्रतीकार कहते हैं । यह कार्य तो पहले कर दिया है इसको पोछे करूंगा इत्यादि विचारको प्रतिकम कहते हैं । निर्ग्रंथ तपोधन ग्राम नगर आदिमे स्वाधीन विचरता है, उसे कोई चिता नही रहती धनादि पासमें नहीं होनेसे कही पर भो जाओ भय नही रहता इसप्रकार परिग्रह त्यागीके प्रतिबंध आदि दोष नहीं होते ॥१२३३॥

जैसे कोई भारवाहक पुरुष महाश्रमके कारणभूत भारको उतार कर निर्वृत्त सुखो हो जाता है, वैसे सकल परिग्रहके उतार देनेपर–त्यागकर देनेपर मुनि सुखी शांत हो जाता है ॥१२३४॥

आचार्य क्षपकको उपदेश दे रहे है कि हे क्षपक ! तुम जो परिग्रह वर्तमानमे है जो अतीतमें था और अनागतमें होवेगा उन तीनों कालोंके परिग्रहोंको मन वचन काय और कृत कारित और अनुमोदना द्वारा छोड़ दो सर्वथा त्याग कर दो ॥१२३५॥

इत्थं कृतक्रियो मुंच विषयं सार्वकालिकम् ।
तृष्णामाशां त्रिधा संगं ममत्वं त्यज सर्वदा ।।१२३७।।

समस्तग्रथनिर्मुक्तः प्रसन्नो निर्वृताशयः ।
यत्प्रीतिसुखमाप्नोति तत्कुतश्चक्रवर्तिनः ।।१२३८।।

छद शालिनी—

गृद्धयाकांक्षकारणं सेवते यच्चक्री सौख्यं रागपाकं वितृप्ति ।
सौख्यस्येदं नास्तसंगस्य तुल्यं स्वस्थोऽस्वस्थैः सौख्यमाप्नोति कुत्र ।।१२३९।।

भो यते ! इस संसारमें जितने कोई भी परिग्रह हैं वे आराधना या समाधिकी विराधना करनेवाले हैं उन सभी परिग्रहोसे सर्वथा निवृत्त होवो–दूर हो जाओ ! तुम सर्वत्र निःस्पृह होकर शरीरको छोडो ।।१२३६।।

अहो क्षपकराज ! इसप्रकार आराधना संबंधी समस्त क्रियाओंको कर दिया है जिसने ऐसे तुम सार्वकालिक अर्थात् तोन कालीन धनादि विषयोको छोड़ो तथा लालसा, आशा परिग्रह और ममत्वको मन, वचन, कायसे सर्वदा त्याग दो ।।१२३७।।

भावार्थ—ये मनोज्ञ विषय इसतरहके वस्त्रादि आगे आगे बढते रहे इसप्रकार के भावको आशा, कहते है । ये धनादिक मेरेसे किंचित् भी दूर नही होने चाहिये इसप्रकारके भाव तृष्णा कहलाती है ।

जो समस्त परिग्रहोसे निर्मुक्त है, परिग्रहकी चितासे रहित होनेके कारण प्रसन्न है, किसीप्रकारको आगामी कालीन व्याकुलता नही होनेसे निर्वृत्ताशय है उस मुनिराजको जो परम प्रीति और सुख प्राप्त होता है वह प्रोति और वह सुख चक्रवर्तीके भी कहां है ? ।।१२३८।।

चक्रवर्त्ती जो सुख भोगता है वह गृद्धि–लंपटता आकांक्षा–इच्छाका कारण है अर्थात् उस सुखसे अधिक अधिक लंपटता और इच्छाये बढती है, रागरूप फलवाला है और अतृप्ति कारक है । ऐसे चक्रवर्तीके सुखकी तुलना निष्परिग्रहो मुनिके सुखके साथ नहीं हो सकती । क्योंकि मुनिका सुख तो आत्मीक है वीतरागरूप है, गृद्धि कारक नहीं है । स्वस्थ–नीरोग पुरुष जो सुख प्राप्त करता है क्या उसको रोगी पुरुष प्राप्त कर सकता है ? नहीं ! इसीप्रकार मुनिके वीतराग शात भाव रूप सुखको चक्रवर्त्ती नहीं

छद-सारंग—

सिद्ध'ति दुःखानि नश्यंति शर्माणि, पुष्यन्ति कर्माणि त्रुट्यन्तिचित्राणि ।
संगेऽगृहीते यतःसंयतस्यापि, हेयस्ततः सर्वदासौ पटिष्ठेन ।।१२४०।।

इति परिग्रहत्याग व्रतं ।

साधयंति महार्थं यन्महद्भिः सेवितानि यत् ।
महांति यत्स्वय सन्तो महाव्रतान्यतो विदुः ।।१२४१।।

रक्षणाय मता तेषां निवृत्तो रात्रिभुक्तितः ।
राद्धांतमातरश्चाष्टौ सर्वाश्चापि च भावनाः ।।१२४२।।

प्राप्त कर सकता ।।१२३९।। परिग्रहोका त्याग करनेपर या परिग्रहोको ग्रहण नही करनेपर मुनि सिद्ध हो जाते है, उनके समस्त दुःख नष्ट हो जाते हैं, शर्म, सुख, शांति पुष्ट होती है, अनेक कर्मोंके बधन टूट जाते है, जिसकारणसे यह लाभ है उसकारणसे संयत मुनिके वह परिग्रह नही होता है । अतः चतुर पुरुष द्वारा परिग्रह सर्वदा त्याज्य है ।।१२४०।।

पांचवे महाव्रतका वर्णन पूर्ण हुआ ।

महाव्रत शब्दकी निरुक्ति एवं अन्वर्थता—

ये अहिसादि व्रत महान् अर्थ महापुरुषार्थ या महा प्रयोजन जो कर्म नाश है उसको सिद्ध करते हैं, जो महापुरुष तीर्थंकर गणधर आदिके द्वारा सेवित–आचरित है और जो स्वय महान् है इन कारणोसे इन व्रतोका "महाव्रत" कहते हैं ।।१२४१।।

इन पांचो महाव्रतोकी रक्षा करनेके लिये रात्रि-भोजनसे निवृत्ति कही गयी है तथा उन्हीके रक्षा हेतु सिद्धातमे कही गयी आठ प्रवचन माता है तथा सभी भावनाये भो बतलायी है ।।१२४२।।

विशेषार्थ—रात्रि भोजन करनेसे हिंसा होती है एषणा समितिका पालन नही होता क्योंकि दाता द्वारा दिये गये ग्राहारका शोधन नही हो सकता । आठ प्रवचन मातायें भी महाव्रतोकी रक्षा करती है । पांच समिति और तीन गुप्तिको अष्ट प्रवचन मातृका कहते हैं । प्रवचन रत्नत्रयको कहते है, रत्नत्रय धर्मकी जो माताके समान रक्षा करे अर्थात् जैसे माता पुत्रको पापसे बचाती है वैसे समिति गुप्ति रूप मातायें व्रत

हिंसादीनां मुनेः प्राप्तिः पंचानां सहशंकया ।
विपत्तिर्जायते स्वस्य रात्रिभुक्तेस्तथा स्फुटम् ।।१२४३।।

मनसो दोषविश्लेषो मनोगुप्तिरितिष्यते ।
वाग्गुप्तिश्चाप्यलीकादेर्निवृत्तिर्मौनमेव च ।।१२४४।।

कायक्रियानिवृत्तिर्वा देहनिर्ममतापि वा ।
हिंसादिभ्यो निवृत्तिर्वा वपुषो गुप्तिरिष्यते ।।१२४५।।

पुरस्य खातिका यद्वत्क्षेत्रस्य च यथा वृतिः ।
तथा पापस्य संरोधे साधूनां गुप्तयो मताः ।।१२४६।।

रत्नत्रय रूप पुत्रकी रक्षा करती हैं । महाव्रतोंको दृढ़ताके लिये पच्चीस भावनायें भी आगममें कही हैं ।

रात्रि भोजनसे मुनिके शकाके साथ हिंसादि पांच पापोंकी प्राप्ति होती है, अर्थात् मुनिके शंका होती है कि मेरेसे हिंसादि दोष हुए या नहीं और पांचों पापोका दोष लगता है तथा रात्रिमें आहारार्थ गमन करनेमे ठूंट, कंटक आदिसे स्वयंको विपत्ति आती है ।।१२४३।।

मनोगुप्ति और वचनगुप्तिका लक्षण—

मनके रागादि दोष नष्ट होना मनोगुप्ति कही जाती है और असत्यसे निवृत्त होना अथवा मौन रहना वचन गुप्ति कहलाती है ।।१२४४।।

कायगुप्ति का लक्षण—

शरीरकी क्रिया—गमन, खड़े होना, बैठना, हाथ पांव फैलाना आदिसे निवृत्त होना—दूर होना कायगुप्ति है अथवा शरीरमें निर्ममत्व हो जाना या हिंसादि पापोंसे निवृत्त होना कायगुप्ति मानो जाती है ।।१२४५।।

जिसप्रकार नगरकी रक्षाके लिये खाई होती है और खेतकी रक्षाके लिये बाड होती है उसप्रकार साधुओंके पापके निरोधके लिये गुप्तिया मानी है अर्थात् जैसे नगरके चारों ओर खाई होनेसे नगरमें शत्रु सेना नही घुसती । खेतमें कांटे आदिकी बाड़ होनेसे पशु नहीं घुसते वैसे गुप्तिके द्वारा पापका निरोध होता है ।।१२४६।।

तस्मान् मनोवचः कायप्रयोगेषु समाहितः ।
भव त्वं सर्वदा जातस्वाध्यायध्यानसंगतिः ।।१२४७।।
मार्गोद्योतोपयोगानामालंबस्य च शुद्धिभिः ।
गच्छतः सूत्रमार्गेण मतेर्यासमितिर्यतेः ।।१२४८।।

इसप्रकार गुप्तियोका महत्व जानकर हे क्षपक ! तुम मनका प्रयोग तथा वचन एवं कायके प्रयोगमें सदा सावधान होकर वरतना अर्थात् मनके खोटे विचार कुवचन और शरीरकी कुचेष्टा या व्यर्थकी क्रिया इन सबको रोककर स्वाध्याय और ध्यानमें तत्पर होवो ।।१२४७।।

ईर्या समितिका स्वरूप—

मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोग शुद्धि और आलंबन शुद्धि इन चार शुद्धियोंके द्वारा आगमानुसार गमन करनेवाले साधुके ईर्यासमिति होती है ।।१२४८।।

विशेषार्थ—साधु गमनागमन करते समय त्रस स्थावर जीवोकी रक्षा करता है । वह कभी भी व्यर्थ गमन नहीं करता, रातमें गमन नही करता अपने नेत्रोंकी ज्योति ठीक रहनेपर ही गमन करता है और सूर्यके प्रकाशमे गमन करता है । इसीको बताते हैं–मार्ग शुद्धि–गमनके मार्गमें अकुर, हरितकाय, त्रस चीटी आदिको प्रचुरता नही होना तथा वह मार्ग स्त्री, पुरुष, पशु, सवारी आदिके गमनागमनसे प्रासुक हुआ हो या धूपसे तपा हो वह मार्ग मार्गशुद्धि कहलाता है । उद्योत शुद्धि–दिनमें सूर्यके प्रकाशमे चलना अन्य चन्द्र आदिके प्रकाशमे नही, यह उद्योत शुद्धि है । उपयोग शुद्धि–चलते समय जीव है या नहीं इत्यादि रूप मार्गमें अपने उपयोगको केन्द्रित करके चलना उन्मनस्क होकर नही चलना, पैरके रखने उठानेमें सावधानी रखना इत्यादि उपयोग शुद्धि कहलाती है । आलंबन शुद्धि–गुरु वंदना, निषद्या-वदना, तीर्थ वंदना, अपूर्व शास्त्र पठन आदि हेतुसे विहार करना, व्यर्थ घूमनेके लिये नहीं, यह आलंबन शुद्धि कहलाती है । चलते समय न मंद गमन हो न अति शीघ्र । आगेको चार हाथ प्रमाण भूमिको देखते हुए चलना । मार्गमे खेल नाटक, नट, स्त्री आदिका अवलोकन करने हेतु खड़े नहीं होना, कूदकर नही चलना, मदभरी चालसे नहीं, दुष्ट पशुओंको दूरसे परिहार करके चलना इत्यादि सूत्रानुसार गमन कहलाता है । इसप्रकार ईर्यासमितिका पालन करते हुए साधुके कर्मबंध नहीं होता है ।

व्यालीकादिविनिर्मुक्तं सत्यासत्यमृषाद्वयम् ।
वदतः सूत्रमार्गेण भाषासमितिरिष्यते ॥१२४९॥
देशसम्मतिनिक्षेपनामरूपप्रतीतिता ।
संभावनोपमाने च व्यवहारे भाव इत्यपि ॥१२५०॥

भाषा समिति—

अलीक, परुष, कर्कश आदि वचनोंसे रहित तथा सत्य और असत्यमृषा ऐसे दो प्रकारके वचनोको बोलनेवाले साधुके तथा सूत्रके अनुसार बोलने वाले साधुके भाषा समिति होती है ॥१२४९॥

विशेषार्थ—वचनके चार भेद हैं सत्य, असत्य, सत्य सहित मृषा और असत्य-मृषा । सज्जनोंकी हितकारी वाणी सत्य कहलाती है "सतां हिता सत्या" जो सत्य नहीं वह असत्य है । जिसमें सत्य असत्य दोनों प्रकारके वचन है वह सत्यमृषा कहलाती है । जो सत्य भी नहीं है और असत्य भी नही है ऐसे अनुभय वचन असत्यमृषा वचन है, इस पदका समास–"न सत्यं न मृषा च इति असत्य मृषा" है । इसमें एक नकार वाचक अ का लोप होता है जैसेकि अनादि निधन शब्दमें अनिधनका अ लुप्त होता है । इन चार वचनोंमेसे दो वचन साधुओके ग्राह्य बताये है सत्य और असत्यमृषा । शास्त्रके अनुकूल वचन बोलना सूत्रमार्गसे बोलना कहलाता है इसप्रकार कार्यवश सत्य भाषण करना भाषा समिति है ।

यहांपर एक प्रश्न होता है कि सत्य महाव्रतमे सत्य बोलनेका आदेश है पुनः भाषा समितिमें भी सत्य वचनकी बात है तथा दशधर्मोंमें सत्य एक धर्म भी है, इन सबमें क्या अंतर है ?

इसका उत्तर देते है—सत्य महाव्रतमें साधु तथा असाधु दोनोके साथ सत्य बोला जाता है अधिक भी बोल सकता है, भाषा समितिमे उन्ही पुरुषोके साथ बोलता है किन्तु थोड़ा बोलता है और सत्य धर्मका पालन करनेवाला साधु केवल साधुजनोंके साथ ही बोलेगा । हां वह उनके साथ अधिक भी बोल सकता है । यही इन तीनोमें अंतर है ।

सत्यवचनके दश भेद—

देश सत्य, सम्मति सत्य, निक्षेप सत्य, नाम सत्य, रूप सत्य, प्रतीति सत्य,

गद्यं—

आज्ञापनी संबोधनी प्रच्छनी प्रत्याख्यानी याचनी प्रज्ञापनीच्छानुलोमा सांशयिकि निरक्षरा चेति नवधा सत्यमृषाभाषा मंतव्या ।।१२५१।।

संभावना सत्य, उपमा सत्य, व्यवहार सत्य और भाव सत्य ये दश प्रकारके सत्य होते हैं ।।१२५०।।

यहांपर इन दस प्रकारके वचनोका लक्षण बताते है—

विशेषार्थ—देश देशमे जो प्रसिद्ध है ऐसे वचन देश सत्य कहलाते हैं जैसे भातको कहीं पर कूर, कही ओदन, कहीं चोखा कहा जाता है वह सब अपने देशकी अपेक्षा सत्य है । राजाको देव कहना उसकी रानीको देवी कहना यद्यपि ये मनुष्य हैं तो भी देव देवी कहना सम्मति सत्य है क्योकि ये नाम सर्वलोक सम्मत है । प्रतिमामें यह चन्द्रप्रभ है इत्यादि स्थापना निक्षेपके अनुसार वचन कहना निक्षेप सत्य है । जिनदत्त आदि नाम रखना नाम सत्य है इसमें जाति गुण आदिको अपेक्षा नही रहतो । एक प्रमुख रूपको देखकर उस वस्तुको वैसा कहना रूप सत्य है जैसे बगुला सफेद है । अन्यकी अपेक्षा लेकर बोलना जैसे यह व्यक्ति लंबा है यह छोटा कदवाला है इत्यादि । जिसकी संभावना मात्र हो वह संभावना सत्य है, जैसे यह बाहुसे समुद्र पार कर सकता है इत्यादि । उपमारूप वचन उपमा सत्य है जैसे चन्द्रमुखी कन्या, सागरप्रमाण काल इत्यादि । वर्त्तमानमें पदार्थमें वैसा परिणमन नही भूतमे था या आगामीकालमे होगा, उसको वर्त्तमानमें कहना व्यवहार सत्य है । पदार्थका सर्वांग रूपसे अवलोकन नही होनेपर भी सयत या संयतासंयत जनोके अहिंसादिव्रतोके परिपालनार्थ यह वस्तु प्रासुक है यह नही है इत्यादि रूप वचन कहना भावसत्य है । इन दश प्रकारके सत्योंके अतिरिक्त वचन असत्य है । दोनो मिले हुए उभयरूप सत्यमृषा है । इनमे अप्रशस्त वचन असत्य है और मैंने सब दे दिया । मैंने सब भोग लिया इत्यादि वचन उभयरूप है ।

इसप्रकार साधुके लिये ग्राह्यरूप सत्य वचनके भेद कहे । अब दूसरा असत्य-मृषा नामके ग्राह्य वचनको गद्य द्वारा बतलाते है—आज्ञापनी, सबोधनी, पृच्छनी, प्रत्याख्यानी, याचनी, प्रज्ञापनी, इच्छानुलोमी, सांशयिकी और निरक्षका । आज्ञाकारी भाषा आज्ञापनी है जैसे स्वाध्याय करो असंयमको छोड़ो इत्यादि । आवाज देकर पुकार कर बुलाना संबोधनो भाषा है । मैं अमुक कार्य करूं क्या ? आपका स्वास्थ्य कैसा है इत्यादिरूप पृच्छनी भाषा है । मैं एक मास पर्यंत घी का त्याग करता हूं इत्यादि त्याग

आहारमुपधिं शय्यामुद्गमोत्पादनादिभिः ।
विमुक्तं गृह्णतः साधोरेषणा समितिर्मता ॥१२५२॥

रूप भाषा प्रत्याख्यानी भाषा है । मुझे पुस्तक देवो इत्यादि याचना वाली याचनी भाषा है । कुछ कहूंगा इत्यादि रूप प्रज्ञापनी भाषा है । गुरुजनोंकी इच्छाके अनुकूल भाषा इच्छानुलोमा भाषा है । संशयरूप भाषा सांशयिकी भाषा है और अक्षर रचना रहित ध्वनि निरक्षरा भाषा है ॥१२५१॥

एषणा समिति—

आहार, पिच्छी, कमंडलु, शास्त्र रूप उपकरण और वसतिका इन सबको उद्गम उत्पादना आदि दोषोंसे रहित ग्रहण करनेवाले साधुके एषणा समिति होती है ॥१२५२॥

विशेषार्थ—साधुजन दिनमें एक बार करपात्रमें आहार लेते है आहार ग्रहण करते समय उन्हें छियालोस दोष और बत्तीस अंतराय टालने होते हैं । यहांपर इन दोषोंका संक्षिप्त वर्णन करते है—

उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, अप्रमाण, इगाल, धूम और कारण, मुख्य रूप से आहार सबंधी ये आठ दोष माने गये है ।

(१) दातार के निमित्तसे जो आहारमें दोष लगते है, वे उद्गम दोष कहलाते हैं ।

(२) साधुके निमित्तसे आहारमे होने वाले दोष उत्पादन नामवाले है ।

(३) आहार सबधो दोष एषणा दोष है ।

(४) संयोगसे होने वाला दोष सयोजना है ।

(५) प्रमाणसे अधिक आहार लेना अप्रमाण दोष है ।

(६) लंपटतासे आहार लेना इगाल दोष है ।

(७) निंदा करके आहार लेना धूम दोष है ।

(८) विरुद्ध कारणोंसे आहार लेना कारण दोष है ।

इनमेंसे उद्गमके १६, उत्पादनके १६, एषणाके १० तथा संयोजना, प्रमाण, इंगाल और धूम ये ४ ऐसे १६+१६+१०+४=४६ दोष हो जाते है ।

इन सबसे अतिरिक्त एक अधःकर्मदोष है जो महादोष कहलाता है। इसमें कूटना, पीसना, रसोई करना, पानी भरना और बुहारी देना ऐसे पंचसूना नामके आरंभसे षट्कायिक जीवोंकी विराधना होनेसे यह दोष गृहस्थाश्रित है। इसके करने वाले साधु उस साधु पदमें नहीं माने जाते हैं।

उद्गमके १६ भेद—

(१) औद्देशिक–साधु पाखंडी आदिके निमित्तसे बना हुआ आहार ग्रहण करना उद्देश दोष है।

(२) अध्यधि–आहारार्थ साधुओंको आते देखकर पकते हुए चांवल आदिमें और अधिक मिला देना।

(३) पूतिदोष–प्रासुक तथा अप्रासुकको मिश्र कर देना।

(४) मिश्रदोष–असंयतोंके साथ साधुको आहार देना।

(५) स्थापित–अपने घरमे या अन्यत्र कही स्थापित किया हुआ भोजन देना।

(६) बलिदोष–यक्ष देवता आदिके लिए बने हुएमेसे अवशिष्टको देना।

(७) प्रावर्तित–कालकी वृद्धि या हानि करके आहार देना।

(८) प्राविष्करण–आहारार्थ साधुके आने पर खिड़की आदि खोलना या वर्तन मांजना आदि।

(९) क्रीत–उसी समय वस्तु खरीदकर लाकर देना।

(१०) प्रामृष्य–ऋण लेकर आहार देना।

(११) परिवर्त–शालि आदि देकर बदलेमे अन्य धान्य लेकर आहार बनाना।

(१२) अभिघट–पंक्तिबद्ध सात घरसे अतिरिक्त अन्य स्थानसे अन्नादि लाकर मुनिको देना।

(१३) उद्भिन्न–भाजनके ढक्कन आदिको खोलकर अर्थात् सील, मुहर चपड़ी आदि हटाकर वस्तु निकालकर देना।

(१४) मालारोहण–नसैनीसे चढकर वस्तु लाकर देना।

(१५) आछेद्य–राजा आदिके भयसे आहार देना।

(१६) अनीशार्थ–अप्रधान दातारोंसे दिया हुआ आहार लेना।

ये सोलह दोष श्रावकके आश्रित होते है, ज्ञात होनेपर मुनि ऐसा आहार नहीं लेते हैं ।

उत्पादनके १६ भेद—

(१) धात्रीदोष–धायके समान बालकोंको खिलाना पिलाना, भूषित करना आदि जिससे दातार प्रसन्न होकर आहार देवे, यह मुनिके लिए धात्री दोष है ।

(२) दूतदोष–दूतके समान किसीका समाचार अन्य ग्रामादिमे पहुचाकर आहार लेना ।

(३) निमित्तदोष–स्वर, व्यजंन आदि निमित्त ज्ञानसे श्रावकोंको हानि लाभ बताकर खुश करके आहार लेना ।

(४) आजीवदोष–अपनी जाति कुल या कला योग्यता आदि बताकर दातारको अपनी तरफ आकर्षित कर आहार लेना आजोवक दोष है ।

(५) वनीपकदोष–किसीने पूछा कि पशु, पक्षी, दीन, ब्राह्मण आदिको भोजन देनेसे पुण्य है या नही ? हा पुण्य है, ऐसा दातारके अनुकूल वचन बोलकर यदि मुनि आहार लेवे तो वनीपक दोष है ।

(६) चिकित्सादोष–औषधि आदि बताकर दातारको खुशकर आहार लेना ।

(७) क्रोधदोष–क्रोध करके आहार उत्पादन कराकर ग्रहण करना ।

(८) मानदोष–मान करके आहार उत्पादन कराकर लेना ।

(९) मायादोष–कुटिल भावसे आहार उत्पादन कराकर लेना ।

(१०) लोभदोष–लोभाकांक्षा दिखाकर आहार कराकर लेना ।

(११) पूर्वसंस्तुतिदोष–पहले दातारकी प्रशंसा करके आहार उत्पादन कराकर लेना ।

(१२) पश्चात् स्तुतिदोष–आहारके बाद दातारकी प्रशंसा करना ।

(१३) विद्यादोष–दातारको विद्याका प्रलोभन देकर आहार लेना ।

(१४) मंत्रदोष–मंत्रका माहात्म्य बताकर आहार ग्रहण करना । श्रावकोंको शांति आदिके लिये मंत्र देना दोष नही है किन्तु आहारके स्वार्थसे बताकर उनके इच्छित आहार ग्रहण करना सो दोष है ।

(१५) चूर्णदोष—सुगंधित चूर्ण आदिके उपाय बताकर आहार लेना। ये सभी दोष मुनिके आश्रित होते हैं इसलिये ये उत्पादन दोष कहलाते हैं। मुनि इन दोषोंसे अपनेको अलग रखते हैं।

(१६) मूलदोष—अवशको वश करने आदिके प्रयोग बताकर आहार लेना।

एषाण सबंधी १० दोष—

(१) शंकित—यह आहार अधःकर्मसे उत्पन्न हुआ है क्या? अथवा यह भक्ष्य है या अभक्ष्य? इत्यादि शंका करके आहार लेना।

(२) ग्रक्षित—घी तेल आदिके चिकने हाथसे या चिकने चम्मच आदिसे दिया हुआ आहार लेना।

(३) निक्षिप्त—सचित्त पृथ्वो, जल आदिसे सबंधित आहार लेना।

(४) पिहित—प्रासुक या अप्रामुक ऐसे बड़े ढक्कनको हटा कर दिया हुआ आहार लेना।

(५) संव्यवहरण—जल्दीसे वस्त्र, पात्रादि खीच कर बिना सावधानीके आहार लेना।

(६) दायक—ग्राहारके अयोग्य मद्यपायी नपुंसक पिशाचग्रस्त अथवा सूतक-पातक आदिसे सहित दातासे आहार लेना।

(७) उन्मिश्र—अप्रासुक वस्तु संमिश्रित आहार लेना।

(८) अपरिणत—अग्न्यादिसे अपरिपक्व आहार पान आदि लेना।

(९) लिप्त—पानी या गीले गेरू आदिसे लिप्त ऐसे हाथोंसे दिया हुआ आहार लेना।

(१०) छोटित—हाथकी अंजुलिसे बहुत नीचे गिराते हुये आहार लेना ये दस दोष मुनियोंके भोजनसे संबंध रखते है।

(१) संयोजनादोष—आहारादिके पदार्थोंका मिश्रण कर देना, ठंडे जल आदि में उष्णभात आदि मिला देना अन्य भी प्रकृति विरुद्ध वस्तुका मिश्रण करना, संयोजन दोष है।

(२) अप्रमाण दोष–उदरके दो भाग रोटी आदिसे पूर्ण करना होता है एक भाग रस, दूध, पानी आदिसे भरना होता है और एक भाग खाली रखना होता है यह आहारका प्रमाण है। इसका अतिक्रमण करके आहार लेना अप्रमाण दोष है।

(३) अंगार दोष–जिह्वा इन्द्रियकी लंपटतासे भोजन ग्रहण करना।

(४) धूम दोष–भोज्य वस्तुकी मनमें निंदा करते हुये आहार ग्रहण करना।

इसप्रकारके उद्गमके १६+उत्पादनके १६+एषणाके १०+ और संयोजना आदि ४=सब मिलाकर ४६ दोष होते हैं।

इनसे अतिरिक्त और दोष है उन्हे बताते है—

आहारमें नख, बाल, हड्डो, माँस, पीप, रक्त, चर्म, द्वीन्द्रिय आदि जीवोका कलेवर आजाय तो आहारको छोड़ देते हैं तथा कण, कुंड, बीज, कंद, मूल और अछिन्न फल आजाय तो यथाशक्य परिहार या अंतराय करते हैं–आहारको छोड़ देते हैं।

बत्तीस अन्तराय—

(१) काक–आहारको जाते समय या आहार लेते समय यदि कौवा आदि वीट कर देवे, तो काक नामका अंतराय है।

(२) अमेध्य–अपवित्र विष्ठा आदिसे पैर लिप्त हो जावे।

(३) छर्दि–वमन हो जावे।

(४) रोधन–आहारको जाते समय कोई रोक देवे।

(५) रक्तस्राव–अपने शरीरसे या अन्यके शरीरसे चार अगुल पर्यंत रुधिर बहता हुवा दीखे।

(६) अश्रुपात–दुःखसे अपने या परके अश्रु गिरने लगे।

(७) जान्वध परामर्श–यदि मुनि जंघाके नीचेका भाग स्पर्श करले।

(८) जानूपरिव्यक्तिक्रम–यदि मुनि जघांके ऊपरका व्यक्तिक्रम कर लें अर्थात् जघांसे ऊंची सीढ़ी पर–इतनी ऊंची एक ही डंडा या सीढी पर चढ़े तो जानूव्यक्ति क्रम अंतराय है।

९. नाभ्योनिर्गमन–यदि नाभिसे नीचे शिर करते आहारार्थ जाना पड़े ।
१०. प्रत्याख्यात सेवन–जिस वस्तुका देव या गुरुके पास त्याग किया है वह खानेमें आ जाय ।
११. जतुवध–कोई जीव अपने सामने किसी जीवका वध कर देवे ।
१२. काकादि पिंडहरण–कौवा आदि हाथसे ग्रासका अपहरण कर ले ।
१३. ग्रास पतन–आहार करते समय मुनिके हाथसे ग्रास प्रमाण आहार गिर जावे ।
१४. पाणी जंतुवध–आहार करते समय कोई मच्छर, मक्खी आदि जंतु हाथमें मर जावे ।
१५. मांसादि दर्शन–मास, मद्य या मरे हुए का कलेवर देख लेनेसे अंतराय है ।
१६. पादांतर जीव–यदि आहार लेते समय पैरके नीचेसे पचेन्द्रिय जीव चूहा आदि निकल जाय ।
१७. देवाद्युपसर्ग–आहार लेते समय, देव, मनुष्य या तिर्यंच आदि उपसर्ग कर देवें ।
१८. भाजनसंपात–दाताके हाथसे कोई बर्तन गिर जाय ।
१९. उच्चार–यदि आहारके समय चांडालादिका घरमें प्रवेश हो जावे ।
२०. प्रस्रवण–यदि आहारके समय मूत्र विसर्जन हो जावे ।
२१. अभोज्य गृहप्रवेश–यदि आहारके समय चाडालादिके घरमें प्रवेश हो जावे।
२२. पतन–आहार करते समय मूर्छा आदिसे गिर जाने पर ।
२३. उपवेशन–आहार करते समय बैठ जानेपर ।
२४. सदंश–कुत्ते बिल्ली आदिके काट लेने पर ।
२५. भूमिस्पर्श–सिद्ध भक्तिके अनतर हाथसे भूमि का स्पर्श हो जाने पर ।
२६. निष्ठीवन–आहार करते समय कफ, थूक आदि निकलने पर ।
२७. वस्तुग्रहण–आहार करते समय हाथसे कुछ वस्तु उठा लेने पर ।
२८. उदर क्रमिनिर्गमन–आहार करते समय उदरसे क्रमि आदि निकलने पर ।

सहसादृष्टदुर्दृष्टाप्रत्यवेक्षणमोचिनः ।
भवत्यादाननिक्षेपसमितिर्व्रतवर्तिनः ॥१२५३॥

अनेनैव प्रकारेण प्रतिष्ठापनका मता ।
समितिस्त्यजतस्त्याज्यं प्रदेशे स्थंडिले यतेः ॥१२५४॥

---

२९. अदत्तग्रहण—नहीं दी हुई किंचित् वस्तु ग्रहण कर लेने पर ।

३०. प्रहार—अपने ऊपर या किसीके ऊपर शत्रु द्वारा शस्त्रादिका प्रहार होने पर ।

३१. ग्रामदाह—ग्राम आदिमे उसी समय आग लग जानेपर ।

३२. पादेन किंचिद्ग्रहण—पादसे किंचित् भी वस्तु ग्रहण कर लेनेपर ।

इन बत्तीस कारणोंके मिलनेपर साधुजन आहारका त्याग कर देते है ।

आदान निक्षेपण समिति—

पोछी, शास्त्र, चौकी आदि पदार्थोंको देख सोधकर रखना और उठाना आदान निक्षेपण समिति है । पदार्थोको रखते उठाते समय नेत्रोसे नही देखना और पीछीसे नहीं शोधना सहसा नामका दोष है । देखा नही किन्तु शोधनकर वस्तु रखा उठाया वह अदृष्ट या अनाभोग नामका दोष है । देखा तो सही किन्तु पोछीसे शोधन किये विना वस्तुको रख दिया या उठाया तो यह दुर्दृष्ट या दुष्प्रमृष्ट नामका दोष है । देखा और सोधा किन्तु उन्मनस्कतासे उक्त क्रिया की है तो यह अप्रत्यवेक्षित नामका दोष है । इन दोषोंको छोड़कर भली प्रकारसे वस्तुका ग्रहण करना साधुकी आदान निक्षेपण नामकी समिति है ॥१२५३॥

प्रतिष्ठापना समिति—

जिसप्रकार आदान निक्षेपण समितिमे देख शोधकर वस्तुका रखना होता है उसीप्रकार स्थडिल प्रदेश जन्तु रहित छिद्र रहित प्रदेशमे मल मूत्रका त्याग करना साधुकी प्रतिष्ठापना नामकी समिति कहलाती है ॥१२५४॥

भावार्थ—साधुजन मलमूत्रका विमर्जन निर्जंतुक स्थानमे करते है, जो स्थान वसतिसे दूर हो, रुकावट रहित हो, हरितकायसे रहित गूढ, विशाल ऐसे पर्वतका

आभिः समितिभिर्योगी लोके षड्जीवसंकुले ।
दोषैर्हिंसादिभिर्नैव लिप्यते विहरन्नपि ॥१२५५॥

समितो लिप्यते नाघैर्जीवमध्ये चरन्नपि ।
स्निग्धं कमलिनीपत्रं सलिलैरिव वाः स्थितम् ॥१२५६॥

बध्यते समितो नाघैः कायमध्ये भ्रमन्नपि ।
सन्नद्धो विध्यते कुत्र शरवर्षे रणांगणे ॥१२५७॥

बालश्चरति यत्रैव तत्रैव परिहारवित् ।
बध्यते कल्मषैर्बाल इतरो मुच्यते पुनः ॥१२५८॥

निकटस्थ प्रदेश आदिमें अथवा ऊसर भूमि चट्टान आदि जीव रहित प्रदेशमे शरीर मलका त्याग करते हैं। कदाचित रात्रिमें बाधा होवे तो दिनमे बुद्धिमान स्थविर साधु द्वारा देखे गये स्थानमें जाकर वहां अपने उलटे हाथसे भूमिका स्पर्श कर देखे कि कोई आगंतुक जीव तो नही है ! इसप्रकार देखकर शरीर मलका त्याग करना प्रतिष्ठापना या उत्सर्ग समिति कहलाती है ।

इन पांचों समितियोंका भलोप्रकारसे पालन करनेवाला योगी षट्जीव निकाय—पृथिवीकायिक आदि पंच स्थावर और एक त्रस इनके समुदायसे व्याप्त इस लोकमे विहार करता हुआ भी समितिके कारण हिंसा आदि दोषोमे लिप्त नहीं होता है अर्थात् उसको पापका बंध नहीं होता है ॥१२५५॥

समितियोका प्रतिपालक मुनि जीवोंके मध्यमें चलता हुआ भी पापोंसे लिप्त नही होता, जैसे चिकना कमल पत्र जलमें स्थित रहनेपर भी जलसे लिप्त नहीं होता है ॥१२५६॥

समितिसे युक्त मुनि षट्काय जीवोंके मध्यमें भ्रमण करता हुआ भी पापोंसे नहीं बंधता है । जैसे जिसने भलोप्रकार बाण विद्याका अभ्यास किया है एवं कवच आदिसे युक्त है तो बाणोको वर्षा जहां हो रही है ऐसे रणांगणमें क्या बाणोंसे विद्ध होगा ? नही होगा ॥१२५७॥

जहा जिस लोकमें बाल-अज्ञानो गमनागमन आदि क्रियायें करता है वहीपर जीवोंके परिहारको अर्थात् रक्षाको जाननेवाला ज्ञानी मुनि उक्त क्रियाओंको करता है,

यदा तदा ततश्चेष्टां चिकीर्षुः समितो भव ।
पुराणं क्षिप्यते कर्म नाप्नोति समितो नवम् ॥१२५९॥

राद्धांतमातरोऽष्टौ ताः पांति रत्नत्रयं यतेः ।
जनन्यो यत्नतो नित्यं तनुजस्येव जीवितम् ॥१२६०॥

मनोगुप्त्येषणादाननिक्षेपेर्येक्षिताशिताः ।
महाव्रते मता जैनैरादिमाः पंच भावनाः ॥१२६१॥

हास्यलोभभयक्रोधप्रत्याख्यानानि योगिनः ।
सूत्रानुसारि वाक्यं च द्वितीये पंच भावनाः ॥१२६२॥

किन्तु बाल अज्ञानी तो पापोंसे बंध जाता है और इससे विपरीत मुनिजन ज्ञानी पुरुष उलटे उन पापोसे छूट जाते है ॥१२५८॥

इसप्रकार समितियोंका माहात्म्य जानकर हे क्षपक ! तुमको जब जब भी चेष्टा क्रिया करनेकी इच्छा होती है तब तब समितियोंमें तत्पर होवो । समिति धारी साधुके पुराना कर्म नष्ट होता है और नवीन कर्म बंधता नहीं ॥१२५९॥

पांच समिति तीन गुप्तिरूप आठ प्रवचन माता यतिके रत्नत्रयको रक्षा करती है, जैसे माता बालकके जीवनकी नित्य ही यत्नपूर्वक रक्षा करती है ॥१२६०॥

इसप्रकार पचमहाव्रत पच समिति और तोन गुप्तिरूप त्रयोदश प्रकारका चारित्रका वर्णन पूर्ण हुआ । इन तेरह प्रकारके चारित्रका अखडरीत्या पालन करनेवाले मुनिके चारित्र आराधना होती है ।

अब आगे अहिसा आदि पांच व्रतोंकी प्रत्येककी पाच पांच भावनाओका वर्णन करते हैं । सर्वप्रथम अहिंसा व्रतकी भावना बतलाते है—

मनोगुप्ति एषणा समिति ईर्यासमिति, आदान निक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन इन महाव्रतोमे जो पहला महाव्रत अहिसा है उसकी पांच भावना जैनोंद्वारा मानो गयी है । मनोगुप्ति आदि चारोंका लक्षण तो अभी कह दिया है । स्पष्टतया सूर्यके प्रकाशमें ही चार प्रकारके आहारका शोधन करके ग्रहण करना आलोकित पान भोजन कहलाता है ॥१२६१॥

असम्मताग्रहः साधोः सम्मतासक्तबुद्धिता ।
दीयमानस्य योग्यस्य गृहीतिरुपकारिणः ॥१२६३॥

अप्रवेशोऽननुज्ञाते योग्य यांचाविधानतः ।
तृतीये भावनाः पंच प्राज्ञैः प्रोक्ता महाव्रते ॥१२६४॥

द्वितीय व्रतकी भावना—

हास्य प्रत्याख्यान, लोभ प्रत्याख्यान, भय प्रत्याख्यान और क्रोध प्रत्याख्यान ये चार तथा सूत्रके अनुसार भाषण इसतरह दूसरे सत्यव्रतकी पांच भावना है ॥१२६२॥

तृतीय व्रतकी भावना—

असंमतका अग्रहण, संमतमें अनासक्त बुद्धि दीयमान योग्य वस्तुमें अपने लिये उपकारीका ही ग्रहण, अननुज्ञातमे अप्रवेश और योग्य वस्तुकी याचना ये तीसरे अचौर्य महाव्रतकी पांच भावना प्राज्ञ पुरुषों द्वारा कही गयी हैं। इन पांच भावनाओंका विवरण इसप्रकार है—ज्ञानके उपकरण शास्त्र आदि दूसरे साधुके है और अपनेको उनको लेना है तो बिना संमति–इच्छाके नही लेना, यह असंमत अग्रहण नामकी पहली भावना है। परकी संमतिसे उन उपकरणोंको ग्रहण करनेपर भी उसमें आसक्ति नही करना यह संमतमे अनासक्त बुद्धि नामकी दूसरी भावना है। अन्य साधु द्वारा योग्य वस्तु दी जाने पर भी उसमें मेरे लिये यह उपयोगी है या नही इस बातका विचार करके यदि उपकारक है अर्थात् अपनेको काममे आनेवाली है केवल उसीको ग्रहण करना अन्यको नही, यह दीयमान योग्य वस्तुमे उपकारीका ग्रहण नामकी तीसरी भावना है। जहां पर प्रवेश करनेकी आज्ञा नही हो वहांपर बिना आज्ञाके प्रवेश नही करना यह अननुज्ञातमें अप्रवेश नामकी चौथी भावना है तथा अपने लिये उपयुक्त वस्तुकी अन्य साधु आदिसे याचना करना यह योग्य वस्तुकी याचना नामकी पांचवी भावना है ॥१२६३॥ ॥१२६४॥

चौथे व्रतकी भावना—

स्त्रियोंका अवलोकन, स्त्रियोके साथ संभाषण, पूर्वभुक्त भोगकी चिरकाल तक स्मृति, स्त्रियों द्वारा संसर्गित स्थान पर निवास और बलिष्ठ आहारका सेवन इन पांच

महिलालोकनालापौ चिरंतनरतस्मृति ।
वासं संसक्तवस्तूनां बलिष्ठाहारसेवनम् ॥१२६५॥

योगिनो मुच्यमानस्य विरागीभूतचेतसः ।
तुरीये भावनाः पंच संपद्यंते महाव्रते ॥१२६६॥

यतेः स्पर्शे रसे गंधे वर्णे शब्दे शुभाशुभे ।
रागद्वेषपरित्यागो भावनाः पंच पंचमे ॥१२६७॥

प्रकारके कार्योंको छोड़ देनेवाले विरागी चित्तवाले साधुके चौथे ब्रह्मचर्य महाव्रतकी पांच भावना संपन्न होती है अर्थात् स्त्री रूपका अवलोकन नही करना, स्त्रियोंसे वार्त्तालाप नहीं करना, पूर्व भुक्त भोगका स्मरण नही करना, स्त्रीसे संसक्त वसतिमें नहीं रहना और बलिष्ट आहारका सेवन नही करना ये पांच भावना ब्रह्मचर्य नामके चौथे व्रतको कही गयी हैं ॥१२६५॥१२६६॥

पाचवे व्रतकी भावना—

शुभ और अशुभ स्पर्श, रस, गंध वर्ण और शब्दमे क्रमशः राग और द्वेषका त्याग कर देना साधुके पांचवें परिग्रह त्याग महाव्रतकी पाच भावना जानना चाहिये अर्थात् पाच प्रकारके मनोज्ञ विषयोमे राग तथा पांच प्रकारके अमनोज्ञ विषयोंमे द्वेष नही करना इसप्रकारकी पांच भावना परिग्रह त्याग व्रतकी होती है ॥१२६७॥

विशेषार्थ—प्रत्येक महाव्रतोंको दृढ करनेके लिये पाच पाच भावनायें हैं। बार बार विचार करना भावना है जिसप्रकार औषधिमे आंवला आदिके रसकी भावना देनेसे उस औषधिका गुण धर्म या शक्ति अधिक अधिक बढती है उसमें रोग नाशक शक्ति शतगुणी या सहस्रगुणी बढती है उसीप्रकार इन भावनाओके द्वारा महाव्रतोकी शक्ति बढ़ती है उनसे अधिक अधिक कर्मरूपी रोग नष्ट होते है अर्थात् कर्म निर्जरा होती है।

इन भावनाओका वर्णन अनेक आचार्योंने किया है। उन भावनाओंके कथनमे कुछ विभिन्नतायें दृष्टिगोचर होती है। जैसे—तत्त्वार्थ सूत्रमे मनोगुप्ति, वचन गुप्ति, ईर्यासमिति, आदान निक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन ये अहिसा व्रतकी पांच भावना है। इस ग्रथमें वचनगुप्तिके स्थानपर एषणा समिति ली है। सत्य महाव्रत

की भावना उभय ग्रंथमें समान है । तीसरे अचौर्यव्रतकी भावना तत्वार्थसूत्रमें शून्यागार में निवास, विमोचितवास, पर उपरोध अकरण, भैक्ष्यशुद्धि और साधर्मीसे अविसंवाद ये पांच भावनायें बतलायी हैं और इस मरणकंडिका ग्रथमें असंमतका अग्रहण, समतवस्तुमें अनासक्ति, दीयमान वस्तुमें अपने लिये उपयुक्तका ग्रहण, विना आज्ञाके वसति आदि प्रवेश नहो करना और योग्य वस्तुकी याचना करना ये पांच भावना बतलायी है । इन दोनोंमें अतर स्पष्टतया दिखायी देता है । तत्वार्थसूत्रकी भावना इसप्रकार की है कि जिसकारणसे चोरीके भाव होना संभव है उस उस कारणका निषेध हो । इस ग्रंथमें किसी भी वस्तुके प्रति अपनत्व-ममत्व आसक्ति न हो इसप्रकारको भावनाये बतलायी हैं सो ठीक हो है क्योकि ममत्व आदिके कारण चोरी करनेमे प्रवृत्ति होती है । चौथे ब्रह्मचर्य व्रतकी भावनामें थोडा अतर है स्त्रीकथा श्रवण, स्त्रीरूप अवलोकन, पूर्वरतानुस्मरण, वृष्येष्ट रस सेवन और स्वशरीर सस्कार इन पांचोंका त्याग करना पाच भावना है यह तत्त्वार्थ सूत्र निर्दिष्ट है । इम ग्रन्थमें स्त्रीकथा श्रवणके स्थानपर स्त्रीके साथ संभाषण लिया है और वृष्येष्ट रस सेवनके स्थानपर स्त्री ससर्गित वसति ली है । पाचवे व्रतकी भावना उभयत्र समान है । इसीप्रकार मूलाचार पाक्षिक प्रतिक्रमण आदिमें इन भावनाओका वर्णन विभिन्न प्रकारसे उपलब्ध होता है किन्तु अभिप्राय सर्वत्र तद्‌तद् व्रतोको स्थिरता जिससे हो वही लिया है । व्रत स्थिरताके विभिन्न अनेक कारण सभव हैं अत: भावनाओके कथनमे विभिन्नता है ।

विशेष बात यह है कि तत्त्वार्थ सूत्रमें सातवे अध्यायमे श्रावकोके बारह व्रतों का वर्णन है । सर्वप्रथम सामान्य रूप व्रतका लक्षण कर पुनः उस व्रतके अणुव्रत और महाव्रत ऐसे दो भेद किये है, तदनतर भावनाओका वर्णन है । इससे कोई कोई व्यक्ति प्रश्न करते है कि ये भावनाये अणुव्रतकी है या महाव्रतको ? यदि महाव्रतको हैं तो अणुव्रतका वर्णन करनेवाले इस अध्यायमे उनका कथन क्यों ? यदि अणुव्रतकी मानते है तो मनोगुप्ति आदिरूप भावनाये गृहस्थके कैसे सभव है ?

उत्तर यह है कि—ये भावनाये महाव्रतको है, अणुव्रतकी नही । मूलाचार, भगवती आराधना यह मरणकडिका आदि ग्रन्थोंमें भावनाओका वर्णन उस स्थानपर आता है जहां पांचो महाव्रतोंका वर्णन पूर्ण हो चुकता है । इससे निश्चित होता है कि ये भावनाये महाव्रतोंकी ही है ।

फिर प्रश्न शेष रहता है कि तत्त्वार्थसूत्रमें अणुव्रतोंके वर्णनमें भावनाओंको

भावना भावयन्नेताः संयतो व्रतपीडनम् ।
विदधाति न सुप्तोऽपि जागरूकः कथं पुनः ।।१२६८।।
त्वमतः समितोः पंच भावयस्वैकमानसः ।
महाव्रतान्यखंडानि निश्छिद्राणि भवंति ते ।।१२६९।।

छंद–रथोद्धता—

भावनाः समितिगुप्तयो यतेर्वर्धयन्ति फलदं महाव्रतम् ।
शर्मकारि रजसां निरासकाश्चारुसस्यमिव कालवृष्टयः ।।१२७०।।

इति महाव्रत वृष्टिः ।

क्यों रखा ? बात यह है कि सूत्रमे जहा मुनियोंके समिति आदिका वर्णन है वहां (नौवें अध्यायमें) महाव्रतका उल्लेख नही है, सूत्रकारने तो सामान्य रूपसे व्रतका लक्षण कर उसके अणुव्रत और महाव्रत ऐसे दो भेद बताये फिर भावनाओके अनतर सामान्य रूपसे ही अहिंसा आदिका लक्षण किया है जो कि अणुव्रत और महाव्रत दोनोमें घटित हो । सूत्र रचना संक्षिप्त होती है । अतः व्रतका लक्षण भावना और अहिसादिका लक्षण कहकर आगे गुण व्रतादिका वर्णन किया है । इसलिये पच्चीस भावनाये महाव्रतोंकी ही हैं ऐसा समझना चाहिये । एक और बात है श्रावकाचारोंमे भावनाओका वर्णन नहीं मिलेगा किन्तु मुनिके आचार ग्रन्थोंमे भावनाओंका वर्णन मिलता है । इससे भी भावनाये महाव्रतोंकी ही है ऐसा ही सिद्ध होता है ।

भावनाओका माहात्म्य—

इन पच्चीस भावनाओको भानेवाला मुनि सुप्त अवस्थामे भी व्रतोंका घात नही करता है, जाग्रत अवस्थामें तो कैसे कर सकता है ? अर्थात् भावनाओको भानेवाले मुनिके स्वप्नमे भी व्रतोमे दोष नही लगते है ।।१२६८।।

आचार्य क्षपकको उपदेश दे रहे है कि हे क्षपक ! उपर्युक्त कथनके अनुसार भावनाओंका महत्व जानकर तुम एकाग्र होकर भावनाओको भावो । पांच समितियां पालो । इससे तुम्हारे महाव्रत अखंड और दोष रहित होवेगे । पच्चीस भावनायें, पांच समितियां और तीन गुप्तिया ये मुनिके मुक्तिरूप फलको देनेवाले महाव्रतको वृद्धिगत करते है । जैसे धूल मिट्टी आदिका निरसन करनेवाली समयानुसार होनेवाली वर्षा सुंदर एवं सुखदायक धान्योंकी वृद्धि करती है ।।१२६९।।१२७०।।

भावनाओंका वर्णन समाप्त ।

विशेषार्थ—अब यहांपर साधुओंकी (तथा आर्यिकाओंकी) दिनचर्याका वर्णन करते हैं—

सूर्योदय होनेपर देव वंदना करके दो घड़ो (४८ मिनट) बीत जानेपर श्रुत-भक्ति और आचार्य भक्तिपूर्वक स्वाध्याय ग्रहण करके सिद्धांत आदि ग्रंथोंकी वाचना पृच्छना, अनुप्रेक्षा आदि करके मध्याह्न कालसे दो घडी पहले श्रुतभक्ति पूर्वक स्वाध्याय समाप्त करे फिर वसतिसे दूर जाकर मलका त्याग करे। फिर शरीरकी शुद्धि करे, मध्याह्न देववंदना—सामायिक करनेके बाद बालक आदि भोजन करके निकलते हुए देखकर आहारकी वेलाको जानकर आहारके लिये गमन करे, रास्तेमें न धीरे चले न शीघ्रतासे चले। धनी निर्धनका विचार न करके केवल कुलवान् घरको देखकर जो श्रावक पड़गाहन करे वहां रुके, नवधा भक्तिपूर्वक दिये हुए भोजनको सिद्धभक्ति करके ग्रहण करे। नीचे भोज्य वस्तुको नही गिराते हुए पाणिपात्रको नाभिके प्रदेशके कुछ ऊपर हाथोकी अंजुलि बांधकर मुखसे सुर सुर आदि शब्दको नही करते हुए आहार लेवे, उस समय स्त्री आदि दाताके अवयवोंका निरीक्षण नही करना चाहिये। छियालीस दोषोंको टालकर और बत्तोस अतरायको टालकर आहार लेवे। अंतराय आजाय तो अपूर्ण उदर ही प्रासुक जलसे हाथ आदिकी शुद्धि कर सिद्धभक्ति पूर्वक दूसरे दिन तकके लिये आहारका त्याग करे। अंतराय नही आवे तो पूर्णोदर भोजन कर उक्त विधि करे। कमंडलुको उष्ण जलसे भरकर जिनालय आदि स्थानमे जाकर पुनः प्रत्याख्यान करे। तदनंतर अपराह्निक स्वाध्याय करता रहे। दिन अस्त होनेके दो घड़ी पूर्व स्वाध्याय निष्ठापन करे दैवासिक प्रतिक्रमण करे। पुनः देववंदना—सामायिक करे। सामायिकके अनंतर पूर्व रात्रिक स्वाध्याय प्रारभकर मध्यरात्रिके दो घड़ी पूर्व स्वाध्याय समाप्त करना चाहिये। दो मुहूर्त्त अल्प निद्रा लेवे। पुन· अपर रात्रिक स्वाध्याय सूर्योदयके दो घड़ी पूर्वतक करना, किन्तु इस अपर रात्रिमे सिद्धात ग्रथकी वाचना नहीं करना चाहिये। फिर रात्रिक प्रतिक्रमण करना चाहिये। इसप्रकार दिन और रातके चौबीस घंटेकी साधुकी यह दिनचर्या है।

विशेष ज्ञातव्य यह है कि वर्तमानमें गृहस्थोकी भोजनवेला प्रायः दस बजेसे ग्यारह-बारह बजे तक है तदनुसार मध्याह्नके सामायिक पूर्व ही साधुजन आहारको निकलते हैं और फिर सामायिक करते हैं इसमे कोई दोष नहीं है क्योंकि साधुका आहार योग्यकाल सूर्योदयकी तोन घड़ी (७२ मिनट) बीत जानेपर प्रारंभ होता है और सूर्यास्तके तीन घड़ी पहले तक शेष रहता है।

महाव्रतानि जायंते निःशल्यस्य तपस्विनः ।
निदानवंचना मिथ्यादर्शनैर्हन्यते व्रतम् ।।१२७१।।

साधुओके दिनरातमें होनेवाली सामायिक, प्रतिक्रमण आदि क्रियाओंको करते समय अट्ठावीस कायोत्सर्ग होते है—प्रात.कालीन आदि तीन संध्याओंके तीन सामायिक क्रियाओंमें चैत्यभक्ति पंचगुरु भक्ति सबधी दो-दो कायोत्सर्ग ऐसे छह हुए पुनः दैवासिक और रात्रिक प्रतिक्रमणके चार-चार ऐसे आठ कायोत्सर्ग है । पूर्वाह्न, अपराह्न, पूर्व रात्रिक और पश्चिम रात्रिक ऐसे चार वेलाओंके चार स्वाध्यायोंमें प्रत्येकके तीन-तीन कायोत्सर्ग होते है ऐसे बारह हुए । रात्रियोग-प्रतिष्ठापन निष्ठापन क्रियामें योगभक्तिके दो कायोत्सर्ग इसतरह कुल अट्ठावीस कायोत्सर्ग अवश्य करणीय है । यह तो प्रतिदिनमें होनेवाले कायोत्सर्गको बात है । अष्टमी चतुर्दशी, नन्दीश्वर आदि पर्वोमे होनेवाली नैमित्तिक क्रियायें तथा इनमे होनेवाली भक्तियां एवं इन सब क्रियाओंकी प्रयोग विधियां क्रिया कलाप, यतिक्रिया मंजरी, श्रमणचर्या आदि शास्त्रोसे ज्ञात करना चाहिये ।

व्रतोके परिणामोका घात करनेवाले शल्य है अब उन परित्याज्य रूप शल्योंका वर्णन करते है—

जो तपस्वी निःशल्य है उसके महाव्रत होते है क्योकि निदान, माया और मिथ्यात्व इन तीन शल्यों द्वारा व्रतोंका घात होता है ।।१२७१।।

भावार्थ—शल्य कांटेको कहते है जैसे कांटा पैरमे लगकर बाधा करता है वैसे जो व्रतोंको बाधित करे उसको यहां शल्य कहा है । उसके तीन भेद हैं—

तत्वोंके अश्रद्धा रूप परिणाम मिथ्यात्व शल्य है । माया छल कपटको कहते है । अमुक धार्मिक अनुष्ठानसे मुझे यह भोग प्राप्त हो इत्यादि परिणाम निदान शल्य है । यह तीन शल्योंका सामान्य लक्षण है । मिथ्यात्व सम्यक्त्वका घातक है और सम्यक्त्वके बिना सम्यक्चारित्र, व्रत नही होता अतः मिथ्यात्व व्रतका घातक सिद्ध होता है । साधुका रत्नत्रय धर्मके अतिरिक्त भोगादिमे मन जाना निदान है यह भी सम्यक्त्वमें अतीचार करता हुआ व्रतका घात करेगा साधु सबंधी माया तो अपने अतीचारोंको छिपाना आदि रूप होगी ।

निषेद्‌धृ सिद्धिलाभस्य विभवस्येक कल्मषम् ।
निदानं त्रिविधं शस्तमशस्तं भोगकारणम् ।।१२७२।।
नृत्वं सत्वं बलं वीर्यं संहृति पावनं कुलं ।
वृत्ताय याचमानस्य निदानं शस्तमुच्यते ।।१२७३।।
अर्हद्‌गणधराचार्य सुभगादेय तादिकं ।
प्रोक्तं प्रार्थयते शस्तं मानेन भववर्धकम् ।।१२७४।।
अशस्तं याचते क्रुद्धो मरणेऽन्यवधं कुधीः ।
अयाचतोग्रसेनस्य वसिष्ठो हननं यथा ।।१२७५।।

निदान शल्य—

मुक्ति लाभ जिससे होता है ऐसे रत्नत्रयका जो निषेधक है, उस निदान शल्यके तीन भेद है—प्रशस्त निदान, अप्रशस्त निदान और भोगकृत निदान ।।१२७२।।

प्रशस्त निदान—

पूर्णचारित्र पालनके लिये, पुरुषत्व-उत्साह, सत्व-धैर्य, शरीरकी दृढता रूप बल, वोर्यांतराय कर्मका क्षयोपशमरूप वीर्य, उत्तम संहनन, उच्च कुल ये सब मुझे मिल जाय, इसप्रकार याचना करनेवालेके प्रशस्त निदान होता है ।।१२७३।।

अप्रशस्त निदान—

अभिमानके वश होकर मैं तीर्थंकर बन जाऊँ, गणधर आचार्य आदिका पद मुझे प्राप्त हो, मैं सु दर बनूँ । मेरे वचन एव आज्ञा सभी मानने लग जाँय इत्यादिरूप प्रार्थना करना भवको बढानेवाला अप्रशस्त निदान कहलाता है ।।१२७४।।

तथा मरणके समय क्रोधित होकर खोटो बुद्धि वाला अन्य व्यक्तिका वध हो जाय इसप्रकार इच्छा-याचना करता है वह भी अप्रशस्त निदान है । जैसे वशिष्ठ मुनिने उग्रसेन राजाको मारनेका निदान किया था ।।१२७५।।

वशिष्ठ मुनिकी कथा—

वशिष्ठ नामका जटाधारी तपस्वो था । उसे एक बार समीचीन जैनधर्मका उपदेश मिला और कालादि लब्धिको प्राप्त होकर वह जंन दिगबर मुनि बन गया । अब उन्होंने कठोर तपश्चरण करना प्रारम्भ किया । किसो दिन मथुरा नगरीके निकट

छद-रथोद्धता—

स्वर्गभोगिनरनाथकामिनीः श्रेष्ठिचक्रिबलसार्थवाहिनां ।
भोगभूतिमधियो निदानकं कांक्षतो भवतिभोगकारणम् ।।१२७६।।

वनमें आकर मासोपवास एवं प्रतिमा योग धारण किया । मथुराके राजा उग्रसेनको मुनिकी तपस्या ज्ञात हुई तब वह बड़ी भक्तिसे उनके दर्शन करनेके लिये वनमे गया । राजाने नगरमें कहलाया कि वशिष्ठ मुनिके मासोपवासका पारणा मेरे यहां ही होगा । पारणा का दिन आया, महाराज नगरमे प्रविष्ठ हुए अन्यत्र पड़गाहन नही होनेसे वे राज-महलमें आये किन्तु उस दिन राजा किसी राज्य सबंधी महत्वपूर्ण कार्यमें उलझा हुआ था, अतः आहारकी बातको भूल गया । मुनिराज बिना आहार किये वनमे चले गये और पुनः एक मासका उपवास धारण किया । पुनः आहारके लिये आये किन्तु राजा उन्हें आहार नही दे पाया । ऐसा तीन बार हुआ । अबकी बार मुनि अत्यत क्षीण शक्ति हो चुके थे, मार्गमें लोटते हुए चक्कर आनेसे गिर पड़े । तब नागरिक लोग दुःखी होकर कहने लगे कि अहो ! यह हमारा राजा बडा निर्दयी हो गया है । देखो ! हमको आहार नहीं देने देता और आप भी नहीं देता इत्यादि । इस वार्ताको वशिष्ठ मुनिने सुना, उनको राजापर अत्यधिक क्रोध आया और क्रोधमें आकर निदान कर डाला कि मैं इसी उग्रसेनका पुत्र होऊँ और राजाको कष्ट देऊँ । इसी भावमे उनकी मृत्यु हुई राजाके यहां जन्म हुआ । बालकका नाम कंस रखा । इसने आगे जाकर उग्रसेनको बहुत यातना दी । इसप्रकार अप्रशस्त निदानसे वशिष्ठ मुनिकी तपस्या दूषित हुई ।

कथा समाप्त ।

भोगकृत निदान—

मेरेको स्वर्ग मिल जाय मैं धरणेन्द्र बन जाऊँ, राजा बनूँ, मुझे इष्ट स्त्री मिल जाय, नगर सेठ, चक्री, सेनापति, व्यापारियोमे प्रमुख ऐसे पद मुझे मिलने चाहिये, भोग एव वैभव प्राप्त होवे इसप्रकार मूर्ख व्यक्ति कांक्षा करता है उसकी इसतरह की वाच्छा भोगकृत निदान कहलाता है ।।१२७६।।

जो पुरुष निदान करता है वह संयम तप पराक्रमका धारी भी हो तथा भली प्रकारसे गुप्तियोका पालन करने वाला हो तो भी उस निदान दोषसे सुदुस्तर ऐसे भव-

छंद-रथोद्धता—

वृद्धसंयमतपः पराक्रमः शुद्धगुप्तिकरणोऽपि ना ततः ।
याति जन्मजलधिसुदुस्तरं कापरस्य गणना कुचेतसः ।।१२७७।।

निदानं योऽल्पसौख्याय विधत्ते सौख्यनिस्पृहः ।
काकिण्या स मणि दत्ते शंके कल्याणकारणम् ।।१२७८।।

स सूत्राय मणि भिन्ते नावं लोहाय भस्मने ।
कुधीर्दहति गोशीर्षं निदानं विदधाति यः ।।१२७९।।

तापार्थं प्लोषते कुष्ठी स लब्ध्वेक्षुं रसायनम् ।
श्रामण्यं नाशयते तेन भोगार्थं सिद्धिसाधकम् ।।१२८०।।

सागरको प्राप्त होता है अर्थात् ससारमे परिभ्रमण करता है, तो फिर अन्य सामान्य व्यक्ति की तो क्या गिनती है ? वह तो ससार सागरमे डूबेगा ही ।।१२७७।।

जो व्यक्ति उत्कृष्ट सुखका—मुक्ति सुखका अनादर करके अल्प तुच्छ ऐसे संसार सुखके लिये निदान करता है, वह काकिनो—कौडोके लिये सुखकारक मणिको दे डालता है । मणि रत्नको तो शका करता है कि यह उपयोगी है या नही और इसीलिये अपने पासकी उस मणिको किसीके लिये देकर उसके बदलेमे कौडो खरीदता है ।।१२७८।।

जो पुरुष निदान करता है वह कुबुद्धि धागेके लिये रत्नहार तोड़ता है, लोहे के लिये नौकाको तोड डालना है, राखके लिये गोशीर्ष चन्दन जलाता है, ऐसा मानना चाहिये । अर्थात् जैसे एक डोरेके लिये रत्नहार तोड़ना मूर्खता है, लोहेके लिये नौका तोडना मूर्खता है और राखके लिये गोशीर्ष चदनको जलाना मूर्खता है, इसमें हानि बहुत अधिक है और लाभ कुछ भी नही उसीप्रकार व्रत पालन आदिको करके जो भोग की आकाक्षा करता है और उसमे कदाचित् तुच्छ सासारिक किंचित् भोग प्राप्त करता है तो बड़ो भारी मूर्खता है, व्रत पालन आदि तो मुक्ति सुखका कारण है उसको निदान करने वाला नष्ट कर डालता है ।।१२७९।।

जैसे कोई कुष्ठी व्यक्ति रसायन स्वरूप इक्षुको पाकर उसे तपनेके लिये जला देता है तो अज्ञानो है, अपनी बड़ो भारी हानि करता है वैसे ही मुक्तिदायक जो श्रामण्य था उसे भोगके लिये कोई नष्ट कर डालता है वह उसकी बड़ी भारी हानि है ।।१२८०।।

नरत्वादिनिदानं च न कांक्षंति मुमुक्षवः ।
नरत्वादिमयं तस्मात्संसारस्तन्मयो यतः ॥१२८१॥

समाधिमरणं बोधिर्दुःखकर्मक्षयस्ततः ।
प्रार्थनीयो महाप्राज्ञैः परं नातः कदाचन ॥१२८२॥

नरत्वसंयमप्राप्ती परत्र भवतः स्वयम् ।
निदानमंतरेणापि दृगाद्याराधनांऽगिनः ॥१२८३॥

भवशरीरनिर्वेदमानदोषविचिंतनम् ।
कर्तव्यं मानभंगाय संसारान्तंयियासता ॥१२८४॥

मुमुक्षु जन तो पुरुषत्व आदिकी प्राप्तिकी इच्छा रूप निदान भी नही करते क्योंकि पुरुषत्व आदि भी भव है और भव संसार रूप है—बार-बार पर्यायि ग्रहण करना ही तो संसार है ॥१२८१॥

इसलिये महाप्राज्ञ पुरुषों द्वारा समाधिमरण, बोधि–रत्नत्रय, दुःखक्षय और कर्मक्षयकी प्रार्थना करनी चाहिये इनसे अन्य वस्तुकी कभी भी प्रार्थना नही करना चाहिये ॥१२८२॥

भावार्थ—बुद्धिमान सम्यग्दृष्टि यदि कुछ प्रार्थना या वांच्छा करते हैं तो यह करते हैं कि मेरे शारीरिक, मानसिक, आगंतुक दुःखोका नाश हो, कर्मोंका नाश हो, रत्नत्रय स्वरूप बोधिका लाभ होवे तथा समाधिमरणकी प्राप्ति हो । साधुओंके द्वारा प्रतिदिन किये जानेवाले भक्ति पाठ मे तथा श्रावकोके द्वारा किये जानेवाले पूजापाठमें आता है किम दुक्खक्खवो, कम्मक्खवो, बोद्धिलाहो, सुगइ गमणं समाहिमरणं जिणगुण-संपत्ति होउ मज्झं ।

सम्यग्दर्शन आदि चार आराधनाओको करनेवाले व्यक्तिके निदानके बिना भी परभवमे अपने आप मनुष्यभव तथा सयमकी प्राप्ति होती है ॥१२८३॥

ससारसे वैराग्य और शरीरसे वैराग्य कैसे हो इसका चिंतवन तथा मान कषायसे होनेवाले दोषोंका चिंतवन मानको नष्ट करनेके लिये सदा करना चाहिये जो कि संसारके अंतको प्राप्त करना चाहते हैं अर्थात् मुक्तिको चाहते हैं ॥१२८४॥

उच्चं भवे कुलं नीचो नीचमुच्चः प्रपद्यते ।
कुलानि संति जीवानां पांथानामिव विश्रमः ।।१२८५।।

हानिवृद्धि प्रजायेते नीचोच्चासु न योनिषु ।
सर्वत्रोत्पद्यमानस्य जीवस्य सममानता ।।१२८६।।

लाभं लाभमनंताश्च नीचामुच्चां प्रपद्यते ।
तथाप्युच्चा अपि प्राप्ता अनंता योनयो भवे ।।१२८७।।

भाव यह है कि मान कषायकी पुष्टि या अभिमानके वश होकर लोग अप्रशस्त निदान करते है अतः यहांपर कहा है कि हे साधो ! तुम उस मानका नाश करो और उसके लिये संसारके स्वरूपका शरीरके स्वरूपका विचार करो कि यह संसार अपार दुःखोका सागर है नरकादि गतिमें महान कष्ट मैंने पाये हैं, शरीर तो साक्षात् अत्यंत अशुचि रूप है अतः किसी देवादि पर्यायकी या सुंदर शरीरकी इच्छा करना अत्यंत कष्टप्रद है । इसप्रकार विचार करनेसे भोगोंका निदान नही होता ।

कुलके मानका निषेध--

जो व्यक्ति आज उच्चकुलमे उत्पन्न हुआ है वह नीच कुलमे उत्पन्न हो जाता है और जो आज नीच कुलीन है पुन. आगे उच्च कुलको प्राप्त कर लेता है जीवोके कुल तो पथिक जनोके मार्गमें होनेवाले विश्राम स्थल सदृश हुआ करते है अर्थात् जैसे पथिक मार्गमे चलते हुए वृक्षके नीचे विश्राम करता है फिर उस वृक्षको छोड़कर दूसरे और उसको भी छोड़कर तीसरे वृक्षके तले विश्राम करता हुआ आगे-आगे गमन कर जाता है, वैसे यह उच्चकुलमें जन्म लेकर वहांकी आयु पूर्णकर नीचकुलमें जन्म लेता है । अतः मैं उच्चकुलीन हूँ इसप्रकार कुलाभिमान करना व्यर्थ है ।।१२८५।।

नीच और उच्च कुलोमे जन्म लेनेसे जीवके हानि और वृद्धि नही हुआ करती, वह तो सर्वकुलोंमे समान प्रमाण वाला असख्यात प्रदेशवाला ही रहता है ।।१२८६।। यह ससारी प्राणी अनंत-अनत नीच कुलोंको और अनत-अनत उच्चकुलोंको प्राप्त करता है तथा पुनः अनत उच्चकुलोको पाकर नीच कुलोंको भी पाता रहता है, ससारमे इसप्रकार उच्चगोत्र कर्म और नीच गोत्र कर्मके उदयानुसार कुलों का परिवर्तन होता ही रहता है, इसका क्या अभिमान ।।१२८७।।

उच्चत्वे बहुशः कोऽत्र लब्ध्वा त्यक्तेऽस्ति विस्मयः ।
नीचत्वे वास्ति किं दुःखं लब्ध्वा त्यक्ते सहस्रशः ॥१२८८॥

उच्चत्वे जायते प्रीतिः संकल्पवशतोंऽगिनः ।
नीचत्वेऽपि महादु.ख कषायवशवर्तिनः ॥१२८९॥

उच्चत्वमिव नीचत्वं चेतसा यो निरीक्षते ।
उच्चत्व इव नीचत्वे किमसौ न सुखायते ॥१२९०॥

यो नीचत्वमिवोच्चत्वं विकल्पयति मानसे ।
तस्योच्चत्वे न किं दुःखं नीचत्वमिव जायते ॥१२९१॥

यदि हमने बहुत-बहुत बार उच्चकुलोको पाकर छोड़ा है तो उसमे क्या आश्चर्य या बड़प्पन हुआ ? और हजारो बार अनेकों बार नीच कुलोंको पाकर यदि उन्हें छोड़ ही दिया है तो उसमे क्या दु.ख है ? कुछ भी नही ॥१२८८॥

केवल संसारी प्राणियोको सकल्पवश या अभिमान वश हो उच्चगोत्र मिलने पर प्रीति होती है । कषायके कारण नोच गोत्र मिलनेपर महादुःख होता है। भाव यह हुआ कि उच्च कुल मिला तो उससे सुख नहीं हुआ किन्तु मैं कुलोन हूं इसतरहके मनके विचारसे ही संकल्पवश खुश होता है और नोचकुल कोई दुःख नहीं देता किन्तु कषायके कारण दुःख होता है ॥१२८९॥

जो उच्चत्वके समान नोचत्वको मनसे देखता है उसको उच्चत्वके समान नीचत्वमें भी क्या सुख नही होता ? अर्थात् नीचत्व उच्चत्वको अच्छा या बुरा मानना उस व्यक्तिके सकल्पके आधोन है, बहुतसे व्यक्ति नोचकुलमे आनंद मानते रहते है और बहुतसे उसके प्राप्तिमे दु खानुभव करते है तथा अन्य काई उच्चकुल मिलनेमें सुखानुभव करते है तो कोई दु खानुभव करते हैं, यह उस व्यक्तिके संकल्पके कषाय भावके अनुसार होता है । उच्च कुलको प्राप्तकर जिनदोक्षा लेकर उसकुलकी प्राप्तिका लाभ उठावे तो भला है अन्यथा क्या लाभ ? ॥१२९०॥

जो मनमें नीचत्वके समान उच्चत्वको मानता है उसको उच्चत्व मिलने पर भी नीचत्वके समान क्या दुःख नही होता ? ॥१२९१॥

ततो नोच्चत्वनीचत्वे कारणं प्रीतिदुःखयोः ।
परमुच्चत्वनीचत्वसंकल्पः कारणं तयोः ॥१२९२॥
नीचगोत्रं नरं मानो विधत्ते बहुजन्मसु ।
प्राप्ता लक्ष्मीमतिर्नीचा योनिर्मानेन भूरिशः ॥१२९३॥

अत. यह निश्चित होता है कि उच्चत्व और नीचत्व सुख और दुःखका कारण नही है किन्तु उच्चत्व और नीचत्वका सकल्प ही उन दोनोंका कारण है ॥१२९२॥

यह मानकषाय जोवको बहुतसी योनियोंमें नीचगोत्री बनाता है । देखो ! लक्ष्मीमती मानके द्वारा बहुत बार नीच योनिको प्राप्त हुई थी ॥१२९३॥

लक्ष्मीमतीकी कथा—

लक्ष्मी नामके ग्राममें सोमशर्मा ब्राह्मणके लक्ष्मीमती नामको अत्यत रूपवती पत्नी थी । उसको अपने रूपका बड़ा भारी गर्व था । वह सदा ही अपने रूपको सवारने में लगी रहती । एक दिन पक्षोपवासी समाधिगुप्त नामके मुनिराज आहारके लिये आये । आंगनमे आते हुए देखकर लक्ष्मीमतीने उनकी बहुत निंदा की, गालियां दी और घरका दरवाजा बद कर दिया । उसे उस समय अपना शृंगार करना या उसमें मुनिको आहार देनेसे व्यवधान पड़ता इस कारणसे तथा मुनिके स्नान रहित शरीरसे ग्लानि होनेसे लक्ष्मीमतीने अपने रूपके गर्वमे आकर मुनि निदाका महान पापकर डाला । मुनि शातभावसे अन्यत्र चले गये । किन्तु मुनि निंदाके पापसे लक्ष्मीमतीको सातवें दिन गलित कुष्ठ रोग होगया । उसे लोगोंने दुर्गधताके कारण गांवके बाहर निकाल दिया । वहां वेदना सहन नही होनेसे आगमें जलकर मरी और गधी हुई । पुन· क्रमशः सुअरी, दो बार कुत्ती हुई । फिर धीवरकी दुर्गधा पुत्री हुई । इस पर्यायमे उन्ही समाधिगुप्त मुनिराज द्वारा धर्म श्रवणकर शांतभावको प्राप्त हुई । इसप्रकार मानकषायके दोषसे लक्ष्मीमतीको अनेक भवोमे महान् कष्ट सहना पड़ा । नोचगोत्री तिर्यंचनी पर्यायको बार-बार प्राप्त करना पड़ा ।

लक्ष्मीमतीकी कथा समाप्त ।

इसप्रकार अतीत भवोमे अनंतबार नीच तथा उच्च कुल प्राप्त कर चुके है, अनंतभवोमे उस उस कुल द्वारा पूजा और अनादर आदि भी मिल चुके है । जीवकी तो कहीं पर हानि या वृद्धि नही हुई है वह तो असंख्यात प्रदेशी ही रहा है ऐसा जानकर

सुभगत्वमसौभाग्यं स्वरूपत्वं विरूपता ।
आज्ञानाज्ञादरो निंदा चित्ते कृत्या न धीमता ।।१२९४।।

एतेषां चिंतनान्मानो वर्धते सर्वदाऽग्निवत् ।
संसारवर्द्धकः सद्यो हीयते तत्वचिंतने ।।१२९५।।

उच्चत्वादिनिदानेऽपि संसारं लभते यदि ।
तदा वधनिदानेऽगी भव भागीति का कथा ।।१२९६।।

निदानेऽपि कुलादीनि जायंते नात्र जन्मनि ।
संयमं विदधानस्य मानिनो यातना परा ।।१२९७।।

बुद्धिमान पुरुष द्वारा सौभाग्य और दुर्भाग्य, सुंदरता और विरूपता एवं आज्ञा और अनाज्ञा होने पर भी न आदरभाव किया जाना चाहिये और न निंदाभाव किया जाना चाहिये ।।१२९४।।

इन उच्चकुल सौभाग्य आदिके विचारमे अभिमान अग्निके समान सदा ही बढता है जो कि अभिमान ससारकी वृद्धि करनेवाला है । किन्तु तत्त्व चितन करनेपर अर्थात् उच्च नीच आदिके परिवर्तन शीलता आदि विषयोपर वास्तविक बोधके साथ तत्त्वचितन किया जानेपर अभिमान तत्काल नष्ट हो जाता है और उससे कषाय शांत होनेके कारण संसारका किनारा निकट आजाता है ।।१२९५।।

उच्चत्व आदि मुझे प्राप्त होवे ऐसा निदान करनेपर भी यदि ससारकी वृद्धि होती है समार भ्रमण हो प्राप्त होता है तो फिर जो व्यक्ति किसीको मारनेका निदान करता है उसका क्या कहना ? वह ससारका भागी बनेगा ही ।।१२९६।।

कोई कहे कि गणधर पदादिकी प्रार्थना करना अशोभन क्यो है ? इससे तो रत्नत्रयकी प्रर्थना करना जैसा ही होता है ?

अब इसका उत्तर देते है—

आचार्य गणधर आदिका निदान करनेपर भी वे पद इस निदान करनेवाले भवमे तो प्राप्त होते नहीं । कदाचित् उसको प्राप्ति हो भी जाय तो मानकषायके कारण यातना होती है । आशय यह है कि आचार्यत्व आदिका निदान करनेपर भी उसी भवमे वह पद मिलता नही कदाचित् बहुत उच्चकोटिका संयम पालन करनेपर किसी

मधुराः सेवमाना हि विपाके दुःखदायिनः ।
चिंतनीयाः सदा भोगाः किंपाकफलसंनिभाः ॥१२९८॥
भोगार्थमेव चारित्रं निदाने सति जायते ।
कर्म कर्मकरस्येव द्रविणार्थविचारणे ॥१२९९॥
भवत्यब्रह्मचर्यार्थं सनिदानं तपो यतः ।
अपसारो विघातार्थं मेषस्येवास्ति मेषतः ॥१३००॥

एकको उक्त पद मिले तो मानकषायके दोषसे उसको मुक्ति लाभ नहीं होता, अतः आचार्यत्व आदिका निदान करना व्यर्थ है ॥१२९७॥

इसप्रकार प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों निदान वर्जनीय है ऐसा बतलाकर भोग निदानको निंदा करते है—

ये संसारके विषयभोग-सुंदर सुंदर भोजन, सुंदर कामिनी, धन इत्यादि सब ही भोग सामग्री केवल सेवन करते समय मधुर लगती है किन्तु उदयकालमे अत्यन्त दुःखदायी होती है, जैसे किंपाक फल खाते समय मधुर लगता है किन्तु विपाकमे प्राण-घातक होता है । वैसे ही भोग भोगते समय अच्छे लगते हैं किन्तु भोग करते समय जो पापबंध हुआ था उस कर्मका उदय आनेपर महान् दुःख उठाना पड़ता है । इसतरह मुमुक्षुजनोको सदा हो भोगके दोषका विचार करते रहना चाहिये ॥१२९८॥

निदान करनेपर चारित्र भोगके लिये ही रह जाता है, जैसे कर्मकर—नौकरकी क्रियाये केवल धनके लिये हुआ करती है । अर्थात् मुनि चारित्र पालन करता है किन्तु निदानयुक्त है तो उसका चारित्र केवल भोग प्राप्ति करा सकता है, कर्मनिर्जरा नही ॥१२९९॥

निदानयुक्त ब्रह्मचर्य आदि तप करना तो अब्रह्मचर्यके लिये कहा जायगा । जिसप्रकार कि एक बकरेको दूसरे बकरेसे पीछे हटना बकरेको मारनेके लिये ही होता है । उसीप्रकार निदान युक्त ब्रह्मचर्य आदिको पालन करके विषयोसे हटना ब्रह्मचर्यके घातके लिये माना जायगा । क्योंकि निदानसे भोग प्राप्ति होगी उससे अब्रह्म सेवन ही करेगा, यहा तक कि जो भोग सामग्री स्त्री धन आदि निदान द्वारा प्राप्त होती है वह प्रायः छूटती नही, उसमे अधिक मोहभाव होनेसे उसे वह व्यक्ति छोड़ नही पाता, जैसे कि नारायण प्रतिनारायण भोगसामग्री छोड़ नही सकते ॥१३००॥

विक्रीणाति तपोनर्घं भोगेन सनिदानकः ।
माणिक्यमिव काचेन सारासाराविचारकः ।।१३०१।।

ससंगस्यानिवृत्तस्य चित्तेनाब्रह्मचारिणः ।
कायेन शीलवाहित्वं व्यर्थं नटयतेरिव ।।१३०२।।

आकांक्षति महादुःखं निदानी भोगतृष्णया ।
रोगित्वं प्रतिकाराय कुबुद्धिरिव कश्चन ।।१३०३।।

भोगार्थं वहते साधुर्निदानित्वेन संयमम् ।
स्कंधेनेव कुधीर्गुर्वीमासनाय महाशिलाम् ।।१३०४।।

निदान करनेवाला मुनि अपने अमूल्य तपको भोग द्वारा बेच डालता है—भोगका तुच्छ मूल्य लेकर अमूल्य महा कीमती तपको बेचता है। जैसे कि सार क्या है असार क्या इस बातका जिसे विचार नही है वह पुरुष माणिक्य रत्नके बदले काचको खरीदता है अर्थात् रत्न देकर उसके बदलेमे (मूल्यमे) काचको ले आता है ।।१३०१।।

जिसका चित्त भोगादिमे लगा हुआ है मनसे अब्रह्मचारी है जिसके परिग्रहसे निवृत्त रूप परिणाम नही है और केवल शरीर द्वारा शीलपालन करता है उसका वह शील पालन व्यर्थ है, जैसे नटयति नकली या भ्रष्ट मुनिका केवल बाह्य या शरीरसे व्रतादिका पालन व्यर्थ है। अथवा नटयति का अर्थ यतिका वेष धारण करनेवाला नट पुरुष है वह जैसे बाहरसे वेषमात्रसे मुनि है अतरगमे अब्रह्म आदि रूपही भाव है। वैसे निदान करनेवाला मुनि है ।।१३०२।।

निदान करनेवाला व्यक्ति भोगकी लालसासे महादु.खकी कांक्षा करता है, जैसे कोई कुबुद्धि पुरुष प्रतीकार औषधि सेवनकी लालसासे रोगी होना चाहता है। वैसा निदान करनेवाला है, ऐसा समझना चाहिये ।।१३०३।।

जैसे खोटी बुद्धिवाला मूर्ख, मैं इसपर बैठ जाऊंगा इस वांच्छासे बडी भारी शिला–पत्थरको कंधेपर रखकर ढोता फिरता है, वैसे कोई साधु निदान द्वारा भोग प्राप्तिके लिये संयमका भार ढोता है ।।१३०४।।

भावार्थ—शिलापर बैठनेका सुख अति तुच्छ है और उसके लिये शिला कंधे पर रखकर ढोना महादुःखदायी है ठीक इसीप्रकार निदान करके भोग प्राप्त करना

यत्सुखं भोगजं जंतोर्यद्दुःखं भोगनाशजम् ।
भोगनाशोत्थितं दुःखं सुखाधिकतमं मतम् ।।१३०५।।

क्षुदादिपीडिते देहे समासक्तः कथं सुखी ।
दुःखस्यास्ति प्रतीकारो ह्रस्वीकारोऽथवा सुखम् ।।१३०६।।

अनपेक्ष्य यथा सौख्यं न दुःखं बाधते नरम् ।
अनपेक्ष्य तथा दुःखं न सुखं विद्यते जने ।।१३०७।।

सेवमानो यथा वह्निं न कुष्ठी लभते शमम् ।
भुंजानो न तथा भोगं संतोषं प्रतिपद्यते ।।१३०८।।

अत्यल्प सुखरूप है और उसके लिये संयम पालन करना भाररूप है । सयम तो मोक्षरूप महाफल दायक था उसे तुच्छ भोगमें गमा दिया ।

इस जीवको भोगसे होनेवाला जो सुख है और भोगके नष्ट हो जानेपर जो दुःख होता है, इन दोनोंको यदि मापा जाय या इनकी तुलना की जाय तो भोगनाशसे उत्पन्न दुःख उक्त सुखसे अधिकतम पाया जायेगा । अर्थात् भोगज सुख अति अल्प है और भोगके नष्ट होनेपर जो दुःख होता है वह बहुत अधिक है ।।१३०५।।

कदाचित् किसी जीवको इच्छानुसार भोग मिल भी जाय तो विनाशीक शरीरमें क्या सुख होगा ऐसा बताते है—

यह शरीर भूख प्यास वेदना आदिसे सदा पीड़ित रहता है ऐसे शरीरमे रहनेवाला जीव किसप्रकार सुखी हो सकता है ? संसारी प्राणियोका सुख तो दुःखोंका प्रतीकार करना रूप ही है अथवा दुःखोंको कम करना रूप है ।।१३०६।।

जैसे सुखकी अपेक्षाके बिना दुःख पुरुषको बाधित नहीं करता वैसे दुःखकी अपेक्षाके बिना लोकमे सुख नही रहता है, अर्थात् संसारमें सुख और दुःख दोनों विद्यमान हैं ।।१३०७।।

जैसे कोई कुष्ठ रोगी अग्निका सेवन करके शांतिको प्राप्त नही कर सकता, वैसे भोग भोगता हुआ जीव संतोषको प्राप्त नही कर सकता । अग्निके तापसे तो कुष्ठ बढ़ेगा ही, वैसे भोग सेवनसे भोगकी इच्छा बढ़ेगी उससे सतोष नही होगा । [संतोष तो भोगके त्यागसे होगा] ।।१३०८।।

मैथुनं सेवमानोऽङ्गी सौख्यं दुःखेऽपि मन्यते ।
शितैः कंडूयमानो वा कच्छूं करुहैः कुधीः ।।१३०६।।
सेवमानो नरो नारीं दुःखदां सुखदां कुधीः ।
मन्यते मधुरां बह्वीं कृमिर्घोषातकीमिव ।।१३१०।।
संपद्यते सुखं भोगे सेव्यमाने न किंचन ।
सारो नोऽन्विष्यमाणोऽपि रम्भास्तंभे विलोक्यते ।।१३११।।
विश्वस्ता यैः प्रतार्यन्ते विमुच्यंते निषेवकाः ।
प्रवर्द्धकाः प्रपीड्यन्ते कस्तैर्भोगैः समो रिपुः ।।१३१२।।

मैथुन सेवन करता हुआ पुरुष दु ख होनेपर भी उसमें सुख मानता है, जैसे कोई कुबुद्धि खाजको पैनें नखोंसे खुजाता हुआ दाहरूप दु ख होनेपर भी उसमे सुख मानता है ।।१३०६।।

खोटी बुद्धिवाला पुरुष दुःखदायक ऐसी नारीका सेवन करता हुआ उसे सुखदायक मानता है, जैसेकि कोई कीट या लट घोषातकी नामके बड़े कडवे फलको खाते हुए उसे मीठी मान लेता है ।।१३१०।।

सत्य रूपसे देखा जाय तो भोगोका सेवन करनेमे किंचित् भी सुख प्राप्त नही होता है जैसे कि केलेके स्तभ-खंबेमे खोजनेपर भो कुछ सार दिखायी नही दता । अर्थात् केलेके स्तभ सदृश भोग नि सार है ।।१३११।।

जिन भोगों द्वारा विश्वस्त जन ठगाये जाते है, सेवा करने वाले छोडे जाते हैं तथा वृद्धि करने वाले पीड़ित किये जाते है, उन भोगोंके समान क्या कोई अन्य शत्रु है ? नही है ।

भाव यह है कि जो अपने पर विश्वास करता है अथवा जो विश्वास पात्र पुरुष उसको कोई भी नही ठगता । सेवा करने वालो को कोई छोडता नही तथा धन सन्मान आदिको वृद्धि करने वाले पुरुषोंको दु ख नही देता है किन्तु ये भोग ऐसे विचित्र है कि विश्वस्तको भो ठग लेते हैं अर्थात् जो भोगो पर विश्वास करता है वह ठगा जाता है–कुगतिमें जाता है । अपनो सेवा करने वालेको भी ये भोग छोड़ देते है अर्थात् योगी पुरुषके योग एक दिन अवश्य छूट जाते हैं–नष्ट होते है । भोग वृद्धिकारकको भी पीड़ा देते है अर्थात् जो पुरुष भोगोको बढाता है वह कुगतिमे पीडित होता है । इसप्रकार इस जीवका भोग ही महाशत्रु है ।।१३१२।।

छंद–उपजाति —

निषेव्यमाणो वनिताकलेवरं स्वदेहखेदेन सुखायते जनः ।
श्वा व्यश्नुवानो रसमस्थि नीरसं स्वतालुरक्ते मनुते सुखं यथा ।।१३१३।।

नग्नो बाल इवास्वस्थः स्वनन्नव्यक्तजल्पनः ।
श्वासाकुलो जनो नार्यां कीदृशीं श्रयते रतिम् ।।१३१४।।

आरंटतीं भराक्रान्तां दीनामुष्ट्रीमिवाकुलाम् ।
किं सुखं लभते मूढः सेवमानो नितंबिनीम् ।।१३१५।।

छंद–उपजाति—

विभीमरूपाः कुटिलस्वभावा भोगा भुजंगा इव रध्रसंस्थाः ।
ये स्मर्यमाणा जनयन्ति दुःखं ते सेविताः कस्य भवन्ति शान्त्यै ।।१३१६।।

यह मोही मनुष्य स्त्री शरीरका सेवन करता हुआ अपने शरीरके स्वेद द्वारा सुखानुभव करता है–सुख हुआ ऐसा मानता है, जैसे कुत्ता नीरस हड्डी को चबाता हुआ अपने तालुमे निकले हुए रक्तमे ही यह रस है ऐसी कल्पना कर सुख मानता है ।।१३१३।।

नारीके साथ भोग करनेवाला पुरुष, बालकके समान नग्न अस्वस्थ, शब्द करता हुआ, अव्यक्त बोलता हुआ जोर-जोरसे श्वास लेनेके कारण आकुलित किसप्रकार की रतिको पाता है ? बडा आश्चर्य है ।।१३१४।।

शब्द करती हुई भारसे आक्रान्त दीन ऐसी ऊँटिनीके समान व्याकुल हुई स्त्री का सेवन करता हुआ मूढ़ पुरुष क्या सुख पाता है ।।१३१५।।

स्त्री आदि सबधी भोग सर्पके समान अतिशय भयकर है कुटिल स्वभाव वाले है अर्थात् सर्प भयावह डरावना होता है और कुटिल–टेढोचाल चलता है भोग परलोकमे दुःखकारक होनेसे भयावह है कषाय मायाचार आदिसे युक्त होनेसे कुटिल स्वभावी है, सर्प रध्र सस्था–बिलमे रहते है भोग योनिरूपी बिलमे रहते है । जो स्मरणमे आनेपर भी दुःख उत्पन्न करते है वे भोग सेवित किये गये किसके शातिके लिये हो सकते हैं ? किसीके भी नही ।।१३१६।।

छद–उपजाति—

प्रदर्श्य सौख्यं वितरन्ति दुःखं विश्वासमुत्पाद्य च वंचयंति ।
ये पीडयन्ते परिचर्यमाणास्ते संति भोगाः परमा द्विषन्तः ।।१३१७।।

कामिभिर्भोग सेवायामसत्यं दृश्यते सुखम् ।
कुरंगैर्मृगतृष्णायां पानीय तृषितैरिव ।।१३१८।।

कुथितस्त्रीतनुस्पर्शे नष्टबुद्धिः सुखायते ।
अवगुह्य शवं व्याघ्रः श्मशाने किं न तृप्यति ।।१३१९।।

मध्यंविनार्कतप्तस्य यावच्छायाव्यतिक्रमे ।
वेगतो धावतः सौख्यं तावद्भोगनिषेवणे ।।१३२०।।

जो सुखको दिखाकर दुःख देते है, विश्वासको उत्पन्न कराके ठग लेते है, परिचर्या किये जानेपर पीड़ा पहुंचाते है वे भोग सचमुचमे बड़े भारी शत्रु ही है ऐसा समझना चाहिये ।।१३१७।।

भावार्थ—बैरी या शत्रु का स्वभाव होता है कि वे सुखको देगे ऐसा दिखाते है किन्तु देते दुःख ही है पहले विश्वास दिलाते है कि हम तुम्हारे हितचितक है किन्तु करते ठगाई ही हैं । परिचर्या या परिचयमे आनेपर पोड़ा-कष्टकारी होती है, ठीक इसी-प्रकार भोगोंका स्वभाव होता है भोग भोगते समय सुखाभास होता है किन्तु रहता वह दुःख ही है । भोग मुझे सुखकारी होगा ऐसा पहले विश्वास होता है किन्तु भोगने पर सुखकारी नही होते अतः उससे मानव ठगे गये ही समझना चाहिये । सेवित होनेपर पीड़ादायक है अतः भोग बिलकुल शत्रु ही है ।

कामी पुरुषो द्वारा भोग भोगनेपर सुख दिखाई देता है किन्तु वह वास्तविक सुख नही है । जैसे प्यासे हिरणों द्वारा मृगतृष्णामे पानी दिखाई देता है किन्तु वह वास्तविक जल नही है ।।१३१८।।

श्मशानमें व्याघ्र प्रेतका भक्षणकर क्या तृप्तिका अनुभव नही करता ? करता ही है । वैसे जिसकी बुद्धि नष्ट हुई है ऐसा कामी पुरुष सड़े हुए के समान स्त्रीके कलेवरके स्पर्श होनेपर सुखानुभव–मेरेको सुख हो रहा है ऐसा समझता है ।।१३१९।।

जैसे कोई पथिक है और दोपहरके सूर्य द्वारा सतप्त हुआ वेगसे दौड़ता जा रहा है उसको मार्गमे वृक्षकी छाया बीच-बीचमे आती है उसको लांघनेमे किंचित् धूप

स्रोतसा नीयमानस्य यावदाशासुखं भवेत् ।
पादांगुष्ठे क्षितिस्पर्शे तावद्भोगसुखं स्फुटम् ॥१३२१॥

येऽनंतशोऽङ्गिना भुक्ता भोगाः सर्वे त्रिकालगाः ।
को नाम तेषु भोगेषु भुक्तत्यक्तेषु विस्मयः ॥१३२२॥

यथा यथा निषेव्यन्ते भोगास्तृष्णा तथा तथा ।
भोगा हि वर्धयन्ते तामिंधनानीव पावकम् ॥१३२३॥

भुज्यमानैश्चिर भोगैस्तृप्तिर्नास्ति शरीरिणाम् ।
उत्पूरमुद्धतं चित्त विना तृप्त्यात्र जायते ॥१३२४॥

नदीजलैरिवांभोधि-र्विभावसुरिवेंधनैः ।
सेव्यमानैरयं भोगैर्न जीवो जातु तृप्यति ॥१३२५॥

की कमी होनेसे सुख प्रतीत होता है उसको जितना छाया संबंधी सुख है उतना भोग सेवनमें सुख है ॥१३२०॥

अथवा नदी प्रवाह द्वारा बहते जा रहे व्यक्तिका कदाचित् पैरके अंगुठेका जमीनमें स्पर्श हो जानेपर आशा सबधी जितना सुख होता है (जमीनका स्पर्श हो गया है अब मैं प्रवाहसे निकल जावूंगा इसतरहकी आशाका सुख) उतना भोग संबधी सुख है ऐसा स्पष्ट रूपसे समझना चाहिये ॥१३२१॥

इस संसारी प्राणी द्वारा तीनकाल सबधी संपूर्ण भोग अनंतबार भोगे जा चुके है उन भोगकर छोड़े हुए—उच्छिष्ट भोगोंमें क्या उत्सुकता ? क्या आश्चर्य ? अर्थात् जो अतिपरिचित है उच्छिष्ट हैं उन पदार्थोंकी प्राप्तिमे आश्चर्य या उत्सुकता नहीं होनी चाहिये ॥१३२२॥

जैसे जैसे भोग भोगे जाते है वैसे वैसे तृष्णा बढ़ती है क्योंकि भोग तृष्णा को बढ़ाने वाले होते है, जैसे ईन्धन अग्निको बढ़ानेवाला होता है ॥१३२३॥

संसारी जीवोंके चिरकाल तक भोग भोगते हुए भी तृप्ति नही होती और तृप्ति हुए बिना चित्त उन भोगोंमे पुनः पुनः अत्यंत उत्कंठित ही रहता है ॥१३२४॥

जिसप्रकार नदियोंके जल द्वारा समुद्र तृप्त नहीं होता [भरता नहीं] ईन्धनों द्वारा अग्नि तृप्त नही होती (ईन्धनको जलाना नही छोड़ती अथवा नहीं बुझती) उस-

भोगेषु भोगिगीर्वाणबलकेशव चक्रिणः ।
न तृप्तिं ये तु गच्छंति तत्र तृप्यंति किं परे ।।१३२६।।

व्याकुलो भवति प्राणी ग्रहणे रक्षणेऽर्जने ।
नाशे संपदि तत्तस्य भोगायोत्कंठितश्चलः ।।१३२७।।

व्याकुलस्य सुखं नास्ति कुतः प्रीतिर्विना सुखम् ।
कुतो रतिर्विना प्रीतिमुत्कंठां वहतः परम् ।।१३२८।।

प्रकार यह जीव भोगोंका सेवन करते हुए भी उन भोगोंसे कभी भी तृप्त नही होता है ।।१३२५।।

भोगभूमिके मनुष्य, देव, बलदेव, नारायण और चक्रवर्ती ये बड़े बड़े समृद्धशाली अतुल भोग संपदावाले पुरुष भी भोगोमे तृप्तिको प्राप्त नही हुए तो फिर अल्प बल, अल्प आयु और अल्प भोग सामग्री वाले मनुष्य तृप्त हो सकते है क्या ? नही हो सकते ।।१३२६।।

यह ससारी प्राणी धनके ग्रहण करनेमे व्याकुल होता है तथा रक्षण और अर्जनमें भी व्याकुल होता है यदि धनका नाश हो जाय तो उसकी पुनः प्राप्तिके लिये व्याकुल हाता है । प्राप्त भोगोके लिये उसका मन सदा उत्कठित रहता है कि यह भोगू यहापर अमुक वस्तु है उसको शीघ्र ही लाना चाहिये । इसप्रकार धनके कारण चित्त सदा चचल बना रहता है ।।१३२७।।

धनके उपार्जनमे, उपार्जित धनकी सुरक्षामें एवं ग्रहणमे सर्वत्र ही व्याकुलता रहती है, व्याकुलित पुरुषके सुख हो नही सकता और सुखके बिना प्रीति कहासे होवे ? और जब प्रीति नही है तो रति भी नही है, इसतरह उस कामुकके अतिशय रूपसे केवल उत्कठा ही रहती है ।।१३२८।।

इसतरह स्त्री सबंधी भोगोंको निःसार जानकर साधु पुरुषोंको चाहिये कि वे स्त्री आदि की सगति को छोड़े यदि उन्हे रमनेकी ही इच्छा है तो कहा रमे ? सो बताते है—

जो वास्तविक सुखके विपक्षरूप है ऐसे स्त्री धन आदिकी सगतिका त्याग कर दिया है जिसने और रमनेकी है इच्छा जिसे उस पुरुषको निरंतर मोक्षके सुखके कारण-

छंद—वंशस्थ—

निरस्तदारादिविपक्षसंगती रिरंसुरध्यात्मसुखे निरंतरम् ।
रतिं विधत्तां शिवशर्मकारणे तया समा नास्ति जगत्त्रये रतिः ॥१३२९॥

स्वस्थाध्यात्मरतिर्जन्तोर्नैव भोगरतिः पुनः ।
भोगरत्यास्ति निर्मुक्तो परया न कदाचन ॥१३३०॥

नाशो भोगरतेरस्ति प्रत्यूहाश्च सहस्रशः ।
नाशोऽध्यात्मरतेर्नास्ति न प्रत्यूहाः कुतश्चन ॥१३३१॥

कुर्वन्तो देहिनां दुःखं जायंते यदि शत्रवः ।
तदानीं न कथं भोगा लोकद्वितयदुःखदाः ॥१३३२॥

भूत ऐसे अध्यात्म सुखमें रति करना चाहिये । उस अध्यात्म सुखमें जो रति है उस रतिके समान तीन लोकमे कोई भी रति नहीं है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट रति वही है ॥१३२९॥

अपने स्वस्थ स्वभावी अध्यात्ममें जीवोको जो रति होती है वैसी भोगोंमें होनेवाली रति नहीं है क्योकि भोगरतिसे तो निर्मुक्त हो जाता है किन्तु अध्यात्मरतिसे कभी भो निर्मुक्त नही होता अर्थात् अध्यात्मरति स्वाधीन है उसमें थकावट आदि नही है स्वभावभूत होनेसे सदा सर्वथा ही साथ रहती है, इससे विपरोत भोगरति पराधीन है एव उसमें थकावट भो होती है अतः उससे मुक्त होना होता है ॥१३३०॥

भोगरतिका नाश होता है तथा उसमे हजारो विघ्न बाधाये आती हैं, किन्तु अध्यात्मरतिका नाश नहीं होता तथा उसमे किसी कारण विघ्न भी नही आते है अथवा भोगरतिसे आत्माका नाश होता है अध्यात्म रतिसे आत्माका नाश नही होता, भोगरति नश्वर है अध्यात्म रति अविनश्वर है ऐसा दोनोंमे महान् अतर है ॥१३३१॥

जो जीवोको दु.ख उत्पन्न करते हैं उन्हें यदि शत्रु माना जाता है तो इस लोक और परलोकमे दु.ख देनेवाले भोग किसप्रकार शत्रु नही है ? अर्थात् वे शत्रु ही है ॥१३३२॥

शत्रवो यान्ति मित्रत्वमिह वामुत्र वा भवे ।
मित्रत्वं प्रतिपद्यन्ते भोगा लोकद्वयेऽपि नो ॥१३३३॥
वैरिणो देहिनां दुःखं यच्छन्त्येकत्रजन्मनि ।
संततं दुस्सहं दुःखं भोगा जन्मनि जन्मनि ॥१३३४॥
निदानी प्रेक्षते भोगान्न संसारमनारतम् ।
मध्वेव प्रेक्षते पातं तटस्थायो न दुस्सहम् ॥१३३५॥
भोगमध्ये प्रदीव्यन्ति जन्मदुःखमनारतम् ।
अपश्यंतो मृतित्रासं जालमध्ये झषा इव ॥१३३६॥

इसप्रकार आचार्य क्षपक को उपदेशामृत पिला रहे है । क्षपकके मनमे कही पर भी भोग आदिकी वांच्छा न रह जाय, इन्द्रिय सुखकी इच्छाकी कणिका मात्र भी न रहे इसतरहका आचार्य प्रयास कर रहे है । आगे और भी समझाते हैं—

जो शत्रु है वह इस जन्ममें या अन्य जन्ममे मित्र भावको प्राप्त हो जाता है किन्तु भोग तो इस जन्म और पर जन्म दोनोमें मित्रत्वको प्राप्त नहीं होते है अर्थात् जो ये बाहिरी शत्रु है वे कार्यवश शत्रुत्व छोड देते है और मित्रता का व्यवहार करने लग जाते है परन्तु भोग सदा शत्रु रूप हो रहते है—उनसे दुःख ही मिलता है ॥१३३३॥

बैरी जीवोको एक जन्ममे दुःख देते है किन्तु भोग जन्म जन्ममे सतत् दुःसह दुःख ही देते हैं ॥१३३४॥

निदान करनेवाला व्यक्ति भोगोको देखता है अर्थात् उनके स्वादमें लगा रहता है दीर्घ संसारको नहीं देखता अर्थात् भोगसे मुझे बहुत कालतक ससारमे रुलना पड़ेगा इस बातको नही सोचता है । जैसे कूपके तटभाग पर स्थित कोई अज्ञानी मक्खियोके छत्तेसे गिरते हुए मधुको हो देखता है स्वाद लेता है किन्तु कूपमे बुरी तरहसे गिर जाऊंगा इस बातको नही देखता—सोचता ॥१३३५॥

यह संसारी प्राणी सतत् रूपसे होनेवाले जन्मोके दुःखको नहीं देखते हुए भोगों के मध्यमे रमता है । जैसे मीन मरणके त्रासको नही देखते हुए धीवरके जालमें क्रीड़ा करती है ॥१३३६॥

प्राप्यापि कृच्छ्रतो जीवो देवमानवसंपदम् ।
प्रवासीव निजं स्थानं कुयोनिं याति निश्चितं ।।१३३७।।

किं करिष्यंति ते भोगा योनिं यातस्य कुत्सितां ।
किं कुर्वन्ति मृता वैद्या म्रियमाणस्य देहिनः ।।१३३८।।

संसारं पुनरायान्ति निदानेन नियंत्रिताः ।
दूरं यातोऽपि पक्षीव रश्मिना निजमास्पदम् ।।१३३९।।

अधमर्णो निजे गेहे रोधमुक्तो सुखं वसेत् ।
दत्वार्थं समये प्राप्ते यथा भूयो निरुध्यते ।।१३४०।।

यह जीव देव और मनुष्योंकी संपत्तिको बड़े कष्टसे प्राप्त करता है और प्राप्त करके भी नियमसे पुन. कुयोनि-नरक तिर्यंच गतिमें चला जाता है । जैसे प्रवासी कुछ समय तक परदेशमे रहकर पुनः अपने स्थान पर चला जाता है ।।१३३७।।

भावार्थ—प्रवासी पुरुष कार्यवश अन्य देशमे जाता है और कुछ ही काल बाद पुनः अपने देश-गृहमे लौट आता है, इसीप्रकार संसारी प्राणी देव और मनुष्य पर्यायमें अल्पकाल रहता है और नरक व तिर्यंच पर्यायमें बहुत अधिक काल रहता है, क्योंकि सबसे अधिक रहनेका काल तिर्यंच गतिका है वहां पर यह जीव अनंतकाल तक सतत् रह सकता है, प्रायः रहता है ।

जब यह मोही प्राणी विषय भोगके कारण खोटी योनिमें चला जाता है वहां वे भोग क्या सहायता करेंगे ? जैसे मृतक वैद्य मरते हुए जीवका क्या उपकार-चिकित्सा करते है ? कुछ भी नहीं करते है, वैसे भोग परलोकमें कुछ भी काममें नहीं आते हैं ।।१३३८।।

निदान द्वारा नियन्त्रित किये प्राणी पुनः पुनः संसारमे आते हैं—पुनः पुनः जन्म धारण करते हैं, जैसे बहुत दूर तक उड़कर गया हुआ भी पक्षी रस्सी द्वारा नियन्त्रित होनेसे पुनः अपने स्थानपर आजाता है ।।१३३९।।

जैसे कर्जदार पुरुष कुछ धन देकर बंधन मुक्त हो कुछ समयके लिये अपने घरमे सुखपूर्वक रहता है और कर्ज लौटानेका समय प्राप्त होनेपर पुनः बंधनमें आ जाता है ।।१३४०।।

इदानीं चरणं कृत्वा सुखं भुक्त्वाऽवतिष्ठते ।
त्रिदिवे समये प्राप्ते तथा याति पुनर्भवम् ॥१३४१॥

देवश्चक्री सुख भुक्त्वा सभूतो हि निदानतः ।
निरंतरं महादुःखं प्राप्तश्च प्रतिवासितम् ॥१३४२॥

भावार्थ—कारागृहमें कैद किया हुआ मनुष्य इतने दिनके बाद मैं तुम्हारा द्रव्य देऊंगा इस समय मुझे अपना द्रव्य देवो ऐसा कहकर उनसे धन लेकर उसको कैदमें रखनेवालोंको देकर अपनी मुक्ति कर लेता है किन्तु पुनः वह धनिक कर्जदारको पकड़ लेता है ।

ठीक उसीप्रकार निदान करनेवाला मुनि इससमय चारित्र पालन करके स्वर्गमे जाकर सुख भोगता हुआ रहता है किन्तु समय आनेपर पुनर्भवको–ससार भ्रमण को प्राप्त होता है । देखो ! संभूत नामके पुरुषने निदानपूर्वक तपश्चरण किया था उससे स्वर्गमे देव बनकर चक्रवर्ती बना वहा सुख भोगकर नरकमें निरंतर महादुःखको प्राप्त हुआ था ॥१३४१॥१३४२॥

संभूतकी कथा—

वाराणसी नगरीमे दो भाई रहते थे बड़े भाईका नाम चित्त और छोटे भाई का संभूत था । ये दोनो नृत्यकलामे अति निपुण हुए । स्त्रीका वेष लेकर जब वे नृत्य करते तब सब जनता अत्यंत मुग्ध होती, कोई भी नही पहिचानता कि ये दोनों पुरुष है । नृत्यकला ही इन दोनोंकी आजीविका थी ।

किसी दिन दिगंबर जैन मुनि गुरुदत्तके मुखकमलसे श्रेष्ठ जैनधर्मका उपदेश सुनकर दोनों भाईयोंको वैराग्य हुआ और उन्होंने उन्ही गुरुदेवके निकट दैगंबरी दीक्षा ग्रहण की । गुरु चरणके समीप समस्त आगमका अभ्यास किया अब दोनो मुनि सर्वत्र देशोंमे विहार करते हुए तपस्या करने लगे । उनकी उग्र तपस्यासे प्रसन्न हुआ कोई देव चक्रवर्तीका रूप धारण करके मुनियुगलकी सेवा करने लगा । चक्रवर्तीका वैभव देखकर सभूत नामके छोटे मुनिने निदान किया कि मैं अपनी इस श्रेष्ठ तपस्या द्वारा आगामी भवमें चक्रवर्ती बनूं । यथासमय मरणकर सभूत मुनि प्रथम सौधर्म स्वर्गमे देव बना और वहांसे च्युत होकर भरत क्षेत्रका इस अवसर्पिणी कालका अंतिम बारहवां

अतर्पकमविश्रामं भोगसौख्यं विनश्वरम् ।
दुरंतं सर्वथा त्यक्त्वा मुक्तिसौख्ये मतिं कुरु ।।१३४३।।
विशोध्य दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयं यतिः ।
निर्निदानो विशुद्धात्मा कर्मणां कुरुते क्षयम् ।।१३४४।।
दोषानिति सुधीर्बुद्ध्वा निदानं विदधाति नो ।
जानानो दारुणं मृत्युं को हि भक्षयते विषम् ।।१३४५।।
छंदः दोधक—
लुंपति पातकलोपि चरित्रं सिद्धिसुखं विधुनोति पवित्रम् ।
देहवतामुरुदोषनिधानं किं कुशलो न शृणाति निदानम् ।।१३४६।।

चक्री ब्रह्मदत्त नामका हुआ । निदान द्वारा प्राप्त वैभवमें अत्यंत आसक्ति होनेके कारण ब्रह्मदत्त आयुके अंतमे मरकर नरकमे चला गया ।

इसप्रकार सभूत मुनिने निदान द्वारा अपनी सारभूत तपस्याको नष्ट किया और अंतमें कुगतिमे चला गया । अतः कभी भी भोगादिका अप्रशस्त निदान नही करना चाहिये ।

कथा समाप्त ।

इसप्रकार भोगसे उत्पन्न होनेवाला सुख अतृप्तिरूप है, विश्राम रहित है, विनश्वर और अंतमे कटुक फल देनेवाला है ऐसा जानकर हे क्षपक ! तुम इसे सर्वथा छोड़ दो और अपनी बुद्धिको मुक्ति सुखमे लगाओ—मुक्ति प्राप्ति हो ऐसा प्रयत्न करो ।।१३४३।।

निदानके दोष बतलाकर निदान नही करनेमे होनेवाले गुणोंको कहते है—

मुनिराज दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनोंको भलीप्रकार शोधन करके, निदान रहित विशुद्धात्मा होकर कर्मोका क्षय करते हैं ।।१३४४।।

बुद्धिमान् व्यक्ति इसप्रकार दोषोंको जानकर निदानको कभी भी नही करता है, क्योंकि ऐसा कौन पुरुष है जो दारुण–मृत्युको जानता हुआ विषको खाता है ? ।।१३४५।।

यह निदान जीवोंके पापोंका नाश करने वाले चारित्रको लूट लेता है पवित्र सिद्धिसुख नष्ट कर डालता है, ऐसे बड़े बड़े दोषोंके भंडारस्वरूप निदान बधको कौनसा

आलोचनाधिकारस्य मायाशल्यस्य दूषणं ।
उक्तं मिथ्यात्वशल्यस्य मिथ्यात्ववमनस्तवे । १३४७।।
मायाशल्येन ही बोधेः प्रभ्रष्टा कुथिताननां ।
दासी सागरदत्तस्य पुष्पदंतार्जिका भवे ।।१३४८।।

कुशल पुरुष नष्ट नही करेगा ? अर्थात् बुद्धिमान् निदान को कभी भी नही करता है ।।१३४६।।

निर्यापक आचार्य क्षपकको उपदेश दे रहे है, उस उपदेशके अंतर्गत पहले आलोचनाका कथन करते समय माया दोष या शल्यका त्याग करनेको कहा था तथा मिथ्यात्वका वमन करे । इसप्रकारके मिथ्यात्वके त्यागके लिये भी कहा था । अब यहां शल्य त्यागके अधिकारम आचार्य पुनः क्षपकको स्मरण करा रहे हैं कि भो क्षपक ! मैंने तुमको आलोचनाका कथन करते हुए मायाशल्यके दूषण बतलाये है । अतः उनका स्मरण कर त्याग करदो ।।१३४७।।

सागरदत्त सेठकी दुर्गंधित मुखवाली दासी पुष्पदंता नामकी आर्यिकाके पर्यायमे माया शल्यके कारण ही बोधिसे–सम्यक्त्व एव दोक्षा रूप बोधिसे भ्रष्ट हो गयी थी ।।१३४८।।

पुष्पदंता आर्यिकाकी कथा—

अजितावर्त्त नगरके राजा पुष्पचूलकी पट्टरानीका नाम पुष्पदंता था । किसी दिन ससारसे विरक्त हो राजाने दैगंबरी दोक्षा ग्रहण की । देखादेखी पुष्पदंताने भी ब्रह्मिला आर्यिका प्रमुखके निकट आर्यिका दोक्षा ली किन्तु इसे अपने रूप, सौभाग्य पट्टरानी पदका बहुत अभिमान था जिससे वह किसी अन्य आर्यिकाका विनय नही करती न किसीको नमस्कार करती सदा अपनी उच्चताका प्रदर्शन करती रहती । अपने शरीरमें सुगधित तैलादिका संस्कार करती । एक दिन गणिनी ब्रह्मिला आर्यिकाने उसे बहुत समझाया कि देखो ! आर्यिका पदमे ऐसा शरीर संस्कार वर्जित है तथा तुम्हे गुरुजनोका, आर्यिकाओका विनय करना चाहिये इत्यादि । किन्तु पुष्पदताने मायाचारसे असत्य वचन कहा कि मेरे शरीरमे निसर्गत. सुगंधी आती है मै कुछ नहीं लगाती इत्यादि । इस मायाचारके साथ उसकी मृत्यु हुई अर्थात् उसने अंततक माया शल्यको नही छोड़ा । फलस्वरूप वह चंपापुरीके सेठ सागरदत्तके यहां दासी होकर जन्मी ।

विद्धो मिथ्यात्वशल्येन धार्मिको वत्सलाशयः ।
मरीचिरभ्रमद्भीमे चिरं संसारकानने ॥१३४९॥

छद वंशस्थ—

निदानमायाविपरीतदर्शनैर्विदार्यतेऽगी निशितैः शरैरिव ।
विबुध्य दोषानिति शुद्धबुद्धयस्त्रिधापि शल्यं दवयन्ति यत्नतः ॥१३५०॥

जन्मसे ही उसका शरीर दुर्गंधमय था अतः उसका नाम पूतिगंधा रखा गया। इसप्रकार मायाचारके कारण पुष्पदताको नीचकुलमे नीच कार्य करना पड़ा। दुर्गन्धमय शरीरका कष्ट भोगना पड़ा। अतः माया शल्यका त्याग करना चाहिये।

कथा समाप्त।

जो धार्मिक था साधु सघमें वत्सल भावयुक्त था ऐसा गुणवान् मरीचि मिथ्यात्व शल्यसे युक्त होनेके कारण चिरकाल तक भयानक ससार वनमे भटकता रहा था ॥१३४९॥

निदान शल्य, माया शल्य और मिथ्यात्व शल्य इन शल्यो द्वारा यह प्राणी इसप्रकार विदीर्ण किया जाता है कि मानो पैने नुकीले बाणों द्वारा ही विदीर्ण हुआ हो, अत इन शल्योंके दोषोको जानकर शुद्ध बुद्धिवाले पुरुष प्रयत्नपूर्वक मन वचन कायसे सदा ही शल्यको दूर कर देते है। शल्यको कभी भी नही करते हैं ॥१३५०॥

मरीचि की कथा।

आदिनाथ तीर्थकरके जेष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्तीके हजारो पुत्रोंमे एक मरीचि-कुमार नामका पुत्र था। आदिनाथ भगवान् जब विरक्त होकर दीक्षित हुए तब उनके साथ यह मरीचि भी दीक्षित हुआ था किन्तु क्षुधा आदिसे पीड़ित होकर अन्य राजाओं के समान यह भी भ्रष्ट हो गया। वृक्षकी छाल पहनकर जटाधारी तापसी बन गया आत्मा सर्वथा शुद्ध है, भोक्तामात्र है, कर्त्ता नही, कर्त्ता तो प्रकृति है इत्यादि सांख्याभि-प्रायानुसार मिथ्यात्वका चिरकाल तक प्रचार करता रहा! वृषभदेवको केवलज्ञान प्राप्त होनेके अनंतर उन भ्रष्ट राजाओने समवशरणमें दिव्यध्वनिको सुनकर जिनदीक्षा ग्रहण की किन्तु मरीचिने तीव्र मिथ्यात्वके कारण नही ली। आयुके अंतमे मरकर वह स्वर्गमें देव हुआ। पुनः मनुष्य लोकमे ब्राह्मण कुलमे उत्पन्न होकर पूर्वभवके संस्कारवश उसी मिथ्यामतमे परिव्राजक साधु बन गया। पुनः स्वर्ग गया। इसके अनंतर यत्र तत्र चारों गतियोंमे, चौरासी लाख योनियोंमें, त्रस स्थावर पर्यायोंमे चिरकाल तक—इक्कीस

प्रव्रज्यागंत्रिकां गुप्तिचक्रां ज्ञानमहाधुरं ।
समित्युक्षाणमारुह्य क्षपको दर्शनादिकम् ।।१३५१।।

प्रस्थितः साधुसार्थेन व्रतभांडभृता सह ।
सिद्धिसौख्यमहाभांडं ग्रहीतुं सिद्धिपत्तनम् ।।१३५२।।

सार्थः संस्क्रियमाणोऽसौ भीमां जन्ममहाटवीम् ।
आचार्य सार्थवाहेन महोद्योगेन लंघते ।।१३५३।।

हजार वर्ष कम एक कोटा कोटी सागर प्रमाण कालतक भटकता रहा। पुन सिंहकी पर्यायमें चारणऋद्धिधारी मुनियुगलसे धर्मोपदेश सुनकर सम्यक्त्वको ग्रहण किया और महादुःखदायी मिथ्यात्वका त्याग किया। आगामी कुछ भवोंके अनंतर अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावोर बनकर सिद्धपद पाया। इसप्रकार मरीचिने मिथ्यात्व शल्यके कारण घोर कष्ट सहा।

कथा समाप्त।

आचार्य क्षपक एवं साधु समुदायको महाव्रत आदिका निर्दोष परिपालन करनेके लिये उपदेश दे रहे है उसमे साधुपदकी प्रशसा करते है—

जिनदोक्षा एक वाहन या गाड़ी स्वरूप है जिसमे मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति-रूप चक्र–पहिये लगे हुए है, वह ज्ञानरूपी महा धुरासे युक्त है, समिति रूपी बैलोके द्वारा जो ढोयी जा रही है ऐसी गाड़ीमें क्षपक दर्शनादिको लेकर चढ़ जाता है। महाव्रत-रूपी भांड-मालको जिसने भर लिया है ऐसे साधुजन रूपी सार्थ-व्यापारियोके साथ वह क्षपक सिद्धि–मुक्ति नगरके प्रति प्रस्थान कर देता है, किसलिये प्रस्थान करता है? मुक्ति सुखरूपी महाभाडको–मालको खरीदनेके लिये प्रस्थान करता है। अर्थ यह है कि क्षपक तथा साधुवर्ग महाव्रत समिति और गुप्तियोंका निर्दोष परिपालन करके मोक्षको प्राप्त कर लेते है।।१३५१।।१३५२।।

यह क्षपक एव साधुजन रूपी सार्थ–व्यापारी वर्ग निर्यापक आचार्य रूपी वैश्यपति–व्यापारियोका मुखिया द्वारा संस्क्रियमान–मार्गदर्शन प्राप्त करके अत्यन्त भयावह ऐसी संसाररूपी अटवोको बड़े उद्योगके साथ उल्लघन कर जाता है अर्थात् ससार वनसे निकल जाता है।।१३५३।।

तं भावनामहाभांडं त्रायते भवकानने ।
कषाय व्यालतः सूरिरिंद्रियस्तेनतस्तथा ॥१३५४॥

प्रमादवशतो यातो भ्रष्टो विषयकानने ।
तदीयं व्रतसर्वस्वं लुप्यतेऽक्षमलिम्लुचैः ॥१३५५॥

तमसंयम दंष्ट्राभिः संक्लेशदशनैः शितैः ।
कषायश्वापदाः क्षिप्रं दूरक्षा भक्षयन्ति च ॥१३५६॥

संसार रूपी वनमे भावनारूपी महाभाड—कीमती माल की कषायरूपी जंगली पशुओंसे तथा इन्द्रियरूपी चोरसे आचार्य रक्षा करते हैं ॥१३५४॥

भावार्थ—कोई जगलमें कीमती माल लेकर जा रहा हो तो वहां शेर आदि जंगली जानवर और चोर डाकू उस व्यक्तिके माल को लूट लेते है अत. मालकी रक्षार्थं शस्त्रधारी पुरुष उसके साथ रहते हैं । इसीप्रकार क्षपक एवं साधुजन महाव्रतोके भावनारूपी कीमती मालको लेकर संसारवनसे जा रहे हैं वहा कषाय ही चीते हैं और इन्द्रियरूपी चोर डाकू है उनसे यदि कोई रक्षा कर सकता है तो वह आचार्य ही कर सकता है । आचार्य साधुवर्गको स्वाध्याय ध्यान आदि कार्योंमे नियुक्त करते हैं इसीसे साधुवर्ग कषाय और इन्द्रिय विषयोंसे बचते हैं । साधुके व्रत एव भावनाओंको कषाय और इन्द्रियां ही लूटते है । जब साधुजन स्वाध्याय ध्यानमें संलग्न हो जाते हैं तो कषायभाव और इन्द्रियोंके विषय इनसे दूर रहते है, इसतरह साधुजन ससार वनसे पार हो जाते हैं ।

अवसन्न नामके भ्रष्ट मुनि—

जो साधु विषयरूपी वनमे प्रमादके वशसे मार्गभ्रष्ट हो जाता है उसके व्रत-रूपी सर्वस्व धनको इन्द्रियरूपी चोर लूट लेते है ॥१३५५॥

तथा असंयम रूपी दाढ और संक्लेश रूपी पैने दांतोसे कषाय रूपी दुष्ट श्वापद उस मार्गच्युत साधुको शीघ्र खा जाते हैं इसप्रकार आचार्य रूपी सार्थसे पृथक् हुए साधुकी दशा होती है ॥१३५६॥

जो साधु मुक्ति मार्गमे साथ चलनेवाले सार्थसे छूट जाता है—उसका साथ छोड़कर भ्रष्ट होता है वह अवसन्न क्रिया अर्थात् आवश्यक क्रियाओंमें शिथिलताको

य: साधु:सार्थतो भ्रष्ट: सिद्धिमार्गानुयायिन: ।
सोऽवसन्नक्रिया: साधु: सेवमानोऽस्त्यसंयत: ।।१३५७।।

कषायाक्षगुरुत्वेन तपस्वी सुखभावन: ।
अवसन्नक्रियो भूत्वा सेवते करणालस: ।।१३५८।।

[इति अवसन्न:]

हृषीकतस्करैर्भीमै: कषायश्वापदैरपि ।
विमोच्य नोयते मार्गे साधु: सार्थस्य पार्श्वत: ।।१३५९।।

साधु: सार्थं परित्यज्य नीयमानो महाभयम् ।
सहते दारुणं दु:खं प्राप्तो गौरवकाननम् ।।१३६०।।

शल्यदु:कंटकैर्विद्धा: पतिता दु:खमासते ।
एकाकिनोऽटवीं याता विद्धा वा विषकंटकै: ।।१३६१।।

करता हुआ असंयत बन जाता है । सुखिया जीवन को है इच्छा जिसे ऐसा वह तपस्वी कषाय और इन्द्रियकी अधीनतासे तेरह प्रकारकी क्रियाओमे आलसी हुआ शिथिलाचारका सेवन करता है ।।१३५७।।१३५८।।

पार्श्वस्थ नामके भ्रष्ट मुनि—

इन्द्रिय रूपी भयकर चोर तथा कषायरूपी श्वापदों द्वारा कोई साधु सार्थ—साधुरूपी व्यापारोका साथ छुड़ाकर पार्श्वस्थ मुनिके मार्गमे ले लिया जाता है । अर्थात् इन्द्रिय और कषायके अधीन हुआ साधु सुखिया जीवनमे आसक्त होकर अपने साधर्मी साधुजनोंका साथ छोड़ देता है और स्वच्छन्द होकर पार्श्वस्थ—भ्रष्ट मुनिके पास जाता है—भ्रष्ट मुनिका आचरण करने लगता है ।।१३५९।।

जब वह साधु अपने साधर्मी साधुरूपी सार्थको छोड देता है तब महाभयानक गौरव—ऋद्धि गारव आदि तीन गारवरूपी जगलमे प्रविष्ट हो दारुण दु खको सहन करता है ।।१३६०।।

जो साधु समूहसे गिर गये है अर्थात् जिन्होने निर्दोष साधु समागमको छोड़ दिया है वह शल्य रूपो खोटे कांटोसे विद्ध होते है इसतरह जंगलमे पड़े हुए दु खमे रहते है । जैसे कोई पथिक अकेले जगलमे जाते है तो वहा विषैले कांटोसे विद्ध होते है ।।१३६१।।

साधुः सार्थपथं त्यक्त्वा स पार्श्वे याति संयतः ।
पार्श्वस्थानां क्रियां याति यश्चारित्रविवर्जितः ।।१३६२।।

कषायाक्षगुरुत्वेन पश्यन्वृत्तं तृणं यथा ।
भूत्वानिर्द्धर्मको याति पार्श्वस्थानां सदाक्रियाः ।।१३६३।। (पार्श्वस्थः)

अक्षचोरहताः केचित्कषायव्यालभीतितः ।
उन्मार्गेण पलायंते साधुसार्थस्य दूरतः ।।१३६४।।

ततोऽपथेन धावन्तः कुशीलानां क्रियावने ।
क्लेशस्रोतोभिरुह्यन्ते याताः संज्ञामहानदीः ।।१३६५।।

संज्ञानदीषु ते मग्नाः क्वचिदप्यनवस्थिताः ।
पश्चाज्जन्मोदधिं याति दुःखभीमझषाकुलम् ।।१३६६।।

कोई साधु सार्थ–साधुवर्गके पथको छोडकर पार्श्वस्थके पास जाता है वह चारित्र रहित हुआ पार्श्वस्थ–भ्रष्ट मुनियोंकी क्रियाको करता है ।।१३६२।।

जो भ्रष्ट मुनिकी सगति करता है वह कषाय और इन्द्रियकी तीव्रता रूप भारसे युक्त होनेसे अपना जो महाव्रत रूप चारित्र है उसको तृणके समान तुच्छ मानता हुआ धर्म रहित होकर सदा ही पार्श्वस्थकी क्रियाओंको करता है–भ्रष्ट मुनिका आचरण करता है ।।१३६३।।

कुशील नामके भ्रष्ट मुनि—

कोई-कोई साधुजन इन्द्रिय रूपी चोरोके द्वारा पीटे जाते है तथा कोई कषाय रूपी श्वापदके भयसे साधु सार्थको दूरसे छोडकर तथा सन्मार्ग–रत्नत्रयमार्गको छोड़कर उन्मार्गसे भाग जाते है ।।१३६४।।

कुशीलोके क्रियावनमे खोटे मार्गसे दौड़ते हुए वे मुनि–आहार मैथुन आदि चार संज्ञारूप महानदोमे प्राप्त हुए क्लेश रूपी प्रवाह द्वारा बहाकर लिये जाते है । अर्थात् वे भ्रष्ट मुनि क्लेश रूप नदीमें बह जाते है ।।१३६५।।

जब वे भ्रष्ट मुनि सज्ञारूपी नदीमे डूब जाते है तब वहां कही पर भी स्थिर न रहकर आगे-आगे बहते जाते है और दुःख रूपी भयानक मछलियोसे भरे हुए जन्म-रूपी सागरमें प्रविष्ट हो जाते हैं ।।१३६६।।

दुराशागिरिदुर्गाणि गत्वा दंडशिलोत्करे ।
भ्रष्टाः सन्तश्चिरं कालं गमयंति महाव्यथाः ।।१३६७।।

पापकर्ममहाटव्यां विप्रनष्टाः कदाचन ।
सुखमार्गमपश्यन्तस्तत्रैवायान्ति ते पुनः ।।१३६८।।

साधुसार्थं स दूरेण त्यक्त्वोन्मार्गेण नश्यति ।
क्रिया यांति कुशीलानां या सूत्रे प्रतिदर्शिताः ।।१३६९।।

कषायाक्षगुरुत्वेन वृत्तं पश्यंस्तृणं यथा ।
सेवते ह्रस्वको भूत्वा कुशीलविषयाः क्रियाः ।।१३७०।।

[इति कुशीलः]

केचित्सिद्धिपुरासन्नाः कषायेन्द्रियतस्करैः ।
मुक्तमाना निवर्तंते लुप्तचारित्रसंपदः ।।१३७१।।

वे भ्रष्ट मुनि खोटी आशा रूपी पर्वतके दुर्गम स्थानका उल्लंघन कर दडरूपी निष्ठुर शिला पर गिरते है अर्थात् मन, वचन और शरीरकी असत् प्रवृत्तिमें तत्पर हो जाते है, इसप्रकार चारित्रसे भ्रष्ट होकर चिरकाल तक महादुःखी हो समय व्यतीत करते है ।।१३६७।।

पाप रूपी महा अटवी में दिग्मूढ हुए वे मुनि कदाचित् भी सुखमार्ग—मुक्तिके मार्गको नहीं देखते हुए पुनः—पुनः वही भ्रमण करते है अर्थात् अनतकाल तक ससाररूपी अरण्यमे भटकते हैं ।।१३६८।।

वे भ्रष्ट मुनि साधुसार्थका दूरसे ही त्यागकर उन्मार्गसे जाकर नष्ट होते है, कुशील नामके भ्रष्ट मुनियोकी क्रिया जो सूत्रमें बतायी है उस क्रियाको करने लग जाते हैं ।।१३६९।।

इन्द्रिय और कषायके तीव्र परिणामके कारण अपने चारित्रको तिनकेके बराबर गिनते हुए अत्यंत हीन वे मुनि कुशील सबधी क्रियाका आचरण करते हैं ।।१३७०।।

कुशील नामके भ्रष्ट मुनिका कथन समाप्त ।

कोई मुनि मुक्ति नगरके निकट पहुचकर भी कषाय और इन्द्रिय रूपी चोरोके द्वारा लूट गयी है चारित्ररूपी संपदा जिनकी ऐसे होकर सयमका सन्मान जिनका समाप्त हुआ है वे मिथ्यात्व मे ही लौट आते है ।।१३७१।।

ततः शीलदरिद्रास्ते लभंते दुःखमुल्बणम् ।
बहुभेदपरीवारा निर्द्धना इव सर्वदा: ।।१३७२।।

स सिद्धियायिन: सार्थान्निर्गतः साधुमार्गतः ।
स्वच्छंदस्वेच्छमुत्सूत्रं चारित्रं यः प्रकल्पते ।।१३७३।।

यज्जायते यथाछंदो नितरामपि कुर्वतः ।
वृत्तं न विद्यते तस्य सम्यक्त्वसहचारितः ।।१३७४।।

जिनेंद्रभाषितं तथ्यं कषायाक्षगुरूकृतः ।
प्रमाणीकुरुते वाक्यं यथाछंदो न दुर्मनाः ।।१३७५।।

[इति स्वच्छंद:]

कषायेन्द्रियदोषेण वृत्तात् सामान्य योगतः ।
यः प्रभ्रष्टः परिश्रान्तः स भ्रष्टः साधुसार्थतः ।।१३७६।।

इसप्रकार मिथ्यात्वको प्राप्त हुए वे शील दरिद्री अर्थात् व्रत शीलरूपी धन जिनका नष्ट हो चुका है ऐसे वे भ्रष्ट मुनि संसारके महादुःखको भोगते हैं। जैसे बहुत बड़े परिवार वाले व्यक्ति यदि निर्धन हो तो सर्वदा महादुःखको भोगते हैं ।।१३७२।।

मुक्ति मार्गमे चलनेवाले साधुका साथ छोड़कर जो उस मार्गसे निकल जाते हैं वे स्वच्छन्द हो मनमानी आगम विरुद्ध ऐसे आचरणकी कल्पना करते हैं ।।१३७३।।

जो यथाछंद हो गया है अर्थात् मनचाही प्रवृत्ति कर रहा है और बाहरसे सयमाचरणका दिखावा करता है उसके सम्यक्त्वका साथी ऐसा समीचीन चारित्र नही रहता है ।।१३७४।।

यथा छद नामका यह भ्रष्ट मुनि कषाय और इन्द्रियके भारसे आक्रांत हुआ खोटे मन वाला होता है वह जिनेन्द्र भगवानके द्वारा प्रतिपादित वास्तविक तत्त्ववाक्य को स्वीकार नही करता है ।।१३७५।।

स्वच्छद-यथाछद नामके भ्रष्ट मुनिका कथन समाप्त ।

जो कषाय और इन्द्रियके दोषसे सामान्य रूप ध्यान आदिसे एवं चारित्रसे भ्रष्ट होता है वह अपने आचरणसे परिश्रान्त-च्युत है और साधु सार्थसे भ्रष्ट है अर्थात् साधु समागम छोड़ने वाला है ।।१३७६।।

स्थानानि तानि सर्वाणि कषायाक्षगुरूकृताः ।
संसक्ताः सकलैर्दोषैः केचिद्गच्छन्ति दुर्धियः ।।१३७७।।
इत्येते साधवः पंच निंदिता जिनशासने ।
प्रत्यनीकक्रियारभाः कषायाक्षगुरूकृताः ।।१३७८।।
दुरंताश्चंचला दुष्टा वृत्तसर्वस्वहारिणः ।
दुर्जयाः सन्ति जीवानां कषायेन्द्रिय तस्कराः ।।१३७९।।

छद-शालिनी—

छिद्रापेक्षाः सेव्यमाना विभीमा नो पार्श्वस्थाः कस्य कुर्वन्ति दुःखम् ।
क्रोधाविष्टाः पन्नगा वा द्विजिह्वाः विज्ञायेत्थं दूरतो वर्जनीयाः ।।१३८०।।

छद-तोटक —

तृणतुल्यमवेत्य विशिष्टफल परिमुच्य चरित्रमपास्तमलम् ।
बहुदोषकषायहृषीकवशा निवसन्ति चिरं कुगतावबशाः ।।१३८१।।

।। इति संसक्ता ।।

कोई कुबुद्धि मुनि कषाय और इन्द्रियविषयके तीव्र परिणामके द्वारा निर्मित हुए सपूर्ण अशुभ स्थानोको प्राप्त होते है, इसतरह सपूर्ण दोषोसे वे युक्त होते हैं ।।१३७७।।

इसप्रकार ये पांच अवसन्न, पार्श्वस्थ, कुशील, यथाछद और ससक्त मुनि जिनशासनमें निंदनीय माने जाते है, क्योकि ये सभी साधु पदके विरुद्ध ऐसे आचरणोके करनेवाले होते है तथा सदा ही कषाय भाव एव इन्द्रियोके विषयोमे आसक्त रहते है ।।१३७८।।

इन्द्रिय और कषाय रूपी चोर जीवोके लिये अत्यंत दुर्जय है, ये खोटा अंत करानेवाले है, चचल है, दुष्ट है और चारित्र रूपी धनका अपहरण करने वाले हैं ।।१३७९।।

ये पार्श्वस्थादि भ्रष्ट मुनि छिद्र-दोषोको ढूंढनेवाले है, भयानक है, जो इनकी सगति करता है उनमें किसको दुःख नही देते ? सबको दुःख देते हैं ये मुनि तो क्रोधित सर्पके समान या दुमुहोके समान है ऐसा जानकर दूरसे छोड़ने योग्य है ।।१३८०।।

विशिष्ट फलदायक ऐसे निर्दोष चारित्रको तिनके के समान गिनकर ये भ्रष्ट मुनि उसको छोड़ देते हैं और बहुत बड़े दोषोके कारण स्वरूप कषाय और इन्द्रियोंके

कश्चिद्दीक्षामुपेतोऽपि कषायाक्षं निषेवते ।
तैलमागुरवं बस्तः प्रतिबाति पिबन्नपि ॥१३८२॥

मुक्त्वापि कश्चन ग्रंथं कषायाक्षं न मुंचति ।
हित्वापि कंचुकं सर्पो विजहाति विषं नहि ॥१३८३॥

दीक्षितोप्यधमः कश्चित्कषायाक्षं चिकीर्षति ।
शूकरः शोभनैः रत्नैर्मलं तृप्तोऽपि कांक्षति ॥१३८४॥

आधीन होते हैं इसतरह खोटे भावके परवश हुए कुगतिमें चिरकाल तक निवास करते हैं ॥१३८१॥

कोई साधु जिनदीक्षा को धारण करके भी कषाय और इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करता है, ठीक ही है । देखो ! अगुरु चंदनका अत्यत सुगंधित तेलको पीता हुआ भी बकरा दुर्गंधको ही छोडता है । अर्थात् जैसे बकरा सुगंधित तेल पी लेवे तो भी दुर्गंधीको ही छोड़ता है—उसके शरीरसे दुर्गंध ही आती है, वैसे कोई दीक्षा रूपी सुगंधिसे संयुक्त होकर भी कषाय और इन्द्रियविषयरूपी दुर्गंधका ही सेवन करता है, उस दुर्गंधको नही छोड़ता ॥१३८२॥

कोई पुरुष परिग्रहका त्याग करके भी कषाय और पंचेन्द्रियोंके विषयोंको नहीं छोड़ पाता, जैसे कि सर्प कांचलो को छोड़ देता है किन्तु विषको नहीं छोड़ता ॥१३८३॥
कोई नीच व्यक्ति दीक्षित होकर भी कषायभाव इन्द्रिय भोगोकी इच्छा करता है वह पुरुष वैसा है जैसा कि शूकर सुन्दर रत्न—उत्कृष्ट भोजन द्वारा तृप्त होनेपर भी मलकी इच्छा करता है ॥१३८४॥

भाव यह है कि शूकर को हमेशा विष्ठा भक्षण का अभ्यास रहता है वह कदाचित् अच्छे पदार्थ को खाकर तृप्त भी हुआ हो तो विष्ठा को देखकर उसको खाने की इच्छा करता है, खाता है, खानेके लिये दौड़ता है, वैसे गृहस्थ अवस्था में रागद्वेष मत्सर आदि भाव एवं मनोहर भोजन वस्त्र आदि का सेवन करने का अभ्यास रहता है अतः दीक्षित होनेपर भी कदाचित् कोई अधम व्यक्ति उन्ही कषाय और विषयों को चाहता है ।

विहाय हरिणो यूथं व्याधभीतः पलायितः ।
स्वयं पुनर्यथा याति वागुरां यूथतृष्णया ।।१३८५।।

आरामे विचरन्स्वेच्छं पतत्री पंजरच्युतः ।
यथा याति पुनर्मूढः पंजरं नीडतृष्णया ।।१३८६।।

उत्तारितः करींद्रेण पंकतः कलभो यथा ।
स्वयमेव पुनः पंकं प्रयाति जलतृष्णया ।।१३८७।।

उड्डीय शाखिनः पक्षी सर्वतो वन्हिवेष्टितात् ।
तत्रैव नीडलोभेन यथा याति पुनः स्वयम् ।।१३८८।।

लंघ्यमानोऽहिना सुप्तो जाग्रतोत्थापितो यथा ।
कौतुकेन तमादातुं कश्चिदिच्छति मूढधीः ।।१३८९।।

स्वयमेवाशनं वांतं निर्लज्जो निर्घृणाशयः ।
सारमेयो यथाश्नाति कृपणोऽशनतृष्णया ।।१३९०।।

अब आगे यह बतलाते हैं कि जो कोई पुरुष गुरुके उपदेश से या स्वयं के भावसे ससार भोग धन परिवार रागभाव आदिका त्याग करके पुन उन्ही धन भोग कषाय आदिको चाहता है उनका सेवन करता है वह पुरुष कैसा है—

जैसे कोई हिरण शिकारीके भयसे अपने झुडको छोड़कर भाग जाता है और पुनः अपने उसी झुडको पानेकी तृष्णासे शिकारीके जालमे स्वयं फँसता है ।।१३८५।। जैसे कोई पक्षी पिंजरेसे छूटकर उद्यानमे स्वच्छद उड़ रहा है और घोसलेमें रहनेकी इच्छा करता हुआ वह मूढ उसी पिंजरेमें पुनः आकर फँस जाता है ।।१३८६।। जैसे हाथीका बच्चा कीचड़मे फँसा था उसको हाथीने कीचडसे निकाल लिया है किन्तु जल पीनेकी वांछासे पुनः स्वय कीचडमे जाकर फँसता है ।।१३८७।। जैसे कोई पक्षी चारो ओरसे जिसमें अग्नि लगी है ऐसे वृक्षसे उडकर घोसलेके लोभसे पुनः उसी वृक्षपर स्वय आजाता है ।।१३८८।। जैसे कोई मूढ बुद्धि पुरुष है वह सो रहा था उसको सर्प लांघ रहा था उस वक्त किसीने उसको जगाकर उठा दिया किन्तु वह कौतुकसे उस सर्पको पकड़ना चाहता है ।।१३८९।। जैसे कोई निर्लज्ज और ग्लानिरहित कृपण और कुत्ता स्वयमे वमन किये गये भोजनको भोजनकी लालसासे खाता है ।।१३९०।। वैसे

गृहवासं तथा त्यक्त्वा कश्चिद्दोषशताकुलं ।
कषायेन्द्रियदोषार्तो याति तं भोगतृष्णया ।।१३९१।।
बंधमुक्तः पुनर्बंधं निश्चितं स यियासति ।
यो दीक्षितः कषायाक्षान्सिषेवयिषेत कुधीः ।।१३९२।।

ही कोई पुरुष सैकड़ों दोषोंसे भरे हुए गृहवासको छोड़कर कषाय और इन्द्रियविषयसे पीड़ित हुआ भोगोंको लालसासे पुनः उसी गृहवासको प्राप्त करता है। अर्थात् गृह परिग्रह आदिका त्यागकर पुन. उसीको चाहने लगता है, ग्रहण करता है, गृहीत चारित्रसे भ्रष्ट हो जाता है ।।१३९१।।

विशेषार्थ—यहांपर आचार्यने गृहवासको सैकड़ों दोषोंसे युक्त कहा है, सो उन दोषोंका कुछ वर्णन करते हैं—

गृहावास ममत्वका "यह मेरा है, इसप्रकार भावका अधिष्ठान है आशा रूपी पिशाचीके आधीनता गृहवासमे अवश्य होती है अर्थात् यह मिल जाय अमुक कार्य हो जाय इसप्रकारकी आशाये घरमें रहनेवाले गृहस्थ को होती ही रहती है। जीवनयापनके लिये सतत् कृषि व्यापार आदि करते रहनेसे क्लेश होता है। पृथिवीकायिक आदि षट्काय जीवोंकी विराधना होनेसे महान् पाप सचय होता है। दुर्यशसे अर्थात् परिवार में कोई दुराचार आदि करे तो उससे दुर्यश होता है अतः गृहावास मलिनताका कारण है। विपत्तियां सदा गृहीको घेरी रहती है। इसका उपकार करना और इसका नहीं इसतरह सदा चित्तमे अहंकार भाव बना रहता है धनका उपार्जन, रक्षण और व्ययमें लगे रहनेसे सार असारका विचार करनेकी बुद्धि गृहस्थके प्रायः नष्ट हो जाती है। प्रिय वियोग और अप्रियका संयोग होता रहनेसे शोकाग्निको ज्वालासे वह तप्तायमान रहता है। इच्छित पदार्थकी प्राप्तिके अभावमे दुःख संताप होता है। इसीप्रकार अन्य अन्य बहुतसे दोष जो वचनके अगोचर है वे गृहावासमें हुआ करते है।

जो साधु दोक्षित होकर भी कषाय और इन्द्रियोंके विषयोका सेवन करनेकी इच्छा करता है वह दुर्बुद्धि निश्चित हो, बंधन मुक्त होकर पुनः बंधनमें पड़ना चाहता है ऐसा मानना चाहिये ।।१३९२।।

यदि साधु दीक्षित होकर भी कषाय और इन्द्रिय विषयरूपी कलहको चाहता है तो समझना चाहिये कि वह कलहका त्यागकर पुनः उसी कलहको स्वीकार करता

दीक्षित्वापि पुनः साधुः कषायाक्षकलिं यदि ।
जिघृक्षति कलिं मुक्त्वा पुनः स्वीकुरुते कलिम् ।।१३६३।।
विधाय ज्वलितं हस्ते मुर्मुरं स बुभुक्षते ।
आक्रामति स कृष्णाहिं व्याघ्रं स्पृशति सक्षुधं ।।१३६४।।
कंठालग्नशिलोऽगाधं सोऽज्ञानो गाहते ह्रदम् ।
अबलो वापि यो दीक्षां कषायाक्षं प्रपद्यते ।।१३६५।।
गृहीतोऽक्षग्रहाघ्रातो नापरो ग्रहपीडितः ।
अक्षयः स सदा दोषं विदधाति कदाग्रहः ।।१३६६।।
कषायमत्त उन्मत्तः पित्तोन्मत्तोऽपि नो पुनः ।
प्रथमः कुरुते पापं द्वितीयो न तथा स्फुटम् ।।१३६७।।
कषायाक्षपिशाचेन पिशाचीक्रियते जनः ।
जनानां प्रेक्षणीभूतस्तीव्रपापक्रियोद्यतः ।।१३६८।।

है क्योंकि कषाय और इन्द्रिय विषयोके कारण ही जगत्मे कलह हुआ करते हैं ।।१३६३।।

जो साधु दीक्षित होकर कषाय और इन्द्रिय विषयरूप परिणामको स्वीकार करता है वह जलते अंगारेको हाथमे लेकर खानेकी इच्छा करता है अथवा काले नाग को लांघता है या भूखे व्याघ्रका स्पर्श करता है ।।१३६४।। जैसे कोई अज्ञानी कंठमे शिलाको बांधकर अगाध सरोवरमें प्रवेश करता है, वैसे जो निर्बल दीक्षाको लेकर पुनः इन्द्रिय और कषायको अधीनताको प्राप्त करता है ।।१३६५।।

जो इन्द्रियरूपी ग्रहसे पीड़ित है वास्तवमे वही ग्रह (शनि आदि) से पीड़ित है ऐसा समझना चाहिये, दूसरा कोई ग्रह पीडित नही है क्योंकि इन्द्रिय रूपी ग्रह सतत् भव-भवमे दोषका करता है, शनि आदि ग्रह कदाचित् ही दोष करते है ।।१३६६।।

जो कषायोसे मत्त हो रहा है वही व्यक्ति वास्तवमे उन्मत्त (पागल) है, पित्त से उन्मत्त हुएको उन्मत्त नही मानना चाहिये क्योकि जो कषायसे उन्मत्त है वही पाप करता है जो पित्त ज्वरसे उन्मत्त है वह पाप नही करता है ।।१३६७।।

कषाय और इन्द्रियरूपी पिशाच द्वारा यह मनुष्य पिशाचरूप ही किया जाता है । पिशाच तो अदृश्य होकर कुचेष्टा कराता है और कषाय इन्द्रियरूपी पिशाच

संयतस्य कुलीनस्य योगिनो मरणं वरम् ।
लोकद्वयसुखध्वंसि न कषायाक्षपोषणम् ॥१३९९॥

निद्यते संयतः सर्वैः कषायाक्षवशंगतः ।
सन्नद्धो धृतकोदंडो नश्यन्निव रणांगणे ॥१४००॥

कषायाक्षवशस्थायी दूष्यते कैर्न संयतः ।
याचमानो यथा भिक्षां भूषितो मुकुटादिभिः ॥१४०१॥

सर्वांगीणमलालीढो नग्नो मुंडो महातपाः ।
जायते सकषायाक्षश्चित्रश्रमणसन्निभः ॥१४०२॥

जिसको लगा है वह लोगोके देखने योग्य कुचेष्टा–तीव्र पाप क्रिया को करता है ॥१३९८॥

जो कुलवान संयमी साधु है उसको मरण स्वीकार करना श्रेष्ठ है किन्तु इस लोक और परलोकके सुखका नाश करनेवाले कषाय और इन्द्रियोंका पोषण उसे कभी नही करना चाहिये ॥१३९९॥

जो साधु इन्द्रिय और कषायोंके वशमें हो गया है वह सभीके द्वारा निंदनीय हो जाता है, जैसे कोई भट हाथमें धनुष लेकर युद्धके लिये तैयार हुआ है और रणांगण में पहुंचकर भागने लगता है तो वह सभीके द्वारा निंदनीय होता है ॥१४००॥

कषाय और इन्द्रियोके वशमें रहनेवाला संयमी किनके द्वारा दूषित नही होता ? सबके द्वारा दूषित होता है । जिसप्रकार कि मुकुटहार आदि आभूषणोंसे भूषित–सजा हुआ पुरुष भिक्षाको मांगने लगे तो सबके द्वारा दूषित होता है, सबकी हँसीका पात्र होता है । वैसे कषायके अधीन हुआ साधु हँसीका पात्र है निंद्य है ॥१४०१॥

अस्नान व्रतके कारण जिसके सर्वांगमें मल लिप्त है वस्त्रमात्रका त्याग होनेसे नग्न है, केश-लोच करनेसे मुंड है, अनशन आदि महातपको करता है ऐसा साधु भी कषाय और इन्द्रिय विषय युक्त होनेसे चित्रामके साधुके समान तुच्छ–गुण रहित ही माना जाता है अर्थात् जैसे चित्रामका मुनि वास्तविक मुनि नही है वैसे कषाय आदिसे युक्त मुनि वास्तविक मुनि नहीं है ॥१४०२॥

ज्ञानदोषविनाशाय　　कषायेंद्रियनिर्जयः ।
शस्त्रं शत्रुविघाताय जायते सत्वसंभवे ।।१४०३।।

दोषाय जायते ज्ञानं कषायेंद्रियदूषितम् ।
आहारो हरते किं न जीवितं विषमिश्रितम् ।।१४०४।।

विदधाति गुणं ज्ञानं कषायेंद्रियवर्जितम् ।
वपुर्योग्यं करोत्यन्नं बलवर्णादिसुंदरम् ।।१४०५।।

कषायेंद्रियदोषेण ज्ञानं नाशयते गुणं ।
शस्त्रमात्मविनाशाय किन्न भीरुकरस्थितम् ।।१४०६।।

कषायेंद्रियदोषार्तः　शास्त्रज्ञोऽप्यवमन्यते ।
किं प्रेतः शस्त्रहस्तोऽपि न खगैः परिभूयते ।।१४०७।।

कषाय और इन्द्रियोंके विषय जीतनेपर ज्ञान दोषोका नाश करनेमे (कर्मोंका नाश करनेमें) समर्थ होता है, जैसे सत्त्व-धैर्य होनेपर ही शस्त्र, तलवार, धनुष आदि शत्रुका नाश करनेमे समर्थ होते हैं ।।१४०३।।

जो ज्ञान कषाय और इन्द्रियोंसे दूषित है वह दोषोंके लिये कारण बनता (कर्म बंधरूप दोषका कारण) है, क्या विष मिश्रित आहार जीवनका नाश नही करता ? करता ही है । इसीप्रकार कषाय आदिसे युक्त ज्ञान दोषका ही कारण है । आहार यद्यपि जीवनका मुख्य साधन है किन्तु विषयुक्त आहार जीवनके विपरीत मरण का कारण होता है, वैसे ज्ञान गुणोंका कारण है उपकारक है किन्तु कषायादिसे युक्त होकर उल्टे दोषोंका कारण होता है ।।१४०४।।

कषाय और इन्द्रियोसे रहित जो ज्ञान है वह गुणको करता है, जैसे योग्य आहार अर्थात् विषादिसे रहित आहार शरीरको बल, रूप, लावण्य आदिसे युक्त करता है ।।१४०५।।

कषाय और इन्द्रियोके दोषसे ज्ञान गुणको नष्ट कर डालता है । ठीक ही है डरपोक आदमीके हाथमे आया हुआ शस्त्र क्या खुदके नाशके लिये नही होता ? होता ही हैं ।।१४०६।।

कषाय और इन्द्रियोंके दोषसे युक्त पुरुष शास्त्रोका अच्छी तरहसे जानने-वाला हो तो भी लोगो द्वारा अवमान्य-तिरस्कृत होता है, शस्त्रयुक्त भी शव हो तो

वृत्ते नाक्षकषायार्त्तः श्रुतज्ञोऽपि प्रवर्तते ।
उड्डीयते कुतः पक्षी लूनपक्षः कदाचन ॥१४०८॥

स्रंसते बह्वपि ज्ञानं कषायेंद्रियदूषितम् ।
सशर्करमपि क्षीरं सविषं मंक्षु नश्यति ॥१४०९॥

ज्ञानं परोपकाराय कषायेंद्रिय दूषितम् ।
किमूढमुपकाराय रासभस्य हि चंदनम् ॥१४१०॥

कषायाक्षगृहीतस्य न विज्ञानं प्रकाशते ।
निमीलितेक्षणस्येव दीपः प्रज्वलितो निशि ॥१४११॥

क्या वह गीध आदि पक्षियो द्वारा तिरस्कृत नही होता है ? अर्थात् कोई शव–मुर्दा है और उसके हाथमे तलवार है किन्तु उस तलवारसे पक्षी नही डरते है उसको खाते ही हैं, वैसे कोई शास्त्रज्ञ तो है किन्तु कषाय और इन्द्रियोके आधीन है तो उसे कोई नही मानता है ॥१४०७॥

इन्द्रिय और कषायसे पीड़ित पुरुष शास्त्रज्ञ होकर भी चारित्रमें प्रवृत्ति नहीं करता । ठीक है ! जिसके पख कटे हैं ऐसा पक्षी क्या कभी आकाशमें उड़ सकता है ? ॥१४०८॥

बहुत सारा ज्ञान है किन्तु वह कषाय और इन्द्रियोसे दूषित है तो नष्ट हो जाता है, जैसे मिश्री सहित भी दूध हं किन्तु विष मिश्रित है तो वह शीघ्र ही नष्ट होता है ॥१४०९॥

कषाय और इन्द्रियोंसे दूषित हुआ ज्ञान केवल परोपकारके लिये है, जैसे गधे के द्वारा ढोया गया चदन खुदके उपकारके लिये होता है क्या ? नही होता । अर्थात् गधा चदनका भार ढोता है तो उसको चंदनकी सुगंधिका ज्ञान नही होनेसे खुदको कुछ भी लाभ नही है । उसीप्रकार बहुतसे शास्त्रोंका ज्ञान है किन्तु कषायादिसे युक्त है वह ज्ञान अपने खुद आत्माके लिये कुछ भी हितकारी नही है, उस ज्ञानसे अन्य व्यक्ति भले ही कुछ आत्म बोध कर लेवे किन्तु कषाय होनेसे खुदका हित नही हो पाता ॥१४१०॥

कषाय और इन्द्रियोके विषयोसे युक्त पुरुषका ज्ञान पदार्थोंके स्वरूपको प्रकाशित नही करता, जैसे रात्रिमे दीपक जल रहा है किन्तु जिसने नेत्र बंद कर रखे हैं उसको वह पदार्थोंको दिखानेमें समर्थ नहीं होता है ॥१४११॥

बहिर्निभृतवेषेण गृह्णीते विषयान्सदा ।
अंतरमलिनः कंको मीनानिव दुराशयः ।।१४१२।।

घोटकोच्चारतुल्यस्य किमन्तः कुथितात्मनः ।
दुष्टस्य बकचेष्टस्य करिष्यति बहिः क्रिया ।।१४१३।।

मता बहिः क्रियाशुद्धिरन्तर्मलविशुद्धये ।
बहिर्मलक्षयेनैव तंदुलोऽन्तर्विशोध्यते ।।१४१४।।

अंतः शुद्धौ बहिः शुद्धिर्निश्चिता जायते यतः ।
बाह्यं हि कुरुते दोषमन्तर्दोषं विना कुतः ।।१४१५।।

कषाय और इन्द्रियके वश हुआ साधु बाहरमे नग्न दिगंबर वेशयुक्त होता है किन्तु उसका वह वेश छलभरा है, उस छल वेष द्वारा वह सदा विषयोंको ग्रहण करता है । वह अदरमें तो कषायसे मलिन है । जैसे बगुला बाहरसे सफेद है किन्तु अदरमें मलिन खाटे अभिप्राय युक्त हो मछलियोको ग्रहण करता है–खाता है ।।१४१२।।

जैसे घोड़ेकी लीद बाहरसे चिकनी और अंदर गंदी सड़ी रहती है, उससे क्या लाभ ! वैसे जो साधु दुष्ट और बगुलेके समान चेष्टा करता है उसकी बाहरी प्रतिक्रमण आदि क्रियाये क्या करेगी ? कुछ भी नहीं । भाव यह है कि बगुला बाहरमें सफेद है किन्तु मछली खाता है वैसे कोई साधु बाहरमे कुछ क्रियाये प्रतिक्रमण आदिको करे किन्तु कषायादिसे अंदरमें मलिन है तो उसकी वह क्रिया कुछ भी कार्यकारी नही है ।।१४१३ ।

अतरंग मलकी विशुद्धिके लिये बाह्य क्रियाशुद्धि उपयोगी मानी जाती है । किन्तु केवल बाह्य क्रिया शुद्धिमे कार्य नहीं होता जैसे चावलका केवल बाहरका छिलका निकल जाय तो उतने मात्रसे वह शुद्ध नही माना जाता । अर्थात् चावलकी शुद्धि करने के लिये बाह्य तुष और अंदरकी ललाई दोनो निकालने होते है ।

उसमे क्रम यह है कि पहले बाह्य तुष निकालते हैं और फिर अंदरकी लालिमा निकालते है । ऐसे ही साधुओंकी बाह्य क्रिया शुद्धि अनशन आदि है और अतरंग शुद्धि विनयादि एवं कषायरहित भाव आदि हैं । क्रमसे प्रथम बाह्य क्रिया शुद्धि होती है पुनः अंतरग शुद्धि । यदि अंतरंगकी शुद्धि नही है तो बाह्य क्रिया शुद्धि व्यर्थ है ।।१४१४।।

बहिः शुद्धिर्यतो लिंगमन्तः शुद्धेः प्रजायते ।
नांतः कोपविमुक्तेन भृकुटिः क्रियते बहिः ।।१४१६।।

छंद–इन्द्रवज्रा—

यत्र प्रयान्ति स्थिति जन्मवृद्धीस्तद्दह्यते यैर्हृदयं कषायैः ।
काष्ठं हुताशैरिव तीव्रतापैस्ते कस्य कुर्वन्ति न दुःखमुग्रम् ।।१४१७।।

छंद–शालिनी—

यैः पोष्यंते दुःखदानप्रवीणास्तेषां पीडां ये ददन्ते दुरन्ताम् ।
भीमाकारा व्याधयो वा प्ररूढाः संत्यक्षार्थाः कस्य ते न क्षयाय ।।१४१८।।

।। इति सामान्याक्ष कषाय दोषाः ।।

ये रामाकामभोगानां प्रपंचेन निरूपिताः ।
अक्षाणामपि ते दोषा द्रष्टव्याः सकलाः स्फुटम् ।।१४१९।।

अंतरग शुद्धि होनेपर नियमसे बाह्य शुद्धि होती है क्योंकि भीतरमें दोष हुए बिना बाहरमें दोष कहांसे करेगा ? अर्थात् अंदरमे कषायभाव होगा तो बाहरमें असत्य भाषण आदि दोष करेगा अन्यथा नही । इसलिये अंतरंग परिणाम निर्मल करना चाहिये ।।१४१५।।

क्योकि अदरकी शुद्धिकी पहिचान बाह्य शुद्धि है जो अंतरंगमें कोपसे रहित है वह पुरुष बाहरमे भौह टेढ़ी नही करता है ।।१४१६।।

जहांपर संसारकी स्थिति और जन्मकी वृद्धि होती है, जिन कषायोके द्वारा हृदय ऐसा सतप्त किया जाता है जैसे कि तीव्र ताप वाले अग्निके द्वारा काष्ट संतप्त किया जाता है । ऐसी ये कषाये किसको भयंकर दुःख नही देती ? सबको ही दुःख कारक है ।।१४१७।।

दु ख देनेमे प्रवीण ऐसे अशुभ कर्म जिनके द्वारा पुष्ट किये जाते हैं, उन अशुभ कर्मको करनेवाले व्यक्तियोंको जो दुरंत पीड़ा पहुचाते हैं । जो उत्पन्न हुए भयंकर रोगों के समान है वे इन्द्रियोके विषय किसका नाश नही करते ? सबका नाश करते है ।।१४१८।। जो पहले स्त्री और काम भोगोके दोष कहे है वे सब ही दोष इन्द्रियोंके विषयोंमें होते है ऐसा निश्चय करना चाहिये ।।१४१९।।

मधुलिप्तामसेर्धारां तीक्ष्णां लेढि स मूढधीः ।
इंद्रियार्थं सुखं भुंक्ते यो लोकद्वयदुःखदं ।।१४२०।।

रूपशब्दरसस्पर्शगंधासक्ता यथाक्रमम् ।
पतंगमृगमीनेभभ्रमराः प्रलयं गताः ।।१४२१।।

रूपशब्दरसस्पर्शगंधानां यदि हन्यते ।
एकैकेन तदा कस्य सौख्यं पंच निषेविणाम् ।।१४२२।।

इसप्रकार सामान्य रूपसे इन्द्रिय और कषायोंके दोष कहे है ।

अब विशेष रूपसे इन्द्रियके दोष दस श्लोको द्वारा कहते है—

वह मूर्खबुद्धि तलवारकी शहद लिपटी पैनोधारको चाटता है जो कि इस लोक और परलोकमें दुःखदायी ऐसे इन्द्रियोंके विषयोंको सुख मानकर भोगता है । शहद लिपटी तलवारको चाटनेवाला जैसे तत्काल किंचित् मीठेका सुख अनुभव करता है किन्तु जीभ कटनेपर महादुःख ही पाता है वैसे इन्द्रियोंके भोग किंचित् सुखकर प्रतीत होते हैं किन्तु वे उभयलोकमे दुःखदायी ही होते है ।।१४२०।।

दीपकका चमकीला रूप देखनेमें आसक्त पतंग जलकर नष्ट होता है इसीप्रकार यथाक्रमसे शब्द, रस, स्पर्श और गंधमे आसक्त हुए मृग, मीन, हाथी और भ्रमर ये नाशको प्राप्त होते हैं ।।१४२१।।

भावार्थ—व्याधके बासुरीका मधुर शब्द सुनकर हिरण उसके जालमें फसकर नष्ट होते है । धीवरके जालमे लगे हुए खाद्यमे आसक्त हुई मछलियां उसी जालमे फसकर मर जाती है । सल्लकी वनमें स्वच्छद विचरण करनेवाला हाथी नकली हथिनी का स्पर्श करनेका इच्छुक होता हुआ गर्त्तमे गिरकर भूख-प्यास आदिका महादुःख भोगता हुआ नकली हथिनीको बनानेवाले व्यक्तिके वशमे आ जाता है । कमलकी सुगधिमे आसक्त भ्रमर उसी कमलमे बद होकर मर जाता है ।

जब रूप, शब्द, रस, स्पर्श और गध इन पाच विषयोमे से एक-एक विषयका सेवन करनेसे ये पतग आदि प्राणी नष्ट हो जाते है तो फिर पाचों ही इन्द्रिय विषयोका सेवन करने वालोको कौनसा सुख होगा ? अर्थात् उन जीवोको सुख अल्प भी नही होगा उल्टे महादुःख ही होता है ।।१४२२।।

सरय्वां गंधमित्राख्यो घ्राणेंद्रियवशं गतः ।
विषप्रसूनमाघ्राय विपद्य नरकं गतः ।।१४२३।।

मूर्च्छिता पाटलीपुत्रे श्रव्यपंचालगीतितः ।
मृता गंधर्वदत्तापि प्रासादात्पतिता सती ।।१४२४।।

गंधमित्र नामका राजा एक घ्राणेन्द्रिय मात्रके वशमें होकर विषैले पुष्पको सूंघकर सरयू नदीमे मरकर नरकमे गया था ।।१४२३।।

गंधमित्र की कथा—

अयोध्याके नरेश विजयसेनके दो पुत्र थे, जयसेन और गंधमित्र । एक दिन राजाने बड़े पुत्र जयसेनको राजा एवं छोटे पुत्रको युवराजका पद दिया और स्वय मुनि दीक्षा लेकर वनमे चले गये । गंधमित्रको युवराजपद अच्छा नही लगा, उस अन्यायीने अनेक कूटनीति द्वारा जयसेनको राज्यसे च्युत कर दिया । इससे जयसेन भी कुपित हुआ और गधमित्रको मारनेका विचार करने लगा । गंधमित्र विविध प्रकारके फूलोंको सूंघनेमें सदा आसक्त रहता था । एक दिन रानियोंके साथ वह सरयू नदीमे जलक्रीड़ा कर रहा था । जयसेनने मौका पाकर नदीके प्रवाहमे ऊपरकी ओरसे भयकर विष जिनमे छिडका गया है ऐसे फूलोंको छोड़ दिया । गंधमित्रने उन फूलोको सूंघा, उससे वह तत्काल प्राण रहित हुआ और घ्राणेन्द्रियके विषय सुगंधिकी आसक्तिके कारण नरकगतिमें उत्पन्न हुआ ।

इसप्रकार एक घ्राणेन्द्रियके विषयके दोषसे राजा महादु:खको प्राप्त हुआ था ।

कथा समाप्त ।

पाटलीपुत्र नगरीमे पचाल नामके गायनाचार्यके मधुर गीतसे मोहित हुई गंधर्वदत्ता नामकी स्त्री महलसे गिरकर मर गयी थी ।।१४२४।।

गंधर्वदत्ता की कथा—

पाटलीपुत्रके नरेशकी गंधर्वदत्ता नामकी अनिद्य सुंदरी राजकन्या थी वह गान विद्यामे महानिपुण थी उसने प्रतिज्ञा की कि जो मुझे गायन कलामे जीतेगा उसे मैं वरूंगी । बहुतसे राजकुमार उसकी सुंदरतासे आकृष्ट होकर आये किन्तु कोई उस कन्याको जीत नही सका । एक दिन बहुत दूर देशसे एक गान विद्याका पंडित पंचाल

मर्त्यमांसरसासक्तः कांपिल्यनगराधिपः ।
राज्यभ्रष्टो मृतः प्राप्तो भीमः श्वभ्रमुरुव्यथाम् ।।१४२५।।

नामका संगीताचार्य अपने पांचसौ शिष्योंके साथ उस नगरीमें आया । राजकन्याकी प्रतिज्ञासे वह परिचित हुआ । उसने राजासे कहा कि आपकी कन्या गान विद्यामे चतुर है मैं भी इस विद्यासे परिचित हूं । मैं आपकी पुत्रीका गीत-सगीत सुननेका इच्छुक हू । इसतरहकी युक्तिसे उसने गंधर्वदत्ताके महलके पास अपना निवास स्थान प्राप्त किया । मध्य रात्रिके अनंतर शांत वातावरणमें वीणाके झंकारके साथ उसने सुमधुर गान प्रारंभ किया । गधर्वदत्ता गहरी नीदमे सो रही थी, धीरे-धीरे उसके कर्ण प्रदेशमे संगीतकी लहरिया पहुची और सहसा वह उठी । संगीतकी ध्वनिने उसको ऐसा आकृष्ट किया कि वह बेभान हो जिधरसे वह मधुर शब्द आरहा था, उधर दौड़कर जाने लगी और उसका पैर चूक जानेसे महलसे गिरकर मृत्युको प्राप्त हुई ।

गधर्वदत्ता की कथा समाप्त ।

कांपिल्य नगरका राजा भीम मनुष्यके मांसरसका भक्षक बनकर राज्यसे भ्रष्ट हुआ और मरकर नरकको महा वेदनाको प्राप्त हुआ था ।।१४२५।।

भीम राजाकी कथा—

कांपिल्य नगरका शासक राजा भीम था वह दुर्बुद्धि मांस भक्षी होगया । नदीश्वर पर्वमे उसे मासका भोजन नही मिला तो उसने रसोइयेको कहा कि कहीसे मांस लाओ । रसोइया इधर—उधर खोजकर जब मांसको नही प्राप्त कर सका तो श्मशानसे मरे बालकको लाकर उसका मांस राजाको खिलाया । राजा तबसे नरमांसका लोलुपी होगया । रसोइया उसके लिये गली—गलीमे घूमकर छोटे—छोटे बच्चोको कुछ मिठाई देकर इकट्ठा करता और छलसे एक बालकको पकडकर मार देता था और उसका मांस राजाको खिलाता । नगरमे चद दिनो बाद इस कुकृत्यका भडाफोड़ हुआ और नागरिकोंने राजा तथा रसोइयेको देशसे निकाल दिया । दोनों पापी जगलमे घूमने लगे । राजाने भूखसे पीड़ित हो रसोईयेको मारकर खा लिया । अंतमे वह पापी नरभक्षक वासुदेव द्वारा मारा गया और अपने पापका फल भोगनेके लिये नरकमे पहुचा ।

कथा समाप्त ।

सुवेगस्तस्करी दीनो रामारूपविषक्तधीः ।
बाणविद्धेक्षणो मृत्वा प्रपेदे नारकीं पुरीम् ।।१४२६।।

सुवेग नामका चोर स्त्रियोंके मनोहर रूप देखनेमें आसक्त होकर बाणोंसे विद्ध होकर मर गया और नारक पुरीको प्राप्त हुआ था ।।१४२६।।

सुवेग चोरकी कथा—

मद्दिल नामके नगरमे एक भर्तृमित्र नामका श्रेष्ठी पुत्र रहता था, उसकी पत्नीका नाम देवदत्ता था । वसंत ऋतुका समय था सेठ भर्तृमित्र अपने अनेक मित्रोंके साथ वसतोत्सवके लिये वनमें गया था । वहांपर वसंतसेन नामके मित्रने बाण द्वारा आम्र मजरीको तोडकर अपनी पत्नीके कर्णाभूषण पहनाये उसे देखकर देवदत्ताने अपने पति भर्तृमित्रसे कहा—हे प्राणनाथ ! आप भी बाण द्वारा मजरी तोडकर मुझे दीजिये । भर्तृमित्रको बाण विद्या नही आती थी अत वह उसे मंजरी नही दे सका उसे बहुत लज्जा आयी । भर्तृमित्रने मनमे निश्चय किया कि मुझे बाण विद्या अवश्य सीखनी है । मेघपुर नामके नगरमें धनुर्विद्याका पडित रहता था, उसके पास जाकर भर्तृमित्रने बहुतसे रत्न देकर तथा उसकी सेवा करके बाण विद्यामे अत्यंत निपुणता प्राप्त की । पुनश्च उस नगरके राजाको कन्या मेघमालाको चद्रक वेद्य प्रणमें जीतकर उसके साथ विवाह किया । दोनो सुखपूर्वक रहने लगे । किसी दिन भर्तृमित्रके घरसे समाचार आनेसे उसने राजासे विदा ली । राज वैभवके साथ रथमे सवार हो मेघमाला एवं भर्तृमित्र मद्दिल नगरकी ओर जा रहे थे । रास्तेमे वनमे भीलोकी पल्ली आयी । वनमे आगत पथिकोको लूटना ही उन भीलोका काम था उनका सरदार सुवेग नामका था । सुवेग मेघमालाका मनोहर रूप देखकर मोहित हुआ और उसका अपहरण करनेके लिये युद्ध करने लगा । मेघमाला उसका मन युद्धसे विचलित करनेके लिये उसकी तरफ जाने लगी । सुवेग उसके रूपको देखने लगा इतनेमे भर्तृमित्रने बाण द्वारा उसके दोनों नेत्र नष्ट कर दिये उससे सुवेग घायल हो मृत्युको प्राप्त हुआ । भर्तृमित्र मेघमालाके साथ निर्विघ्नरूपसे अपने नगरमें पहुच गया ।

इसप्रकार सुवेग नेत्रेन्द्रियके विषयमे आसक्त होकर मृत्युको प्राप्त हुआ ।

कथा समाप्त ।

गोपासक्ता सुतं हत्वा नासिक्यनगरे मृता ।
पापागृहपतेर्भार्या दुहित्रा मारिता सती ।।१४२७।।

छंद–रथोद्धता—

दुःखदाननिपुणा निषेविताः स्पर्शरूपरसगंधनिस्वनाः ।
दुर्जना इव विमोह्य मानवं योजयंति कुपथे प्रथीयसि ।।१४२८।।

नासिक्य नगरमे एक सेठको पापी पत्नी ग्वालेमें आसक्त थी उसने अपने पाप को छिपानेके लिये पुत्रको मारा, इस कृत्यसे कुपित हुई खुदकी पुत्री द्वारा स्वय भी मारी गयी ।।१४२७।।

गोपमे आसक्त नागदत्ताकी कथा—

नासिक्य नगरमे सागरदत्त सेठकी सेठानी नागदत्ता थी उसके दो संतानें थीं, श्रीकुमार और श्रीषेणा । सेठानी अपनी गाये चरानेवाले नद नामके ग्वालेपर आसक्त थी । उसने प्रथम तो सेठको मरवा डाला; पुनः पुत्रको मारनेमे भी उद्यत हुई । पुत्र पहलेसे अपनी माताके कुकृत्यसे अत्यत दुःखी था । उसने माताको बहुत कुछ समझाया भी किन्तु उस पापिनीने उल्टे उसे मारनेका निश्चय और भी दृढ किया । किसी दिन वह अपने यार नदको कह रही थी कि तुम श्रीकुमार पुत्रको मार डालो । इस रहस्यको पुत्री श्रीषेणाने सुना और भाईको सावधान किया । गाय चरानेको एक दिन माताने ग्वालेको न भेजकर पुत्रको भेजा पुत्र समझ गया कि आज धोखा है । वह जंगलमें जाकर अपने वस्त्र एक लकड़ोके ठूंठको पहनाता है और स्वय छिप जाता है । पीछेसे ग्वाला आकर ठूठंको कुमार समझकर भाला मारता है कि इतनेमे कुमार उसी भालेसे नंद ग्वालेको मौतके घाट उतार देता है । घरमे आनेपर नागदत्ता पूछती है कि नद कहाँ है ? पुत्र उत्तर देता है इस बातको तो यह भाला जानता है । नागदत्ता समझ जाती है कि अपने यारकी मृत्यु हो चुकी है । क्रोधमें आ वह पापिनी मूसलसे श्रीकुमारका मस्तक फोड देती है । पुत्री श्रीषेणा इतनेमें आकर उसी मूसलसे नागदत्ता माताको मार देती है इसप्रकार वह पापिनी परपुरुष आसक्त नागदत्ता स्पर्शनेन्द्रियके विषयमे आसक्त होकर सर्वकुटुंबका नाशकर नरकगामिनी हुई ।

कथा समाप्त ।

जिसप्रकार दुर्जनोकी सगति करनेवालेको दुर्जन लोग मोहित करके बड़े भारी खोटे मार्ग–व्यसन आदिमे फंसा देते है, उसप्रकार दुःख देनेमें निपुण ऐसे सेवन किये

छंद-रथोद्धता—

अग्निनेव हृदयं प्रदह्यते मुह्यते नु विषयैर्विशक्तितः ।
तत्कथं विषयवैरिणो जनाः पोषयन्ति भुजगानिबाधमान् ।।१४२९।।

इतिइंद्रिय विशेष दोषाः ।

अरत्यर्चिचः करालेन श्यामलीकृतविग्रहं ।
प्रस्विद्यति तुषारेऽपि तापितः कोपवह्निना ।।१४३०।।

अभाष्यां भाषते भाषामकृतां कुरुते क्रियाम् ।
कोपव्याकुलितो जीवो ग्रहार्त इव कम्पते ।।१४३१।।

गये रूप, रस, गध, स्पर्श और शब्द मनुष्यको बड़े भारी कुगतिके मार्गमे लगा देते हैं । अर्थात् इन रूपादि विषयोंमें फंसा हुआ प्राणी नरक आदि कुगतिमें जाकर महादुःख भोगता है ।।१४२८।।

शक्तिहीन पुरुषका हृदय विषयोके द्वारा मोहित होता और अतिशय रूपसे जलता है मानो अग्निके द्वारा ही जल रहा हो । ऐसे विषयरूपी बैरियोंको जो कि सर्पके समान अधम–नीच है उनको लोग कैसे पुष्ट कर सकते हैं ? नही कर सकते ।।१४२९।।

इन्द्रिय दोषोका वर्णन पूर्ण हुआ ।

अब कोपके दोष बतलाते है—

अरति रूपी चिनगारियोंसे जो विकराल है ऐसे कोप रूप अग्निके द्वारा जिसका शरीर नीला काला कर दिया गया है एव तपाया गया है ऐसा पुरुष हिमकालमें भी पसीनेसे भीग जाता है अर्थात् जब व्यक्तिको क्रोध आता है उसकी आंखें, मुख आदि लाल काले हो जाते है सारा शरीर गुस्सेके मारे तप जाता है और उसे पसीना आने लगता है ।।१४३०।।

कोपसे व्याकुलित हुआ जीव जो भाषा नही बोलनी चाहिये उसको बोलने लगता है, जो कार्य नही करना चाहिये उसे करने लगता है और ग्रहसे पीड़ित हुएके समान कांपने लगता है ।।१४३१।।

त्रिवलीकलितालीको रक्तस्तब्धीकृतेक्षणः ।
दंतदष्टाधरो दुष्टो जायते राक्षसोपमः ॥१४३२॥

आददानो यथा लोहं परदाहाय कोपतः ।
स्वयं प्रदह्यते पूर्वं परदाहे विकल्पनम् ॥१४३३॥

विदधानस्तथा कोपं परघाताय मूढधीः ।
स्वयं निहन्यते पूर्वमन्यघातो विकल्प्यते ॥१४३४॥

आधारं पुरुषं हत्वा पापः कोपः पलायते ।
प्रदह्य जनकं काष्टं वह्निः किं नोपशाम्यति ॥१४३५॥

शत्रूपकाराद्रोषो यः स्वबंधूनां च शोककृत् ।
स्थानं कुलं बलं क्रोधं हत्वा नाशयते नरम् ॥१४३६॥

भौहें चढाकर ललाटमे जिसके त्रिबलि पड़ी है ऐसा वह क्रोधी लाल और स्तब्ध कर लिया है नेत्रोंको जिसने ऐसा हुआ दांतोंसे ओठोंको चबाने लगता है और इसतरह वह साक्षात् राक्षसके समान दुष्ट बन जाता है ॥१४३२॥

जिसप्रकार कोई पुरुष गुस्से से परको जलानेके लिये गरम लोहेको ग्रहण करता हुआ पूर्वमे स्वयं ही जल जाता है, अन्य व्यक्ति जले चाहे न जले इसमे दोनो विकल्प संभव हैं ॥१४३३॥ उसीप्रकार कोई मूढ बुद्धि पुरुष परका घात करनेके लिये कोपको करता हुआ प्रथम स्वयं ही घातको प्राप्त होता है अन्यका घात तो होवे अथवा न होवे ॥१४३४॥

यह पापरूप कोप अपने आधार स्वरूप पुरुषको नष्ट करके फिर स्वय भाग जाता है । ठीक है ! देखो ! अग्नि अपनेको उत्पन्न करनेवाले लकड़ोको जलाकर क्या शांत नही होती ? होती है । अर्थात् अग्नि लकड़ीसे उत्पन्न होकर लकडीको जलाती है और फिर आप शांत होती है–बुझ जाती है, वैसे जीवमे क्रोध उत्पन्न होकर जीवको नष्ट करता है—पापबन्ध कराता है और फिर खुद समाप्त होता है ॥१४३५॥

यह जो रोष है वह शत्रुका उपकार और स्वजनोंको शोक करानेवाला है, यह स्थान, कुल, बलको नष्ट करके अन्तमें मनुष्यका भी नाश करा देता है ॥१४३६॥

गुणागुणौ न जानाति वचो जल्पति निष्ठुरं ।
नरो रौद्रमना रुष्टो जायते नारकोपमः ।।१४३७।।

धान्य कृषीवलस्येव पावकः क्लेशतोऽजितम् ।
श्रामण्यं प्लोषते रोषः क्षणेन व्रतिनोऽखिलं ।।१४३८।।

यथैवोग्रविषः सर्पः क्रुद्धो दर्भतृणाहतः ।
निर्विषो जायते शोघ्रं निःसारोऽस्ति तथायतिः ।।१४३९।।

भावार्थ—यह क्रोध शत्रुका उपकार करता है, क्योंकि जब मनुष्य क्रुद्ध होता है तब उसके शत्रुको आनद आता है यह इसीतरह क्रोध करता रहे ऐसो शत्रुकी भावना रहती है, क्रोधो पुरुषके स्वजन दुःखी रहते हैं क्योंकि वह उन्हे गुस्सेमें आकर कष्ट पहुचाता है । क्रोधसे अपना स्थान या पद नष्ट होता है—क्रोधीको अपने उच्च पदसे च्युत होना पड़ता है, क्रोधसे शरीर आदिका बल और कुल भी नष्ट होता ही है । आरोग्य शास्त्रका कहना है कि क्रोधसे अनेक रोग होकर शरीर बलहीन बन जाता है और क्रोधी कुगतिमें जाकर अपना भी नाश कर डालता है । इसतरह क्रोधके दोष जानना चाहिये ।

आगे और भी कहते है—

रुष्ट पुरुष अत्यंत क्रूर परिणाम वाला हो जाता है, वह गुण अवगुणको नही जानता, निष्ठुर वचन बोलता है, इसतरह नारकी जीवके समान बन जाता है ।।१४३७।।

जैसे बड़े मुश्किलसे उत्पन्न किये गये किसानके धान्यको अग्नि क्षणमात्रमें जला देती है, वैसे रोष व्रती पुरुषके अखिल श्रामण्य धर्मको क्षणमात्रमें जला देता है—नष्ट कर देता है ।।१४३८।।

जैसे उग्र विषवाला सर्प तीक्ष्ण डाभ जातिके तृणसे पीड़ित होवे तो क्रोधसे उस डाभ तृणको खा डालता है किन्तु उससे उसके अंदरका विष बाहर उबल पड़ता है और इसतरह शोघ्र ही वह निःसार हो जाता है, उसीप्रकार यति क्रोधके कारण निःसार रत्नत्रय रहित हो जाता है ।।१४३९।।

सुरूपोऽपि नरो रुष्टो जायते मर्कटोपमः ।
कोपोपार्जितपापश्च विरूपो जन्मकोटिषु ॥१४४०॥

द्वेष्यो जनः प्रकोपेन जायते वल्लभोऽपि सन् ।
अकृत्यकारिणस्तस्य नश्यति प्रथितं यशः ॥१४४१॥

कुपितः कुरुते मूढो बांधवानपि विद्विषः ।
परं मारयते तैर्वा मार्यते म्रियते स्वयम् ॥१४४२॥

रुषितः पूजनीयोऽपि मंडलो वापमन्यते ।
समस्तं लोकविख्यातं माहात्म्यं च पलायते ॥१४४३॥

कृत्वा हिंसानृतस्तेय कर्माणि कुपितो यथा ।
सर्वं हिंसानृतस्तेयदोषमाप्नोति निश्चितम् ॥१४४४॥

सुंदर मनुष्य भी क्रोधित होनेपर बंदर जैसा मुखवाला लगता है और उस क्रोधके द्वारा उत्पन्न हुए पापके कारण करोड़ों जन्मोंमें कुरूप—बदसूरत बन जाता है ॥१४४०॥

कोप करनेसे अतिशय प्रिय मनुष्य भी अप्रिय बन जाता है, वह क्रोधी अकृत्य को करने लगता है इससे उसका फैला हुआ यश नष्ट हो जाता है ॥१४४१॥

कुपित हुआ मूढ पुरुष अपने बंधुजनोको भी शत्रु कर देता है, क्रोधी दूसरे को मरवा डालता है या शत्रु भावको प्राप्त हुए उन बांधवो द्वारा मारा जाता है अथवा क्रोधवश खुद हो मर जाता है ॥१४४२॥

पूजनीय पुरुष भी क्रुद्ध हुआ कुत्तेके समान तिरस्कृत होने लगता है और उसका सर्व लोकमें प्रसिद्ध माहात्म्य नष्ट हो जाता है ॥१४४३॥

क्रुद्ध पुरुष हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप क्रियाको जिसतरह करता है, उस पाप क्रियासे पाप बंध होकर आगे उसको वे हिंसा, झूठ और चोरीके दोष निश्चित ही प्राप्त होते है ॥१४४४॥

विशेषार्थ—क्रोधमें आकर मानव यहांपर किसीकी हिंसा करता है, झूठ बोलता है और परका धन चुराता है इससे घोर पाप बंध होकर जब वह पाप उदयमें आता है तब अन्य लोग उसकी हिंसा करते है, उसे मार डालते हैं, उसके साथ असत्य

द्वीपायनेन निःशेषा दग्धा द्वारावती रुषा ।
पापं च दारुणं दग्धं तेन दुर्गतिभीतिदम् ॥१४४५॥

॥ इति कोपः ॥

जातिरूपकुलैश्वर्यविज्ञानाज्ञातपोबलैः ।
कुर्वाणोऽहंकृति नीचं गोत्रं बध्नाति मानवः ॥१४४६॥

व्यवहार करते हैं और उसका धन भी चोरीमें चला जाता है । इसतरह क्रोधसे अनेक भवोंमें दुःख भोगने पडते हैं ।

द्वीपायन मुनिने क्रोधमें आकर संपूर्ण द्वारावती नगरीको जला डाला था वह दारुण पाप करके स्वयं जला और उस पापसे भयंकर दुर्गतिमें गया ॥१४४५॥

द्वीपायन मुनिकी कथा—

सोरठ देशमें प्रसिद्ध द्वारिका नगरी थी । इसमे बलदेव और कृष्ण नारायण राज्य करते थे । किसी दिन दोनो बलभद्र नारायण भगवान् नेमिनाथके दर्शनके लिये समवसरणमें गये । धर्मोपदेश सुननेके अनंतर बलभद्रने प्रश्न किया कि यह द्वारिका कबतक समृद्धशाली रहेगी । दिव्य ध्वनिमे उत्तर मिला कि बारह वर्ष बाद शराबके कारण द्वीपायन द्वारा द्वारिका भस्म होगी एवं जरत्कुमार द्वारा श्री कृष्णकी मृत्यु होगी । इस भावी दुर्घटनाको सुनकर सभीको दुःख हुआ । बहुतसे दीक्षित हुए । द्वीपायनने भी मुनिदोक्षा ग्रहणकर दूर देशमें जाकर तपस्या की । द्वारिकाकी सब शराब वनमें डाली गयी । बारह वर्षमें कुछ दिन शेष थे । द्वीपायन मुनि नगरके निकट आकर ध्यान करने लगे । बहुत से यदुवंशी राजकुमार वन क्रीड़ाके हेतु गये थे, वहां तृषासे पीड़ित होकर शराब मिश्रित पानीको उन्होंने पी लिया और उन्मत्त हो गये, पासमें द्वीपायन मुनिको देखकर वे कुमार उनको पत्थरोसे मारने लगे । मुनिको क्रोध आया और उनके कंधेसे तैजस पुतला निकल गया, उस तैजस पुतलेसे समस्त द्वारिका भस्म हो गयी । द्वीपायन भी भस्म हुए और कुगतिमे चले गये ।

कथा समाप्त ।

मान कषायके दोष—

जाति, रूप, कुल, ऐश्वर्य, विज्ञान, आज्ञा, तप और बलके द्वारा अहंकार करने वाला मानव नीच गोत्रका बंध करता है ॥१४४६॥

दृष्ट्वात्मनः परं हीनं मूर्खो मानं करोति ना ।
दृष्ट्वात्मनोऽधिकं प्राज्ञो मानं मुंचति सर्वथा ।।१४४७।।

द्वेष कलि भयं वैरं युद्धं दुःखं यशः क्षतिम् ।
पूजाभ्रंशं परामूर्ति मानी लोकद्वयेऽस्तुतः ।।१४४८।।

सर्वेऽपि कोपिनो दोषा मानिनः संति निश्चितम् ।
मानी हिंसानृतस्तेय मैथुनानि निषेवते ।।१४४९।।

निर्मानो लभते पूजां दु.ख गर्वमपास्यति ।
कीर्ति साधयते शुद्धामास्पद भवति श्रियाम् ।।१४५०।।

जो मूर्ख होता है वह अन्य व्यक्तिको अपनेसे हीन देखकर (कुल, बल, रूपादिसे हीन) अभिमान करता है और प्राज्ञ पुरुष है वह अन्य व्यक्तिको अपनेसे कुल आदिसे अधिक देखकर मानको सर्वथा छोड़ देता है ।।१४४७।।

भावार्थ—मूर्ख पुरुष दूसरे व्यक्तिको कुल रूप आदिसे हीन देखकर घमंड करने लग जाता है कि देखो ! मैं बहुत बड़े कुलका हूं यह तो नीचकुली है तुच्छ है इत्यादि । किन्तु बुद्धिमान् पुरुष अपनेसे कुलहीनको देखकर अभिमान करना छोड देता है वह विचार करता है कि अहो ! चौरासी योनियोमे परिभ्रमण करते हुए मैने भी अनंत बार नीच कुल ही पाया है, काक तालीय न्यायसे अब कुलवत हो गया तो इसका क्या गर्व ! तथा बुद्धिमान पुरुष अपनेसे अधिक उच्चकुलीन किसी व्यक्तिको देखकर भी सोचता है कि इस संसारमे एकसे एक बढकर कुलवान् गुणवान पुरुष होते आ रहे हैं, इस व्यक्तिने पूर्वमें सुकृत किया है मेरेको अपने कुलका अभिमान नही होना चाहिये देखो ! यह पुरुष कितना कुलवान् है इत्यादि विचार द्वारा बुद्धिमान पुरुष अपने परिणामको गर्व रहित करता है ।

गर्वयुक्त मनुष्य द्वेष, कलह, भय, वैर, युद्ध, दु.ख, यशका नाश, आदरका नाश तथा परके द्वारा तिरस्कार इतने दोषोंको प्राप्त करता है वह उभय-लोकमे निंद्य हो जाता है ।।१४४८।।

क्रोधी पुरुषके जो दोष बताये है वे सभी मानी पुरुषके नियमसे होते है । मानी हिंसा, झूठ, चोरी और मैथुन रूप पाप क्रियाका सेवन करता है ।।१४४९।।

मार्दवं कुर्वतो जन्तोः कश्चनार्थो न हीयते ।
संपद्यते परं सद्यः कल्याणानां परंपरा ॥१४५१॥

छद–उपजाति—

मानेन सद्यः सगरस्य पुत्रा महाबलाः षष्ठिसहस्रसंख्याः ।
दृढेन भिन्नाः कुलिशेन तुंगा धराधरेंद्रा इव भूरिसत्वाः ॥१४५२॥

॥ इतिमान दोषः ॥

मान रहित पुरुष आदरको प्राप्त करता है वह दुःखकारी गर्वको सदा दूर करता है, गर्वका अपनेमे प्रवेश नही होने देता, वह निर्मल कीर्त्तिकी सिद्धि कर लेता है और अंतमें मोक्ष लक्ष्मीका स्थान बन जाता है अर्थात् मोक्षको प्राप्त करता है ॥१४५०॥

मानका अभाव होकर जो स्वाभाविक मार्दव भाव जोवमें प्रगट होता है, उस मार्दव धर्मका पालन करनेवाले जीवके कुछ नुकसान नही होता है उलटे मार्दव धर्म द्वारा तो अभ्युदय आदि कल्याणोकी परपरा तत्काल प्राप्त होती है ॥१४५१॥

सगर चक्रवर्तीके साठ हजार सख्या प्रमाण महाबलशालो पुत्र मान द्वारा तत्काल नष्ट हो गये थे जैसेकि ऊँचे बहुत सत्त्व–मजबूती वाले पर्वतराज दृढ वज्र द्वारा चूर-चूर हो जाते है, वैसे वे चक्रीके पुत्र मानरूपी वज्रसे मृत्युको प्राप्त हुए थे ॥१४५२॥

सगरचक्रोके साठ हजार पुत्रोको कथा—

इस अवसर्पिणी कालके बारह चक्रवर्तीमे से सगर दूसरे चक्री हुए उनके साठ हजार पुत्र थे । वे सभी बल वीर्य पराक्रमके धारक थे, उन सबने मिलकर एक दिन पितासे कहा कि हम सबको कोई राज्य आदि सबंधी कार्य बताईये । पिताने कहा पुत्रो ! यहां कार्य करनेको क्या आवश्यकता ! सुखपूर्वक रहो । किन्तु पुत्रोंके अधिक आग्रह होनेसे चक्रीने कहा–कैलाश पर्वतके चारो ओर खाई खोदकर उसमे गंगाजल भरदो । सब पुत्र प्रसन्न हुए उन्हे अपने बल पराक्रमका बड़ा ही अभिमान था । दण्ड रत्नको लेकर खाई खोदने कैलाश पर्वतकी ओर चल पड़े ।

सगर चक्रवर्त्तीका पूर्व जन्मका एक मित्र देव हुआ था वह सगरको जिनदीक्षा दिलाना चाहता था इस विषयमें उसने पहले प्रयत्न भी किये थे किन्तु वे प्रयत्न सफल नही हुए थे । अतः दण्ड रत्नसे धरणीको खोदते हुए उन चक्रीके पुत्रोंको देखकर चक्रीको वैराग्य उत्पन्न कराने हेतु उस देवने अपनी मायासे सब पुत्रोंको बेहोश कर दिया

विदधानोऽपि चारित्रं मायाशल्येन शल्यितः ।
न धृतिं लभते कुत्र शल्येनेव धनर्द्धिकः ।।१४५३।।

द्वेषमप्रत्ययं निंदां पराभूतिमगौरवम् ।
सर्वत्र लभते मायी लोकद्वयविरोधकः ।।१४५४।।

अरतिर्जायते मायी बंधूनामपि दारुणः ।
महान्तमश्नुते दोषमपराधनिराकृतः ।।१४५५।।

(मार दिया) जब यह वार्ता मंत्री आदिको विदित हुई तब वे अत्यंत विचारमें पड़ गये कि यह हाल चक्रीको कैसे सुनाया जाय । फिर भी किसी बहानेसे चक्री तक यह वार्त्ता पहुंचाई । प्रथम सगरने बहुत शोक किया किन्तु फिर वैराग्य रूप अमृत जलसे शोकाग्नि को शांत कर उसने जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली । अब उस मित्रवर देवका मनोरथ पूर्ण हुआ । उसने सगर मुनिराजकी तीन प्रदीक्षणा दी नमस्कार किया और सर्व सत्य वृत्तांत कह दिया । सगर अब संपूर्ण मोह मायासे मुक्त हो चुके थे उन्हें कुछ सताप नही हुआ । वैराग्य तथा ज्ञान शक्तिसे उन्होंने अपना कल्याण कर लिया । इसप्रकार बलके अभिमानके कारण चक्रीके सब पुत्र नष्ट होगये थे ।

कथा समाप्त ।

मायादोषका कथन—

मुनि चारित्रको पालन करते हुए यदि माया शल्यसे पीड़ित है सहित है तो वह कहींपर भी धैर्य-स्थैर्य-सुखको प्राप्त नही करता है, जैसे धन संपन्न है किन्तु शरीर आदिमें शल्य है तो उस शल्यके कारण पीड़ित वह धनिक कही भी सुख धैर्यको नही पाता ।।१४५३।।

मायाचारी व्यक्ति द्वेष, अविश्वास, निंदा, तिरस्कार और लघुता—नीचताको सर्वत्र पाता है वह दोनों लोकोका विरोधी है अर्थात् दोनों लोकोंमें उसका कोई विश्वास नहीं करता अथवा उसको उभयलोकमें सुख नहीं मिलता है ।।१४५४।।

मायावी पुरुष सबको अप्रिय लगता है वह बंधुजनोको भी दुःखदायी प्रतीत होता है, वह अपराध रहित होनेपर भी महादोषी माना जाता है अथवा मायाके कारण वह महादोषको प्राप्त हो जाता है ।।१४५५।।

एकासत्यसहस्राणि माया नाशयते कृता ।
मुहुर्तेन तुषाणीव नित्योद्वेगविधायिनी ।।१४५६।।
मित्रभेदे कृते सद्यः कार्यं नश्यति मायया ।
विषमिश्रमिव क्षीरं समायं नश्यति व्रतम् ।।१४५७।।
स्त्रैणषंढत्वतैरश्च नीचगोत्रपराभवाः ।
मायादोषेण लभ्यते पुंसा जन्मनि जन्मनि ।।१४५८।।
यः क्रोधमानलोभानामाविर्भावोस्ति मायिनः ।
संपद्यन्तेऽखिला दोषास्ततस्तेषामसंयमम् ।।१४५९।।
सप्तवर्षाणि निःशेषं कुम्भकारेण कोपिना ।
भस्मितं भरतग्रामशस्यं प्राप्तेन वंचनां ।।१४६०।।

एक मायाचारी करनेपर उसके द्वारा हजारों सत्यका नाश हो जाता है । यदि उस मायाचारको बार बार किया जाय तो शरीरमें प्रविष्ट कांटा या सलोके समान नित्य ही उद्वेग–संतापको करती है ।।१४५६।।

मायाके द्वारा मित्रका भेद हो जाता है अर्थात् अपने साथ माया छल किया जा रहा है यह देखकर मित्रजन तत्काल मित्रताको छोड़ देते हैं और मित्रकी सहायता समाप्त होनेपर सब कार्य समाप्त ही हुआ समझना चाहिये । उस मायाचार युक्त पालन किया व्रत विषसे मिले दूधके समान नष्ट हो जाता है ।।१४५७।।

माया दोषसे इस जीवको भव भवमें स्त्री पर्याय, नपुंसकत्व, तिर्यंच पर्याय, नीच गोत्र और पराभव प्राप्त होता है ।।१४५८।।

मायावीके क्रोध, मान और लोभोकी जिसकारणसे उत्पत्ति होती है उस कारण से उन जीवोंके संपूर्ण दोष उत्पन्न होते है फिर उससे असंयमको प्राप्त होता है । भाव यह है कि क्रोध, मान आदि मायावीके अवश्य हो उत्पन्न होते है और जब ये क्रोधादि उत्पन्न हुए तो सब ही दोष उत्पन्न हुए ऐसा समझना चाहिये क्योंकि संपूर्ण दोषोंका कारण क्रोध आदि कषायें हैं और मायावीमे ये कषायें होतो हैं और इसतरह दोषोंकी उत्पत्तिसे असंयमको प्राप्त होता ही है ।।१४५९।।

कुपित हुए कुंभकारने भरत नामके ग्राममें सात वर्षोंसे सचित हुए धान्योंको मायासे युक्त होकर भस्म कर डाला था ।।१४६०।।

छंद—स्वागता—

धर्मपादपनिकर्तनशस्त्री जन्मसागरनिपातनकर्त्री ।
दुःखशोकभयवैरसहाया निंदितं किमु करोति न माया ।।१४६१।।
।। इति माया दोषः ।।

लोभतो लभते दोषं पातकं कुरुते परम् ।
जानीते परमात्मानं नीचमुच्चं न नष्टधीः ।।१४६२।।

मायावी भरत कुम्हारकी कथा—

अगक नामके देशमें बृहद् ग्राममे एक कुम्हार रहता था । एक दिन बहुतसे मिट्टीके बर्तनोंको बैलपर लादकर वह कुम्हार दूसरे ग्राममें बेचनेके लिये गया गांवके बाहर बैलको खड़ाकरके वह ठहर गया । ग्रामीण लोग बालक स्त्रियां आदिने उससे घड़े, दिये, सकोरे आदि खरीद लिये और कुम्हारको भोला जानकर किसीने उसको बर्त्तनोंका मूल्य नही दिया । उसको कहा कि कल देवेंगे । बालक उसके साथ हंसी मजाक करने लगे । संध्या हो गयी कुम्हारने दुःखित मनसे रात पूर्ण की । रातमें किसी ने उसके बैलको भी चुरा लिया । प्रातः जब किसीने बर्त्तनके रुपये नही दिये तब कुम्हार अत्यत कुपित हो गया । उसने घर-घरमें जाकर पैसे मांगे किन्तु किसीने कुछ नहीं दिया । कुम्हारने उस गांवमें आग लगादी । सात वर्ष तक धान्योंसे भरे उस ग्राम को वह जलाता रहा और उससे उसने महान् पाप संचय किया । इसप्रकार क्रोधके वशमें हुए कुम्हारका उभय लोक नष्ट होगया ।

कथा समाप्त ।

यह माया धर्मरूप वृक्षको काटनेके लिये करोतके समान है जन्म रूप सागरमे गिराने वाली है, दुःख, भय, शोक और बैर स्वरूप अवगुण इसके सहायक हैं, ऐसा कौनसा निंद्य कर्म है जिसको माया नही करती है ? अर्थात् माया सर्व ही निंद्य कार्य करती है ।।१४६१।।

मायादोषका कथन समाप्त ।

लोभ दोषका वर्णन—

यह मानव लोभसे दोषको प्राप्त होता है वह अत्यत अशुभ पापको करता है । वह नष्ट बुद्धि वाला व्यक्ति परको तो नीच जानता है और अपनेको उच्च । वह परको कभी उच्च नहीं मानता ।।१४६२।।

लोभस्तृणेऽपि पापार्थमितरत्र किमुच्यते ।
मुकुटादिधरस्यापि निर्लोभस्य न पातकम् ।।१४६३।।

सुखं त्रैलोक्यलाभेऽपि नासंतुष्टस्य जायते ।
संतुष्टो लभते सौख्यं दरिद्रोऽपि निरंतरम् ।।१४६४।।

जायंते सकला दोषा लोभिनो ग्रंथतापिनः ।
लोभी हिंसानृतस्तेयमैथुनेषु प्रवर्तते ।।१४६५।।

रामस्य जामदग्न्यस्य गृहीत्वा लुब्धमानसः ।
कार्तवीर्यो नृपः प्राप्तः सकुलः सबलः क्षयम् ।।१४६६।।

यदि तिनकेमें भी लोभ किया जाय तो वह लोभ पापका कारण है फिर अन्य विशिष्ट धन धान्यादिमें किये गये लोभ का तो क्या कहना ? वह लोभ तो पाप बंध-कारक है ही । किन्तु जो व्यक्ति निर्लोभ है तो वह मुकुट कुडल आदिको धारण किये हुए भी है किन्तु उसको उस मुकुट आदि वस्तुके रहते हुए भी पाप बंध नही होता है ।।१४६३।।

असंतुष्ट पुरुषके तीन लोकका लाभ होनेपर भी सुख नही होता है और संतुष्ट पुरुष दरिद्री होनेपर भी सतत् सुखको प्राप्त करता है ।।१४६४।।

परिग्रह रूपी सताप युक्त लोभी मनुष्यके सकल दोष होते है । लोभी व्यक्ति हिंसा, झूठ, चोरी और मैथुन इन पापोमे प्रवृत्त होता है ।।१४६५।।

जमदग्नि नामके तापसीका पुत्र परशुराम था उसकी कामधेनुको लुब्ध मन वाले कार्तवीर्य नामके राजाने हठात् ग्रहण किया था उससे वह राजा अपने पूरे वंशके साथ तथा सेनाके साथ नष्ट हो गया था ।।१४६६।।

कार्त्तवीर्यकी कथा—

एक वनमे जटाधारी तापसियोका आश्रम था उसमे एक जमदग्नि नामका मिथ्या तापसी रेणुका स्त्री एवं श्वेतराम और महेन्द्रराम नामके दो पुत्रोके साथ रहता था । एक दिन उस वनमे हाथी पकड़नेको कार्त्तवीर्य नामका राजा आया । वह थककर विश्राम हेतु जमदग्निके कुटीके पास बैठा था । रेणुका ने उसको मिष्ठान्न द्वारा तृप्त किया आश्चर्य युक्त हो राजाने प्रश्न किया कि इतना श्रेष्ठ भोजन तुम लोगोंके पास

छद-उपजाति—

लोभेन लोभः परिवर्धमानोदिवानिशं वह्निरिवेन्धनेन ।
निषेव्यमाणो मलिनत्वकारी न कस्य तापं कुरुते महान्तं ।।१४६७।।

इति लोभः । इति कषायविशेषदोषाः ।।

शत्रुसर्पानलव्याघ्राः कदाचित्तन्न कुर्वते ।
यं करोति महादोषं कषायारिः शरीरिणाम् ।।१४६८।।

इस निर्जन वनमें कहांसे आया ? रेणुका ने कहा कि हमारे पास कामधेनु है उसके द्वारा सब कुछ मिलता है, राजाको कामधेनुका लोभ सताने लगा उसने उसको याचना की किन्तु जमदग्नि ने मना किया तब उस लोभी अन्यायी राजाने हठात् कामधेनुका हरण कर लिया और जमदग्निको मारकर अपने नगरमे लौट आया । इधर श्वेतराम महेन्द्रराम वनसे ईंधन को लेकर कुटीमें पहुंचे और पिताको मरा देखकर बहुत दुःखी होगये । दोनो पुत्र अत्यंत पराक्रमी थे । उन्हें देवोपनोत शस्त्र परशु भी प्राप्त था । उन्होंने कार्त्तवोर्यको सेना सहित नष्ट कर दिया, सर्व वश का सर्वथा नाश कर डाला और दोनों भाई उस राज्यके स्वामी बन गये ।

इसप्रकार लोभके कारण कार्त्तवीर्य नरेश मारा गया और मरकर नरकमे चला गया ।

कथा समाप्त ।

जिसप्रकार ईन्धनसे अग्नि बढती है उसप्रकार लोभसे लोभ रात-दिन बढ़ता जाता है, लोभका सेवन करनेसे मलिनता कृपणता आदि कलक दोष आते है । इसतरह यह लोभ किसके महा संताप को नही करता ? सबको ही संताप करता है ।।१४६७।।

लोभ दोषका कथन समाप्त हुआ ।

इसप्रकार चारों कषायोंके दोष विशेष रूपसे कहे ।

ससारी जीवोके कषायरूपी शत्रु जिस महादोषको करते हैं उस महादोष को यह मनुष्य रूप शत्रु नही कर सकता, सर्प, अग्नि तथा व्याघ्र भी उस महादोषको कभी नही करते जिसको कि कषाय रूपी शत्रु करते है ।।१४६८।। जो वैराग्यरूपी लगामसे रहित है ऐसे कषाय और इन्द्रिय रूपी दुष्ट घोड़े बलवान् पुरुष को भी दोषरूपी दुर्गम

कषायेन्द्रिय दुष्टाश्वैर्दोषदुर्गेषु पात्यते ।
त्यक्तनिर्वेदखलिनैः पुरुषो बलवानपि ।।१४६९।।

कषायेन्द्रियदुष्टाश्वैर्दृढनिर्वेदयंत्रितैः ।
दोषदुर्गेषु पात्यंते न सद्ध्यानकशावशैः ।।१४७०।।

विचित्रवेदनादष्टाः कषायाक्षभुजंगमैः ।
नष्टध्यानसुखाः सद्यो मुंचंते वृत्तजीवितम् ।।१४७१।।

सद्ध्यानमंत्रवैराग्यमेषजैर्निर्विषीकृताः ।
न साधोस्ते क्षमा हतुं दीर्घं संयमजीवितम् ।।१४७२।।

हृषीकमार्गणास्तीक्ष्णाश्चितापुंखाः स्मृतिस्यदाः ।
नरं मनोधनुर्मुक्ता विध्यंति सुखहारिणः ।।१४७३।।

स्थानोंमें गिरा देते हैं ।।१४६९।। किन्तु जिनको दृढ वैराग्यरूपी लगामसे नियन्त्रित कर लिया है, जो सद् ध्यानरूपी चाबुक द्वारा वशमे कर लिये गये है ऐसे कषाय और इन्द्रियरूपी घोड़े दोषरूपी दुर्गम स्थानोंमे नही गिराते है ।।१४७०।।

जो पुरुष कषाय और इन्द्रिय रूपी सर्पोंके द्वारा काटे जानेसे विचित्र वेदना युक्त हैं वे ध्यानरूप सुखसे रहित हुए तत्काल ही चारित्र रूपी प्राणो को छोड़ देते है अर्थात् कषाय और इन्द्रियोके निमित्तसे चारित्रसे च्युत होते है ।।१४७१।। जिन कषाय-रूप सर्पोंको सद्ध्यान शुभध्यान धर्मध्यान शुक्लध्यानरूपी मत्र और वैराग्यरूपी औषधियोके द्वारा विष रहित कर दिया गया है, वे सर्प साधुके सयमरूपी दीर्घ जीवन को हरण करनेमे समर्थ नही होते है ।।१४७२।।

चितारूपी पुंख-पंख जिनमें लगे है, स्मरण रूपी वेगसे युक्त और आत्मीक सुखका हरण करनेवाले ऐसे इन्द्रिय रूपी बाण मनरूपी धनुषसे छोड़े गये मनुष्यको वेध देते हैं–मनुष्यको वे बाण लग जाते हैं ।।१४७३।।

इसप्रकारके इन्द्रिय बाणोंको कैसे रोका जाय कैसे नष्ट किया जाय ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—

हृषीकमार्गणास्तीक्ष्णा साधुभिर्धृति खेटकैः ।
ध्यानसायकमादाय खण्डयन्ते ज्ञानदृष्टिभिः ॥१४७४॥

प्रमादवदनाः साधुं चरंतं संगकानने ।
धृत्युपानद्विनिर्मुक्तं विध्यन्तीन्द्रियकण्टकाः ॥१४७५॥

आबद्धधृत्युपानत्कमुपयोगविलोचनम् ।
कषायकण्टकाः साधुं न विध्यन्ति मनागपि ॥१४७६॥

कषायमर्कटा लोलाः परिग्रहफलैषिणः ।
लुंपन्ति संयमारामं योगिनो निग्रहं विना ॥१४७७॥

त्रिकाल दोषदा नित्यं चंचला मुनिपुंगवैः ।
कषायमर्कटा गाढं बध्यन्ते वृत्तरज्जुभिः ॥१४७८॥

महोपशमसत्वाढ्यै र्ज्ञानास्त्रैर्धृतिवर्मितैः ।
साधुयोधैर्विजीयन्ते कषायेन्द्रियविद्विषः ॥१४७९॥

ज्ञानरूपी नेत्र जिनके पास हैं एवं धैर्यरूप तलवारके धारक साधुओके द्वारा ध्यानरूपी बाण लेकर वे इन्द्रिय रूपी तीक्ष्ण बाण खंडित–नष्ट किये जाते है ॥१४७४॥

परिग्रहरूपी वनमे धैर्यरूपी जूतेसे रहित विचरण करनेवाले साधुको प्रमाद ही है मुख–नोक जिनकी ऐसे इन्द्रिय रूपी कांटे वेध देते है–लग जाते हैं ॥१४७५॥ किन्तु जिसने धैर्यरूपी पादत्राण पहन रखे हैं और ज्ञानोपयोग रूपो नेत्रोसे जो सयुक्त है उन साधुको कषायरूपी काटे जरा भी नही लगते है नही चुभते हैं ॥१४७६॥

परिग्रह रूपी फलोंको जो चाहते है ऐसे कषाय रूपी चपल बदरको यदि निगृहीत नही किया जाय तो वे अवश्य हो साधुओके सयमरूपी उद्यान को नष्ट भ्रष्ट कर डालते है–उजाड देते है ॥१४७७॥

तीनोंकालोमे दोषको करनेवाले कषायरूपी चचल बदर मुनिजनों द्वारा चारित्र रूपी रस्सीसे कसकर बाध दिये जाते हैं ॥१४७८॥

महान उपशमभावरूपी शक्ति जिनके पास है ज्ञानरूपी शस्त्रोंसे जो सुसज्जित हैं जिन्होंने धैर्यरूपी कवच पहन रखा है ऐसे साधुरूपी योद्धाओं द्वारा कषायरूपी शत्रु जीते जाते है ॥१४७९॥

कषायाक्षद्विषो बद्धा भावनाभिस्तपस्विना ।
शृंखलाभिरिव स्तेना न दोषं जातु कुर्वते ।।१४८०।।

कषायाक्षमहाव्याघ्राः संयमप्राण भक्षिणः ।
अधिरोप्य नियम्यन्ते वैराग्यदृढपञ्जरे ।।१४८१।।

नीता व्रतमहावारिं कषायाक्षमतंगजाः ।
वशा संत्यवशाः सन्तो बद्धा विनयरश्मिभिः ।।१४८२।।

कषायाक्षगजाः शीलपरिखालंघनैषिणः ।
धर्तव्याः सहसा वीरैर्धृतिकर्णप्रतोदनैः ।।१४८३।।

कषायाक्षद्विपा मत्ता दुःशीलवनकांक्षिणः ।
ज्ञानांकुशैर्विधीयन्ते तरसा वशवर्तिनः ।।१४८४।।

इन तपस्वी जनोंने कषायरूपी वैरियोको अहिंसादि व्रतोंकी पच्चीस भावना रूपी साकलोंसे बांध रखा है अब वे कभी भी दोष—सयमका अपहरण आदिको नही कर सकते, जिसप्रकार कि चोर दृढ सांकल द्वारा बांधे जानेपर दोषको—चोरीको नहीं कर सकते ।।१४८०।।

संयम रूपी प्राणोका भक्षण करनेवाले कषाय और इन्द्रियरूपी महाभयंकर शेर चीते वैराग्यरूपी मजबूत पीजरेमे बंद करके नियन्त्रित किये जाते है ।।१४८१।।

जो किसीके वशमे नहीं आते हैं ऐसे अवश कषाय और इन्द्रिय रूपी हाथी व्रतरूपी बंधन स्थानमें ले जाकर विनयरूपी रस्सीसे बांध दिये जानेपर वशमें आजाते है ।।१४८२।।

ये कषाय और इन्द्रियरूपी गज शीलरूपी खाईका उल्लघन करना चाहते हैं उन्हें अकस्मात् जाकर धैर्यरूपी कर्ण प्रहारोसे वीर पुरुषोंको पकड़ लेना चाहिये ।।१४८३।। कषाय और इन्द्रिय रूपी मत्त हाथी खोटे आचरण रूपी वनमे प्रवेश करना चाहते हैं, ऐसे मत्त हाथियोंको शीघ्र ही ज्ञानरूपी अंकुश द्वारा वशमे किया जाता है ।।१४८४।। जो ध्यानरूपी योद्धाके द्वारा वश किये जा सकते है, रागद्वेष रूपी मदजल से जो आकुलित हैं ऐसे गज यदि ज्ञानरूपी अंकुश नहीं हो तो विषयरूपी वनमें चले जाते हैं ।।१४८५।।

ध्यानयोधावशीभूता रागद्वेषमदाकुलाः ।
ज्ञानांकुशं विना यांति तदा विषयकाननम् ।।१४८५।।

तदा शमवने रम्ये कषायाक्ष महागजाः ।
रम्यमाणा न कुर्वन्ति दोषं साधोर्मनागपि ।।१४८६।।

।। इति सामान्यकषाय निर्जयः ।।

शब्दे वर्णे रसे गंधे स्पर्शे साधुः शुभाशुभे ।
रागद्वेष परित्यागी हृषीकविजयीमतः ।।१४८७।।

हृषीकविजयः सद्भिः कटुकोऽपि निषेव्यते ।
भैषज्यमिव वांछद्भिर्नित्यसौख्यं यथांजसा ।।१४८८।।

जब ज्ञानांकुश द्वारा कषाय और इन्द्रिय रूपी महागज वशमें किये जाते है तब वे शांतभाव रूपी सुंदर उपवनमें रमते रहते हैं फिर वे साधुके महाव्रत आदिमें किंचित् भी दोष नहीं करते ।।१४८६।।

इसप्रकार सामान्यरूपसे कषायोंको जीतनेका कथन किया ।

अब आगे सामान्यरूपसे इन्द्रियोको जीतनेका कथन करते है—

शुभ और अशुभ ऐसे शब्द, वर्ण, रस, स्पर्श और गंधमे राग और द्वेषका त्याग करने वाला साधु इन्द्रिय विजयी माना जाता है ।।१४८७।।

पांचों इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना यद्यपि कटुक–अत्यंत कठिन है तो भी सज्जन या साधु पुरुषो द्वारा सेवनीय है जो कि वास्तविक नित्य सुख चाहते हैं । जैसे नीरोगपनेका सुख चाहने वाले पुरुष कडुआ भी औषध हो तो भी उसका सेवन करते है ।।१४८८.।

भावार्थ—आचार्य महाराज क्षपक एवं साधुओको उपदेश देते हैं कि भो सज्जनों ! आपको इन्द्रियोपर विजय करना कठिन लगता है तो भी इस कार्यको तुम्हें अवश्य करना चाहिये क्योंकि इन्द्रिय विजयी पुरुष ही शाश्वत मुक्ति सुखको प्राप्त कर सकता है अन्य नहीं, जैसे स्वास्थ्यको चाहने वाला पुरुष कडुवी औषधिका सेवन करता है कडुवी औषधिके बिना स्वास्थ्य लाभ सभव नही है ।

पुद्गला ये शुभाः पूर्वमशुभाः सन्ति तेऽधुना ।
अशुभाः पूर्वमासन्ये सांप्रतं संति ते शुभाः ।।१४८९।।

भुक्तोज्झिताः कृताः सर्वे पूर्वं तेऽनन्तशोऽङ्गिना ।
को मे हर्षो विषादो वा द्रव्ये प्राप्ते शुभाशुभे ।।१४९०।।

रूपे शुभाशुभे न स्तः साधनं सुखदुःखयोः ।
संङ्कल्पवशतः सर्वं कारणं जायते तयोः ।।१४९१।।

आचार्य महाराज इन्द्रिय विजय किसप्रकार करें इसका उपाय बतलाते है—

इन्द्रियोंके रूप रस आदि विषयोंमें इसप्रकार सोचना चाहिये कि जो पुद्गल पहले शुभ—मनोहर थे वे अब इससमय अशुभ हैं और जो विषय पहले अशुभ असुहावने थे वे वर्तमानमे शुभ रूप हैं जब इन्द्रिय विषयोंमे इसतरह परिवर्तन होता रहता है तब शुभ-सुंदरमे राग और अशुभ विषयमे द्वेष करना किसप्रकार उचित है अर्थात् उन विषयोंमें रागद्वेष अनुचित ही है ।।१४८९।।

संसारी प्राणियोने अतीत भवोमे पहले अनतबार सभी शुभ अशुभ स्पर्श रसादि विषयोंको भोग—भोगकर छोडा हुआ है, अब मुझ ज्ञानी साधुको शुभ पदार्थ हो चाहे अशुभ पदार्थ हो उनकी प्राप्तिमे क्या तो हर्ष है और क्या विषाद है ? अर्थात् शुभाशुभ इन्द्रिय विषयोमे अब मेरा कोई हर्ष विषाद नही रहा है । इसतरह इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करनेके इच्छुक हे साधुजनो ! तुम्हे विचार करते रहना चाहिये ।।१४९०।।

कोई शिष्य प्रश्न करता है कि अमुक पुद्गल मुझे सुखप्रद है अतः मेरा उसमे अनुराग है एवं अमुक पुद्गल दुःखप्रद है अतः उसमे द्वेष है ?

इसका उत्तर आचार्य आगेकी कारिकामे देते है—

भो साधो ! शुभ और अशुभ पुद्गलमे सुख और दुःखका साधन नही है, शुभ और अशुभमे अपने संकल्प मनकी कल्पनाके वशसे ही सुख दुःखका साधन या कारण माना जाता है । भाव यह है कि कोई भी पदार्थ या रूप रस आदि विषय सर्वथा शुभ अशुभ नही है अतः सुख-दुःख का कारण नही है, केवल अपनी-अपनी कल्पनासे सुख दुःखके कारण माने जाते है ।।१४९१।।

विदधाति यतश्चक्षुर्महादोषमनिर्जितम् ।
निर्जेतव्यं ततः सद्भिः सर्वथा तदतंद्रितैः ।।१४६२।।

शब्दगंधरसस्पर्शगोचराण्यपि यत्नतः ।
जेतव्यानि हृषीकाणि योगिना शमभागिना ।।१४६३।।

छद–रथोद्धता—

दुर्जयान्नरनिलिंप भर्तृभिः पंच यो विजयतेऽक्षविद्विषः ।
तस्य सन्ति सकलाः करस्थिताः संपदो भुवननाथपूजिताः ।।१४६४।।

।। इति इंद्रियनिर्जयः ।।

दत्ते शापं विना दोषं नायं मेऽस्तीति सह्यते ।
कृपा कृत्येत्ययं पापं वराकः कथमर्जति ।।१४६५।।

चक्षु द्वारा पदार्थको देखकर प्रायः उसके रसादि विषयोमे प्रवृत्ति होती है, रसादि विषयोमें रागादिको उत्पन्न कराना प्रायः चक्षुका काम है अत चक्षुको जीतने का पृथक् रूपसे उपदेश देते हैं—

जिस कारणसे चक्षुको नही जीतने पर वह महादोषको करता है उसकारणसे सावधान साधुओं द्वारा सर्वथा चक्षु जीतने योग्य है ।।१४६२।।

प्रशम भावको धारण करनेवाले साधुको प्रयत्न पूर्वक शब्द, गध, रस, स्पर्श को विषय करने वाले कर्ण आदि इन्द्रियोको भी जीतना चाहिये ।।१४६३।।

मनुष्य और देवोंके स्वामी चक्रवर्त्ती और इन्द्रो द्वारा जो दुर्जय है–जीते नही जाते हैं उन पांच इन्द्रिय रूपी शत्रुओंको जो साधु जीतता है पृथिवी पति द्वारा आदरणीय ऐसी समस्त संपदायें उसके हाथमे स्थित हो जाती है अर्थात् संसारकी संपदाके साथ मुक्ति संपदाको भी वह इन्द्रिय विजयी साधु प्राप्त कर लेता है ।।१४६४।।

इसतरह इन्द्रिय विजयका कथन पूर्ण हुआ ।

आगे कषाय विशेषको जीतनेका उपदेश देते है उसमे सर्वप्रथम पहली क्रोध कषायको जीतनेके लिये उसका प्रतिपक्षी क्षमाका स्वरूप कहते है—

जब कोई गाली आदिके वचन कहे तब साधु विचार करे कि यह व्यक्ति विना दोषके गाली दे रहा है मेरेमें यह दोष नहीं है, यह असद् दोष कह रहा है तो

सत्येऽपि सर्वतो दोषे सहनीयं मनीषिणा ।
विद्यते मम दोषोऽयं न मिथ्यानेन जल्पितम् ।।१४६६।।

शप्तोऽस्मि न हतोऽनेन निहतोऽस्मि न मारितः ।
मरणेऽपि न मे धर्मो नश्यतीति विषह्यते ।।१४६७।।

क्रोधो नाशयते धर्मं विभावसुरिवेन्धनम् ।
पापं च कुरुते घोरमिति मत्वा विषह्यते ।।१४६८।।

इसमें मेरी कुछ हानि नही है, यह बिचारा व्यर्थ पाप बध कैसे कर रहा है ? अहो ! यह तो दयाका पात्र है । इसप्रकार विचार कर गालीके वचन सहन किये जाते है ।।१४६५।।

यदि कोई व्यक्ति सत्य दोषको कहता है तो साधुको उसे भी सर्वथा सहन करना चाहिये । उस समय विचार करे कि जो यह कह रहा है वह दोष मुझमें विद्यमान है, यह मिथ्या-झूठ नहीं कहता । देखो ! जगत्मे प्रायः लोग झूठे दोष लगाते हैं किन्तु यह तो सत्य कहता है, मैं तत्वका जानकार होकर भी इस दोषको नहीं छोड पाता । इत्यादि पवित्र विचार द्वारा गाली वचन कहने वालेको क्षमा करना चाहिये अर्थात् कुपित नही होना चाहिये ।।१४६६।।

यदि कोई व्यक्ति गाली देवे तो साधु विचार करे कि इसने गाली दी है मारा तो नही ? यदि कोई मार पोट देवे तो विचार करना चाहिये कि यह केवल पीडित करता है प्राण नही लेता है । कदाचित् प्राण लेने लग जाय तो क्षमाशील महामुनि विचार करें कि अहो ! यह प्राण ले रहा है मेरा रत्नत्रय धर्म नष्ट नही करता ? इसप्रकारके पावन विचार द्वारा क्रोधको जीतना चाहिये ।।१४६७।।

यतिराज विचार करते है कि यह क्रोध जैसे ईन्धनको अग्नि जलाती है वैसे ही क्रोध धर्मको जलाता है क्रोध घोर पापका उपार्जन करता है । इसतरह क्रोधके अवगुण जानकर सदा क्षमा हो धारण करनो चाहिये ।।१४६८।।

भावार्थ—जैसे अग्निसे सर्व तृणादि जलकर खाक हो जाते है वैसे अतिशय दुर्लभ परभवमे साथ जानेवाला मेरा सद्धर्म यदि मैं क्रोध करूं तो अवश्य नष्ट हो जायगा । यह क्रोध अग्नि है इसका इंधन अज्ञान है, यह क्रोधाग्नि अपमान रूपी वायुसे

परदुःखक्रियोत्पन्नमुदीर्णं कल्मषं मम ।
ऋणमोक्षोऽधुना प्राप्तो विज्ञायेति विषह्यते ।।१४९९।।

अनुभुक्तं स्वयं यावत्काले न्यायेन तत्समम् ।
अधमर्णस्य किं दुःखमुत्तमर्णाय यच्छतः ।।१५००।।

छंद—वंशस्थ—

निषेवितः कोपरिपुर्यतोऽङ्गिनां ददाति दुःखान्युभयत्र जन्मनि ।
निकर्तनीयः शमखड्गधारया तपोवियोधैः स ततोऽन्यदुर्जयः ।।१५०१।।

।। इति क्रोधनिर्जयः ।।

भभक उठती है, कठोर वचन इसके स्फुलिंगे हैं हिंसा ज्वालासे संयुक्त यह कोपाग्नि मेरे धर्मरूपी उद्यानको भस्मसात् कर देगी । अतः मुझे बिलकुल ही क्रोध नहीं करना है । ऐसा विचार करके साधु सदा क्षमाभाव करते हैं ।

मैंने पूर्वभवमें अन्यको दुःख दिया था उस पाप-क्रियासे जो पापोपार्जन हुआ था उसका फल उदयमें आया है, अच्छा ही है अब मैं ऋण मुक्त-कर्जसे रहित हो जाऊंगा । इसप्रकार कोई दुष्ट मारने लग जाय तो विचार करना चाहिये ।।१४९९।।

कोई धनहीन पुरुष साहूकारसे द्रव्य लाकर उसका उपभोग करता है जितने कालके लिये लाया था उतने कालके बाद लौटाना न्याय ही है, अब जब कर्ज लौटाने का समय आचुका है तो उस द्रव्यको साहूकारके लिये देते हुए कर्जदारको क्या दुःख होगा ? यदि वह न्यायी है तो कभी भी दुःख नहीं होगा । ठीक इसीप्रकार मैंने पापाचारसे अशुभ कर्मका संचय किया है उसका उदय अब आ चुका है । इस मनुष्यको मैंने अवश्य ही पूर्व जन्ममें दुःख दिया था अब मुझे यह दुःख दे रहा है इसे मैं शांत-भावसे सहन करूं तो ऋणमुक्त हो जाऊंगा । इत्यादि विचारसे मुनिराज उत्तम क्षमा धारणकर क्रोधपर विजय प्राप्त करते है ।।१५००।।

क्रोधरूपी शत्रुका सेवन करनेसे वह जीवोंको इस जन्ममे और परजन्ममे दुःखोंको देता है अतः तपोधन साधुओंके द्वारा शमभावरूपी तलवारसे उसको काट देना चाहिये । कैसा है क्रोध शत्रु साधुको छोड़कर अन्य किसीके द्वारा जीता नही जा सकता है ।।१५०१।।

क्रोध विजयका कथन पूर्ण हुआ ।

नीचत्वे मम किं दुःखमुच्चत्वे कोऽत्र विस्मयः ।
नीचत्वोच्चत्वयोर्नास्ति नित्यत्वं हि कदाचन ।।१५०२।।

परेषु विद्यमानेषु किं दुःखमधिकेषु मे ।
योनिहीनेष्वहंकारः संसारे परिवर्तिनि ।।१५०३।।

स मानो कुरुते दोषमपमानकरं न यः ।
न कुर्वाणः पुनर्मानमपमानविवर्द्धकम् ।।१५०४।।

छंद–द्रुतविलंबित—

द्वितयलोकभयंकरमुत्तमो विविधदुःखशिलाततदुर्गमम् ।
प्रबलमार्दववज्रविघाततो नयति मानन्गं शतखंडनम् ।।१५०५।।

।। इति माननिर्जयः ।।

मानकषाय पर विजय प्राप्त करनेके लिये उसके प्रतिपक्ष रूप मार्दव भावका वर्णन करते है—

यदि किसीने मेरा आदर नही किया उच्च आसन आदि नही दिया तो उससे मुझे क्या दुःख है ? तथा कदाचित् उच्चपद पर किसीने आरूढ किया अथवा भाग्यसे मुझे उच्चपना मिला तो उसमें मुझे क्या आश्चर्य या सुख है ? कुछ भी दुःख और सुख नही है क्योंकि नीचत्व और उच्चत्व कभी भी नित्य नही रहता । मैंने तो दोनोंको अनंतबार प्राप्त किया है । अतः इसमें मुझे हर्ष विषाद नही है ।।१५०२।।

कुल, रूप, संपत्ति इत्यादि विषयोमें मेरेसे अधिक श्रेष्ठ लोग जगतमें विद्यमान है, अतः इसमे मेरा अभिमान वृथा है । मैंने इस परिवर्तन शील ससारमे हीन योनियोमे जन्म लिया है इसलिये भी वर्तमानके इस उच्च कुलादिमे क्या अहकार करना ? नही करना चाहिये ।।१५०३।। मानी तो वह पुरुष है जो अपमानके कारणभूत दोषको नही करता । जो अपमानको बढाने वाले मानकषायको करता है वह वास्तविक मानी नही है अर्थात् गुणयुक्त होना यही अलौकिक मान है । इसतरह मान सन्मानके विषयमें समझकर कभी भी मानकषाय नही करना चाहिये ।।१५०४।।

उत्तम साधु जो इस लोक और परलोकमें भयंकर है, दुःख रूपी विषमपाषाण शिलाओंके समूहसे दुर्गम है ऐसे मानरूपी पर्वतके प्रबल मार्दव भावरूपी वज्रके आघात

दोषो निगुह्यमानोऽपि स्पष्टतां याति कालतः ।
निक्षिप्तं हि जलेवर्चो न चिरं व्यवतिष्ठते ।।१५०६।।

प्रकटोऽपि जनैर्दोषः सभागस्यस्य न गृह्यते ।
समलं मलिनं केन गृह्यते सारसं जलम् ।।१५०७।।

नीचेन छाद्यमानोऽपि स्पष्टतामेति निर्मलः ।
राहुणा पिहितश्चंद्रो भूयः किं न प्रकाशते ।।१५०८।।

से सैकड़ो खंड कर डालता है अर्थात् साधुओंको मान कषायरूपी पर्वतका मार्दव भावना द्वारा नाश करना चाहिये ।।१५०५।।

मानकषाय विजयका कथन समाप्त ।

माया कषायपर विजय प्राप्त करनेका उपाय पांच कारिका द्वारा बतलाते है—

मायाके कारण यह जीव अपने दोषको छिपाता है किन्तु दोषको खूब अच्छो तरहसे छिपाने पर भी वह समय पर प्रगट अवश्य होता है । जलमें डाला गया मल अधिक समय तक नीचे नही ठहरता ऊपर ही आजाता है । वैसे दोष प्रगट हो होता है, छिपता नहो ।।१५०६।।

दोषका प्रगट होना और नही होना पाप पुण्यके आधीन है तथा दोष प्रगट होनेपर भी उस दोषीको लोग हीन नही मानते जिसके पुण्यका उदय है ऐसा कहते हैं—

भाग्यवान्का दोष प्रगट हो तो भी लोगो द्वारा वह ग्रहण नही किया जाता । ठीक ही है । तालाबका मैला पानी "यह मलिन है" इसप्रकार लोगों द्वारा नहो ग्रहण किया जाता ।।१५०७।।

भाग्यहीनके दोष अवश्य प्रगट होते है ऐसा कहते है—

कोई भाग्यहीन पुरुष है उसके द्वारा दोषको छिपा देनेपर भी वह प्रकट होता है, जैसे राहु द्वारा चन्द्रमाको ग्रसित किया जाना यह क्या प्रगट नही होता ? होता ही है ।।१५०८।।

वंमेऽर्थः क्रियमाणेऽपि विपुण्यस्य न जायते ।
आयाति स्वयमेवासौ सुकृते विहिते सति ।।१५०९।।

छंद —

वितरति विपुला निकृतिधरित्री बहुविधमसुख दुरितसवित्री ।
इयमिति निहता विपुलमनस्कै ऋजुगुणपविना विमलयशस्कैः ।।१५१०।।

।। इति माया निर्जयः ।।

संपद्यते सुपुण्यस्य स्वयमेत्यान्यतो धनम् ।
हस्तप्राप्तमपि क्षिप्रं विपुण्यस्य पलायते ।।१५११।।

भावार्थ—भाग्यवान्का दोष लोगोंके प्रत्यक्षमे आनेपर भी लोग उसे दोष नही मानते और भाग्यहीनका दोष गुप्त हो छिपाया हो लोगोके समक्ष नही हो तो भी उस दोषसे जनता उसको तिरस्कृत करती है । अत: आचार्य महाराज साधु समुदाय एवं विशेष करके क्षपकको समझा रहे है कि दोषको छिपानेरूप मायाचार करना व्यर्थ है । पुण्योदयमें दोषको छिपाओ या न छिपाओ लोग उसको निंदा-ग्लानि नही करेगे और पापोदयमें दोषको ग्लानि निंदा अवश्य होगो । इसलिये "मेरे मान्यताका नाश होगा" इस भावसे दोषको मत छिपाना और माया, छल, कपट मत करना ।

बहुतसा कपट करनेपर भी भाग्यहीन व्यक्तिके धन नही होता है और पुण्य करनेपर वह धन स्वयं अपने आप ही अवश्य आता है । अत. कपट करके धन कमानेकी इच्छा करना व्यर्थ है ।।१५०९।।

पापको जन्म—उत्पन्न करनेमें माताके समान यह मायारूप विशाल धरित्री जीवोंको बहुत प्रकारके दु खको देती है, इसप्रकार जानकर इस मायाको विमल यशवाले बुद्धिमान पुरुषों द्वारा ऋजुगुण—आर्जव धर्मरूपी वज्रसे नष्ट किया जाता है ।।१५१०।।

मायादोषके विजयका वर्णन समाप्त ।

अब लोभको जीतनेका उपाय बताते है—

पुण्यवान् पुरुषके अन्य स्थानसे धन स्वयं आकर प्राप्त होता है और पुण्य-रहित पुरुषके हाथमें आया हुआ भी धन शीघ्र नष्ट होता है ।।१५११।।

संसारेऽटाटयमानेन प्राप्ताः सर्वे सहस्रशः ।
विस्मयो लब्धमुक्तेषु कस्तेषु मम सांप्रतम् ॥१५१२॥

छंद–इन्द्रवज्रा—

लोकद्वये दुःखफलानि दत्ते गार्धक्यतोयेन विवर्द्धितोऽयम् ।
संतोषशस्त्रेणनिकर्तनीयः स लोभवृक्षो बहुलः क्षणेन ॥१५१३॥

छंद–वंशस्थ —

कषायचौराननतिदुःखकारिणः पवित्र चारित्रधनापहारिणः ।
भृणाति यश्चारित्रमार्गणैः करस्थितास्तस्य मनीषिताः श्रियः ॥१५१४॥

॥ इति लोभ निर्जयः ॥

भावार्थ—धन जब पुण्यका अनुकरण करता है अर्थात् पुण्यके उदयमे ही प्राप्त होता है तब धनार्जनके लिये लोभ करना हिंसादिमें प्रवृत्ति करके अन्याय करके धन संचय इत्यादि बातें व्यर्थ है । धन प्राप्तिमें कारण लोभ या कृपणता नहीं है किन्तु पुण्य ही कारण है ऐसा निश्चित समझना चाहिये ।

संसारमे अनतबार परिभ्रमण करते हुए मैंने सब प्रकार वैभव संपत्ति धनादि को हजारों बार प्राप्त कर लिया है, उस प्राप्त करके छोड़े गये धन वैभवमें मेरेको इस समय आश्चर्य कौनसा है ? अर्थात् धनादिक तो मुझसे चिर परिचित है कोई नवीन नही हैं इसलिये उसमें मेरे लिये कौनसा विस्मय है ? कुछ भी विस्मय नहीं है ॥१५१२॥

जो दोनों लोकोमे दुःखरूपी फलोंको देता है, गृद्धता–रूपी जलसे सीचा गया है–बढाया गया है ऐसा यह बड़ा भारी लोभरूपी वृक्ष संतोषरूपी शस्त्रसे क्षणमात्रमे काट देना चाहिये ॥१५१३॥

पवित्र चारित्र रूपी धनको लूटने वाले कषायरूपी अति दुःखदायी इन चोरों को जो सुंदर आचरण रूपी बाणोसे नष्ट करता है उस महात्मा पुरुषके मनोवांछित संपत्ति हाथमें स्थित हो चुकी है ऐसा समझना चाहिये ॥१५१४॥

लोभ विजयका कथन समाप्त ।

निद्रां जय नरं निद्रा विदधाति विचेतनम् ।
सुप्तः प्रवर्तते योगी दोषेषु सकलेष्वपि ॥१५१५॥

यदा प्रबाधते निद्रा स्वाध्यायं त्वं तदाश्रय ।
अर्थानणीयसो ध्यायन्कुरु संवेगनिर्विदौ ॥१५१६॥

निद्रा प्रीतौ भये शोके यतः पुंसो न जायते ।
निर्जयाय ततस्तस्यास्त्वमिदं त्रितयं भज ॥१५१७॥

ज्ञानाद्याराधने प्रीतिं भयं संसारदुःखतः ।
पापे पूर्वाजिते शोकं निद्रां जेतुं सदा कुरु ॥१५१८॥

इसप्रकार यहांतक निर्यापक आचार्य देवने इन्द्रिय विजयको और कषाय विजयको करनेका उपदेश क्षपकके लिये दिया अब आगे निद्रापर विजय प्राप्त करनेका उपदेश देते हैं—

हे क्षपकराज ! तुम निद्राको जीतो, क्योंकि निद्रा मनुष्यको अचेतनसा बना देती है, निद्रित साधु सकल दोषोंमे प्रवृत्ति करता है ॥१५१५॥

भो साधो ! जब तुम्हे निद्रा बाधा पहुचाती है तब तुम स्वाध्यायका आश्रय लेओ । आगमके सूक्ष्म सूक्ष्म अर्थोको ध्यान करते हुए सवेग निर्वेदको करो या सवेगिनो तथा निर्वेदिनी कथाओको सुनो–पढ़ो ॥१५१६॥

जिसकारण पुरुषको प्रीति होनेपर भय तथा शोकके होनेपर निद्रा नही आती उस कारण, निद्राको जीतनेके लिये तुम उन तीन कारणोंका–प्रीति, भय और शोकका सेवन करो ॥१५१७॥

आगे प्रीति आदिका किसप्रकार सेवन करे ! ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तर देते है—

ज्ञानदर्शन आदिकी आराधना करनेमे हे क्षपक ! तुम प्रीति करना, संसार दुःखसे भय करना तथा पूर्वमे उपार्जित जो पाप है उसमें शोक करना, इसप्रकार निद्राको जीतनेके लिये सदा ही इनमे उद्यम करना ॥१५१८॥

विशेषार्थ—प्रीति, भय और शोक ये तीनों ही मोहकी पर्याये है अतः साधुको इनका सेवन किसप्रकार उपयुक्त होगा ? ऐसा प्रश्न स्वाभाविक ही उठता है अतः

सदैव मुपयुक्तेन निद्रां निर्जयता त्वया ।
न ध्यानेन विना स्थेयं पवित्रेण कदाचन ।।१५१९।।

न दोषाननपाकृत्य स्वप्तुं जन्मनि युज्यते ।
अनर्थ कारिणो रौद्रान्पन्नगानिव मंदिरे ।।१५२०।।

आचार्य ने तत्काल ही किस विषयमें प्रीति हो किस विषयमें भय हो इत्यादिका खुलासा किया है । रत्नत्रयको आराधनामे प्रीति करना क्योंकि यह आराधना सकटोंका नाश करती है, अभ्युदय और निःश्रेयस सुखोंको साधिका एकमात्र यही आराधना है अहो ! मैं आज ऐसी अपूर्व आराधना करनेमे उद्यमशील हू । आज मैं धन्य हुआ । पुण्यस्वरूप हुआ । इसप्रकार रत्नत्रयमें स्नेह प्रेम या प्रीति भावना जाग्रत होनेसे निद्रा भाग जाती है, लोकमें भी देखते हैं कि जब कोई अपना प्रिय कार्य विवाह आदि उपस्थित होता है तब निद्रा भाग जाती है ।

पंच परावर्त्तन स्वरूप ससारमें मैंने अनादिकालसे महाभयानक कष्ट भोगे है, मिथ्यात्व अविरति आदिसे कुगतिमें मेरे स्वयंके अपराधसे जन्म धारण किया है ! बडा कष्ट है ! मैं अब ऐसे कार्यका पश्चात्ताप करता हू । इसप्रकार अपने पूर्वमें किये गये पापोका शोक करना आगे ऐसे पाप नही करनेका दृढ संकल्प करते रहनेसे निद्रा नही आती है । शारीरिक, मानसिक, आगतुक और स्वाभाविक ऐसे चार प्रकारके दुःख इस ससारमें सदा ही मुझे प्राप्त होते रहे हैं, मुझे इन दुःखोंके कारण जो अशुभ चेष्टायें हैं उनसे भयभीत रहना चाहिये, दूर रहना चाहिये । इसतरह चितवन करनेसे निद्रा नहीं आती । व्यवहारमें देखा जाता है कि इष्ट व्यक्तिके वियोग होनेपर शोक होता है और शोकाकुल व्यक्ति नींद नही ले पाता तथा घरमें सर्पादिका भय हो तो भी नींद नहीं आती । इसीप्रकार ससारके कुगतिके दुःखका मनमे भय हो एव अपने पापाचारके प्रति पश्चात्ताप शोक होवे तो निद्रा नही आवेगी । जाग्रत अवस्थामें आत्म भावना व्रताचरण आदि सहज सपन्न होते हैं ।

हे क्षपक ! तुम सदैव निद्राको जीतनेमें उद्यमी होवो । शुभ ध्यानके बिना तुम कभी भी नही रहना । अर्थात् अशुभ ध्यानमे स्थित नही होकर शुभध्यानमें लीन रहना ।।१५१९।।

संसारे युज्यते स्वप्तुं कस्य दोषैः प्रदीपिते ।
महातापकरैर्गेहे पावकैरिव भीषणे ।।१५२१।।
को दोषेष्वप्रशांतेषु निरुद्वेगोऽस्ति पंडितः ।
द्विषत्स्विव समीपेषु विविधानर्थकारिषु ।।१५२२।।
नास्ति निद्रातमस्तुल्यं परं लोके यतस्तमः ।
सर्वव्यापारविध्वंसि जयेदं सर्वदा ततः ।।१५२३।।
निद्राविमोक्षकाले त्वं निद्रां मुंचाथवा यते ! ।
यथा वा क्लान्तदेहस्य समाधान तथा कुरु ।।१५२४।।

इस जन्ममे मिथ्यात्व आदि दोषोको दूर किये बिना सोना बिलकुल उचित नही है । देखो ! जिस घरमे अनर्थकारी क्रूर सर्प रहते है उसमें सोना जैसे उचित नही होता वैसे ही मिथ्यात्व आदि दोषोके रहते हुए नीद लेना उचित नही है ।।१५२०।।

हिंसा आदि दोषोंसे भरे हुए इस ससारमे निद्रा लेना किसके लिये उचित है ? किसीको भी नही, जैसे महासतापकारी अग्निके द्वारा जाज्वल्यमान भयानक घरमे नीद लेना उचित नही होता ।।१५२१।।

रागद्वेष आदि दोषोके मौजूद रहनेपर कौन ऐसा पडित है जो निर्भय है ? अर्थात् दोषोको शांत किये बिना ज्ञानीजन निद्रा नही लेते । जैसे विविध अनर्थ करने वाले शत्रुओंके निकट रहनेपर कोई नही सोता है ।।१५२२।।

इस विश्वमे निद्राके समान अन्य कोई अधकार नही है यही सबसे बड़ा अंधकार है क्योकि यह सर्व ही कार्योंको ध्वस करती है । इसलिये हे साधो ! तुम हमेशा निद्राको जीतो ।।१५२३।।

रात्रिमें सतत् जाग्रत रहनेकी शक्ति न होवे तो भो यते ! तुम निद्राके त्याग का जो समय रात्रिका पिछला भाग–तीसरा प्रहर है उसमें निद्राको छोड़ देना अथवा उपवास विहार रोग आदिके कारण शरीर क्लान्त हो चुका है तो जैसा समाधान हो परिणाम शांत हो वैसा निद्राका त्याग करना ।।१५२४।।

हे क्षपक ! तुम्हारे लिये मैंने निद्रा विजय नामका यह एक उपाय बताया है जिसके द्वारा कर्मोंका आस्रव रुक जाता है तथा पुराने कर्मोंकी निर्जरा होती है अर्थात्

कर्मास्रवनिरोधेऽयमुपायः　　　कथितस्तव ।
कल्मषस्य पुराणस्य तपसा निर्जरा पुनः ।।१५२५।।

छद–उपजाति—

उदीयमानेन महोद्यमेन क्षत्रेण ? निद्रा तमसां सवित्री ।
प्रशस्तकर्मव्यवधानशक्ता विजीयते भानुमतेव रात्रिः ।।१५२६।।

।। इति निद्रानिर्जय ।।

यतस्वाभ्यंतरे बाह्ये स्वां शक्तिमनिगूहयन् ।
तपस्यनलसः स त्वं देहसौख्यपराङ्मुखः ।।१५२७।।

आलस्यसुखशीलत्वे　　　शरीरप्रतिबंधने ।
विदधाति तपो भक्त्या स्वशक्तिसदृशं न यः ।।१५२८।।

तस्य शुद्धो न भावोऽस्ति माया तेन प्रकाशिता ।
शरीरसौख्यसक्तस्य धर्मश्रद्धा न विद्यते ।।१५२९।।

इन्द्रिय विजय और कषाय विजय करनेसे जैसे कर्मोंकी संवर निर्जरा होती है, वैसे ही निद्राके विजयसे कर्मोंकी संवर निर्जरा होती है ।।१५२५।।

जिसप्रकार उदित होते हुए महाप्रचड ऐसे सूर्यके द्वारा प्रशस्त कार्योंमे विघ्न उपस्थित करने वाली एवं अंधकारकी जननी स्वरूप रात्रि जीती जाती है उसीप्रकार महाउद्यमशील उदित ऐसे क्षपक द्वारा प्रशस्त कार्य–सामायिक आदिमे व्यवधान करनेवाली एव पापाधकारकी जननी ऐसी निद्रा जीती जाती है अर्थात् जो महान् प्रयत्नशील एवं वैराग्ययुक्त है वही साधु निद्राको जीतता है ।।१५२६।।

निद्रा विजय वर्णन समाप्त ।

आगे अंतरग बहिरंग तपका कथन करते है—

अपि क्षपक ! बाह्य और अभ्यंतर तपमें अपनी शक्तिको नही छिपाते हुए निरालस एव शरीरके सुखसे पराङ्मुख ऐसे तुम सदा उद्यमशील रहो ।।१५२७।।

आलस्य–प्रमाद तथा सुखी जीवन बितानेका स्वभाव होनेपर एव शरीरमे स्नेह–आसक्ति होनेपर, इन कारणोंसे जो पुरुष, जो साधु श्रद्धा और भक्तिसे अपनी

वीर्यं निगूह्यते येन तेनात्मा वंच्यते स्वयम् ।
सुखशीलतया तेन कर्मासातं च बध्यते ।।१५३०।।

वीर्यान्तरायचारित्रमोहावर्जयतेऽलसः ।
शरीरप्रतिबंधेन जायते सपरिग्रहः ।।१५३१।।

मायादोषाः पुरोद्दिष्टाः समस्ताः संति मायया ।
धर्मेऽपि निःप्रियाशस्य धर्मोऽस्य सुलभः कथम् ।।१५३२।।

अकुर्वाणस्तपः सर्वैर्वंचितोऽस्ति तपोगुणैः ।
मायावीर्यान्तरायौ च तीव्रौ बध्नाति कर्मणी ।।१५३३।।

शक्तिके अनुसार तप नही करता है । उस पुरुषके भावोंकी शुद्धि नही है, उसने तपस्या करनेमें माया रखी है अर्थात् शक्ति होते हुए तप नही किया है । शरीरके सुखमें आसक्त ऐसे उस पुरुषके धर्मश्रद्धा भी नही मानी जावेगी अर्थात् यथाशक्ति तपस्या न करे तो उस साधुके धर्ममें श्रद्धा नहीं रहती धर्माचरणमे जो चुरानेवाला मायाचारी भी सिद्ध होता है । इसप्रकार उपदेश देकर आचार्य साधुजनोको तपस्यामें लगा रहे है ।।१५२८।।१५२९।।

सुखिया स्वभाव होनेसे जिसने अपनी शक्तिको छिपाया उसने अपने आत्माको स्वयं ठग लिया । इसतरह शक्ति छिपाकर तप नही करनेवालेके असाता कर्मका बंध होता है ।।१५३०।।

आलस्य वीर्यान्तराय और चारित्र मोहनीय कर्मका उपार्जन करता है तथा शरीरकी आसक्तिसे यह जीव परिग्रहवान होता है ।।१५३१।।

माया कषायके जो दोष पहले कहे गये हैं वे सब ही दोष उसको लगते हैं जो तप करनेमें मायाभाव रखता है अपनी शक्तिको छिपाता है, इसतरह उत्तम तपधर्ममे भी जिसका प्रीतिभाव नही है उस व्यक्तिको आगामीकालमे—भवमे धर्म कैसे सुलभ होगा—आगे उसके धर्मकी प्राप्ति कैसे होगी ? अर्थात् नही होगी ।।१५३२।।

जो तपको नही करता है वह तपस्यासे होनेवाले संवर निर्जरा आदि समस्त गुणोंसे रहित होता है तथा उस पुरुषके मायाकषाय मोहनीय और वीर्यान्तराय कर्मोंका तीव्र बंध होता है ।।१५३३।। तथा जो साधुजन तप नही करते है उनके अन्य भी दोष

अकुर्वतस्तपोऽन्येऽपि दोषाः सन्ति तपस्विनः ।
कुर्वाणस्यपुनः शक्त्या जायन्ते विविधा गुणाः ।।१५३४।।

लोकद्वये पराः पूजाः प्राप्यन्ते कुर्वता तपः ।
आवर्ज्यन्तेऽखिला देवाः पुरंदरपुरःसरा ।।१५३५।।

तपः फलति कल्याणं कृतमल्पमपि स्फुटम् ।
बहुशाखोपशाखाढ्यं वटबीजं यथा वटम् ।।१५३६।।

विधिनोप्तस्य सस्यस्य विघ्नाः सन्ति सहस्रशः ।
तपसो विहितस्यास्ति प्रत्यूहो न मनागपि ।।१५३७।।

मृत्युजन्मजरार्तस्य तपः सुखविधायकम् ।
महारोगातुरस्येव भैषज्यं वीर्यसंयुतम् ।।१५३८।।

उत्पन्न होते है किन्तु शक्तिके अनुसार जो तप करता है उनको विविध गुणोकी प्राप्ति होती है ।।१५३४।।

तपके गुण—

तपस्या करनेवाले साधु इस लोक और परलोकमे महान् आदर प्राप्त करते है इन्द्र आदि अखिल देव तपस्वी जनोको प्रणाम करते है । भाव यह है कि तपस्याके प्रभावसे अनेक ऋद्धियां उत्पन्न होती है तथा देवगणभी चरणोमे झुकते है ।।१५३५।।

विधिपूर्वक किया गया अल्प भी तप बड़े भारी कल्याणको करता है, जैसे अल्प—छोटा भी वटबीज बहुतसी शाखा उपशाखाओसे युक्त ऐसे वटवृक्ष रूप फलता है ।।१५३६।। विधिपूर्वक—हल द्वारा भूमिको पहले जोतकर अच्छी तरह वर्षा आदिके होने पर बढ़िया बीजके बोनेपर भी फसल आनेमे हजारो विघ्न बाधायें होती है किन्तु विधि पूर्वक किये गये तपस्याके फल प्राप्तिमे किंचित् भी विघ्न-बाधा नही आती अर्थात् खेती करनेपर उसका फल रूप फसल प्राप्ति होनेमे सशय है फसल प्राप्त हो अथवा न हो । किन्तु आगमोक्त विधिसे की गई तपस्याका फल जो स्वर्गादिकी प्राप्ति आदि है उसमे कोई सशय नही है वे अवश्य मिलेगे ।।१५३७।।

मरण, जन्म और जरासे पीड़ित इस ससारी प्राणीको तप ही एक सुखकारक पदार्थ है, जैसेकि महारोगसे पीड़ित व्यक्तिको अत्यत शक्तिशाली रसायन रूप औषधि

संसारस्याविषह्य ेन ग्रीष्मकस्येव भास्वतः ।
तापेन तप्यमानस्य तपो धारागृहायते ।।१५३९।।

विदधानस्तपो भक्त्या निरालस्यो विधानतः ।
देशांतरमपि प्राप्तः स बंधुरिव गृह्यते ।।१५४०।।

मातेवास्ति सुविश्वास्यः पूज्यो गुरुरिवाखिलैः ।
महानिधिरिव ग्राह्यः सर्वत्रव तपोधनः ।।१५४१।।

लभ्यंते नरदेवानां सर्वाः कल्याणसंपदः ।
परमं सिद्धिसौख्यं च कुर्वता निर्मलं तपः ।।१५४२।।

चिन्तामणिस्तपः पु सो धेनुः कामदुधा तपः ।
तिलकोऽस्ति तपो भव्यस्तपो मानविभूषणम् ।।१५४३।।

सुखकारक हुआ करती है ।।१५३८।। संसार रूपी असह्य ग्रीष्म ऋतुके सूर्यके तापसे संतप्त हुए जीवोंके लिये यह तप धारागृह—फव्वाराके समान है अर्थात् जैसे धारागृहसे ग्रीष्मकी सूर्यकी उष्णता शांत हो जाती है, वैसे तप द्वारा कर्मोंका नाश होनेसे दु खका नाश होकर शांति प्राप्त होती है ।।१५३९।।

आलसको छोड़कर विधिके अनुसार बडी श्रद्धा भक्तिके साथ तपको जो करता है वह देशांतरमें भी चला जाय तो वहां सभोको बंधुजनोके समान प्रिय होता है । इसप्रकार तपश्चरण द्वारा जगत् तपस्वीका विश्वास करने लगता है । यह जगद् विश्वसनीयता गुण तपसे प्राप्त होता है ।।१५४०।।

तपस्वी मुनि सर्वत्र ही माताके समान विश्वास पात्र होता है । गुरुके समान सबसे पूज्य होता है और महानिधिके समान ग्रहण करन योग्य होता है ।।१५४१।।

मनुष्य और देवोंकी सर्व ही कल्याण सपदाये तथा परम उत्कृष्ट मुक्तिका सुख भी निर्मल तप करनेवालेको प्राप्त होता है ।।१५४२।। यह तप मनुष्योंके लिये चिता-मणि है, क्योंकि जैसे चिंतामणि चिंतित वस्तुको देता है वैमे तप मनावांछित वस्तुका प्रदाता है तथा तप कामधेनु है, जैसे कामधेनु इच्छित पदार्थ देती है वैसे तप इच्छित फलदायक है । यह तप ललाटके सु दर तिलकके समान साधु जोवनको शोभा बढ़ाने-वाला है तथा तप सन्मानका भूषण है अर्थात् तप सन्मानको बढ़ाता है ।।१५४३।।

अज्ञानतिमिरोच्छेदि जायते दीपकस्तपः ।
पितेव सर्वावस्थासु करोति नृहितं तपः ॥१५४४॥
विभीमविषयांभोधेस्तपो निस्तारणे प्लवः ।
तप उत्तारकं ज्ञेयं विभीमविषयावटात् ॥१५४५॥
इंद्रियार्थमहातृष्णाच्छेदकं सलिलं तपः ।
दुर्गतीनामगम्यानां निषेधे परिघस्तपः ॥१५४६॥
मनःकायासुखव्याघ्रत्रस्तानां शरणं तपः ।
कल्मषाणामशेषाणां तीर्थं प्रक्षालने तपः ॥१५४७॥
तपः संसारकांतारे नष्टानां देशकं यतः ।
दीर्घे भवपथे जन्तोस्तपः संबलकायते ॥१५४८॥
श्रेयसामाकरो ज्ञेय भयेभ्यो रक्षकं तपः ।
सोपानमारुरुक्षूणामबाधं सिद्धिमंदिरम् ॥१५४९॥

अज्ञानरूपी अधकारको नष्ट करनेवाला यह तप दीपक सदृश है तथा पिताके समान सर्व अवस्थाओंमें मनुष्यका हित करता है ॥१५४४॥ यह तप अतिभयानक विषयरूपी समुद्रसे पार होनेके लिये नौका सदृश है और अत्यंत भयावह ऐसे पचेन्द्रियोके विषयरूपी गर्त्तसे निकालने वाला भी यह तप ही है ॥१५४५॥

इन्द्रियोकी विषयरूपी महातृषाको बुझानेके लिये यह तप जलके समान है तथा अत्यंत दुःखदायी दुर्गतिको रोकनेके लिये अर्गलाके सदृश यह तप है ॥१५४६॥ शरीर और मन संबंधी जो दुःख है उस दुःखरूपी व्याघ्रसे डरे हुए जीवोके लिये तप शरणभूत है और संपूर्ण पापरूपो मैलको धो डालनेके लिये यही तप तीर्थ है—नदीका स्नानतट है। भाव यह है कि संसारमे हमारा यदि कोई शरण, सहायक या रक्षक है तो वह तप हो है क्योंकि तपसे निर्भय स्थान–मोक्ष प्राप्त होता है। पाप मैलका प्रक्षालन भी तप ही करता है अर्थात् पापकर्मकी निर्जरा तप द्वारा होती है। इसप्रकार तपश्चरणके महान् महान् गुण आचार्य परमेष्ठी क्षपक एव साधुओको बतला रहे है ॥१५४७॥ संसाररूपी भयंकर जंगलमे दिशामूढ हुए जीवोको मार्गदर्शन देनेवाला यदि कोई है तो तप ही है। संसारी प्राणोका यह जो संसार भ्रमणका लबा रास्ता है उससे पार होनेके लिये मार्ग का संबल (कलेवा) भी तप है ॥१५४८॥ अनेक प्रकारके भयोंसे रक्षा करनेवाला यदि

तन्नास्ति भुवने वस्तु तपसा यन्न लभ्यते ।
तपसा दह्यते कर्म वह्निनेव तृणोत्करः ॥१५५०॥
चिंतितं यच्छतो वस्तु सर्वं चिंतामणेरिव ।
तपसः शक्यते वक्तुं न महात्म्यं कथंचन ॥१५५१॥

द्रुत विलंबित छंद—

इति विलोक्य तपः फलमुत्तमं विमलवृत्तनिवेशितमानसः ।
तपसि पूतमतिर्यतते यतिः कुतपसः स फले विगतादरः ॥१५५२॥

छंद–वंशस्थ —

तपःक्रियायामनिशं स्वविग्रहो नियोजनीयो यतिना हितैषिणा ।
नियोज्यते किं न गृहीतवेतनो मनीषिते कर्मणि न स्वचेटकः ॥१५५३॥

छद–वंशस्थ —

गुणैरशेषैः कलिते मनोरमैर्निरस्तदोषे कथिते तपोधनैः ।
सदात्र धर्मे शिवसौख्यकारणे प्रमादमुक्तैः क्रियतां महादरः ॥१५५४॥

॥ इति तपसः क्रमः ॥

कोई हैं तो यह तप है । कल्याणोंका आकर तप है निर्व्याबाध मुक्तिके महलमे चढनेके इच्छुक जनोंके लिये तप सीढियोंके समान है ॥१५४९॥

ऐसी कोई वस्तु संसारमें नही है जो तपश्चरण द्वारा प्राप्त नही होती हो । तपस्या द्वारा कर्म भस्मसात् होता है जिसप्रकार अग्नि द्वारा तृणोंका ढ़ेर भस्मसात् होता है ॥१५५०॥ चिंतामणि रत्नके समान चिंतित वस्तुको देनेवाले इस तपका माहात्म्य किसीप्रकार भी कहना शक्य नही है ॥१५५१॥ इसप्रकार निर्दोष चारित्रके पालनमें लगाया है मनको जिसने ऐसे यति जन तपस्याके उत्कृष्ट फलको देखकर पवित्र बुद्धि युक्त हो तपमें प्रयत्नशील होते है और खोटे तपके फलमें आदर नही करते हैं ॥१५५२॥ अपने हितको चाहनेवाले यति द्वारा शरीरको तपस्याकी क्रियाओमे सतत– रात दिन लगाना चाहिये । देखो ! जिसने अपनी वेतन–तनख्वा ली है ऐसे निज भृत्व को क्या इच्छित कार्यमें नही लगाया जाता ? जाता ही है ॥१५५३॥

आचार्य महोदय कह रहे हैं कि भो क्षपकराज ! संपूर्ण मनोरम गुणोसे संयुक्त तथा दोषोसे रहित ऐसे तपोधन गणधर आदिके द्वारा कहा गया मोक्षसुखका

क्षपकाननराजीवं ततो भाति विकाशितम् ।
हतमोहतमस्कांडः सूरिवाक्यमरीचिभिः ॥१५५५॥
सूरेर्भातिप्रभावेण तत्सदो मुखपंकजैः ।
सरोवरमिवाकीर्णं पद्मं विकासितैः रवेः ॥१५५६॥
प्राप्योपदेशपीयूषं क्षपकोऽजनि निर्वृतः ।
समस्तश्रमविध्वंसि तृषार्त इव पानकम् ॥१५५७॥
ततोऽमुं शासनं श्रव्यं श्रुत्वा संविग्नमानसः ।
उत्थाय वंदतेसूरिं स नम्रीकृतविग्रहः ॥१५५८॥

कारणस्वरूप यह उत्तम तप धर्म है इसमें प्रमादसे रहित होकर आप सभीके द्वारा महान् आदर करना चाहिये अर्थात् तपधर्मका अनुष्ठान करना चाहिये ॥१५५४॥

इसप्रकार तपका माहात्म्य सुनकर मोहरूपी अंधकार समूहको नष्ट करनेवाले निर्यापकाचार्यके वचनरूपी किरणोके द्वारा क्षपकका मुखकमल विकसित हो शोभने लगता है ॥१५५५॥

निर्यापक आचार्य जब क्षपक युक्त उस मुनि परिषद्के मध्यमें तपधर्मका मनोहर उपदेश देते हैं तब आचार्यके वचन प्रभावसे मुनियोके विकसित हुए मुखकमलो द्वारा वह परिषद् अत्यत सुशोभित होती है, जैसे सूर्यको किरणोंसे विकसित हुए कमलों द्वारा भरा हुआ सरोवर सुशोभित होता है ॥१५५६॥

उस समय क्षपक मुनि उपदेशरूपी उस अमृतको प्राप्तकर अत्यत प्रसन्न होता है, जैसे प्याससे पीड़ित पुरुष समस्त थकावट और प्यासको नष्ट करनेवाले पेयको– ठंडाई आदिको प्राप्तकर प्रसन्न होता है, वैसे क्षपक आचार्यके वचनामृतको पीकर आनदित होता है ॥१५५७॥

तदनंतर कानोंको अत्यंत प्रिय ऐसे जिनशासन–तपधर्मको सुनकर उत्पन्न हुआ है वैराग्य एव धर्ममें अतिशय श्रद्धा जिसे ऐसा वह क्षपक संस्तरसे उठकर बैठ जाता है और सर्वांगको अति नम्र करके वह आचार्य देवकी वदना करता है–नमस्कार करता है ॥१५५८॥ वह कहता है कि हे गुरुदेव ! आपके इस उपदेशामृतको मैं शेषाक्षतके समान मस्तकपर धारणकर परीषहोंको जीतकर जैसा आप कहते हो वैसा आचरण करूंगा ॥१५५९॥

तवेमां देशनां कृत्वा शेषामिव शिरस्यहम् ।
यथोक्तमाचरिष्यामि पराजितपरीषहः ॥१५५९॥
यथा मे निस्तरत्यात्मा तुष्टिरस्ति यथा तव ।
संघस्य सर्वस्य यथा तवास्ति सफलः श्रमः ॥१५६०॥
यथात्मनो गणस्यापि कीर्तिरस्ति प्रथीयसी ।
अहमाराधयिष्यामि तथा संघप्रसादतः ॥१५६१॥
याराधिता महाधीरैरधिरैर्मनसापि नो ।
अस्ताघां साधयिष्यामि देवीमाराधनामहम् ॥१५६२॥
तवोपदेश पीयूषं पीत्वा को नाम पावनम् ।
बिभेतीह क्षुदादिभ्यः कातरोऽपि नरः प्रभोः ॥१५६३॥
पलालैरिव निःसारैर्बहुभिर्भाषितैः किमु ।
प्रत्यूहकरणे शक्तो न मे शक्रोऽपि निश्चितम् ॥१५६४॥
ध्यानविघ्नं करिष्यंति किं क्षुदादिपरीषहाः ।
कषायाक्षद्विषो वा मे त्वत्प्रसादमुपेयुषः ॥१५६५॥

मैं तो वैसा कार्य, आचरण तपस्या करूंगा जैसे मेरा आत्मा संसार समुद्रसे पार हो जाय ! जिसप्रकार आपको संतुष्टि होवे । समस्त सघ और आपका श्रम जैसे सफल हो वैसा ही आचरण मैं अवश्यमेव करूगा ॥१५६०॥ भो गुरुदेव ! जिसप्रकार अपनी और संघकी भी कीर्त्ति विस्तारको प्राप्त होवे उसप्रकार को आराधनाको मैं संघके प्रसादसे करूंगा ॥१५६१॥ हे पूज्यवर ! जिस आराधनाको महाधोर वीर पुरुषोंने किया है जो धैर्य रहित व्यक्ति द्वारा मनसे भी करना शक्य नही उस पापको नष्ट करनेवाली सम्यक्त्व आदि चार प्रकारकी आराधना देवी को मैं सिद्धि करूंगा ॥१५६२॥ हे प्रभो ! आपके पावन उपदेशरूपी अमृतको पीकरके ऐसा कौनसा मानव है जो क्षुधा तृषा आदिसे डरेगा ? अर्थात् कोई भी नही डरता है ॥१५६३॥

पलाल–घास या भूसाके समान बहुतसे नि सार भाषणसे क्या मतलब है । हे भगवन् ! मेरी तपस्यामें तो इन्द्र भो विघ्न करनेमें नियमसे समर्थ नही होगा ॥१५६४॥

हे गुरुवर ! आपके प्रसादको प्राप्त हुए मेरेको भूख प्यास आदि परीषह क्या करेंगे तथा कषाय और इन्द्रिय रूपी शत्रु भी क्या बिगाड़ कर सकेंगे ? कुछ भी नही कर सकेंगे ॥१५६५॥

छंद-रथोद्धता—

स्थानतश्चलति नाकपर्वतः पुष्करं वसुमतिं प्रपद्यते ।
त्वत्प्रसादमुपगम्य न प्रभो ! जातु यामि विकृतिं मनागपि ।।१५६६।।

छंद-तोटक—

मनसा वपुषा वचसा भगवन्ननुशासनमेतदनन्यमतिः ।
तव यो विदधाति सदा विधिना शिवतातिमुपैति स मुक्तमलः ।।१५६७।।

।। इति अनुशिष्टिः ।।

भो गुरुवर्य ! हे प्रभो ! कदाचित् सुमेरु पर्वत अपने स्थानसे चलायमान हो जाय, पुष्कर पृथिवीपने प्राप्त हो जाय । किन्तु आपके प्रसादको प्राप्त करके मैं किंचित् भी विकारको प्राप्त नहीं होवूंगा ।।१५६६।। हे भगवन् ! आपके इस अनुशासनको जो पुरुष अनन्यमति होकर मनसे, वचनसे और कायसे विधिपूर्वक सदा धारण करता है, वह पुरुष कर्ममैलसे मुक्त हुआ मोक्षसुखकी परंपराको प्राप्त होता है ।।१५६७।।

इसप्रकार सल्लेखनाके चालीस अधिकारोंमें यह तैतीसवां अनुशिष्टि नामका महाधिकार पूर्ण हुआ । (३३) ।

विशेषार्थ—इस मरणकण्डिका ग्रंथमें समाधिमरणका वर्णन करनेके लिये अर्ह, लिंग, शिक्षा आदि चालीस अधिकार है । इनमें अनुशिष्टि नामका अधिकार सबसे बड़ा है । इसमें निर्यापक आचार्यका क्षपकके लिये अत्यत-हृदयग्राही उपदेश है । इस सुविस्तृत उपदेशके प्रारंभमें सूत्ररूप पांच कारिकाये हैं—

शोधयित्वोपधिं शय्यां वैयावृत्यकरानपि ।
निःशल्योभूय सर्वत्र साधो ! सल्लेखना कुरु ।।७४९।।

मिथ्यात्ववमनं दृष्टिं, भावनां भक्ति मुत्तमां ।
रतिं भावनमस्कारे, ज्ञानाभ्यासे कुरुघम ।।७५०।।

मुने ! महाव्रत रक्ष, कुरु कोपादि निग्रहम् ।
हृषीक. निर्जयं द्वेधा तपो मार्गे कुरुघमम् ।।७५१।।

भवद्रुममहामूलं मिथ्यात्वं मुंच सर्वथा ।
मोह्यते सगुणां बुद्धिं मद्येनेव मुने ! लघु ।।७५२।।

पिब सम्यक्त्व पीयूषं मिथ्यात्व विष मुत्सृज ।
निधेहि भक्तिश्चित्ते नमस्कार मनारतम् ।।७५३।।

इन्ही कारिकाओंके विश्लेषण रूप आगेका संपूर्ण उपदेश है अर्थात् उपधि तथा आहारको निर्दोष ग्रहण करना । शल्यका त्याग, मिथ्यात्वका वमन, सम्यक्त्वकी भावना, भक्ति पंच नमस्कार मंत्रमें प्रीति और ज्ञानाभ्यास इनके लिये क्षपकको प्रेरित किया है पुनः महाव्रतोंका विस्तार पूर्वक वर्णन है । कषायका निग्रह और इन्द्रियों पर विजय करनेके लिये बहुत ही सुंदर रीतिसे समझाया है । अंतमे तपस्याका माहात्म्य एवं गुण तथा फल वर्णन करते हुए यह अधिकार समाप्त होता है ।

निर्जरां कुरुते गुर्वी कुर्वाणः क्षपकस्तपः ।
दत्ते निर्यापकः शिक्षामनिर्विण्णः प्रियंवदः ।।१५६८।।

कटुतिक्तकषायाम्ललवणस्वादुभीरसैः ।
पानकं मध्यमैर्युक्तं तस्मै क्षीणाय दीयते ।।१५६९।।

यदासौ नितरां क्षीणस्तदपि त्याज्यते तदा ।
पटीयांसो न कुर्वन्ति निरर्थकं नियोजनम् ।।१५७०।।

हित एव प्रियवचन बोलने वाले निर्यापक बिना विश्रामके क्षपकको शिक्षा देता है उससे यथोक्त तपको करता हुआ क्षपक बड़ी भारी कर्मोंकी निर्जरा करता है ।।१५६८।।

समाधिमरणमे उद्यमी क्षीणकाय क्षपकके लिए कटुक, तीखा, कषायला, नमकीन, स्वादु, मीठा इन रसोमेंसे मध्यम रसोका पानक देना उपयुक्त होता है ।।१५६९।।

पुनः अतिक्षीणकाय होनेपर क्षपक द्वारा वह पानक भी निर्यापक द्वारा छुड़ाया जाता है । ठीक ही है चतुर पुरुष व्यर्थका नियत्रण नही करते है अर्थात् निर्यापक क्षपककी क्षमताके अनुसार पानकका त्याग कराते हैं ।।१५७०।।

इत्थं शुश्रूषमाणस्य संस्तरस्थस्य वेदना ।
पूर्वकर्मानुभावेन काय काप्यस्य जायते ।।१५७१।।
दर्शनज्ञानचारित्रतपोरत्न भृतस्ततः ।
संसारसागरे घोरे यतिपोतो निमज्जति ।।१५७२।।
निमज्जंतं भवाम्भोधौ यो दृष्ट्वा तमुपेक्षते ।
अधार्मिको निराचारो नापरो विद्यते ततः ।।१५७३।।
वैयावृत्यगुणाः पूर्वं कथिता ये प्रपंचतः ।
तैरुपेक्षापरो नीचस्त्यज्यते निखिलैरपि ।।१५७४।।
वैयावृत्यं ततः कार्यं चिकित्सां जानता स्वयम् ।
वैद्योपदेशतश्चास्य शक्तितो भक्तितः सदा ।।१५७५।।

इसप्रकार निर्यापक द्वारा उपदेशसे जिसकी सेवा हो रही है एव वैयावृत्य करनेवाले मुनियों द्वारा जिसकी सेवा हो रही है ऐसे संस्तरमे स्थित क्षपकके शरीरमें पूर्वके असाता कर्मके उदयसे कोई उदरशूल आदि वेदना उत्पन्न होती है ।।१५७१।।

उस वेदनाके होनेसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूपी रत्नोंसे भरी हुई यह क्षपक मुनिरूपी नौका घोर संसार सागरमें डूबती है ।।१५७२।। वेदनासे आकुल व्याकुल क्षपकके परिणाम अशुभ होते है और उस परिणामसे मरण होवे तो क्षपकका भवसागर में डूबना संभव है । उस वक्त उस क्षपकको भवसागरमे डूबते हुए देखकर जो साधु एवं निर्यापक उसको उपेक्षा करता है उनको सम्हालता नही अर्थात् उपदेश और सेवा द्वारा क्षपकको समाधान नही कराता है वह अधार्मिक है, आचारहीन है उससे अधार्मिक और आचारहीन दूसरा कोई नही है ।।१५७३।।

पहले विस्तारपूर्वक वैयावृत्यके गुण बतलाये है । जो मुनि क्षपककी उपेक्षा करता है वह उन गुणोंसे भ्रष्ट होता है । अर्थात् क्षपककी उपेक्षा करनेसे क्षपक ससार सागरमें डूबेगा और उपेक्षा करने वालेके गुण भी नष्ट होंगे ।।१५७४।। इन सब बातों को ध्यानमें रखकर संघस्थ मुनियोंको वेदनाके चिकित्सा विधिको स्वयं जानकर क्षपकको वैयावृत्य अवश्य करना चाहिये तथा वैद्यके उपदेशके अनुसार शक्ति और भक्तिसे क्षपक की सदा ही वैयावृत्य करना चाहिये ।।१५७५।। क्षपककी वेदनाको जाने कि इस वेदना

विज्ञाय विकृतिं तस्य वेदनायाः प्रतिक्रिया ।
औषधैः पानकैः कार्या वातपित्तकफापहैः ।।१५७६।।

अभ्यंगस्वेदनालेपवस्तिकर्मांगमर्दनैः ।
परिचर्यापरेणापि कृत्यास्य परिकर्मणा ।।१५७७।।

कस्यचित्क्रियमाणेऽपि बहुधा परिकर्मणि ।
पापकर्मोदये तीव्रे न प्रशाम्यति वेदना ।।१५७८।।

क्षपको जायते तीव्रैरुपसर्गपरीषहैः ।
अभिभूतः परायत्तो विह्वलीभूतचेतनः ।।१५७९।।

व्याकुलो वेदनाग्रस्तः परीषहकरालितः ।
प्रलपत्यनिबद्धानि वाक्यानि स विचेतनः ।।१५८०।।

अयोग्यमशनं पानं रात्रिभुक्तिं स कांक्षति ।
चारित्रत्यजनाकांक्षी जायते वेदनाकुलः ।।१५८१।।

का कारण क्या है तथा उसके प्रतीकारको भलीप्रकारसे समझकर वातपित्त और कफ की नाशक पेय औषधिके द्वारा वेदनाका परिहार करना चाहिये ।।१५७६।।

शरीरको शीत करना अथवा आवश्यकता और वेदनाके अनुसार अग्निसे सेक, और औषधिका लेप और वस्तिकर्म (इनिमा) तथा अंग मर्दन द्वारा इस क्षपककी परिचर्या करना चाहिये तथा अन्य भी प्रक्रियाके द्वारा वेदनाको दूर करना चाहिये ।।१५७७।। इसप्रकार उपचार करनेपर भी किसी क्षपकके तीव्र पापकर्मके उदयसे वेदना शांत नहीं होती है ।।१५७८।।

उस समय तीव्र वेदना या उपसर्ग परीषहोंसे क्षपक अभिभूत होता है, वेदनाके आधीन हुआ मूर्च्छित–बेहोश हो जाता है ।।१५७९।। वेदना ग्रस्त व्याकुल हुआ क्षपक परीषहोसे पीड़ित होकर बेभान हुआ असंबद्ध प्रलाप करने लगता है ।।१५८०।। वेदनासे आकुलित वह क्षपक साधुपदके अयोग्य ऐसे पानको तथा रात्रि भोजनको चाहने लगता है तथा चारित्रको त्यागनेकी भावना करता है ।।१५८१।। इसतरह क्षपककी मोहरूप विषम स्थिति होनेपर निर्यापक आचार्य उस क्षपकका मोह–मूर्च्छाभाव जैसे दूर हो उस रूप सारणा करता है अर्थात् क्षपक अपने व्रतादिका स्मरण जिसतरह करे उसतरह

तथेति मोहमापन्नः सारणीयो गणेशिना ।
तथास्ति शुद्धलेश्याकः स प्रत्यागतचेतनः ॥१५८२॥

कस्त्वं किं नाम ते कालः सांप्रतं कः क्व वर्तसे ।
कोऽहं किं मम नामेति तं पृच्छति गणी यतिम् ॥१५८३॥

इत्थं क्षपकमापृच्छ्य चित्तं जिज्ञासता सता ।
वत्सलत्वेन कर्त्तव्या सारणा तस्य सूरिणा ॥१५८४॥

मुह्यतः क्षपकस्येत्थं यः करोति न सारणम् ।
तेनासौ वर्जितो नूनं जिनधर्म इवोज्ज्वलः ॥१५८५॥

आचार्य प्रयत्न करते है तथा शुद्ध लेश्या वाला हुआ पुन: सावधान होवे ऐसा यत्न करते हैं ॥१५८२॥

आचार्य क्षपकको इसतरह सावधान करते हैं कि–हे साधो ! तुम कौन हो ? तुम्हारा नाम क्या है ? इससमय कौनसा काल प्रवृत्त हो रहा है ? तुम कौनसे देशमे–स्थानमें निवास कर रहे हो ? बताओ मैं कौन हूं ? मेरा नाम क्या है ॥१५८३॥ इस प्रकार क्षपकको पूछकर उसका चित्त सावधान है या नही इस बातको जाननेकी इच्छासे आचार्यको क्षपकके लिये वत्सल–धर्मस्नेहसे बार-बार सावधान करना चाहिये तथा स्मरण दिलाना चाहिय ॥१५८४॥

भावार्थ—यह क्षपक सावधान है या नही इसका परीक्षण करनेके लिये आचार्य बड़े प्रेमसे उपर्युक्त प्रश्न बार-बार पूछते है। यदि सावधान है तो प्रश्नका उत्तर ठीकसे देगा और सावधान नही है तो उसका सावधान करनेका उपाय करते है।

इसप्रकार आचार्य द्वारा क्षपकको सावधान करना स्मरण दिलाना परमावश्यक है। यदि मोहित हुए उस क्षपककी सारणा नही करता है अर्थात् व्रतादिका स्मरण नहीं दिलाता तो समझना चाहिये कि उस आचार्य द्वारा नियमसे क्षपकका त्याग किया और क्षपकका त्याग करना उज्ज्वल जिनधर्मका त्याग कहलाता है ॥१५८५॥

भावार्थ—रत्नत्रय धर्म स्वरूप जिनधर्म है, रत्नत्रय धर्म साधुजनोंमें रहता है अत: क्षपकका त्याग करनेसे जिनधर्मका त्याग हुआ माना जायगा।

तस्येतिः सार्यमाणस्य कस्यचिज्जायते स्मृति ।
तीव्रकर्मोदये नान्यः स्मरणं प्रतिपद्यते ।।१५८६।।
संततसारणवारणकारो कामकषायहृषीकनिवारी ।
धर्मवतो विदधीत समाधिं सर्वमपास्यगणी तरसाधिम् ।।१५८७।।
।। इति सारणं ।।
प्रतिकर्म विधातव्यं तस्य स्मृतिमगच्छतः ।
उपदेशोऽपि कर्तव्यः स्मरणारोपणक्षमः ।।१५८८।।
परीषहातुरः कश्चिज्जानानोऽपि न बुध्यते ।
आर्तः पूत्कुरुते दीनो मर्यादां च बिभित्सति ।।१५८९।।
न बिभीष्यः स नो वाच्यो वचनं कटुकादिकम् ।
न त्याज्यः सूरिणा तस्य कर्तव्यासावना न च ।।१५९०।।

इसतरह आचार्य द्वारा सारणा करनेपर किसी क्षपकको स्मरण हो आता है कि अहो ! मैं व्याकुल होकर अपने चारित्र धर्मसे च्युत हो रहा हूं, अब मुझे इस करुणानिधान गुरुके प्रसादसे धर्ममें स्थिर चित्त होना है इत्यादि । कोई क्षपक आचार्य द्वारा बार-बार स्मरण दिलाने पर भी तीव्रकर्मका उदय होनेसे स्मरणको प्राप्त नही होता है ।।१५८६।। आचार्य सतत ही क्षपककी सारणा और वारणाको करता है काम, कषाय तथा इन्द्रियोका निवारण करनेवाला वह गणी धर्मात्मा क्षपककी पीड़ाको शीघ्रतासे दूर करते हुए समाधिको कराता है ।।१५८७।।

(३४) इसप्रकार सारणा नामका चौतीसवा अधिकार पूर्ण हुआ ।

(३५) कवच नामका पैंतीसवां अधिकार—

स्मृतिको नही प्राप्त हुए उस क्षपकका वह सावधान हो ऐसा उपाय निरंतर करना चाहिये तथा स्मरणको प्राप्त हो ऐसा उपदेश भी देना चाहिये ।।१५८८।।

कोई क्षपक सावधान तो है किन्तु परीषहोंसे पीड़ित होकर कुछ बोध नहीं कर पाता है । भूख प्यासकी वेदनाके द्वारा दु:खी हुआ क्षपक पुकारने लगता है दीन वचन कहता है तथा आहार पानकी प्रतिज्ञाको भंग करना चाहता है ।।१५८९।। इस-प्रकार क्षपक विपरीत चेष्टा करने लग जाय तो आचार्य उसे डरावे नहीं तथा कड़वे

विराधितो भवन्मानो वचनैः कटुकादिभिः ।
जिघृक्षत्यसमाधानं प्रत्याख्यानं जिहासति ।।१५६१।।
निर्यापकेन मर्यादां तस्य मंक्षु मुमुक्षतः ।
कर्तव्यः कवचो गाढः परीषहनिवारणः ।।१५६२।।
गंभीरं मधुरं स्निग्धमादेयं हृदयंगमम् ।
सूरिणा शिक्षणीयोऽसौ प्रज्ञापनपटीयसा ।।१५६३।।
संतोषबलतस्तीव्रास्ता रोगान्तकवेदनाः ।
अकातरो जयामूढो वृत्तविघ्नं च सर्वथा ।।१५६४।।
त्वं पराजित्य निःशेषानुपसर्गपरीषहान् ।
समाधानपरो भद्र ! मृत्यावाराधको भव ।।१५६५।।

कठोर आदि वचन भी नहीं कहे, न उसको छोड़े, आसादना–तिरस्कार भी नहो करे ।।१५६०।। क्योंकि कटुक वचनो द्वारा जिसकी विराधना हुई है ऐसा वह क्षपक अशांति को प्राप्त होगा तथा अपने संयम आदिको छोडनेको इच्छा करेगा ।।१५६१।। मर्यादा–प्रतिज्ञाका भग करनेके इच्छुक उस क्षपकके आचार्य द्वारा परीषहका निवारण करने-वाला गाढ कवच करना चाहिये ।।१५९२।।

समझानेमे चतुर ऐसे आचार्य द्वारा यह क्षपक शिक्षणीय है, क्षपकको गंभीर मधुर, स्निग्ध हृदयमें प्रवेश करनेवाले ऐसे ग्राह्य वचन कहे अर्थात् ऐसे वचनो द्वारा उपदेश देवे ।।१५६३।।

निर्यापक क्षपकको कहते हैं कि हे क्षपक ! तुम छोटी बड़ी व्याधियोको तथा तीव्र वेदनाको संतोष बलसे नष्ट करो । कातरपना–अधीरपनासे रहित सावधान हो, इस आगत चारित्रके विघ्नको सर्वथा जोतो ।।१५६४।।

भावार्थ—आचार्य वेदनासे पीड़ित क्षपकको समझाते हैं कि तुम कातरपनेका त्याग करो, वेदनामें द्वेष और वेदना प्रतीकारमें राग मत करो क्योकि रागद्वेष चारित्र रूपी संपत्तिको लूटनेवाले है । संतोष और धैर्यसे वेदनाको सहन करो ।

हे भद्र ! तुम समस्त परीषह और उपसर्गोंको जीतकर समाधान युक्त हो इस मरणकालमें चतुर्विध आराधानाओंका आराधन करो ।।१५६५।।

अहमाराधयिष्यामि प्रतिज्ञा या त्वया कृता ।
मध्ये संघस्य सर्वस्य तां स्मरस्यधुना न किम् ।।१५९६।।
जनमध्ये भुजास्फालं विधाय बलगर्वितः ।
कः कुलीनो रणे मानी शत्रुत्रस्तः पलायते ।।१५९७।।
कः कृत्वा स्वस्तवं मानी संघमध्ये तपोधनः ।
परीषहरिपुत्रस्तः क्लिश्यत्यापातमात्रतः ।।१५९८।।
प्रविशंति रणं पूर्णं शत्रुमर्दनलालसाः ।
यच्छन्ति नासुनाशेऽपि शत्रूणां प्रसरं पुनः ।।१५९९।।
मानिनो योगिनो धीराः परीषह निषूदिनः ।
सहन्ते वेदना घोराः प्रपद्यन्ते न विक्रियाम् ।।१६००।।

विशेषार्थ—परीषहोंको और उपसर्गोंको सहन करनेका आचार्य उपदेश दे रहे हैं कि भो क्षपकराज ! तुम मन, वचन और कायसे इन परीषहादिको जीतो । मनमे क्षुधा तृषा आदि परीषहसे दुःखी भयभीत नही होना मनसे परीषह जीतना कहलाता है । हा ! मुझे बड़ा कष्ट है अहो यह कैसा पापका उदय आया इत्यादि दीन, वचन नही कहना वचनसे परीषह जीतना है तथा पीडा वेदना होनेपर भी मुखमे दीनता व्यक्त नही करना शरीरको निश्चल रखना इत्यादि कायसे परीषह जीतना है । इसप्रकार मरणकालमे कष्टोको सहन करनेसे आराधनाकी सिद्धि होती है ।

अहो क्षपक ! तुमने सर्व संघके मध्यमें प्रतिज्ञा की थी कि मै आराधना करूंगा । अब उस प्रतिज्ञाको क्यो नही करते ? क्या आपको प्रतिज्ञा याद नही है ? ।।१५९६।। जनसमुदायमें भुजाओका आस्फालन कर करके गर्वपूर्वक जो युद्धकी प्रतिज्ञा करता है वह मानी कुलीन पुरुष रणमें शत्रुसे घबराकर क्या भाग जाता है ? नही भागता है ।।१५९७।। ऐसा कौन मानी तपोधन है जो संघके मध्यमे अपनी प्रशंसा करके परीषहके आगमन मात्रसे परीषहरूपी शत्रुसे त्रस्त हो क्लेश करता है ? अर्थात् कोई भी तपोधन सर्व समक्ष ली हुई प्रतिज्ञाका भंग नही करता है ।।१५९८।। शत्रुको नाश करने की इच्छावाले सुभट रणमें प्रविष्ट होते है वे प्राण नष्ट होनेपर भी शत्रुओंके आधीन नहीं होते । वैसे ही मानी योगी धीर वीर मुनिजन परीषहोके सहनेवाले होते हैं वे घोर वेदनाको सहते हैं । वे धीर मुनि कभी भी वेदनासे विकारभावको प्राप्त नहीं होते ।।१५९९।।१६००।।

रणारंभे वरं मृत्युर्भु जास्फालनकारिणः ।
यावज्जीवं कुलीनस्य न पुनर्जनजल्पनम् ॥१६०१॥
संयतस्य वरं मृत्युर्माननिनोंऽसकताडिनः ।
न दीनत्वविषण्णत्वे परीषहरिपूदये ॥१६०२॥
वरं मृत्युः कुलीनस्य पुत्रपौत्रादिसंततेः ।
न युद्धे नश्यतोऽरिभ्यः कर्तु स्वकुललांछनम् ॥१६०३॥
मा कार्षीर्जीवितार्थं त्वं दैन्यं स्वकुललांछनम् ।
कुलस्य स्वस्य संघस्य मा गास्त्वं वेदनावशम् ॥१६०४॥
म्रियंते समरे वीराः प्रहाराकुलिता अपि ।
कुर्वन्ति भ्रकुटीभंगं न पुनर्वैरिणां पुरः ॥१६०५॥

जिसप्रकार जनसमूहमे भुजास्फालन द्वारा युद्धकी प्रतिज्ञा करनेवाले कुलीन पुरुषका रणांगणमे मरण हो जाना श्रेष्ठ है किन्तु जीवन पर्यन्त "यह युद्ध भूमिसे भागकर आया था" इसप्रकारका जनापवाद श्रेष्ठ नही है उसीप्रकार संघके मध्यमें समाधिकी प्रतिज्ञा किये हुए मानी सयतका मरण होना श्रेष्ठ है किन्तु परीषहरूपी शत्रुके आनेपर दीनपना विषादपना श्रेष्ठ नही है अर्थात् अपनी प्रतिज्ञापर निश्चल रहते हुए मुनिका मरण होना भला है किन्तु रत्नत्रयसे च्युत होना चित्तमे भय होना, मैं प्रतिज्ञा पालनमें असमर्थ हू ऐसा दीन वचन कहना भला नही है ॥१६०१॥१६०२॥

जिसप्रकार कुलीन योद्धाकी मृत्यु होना श्रेष्ठ है किन्तु युद्धमें शत्रुओंसे घबराकर भागकर जानेसे पुत्र पौत्र आदि सतान परंपरामें—अपने कुलमे जो कलक लग जाता है वह श्रेष्ठ नही है । उसीप्रकार हे क्षपक ! तुम जीवनके लिये दीनता मत करो । अपने कुल और संघका अपवाद मत करो । हे साधो ! तुम वेदनाके वशमें नहीं होना ।

अर्थात् संघको दूषण लगे ऐसा कार्य मत करो अपनी प्रतिज्ञामे दृढ़ रहो । मेरे से प्रतिज्ञा पालन नही होता, आहार त्यागका नियम नही पलता इत्यादि दीन वचन मत कहो उससे संघको लज्जित होना पड़ेगा ॥१६०३॥१६०४॥

जैसे शस्त्र प्रहारसे पीड़ित हुए भी वीर पुरुष युद्धमे मर जाते हैं किन्तु शत्रुओंके सामने भ्रकुटी भग नहीं करते हैं अर्थात् शत्रुसे डरकर भागते नही है ॥१६०५॥

कातरत्वं न कुर्वन्ति परीषहकरालिताः ।
किं पुनर्दीनतावोनि करिष्यन्ति महाधियः ।।१६०६।।

अग्निमध्यगताः केचिद्दह्यमानाः समंततः ।
अवेदना वितिष्ठन्ते जलमध्ये गता इव ।।१६०७।।

साधुकारं परे तत्र कुर्वन्त्यंगुलिनर्तनैः ।
आनंदितजनस्वान्ता उत्कृष्टं कुर्वते परे ।।१६०८।।

वेदनायामसह्यायां कुर्व्वन्त्यज्ञानिनो धृतिम् ।
लेश्यया भववर्द्धिन्या सुखास्वादपरा यदि ।।१६०९।।

तदा धृतिं न कुर्वन्ति किं भवच्छेदनोद्यताः ।
ज्ञातसंसारनैःसार्या वेदनायां तपोधनाः ।।१६१०।।

वैसे ही महाबुद्धि वाले मुनि परीषहसे आक्रात होनेपर भी डरते नही है जो डरते हो नही वे क्या दीनता, मुख विवर्णता, विषाद आदि करेंगे ? नही कर सकते ।।१६०६।।

कितने ही धीर वीर पुरुष अग्निके मध्यमे चारों तरफसे अतिशय रूपसे जलते हुए भी वेदना रहित हो बैठ जाते है मानो पानीके मध्यमे ही बैठे हो ।।१६०७।। बहुत से धीर पुरुष उस अग्निके मध्यमे स्थित होकर भी अंगुलियोको चलाकर साधुकार करते हैं तथा कोई पुरुष आनंदसे विशिष्ट शब्द करते है ।।१६०८।।

भावार्थ—अग्निमें जलते हुए भी कोई धीर पुरुष अच्छा हुआ ऐसा अपना अभिप्राय अगुलीको बजाना आदिके इशारे द्वारा प्रगट करते है, इस उपसर्गसे मेरा कर्म नष्ट होगा, यह अग्नि शरीरके साथ कर्मोको भी जला देवे इत्यादि रूप अगुली हिलाकर एव विशिष्ट शब्द बोलकर कोई धीर वीर आगत उपसर्गको सहन करते है ।

यदि बहुतसे अज्ञानी जीव असह्य वेदना आनेपर संसार बढानेवाली अशुभ लेश्यासे युक्त होकर इन्द्रिय जन्य सुख स्वादमे लंपट हो धैर्यको धारण करते है अर्थात् सांसारिक सुखोंके लिये महान् महान् कष्ट वेदना–पीड़ाको बड़े ही धीरतासे सहते है । तो फिर ससारका छेद करनेमे उद्यत हुए तपोधन मुनि क्या वेदनाके आनेपर धैर्य धारण नही करेंगे ? अवश्य ही धैर्य धारण करेंगे । कैसे है मुनिराज ? जान लिया है ससार की असारताको जिन्होने ।।१६०९।।१६१०।।

दुर्भिक्षे मरके कक्षमये रोगे दुरुत्तरे ।
मानं क्वापि विमुंचंति कुलीना जातु नापदि ।।१६११।।

सेवंते मद्यगोमांसपलांडवादि न मानिनः ।
कर्मान्यदपि कृच्छ्रेऽपि लज्जनीयं न कुर्वते ।।१६१२।।

कुलसंघ यशस्कामाः किं कर्म जगदर्च्चिताः ।
मानं विमुच्य कुर्वन्ति लज्जनीयं तपोधनाः ।।१६१३।।

लघ्वीं विपत्तिमुर्वीं वा यः प्रयातो विषीदति ।
नरा वदन्ति तं षढं धीराः पुरुषकातरम् ।।१६१४।।

समुद्रा इव गंभीरा निःकम्पाः पर्वता इव ।
विपद्यपि महिष्ठायां न क्षुभ्यन्ति महाधियः ।।१६१५।।

स्वारोपित भराः केचिन्निःसंगा निःप्रतिक्रियाः ।
गिरिप्राग्भारमापन्नाश्चित्रश्वापदसंकटम् ।।१६१६।।

जो कुलवंत पुरुष होते हैं वे कभी भी दुर्भिक्षमें, मारीमे, जगलके भयके समय, भयानक रोगमे और आपत्तिमें कही पर भी गौरवको नही छोड़ते है ।।१६११।।

कुलका स्वाभिमान रखने वाले सामान्य गृहस्थ जन भी मद्य, गोमास, प्याज आदि निंदनीय पदार्थोंका सेवन नही करते हैं तथा अन्य भी गलत कार्य कष्ट आनेपर भी नही करते हैं ।।१६१२।। जब सामान्य जनकी यह बात है तो फिर जो तपोधन मुनिराज कुल और संघके यशकी कामना करते है, जो जगत्मे पूज्य हैं वे अपने गौरवको छोड़कर लज्जनीय कार्यको कैसे कर सकते है ? नही कर सकते ।।१६१३।।

जो पुरुष छोटी या बड़ी विपत्तिके आनेपर खेद करता है भयभीत होता है उसको धीर वीर जन नपुंसक कहते हैं, यह डरपोक मनुष्य है ऐसा कहते है ।।१६१४।।

जो महाबुद्धिवान् होते हैं वे समुद्रके समान गंभीर होते हैं, पर्वतके समान अकंप होते हैं बड़ो भारी विपत्तिमें भी क्षोभको प्राप्त नही होते हैं ।।१६१५।।

कितने ही महापुरुष ऐसे हैं कि जो संपूर्ण कार्यका भार स्वयंपर लेकर परिग्रह रहित होते हैं, आयी हुई आपत्तिका कुछ भी प्रतीकार नहीं करते है । अनेक प्रकारके

राद्धान्तसचिवाः सन्तः सन्तुष्टाः शुद्धवृत्तयः ।
साधयन्ति स्थिताः स्वार्थं व्यालदन्तान्तरेष्वपि ।।१६१७।।

धीरोऽवन्तिकुमारोऽगात्त्रिरात्रं शुद्धमानसः ।
शृगाल्या खाद्यमानोऽपि देवोमाराधनां प्रति ।।१६१८।।

जंगली पशुओंसे व्याप्त गिरियोके कंदरा गुफा आदिमें प्रविष्ट होते हैं (वहा ध्यानमें लीन होते है) ।।१६१६।।

जो सिद्धांत ग्रंथमे कुशल है अर्थात् श्रुतरूपी सागरके पारगामी हैं, संतोष भावयुक्त है अत्यत शुद्ध चारित्रके धारक है ऐसे सन्त पुरुष क्रूर सिह आदि जतुओंके दाढोंके मध्यमें स्थित होनेपर भी अपना स्वार्थ जो मोक्ष पुरुषार्थ है उसको सिद्ध करते हैं ।।१६१७।।

अहो क्षपक ! देखो ! अवंति सुकुमार तीन रात्रि तक शृगाली द्वारा खाये जानेपर भी आराधनादेवो सम्यक्त्व आदि चार आराधनाको प्राप्त हुए थे । कैसे थे सुकुमार ? अत्यंत शुद्ध है मानस जिनका तथा धीर वीर पुरुष थे ।।१६१८।।

सुकुमार मुनिकी कथा—

अवन्ति देशके उज्जैन नगरमे रहने वाले सुरेन्द्रदत्त सेठ और यशोभद्रा सेठानी के एक सुकुमाल नामका पुत्र था, जो इतना सुकुमार था कि उसको आसन पर पड़े हुए राईके दाने भी चुभते थे । दीपक की लौ भी वे देख नही सकते थे और अतुल वैभवके बीच स्वर्गोपम भोगोको भोगते हुए सुखपूर्वक अपना जीवन यापन कर रहे थे । एक दिन आपके मामा यशोभद्र मुनिराज त्रिलोक प्रज्ञप्तिका पाठ कर रहे थे, उसे सुनकर इन्हें जाति स्मरण हो गया । उसी समय महलसे निकलकर मुनिराजके पास जाकर दीक्षित हो गये । अपनी आयु, मात्र तीन दिनकी जानकर सुकुमाल मुनि जंगलमे चले गये और वहाँ प्रायोपगमन सन्यास लेकर आत्मध्यानमे लीन हो गये । उसी समय पूर्व-भवके वैर संस्कारके वशीभूत होती हुई एक स्यालनी बच्चो सहित आई और उनके शरीरको खाना शुरु कर दिया तथा तीन दिन तक निरन्तर खाती रही । इस भयकर उपसर्गके आ जाने पर भी सुकुमाल मुनि सुमेरु सदृश निश्चल रहे और अपनी चारों

शिभायाराधनां देवीं मुद्गलाद्रौ सुकौशलः ।
भक्ष्यमाणो मुनिर्व्याघ्र्या संद्धार्थिरविषण्णधीः ।।१६१६।।

आराधनाओंके अवलम्बनमे समता पूर्वक शरीरको त्यागकर अच्युतस्वर्गमे महर्द्धिक देव हुए ।

कथा समाप्त ।

सिद्धार्थ नामके राजाके सुकौशल नामके पुत्रने दीक्षा ली, वे प्रसन्न मनमे मुद्गल नामके पर्वतपर स्थित थे, उस वक्त व्याघ्री द्वारा खाये जानेपर भी उन्होंने आराधना देवीको प्राप्त किया था ।।१६१६।।

सुकौशल मुनिकी कथा—

अयोध्या नगरीमें प्रजापाल राजा राज्य करते थे । उसी नगरमें सिद्धार्थ नामके सेठ अपनी सहदेवी आदि ३२ स्त्रियोके साथ सुखसे रहते थे । बहुत समय व्यतीत हो जाने के बाद उनके सुकौशल नामका पुत्र हुआ, जिसका मुख देखते ही सिद्धार्थ सेठ मुनि हो गये । सुकौशलकुमार का भी ३२ कन्याओंसे विवाह हुआ, उनके साथ वे महाविभूतिका उपभोग करते हुए सुखसे जीवन यापन करने लगे । एक समय विहार करते हुए सिद्धार्थ मुनि भिक्षार्थ अयोध्या आये । "इन्हें देखकर मेरा पुत्र मुनि हो जायेगा ' इस भयसे सेठानी ने उन्हे नगरसे बाहर निकलवा दिया । "जो एक दिन इस नगरके स्वामी थे, उन्हीका आज इतना अनादर किया जा रहा है" यह सोचकर सुकौशलकी धायको बहुत दुःख हुआ और वह रोने लगी । सुकौशलने उसके रोनेका कारण पूछा । धायसे (अपने पिता) मुनिराजके अपमानकी बात सुनकर उन्हे दुःख हुआ और उसी समय उन्ही मुनिराजके पास जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली । दीक्षा की बात सुनते ही सुकौशल की माँ अत्यन्त दुःखी हुई और पुत्र वियोग जन्य आर्त्तध्यानसे मरकर मगध देशके मौद्गिल नामक पर्वतपर व्याघ्री हुई । सिद्धार्थ और सुकौशल मुनिराजने उसी पर्वत पर योग धारण किया था । योग समाप्त होनेपर भिक्षाके लिए पर्वतसे उतरते हुए युगल मुनिराजोंको व्याघ्रीने देखा और झपट कर अपने ही पुत्र सुकौशल मुनिको खाने लगी । मुनिराजने उपसर्ग प्राप्त होनेपर समाधि द्वारा प्राण त्यागे और सर्वार्थ सिद्धिमें गये ।

कथा समाप्त ।

धरण्यामार्द्रचर्मेव किल कीलितविग्रहः ।
प्रापद्गजकुमारोऽपि स्वार्थं निर्मलमानसः ॥१६२०॥
कासशोषारुचिश्छर्दिकच्छूप्रभृतिवेदनाः ।
सोढा सनत्कुमारेण यतिना शरदां शतम् ॥१६२१॥

निर्मल मानसवाले गजकुमार मुनिने पृथ्वीमे गीले चमड़ेके समान कीलें ठोककर जिनका शरीर कीलित कर दिया है ऐसा होते हुए भी निर्वाणको प्राप्त किया था ॥१६२०॥

गजकुमार मुनि की कथा—

श्रीकृष्ण नारायणके सुपुत्र गजकुमार अति सुकुमार थे । वे अपने पिता आदि के साथ धर्मोपदेश सुननेके लिए भगवान् नेमिनाथके समोशरणमें जा रहे थे । मार्गमें एक ब्राह्मण की नव-यौवना, सर्वगुणसम्पन्ना, सुलक्षणा और सौन्दर्यमूर्ति पुत्रीको देखकर श्रीकृष्ण ने उसे उसके पितासे गजकुमारके लिए मंगनी कर ली और उसे अन्त.पुरमे भिजवा दिया । भगवान का उपदेश सुनकर श्रीकृष्ण तो सपरिवार द्वारका लौट आये परन्तु गजकुमार नही लौटे और जैनेश्वरी दीक्षा धारण करके किसी एकान्त स्थानमें ध्यानारूढ हो गये । जिस लडकी का सबध गजकुमार से हुआ था उसका पिता जगलसे काष्ठ भार को लेकर लौट रहा था, उसकी दृष्टि जैसे ही गजकुमार पर पडी, वह आग बबूला हो उठा और बोला—"अरे दुष्ट ! मेरी अत्यन्त प्रिय सुकुमारी पुत्रीको विधवा बनाकर तू साधु बन गया है, मैं देखता हूँ तेरी साधुता को ।" ऐसा कहकर उस दुष्टने मुनिराजके शरीरमें कीले ठोक दी ।

गीले चमड़ेमे जैसे कीलें ठोकते हैं । उस घोर वेदनाको सहनकर गजकुमार महामुनि अंतकृत केवली हुए ।

कथा समाप्त ।

सनत्कुमार चक्रवर्ती मुनिने कास, शोष, अरुचि, वमन, खुजली आदि अनेक रोगोंकी वेदनाओको सैकड़ो वर्ष पर्यंत सहन किया था ॥१६२१॥

सनत्कुमार मुनि की कथा—

भारतवर्षके अन्तर्गत वीतशोक नगरमे राजा अनन्तवीर्य रानी सीताके साथ कालयापन करते थे । उनके सनत्कुमार नामका अत्यन्त रूपवान् पुत्र उत्पन्न हुआ जो

गंगायां नावि मग्नायां एणिकातनयो यतिः ।
अमूढमानसः स्वार्थं साधयामास शाश्वतम् ।।१६२२।।

महापुण्योदयसे चक्रवर्ती की विभूति को प्राप्तकर नवनिधि और १४ रत्नों का स्वामी हुआ । एक दिन सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र अपनी सभा में उनके रूप की प्रशसा कर रहा था, जिसे सुनकर मणिमाल और रत्नचूल नामके दो देव गुप्त भेषमे आये और स्नान करते हुए चक्रवर्ती का त्रिभुवन प्रिय सर्व सुन्दर रूप देखकर आश्चर्यान्वित हुए । इसके बाद उन देवोंने अपने असली वेषमें आकर वस्त्रालंकारोंसे अलंकृत सिंहासन पर स्थित चक्रवर्तीके रूपको देखा और खेदित हो उठे । राजाने इसका कारण पूछा तब देव बोले—महाराज ! यथार्थमे आपका रूप देवोंको भी दुर्लभ है, इसकी तो हमें प्रसन्नता है किन्तु मनुष्य का रूप क्षणाक्षयी है यह देखकर हमें खेद हुआ । जो रूप कुछ समय पहिले स्नानगृहमे देखा था, वह अब दिखाई नही देता । यह बात सभासदोकी समझमें नही आई, तब देवोने एक पानीसे भरा हुआ घड़ा मगाया और उसमेसे एक बूँद जल निकालकर सभासदोसे पूछा कि बताओ पहिलेसे इस घड़ेमे कुछ विशेषता दिखाई दी क्या ? यह सब चमत्कार देखकर चक्रवर्तीको वैराग्य हो गया और वे जैनेश्वरी दीक्षा धारण करके तपश्चरणमे सलग्न हो गये । पूर्व पापोदयसे उनके सारे शरीरमे भयंकर कुष्ट रोग उत्पन्न हो गया । एक देव उनके धैर्यकी परीक्षा लेनेके लिए वैद्यका वेष धारण करके आया और उपचार करानेका आग्रह करने लगा । तब मुनिराज बोले—भो वैद्य ! मुझे जन्म-मरण का भयकर रोग दुःख दे रहा है, यदि आप इस रोगकी चिकित्सा कर सकते हो तो करो । महाराज की बात सुनकर वैद्य अत्यन्त लज्जित हुआ और चरणोंमें गिरकर बोला—स्वामिन् ! इस रोग की राम बाण औषधि तो आपके पास ही है । इसप्रकार देव मुनिराजके निर्दोष चारित्र को और शरीरमे निर्मोहपनेकी प्रशसा करता हुआ स्वर्ग चला गया और सनत्कुमार मुनिराजने अपने धैर्यसे उस परीषह पर विजय प्राप्त की और अष्ट कर्मोंको नष्टकर मोक्षलक्ष्मीके स्वामी बने ।

सनत्कुमार चक्रीको कथा समाप्त ।

एणिक पुत्र नामक मुनि नौकामे आरोहण कर गंगा नदी पार कर रहे थे मध्यमें नौका डूब गयी । उस वक्त सावधान बुद्धि होकर उन मुनिराजने आराधना द्वारा शाश्वत धाम मोक्ष प्राप्त किया था ।।१६२२।।

अवमोदर्यमंत्रेण भद्रबाहुर्महामनाः ।
क्षुभुक्षाराक्षसीं जित्वा स्वीचकारार्थमुत्तमम् ।।१६२३।।
मासोपवाससंपन्नश्चंपायां तृड्ज्वरार्दितः ।
धर्मघोषो मुनिः प्राप्तः स्वार्थं गंगानदीतटे ।।१६२४।।

पणिक–एणिक पुत्र मुनिकी कथा—

पणीश्वर नामक नगरमें राजा प्रजापाल राज्य करते थे । वहाँ एक सागरदत्त सेठ अपनी पणिका नामकी स्त्रीके साथ आनन्दसे रह रहा था । उन दोनोंके एक पणिक नाम का पुत्र था, जो सरल, शान्त और पवित्र हृदय का था । एक दिन पणिक भगवान के समवसरणमे गया । वहाँ उसने गंध कुटीमें स्थित वर्द्धमान स्वामी का दिव्य स्वरूप देखा, जिससे उसके रोम-रोम पुलकित हो उठे । भगवान की स्तुति और पूजन आदि कर चुकनेके बाद पणिकने धर्मोपदेश सुना और अपनी आयुके विषयमें प्रश्न भी किया तथा अल्प आयु जानकर वह वहीं दीक्षित हो गया । दीक्षा लेकर पणिक मुनिराज अनेक देशोमें विहार करते हुए गंगापार करनेके लिए एक नावमें बैठे । मल्लाह सुचारुरीत्या नाव खे रहा था कि अचानक भयंकर आँधी आई, नाव डगमगाने लगी, उसमें पानी भर गया, फलस्वरूप नाव डूबने ही वाली थी कि पणिक मुनिराज विशेष आत्मविशुद्धि के साथ शुक्लध्यानमें लीन हो गये और केवलज्ञान की प्राप्तिके साथ ही मोक्ष प्राप्त कर लिया ।

कथा समाप्त ।

भद्रबाहु नामके महामुनिने अवमौदर्य तप रूप मत्र द्वारा क्षुधा रूपी राक्षसी को जीतकर उत्तम रत्नत्रय अर्थको प्राप्त किया था ।।१६२३।।

चंपानगरीमे गंगा नदीके तटपर एक मासके उपवासका नियम लेकर धर्मघोष मुनि स्थित थे, तब उन्हें भयंकर तृषा-प्यासको पीडा हुई किन्तु उसे सहन करते हुए उन्होंने आराधना द्वारा मोक्षको प्राप्त किया ।।१६२४।।

धर्मघोष मुनिकी कथा—

धर्ममूर्ति परम तपस्वी धर्मघोष मुनिराज एक माहके उपवास करके चम्पापुरी नगरमें पारणाके अर्थ गये थे । पारणा करके तपोवन को ओर लौटते हुए रास्ता भूल

पूर्वकारातिदेवेन कृतैः शीतोष्णमारुतैः ।
श्रीदत्तः पीड्यमानोऽपि अग्राहाराधनां सुधीः ॥१६२५॥

गये जिससे चलनेमे अधिक परिश्रम हुआ और उन्हें तृषा वेदना उत्पन्न हो गई । वे गंगा किनारे आकर एक छायादार वृक्षके नीचे बैठ गये । उन्हें प्याससे व्याकुल देख गंगादेवी पवित्र जलसे भरा हुआ लोटा लाकर बोली—योगिराज ! मैं ठण्डा जल लाई हूँ आप इसे पीकर अपनी प्यास शांत कीजिए । मुनिराज ने जल तो ग्रहण नही किया और प्राण हरण करने वाली तृषा वेदनाके मात्र ज्ञाता दृष्टा बनते हुये ध्यानारूढ हो गये । यह देखकर देवी चकित हुई और विदेह क्षेत्र जाकर समवशरणमें प्रश्न किया कि जब मुनिराज प्यासे है तो जल ग्रहण क्यों नही करते ? वहाँ गणधर देवने उत्तर दिया कि दिगम्बर साधु न तो असमय भोजन पान ग्रहण करते हैं और न देवों द्वारा दिया गया आहार आदि ही ग्रहण करते हैं । यह सुनकर देवी बहुत प्रभावित हुई और उसने मुनिराजको शांति प्राप्त करानेके हेतु उनके चारो ओर सुगन्धित और ठण्डे जलकी वर्षा प्रारम्भ कर दी । यहाँ मुनिराज ने आत्मोत्थ अनुपम सुखके रसास्वाद द्वारा कर्मोत्पन्न तृषा वेदना पर विजय प्राप्त की और चार घातिया कर्मोंका नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया ।

कथा समाप्त ।

श्रीदत्त नामके बुद्धिमान् मुनिराज ध्यानमे स्थित थे उस समय पूर्व जन्मके बैरीने शीतवायु एव उष्णवायु द्वारा बड़ी भारी पीड़ा दिये जानेपर उन्होंने सम्यक्त्व आदि चार आराधनाओंको ग्रहण किया था ॥१६२५॥

श्रीदत्त मुनिकी कथा—

इलावर्धन नगरीके राजाका नाम जितशत्रु था । उनकी इला नामकी रानी थी जिससे श्रीदत्त नामक पुत्रने जन्म लिया । श्रीदत्तकुमार का विवाह अयोध्याके राजा अंशुमान की पुत्री अंशुमतीसे हुआ था । अंशुमतीने एक तोता पाल रखा था । चौपड़ आदि खेलते हुए जब राजा विजयी होता तब तो तोता एक रेखा खीचता और जब रानी जीतती थी तब चालाकी से दो रेखाएँ खीच देता था । उसकी यह शरारत दो चार बार तो राजाने सहन करली आखिर उसे गुस्सा आ गया और उसने तोतेकी

मारुतं ग्रैष्मकं तापं वह्नितप्तं शिलातलम् ।
सोढ्वा वृषभसेनोऽपि स्वार्थं प्रापदनाकुलः ।।१६२६।।

गरदन मरोड़ दी । तोता मरकर व्यन्तर देव हुआ । श्रीदत्त राजाको एक दिन बादलकी टुकड़ी को छिन्न-भिन्न होते देखकर वैराग्य हो गया और उन्होने संसार परिभ्रमणका अन्त करने वाली जैनेश्वरी दीक्षा धारण करली । अनेक प्रकारके कठोर तपश्चरण करते हुए और अनेक देशोंमे विहार करते हुए श्रीदत्त मुनिराज इलावर्धन नगरी आये और नगरके बाहर कायोत्सर्ग ध्यानसे खड़े हो गये । ठण्ड कड़ाके को पड़ रही थी । उसी समय शुकचर व्यन्तर देवने पूर्व बैरके कारण मुनिराज पर घोर उपसर्ग प्रारम्भ कर दिया । वैसे ही ठण्डका समय था और उस देवने शरीरको छिन्न-भिन्न कर देनेवाली खूब ठण्डी हवा चलाई, पानी बरसाया तथा खूब ओले गिराये । पर मुनिराजने अपने धैर्य रूपी गर्भगृहमें बैठकर तथा समता रूपी कपाट बन्द करके सयमादि गुण रत्नोको उस जलके प्रवाहमे नही बहने दिया, उसके फलस्वरूप वे उसी समय केवलज्ञानको प्राप्त करते हुए मोक्ष पधारे ।

कथा समाप्त ।

वृषभसेन नामके मुनिराज शिला पर ध्यान करते थे किसी दिन गरमीमें उस शिलाको किसीने अग्निसे तपाया । उस अग्निवत् तप्त हुई शिलाका ताप तथा उष्ण वायुका ताप सहन करके भी अनाकुल भावयुक्त हो आराधनाको उन्होने प्राप्त किया था ।।१६२६।।

वृषभसेन मुनिकी कथा—

उज्जैनके राजा प्रद्योत एक दिन हाथी पर बैठकर हाथी पकडनेके लिये जगल की ओर जा रहे थे । रास्तेमे हाथी उन्मत हो उठा और इन्हे भगाकर बहुत दूर लेगया । राजा प्रद्योत एक वृक्षकी डाल पकडकर ज्यों त्यों बचे । प्याससे व्याकुल चलते हुवे ये खेट ग्रामके कुएँ पर पहुँचे । उसी समय जल भरनेके निमित्त आई हुई जिनपाल की पुत्री जिनदत्ताने उन्हें जल पिलाया और पितासे जाकर सब समाचार कह दिये । "ये कोई महापुरुष है" ऐसा विचारकर जिनपाल उन्हे आदरसत्कार पूर्वक अपने घर ले गया और जिनदत्ताके साथ उसकी शादी कर दी । जिनदत्ताको पट्टरानीके पदपर नियुक्त कर राजा सुखसे रहने लगा । समय पाकर उन दोनों के वृषभसेन नामका

अग्निराजसुतः शक्त्या विद्धः क्रौंचेन संयतः ।
रोहेडकपुरे सोढ्वा देवीमाराधनां श्रितः ॥१६२७॥

पुत्र हुवा । वृषभसेन जब आठ वर्षके थे तब राजा प्रद्योत पुत्रको राज्य भार देकर दीक्षा लेना चाहते थे । पुत्रने दीक्षा लेनेका कारण पूछा । पिताने कहा–बेटा ! राज्य का भोग भोगते हुवे सच्चे सुख की प्राप्ति नही होती, उसके लिये तपश्चरण आवश्यक है । सच्चे सुखकी बात सुनकर बहुत समझाए जानेपर भी पुत्रने इन्द्रिय सुखोके कारणभूत राज्यको ग्रहण नही किया और पिताके साथ ही उसने भी जिनदीक्षा धारण कर ली । वृषभसेन मुनिराज तपस्या करते हुवे अकेले ही अनेक देशोंमें घूमते हुए कौशाम्बी नगरीमें आये और छोटी सी पहाड़ी पर ठहर गये । गर्मीका समय था, धूप तेज पड रही थी । मुनिराज एक पवित्र शिलापर बैठकर ध्यान करते थे । कड़ी धूपमे इसप्रकारकी योग साधना तथा आत्मतेजसे उनके शरीरका सौन्दर्य इतना देदीप्यमान हो उठा कि लोगोंके मनमें उनकी श्रद्धा अति दृढ होती गयी और जैनधर्मका प्रभाव वृद्धिगत होने लगा । एक दिन महाराज जब शहरमें भिक्षार्थ गये थे तब एक जैनधर्म द्वेषी बौद्ध भिक्षुने दुष्टतासे महाराजके उस ध्यान करनेके लिये बैठनेकी शिलाको अग्निसे तपा दिया । मुनिराज आहारसे लौटे शिला को संतप्त देख समझ गये कि यह उपसर्ग आया है । उन वीर मुनिराजने उसी तप्त शिला पर आरूढ हो समाधिपूर्वक आराधनाको साधते हुए प्राण त्याग किया और उत्तमगति प्राप्त की ।

कथा समाप्त ।

अग्नि नामके राजाके पुत्र कार्त्तिकेय नामके मुनिने रोहेडक नामके नगरमें क्रौच नामके व्यक्ति द्वारा शक्ति नामके शस्त्र द्वारा घायल किये जानेपर भी उसको सहन करते हुए आराधनादेवीका आश्रय लिया था अर्थात् समाधि धारण की थी ॥१६२७॥

कार्तिकेय मुनिकी कथा—

राजा अग्निदत्तके वीरवती रानीसे कृत्तिका नामकी पुत्री हुई । जब वह यौवन वती हुई तो राजा उसपर मोहित हो गया । उसने छलसे राज सभामें प्रश्न किया कि राजमहलमें जो भी पदार्थ है उन सबका स्वामी कौन होता है ? मंत्री आदिने कहा आप ही तो स्वामी हैं । किन्तु वहांपर उपस्थित जैन मुनिने कहा राजन् ! कन्याओंको

काकंद्यां चडवेगेन छिन्ननि:शेषविग्रहः ।
विषह्याभयघोषोऽपि पीडामाराधनां गतः ।।१६२८।।

छोड़कर और सब पदार्थोंके स्वामी आप है। राजाको यह मुनि वाक्य रुचा नहीं। रुचता भी कैसे ? कामीको कभी भी गुरुके वाक्य रुचते नही। राजाने जबरदस्ती अपनी पुत्री कृत्तिकाके साथ विवाह कर लिया।

कुछ समय बाद उसके दो संतानें हुई। एक पुत्र और एक पुत्री। यथा समय पुत्री वीरमतीका विवाह रोहेडक नामके नगरके राजा क्रौंचके साथ हुआ। पुत्र कार्त्तिकेय अभी अविवाहित था। एक दिन मित्रोके यहाँ नानाके घरसे वस्त्राभूषण आये देख उसने मातासे प्रश्न किया कि हमारे नानाके यहांसे वस्त्राभूषण क्यों नहीं आते ? पुत्रका प्रश्न सुनकर माताके हृदयपर मानो वज्रपात हो हुआ। नयन नीरसे भर आये। माताकी दशा देखकर पुत्रने कारण पूछा। बहुत हठ करनेपर माताने सब कह डाला कि तुम्हारा पिता ही नाना है, कार्त्तिकेयका हृदय ग्लानिमे भर गया। उसने कहा माता ! ऐसे कुकृत्यको करते हुए राजा को किसी ने नही रोका ? माता ने कहा—जैन मुनिने रोका था किन्तु राजा ने सुना नही, उलटे उन मुनिको नगरसे बाहर निकाल दिया। कार्त्तिकेय का मन वैराग्य युक्त हुआ। उसने वनमें जाकर मुनिराजसे जिनदीक्षा ग्रहण की। क्रमशः विहार करते हुए कार्त्तिकेय मुनि रोहेडक नगरीमे आये जहां उनकी बहिन राजा क्रौंच से ब्याही थी। मुनिराज को राजमार्ग से आते हुए देखकर वीरमती बहिन ने उन्हें पहिचान लिया और धर्मप्रेम तथा भ्राता प्रेमसे विह्वल हो समीपमें बैठे राजाको बिना पूछे ही वह शीघ्रता से महलसे उतरकर मुनिराजके चरणोंमे गिरी। राजा विधर्मी था, मुनिके स्वरूप को नहीं जानता था। उसने क्रोधमे आकर कर्मचारियोंको आज्ञा दी कि इस व्यक्ति की चमडी चमडी छील डालो। कर्मचारियो द्वारा मुनिराज पर महान् उपसर्ग प्रारंभ हुआ उनका सारा तन छेदा गया किन्तु भेदज्ञानी परम ध्यानमें लीन मुनिराज ने अत्यंत शांत भावसे सल्लेखना पूर्वक प्राण त्याग किया। धन्य है कार्त्तिकेय मुनिराज जिन्होंने घोर वेदनामें भी आत्मध्यान नहीं छोड़ा।

कथा समाप्त।

काकंदी नगरीमे चंडवेग नामके दुष्ट व्यक्ति द्वारा सारा शरीर बाणोंसे घायल होनेपर भी अभयघोष नामके यतिराजने उस उग्र पीड़ा को सहनकर आराधनाको प्राप्त किया ।।१६२८।।

प्रपेदे मशकैर्दंशैः खाद्यमानो महामनाः ।
विद्युच्चौरमुनिः स्वार्थं सोढदुःसहवेदनः ।।१६२९।।

अभयघोष मुनिकी कथा—

काकन्दीपुरमें राजा अभयघोष राज्य करते थे । उनकी रानीका नाम अभयमती था । इन दोनों मे अत्यन्त प्रीति थी । एक दिन राजा अभयघोष घूमने जा रहे थे । रास्ते मे उन्हें एक मल्लाह मिला जा जीवित कछुए के चारों पैर बाँधकर लकड़ी में लटकाये हुए जा रहा था । राजा ने अज्ञानता वश तलवार से उसके चारों पैर काट दिये । कछुआ तड़फड़ा कर मर गया और अकाम निर्जरा के फल से उसी राजा के चण्डवेग नाम का पुत्र हुआ ।

एक दिन चन्द्रग्रहण देखकर राजा को वैराग्य हो गया, उसने पुत्र को राज्य-भार सौपकर दीक्षा धारण करली । वे कई वर्षो तक गुरु के समीप रहे । इसके बाद संसार समुद्र से पार करने वाले और जन्म, जरा तथा मृत्यु को नष्ट करने वाले अपने गुरु महाराज से आज्ञा लेकर और उन्हें नमस्कार करके धर्मोपदेशार्थ अकेले ही विहार कर गये । कितने ही वर्षों बाद घूमते घूमते काकन्दीपुर आये और वीरासनमे स्थित होकर तपस्या करने लगे । इसी समय जो कछुवा मरकर उनका पुत्र चण्डवेग हुआ था वह वहा से आ निकला और पूर्वभव (कछुआ की पर्याय) की कषायके सस्कार वश तीव्र क्रोधसे अन्धे होते हुए उस चण्डवेग ने उनके हाथ पैर काट दिये और तीव्र कष्ट दिया । इस भयंकर उपसर्ग के आजाने पर भी अभयघोष मुनिराज मेरु सदृश निश्चल रहे और शुक्लध्यानक बलसे अक्षयानन्त मोक्ष लाभ किया ।

कथा समाप्त ।

विद्युत्चर (चोर) नामके मुनि दशमशकों द्वारा खाये जानेपर भी अपने स्वार्थ मोक्षको प्राप्त हुए, कैसे थे वे मुनिराज ? उदार है मन जिनका तथा घोर वेदना को सहनेवाले थे ।।१६२९।।

विद्युच्चर मुनिकी कथा—

मिथिलापुर के राजा वामरथ के राज्य में यमदण्ड नामका कोतवाल और विद्युच्चर नामका चोर था । विद्युच्चर चोरियाँ बहुत करता था पर अपनी चालाकीके

कारण पकड़ा नही जाता था। वह दिन को कुष्ठी का रूप धारण कर किसी शून्य मन्दिर में गरीब बनकर रहता था और रात्रिमे दिव्य मनुष्य का रूप धारण कर चोरी करता था। एक दिन उसने अपने दिव्य रूप से राजा को मोहित कर उनके देखते देखते हार चुरा लिया। राजाने कोतवाल को बुलाकर सात दिन के भीतर चोर को पकड़ लाने की आज्ञा दी। छह दिन व्यतीत हो जाने पर भी चोर नही पकड़ा गया, सातवें दिन देवी के सुनसान मन्दिर मे एक कोढी को पड़ा हुआ देखकर कोतवाल को उसके ऊपर सन्देह हुआ और उसने उसे बहुत अधिक मार लगाई परन्तु कोढी ने अपने को चोर स्वीकार नही किया। तब राजा ने कहा—अच्छा मैं तेरा सर्व अपराध क्षमा करता हूँ और अभय का वचन देता हूँ तू यथार्थ बात बतला दे। अभय की बात सुनते ही कोढी, रूपधारी विद्युच्चर बोला—महाराज! मैं आभीर प्रान्त के अन्तर्गत वेनातट शहर के राजा जितशत्रु और रानी जयावती का विद्युच्चर नाम का पुत्र हूँ और यह यमदण्ड उसी राजाके यमपाश कोतवाल का पुत्र है। मैंने बचपन मे विनोद के लिए चौर्यशास्त्र का अध्ययन किया था और अपने मित्र यमदण्ड से कहा था कि जहाँ आप कोतवाली करेंगे, वही मैं चोरी करूँगा। हम दोनो के पिता अपना अपना कार्य भार हम लोगों को सौपकर दीक्षित हो गये। मेरे भय से यमदंड यहां भाग आया और अपनी बचपन की प्रतिज्ञा पूर्ण करने के उद्देश्य से मैने भी यहाँ आकर चोरी का कार्य प्रारम्भ कर दिया। विद्युच्चर की बात सुनकर राजा वामरथ बड़ा प्रसन्न हुआ। विद्युच्चर अपने मित्र यमदण्ड को लेकर अपने नगर चला गया। किन्तु इस घटना से वैराग्य हो गया और उसने अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। सघ सहित विहार करते हुए विद्युच्चर मुनिराज ताम्रलिप्त पुरी को ओर आये। सघ सहित नगरमे प्रवेश करने को थे कि वहा की चामुण्डा देवी ने कहा—हे साधो! अभी मेरी पूजा विधि हो रही है। आप भीतर मत जाइये। इसप्रकार रोके जाने पर भी महाराज श्री अपने शिष्यो के आग्रह से भीतर चले गये और परकोटे के पास की भूमि देखकर बैठ गये तथा ध्यानारूढ़ हो गये। अपनी अवज्ञा जानकर देवी को क्रोध आगया और उसने कबूतरों के आकार के खून पीने वाले डाँस मच्छरो की सृष्टि करके मुनिराज पर घोर उपसर्ग किया। मुनिराज ने यह उपसर्ग बड़ी शान्ति से सहन किया और अपने मन को चारो आराधनाओ में रमाते हुए मोक्षनगर के स्वामी बने।

कथा समाप्त।

वास्तव्यो हास्तिने धीरो द्रोणीमतिमहीधरे ।
गुरुदत्तो यतिः स्वार्थं जग्राहानलवेष्टितः ॥१६३०॥

हस्तिनापुरके मुनि गुरुदत्त द्रोणीमति पर्वत पर ध्यान करते थे उनको किसी दुष्ट ने वेष्टित कर जला दिया था उस घोर वेदनामें भी उन्होने रत्नत्रय रूप स्वार्थको ग्रहण किया था–मोक्षको प्राप्त किया था ॥१६३०॥

गुरुदत्त मुनिकी कथा—

हस्तिनापुरमें गुरुदत्त नामके राजा राज्य करते थे । उसी समय द्रोणीमति पर्वतके समीप चन्द्रपुरी नगरीमे राजा चन्द्रकीर्त्ति था, उसकी अभयमती नामकी अनिंद्य-सुंदरी कन्या हुई । गुरुदत्तने उस कन्या की मांग की किन्तु चन्द्रकीर्त्तिने मना किया उससे कुपित होकर गुरुदत्तने उसपर चढाई कर दी । अभयमती को जब यह वृत्तांत ज्ञात हुआ तब उसने पिता से प्रार्थना की कि मेरा इस जन्ममें गुरुदत्त ही पति हो ऐसा मेरा प्रण है अतः आप उसीसे विवाह कर दीजिये । पुत्री की बात पिता को माननी पडी । मगल वेलामें विवाह सम्पन्न हुआ । गुरुदत्त राजा अभयमतीके साथ आनदसे रहने लगा । द्रोणीमति पर्वतमें रहने वाला एक सिह जनता को बहुत कष्ट दे रहा है ऐसा सुनकर गुरुदत्त राजा वहां आया और सिंहकी गुफामें चारों ओर आग लगाकर सिहको जला दिया । सिंह अकाम निर्जरा करके उसी चन्द्रपुरीमें ब्राह्मण का पुत्र हुआ ।

गुरुदत्त नरेश कुछ समय तक राज्य करके दीक्षित होते हैं और क्रमशः विहार करते हुए उसी द्रोणीमति पर्वतके निकट उसी कपिल ब्राह्मणके खेतमें ध्यानस्थ होते हैं । उस समय कपिल अपनी पत्नी को खेत पर भोजन लानेके लिये कहकर खेत पर आया वहां मुनि को देखकर उस खेत को जोतना उचित नही समझा अतः दूसरे खेतमे जाने का सोचा । उसने मुनिराजसे कहा–मैं दूसरे खेत पर जा रहा हूँ । मेरी पत्नी भोजन लेकर आयेगी उसको कह देना । मुनि ध्यानस्थ थे उन्होने कपिल पत्नी को पूछने पर भी कुछ उत्तर नहीं दिया । ब्राह्मणी घर चली गयी । कपिल को समय पर भोजन नही मिला अतः घरमे आनेपर पत्नी को पीटना प्रारभ किया, ब्राह्मणी ने घबराकर कहा कि मैं तो खेतपर गयी थी किन्तु आप नही मिले, वहां एक महात्मा बैठे थे उन्हें भी पूछा किन्तु कुछ उत्तर नही मिलनेसे वापिस आयी हूँ । इतना सुनते ही कपिलका क्रोध और अधिक बढ़ गया । उसने तत्काल खेतमें जाकर सेमर नाम की रूई से मुनिराज

गाढप्रहारविद्धोऽपि कीटिकाभिरनाकुलः ।
स्वार्थं चिलातपुत्रोऽगाच्चालनीकृतविग्रहः ।।१६३१।।

गुरुदत्त को लपेट दिया और आग लगा दी। उस घोर उपसर्गको धीर वीर मुनिने अत्यंत शातभावसे सहा। वे शरीरको ममताका त्यागकर शुक्ल ध्यानमे लीन हो गये और ध्यान द्वारा केवलज्ञानको प्राप्त किया।

केवलज्ञान की पूजाके लिये चतुर्निकाय देव आये। कपिल ब्राह्मण को बहुत पश्चात्ताप हुआ। उसने गुरुदत्त केवलीसे पुनः पुन. क्षमा मांगी और उनकी दिव्य देशना द्वारा अपना कल्याण किया। देखो ! काष्टके समान शरीर जलते हुए भी गुरुदत्त मुनिराज आत्मामें लीन हुए और केवलज्ञान प्राप्त किया।

कथा समाप्त।

बड़े बड़े कीडोंके द्वारा चलनीके समान होगया है शरीर जिनका ऐसे चिलात-पुत्र नामा मुनिने दृढ़ शस्त्र प्रहारसे युक्त होते हुए भी अनाकुल रहकर आराधना रूप स्वार्थ अर्थात् मुक्ति को पायी थी ।।१६३१।।

चिलातपुत्र मुनिकी कथा—

राजगृह नगरीमे राजा उपश्रेणिक राज्य करते थे। एक दिन वे घोडे पर बैठकर घूमने गये। घोड़ा दुष्ट था सो उसने उन्हें एक भयानक वनमें छोडा। उस वन का मालिक यमदण्ड नाम का भील था। उसके एक तिलकवती नामकी सुन्दर कन्या थी। राजा ने उसकी मांगकी। "इसका पुत्र ही राज्य का अधिकारी होगा" इस शर्तके साथ भील ने कन्या राजा को सौप दी। उससे चिलात पुत्र नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा अपने वचनानुसार राज्यका भार उसे सौपकर दीक्षित हो गये। राजा बनते ही चिलातपुत्र प्रजापर नाना प्रकारके अन्याय करने लगा। जब कुमार श्रेणिक ने यह बात सुनी तब उन्होने अपने पौरुषसे चिलातपुत्र को राज्यमे बहिष्कृत करके पिताका राज्य संभाला अर्थात वे मगधके सम्राट बन गये। चिलात पुत्र मगधसे निकलकर किसी वनमें जाकर बस गया और आस-पास के ग्रामोंसे जबरदस्ती कर वसूल कर उनका मालिक बन बैठा। उसका भर्तृमित्र नामका मित्र था। भर्तृमित्रने अपने मामा रुद्रदत्तसे उनकी कन्या सुभद्रा चिलात पुत्रके लिए माँगी। रुद्रदत्तने इसे स्वीकार नही किया, तब

यमुनावक्रनिक्षिप्तः शरपूरितविग्रहः ।
अध्यास्य वेदनां चंडः स्वार्थं शिश्राय धीरधीः ।।१६३२।।

चिलातपुत्र ने विवाह स्नान करती हुई सुभद्राका हरण कर लिया जब यह बात श्रेणिक ने सुनी तब वह सेना लेकर उनके पीछे दौड़ा श्रेणिकसे अपनी रक्षा न होते देख चिलात ने उस कन्या को निर्दयता पूर्वक मार डाला और आप अपनो जान बचाकर वैभार पर्वत परसे भागा जा रहा था कि उसे वहां मुनियो का एक सघ दिखाई दिया और उसने उनसे दोक्षाकी याचना की । तेरी आयु अब मात्र आठ दिन की रही है ऐसा कहकर आचार्य ने उसे दीक्षा दे दी । दीक्षा लेकर चिलात मुनिराज प्रायोपगमन सन्यास लेकर आत्मध्यानमें लीन हो गये । सेना सहित पीछा करने वाले श्रेणिक ने जब उन्हे इस अवस्थामें देखा तब वे बहुत आश्चर्यान्वित हुए और मुनिराजको भक्ति-पूर्वक नमस्कार करके राजगृह लौट आए । चिलातपुत्रने जिस कन्या को मारा था वह मरकर व्यंतर देवी हुई और "इसने मुझे निर्दयता पूर्वक मारा था" इस वैरका बदला लेने हेतु वह चील का रूप ले चिलात मुनिके सिर पर बैठ गई । उसने उनको दोनो आंखे निकाल ली और सारे शरीर को छिन्न-भिन्न कर दिया जिससे उनके घावों में बड़े-बड़े कीड़े पड़ गये इसप्रकार आठ दिन तक वह देवी उन्हे अनिर्वचनीय वेदना पहुँचाती रही. किन्तु मन, इन्द्रियों और कषायो को वशमें करने वाले मुनिराज अपने ध्यानसे किंचित् भी विचलित नही हुए तथा समाधिपूर्वक शरीर छोड़कर सर्वार्थ सिद्धि की प्राप्ति की ।

कथा समाप्त ।

यमुनावक्र नामके दुष्ट पुरुष द्वारा छोड़े गये बाणोंसे घायल हुआ है शरीर जिनका ऐसे चड (दड—धन्य) नामके मुनिने धीर बुद्धि होकर उस घोर वेदनाको सहन कर रत्नत्रयको प्राप्त किया था ।।१६३२।।

(धन्य) चंड या दंड नामके मुनिकी कथा—

पूर्व विदेहक्षेत्रको प्रसिद्ध राजधानी वीतशोकपुर का राजा अशोक अत्यन्त लोभी था । वह धान्यका दाय करते समय बैलों के मुख बधवा दिया करता था जिससे वे अनाज न खा सके और रसोइ गृहमे रसोई करने वाली स्त्रियों के स्तन बंधवा देता था ताकि उनके बच्चे दूध न पी पावें । एक समय राजा अशोक के मुखमे कोई भयकर

यंत्रेण पीडयमानांगाः प्राप्ताः पंचशतप्रमाः ।
कुंभकारकटे स्वार्थमभिनंदनपूर्वगाः ।।१६३३।।

रोग हो गया । उसने उस रोगकी औषधि बनवाई । वह उसे पीने ही वाला था कि इतने में उसी रोगसे पीड़ित एक मुनिराज आहारके लिए इसी ओर आ निकले । राजा ने पथ्य सहित वह औषधि मुनिराज को पिला दी, जिससे उनका बारह वर्ष पुराना रोग ठीक हो गया । उस पुण्यके फलसे आगामी भवमे राजा अमलकपुरके राजा नंदीसेन और रानी नन्दमतीके धन्य नामका पुत्र हुआ । समय पाकर उसने राज्य सिंहासन को सुशोभित किया । एक समय धन्य राजा भगवान नेमिनाथके समवशरणमें धर्मोपदेश सुननेके लिए गये थे । वहां उन्हे वैराग्य हो गया और वे वहीं दीक्षित हो गये । पूर्वभव मे जो बच्चों और पशुओ के भोजनमे अन्तराय डाला था । उस पापोदयसे प्रतिदिन गोचरी को जाते हुए भी उन्हे लगातार नौ माह तक आहारका लाभ नही हुआ अन्तिम दिन वे सौरीपुरके निकट यमुनाके किनारे ध्यानस्थ हो गये । उस दिन वहांका राजा वनमें शिकार खेलने आया, पर दिनभरमे उसे कुछ भी हाथ न लगा । नगर को लौटते हुए राजा की दृष्टि मुनिराज पर पडी । उन्हे देखते ही उसका क्रोध उबल पड़ा कि इसने ही आज अपशकुन किया है । प्रतिशोध की भावना से राजा ने मुनि के शरीरको तीक्ष्ण बाणो से बीध डाला । सैकड़ो बाणों के एक साथ प्रहारसे मुनिराज का शरीर चलनी को सदृश जर्जरित हो गया और सारे शरीर से रक्त धाराएँ फूट पडी । मुनिराज ने उपसर्ग प्रारम्भ होते ही प्रायोपगमन सन्यास ग्रहण कर लिया और चारो आराधनाओं में सलग्न होते हुए अन्तकृत केवली होकर मोक्ष पधारे ।

कथा समाप्त ।

अभिनंदन आदि पांचसौ मुनिराजोने कुंभकारकट नामके नगरमे यंत्रमें पेले जानेपर भी रत्नत्रयकी आराधना की थी ।।१६३३।।

अभिनंदन आदि पाचसौ मुनिराजोकी कथा—

दक्षिण भारतमे स्थित कुम्भकारकट नगरके राजा का नाम दण्डक, रानी का नाम सुव्रता और राजमन्त्री का नाम बालक था । बालक मन्त्री जैनधर्म का विरोधी और अभिमानी था । एक समय उस नगरमे अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनिराज पधारे । मन्त्री बालक उनसे शास्त्रार्थ करनेके लिए जा रहा था । मार्गमे उसे खण्डक नामके

कुलालेऽरिष्टसंज्ञेन दग्धायां वसतौ गणी ।
सार्धं वृषभसेनोऽगावुत्तमार्थं तपोधनैः ॥१६३४॥

मुनिराज मिले और वह उन्ही से विवाद करने लगा । महाराजश्री के स्याद्वाद सिद्धान्त के सामने वह एक क्षण भी न टिक सका और लज्जित होता हुआ घर लौट गया, पर उसके हृदय मे अपमान की आग धधकने लगी । उसकी शान्ति के लिए उसने एक भाड को मुनि बनाकर रानी सुव्रता के महल में भेज दिया और राजा को वही लाकर खड़ा कर दिया । उस मुनि भेषी भाड की कुत्सित क्रियाएँ देखकर राजा क्रोध से अन्धा हो गया और उसने उसी समय आदेश दिया कि नगरमे जितने दिगम्बर साधु हो वे सब घानी में पेल दिये जांय । मन्त्री तो यह चाहता ही था । उसने तत्काल सब मुनिराजो को घानी मे पेल दिया । इस महान दु सह उपसर्ग को प्राप्त होकर भी साधु समूह अपने साम्य-भाव से विचलित नही हुआ और उत्तमार्थको प्राप्त किया ।

कथा समाप्त ।

कुलाल नगरीमें अरिष्ट नामके दुष्ट पुरुष द्वारा वसतिका को जला देनेपर वृषभसेन नामके आचार्य मुनियोके साथ उत्तमार्थको प्राप्त हुए थे ॥१६३४॥

आचार्य वृषभसेनकी कथा—

दक्षिण दिशा की ओर बसे हुए कुलाल नगरके राजा वैश्रवण बड़े धर्मात्मा और सम्यग्दृष्टि थे । इनका मंत्री इनसे बिल्कुल उल्टा मिथ्यात्वी और जैनधर्मका बड़ा द्वेषी था । सो ठीक ही है, चन्दन के वृक्षो के आसपास सर्प रहा ही करते है । एक दिन वृषभसेन मुनि अपने संघ को साथ लिए कुलाल नगर की ओर आये वैश्रवण उनके आने का समाचार सुन बडी विभूति के साथ भव्यजनों को संग लिये उनकी वन्दना को गये । भक्ति से उसने उनकी प्रदक्षिणा की, स्तुति की, वन्दना की और पवित्र द्रव्यों से पूजा की तथा उनसे जैनधर्म का उपदेश सुना । मंत्री ने मुनियों का अपमान करने की गर्ज से उनसे शास्त्रार्थ किया, पर अपमान उसी का हुआ । मुनियों के साथ उसे हार जाना पड़ा । इस अपमान को उसके हृदय पर गहरी चोट लगी । इसका बदला चुकाने का विचार कर वह शाम को मुनिसघ के पास आया और जिस स्थानमें वह ठहरा था उसमे उस पापी ने आग लगा दी । पर तत्वज्ञानी वस्तु स्थिति को जानने वाले मुनियों ने इस कष्ट की कुछ परवा न कर बड़ी सहनशीलताके साथ सब कुछ सह लिया और

अमी तपोधनाः प्राप्ताः स्वार्थमेकाकिनो यदि ।
अध्यास्य वेदनास्तीव्राः निःप्रतोकारविग्रहाः ।।१६३५।।
चतुर्विधेन संघेन विनीतेन निषेवितः ।
तदाराधयसे न त्वं देवोमाराधनां कथम् ।।१६३६।।
कर्णांजलिपुटैः पीत्वा जिनेंद्रवचनामृतम् ।
संघमध्ये स्थितः शक्तः स्वार्थं साधयितुं सुखम् ।।१६३७।।
श्वभ्रतिर्यग्नरस्वर्गसुख दुःखानि सर्वथा ।
त्वं चिंतय महाबुद्धे ! भवलब्धान्यनेकशः ।।१६३८।।
नरके वेदनाश्चित्रा दुःसहासातदायिनीः ।
देहासक्ततया प्राप्ताश्चिरं यास्ता विचिंतय ।।१६३९।।

अन्त मे अपने अपने भावों की पवित्रता के अनुसार उनमे से कितने ही मोक्षमे गये और कितने ही स्वर्गमें ।

कथा समाप्त ।

जिनके शरीरका प्रतीकार करने वाला कोई नही है तथा तीव्र वेदना को प्राप्त हैं ऐसे ये तपस्वी साधुजन अकेले अकेले होकर भी यदि रत्नत्रय को प्राप्त हुए थे तो चतुर्विध विनीत सघ द्वारा सेवित ऐस तुम आराधना देवी की किसप्रकार आराधना नहीं करते हो ? अर्थात् पूर्वोक्त मुनिराज तो अकेले थे कोई साथी सहायक नही था महाभयानक उपसर्गकृत वेदना ने भी उन सबको घेरा था ऐसी स्थितिमें भी उन्होने समाधिमरण प्राप्त किया तो सर्वसंघ तुम्हारी सेवामें प्रवृत्त है वेदना का प्रतीकार भी चल रहा है अतः तुम रत्नत्रय की आराधना कैसे नही करोगे ? ।।१६३५।।१६३६।।

हे क्षपक ! संघके मध्यमें रहते हुए तथा कर्णरूपी अंजुलि द्वारा जिनेन्द्र भगवान की वाणी रूपी अमृत को पीकर मोक्षरूप जो अपना स्वार्थ है उसको सुख पूर्वक सिद्ध किया जा सकता है ।।१६३७।।

भो क्षपक ! हे महाबुद्धे ! तुमने अतीत कालमें अनेकों बार नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति एव देवगतिके दुःख सुखोंको सब प्रकारसे प्राप्त किया है उन दुःखों को अब स्मरण करो ! ।।१६३८।।

क्षिप्तः श्वभ्रावनौ क्षिप्रं मेरुमात्रोऽपि सर्वथा ।
उष्णामुर्वीमनासाद्य लोहपिंडो विलीयते ॥१६४०॥

क्षिप्तस्तत्राग्निना तप्तोमेरुमात्रः सहस्रधा ।
शीतामवनिमप्राप्य लोहपिंडो विशीर्यते ॥१६४१॥

तादृशी वेदना श्वभ्रे घोरदुःखे निसर्गजा ।
यादृशो चूर्णितस्यास्ति क्षिप्तक्षारस्य चेततः ॥१६४२॥

यच्छ्वभ्रावसथे भीमे प्राप्नोद्दुःखमनेकधा ।
निशितैः कंटकैर्लोहैस्तुद्यमानः समंततः ॥१६४३॥

यच्छूले कूटशाल्मल्यामसिपत्रवने गतः ।
सर्वतो भक्ष्यमाणोऽयं कंककाकादिपक्षिभिः ॥१६४४॥

नरकगतिके दुःख—

हे क्षपक ! शरीरमे मोह होनेके कारण नरकगतिमें तीव्र असाता को देनेवाली विचित्र वेदनाओको जो चिरकाल तक प्राप्त किया था उन्हें याद करो ! विचार करो ॥१६३९॥

मेरु प्रमाण लोहे का पिड नरक भूमिमे डाल दिया जाय तो वह वहांकी उष्ण पृथिवीको प्राप्त होनेके पहले रास्तेमे ही विलीन हो जायगा—पिघल जायगा । इतनी भयकर उष्णता नरकमे है ॥१६४०॥ और अग्निसे तपा हुआ वह मेरु प्रमाण लोहपिड नरकमे डालने पर शीत भूमिको प्राप्त होनेके पहले ही हजारो खंडरूप विशीर्ण होता है ॥१६४१॥

घोर दु:खोसे भरे हुए नरकमें स्वभावत: ही वैसी वेदना है जैसी वेदना मुद्गरसे पोटकर खारे जलमे डाले गये अमूर्च्छित व्यक्तिको हुआ करती है ॥१६४२॥

भयकर नरक भूमिमे पैने-नुकीले लोहमयी काटोके द्वारा चारो ओरसे तुम छेदे जाकर अनेक बार दु:खको प्राप्त कर चुके हो ॥१६४३॥

शूलके समान असिपत्र वनमें कूट शाल्मली वृक्ष जहां है वहां पर तुम जब गये थे तब सब ओरसे कंक, काक आदि पक्षीके द्वारा (पक्षीका रूप लेकर आये हुए नारको द्वारा) खाये गये थे हे क्षपक ! उस वक्त जो वेदना हुई उसे स्मरण करो

असुरंवैतरण्यां च प्रापितो निर्घृणाशयैः ।
कदंबवालुकापुंजं गाढमाना यदा सृतः (?) ।।१६४५।।
तप्तायःप्रतिमाकीर्णे यत्प्राप्तो लोहमंडपे ।
आयसं पाय्यमानोऽपि प्रतप्तं कललं कटु ।।१६४६।।
दुःस्पर्शं खाद्यमानो यल्लोहमंगारसंचयम् ।
पच्यमानः कदकासु मंडका इव रंधितः ।।१६४७।।
चूर्णितः कुट्टितश्छिन्नो यन्मुद्गरमुसंडिभिः ।
बहुशः खडितो लोकैर्यच्छ्ववभ्रस्थैरितस्ततः ।।१६४८।।
उत्पाटच बहुशो नेत्रे जिह्वा सछिद्यमूलतः ।
यन्नीतो नारकैर्दुःखं दुःखदानविशारदैः ।।१६४९।।

।।१६४४।। निर्दयी असुर कुमारों द्वारा वैतरणी नदीमें डुबाये गये। कदंब पुष्पके आकारके बालुके पुंजपर जबरन सुलाया गया उस समयका दुःख याद करो ।।१६४५।। लोहमयी मंडपमे तपायी हुई लोहेकी प्रतिमा जहां है वहां तुम्हे चिपकाया गया एव तपाया हुआ कल कल करता हुआ कटुक लोह रस तुम्हें जबरन पिलाया गया था, हे क्षपक ! उसका स्मरण करो ।।१६४६।।

नरकमें लोहेके गोलोंको तपाकर दुःस्पर्श, ऐसे अंगारेके समान लाल लाल हुए को तुमको नारकी द्वारा खिलाया गया था तथा कढाईमे मंडकोके समान पकाया गया था । उस दुःखको हे क्षपक ! याद करो ।।१६४७।।

नरकमे नारकी जीवोंके द्वारा इधर उधरसे आ आकर बहुत बार तुम्हारे शरीरके खड खंड किये गये तथा मुद्गर, मुसडो आदिके द्वारा छिन्न किये गये कूटे गये और चूर्ण चूर्ण किये गये थे ।।१६४८।।

नरकमे नारकी द्वारा तुम्हारे दोनो नेत्र बहुत बार उखाडे गये, जिह्वाको मूलसे काटा गया, दु.ख देनेमे निपुण ऐसे नारकी जीवों द्वारा जो तुमको दुःख दिया गया था उसको स्मरण करो ।।१६४९।। हे क्षपक मुने ! तुमको महासतापकारी कुंभी पाकमें चारों ओरसे पकाया गया था । शूलमे लगे मासके समान अंगारोंके समूहके मध्यमें तुम पकाये गये थे उस घोर दुःखको याद करो ।।१६५०।। हे मुने ! तुम नरकमें

कुंभीपाके महातापे क्वथितो यत्समंततः ।
अंगारप्रकरैः पक्वो यच्छूलप्रोतमांसवत् ।।१६५०।।
शाकवद्भुज्यमानो यत् गाल्यमानो रसेन्द्रवत् ।
चूर्णवच्चूर्ण्यमानो यद्वल्लूरमिव कर्तितः ।।१६५१।।
दारितः क्रकचैश्छिन्नः खड्गैर्विद्धः शरादिभिः ।
यत्पाटितः परश्वाद्यैस्ताडितो मुद्गरादिभिः ।।१६५२।।
पाशैर्बद्धोऽभितो भिन्नो द्रुघणैरवशो घनैः ।
दुर्गमेऽधोमुखीभूतो यत्क्षिप्तः क्षारकर्दमे ।।१६५३।।
यदापन्नः परायत्तो नारकैः क्रूरकर्मभिः ।
लोहशृंगाटके तीक्ष्णे लोटचमानोऽतिवेगतः ।।१६५४।।
तष्ट्वा लोकेऽखिलं गात्रं क्षुरप्रैर्निशितैश्चिरम् ।
वीजितः क्षारपानीयैः सिक्त्वा सिक्त्वा निरंतरम् ।।१६५५।।

नारकी द्वारा शाकके समान भरता किये गये अर्थात् अमरूद आदिको कोई अविवेकीजन अग्निमें समूचा डालकर भूनते हैं भुरता बनाते हैं वैसे तुम समूचे आगमें डालकर भुरता बनाये गये हो । इक्षुके रसको पकाकर जब गुड बनाते हैं तब जैसे वह रस अतिशय रूपसे पकता है उसके समान तुम वहा पकाये गये हो अथवा गुड को गलाकर चासनी बनाते है उस वक्त वह गुड जैसे खदबद करके पकता है वैसे तुमको गला-गलाके पकाया गया है । चूर्णके समान चूर-चूर किये गये हो तथा मांस खडके समान कतरे गये हो ।।१६५१।।

हे क्षपक ! तुम करोंत द्वारा विदारित किये गये, खड्ग द्वारा छिन्न अवयव किये गये, बाणादिसे विद्ध किये गये हो तथा फरसा आदिसे तुम्हारे अवयव उपाड़े गये एव मुद्गर आदिसे पीटे गये थे ।।१६५२।। पाश द्वारा चारो ओरसे कसकर बांधे गये, घनके द्वारा तथा कुल्हाडो द्वारा टुकड़े किये गये । गहन खारे जलके कीचड़मे नीचा मुख करके पटके गये थे ।।१६५३।।

क्रूर कर्म करनेवाले नारको जोवों द्वारा जब तुम पकड़े गये थे तब लोहमयी तीक्ष्ण कांटोंपर अति वेगसे लौटाया गया था ।।१६५४।। नरक लोकमें नारकीयोंने पैने खुरपे से तुम्हारा सारा शरीर चिरकाल तक छोला था तथा निरंतर खारे जलसे सीच

शक्तिभिः सूचिभिः खड्गैर्यश्छिन्नाखिलविग्रहः ।
विगलद्रक्तधाराभिः कर्दमीकृतभूतलः ॥१६५६॥

यत्स्फुटल्लोचनो दग्धो ज्वलिते वज्रपावके ।
यच्छिन्नहस्तपादादिश्छिद्यमानास्थिसंचयः ॥१६५७॥

शोषणे पेषणे कर्षणे घर्षणे लोटने मोटने कुट्टने पाटने ।
त्रासने ताडणे मर्द्दने चूर्णने छेदने भेदने तोदने यच्छितः ॥१६५८॥

छद-स्रग्विणी—

दुःकृतकर्मविपाकवशोत्थं कालमपारमनंतमसह्यम् ।
सोढमिदं हृदये कुरु सर्वं कातरतां विजहीहि सुबुद्धे ! ॥१६५९॥

इति नरकगतिः ।

सीचकर ऊपरसे उन दुष्ट नारकियों ने हवा की थी ॥१६५५॥ शक्ति नामके शस्त्रोंसे, सुईयोंसे एवं तलवारोंसे छिन्न किया गया है समस्त शरीर जिसका ऐसे तुम अत्यन्त दुःखी हुए निकलती हुई रक्तोंकी धाराओंसे कीचड़ युक्त किया है भूतल जिसने ऐसे तुमने महान् दुःख भोगे उसका स्मरण करो ॥१६५६॥ जिसके नेत्र फोड़ दिये है, वज्र की अग्निसे जिसे जलाया है । काट डाले है हाथ पैर जिसके तथा टूट रही है हड्डिया जिसकी ऐसे तुमने नरकमे महादुःख भोगे है (नारकीके शरीर वैक्रियिक होते है अतः हड्डिया नही होती यहां हड्डियां टूटो इस शब्दका अर्थ शरीरके अवयव टूटे ऐसा लगाना) ॥१६५७॥

नरक गतिमें शोषण, पीसना, कर्षण—कसना, घर्षण—घीसना, लौटाना, मोड़ना, कूटना, उपाडना, डराना, ताड़ना, मसलना, चूर्ण करना, छेदना, भेदना और पोड़ा इन क्रियाओंके होनेसे तुमने अत्यन्त दुखोंको पाया था ॥१६५८॥ अपार अनत काल तक अपार अनंत अनंत असह्य दुःखोंको सहन किया था जो कि पाप कर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ था । हे सुबुद्धे ! हे क्षपकराज ! अब तुम उन सब दुःखोका हृदयमें विचार करो, वर्तमान की किंचित् वेदनासे आयी हुई इस कातरता को छोड़ दो छोड़ दो ॥१६५९॥

इसप्रकार क्षुधा आदिकी वेदनासे घबराये हुए क्षपक को निर्यापक आचार्यने नरकगतिके दुखोंका वर्णन कर धैर्य दिलाया है ।

नरकगतिके दुःखोका वर्णन समाप्त ।

जन्ममृत्युजराकीर्णां घोरां तिर्यग्गतिं गतः ।
किं तीव्रां बहुशो लब्धां स्मरसि त्वं न वेदनाम् ॥१६६०॥

पंचधा स्थावरा जीवा विमूढोभूतचेतनाः ।
लभंते यानि दुःखानि कः शक्तस्तानि भाषितुम् ॥१६६१॥

सदा परवशीभूताश्चतुर्धा त्रसकायिकाः ।
दुःखं बहुविधं दीना लभन्ते चिरमुल्बणम् ॥१६६२॥

छंद–स्रग्विणी—

ताडने वाहने बंधने त्रासने नासिकातोदने कर्णयोः कर्तने ।
लांछने दाहने दोहने हुंडने पीडने मर्द्दने हिंसने शातने ॥१६६३॥

तिर्यंच गतिके दुखःका वर्णन—

जन्म, मरण और जरासे आकीर्ण घोर तिर्यंच गतिको हे क्षपक ! तुमने पाया था, वहांपर बहुत बार तीव्र वेदनाको भोगा उसका स्मरण क्यों न करो ! अर्थात् इस समय तुम्हें अपने अतीत तिर्यंच पर्यायका स्मरण करना चाहिये ॥१६६०॥ सुप्त है चेतना जिनकी ऐसे पंच स्थावर जीव–पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पति कायिक जिन जिन दुःखोको पाते है उनका वर्णन करनेमे कौन समर्थ है ? कोई भी नही ॥१६६१॥

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये चार प्रकारके त्रसकायिक जीव सदा ही पराधीन रहते है । दीन होकर चिरकाल तक बहुत प्रकारके उत्कट घोर दुःखोंको भोगते हैं ॥१६६२॥

लाठी आदिसे पीटना, बोझा लादना, रस्सी आदिसे बांधना, भय दिखाना, नाकमें नकील डालना, कानोंको कतरना, शरीरकी चमडी पर चिह्न बनाना, दूहना, तकलीफ देना, पीड़ा देना, मसलना, मारना, छीलना इत्यादि क्रिया द्वारा बैल, गधा, ऊंट आदि तिर्यंचोको दुःख दिया जाता है । हे क्षपक ! जब तुम तिर्यंच पर्यायमें थे तब इन दुःखोंको भोगा है ॥१६६३॥

वर्षामें जलसे, हवासे, ठंडीके दिनोंमें शीतसे, गरमीमें महान् आतपसे, घुमाना, आहार पानीको रोकना इत्यादि क्रियासे तुमने कष्ट पाये थे । दमन करना अर्थात्

छद–द्रुतविलबित—

सलिल मारुतशीतमहातपभ्रमण भक्षणपान निरोधनैः।
वमनतोदनगालनभंजनं जलवियोजन भोजनवर्जने ।।१६६४।।

अत्राण पतितः क्षोण्यां निःप्रतीकारविग्रहः ।
दुःसहा वेदनां सोढ्वा बहुभिर्वासरैर्मृतः ।।१६६५।।

क्षुत्तृष्णा व्याधिसंहारविह्वलीभूतमानसः ।
यद्दुःखं बहुशः प्राप्तस्तत्सर्वं हृदये कुरु ।।१६६६।।

छद–उपजाति—

तिर्यग्गतिं तीव्रविचित्रवेदनां गतो जराजन्मविपर्ययाकुलम् ।
दुःखासिकां यां गतवाननारतं विचिंतयेस्तामपहाय दीनताम् ।।१६६७।।

इति तिर्यग्गतिः ।

इच्छित स्थानपर नहीं जाने देना, तोदन–व्यथा पहुंचाना, पानीमें गीले होना, पीलना, पानी नही पीने देना तथा घास आदि नही खाने देना इत्यादिसे बडा भारी कष्ट सहन करना पड़ा था ।।१६६४।। जब बैल, गधा, आदि दीन पशु स्वामी विहीन हो जाते हैं अर्थात् इनका मालिक नही होता है तो वे बेरक्षक हो रोगादिकी स्थितिमें कही जमीन पर गिर जाते हैं । उस वक्त उनके शरीरका इलाज करने वाला कोई नही था । क्षीण-काय वही पर पड़े पड़े दु सह वेदनाको सहन करके बहुत दिनोके बाद वे विचारे अनाथ पशु मर जाते है मर जाते थे ।।१६६५।।

हे क्षपक ! उक्त अवस्थामे जो दुःख तुमने पाये थे उनको स्मरण करो । भूख, प्यास, रोग, पीटना आदिसे अत्यन्त विह्वल–घबराया है मन जिनका ऐसे उन पशु जीवोने जो दुःख बहुत बार प्राप्त किया था उन सब दु खोंको हृदयमे याद करो । ।।१६६६।।

तिर्यंचगतिको प्राप्त हुए तुमने तीव्र विचित्र वेदना भोगी है, जन्म, जरा, मरण से आकुलित हो सततरूपसे जिस दुःखमय अवस्थाको तुमने पाया था उसको दीनपनेके भावका त्याग करके विचार करो । हे क्षपक ! तुमने अनत कालतक तिर्यंच पर्यायके कष्ट भोगे है उसका चितवन करो जिससे वर्तमानके थोड़ेसे कष्टको सहन करनेका साहस आवे ।।१६६७।।

तिर्यंच गतिके दुःखोका वर्णन समाप्त ।

मानुषीं गतिमापद्य यानि दुःखान्यनेकशः ।
त्वमवाप्तश्चिरं कालं तानि स्मर महामते ! ।।१६६८।।
प्रियस्य विगमे दुःखमप्रियस्य समागमे ।
अलाभे याच्यमानस्य संपन्नं मानसं स्मर ।।१६६९।।

छद-स्रग्विणी—

कर्कशे निष्ठुरे निःश्रवे भाषणे तर्जने भर्त्सने ताडणे पीडने ।
अंकने दंभने मुंडने सेवने बांधने वर्तने मर्द्दने छेदने ।।१६७०।।
दुःसहं किंकरीभूतः करणे निंद्यकर्मणः ।
यदवापश्चिरं दुःखं तन्निवेशय मानसे ।।१६७१।।
भीशोकमानमात्सर्यरागद्वेष मदादिभिः ।
तप्यमानो गतो दुःख पावकैरिव चिंतय ।।१६७२।।

मनुष्य गतिके दुःख—

हे महामते ! क्षपक ! तुमने मनुष्यगतिमें आकर जिन दुःखोंको अनेकों बार बहुत समय तक भोगा था उन दुःखोंको याद करो ।।१६६८।।

प्रिय वस्तु–पत्नी पुत्र आदिके वियोग होनेपर, अप्रिय वस्तु–शत्रु कंटक आदि के संयोग होनेपर तथा प्रार्थित वस्तुके नहीं मिलनेपर तुझे अतरंगमे दुःख हुआ था हे क्षपक ! उसका तुम स्मरण करो ।।१६६९।।

भावार्थ—जिसका नाम सुनने पर भी सर्वांगमे रोमांच आते हैं मनमें आल्हाद होता है, जिसको देखते ही नेत्र मानों अमृतसे सीचे गये हों ऐसा लगता है उस व्यक्तिको प्रिय कहते हैं । जिसका नाम श्रवणसे भी मस्तक शूल उठता है जिसको देखकर नेत्र धूमके समान हो जाते हैं उस व्यक्ति को अप्रिय कहते हैं ।

हे क्षपक ! जब तुम पराधीन होकर नीच पुरुषकी सेवा धनके लिये की थी उस वक्त उस नीचके कटोर निष्ठुर, नहीं सुनने योग्य ऐसे वचन तुमने सुने थे, उसके द्वारा की गयी तर्जना, भर्त्सना, ताड़ना, पीड़ाको सहा था, रोकड़ जमाना, छल करना, मुंडन, बाधा, खराब बर्ताव होना, नीच पुरुषकी सेवामे रहते हुए तुम्हें ये सब कष्ट सहने पड़े थे, उसने कुपित होकर तुम्हारा मर्दन और छेदन भी कर डाला था । इसतरह किंकर होकर निंद्य कामको किया उस वक्त जो चिरकाल तक दुःख भोगा था उस दुःखको हृदयमें रखो–विचार करो ।।१६७०।।१६७१।।

स्तेनाग्निजलदायादपार्थिवैर्धनविप्लवे ।
कशादंडादिभिर्घाते हस्तपादादिमर्द्दने ।।१६७३।।
मूर्ध्नि प्रज्वालने वह्नेर्भक्तपानादिरोधने ।
शृंखलैः रज्जुभिः काष्ठैर्हस्तपादादिबंधने ।।१६७४।।
पराभवे तिरस्कारे वृक्षशाखावलंबने ।
व्याघ्रसर्पविषारातिरोगादिभ्यो विपर्यये ।।१६७५।।
जिह्वाकर्णोष्ठनासाक्षिपाणिपादादिकर्तने ।
शीतवातातपोदन्याबुभुक्षादिकदर्थने ।।१६७६।।
शारीरं मानसं दुःखं साधो ! प्राप्तमनेकशः ।
यद्दुःसहं त्वया नृत्वे तत्त्वं चिंतय यत्नतः ।।१६७७।।

परिवारके पालन करनेमें आजीविका की विकट समस्यामे, धनके संरक्षणमे तुमको अनेक प्रकारके भय, शोक, अपमान मात्सर्य, राग, द्वेष और मदसे कष्ट सहना पड़ा अग्निसे संतप्त हुएके समान जो दुःख भोगा उसका विचार करो ।।१६७२।।

चोरी हो जानेसे, अग्निसे, जलसे, हिस्सेदार पारिवारिक व्यक्ति और राजा द्वारा धनके नष्ट हो जानेपर तुम्हे जो प्राण घातक पीडा हुई थी तथा दास कर्ममें नियुक्त होनेपर, चाबुकके कोड़की मार पड़ी हस्त पाद आदिका मर्दन हुआ उस कष्टका स्मरण करो ।।१६७३।।

किसी क्रूर दुष्ट शत्रुके द्वारा तुम्हारे शिर पर अग्नि जलायी भोजन पानी रोके गये, सांकल, रस्सी काठ आदिसे तुम्हारे हाथ पांव आदि बाधे गये थे उन दुःखो को अपमानको स्मृतिमे लाओ ।।१६७४।।

हे क्षपक ! शत्रु द्वारा पराभव होनेपर, तिरस्कार होनेपर किसी चोर, डाकू आदिके द्वारा वृक्षकी शाखापर लटकाये जानेपर जो जो पीड़ा सही उनका हृदयमें विचार करो । जंगलमे व्याघ्र, सर्पसे कष्ट हुआ । शत्रु और रोगादिसे कष्ट हुआ उसका स्मरण करो ।।१६७५।। जीभ निकालना, कर्ण और ओठोका छेदना, नाक, आंख, हाथ, पैर आदिका काटना, ठंडी, गरमी, हवा, प्यास, भूख आदि-आदिका महान कष्ट भोगना पड़ा था उसको स्मृति पथमे लाओ ।।१६७६।। हे साधो ! तुमने शारीरिक और मानसिक दुःख अनेक बार प्राप्त किये है । मनुष्य पर्यायमे जो दुःसह वेदना आयी थी उसका तुम प्रयत्नसे तात्विक चिंतन करो ।।१६७७।।

छंद-रथोद्धता—

गर्हितं दुरतिकर्म निर्मितं मानुषीं गतिमुपेयुषा त्वया ।
दुःसहं चिरमवाप्तमूर्जितं किं न चिंतयसि तत्त्वतोऽसुखम् ।।१६७८।।

इति मनुष्यगतिः ।

देवत्वे मानसं दुःखं घोर कायिकतोऽगिनः ।
पराधीनस्य बाह्यत्वं नीयमानस्य जायते ।।१६७९।।
गुर्वीं दृष्ट्वामरो मानी महर्द्धिकसुरश्रियम् ।
तदा स श्रयते दुःखं मानभंगेन मानसम् ।।१६८०।।

छद-रथोद्धता—

सुंदरास्त्रिदिववासिसुंदरीमुंचतो विबुधभोगसंपदः ।
ध्यायतो भवति दुःखमुल्बणं गर्भवासवसतिं च निंदितां ।।१६८१।।

मनुष्य गतिको प्राप्त कर तुमने गर्हित पापकर्म किया, उससे जो दुःसह पाप-सचय होकर जो भयकर दुःख उठाना पडा था भो क्षपक ! उस दुःखको तुम तत्त्वदृष्टि द्वारा क्यों नही विचार करते हो ? हे धोर ! तुम्हे अवश्य ही इन उपर्युक्त मनुष्य गति संबंधी दुःखका चिंतन करना चाहिये, जिससे वर्तमानके किंचित् कष्ट सहज हो सहन हो ।।१६७८।।

मनुष्यगतिके दुःखका वर्णन समाप्त ।

देवगतिके दुःखका वर्णन—

इस ससारी प्राणोको कायिक दुःखसे अधिक मानसिक दुःख देवगतिमें सहना पड़ा है । वहां पर आभियोग्य–वाहन जातिके देव पर्यायमें पराधीन हो हस मयूर आदि सवारी बनकर अन्य देवोंको ले जाना पडा उस वक्त बड़ा भारी मानसिक दुःख हुआ ।।१६७९।। मानी देव अन्य बड़े देवोंको महान् ऋद्धियों की शोभा लक्ष्मीको देखकर मानभगसे मानस दुःखको प्राप्त होता है अर्थात् उसे विचार आता है कि यह भी देव है और मैं भी देव हूं किन्तु यह कितना ऋद्धि संपन्न है, मुझे इसके सामने नीचा देखना पड़ रहा है अहो ! मैंने पूर्व जन्ममे निर्दोष आचरण नही किया जिससे देव होकर भी मुझे अन्य की दासता करनी पड़ती है इसप्रकार विचार आनेसे देव पर्यायमे भी महान् दुःख होता है ।।१६८०।।

जब देव पर्यायका काल समाप्त होता है तब वहांके मनोहर भोग संपदाये, दिव्य वस्त्राभूषण, दिव्य देवागनायें अप्सराये छोड़ते हुए उस देवको बड़ा भारी कष्ट

छद—दोधक—

पूर्वभवार्जितदुष्कृतजातं । उत्पन्नं त्रिदशत्वमशस्तम् ।
दुःखमसह्यमपारमवाप्तम् । चिंतय भद्रविमुच्य विषादम् ।।१६८२।।
इति देवगतिः ।।

दुर्गतौ यत्त्वया प्राप्तमेवं दुःखमनेकशः ।
न तस्यानंतभागोऽपि भद्र ! दुःखमिदंस्फुटम् ।।१६८३।।
संख्यातमप्यसंख्यातं कालमध्यास्य तादृशम् ।
अल्पकालमिदं दुःखं सहमानस्य का व्यथा ।।१६८४।।
अवशेन त्वया सोढास्तादृश्यो वेदना यदि ।
किं तदा धर्मबुद्धयेयं स्ववशेन न सह्यते ।।१६८५।।

होता है तथा इस दिव्यगतिसे च्युत होकर अब मुझे अतिशय निंद्य गर्भावासमें नौ मास तक रहना पड़ेगा इस बातका ध्यान करते हुए अत्यंत दुःख होता है ।।१६८१।।

हे भद्र ! इसप्रकार देवपर्यायसे च्युत होते समय जीवको देवपना भी अत्यंत अप्रशस्त प्रतीत होता है । पूर्वभवमें उपार्जित पापके उदयसे असह्य दुःख उत्पन्न होता है । हे क्षपक ! तुमने इसतरह सर्वत्र ही अपार कष्ट एवं दुःख पाया है अब विषादको छोड़कर अतीत समस्त दुःखोका विचार करो और मनः समाधान पूर्वक सल्लेखनामें सावधान हो जाओ ।।१६८२।।

देवगतिके दुःखका वर्णन पूर्ण हुआ ।

हे भद्र ! इसप्रकार तुमने दुर्गतिमें अनेक बार दुःखको प्राप्त किया है, वह जो चतुर्गतिका दुःख है उस दुःखके अनंतवे भाग प्रमाण भी यह समाधिमरणके समयका भूख आदिका दुःख नही है ।।१६८३।। अतीतमें तुमने संख्यात तथा असख्यात वर्ष प्रमाण कालमें वैसा भयकर दुःख सहा था, अब बहुत थोड़े कालका किंचित् दुःख सहते हुए क्या व्यथा मानना ? अर्थात् रत्नत्रयकी आराधनामे किंचित् दुःख होवे तो उसमे शांत भाव रखना चाहिये व्याकुल होकर व्रतादिसे च्युत नही होना चाहिये ।।१६८४।।

चतुर्गतियोंमे परवशतासे वैसी महावेदना सहन की थी, तो अब धर्मबुद्धिसे अपनी स्वाधीनता पूर्वक यह अल्पदुःख क्यो न सहा जाय ? अवश्य सहना चाहिये ।।१६८५।।

संसारे भ्रमतस्तृष्णा दुरंता या तवाभवत् ।
न सा शमयितुं शक्या सर्वांभोधिजलैरपि ।।१६८६।।

बुभुक्षा तादृशी जाता संसारे सरतस्तव ।
न शक्या यादृशी हंतुं सर्वपुद्गलराशिना ।।१६८७।।

सोढ्वा तृष्णाबुभुक्षे ते त्वं नेमे सहसे कथम् ।
स्ववशे धर्मवृद्धयर्थमल्पकाले महामते ! ।।१६८८।।

समुद्रो लंघितो येन मकरग्राहसकुलः ।
गोष्पदं लंघतस्तस्य न खेदः कोऽपि विद्यते ।।१६८९।।

श्रुतिपानकशिक्षान्नश्रुतध्यानौषधैर्यते ! ।
वेदनानुगृहीतेन सोढुं तीव्रापि शक्यते ।।१६९०।।

भो साधो ! संसारमें चिरकाल तक भ्रमण करते हुए तुमको जो महातृषा बाधा हुई थी वह इतनी विशाल थी कि समस्त सागरोंके जलसे भी शात नही हो सकती थी ।।१६८६।। उसीप्रकार ससारमें परिभ्रमण करते हुए तुमको जैसी क्षुधा लगी थी वैसी क्षुधा संपूर्ण पुद्गल राशि द्वारा भी दूर करना अशक्य था । हे महामते ! अब इतनी भयंकर भूख और प्यास सहन कर चुके हो तो अब स्वाधीनतासे रत्नत्रयधर्मकी वृद्धिके लिये अल्पकाल तक किंचित् भूख प्यास किसप्रकार नही सहोगे ? सहना ही चाहिये ।।१६८७।।१६८८।।

देखिये ! जिसने मकर मत्स्य आदि जलचर जीवोसे व्याप्त ऐसा समुद्र पार कर लिया है उसको गोष्पद प्रमाण जलका उल्लघन करनेमें कुछ भी खेद नही होता है । ठीक इसीप्रकार दुर्गतियोंमें दुःखोका मानों सागर हो था उसको तुम भोगकर आये हो तो अब भूख या वेदना सबधी किंचित् दुःख सहनेमें क्या खेद है ? कुछ भी नही ।।१६८९।। हे क्षपक मुने ! इस समय तुमको भूख, प्यास, रोग आदि संबंधी वेदना हो रही है सो हम उपदेश रूपी पेय पदार्थ द्वारा आपकी प्यासको दूर करनेका अनुग्रह करते है तथा शिक्षारूपी भोजन एवं सूत्रार्थके ध्यानरूपी औषधि द्वारा क्रमशः क्षुधा और रोगका अनुग्रह कर रहे है इससे तीव्र भी वेदना सहन करनेमें तुम समर्थ हो जावोगे ।।१६९०।।

पीडानामुपकारस्य सोपकारस्य चोदिता ।
नाभीतस्य न भीतस्य जंतोर्नश्यति कर्मणि ॥१६६१॥
औषधानि सवीर्याणि प्रयुक्तान्यपि यत्नतः ।
पापकर्मोदये पुंसः शमयंति न वेदनाम् ॥१६६२॥
असंयमप्रवृत्तानां पार्थिवादिकुटुंबिनाम् ।
पीडां धन्वन्तरिः शक्तो निराकर्तुं न कर्मजाम् ॥१६६३॥

असाता कर्मके उदय द्वारा प्रेरित हुई–उत्पन्न हुई पीड़ा या वेदना उपकार युक्त जीव हो चाहे उपकार रहित हो वेदनासे डरा हो चाहे नहीं डरा हो सब ही जीवों को उसको सहना ही पड़ता है बिना सहे उक्त वेदना नष्ट नही होती है । आशय यह है कि तीव्र असाताकर्मकी उदीरणा या उदय आजाने पर मानव कितना भी प्रतीकार करे अथवा बिल्कुल न करे, वेदनासे कितना भी भयभीत हो अथवा किंचित् भी डरता नहीं हो इन चारों ही अवस्थाओमें वेदनाको अवश्यमेव भोगना पड़ता है । उस वक्त वेदनासे बचनेका बचानेका कुछ भी उपाय नही है ॥१६६१॥

बहुत बलवीर्य युक्त औषधियोका बड़े यत्न एवं विधिसे प्रयोग करने पर भी पापकर्मके उदय होनेपर वे औषधियां मनुष्यकी वेदनाको शांत नही करती हैं ॥१६६२॥

जो असंयमी है । किसी प्रकार यम नही है तथा राजा महाराजा मंत्री आदि परिवार वाला है अथवा स्वय राजा महाराजा है तथा उनकी चिकित्सा करनेवाला धन्वंतरी वैद्य है तो भी पापकर्मोदयसे उत्पन्न हुई वेदनाका निराकरण करनेमे वह समर्थ नही होता है ॥१६६३॥

भावार्थ—राजा आदि लोग अतिशय धनवान् होते है, उनकी शुश्रूषा करनेके लिये अनेक मनुष्य सदा तत्पर रहते हैं, रोग दूर करनेमे उन लोगोको असंयमकी कोई परवाह भी नही रहती कि अमुक उपायमे असंयम होगा अतः वह उपाय न करे । वे तो सब प्रकारका रोग उपशमनका उपाय करते है । धन्वंतरी वैद्य समान चतुर चिकित्सक रोगका निदान कर औषधिका सेवन कराते है, परन्तु यह सब व्यर्थ हो जाता है जब असाताका तीव्र उदय चल रहा हो । इसप्रकार निर्यापक आचार्य क्षपक मुनिको समझा रहे है कि तुम यह नही सोचना कि मैं असयमी होता, राजा आदि होता

दयालोः सर्वजीवानामौषधेन व्यथाशमम् ।
प्रार्थनाप्तेन किं साधोः प्रासुकेन करिष्यति ।।१६६४।।
संयतस्य वरं साधोर्मरणं मोक्षकांक्षिणः ।
वेदनोपशमं कर्तुं नाप्रासुकनिषेवणम् ।।१६६५।।
एकत्र निधनं नाशो न तु भाविषु जन्मसु ।
असंयमः पुनर्नाशं दत्ते बहुषु जन्मसु ।।१६६६।।

अच्छा वैद्य होता तो मेरा रोग या वेदना शांत हो जाती । वेदनासे छुटकारा तब तक नही हो सकता जब तक असाता मंद न हो । अतः आगत वेदनाको शांत भावसे सहना ही श्रेष्ठ है । इससे नूतन कर्मबध नही होगा तथा पुराना कर्म निर्जीर्ण होगा ।

जब धनवान और असयमी पुरुष भी रोगको दूर नही कर पाते तो सर्व जीवों पर दयाभाव रखनेवाले साधुके याचनासे प्राप्त हुए प्रासुक औषधि द्वारा क्या वेदना शात की जा सकती है ? ।।१६६४।।

विशेषार्थ—मुनिराज छह प्रकारके जीवोंकी दया पालते हैं । उनके पास द्रव्य नही रहता, याचना करके प्रासुक औषधि लाकर क्षपक मुनि या अन्य रोगी मुनिकी सेवा करते है । राजा आदिके समान उनके पास परिचारक एव वैद्य सतत् उपस्थित भी नही रहते । राजा आदि असंयमी वेदनाके उपशमन चाहे जिस उपायसे करते है । किन्तु मुनिजन सयमकी रक्षा करते हुए वेदनाका प्रतिकार करते हैं यदि संयम सुरक्षित न रहे तो ऐसी औषधि ग्रहण नही करते हैं ।

हे क्षपक ! मोक्षके इच्छुक संयमी साधुका मरण हो जाना श्रेष्ठ है किन्तु वेदनाको शांत करनेके लिये अप्रासुक औषधिका सेवन कदापि योग्य नही है ।।१६९५।। संयमकी रक्षा करते हुए अशुद्ध औषधिका सेवन नही किया और उससे मरण हो गया तो वह एक इसी पर्यायका मरण है आगामी जन्मोंमें तो नाश नही है । किन्तु असयम होगा अर्थात् अशुद्ध औषधि सेवनसे होनेवाला असयम बहुत जन्मोंका नाश करेगा ।।१६६६।।

जीवके पापकर्मका उदय आनेपर इन्द्र सहित देव चाहते हुए भी वेदनाका नाश करनेमें समर्थ नहीं होते है अर्थात् जिस जीवका तीव्र पापोदय चल रहा है वेदना

कांक्षतोऽपि न जीवस्य पापकर्मोदये क्षमाः ।
वेदनोपशमं कर्तुं त्रिदशाः सपुरंदराः ।।१६६७।।
उदीर्णकर्मणः पीडां शमयिष्यति किं परः ।
अभग्नो दंतिना वृक्षःशशकेन न भज्यते ।।१६६८।।
कर्माण्युदीर्यमाणानि स्वकीये समये सति ।
प्रतिषेद्धुं न शक्यन्ते नक्षत्राणीव केनचित् ।।१६६९।।
ये शक्राः पतनं शक्ता न धारयितुमात्मनः ।
ते परित्रां करिष्यंति परस्य पततः कथम् ।।१७००।।
तरसा येन नीयंते कुंजरा मदमंथराः ।
शशकानामसाराणां तत्र स्रोतसिका स्थितिः ।।१७०१।।
त्रिदशा येन पात्यंते विक्रियाबलशालिनः ।
नायासो विद्यते तस्य कर्मणोऽन्यनिपातने ।।१७०२।।

से अति पीड़ित उस व्यक्तिकी वेदनाको देव और इन्द्र मिलकर भी दूर नही कर सकते ।।१६६७।। उदीरणाको प्राप्त हुए कर्मसे उत्पन्न हुई पीडा को जब देवेन्द्र भी दूर नही कर सकता है तब उस वेदनाको अन्य क्या शांत करेगा ? नही कर सकता, जो वृक्ष हाथी द्वारा ही टूट नहीं पाया वह क्या खरगोश द्वारा टूट सकता है ? नही टूट सकता । उसीप्रकार देवेन्द्र द्वारा जो वेदना दूर नही हुई वह अन्य साधारण जन द्वारा क्या दूर होगी ? नहीं होगी ।।१६९८।। अपने अपने समयपर कर्मोंके उदयमें आनेपर उनका रोकना अशक्य है, जंस यथा समय नक्षत्र उदित होते हैं उन्हें रोकना अशक्य है ।।१६६९।।

जब इन्द्रोंका स्वर्गसे च्युत होनेका समय आता है तब वे स्वयं अपनेको वहांसे च्युत होनेको रोक नही सकते तो फिर गिरते हुए अन्य व्यक्तिकी कैसे रक्षा कर सकते हैं ? नहीं कर सकते ।।१७००।।

जिस जल प्रवाहमे मदोन्मत्त हाथी शीघ्रतासे बहाये चले जाते हैं उस प्रवाहमे कमजोर खरगोशोंकी क्या स्थिति हो सकती है ? नहीं हो सकती ।।१७०१।।

जिस कर्मोदय द्वारा विक्रिया शक्तिसे सपन्न देव स्वर्गसे गिराये जाते है—(आयुके पूर्ण होनेपर स्वर्गसे च्युत होते ही हैं) उस कर्मको अन्य सामान्य व्यक्तिको गिरानेमे–दुःखी करनेमे क्या आयास होगा ? ।।१७०२।।

कर्मणा पततीन्द्रे तु परस्य क्व व्यवस्थितिः ।
मेरौ पतति वातेन शुष्कपत्रं न तिष्ठति ॥१७०३॥
बलीयेभ्यः समस्तेभ्यो बलीयः कर्म निश्चितम् ।
तद्बलीयांसि मृद्नाति कमलानीव कुंजरः ॥१७०४॥
कर्मोदयमिति ज्ञात्वा दुर्निवारं सुरैरपि ।
मा कार्षीर्मानसे दुःखमुदीर्णे सति कर्मणि ॥१७०५॥
विषादे रोदने शोके संक्लेशे विहिते सति ।
न पीडोपशमं याति न विशेषं प्रपद्यते ॥१७०६॥
नान्योऽपि लभ्यते कोऽपि संक्लेश करणे गुणः ।
केवलं बध्यते कर्म तिर्यग्गतिनिबंधनम् ॥१७०७॥

कर्मोदय आनेपर जब इन्द्र भी स्वर्गसे गिरता है-च्युत होता है तो अन्य सामान्य व्यक्ति की क्या स्थिति ? अर्थात् कर्मोदय आनेपर इन्द्र भी दुःखी होता है तो सामान्य जीव दुःखी होवे इसमे क्या संशय ? जिस वायु द्वारा मेरुके समान विशाल पर्वत गिरता है उससे क्या सूखा पत्ता ठहर सकता है ? नहीं ठहर सकता ॥१७०३॥

ससारमें एकसे बढकर एक बलवान पदार्थ हैं उन सब बलवानोमे भी अधिक बलवान कर्म है क्योकि कर्म सभी बलवान पदार्थोको नष्ट कर सकता है, करता ही है, जैसे हाथी कमलोको मसल देता है, निगल जाता है, नष्ट करता है ॥१७०४॥

यह कर्मोदय देवों द्वारा भी दुर्निवार है रोका नही जा सकता है ऐसा जानकर हे क्षपक ! तुम कर्मोदयके आनेपर मनमे दुःख मत करो ॥१७०५॥

विषाद करनेपर, रोनेपर, शोक करनेपर तथा संक्लेश करनेपर भी पीड़ा शांत नहीं होती न उसमे कुछ कमी आती है ॥१७०६॥ तथा संक्लेश करना, रोना आदिसे कुछ गुण भी प्राप्त नही होता, रोनेसे शोकसे विषादादिसे तो उलटे तिर्यंचगति का कारणभूत कर्म बँधता है ॥१७०७॥

भावार्थ—वेदनादिसे आतुर क्षपक मुनिको आचार्य महाराज समझा रहे हैं कि भो साधो ! तुम रोग, भूख आदिसे पीड़ित हो क्लेश करोगे तो लाभ कुछ नहीं होगा अर्थात् रोगादिक कम या नष्ट नहीं होंगे इससे विपरीत नवीन असाता कर्मका

हतं मुष्टिभिराकाशं विहितं तुषखंडनम् ।
सलिलं मथितं तेन संक्लेशो येन सेवितः ।।१७०८।।

पूर्वं भुक्तं स्वयं द्रव्यं काले न्यायेन तत्स्वयं ।
अधमर्णस्य किं दुःखमुत्तमर्णाय यच्छतः ।।१७०९।।

कृतस्य कर्मण पूर्वं स्वयं पाकमुपेयुषः ।
विकारं बुध्यमानस्य कस्य दुःखायते मनः ।।१७१०।।

पूर्वकर्मागतासातं सहस्व त्वं महामते ! ।
ऋणमोक्षमिव ज्ञात्वा मा भूर्मनसि दुःखितः ।।१७११।।

बंध होगा । आर्त्तध्यानसे तिर्यचगतिका बंध होगा अर्थात् अमनोज्ञ पदार्थको दूर हटानेके लिये बार बार चिंतन करनेरूप अनिष्ट संयोग नामका आर्त्तध्यान एवं मेरा रोग कब दूर हो ? कौनसा उपाय करूं ? औषधि कहां मिलेगी इत्यादि रूप चिंतन पीडा चिंतन नामका आर्त्तध्यान है । इससे तिर्यंचगतिका बंध होता है ।

कोई अज्ञानी संक्लेश करता है तो समझना चाहिये उसने मुष्टियोंसे आकाश को मारा, भूसेको मूसलसे कूटा और पानीको बिलोया है अर्थात् जैसे आकाशको मारनेसे आकाशका घात नहीं होता, भूसेको कूटनेसे चावल नही निकलता, जलको बिलोनेसे मक्खन नही मिलता, वैसे संक्लेश करनेसे पीड़ा शांत नही होती है, उसके लिये संक्लेश करना व्यर्थ है, जैसे भूसा कूटना आदि व्यर्थ है ।।१७०८।।

जैसे कोई पुरुष समयपर कर्ज लेता है उसका उपभोग करता है परन्तु जब उचित काल व्यतीत होनेपर उस कर्जसे लाये धनको साहूकारके लिये देता है उसको देते समय क्या खेद होता है ? क्योंकि वह जानता है कि कर्जसे लाया धन धनिकको लौटाना ही है ।।१७०९।। उसीप्रकार पूर्व जन्ममें स्वयंने पापकर्मका संचय किया अब वह उदयको प्राप्त हो चुका है, उस कर्मके उदय विकारको जानते हुए किस पुरुषका मन दुःखित होगा ? अभिप्राय यह है कि जब कर्मोदय आ चुका है तो उस वक्त शांत परिणामसे उसे भोगना ही श्रेयस्कर है ।।१७१०।।

हे महामते ! पूर्व जन्ममे बांधा हुआ असाता कर्म उदयमें आया है उसको तुम शांतिपूर्वक सहन करो । ऐसा विचार करो कि भला हुआ । कर्जा उतर गया !

स्वयं पुराकृतं कर्ममद्य फलितं स्फुटम् ।
दोषो नैवात्र कस्यापि मत्वा दु:खासिकां त्यज ।।१७१२।।

अभूतपूर्वमन्येषामात्मनो यदि जायते ।
तदा दु:खासिका कर्तुं मानसे युज्यते तव ।।१७१३।।

अवश्यमेव दातव्यं काले न्यायेन यच्छतः ।
सर्वसाधारणं दंडं दु:खं कस्य मनीषिणः । १७१४।।

सर्वसाधारणं दु:खं दुर्निवारमुपागतम् ।
सहमानो मुने ! माभूर्दु:खितस्त्वं भज स्मृतिम् ।।१७१५।।

अर्थात् जैसे किसीसे पहले कर्ज लिया था उसका समय समाप्त होनेपर उसको चुका देते है और भार रहित होते हैं, वैसे पहले मैंने ही कर्म बांधा था अब उदयमें आकर खिर जायगा तो आगे भार नही रहेगा ऐसा जानकर मनमें दु:खी मत होवो ।।१७११।।

भो यते ! मैंने स्वयंने पहले कर्म किया था उसका आज स्पष्ट रूपसे फल मिला है, इसमे किसीका दोष नही है, इसप्रकार मानकर दु:खको छोड़ दो ।।१७१२।।

यह पापकर्मका उदय एवं उससे होनेवाली वेदना यदि अभूतपूर्व होती अपने स्वयंको अन्य जीवोको कभी भी नही हुई होती तो तुम्हारा मनमे दु:खी होना उचित था किन्तु, यह तो सर्वजन साधारण बात है, जैसे राजदण्ड—कर टैक्स यथासमय अवश्य देने योग्य होता है, उस दण्डको न्यायपूर्वक समयपर देते हुए किस मनीषिको दु:ख होगा ? किसीको भी नही होगा । इसीप्रकार कर्म बध करनेके बाद उसका फल अवश्य भोगना होता है यह सर्व साधारण बात है उस कर्मफलको भोगते समय किस बुद्धिमान् को दु:ख होगा ? किसीको नही ।।१७१३।।१७१४।।

भो मुने ! कर्मोदयसे प्राप्त यह दु:ख सर्व साधारण है एव दुर्निवार है, अतः उसको भोगते हुए तुम दु:खी मत होवो । हे क्षपक ! तुम शीघ्र ही स्मृतिको प्राप्त होवो ।।१७१५।।

पांचों परमेष्ठियोके साक्षीपूर्वक ग्रहण किये हुए प्रत्याख्यान—आहार त्यागका भंग करनेकी अपेक्षा संयतकी मृत्यु होना श्रेष्ठ है भो क्षपक ! इसप्रकार तुम निश्चित

साक्षीकृत्य गृहीतस्य पंचापि परमेष्ठिनः ।
संयतस्य वरं मृत्युः प्रत्याख्यानस्य भंगतः ॥१७१६॥
अप्रमाणयता तेन न्यक्कृताः परमेष्ठिनः ।
कार्यान्निवर्तमानेन साक्षीकृतनृपा इव ॥१७१७॥
प्रमाणी कुरुते भक्तो यो योगी परमेष्ठिनः ।
तत्साक्षिकमसौ जातु प्रत्याख्यानं न मुंचति ॥१७१८॥
साक्षीकृत्य पराभूताः कुर्वते परमेष्ठिनः ।
पुनःसद्यो महादोषं भूमिपाला इव स्फुटम् ॥१७१९॥
संघतीर्थकराचार्य श्रुताधिकमहर्द्धिकान् ।
पराभवति योगी च स पारंचिकमंचति ॥१७२०॥

समझो ॥१७१६॥ पंच परमेष्ठियोंकी साक्षीसे आहार त्याग करके पुनः उस त्यागको स्वीकार नहीं करना छोड़नेके भाव करना या छोड़ देना, इससे तो पंच परमेष्ठियोंका तिरस्कार करना है क्योंकि उनके समक्ष ही व्रत लिया और फिर व्रत पालनको मना कर दिया यह उनका अनादर ही है । जैसे राजाके समक्ष अमुक राजकार्य करूंगा ऐसी प्रतिज्ञा ली और पुनः उस कार्यसे पीछे हटे तो वह राजाका तिरस्कार ही माना जाता है ॥१७१७॥

जो साधु पंच परमेष्ठियोंका भक्त है उनको प्रमाणभूत मानता है वह कभी भी उनके साक्षीसे लिये हुए प्रत्याख्यानको नहीं छोडता है ॥१७१८॥

परमेष्ठीके साक्षीसे आहार त्यागकी प्रतिज्ञा लेकर पुनः उसका तिरस्कार करता है तो उस परमेष्ठीकी आसादनासे तत्काल उस साधुको महादोष लगता है महान पाप बंध होता है । जैसे राजाके सामने राज्य संबंधी कार्य करनेकी प्रतिज्ञा लेकर उस कार्यको न करे तो राजा उसे अपराधी समझकर तत्काल दंड देता है ॥१७१९॥

जो साधु संघ, तीर्थंकर, आचार्य, उपाध्याय और ऋद्धि सपन्न साधुजनोका तिरस्कार अनादर करता है वह पारंचिक नामके बड़े भारी प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है अर्थात् इन संघ तीर्थंकर आदिकी आसादना करने पर पारंचिक प्रायश्चित्त द्वारा ही उसकी शुद्धि होती है, अन्यथा नही ॥१७२०॥

तिरस्कृता नृपाः संतः साक्षित्वेऽस्य शरीरिणः ।
एकत्र ददते दुःखं जिनेंद्रा भवकोटिषु ।।१७२१।।

मोक्षाभिलाषिणः साधोर्मरणं शरणं वरम् ।
प्रत्याख्यानस्य न त्यागो जिनसिद्धादिसाक्षिणः ।।१७२२।।

एकत्र कुरुते दोषं मरणं न भवांतरे ।
व्रतभंगः पुनर्जातो भवानां कोटिकोटिषु ।।१७२३।।

प्रत्याख्यानमनादाय म्रियमाणस्य देहिनः ।
न तथा जायते दोषः प्रत्याख्यात्यजने यथा ।।१७२४।।

राजाके कार्यकी प्रतिज्ञा लेकर उसको न करे तो उससे राजाका तिरस्कार होता है और तिरस्कारको प्राप्त हुआ राजा उसको धनहरण आदि दुःख देता है वह दुःख केवल उसी एक भवमें होता है किन्तु जो व्यक्ति जिनेन्द्रदेवकी साक्षीसे नियम लेकर उसको छोड़ देता है उससे जिनेन्द्रकी आसादना होती है उससे ऐसे निकाचित कर्मका बंध होता है कि जिसके द्वारा कोटि कोटि भवोमें दुःख प्राप्त होता है ।।१७२१।।

मोक्षाभिलाषी साधुके मरणकी शरण लेना श्रेष्ठ है किन्तु अर्हंत सिद्ध आदि परमेष्ठियोंकी साक्षीसे लिये हुए प्रत्याख्यानको छोडना श्रेष्ठ नही है ।।१७२२।। क्योंकि मरण एक भवमें दोष करता है–भवका नाश करता है किन्तु यदि प्रत्याख्यान व्रतका भग हो जाय तो कोटि कोटि भवोमें दोष होता है–अनन्त भवोमे दुर्गति प्राप्त होती है ।।१७२३।।

प्रत्याख्यान व्रतको लिये बिना मरण करनेवाले जीवके वैसा दोष नही होता जैसा प्रत्याख्यान व्रतको लेकर फिर छोड़े तो दोष होता है ।।१७२४।।

भावार्थ—आहारके त्यागकी प्रतिज्ञा किये बिना जो मरण करता है उसके व्रत भगके परिणामरूप सक्लेश नही होता इसलिये वह महान् दोषका भागी नहीं है, किन्तु आहार त्यागको प्रतिज्ञा लेकर फिर उसे तोड़ देता है उसके मनमें सक्लेश परिणाम तीव्र होते हैं अतएव वह महादोषी है ।

हिनस्ति देहिनोऽन्नार्थं भाषते वितथं वचः ।
परस्य हरते द्रव्यं स्वीकरोति परिग्रहम् ॥१७२५॥
रत्नत्रयं जगत्सारमाहारार्थं विमुंचति ।
निस्त्रपो भुवनख्यातं मलिनीकुरुते कुलम् ॥१७२६॥
जिह्वेन्द्रियवशस्याशु बुद्धिस्तीक्ष्णापि नश्यति ।
संपद्यते परायत्तो योनिगश्लेषलग्नवत् ॥१७२७॥
धर्मधैर्यकृतज्ञत्वमाहात्म्यानि निरस्यति ।
महान्तं कुरुतेऽनर्थं गललग्नो यथा झषः ॥१७२८॥

इस संसारमें संसारी प्राणी आहारके लिये जीवोंका घात करता है झूठ, वचन बोलता है, पराया धन चुराता है और परिग्रहको स्वीकार करता है ॥१७२५॥ वैसे ही निर्लज्ज साधु आहारके लिये जगत्में सारभूत ऐसे रत्नत्रयको छोड़ देता है और अपने जगद् विख्यात कुलको मलिन करता है ॥१७२६॥

भावार्थ—आहारका त्याग करके पुन उस आहारको ग्रहण करनेसे रत्नत्रयका नाश होता है क्योंकि परमेष्ठोकी साक्षोसे व्रत लेकर छोड़ा है तो उस व्यक्तिके परमेष्ठी के प्रति श्रद्धाके भाव नष्ट हुए ही तथा नियमका भग होनेसे चारित्र भी समाप्त हुआ । जा साधु आहारका त्याग कर पुनः ग्रहण करता है उसका अपने जन्मका जो उच्च कुल है वह और दीक्षाका कुल जो आचार्य परपरा या संघ है वह मलिन होता है क्योकि लोग अपवाद करते हैं कि अमुक कुलके साधुने अमुक संघके साधुने प्रत्याख्यानका भंग किया है, देखो ! इसने प्रतिज्ञाको तोड़ दिया है इत्यादि ।

जो मनुष्य जिह्वा इन्द्रियके वश होता है उसकी तीक्ष्ण बुद्धि भो नष्ट हो जाती है, वह आहार लोलुपो व्यक्ति वज्रके बधनसे मानो बंधा हुआ बिलकुल परतंत्र होता है ॥१७२७॥

भावार्थ—भोजन लंपटी पुरुषके बुद्धि नष्ट होती है अर्थात् अन्नका लोभी मनमें युक्त अयुक्तका विचार नही कर पाता। जिह्वाके वशीभूत हुए मानवकी बुद्धि पहले भले ही तीक्ष्ण हो किन्तु जिह्वाको आधीनतासे वह नष्ट होती है, रसोंमे लुब्ध होकर वह पदार्थका यथार्थ निर्णय करनेमें असमर्थ होता है ।

आहारके वश होकर मनुष्य रत्नत्रय धर्म, धैर्य, कृतज्ञता और माहात्म्यको भो नष्ट कर डालता है और अपना महान् अनर्थ करता है जैसे मछली जालमें लगे हुए

कुलीनो धार्मिको मानी ख्यातकीर्तिविचक्षणः ।
अभक्ष्यं वल्भते वस्तु विरुद्धां कुरुते क्रियाम् ।।१७२६।।

दुर्भिक्षादिषु मार्जारीशिशुमाराहिमानवाः ।
वल्लभान्यप्यपत्यानि भक्षयन्ति बुभुक्षिताः ।।१७३०।।

ये जन्मद्वितये दोषाः केचनानर्थकारिणः ।
ते जायंतेऽखिला जन्तोराहारासक्तचेतसः ।।१७३१।।

आहारसंज्ञया श्वभ्रं महान्तं सप्तमं परम् ।
गच्छन्ति तिमयो यातः शालिसिक्थोऽपि नष्टधीः ।।१७३२।।

खाद्य वस्तुके वश होकर उसको खाने जाती है और फसकर अपने प्राण खोनेरूप महा अनर्थ करती है ।।१७२८।।

मनुष्य कुलीन है, धार्मिक है, अभिमानी और प्रसिद्ध कीर्तिवाला एवं बुद्धिमान है वह भी आहारके वशीभूत हुआ अभक्ष्य पदार्थका सेवन करने लगता है और इसतरह अपने कुल आदिसे विरुद्ध ऐसी क्रिया करता है ।।१७२९।।

क्षुधासे पीड़ित हुए मनुष्य दुर्भिक्ष आदिके समय अन्नके अभावमें बिल्ली, शिशुमार, सर्प और तो क्या मनुष्यका भी भक्षण कर जाते हैं तथा अपने खुदकी संतान पुत्र पुत्रीको भी खा जाते है ।।१७३०।।

इस विश्वमें उभय जन्मोंमें जो कुछ अनर्थकारी दोष है वे सबके सब आहारमें आसक्त चित्तवाले जीवके हो जाते हैं ।।१७३१।।

आहार संज्ञासे महामत्स्य महा भयावह सातवें नरकमें जाते है तथा नष्ट बुद्धि तंदुल मत्स्य भी सातवे नरकमें जाता है ।।१७३२।।

विशेषार्थ—स्वयंभूरमण नामके अंतिम महासमुद्रमें तिमिगलादि महामत्स्य रहते हैं, उनका शरीर बहुत बड़ा—एक हजार योजन लंबा होता है तथा चौड़ा पांच सौ योजन एव मोटा ढाईसौ योजन प्रमाण होता है । वे महामत्स्य आहार लोलुपी हो मुखको खोलकर पड़े रहते हैं छह मासतक भी ऐसे ही रह सकते हैं, बीचमें निद्रा भी लेते रहते हैं, मुखमें आये हुए जलचर जीवोंको खाते हैं । छह मास पर्यंत मुखको

चतुरंगबलोपेतः सुभूमः फललालसः ।
नष्टोऽम्भोधौ निजैः सार्धं ततोऽपि नरकं गतः ।।१७३३।।

खोलकर बैठ जाते हैं अनतर मुखको बंदकर अंदरमें प्रविष्ट हुए जल जंतुओंको खाकर महा उग्र पापका बंध करते हैं और मरकर सातवें नरकके अवधिस्थान नामके बिलमें जाते है । उन महामत्स्योके कानोंमें कानके मैलका भक्षण करनेवाले तंदुल जैसे छोटे आकारके मत्स्य रहा करते है वे महामत्स्योके मुखोंमें आते जाते हुए जल जंतुओंको देखकर सोचते है कि ये महामत्स्य मूर्ख हैं मुखको बंद नही करते, यदि हमको इतना बड़ा शरीर मिलता तो एक भी जीवको मुखसे बाहर निकलने नही देते । इत्यादि हिंसानंदी रौद्र ध्यान द्वारा वे तंदुल मीन भी सातवे नरकमें जाते है ।

चतुरंग बलवाला सुभौम चक्रवर्ती फलोंमें आसक्त होकर अपने परिवारके साथ समुद्रमें नष्ट हुआ था और मरकर नरकमें गया था ।।१७३३।।

सुभौम चक्रवर्त्तीकी कथा—

छह खंडके अधिपति चक्रवर्त्ती सुभौम जिह्वा लोलुपी था, निधियों द्वारा अनेक तरहके भोग उपभोग प्राप्त होनेपर भी वह सदा अतृप्त ही रहता था । एक दिन अधिक गरम खीर परोसनेके कारण उसने गुस्सेमे आकर अपने रसोईये जयसेनको थाली फेंककर मारा, थाली मर्म स्थानपर लग जानेसे रसोईया तत्काल मर गया और अकाम निर्जराके फलस्वरूप व्यंतरदेव हो गया और कुअवधिज्ञानसे जानकर चक्रीपर कुपित होकर उसको मारनेका षडयंत्र रचा । व्यंतरदेवने सोचा कि यह रसनेन्द्रियके वशमें है अतः मधुर फलोको देकर छलसे मार देंगे । वह देव ब्राह्मण वेषमें चक्रीके पास आया और दिव्य मधुर फलोंको भेटमे देकर अपना परिचय दिया कि मैं समुद्रके उस पार रहता हूँ मैं आपको अपना स्वामी मानता हू अतः ये मिष्ट फल लाया हूँ । चक्री प्रसन्न हुआ और उसने प्रतिदिन फल लानेको कहा ब्राह्मण वेषधारी देवने कहा— राजन् ! आप कृपाकर मेरे उस रम्य स्थानपर चलिये वहां अनेक उद्यान फलोंसे भरे हैं । चक्री उसके साथ चला, समुद्रसे पार होते समय ठीक मध्य समुद्रमे उस देवने अपना परिचय दिया कि अरे दुष्ट ! तुमने मुझे थाली फेककर मारा था उस समय मैं निर्बल था अब उसका बदला अवश्य लूंगा इतना कहकर देवने नौका समुद्रमें डुबा दी ।

आहारसंज्ञया भद्र ! कृत्वा पापं दुरुत्तरम् ।
चिरकालं भवाम्भोधौ प्राप्तो दुःखमनारतम् ॥१७३४॥
किं त्वमिच्छसि भूयोऽपि भ्रमितुं भवकानने ।
दुःखदामशनाकांक्षां येनाद्यापि न मुंचसि ॥१७३५॥
आहारं वल्भमानोऽपि चिरं जीवो न तृप्यति ।
उद्वृत्तं सर्वदा चित्तं जायते तृप्तितो विना ॥१७३६॥
इंधनेनेव सप्तार्चिः सलिलेनेव वारिधिः ।
अंधसा गृह्यमाणेन जीवो जातु न तृप्यति ॥१७३७॥
भोगिनश्चक्रिणो रामा वासुदेवाः पुरंदराः ।
नाहारैस्तृप्तिमायातास्तृप्यंत्यत्र परे कथम् ॥१७३८॥

सुभौम उस अगाध समुद्रमे मरा और नरकमें चला गया। इसप्रकार भोजनकी लंपटता से सुभौमको चिरकाल तक नरकावास भोगना पड़ा।

कथा समाप्त।

हे भद्र ! आहार संज्ञासे तुमने अतीतकालमें अत्यंत पापको करके चिरकाल तक ससाररूपी महासमुद्रमें सतत् महान दुःखोंको भोगा था ॥१७३४॥

अहो क्षपकराज ! क्या अब भी पुनः तुम संसार वनमे भ्रमण करना चाहते हो ? जो कि आज भी दु.खदायी भोजनकी इच्छाको छोड़ नही रहे हो ? ॥१७३५॥

आचार्य महाराज क्षपकको समझाते जा रहे हैं कि यह जीव चिरकाल तक भोजन करे किन्तु वह कभी तृप्त नही होता और तृप्ति हुए बिना सदा ही मनमें आहार को उत्कंठा बनी रहती है ॥१७३६॥

जैसे इंधन द्वारा अग्नि तृप्त नही होतो जल द्वारा सागर तृप्त नहीं होता, वैसे ही ग्रहण किये गये भोजन द्वारा जीव तृप्त नही होता है ॥१७३७॥

महान् महान् भोग तथा भोज्य पदार्थ जिनके पास मौजूद है ऐसे भोग भूमिज मनुष्य चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण पुरंदर विशिष्ट-आहार द्वारा तृप्तिको प्राप्त नहीं हुए तो फिर अन्य साधारण जीव सामान्य आहार द्वारा किसप्रकार तृप्त हो सकते हैं ? नही हो सकते ॥१७३८॥

रत्याकुलितचित्तस्य प्रीतिर्नास्ति रतिं विना ।
प्रीतिं विना कुतः सौख्यं सर्वदा गृद्धचेतसः ।।१७३९।।

पुद्गला विविधोपायैः सकला भक्षितास्त्वया ।
अतीतेऽनंतशः काले न च तृप्तिं मनःश्रितम् ।।१७४०।।

विशेषार्थ—भोगभूमिमें भोजनांग पानांग आदि दस प्रकारके कल्प वृक्ष होते हैं इन वृक्षों द्वारा वहांके मानव को दिव्य मिष्ट आहार एवं पेय प्राप्त होते है । चक्रवर्त्ती के भोजनको बनाने वाले तीनसौ साठ रसोइया होते है वे एक दिनमे एक रसोईया इस-प्रकार क्रमशः वर्षके तीनसौ साठ दिनोंमें अत्यंत मनोहर आहार बनाते हैं अर्थात् एक दिनमें एक रसोइया भोजन बनाता है, दूसरे दिनमे दूसरा, इसप्रकार विशिष्ट भोजनको बनाकर चक्रवर्त्तीको परोसा जाता है ऐसे भोजनसे भी चक्रवर्त्ती तृप्त नहीं हो पाता । ऐसे ही अर्धचक्री नारायण प्रतिनारायणके तथा बलदेवके भोज्य पदार्थ महान विशिष्ट हुआ करते हैं उन पदार्थोंसे अर्धचक्री आदि भी तृप्त नहो होते है ।

देवेन्द्र आदि स्वर्गके देवोका आहार तो मानसिक होता है, आयु प्रमाणके अनुसार कभी कभी मनमें भोजनकी इच्छा होती है और तत्काल उनके कंठसे अमृत झरता है उससे देवोंकी इच्छा पूर्ण होती है किन्तु हमेशाके लिये ये विशिष्ट व्यक्ति भी तृप्त नहीं हो पाते । अतः आचार्य क्षपकको उपदेश देते हैं कि ऐसे दिव्य भोजी व्यक्ति भी आहारसे तृप्त नही होते तो किंचित् गोचरी वृत्तिसे प्राप्त आहारसे क्या तृप्ति होगी ? कदापि नही । इसलिये आहारकी वांछा करना व्यर्थ है ।

भोजनमें अत्यंत लपटता रखनेवाले जीवके "यह पदार्थ बड़ा स्वादिष्ट है, यह नमकीन बहुत अच्छा है" । "इसको पहले लेना चाहिये" इत्यादि रूप भोज्य पदार्थमें आसक्ति रहनेसे आकुलता रहती है और आकुलित चित्तवाले पुरुषको प्रीति नही होती, इसतरह रति और प्रीतिके बिना उसको सुख कहांसे होगा ? नही हो सकता ।

भाव यह है कि निराकुलता सुख है और आहार लपटीके निराकुलता नहीं होती अतः उसको सुख नही मिलता है ।।१७३९।। अतीत कालमे अनंतबार विविध उपायों द्वारा समस्त पुद्गलोका तुमने भक्षण किया है । हे मुने ! फिर भी तुम्हारा मन तृप्त नहीं हुआ ।।१७४०।। हे सुबुद्धे ! जब अतीतमें बहुत सारे भोजनसे तुम्हारी

भोज्यं कंठगतप्राणैर्भुक्त्वा प्रार्थनयाहृतं ।
किमिदानीं पुनस्तृप्ति सुबुद्धे ! त्वं गमिष्यसि ? ।।१७४१।।
न तृप्तिर्यस्य संपन्ना पीते जलनिधेर्जले ।
अवश्यायकणैर्द्वित्रैः पीतैः किमु स तृप्यति ।।१७४२।।
भुक्तपूर्वे यते ! कोऽस्मिन्नाहारे तव विस्मयः ।
अपूर्वे युज्यते कर्तुमभिलाषो हि वस्तुनि ।।१७४३।।
आपात सुखदे भोज्ये न सुखं बहु विद्यते ।
गृद्धितो जायते भूरि दुःखमेवाभिलाष्यतः ।।१७४४।।
अतिक्रामति वाजीव जिह्वामूलं स वेगतः ।
तत्रैव बुध्यते स्वादं भुंजानो न पुनः परे ।।१७४५।।

तृप्ति नही हुई तो अब गोचरीसे प्राप्त हुए किंचित् भोज्यको कठगत प्राण द्वारा खाकर क्या तृप्तिको प्राप्त करोगे ? नही करोगे ।।१७४१।।

जिसकी समुद्र जलको पी डालने पर भी तृप्ति नही हुई उसकी ओसकी दो तीन बिंदुकणोंको पीनेसे क्या तृप्ति होती है ? नही होती ।।१७४२।।

हे यते ! पूर्वमें भोगे हुए इस आहारमें तुम्हें क्या इच्छा है विस्मय है ? यह तो सब प्राप्त हो चुका है । ससारमे अपूर्व वस्तुमें अभिलाषा हुआ करती है यह आहार अपूर्व होता—पहले कभी प्राप्त नही किया होता तो उसमें अभिलाषा करना युक्त था ।।१७४३।।

केवल तत्कालमे सुखदायक इस भोज्य वस्तुमे कोई विशेष सुख नहीं मिलता, उलटे अभिलाषा करनेवाले पुरुषके जो गृद्धिके भाव है उनसे तो बड़ा भारी दुःख होता है ।।१७४४।।

भावार्थ—जब जिह्वा पर आहार आता है तभी सुख होता है वह सुख भी अति अल्प है, अभिलाषासे आहार करनेमे सुखकी अपेक्षा दुःख ही ज्यादा है अथवा आहारकी प्राप्ति करनेके लिये अधिक कष्ट करने पड़ते हैं अतः आहारमें सुख कम है और दुःख अधिक है ।

भोजन करते समय आहार अति वेगसे जिह्वाका उल्लंघन करता है जैसे अश्व

निमेषमात्रके सौख्यमाहारग्रहणे परं ।
गृद्धितो गिलति क्षिप्रं तया न हि बिना सुखम् ।।१७४६।।
अशनं कांक्षतो नित्यं व्याकुलीभूतचेतसः ।
दरिद्रचेटकस्येव गृद्धस्यास्ति कुतः सुखं ।।१७४७।।
को नामाल्पसुखस्यार्थे वंच्यते सुखतो बहोः ।
संक्लेशः क्रियते येन मृतिकालेऽपि दुर्धिया ।।१७४८।।
मधुलिप्तामसेर्धारां निशातां स लिलिक्षति ।
बुभुक्षते विषं घोरं संन्यस्तो योऽशनायति ।।१७४९।।

शीघ्रतासे दौड़ता है, स्वाद लेनेकी शक्ति केवल जिह्वाग्रमें है, उसी स्थान पर स्वाद जाना जाता है, अतः भोजन करते हुए पुरुषको जिह्वा पर पहुंचनेके पहले और गलेमें जानेके बाद भोज्य पदार्थका स्वाद नहीं आता। इसप्रकार आहारका सुखानुभव अत्यंत अल्प है ।।१७४५।।

आहार ग्रहणमें सुख निमेष काल प्रमाण है, आहारको गृद्धि—अभिलाषासे जल्दी जल्दी निगलता है। अभिलाषाके बिना इन्द्रिय सुख नहीं होता ।।१७४६।।

भावार्थ—आहारके रसास्वादका काल आंखकी टिमकार जितना है। यह जीव अभिलाषा वश शीघ्रतासे भोजनको निगल जाता है अतः अधिक समय तक भोजन जिह्वा पर रुकता नहीं और जिह्वाके अग्रभागसे आगे आहार गया कि स्वाद आना समाप्त होता है इसप्रकार आहारका सुख ना कुछ बराबर है।

आहारकी नित्य कांक्षा करता हुआ यह मानव व्याकुल चित्त रहता है और व्याकुल चित्तवालेके सुख कहांसे होगा ? जैसे चिरकालसे अन्नकी अभिलाषा करनेवाले दरिद्री नौकरको सुख नहीं होता ।।१७४७।।

कौन ऐसा पुरुष है जो अल्प सुखके लिये बहुत सुखसे वंचित रहता है ? हे क्षपक ! तुम अल्प आहारके लिये इस समाधिमरणके अवसर पर भी दुर्बुद्धिसे संक्लेश कर रहे हो। यदि तुम आहारके अल्प सुखमें आसक्त होवोगे तो स्वर्ग और अपवर्गके महान सुखसे वंचित रह जावोगे ।।१७४८।।

जो क्षपक सन्यासकालमें अयोग्य आहारकी इच्छा करता है वह वैसा पुरुष है जो भूख लगनेसे घोर विषको खाना चाहता है तथा शहदसे लिपटी तलवारकी पैनी धार चाटना चाहता है ।।१७४९।।

असिधाराविषे दोषमेकत्र कुरुतो भवे ।
अशनायाः पुनर्जन्तोर्दु रितं भवकोटिषु ॥१७५०॥
शरीरं मानसं दुःखं दृश्यते यज्जगत्त्रये ।
तद्ददाति यतेः सर्वं अशनाया विसंशयम् ॥१७५१॥
यते ! देहममत्वेन प्राप्त दुःखमनारतम् ।
इदानीं सर्वथा साधो ! तत्ततस्त्वं निराकुरु ॥१७५२॥
दुःखं जन्मसमं नास्ति न मृत्युसदृशं भयम् ।
जन्ममृत्युकरीं छिद्धि शरीरममतां ततः ॥१७५३॥
परोऽयं विग्रहःसाधो ! चेतनोऽयं यतः परः ।
ततस्त्वं विग्रहस्नेहं महाक्लेशकरं त्यज ॥१७५४॥

तलवारकी धार चाटनेसे और विष खानेसे एक भवमे दोष होता है—मृत्यु होती है किन्तु संन्यासकालमें अयोग्य आहारसे जीवको करोड़ों भवोमें दु ख होता है ॥१७५०॥

तीन लोकमें जो भी शारीरिक और मानसिक दुःख दिखायी देता है वह सब यतिके अयोग्य भोजनसे मिलता है, इसमें सशय नहीं ह अर्थात् हे क्षपक ! इस अनादि संसारमें अनंतबार जो शारीरिक मानसिक दुःख तुमको भोगना पड़ा उसका कारण अयोग्य भोजन है ऐसा तुम निश्चयसे जानो ॥१७५१॥

हे मुने ! शरीरकी ममतासे तुमने सतत् दुःखको प्राप्त किया है । हे साधो ! इससमय उस शरीर ममताको तुम सर्वथा त्याग दो ॥१७५२॥

इस संसारमे जन्मके समान कोई दु.ख नही है और मरणके समान कोई भय नही है, इन जन्म मरणको करने वाली शरीरकी ममता ही है अतः शरीर ममत्वको छेद डालो ॥१७५३॥

हे साधो ! जिस कारणसे यह शरीर अन्य है भिन्न है और चेतन आत्मा अन्य है, उस कारणसे महाक्लेशकारी शरीर ममत्वको छोड़ दो सर्वथा उस ममत्वका त्याग करो ॥१७५४॥

सहमानो मुने ! सम्यगुपसर्गपरीषहान् ।
निःसंगस्त्वमसंक्लिष्टो देहमोहं तनूकुरु ।।१७५५।।

तृणादिसंस्तरो योग्यश्चतुर्द्धा संघमीलनम् ।
निःफलं जायते साधो ! मृत्यौ संक्लिष्टचेतसः ।।१७५६।।

रत्नसंभृतपात्रस्था वणिजः सागरे यथा ।
पत्तनं निकषा साधो ! निमज्जंति प्रमादतः ।।१७५७।।

तथा सिद्धिसमीपस्थाः शुद्धसंस्तरयायिनः ।
निपतंति भवावर्ते जीवाः संक्लेशयोगतः ।।१७५८।।

हे मुने ! तुम उपसर्ग और परीषहोंको सहते हुए निःसंग होवो, संक्लेशको छोड़ो और देहकी ममताको कम करो । (संक्लेश भावसे रहित होनेसे एवं संग-परिग्रह रहित होनेसे शरीरका मोह कृश होता है अतः आचार्य निःसंग और संक्लेश रहित होनेका उपदेश दे रहे है) ।।१७५५।।

आगे आचार्य कहते हैं कि संक्लेश परिणामका त्याग किये बिना अन्य व्रतादिक सफल नही होते—

हे साधो ! समाधिमरणके लिये तृणादि चार प्रकारका योग्य संस्तर ग्रहण करना, चार प्रकारके संघका मिलना उसके लिये निष्फल हो जाता है जिस साधुके परिणाम संक्लिष्ट होते है अर्थात् संक्लेश परिणामसे संघका मिलना आदि निमित्त कारण व्यर्थ हो जाते हैं क्योकि संक्लेशसे समाधि बिगड़ जाती है । समाधिका अंतरंग कारण संक्लेश रहित भाव है । संघ आदि तो बहिरंग कारण है ।।१७५६।।

हे साधो ! जिसप्रकार व्यापारीका रत्नोसे भरा हुआ जहाज प्रमादके कारण नगरके निकट आया हुआ भी सागरमे डूब जाता है । उसीप्रकार शुद्धसंस्तरमें स्थित मोक्षनगरके निकट पहुंचे हुए जीव भी संक्लेश परिणामके योगसे संसार सागरमें डूब जाते हैं ।।१७५७।।१७५८।।

भावार्थ—शरीर सल्लेखनाको निरतिचार करनेपर भी कषाय सल्लेखना जब तक नहीं होती तब तक संसार समुद्रसे पार नहीं हो सकते, संस्तरमे आरूढ होना, संघ

सल्लेखनाश्रमं साधो ! चारित्रं च सुदुश्चरम् ।
मा स्म त्याक्षीर्जगत्सारमल्पसौख्यजिघृक्षया ।।१७५९।।
पुरुषैःकथित धीरैर्मार्गं सद्भिर्निषेवितम् ।
निरपेक्षा. श्रिता धन्याः संस्तरस्था निशेरते ।।१७६०।।
कलेवरमिदं त्याज्यमिति विज्ञाय निःस्पृहः ।
सहस्व कर्मजं दुःखं निर्वेदन इवाखिलम् ।।१७६१।।
एवं प्रज्ञाप्यमानोऽसौ त्यक्तसंक्लेशवासनः ।
अन्यदुःखमिवात्मीयं दुःखं पश्यति सर्वथा ।।१७६२।।

का सान्निध्य होना तथा आहारका त्याग करना ये सब शरीर सल्लेखना रूप कार्य हैं, रागद्वेष संक्लेश नही होना कषाय सल्लेखना है । अतः आचार्य क्षपकको कषाय सल्लेखना करनेकी प्रेरणा दे रहे हैं ।

हे साधो ! जगत्मे सारभूत ऐसा सल्लेखनाका श्रम तथा दुश्चर चारित्रको तुम अल्प-सुखकी इच्छासे त्याग मत देना अर्थात् शरीर सल्लेखनामें अनशन आदि तप करना, जलके बिना अन्य तीन प्रकारके आहारका त्याग इत्यादिसे जो श्रम तुमको हुआ है तथा तुम्हारा उज्ज्वल चारित्र है यह मोक्ष सुखको देनेवाला है, उसको आहार जन्य अल्प सुखके लिये छोड़ना नहीं ।।१७५९।।

जो धोर वीर है परीषह उपसर्गको सहनेमे वीर हैं ऐसे पुरुषों द्वारा मुनिमार्ग के रत्नत्रयका कथन किया गया है और सत्पुरुषो द्वारा सेवन किया गया है उस रत्नत्रय स्वरूप मार्गका आश्रय पुण्यवान् हो लेते हैं तथा वह रत्नत्रय संस्तर पर स्थित होनेपर–संन्यास लेनेपर ही विशुद्ध होता–परिपूर्ण होता है ।।१७६०।।

हे क्षपक ! यह शरीर त्यागने योग्य ही है ऐसा जानकर शरीरसे निःस्पृह हो असाताकर्मसे उत्पन्न हुए सर्व दुःखको सहन करो । ऐसा सहन करो कि मानो वेदना नही हो रही हो ।।१७६१।।

इसप्रकार निर्यापक आचार्य द्वारा क्षपकको भलीप्रकार उपदेश दिया जानेपर वह क्षपक संक्लेश भावको छोड़ देता है और क्षुधा आदिसे होनेवाले अपने दुःखको अन्य किसीका दुःख है ऐसा सर्वथा देखता–मानता है ।।१७६२।।

अन्यस्य पार्थिवादीनामागमादिप्रयोगतः ।
क्षपकस्यापि दातव्यो मानिनः कवचो दृढः ।।१७६३।।
इत्येष कवचोऽवाचि संक्षेपेण श्रुतोदितः ।
विशेषेणापि कर्तव्यो दुःखे सति दुरुत्तरे ।।१७६४।।
स्तोष्यते क्षपकः सूरेर्वचनैर्हृदयंगमैः ।
चंद्रस्येव करैः शुद्धैः शीतलैः कुमुदाकरः ।।१७६५।।

आचार्य क्षपकको कहते हैं कि हे क्षपक ! तुम धन्य हो देखो ! बड़े बड़े राजा महाराजा मंत्री आदि तुम्हारे दर्शनार्थ आ रहे हैं, सर्वसंघ तुम्हारी मान्यता करता है इत्यादि सन्मानके वचन द्वारा क्षपकको प्रशंसा करके उन्हें आराधनामें दृढ़ता देनी चाहिये ।।१७६३।।

भावार्थ—क्षपकको आचार्य प्रशंसा वाक्य द्वारा व्रतोंमे प्रत्याख्यानमें कवचवत् दृढ़ बनाते हैं । अपनी प्रशंसा सुनकर एवं आचार्य द्वारा राजा आदिका आगमन देखकर क्षपक मनमें विचारता है कि मेरी समाधिको दृढ़ताको देखनेके लिये वे राजादिक आये हैं, इनके आगे मेरे प्राण चले जाय तो भी कुछ परवाह नही, मैं तो सर्वथा धैर्य ही रखूंगा । मैं अपना मान नहो नष्ट करूंगा । दुःख आ पड़नेपर भी व्रत भंग नहीं होने दूंगा । इसप्रकार क्षपकके मनमे भाव उत्पन्न कराने चाहिये ।

इसप्रकार यहांपर आगममे जैसा कहा है वैसा कवच संक्षेपसे कहा । यदि कोई दुरुतर दुःख उत्पन्न हो जाय तो विशेष रूपसे भी कवच करना चाहिये ।।१७६४।।

विशेषार्थ—युद्धमे कवच पहनकर जानेवाले योद्धाको जैसे बाणादिसे घाव नही होते है । वैसे प्रशंसनीय वचनों द्वारा वैराग्य वर्द्धक वचनो द्वारा शरीरको असारता आदिके वाक्यों द्वारा क्षपकके मनमे दृढता लाना उसको मनमे दृढ़ता धीरताके भाव लाना, मनको कवचवत् मजबूत बनाना 'कवच' कहलाता है सल्लेखनाके चालीस अधिकारोंमे यह पैंतीसवां कवच नामका अधिकार है । जिसकी सल्लेखना पूर्ण होनेमें कुछ समय शेष है उस साधुके लिये सामान्य रूपसे कवच कहा है तथा कोई आसन्न-निकट मरण वाला है उसके विशेषरूपमे कवचका कथन करना चाहिये ।

हृदयमे आह्लाद उत्पन्न करनेवाले आचार्य वचनो द्वारा क्षपक स्तुत्य होता है-प्रशंसनीय होता है और उसमे वह मनमे दृढ-मजबूत व्रताचरणमे स्थिर होता है, उसके

क्षणेन दोषोपचयापसारिणः समेत्य वाक्यानि तमोऽपहारिणः ।
जडोऽपि सूरेः क्षपको विबुध्यते महांसि भानोरिव नीरजाकरः ।।१७६६।।
परीषहं प्रभवति संस्तरे स्थितो निर्कातितुं परमपराक्रमक्रमः ।
निराकुलः कवचधरस्तपोधनो रणांगणे रिपुमिव कर्कशं भटः ।।१७६७।।

इति कवचः ।

इत्येवं क्षपकः सर्वान्सहमानः परीषहान् ।
सर्वत्र निःस्पृहीभूतः प्रयाति समचित्तताम् ।।१७६८।।

मनके भाव शुद्ध होते है । इसप्रकार क्षपक प्रसन्न होता है, जैसे चन्द्रमाकी शुद्ध शीतल किरणोसे रात्रि विकासी कमलोंका सरोवर प्रसन्न होता है–विकसित होता है ।।१७६५।।

क्षणभरमें दोषोंको दूर करनेवाले, मनके अंधकारको हटाने वाले आचार्यके वाक्योंको प्राप्त कर अल्प बुद्धि भी क्षपक अतिशय रूपसे बोधको प्राप्त करता है–अपने कर्तव्य–रत्नत्रयाराधनामें सावधान हो जाता है । जैसे दोषा–रात्रिको दूर करनेवाले अंधकारको नष्ट करनेवाले सूर्यके किरणोको पाकर कमलोसे व्याप्त सरोवर विबोधको प्राप्त होता है–खिलता है ।।१७६६।।

आचार्यने जिसका कवच किया है अर्थात् परिणाम दृढ किये है ऐसा क्षपक रूपी योद्धा निराकुल तथा परम पराक्रमी होता हुआ सस्तरमे स्थित होकर परीषहरूपी सेनाको नष्ट करनेके लिये समर्थ होता है । जैसे परम पराक्रमी कवचधारी सुभट रणांगणमें स्थित होकर अत्यन्त कठोर शत्रुको मारनेमें समर्थ होता है ।।१७६७।।

इसप्रकार सल्लेखनाके चालीस अधिकारोंमेसे पैंतीसवां
कवच नामका अधिकार पूर्ण हुआ (३५)

इसप्रकार मनकी दृढता धैर्यरूपी कवचको आचार्यके कृपा प्रसादसे जिसने पहन लिया है ऐसे क्षपकके लिये समाधिके साधनामे श्रेष्ठ सहायभूत जो समता है उसका वर्णन समता नामके इस छत्तीसवें अधिकारमे प्रारम्भ करते है—

आचार्य देव द्वारा इसप्रकार सबोधित क्षपक समस्त परीषहोको सहता हुआ सर्व विषय कषाय परिग्रह शरीर संघ आदिमे अत्यंत निःस्पृह हो समचित्तताको प्राप्त

समस्तद्रव्यपर्यायममत्वासंगवर्जितः ।
निःप्रेम रागमोहोऽस्ति सर्वत्र समदर्शनः ।।१७६९।।

प्रियाप्रियपदार्थानां समागमवियोगयोः ।
विजहीहि स्वमौत्सुक्यं दीनत्वमरतिं रतिं ।।१७७०।।

मित्रे शत्रौ कुले संघे शिष्ये साधर्मिके गुरौ ।
रागद्वेषं पुरोत्पन्नं विमुंचस्व प्रबोधंतेः ।।१७७१।।

कुर्याद्दिव्यादि भोगानां क्षपकः प्रार्थनां न तु ।
उक्ता विराधनामूलं विषयेषु स्पृहा यतः ।।१७७२।।

शब्दे रूपे रसे गंधे स्पर्शे साधो ! शुभाशुभे ।
सर्वत्र समतामेहि तथा मानापमानयोः ।।१७७३।।

करता है ।।१७६८।। वह क्षपक जीव पुद्गल आदि सर्व द्रव्य उन द्रव्योंकी स्वभाव विभाव व्यञ्जन पर्यायें तथा द्रव्य गुण पर्यायोंमें ममत्व तथा आसक्त भावसे रहित होता है, द्वेष राग तथा मोह रहित होता है, इसतरह वह क्षपक सर्वत्र ही समदर्शन–समता भाव वाला होता है ।।१७६९।। भो साधो ! तुम प्रिय पदार्थोंके समागममे उत्सुकता और रतिको नहीं करना तथा अप्रिय पदार्थोंके वियोगमे दीनता और अरतिभावको सदा छोड़ देना ।।१७७०।।

हे उत्कृष्ट बुद्धिधारक यते ! मित्र और शत्रुमें रागद्वेषको पहले किया था उसको छोड़ दो तथा अपने कुलमें, सघमें, साधर्मी मुनिजनोमें अथवा गुरुजनमें भी राग किया या राग उत्पन्न हुआ था उसको छोड़ो ।।१७७१।।

अपि क्षपकराज ! मेरेको स्वर्गके दिव्य भोग मिल जांय इसप्रकार की प्रार्थना को तुम कभी भी नही करना क्योंकि विषयभोगोंकी इच्छा रत्नत्रयकी विराधनाका मूल है ऐसा शास्त्रोंमें कहा है ।।१७७२।।

हे साधो ! अब तुम शुभ तथा अशुभ शब्द, रूप रस गंध और स्पर्शमें समता-भाव धारण करो, मान हो चाहे अपमान, सर्वत्र ही समान भाव रखो ।।१७७३।। हे महामते ! अब किसी विषयमें विशेषता नही मानना अर्थात् यह बहुत उपकारी है अच्छा है तथा इससे मुझे कष्ट होता है इत्यादि किसी पदार्थके प्रति जो पृथक् पृथक्

समानो भव सर्वत्र निर्विशेषो महामते ।
रागद्वेषोदये जंतोरुत्तमार्थो विनश्यति ।।१७७४।।

गुर्वी यद्यपि पीडास्ति प्रकृष्टा मारणान्तिकी ।
तथापि क्षपको याति सर्वत्र समचित्तताम् ।।१७७५।।

एवं भावितचारित्रो यावद्वीर्यं कलेवरे ।
तावत्प्रवर्तते साधुरुत्थाय शयनादिषु ।।१७७६।।

क्षीणशक्तेर्यदा चेष्टा स्वल्पा भवति सर्वथा ।
तदा देहप्रहाणाय यतते निःस्पृहाशय ।।१७७७।।

उपधिं संस्तरं शय्यां पानं व्यावृत्तिकारिणः ।
शरीरं मुंचते योगी सम्यक्त्वारूढमानसः ।।१७७८।।

भाव होते है उन सबमें ही अब समान भाव होना चाहिये क्योकि इसतरहके जीवके रागद्वेष रूप भावके उत्पन्न होनेपर उत्तमार्थ तो समाधिमरण है वह नष्ट होता है ।।१७७४।।

यद्यपि मरणके समय होनेवाली बड़ी भारी पीड़ा होती है तथापि क्षपक सर्वत्र समभावको प्राप्त होता है अर्थात् क्षपकको अतसमयमे मरण प्राप्त होनेतक दु.ख होगा किन्तु दृढ़ता रूप कवच युक्त होनेसे वह मोह रहित होता है तथा गुरूपदेशसे भेदविज्ञान की प्रकृष्टताके कारण वह देहादिमे समभावको प्राप्त होता है ।।१७७५।।

इसतरह गुरुके प्रसादसे भलीप्रकार भाया है चारित्रको जिसने ऐसा वह क्षपक मुनि जब तक शरीरमे शक्ति रहती है तब तक उठकर बैठना सोना आदि क्रियाओंमें प्रवृत्ति करता है ।।१७७६।। और जब शक्ति सर्वथा क्षीण हो जाती है तब उक्त क्रियायें अल्प होकर बिलकुल समाप्त होती है तब नि.स्पृह भावयुक्त हुआ शरीरका त्याग करने में प्रयत्नशील होता है ।।१७७७।। सम्यक्त्व–दृढ श्रद्धामें लगा है मानस जिसका ऐसा वह क्षपक मुनि उपधि–पीछी कमंडलु आदि सस्तर शय्या, पान, वैयावृत्य करनेवाले मुनि तथा शरीरको छोड़ देता है–त्याग देता है ।।१७७८।। अब वह क्षीणकाय योगी काय योग अर्थात् शरीरकी क्रियाये हिलना आदि और वचनयोग अर्थात् बोलनेका

निराकृत्य वचोयोगं काययोगं च सर्वथा ।
स विशुद्धे मनोयोगे स्थिरात्मा व्यवतिष्ठते ।।१७७९।।

समत्वमिति सर्वत्र प्रपद्यामलमानसः ।
स मैत्रीकरुणोपेक्षामुदिताः प्रतिपद्यते ।।१७८०।।

जीवेषु सेव्या सकलेषु मैत्री परानुकंपा करुणा पवित्रा ।
बुधैरुपेक्षा सुखदुःखसाम्यं गुणानुरागो मुदितावगम्या ।।१७८१।।

निराकरण करके विशुद्ध मनोयोग अर्थात् आत्मचिंतन या पंचपरमेष्ठी चिंतनमें स्थिर हो जाता है ।।१७७९।।

निर्मल मनवाला उक्त क्षपक सर्वत्र समभावको प्राप्त करके अर्थात् भले बुरे भावको छोड़कर मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और मध्यस्थ भावनाओंको भाता है ।।१७८०।।

आगे मैत्री आदि भावना किस किसमें होना चाहिये सो बताते है—

सकल जीवोंमें मैत्री भाव करना चाहिये तथा दीन दुःखितोमें पवित्र और उत्कृष्ट करुणा भाव करे । बुद्धिमानोंको सदा ही सुख दुःखमे या विपरीत आचरण वालोमें साम्यभाव जगाना युक्त है, जो गुणवान है उनमें प्रमोद भावना करना चाहिये ।।१७८१।।

विशेषार्थ—अनंतकालसे मेरा आत्मा चतुर्गतिमे घटी यत्रके समान परिभ्रमण कर रहा है इस संसारमे सभी प्राणियोने मेरा उपकार किया है ऐसा भाव होना मैत्री भावना है अथवा विश्वके किसी भी प्राणीको कष्ट दु.ख न हो ऐसा भाव होना मैत्री है । ये मोही प्राणीगण शारीरिक और मानसिक व्याधि आधिसे संयुक्त हैं, अहो ! ये अशुभका उपार्जन कर करके दुःखी हो रहे हैं, इनका दुःख कैसे दूर हो ? इसप्रकार भाव जाग्रत होना कारुण्य कहलाता है । यति गुरु साधर्मीजनोके गुणोंका विचार कर उनमें हर्ष मानना मुनिजनोंकी प्रमोद भावना कहलाती है तथा सुख होवे चाहे दुःख दोनोंमें समता आना माध्यस्थ है अथवा विपरीत चेष्टा करनेवाले व्यक्तियोंमें या मिथ्या-दृष्टियोंमें मध्यस्थता रखना मध्यस्थ भावना है ।

दर्शनज्ञानचारित्र तपोवीर्यनिविष्टधीः ।
प्रकृष्टां कुरुते चेष्टां मनोवाक्काय कर्मभिः ॥१७८२॥

रागद्वेषक्रोधमात्सर्यमोदा येन त्यक्ता निर्जिताक्षेण सर्वे ।
ध्यानं ध्यातुं योग्यता तस्य साधोः सामग्रीतो याति कार्यप्रसिद्धि ॥१७८३॥

॥ इति समता ॥

अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यग्तप और वीर्यमे लगी है बुद्धि जिसकी ऐसा वह क्षपक मुनि मन, वचन और काय द्वारा सदा उत्कृष्ट चेष्टा करता है अर्थात् मनको जीवादि तत्त्वोंके श्रद्धानमें लगाता है, वचनको पचनमस्कार के उच्चारणमें और कायको हाथ जोड़ना मस्तक हिलाकर धर्मश्रद्धाको प्रगट करना आदि क्रियामें तत्पर करता है। इसतरह अपने परिणामोको उज्ज्वल करता है ॥१७८२॥

जिस जितेन्द्रिय साधुने सभी राग, द्वेष, क्रोध, मात्सर्य और मोदको छोड़ दिया है उस साधुके ध्यानको करनेकी योग्यता आती है तथा ध्यानकी कारण सामग्री मिलनेपर ध्यानरूप कार्यकी सिद्धि होती है ॥१७८३॥

समता नामका छत्तीसवां अधिकार समाप्त ।

विशेषार्थ—अपनेसे भिन्न जीवाजीवादि पदार्थोंमें शब्द, रस आदि विषयोंमें प्रीति होना राग कहलाता है। जो अमनोज्ञ विषय है उनमें अरतिरूप भावद्वेष है। क्रोध प्रसिद्ध ही है। किसीका उत्कर्ष अकारण ही नही सुहाना मात्सर्य है। मोद हर्षको कहते हैं। इन रागादिका त्याग करने पर ही ध्यानकी योग्यता आती है तथा पांच इन्द्रियोके विषय स्पर्श रसादिको जीतना परमावश्यक है। इसप्रकार कषाय और इन्द्रिय को जीत लेनेपर मुनि ध्यान करनेमें समर्थ होता है। अन्यत्र ध्यानके हेतु पांच बताये हैं—

आसनविजयी, निद्राविजयी, इन्द्रियविजयी, कषायविजयी महाव्रत आदिसे संपन्न होना।

सल्लेखनाके कथन करनेमें चालीस अधिकार हैं उनमेसे समता नामका यह छत्तीसवां अधिकार है। इस अधिकारमे सोलह कारिकाये हैं। इसमें अंतकी पांच कारिकायें ध्यान विषयक हैं ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि पांच कारिकाओंमें पहलेकी तीन कारिकामें मैत्री आदि चार भावनाओंका वर्णन है, ध्यानका अभ्यास करनेवाला ध्याता पुरुष पहले इन भावनाओंका अवलंबन लेता है अतः ये ध्यानकी सामग्रीके अंतर्गत है तथा अंतिम कारिका स्पष्टतया ध्यानके योग्य कौन साधु है इस बातका उल्लेख कर रही है। अस्तु !

ध्यानादि अधिकार ९

धर्म्यं चतुर्विधं ध्यात्वा संसारासुखभीरुकः ।
शुक्लं चतुर्विधं ध्यानं ध्यातुं प्रक्रमते यतिः ।।१७८४।।

जो संसारके दुःखोंसे भयभीत है वह यति पहले चार प्रकारके धर्म्यध्यानोंको करके पुनः चार प्रकारोके शुक्ल ध्यानोको करनेके लिये प्रवृत्त होता है ।।१७८४।।

विशेषार्थ—एक पदार्थमे मनका स्थिर होना ध्यान है । प्रशस्त ध्यानके दो भेद है धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान । धर्म्य ध्यानके चार भेद है—आज्ञाविचय, अपाय-विचय, विपाकविचय और सस्थानविचय । शुक्लध्यानके भी चार भेद हैं—पृथक्त्व वितर्क वीचार, एकत्व वितर्क अवीचार, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति और व्युपरतक्रिया निवर्ति । इन सभी का विशेष स्वरूप आगे क्रमशः कहेंगे । यहां सामान्य रूपसे कहते हैं । धर्म्यध्यानका सामान्य लक्षण—उत्तम क्षमा आदि धर्मात् अनपेतं धर्म्यम् । अथवा वस्तुस्वभावको धर्म कहते है उस धर्मसे जो अनेपत अर्थात् सहित हो—वस्तु स्वभावका जिसमें चिंतन हो वह धर्म्यध्यान कहलाता है ।

अत्यंत शुचि—पवित्र-शुद्ध परिणामसे जो हो वह शुक्लध्यान है । इसमें संयम को शुचिता नियमसे होती है अर्थात् यह संयमीके ही होता है । धर्म्यध्यान तथा शुक्ल-ध्यान मोक्षके हेतु हैं । वर्तमान पंचम कालमें शुक्लध्यान नहीं होता, धर्म्यध्यान होता है ।

आर्तरौद्रद्वयं त्याज्यं सर्वदा दुःखदायकम् ।
तेन विध्वस्यते ध्यानं दुर्नयेनेव सन्नयः ॥१७८५॥

रौद्रं चतुर्विधं ध्यानं ये चार्ते संति केचन ।
ते भेदा दूरतस्त्याज्या विज्ञाय विधिवेदिना ॥१७८६॥

स्तेयासत्यवचोरक्षाषड्विधारंभभेदतः ।
कषायसहितं रौद्रं ध्यानं ज्ञेयं समासतः ॥१७८७॥

प्रियायोगाप्रियप्राप्तिपरीषहनिदानतः ।
कषायकलितं ध्यानमार्तं प्रोक्तं चतुर्विधम् ॥१७८८॥

भव्यजीवोंको हमेशा ही दुःखदायक आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान छोड़ देना चाहिये क्योंकि इन अप्रशस्त ध्यानोंसे धर्म्यध्यानादि प्रशस्तध्यान नष्ट होते हैं जैसेकि कुनयसे सुनय नष्ट होता है ॥१७८५॥

ध्यानकी विधिको जानने वाले पुरुष द्वारा चार प्रकारके रौद्रध्यान और आर्त्तध्यानमें जो भेद हैं उन खोटे ध्यानोंको जानकर दूरसे ही छोड़ देना चाहिये। आचार्य महाराज क्षपकको समझा रहे हैं कि हे क्षपक ! तुम कभी भी रौद्रध्यान और आर्त्तध्यानको नही करना ये सब कुगतिके कारण है ॥१७८६॥

रौद्र ध्यानके चार भेद—

कषाय सहित ध्यान रौद्रध्यान है, संक्षेपसे यह लक्षण है। चोरीका विचार, असत्यभाषणका चिंतन, परिग्रहकी रक्षामें लगन और षट्काय जीवोके आरभमें तत्परता, इसतरह रौद्रध्यानके चार भेद होते है अर्थात् हिंसामें हर्षभाव होना—हिंसानदी रौद्र-ध्यान कहलाता है। असत्य भाषणमे आनद मानना अनन्तानदो रौद्रध्यान है। चोरीमें आनंद आना चौर्यानंदी रौद्रध्यान है और परिग्रह रक्षामें आनंद मानना परिग्रहानंदी रौद्रध्यान है ॥१७८७॥

आर्त्तध्यानके चार भेद—

आर्त्तध्यान भी कषाय भावयुक्त है इसके चार भेद हैं, प्रिय वस्तुके वियोगमें इष्ट वियोग नामका आर्त्तध्यान होता है। अप्रिय वस्तुके संयोग होनेपर अनिष्ट सयोग

रौद्रमार्त्तं त्रिधा त्यक्त्वा सुगति प्रतिबंधकम् ।
धर्म्यशुक्लद्वये योगी साम्यं कर्तुं प्रवर्तते ।।१७८९।।

ध्याने प्रवर्तते कांक्षन्कषायाक्षनिरोधनम् ।
वश्यत्वं मनसो मार्गाविभ्रंशंनिर्जरां पराम् ।।१७९०।।

एकाग्रमानसश्चक्षुर्व्यावर्त्य परवस्तुतः ।
आत्मनि स्मृतिमाधाय ध्यानं श्रयति मुक्तये ।।१७९१।।

नामका आर्त्तध्यान होता है । पीड़ा वेदना परीषहके आनेपर यह कैसे दूर हो इसप्रकार चिंतन पोड़ा चिंतन नामका आर्त्तध्यान है । आगामी कालमें भोग प्राप्तिका विचार निदान नामका आर्त्तध्यान है ।।१७८८।।

सुगतिको रोकनेवाले आर्त्तध्यान और रौद्रध्यानको मन, वचन और कायसे छोड़कर योगोजन समताभावको करनेके लिये धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यानमे प्रवृत्त होते है ।।१७८९।।

कषाय और इन्द्रियोको रोकनेके लिये, मनको वशमे करनेकी इच्छासे, मोक्षमार्गसे च्युत न होनेके लिये तथा उत्कृष्ट निर्जराको करनेके लिये योगीजन धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानमें प्रवृत्त होते है अर्थात् जो कषाय और इन्द्रियको रोकना चाहता है मोक्षमार्गमें सदा प्रवृत्ति चाहता है उसको ये प्रशस्त ध्यान करने चाहिये ।।१७९०।।

ध्यानका परिकर—

नेत्रोंको परवस्तुसे हटाकर मनको एकाग्र करके अपनो आत्मामे स्मृति–विचार को लगाके मुनि मुक्ति प्राप्तिके लिये ध्यानका आश्रय लेते हैं ।।१७९१।।

भावार्थ—दृष्टि इधर उधर जाती रहे तो मन चचल हो उठता है अत. सर्व प्रथम नेत्रको अपने नाकके अग्रभाग पर स्थिर करना चाहिये पुनः मनको एकाग्र करना चाहिये । श्रुतज्ञान की सहायतासे आगम कथित पदार्थोका स्मरण करते हुए आत्मामें स्थिरता होना ध्यान है ।

प्रत्याहृत्य मनोऽक्षाणि विषयेभ्यो महाबलः ।
प्रणिधानं विधत्तेसावात्मनि ध्यानलालसः ।।१७९२।।

ध्यायत्येकाग्रचेतस्को धर्म्यध्यानं चतुर्विधम् ।
आज्ञापायविपाकानां संस्थाया विचयं सुधीः ।।१७९३।।

महाबलशाली मुनि मन और इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर आत्मामें एकाग्र करता है, कैसे हैं मुनिराज ? ध्यानकी प्राप्तिमें लगा है मन जिनका ऐसे हैं ।।१७९२।।

विशेषार्थ—इन्द्रिय और मनको तद् तद् विषयोंमे हटानेके लिये पवित्र एकान्त स्थानमें ध्यान करनेकी आज्ञा आगममे है । ध्यानके इच्छुक मुनिजन गिरिकंदरा, नदीतट, वन आदि निर्जन स्थानोंमें प्रासुक भूमि या शिलातल पर पद्मासन या खड्गासन से स्थित होते हैं । श्वासोच्छ्वासको मंद मद करते हुए नाभिके ऊपरले भागके अवयव नासिका, ललाट, भ्रूमध्य, हृदय आदिमें मनोवृत्तिको केन्द्रित करके नेत्रोंको टिमकार रहित नासिकामें स्थिर करते है । इसप्रकार शरीरको प्रतिमावत् सर्वथा स्थिर करके किसी सूत्रार्थमें या जीवादि तत्वोंमें या निजात्मामे मनःप्रणिधान लगाते हैं । यह ध्यान को प्राप्त करनेको विधि है ।

धर्म्यध्यानके भेद—

एकाग्रचित्तवाला बुद्धिमान मुनिराज आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान विचय इसप्रकार चार प्रकारके धर्म्यध्यानोंको ध्याता है ।।१७९३।।

विशेषार्थ—यहांपर चार प्रकारके धर्म्यध्यानोंका वर्णन करते हैं—जीवादि सात तत्त्व या जीव पुद्गल आदि छह द्रव्योंके जाननेमें सूक्ष्मपनेके कारण शंका होनेपर मुमुक्षुजन विचार करते है कि अहो ! इस वक्त केवली श्रुतकेवली आदि उपदेशकोंका अभाव है, मेरो बुद्धि भी मंद है, ज्ञानावरणका उदय होनेसे मैं वस्तुको सूक्ष्मताको समझ नही पा रहा । जिनेन्द्र प्रणोत तत्त्व अत्यंत गहन है, नय निक्षेपकी योजना करने में चतुर ऐसे पुरुषोंका भो इस समय सद्भाव नही है अब तो जो सर्वज्ञ देवने प्रतिपादन किया है, जैसा कहा है वही मुझे प्रमाणभूत है, उनकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है । जिनेन्द्र अन्यथावादी—विपरीत प्रतिपादक नहीं होते, मुझे ऐसा दृढ विश्वास है । इसतरह

मार्दवार्जवनैः संग्यहेयोपादेय पाटवं ।
ज्ञेयं प्रवर्तमानस्य धर्म्यध्यानस्य लक्षणं ।।१७६४।।

जिनदेवकी आज्ञाका विचार करना, उनमें दृढ़ निश्चय करना, तत्त्वमे बार बार मनको केन्द्रित करना, आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है। अथवा स्वयंने तत्त्वोंका बोध भलीप्रकार प्राप्त किया है, उस तत्त्व बोधको अन्य मुमुक्षुको प्राप्त कराऊं जिनेन्द्र देवकी आज्ञाका मैं प्रसार करूं। अमुक तर्क आदि द्वारा जैनधर्मका उद्योत करूं। इसप्रकार तत्त्वोंका प्रतिपादन करनेके लिये बार बार उपयोगको लगाना आज्ञाविचय है।

मिथ्यादृष्टि जीव सर्वज्ञ प्रणीत मोक्षमार्गसे विमुख हो रहे है। जैसे जन्माध पुरुष सन्मार्गसे दूर अति दूर रहते है क्योंकि उन्हें उक्त मार्ग दिखायी नही देता, उस प्रकार मिथ्यादृष्टिको मोक्षमार्ग दिखायी नही देता। ये बिचारे वास्तविक तत्त्वको नही समझ पा रहे है। इसप्रकार विचार करना अपायविचय धर्म्यध्यान है। अथवा इन अज्ञानी प्राणियोंका अज्ञान एव मिथ्यात्व कैसे नष्ट हो, इसप्रकार विचार करना अपाय विचय ध्यान है। ज्ञानावरण आदि कर्म प्रकृतियोंके उदयका विचार करना, किस कर्म का क्या फल है किस द्रव्य क्षेत्रादिसे कौनसा कर्मफल देनेके सन्मुख होता है। कर्मोंको बंध, उदय, सत्त्व सक्रमण आदि अवस्थायें इन सबका विचार करना, विपाक विचय धर्म्यध्यान कहलाता है और तीन लोकके आकार, नरक स्वर्ग आदिके स्थान प्रमाण स्वभाव आदिका पुन: पुन: चिंतन सस्थान विचय धर्म्यध्यान कहलाता है।

धर्म्यध्यान का लक्षण (चिह्न) —

मार्दव, आर्जव, नि:सगपना और हेयोपादेय तत्त्वको समझने समझानेमे पटुता होना यह सब धर्म्यध्यानमें प्रवृत्त हुए व्यक्तिके लक्षण है अथवा धर्म्यध्यानके लक्षण हैं ।।१७६४।।

विशेषार्थ—जाति कुल रूप आदिका मान नहीं होना मार्दव भाव है। कुटिलताका अभाव आर्जव है। परिग्रहमें ममत्वका अभाव नि.संगता है। हेय तत्त्व आस्रवादि और उपादेय तत्त्व आत्मा, संवर, निर्जरा आदि हैं, इन तत्त्वोंको जाननेकी एवं परको प्रतिपादन करनेकी योग्यता अर्थात् धर्मोपदेशमें प्रवीणताका होना ये सब धर्म्यध्यानके लक्षण–चिह्न विशेष हैं। जिस पुरुषमें मार्दवादि भाव हैं उस पुरुषके धर्म्य-

वाचना प्रच्छनाम्नायानुप्रेक्षाधर्मदेशनाः ।
भवत्यालबनं साधोर्धर्म्यध्यानं चिकीर्षतः ।।१७६५।।

पंचास्तिकायषट्काय कालद्रव्याणि यत्नतः ।
आज्ञाग्राह्याणि दक्षेण विचार्याणि जिनाज्ञया ।।१७६६।।

ध्यान होता है ऐसा जानना चाहिये । अथवा मार्दव आदि भावोंसे युक्त व्यक्तिके ही धर्म्यध्यान संभव है । मार्दव आदि गुणोंको देखकर धर्म्यध्यानको जान सकते हैं । धर्म्य-ध्यान और मार्दवादि गुण इनमें कार्यकारण भाव या लक्ष्य लक्षणभाव पाया जाता है । मार्दवादि भाव कारण है धर्म्यध्यान कार्य तथा मार्दवादि लक्षण है और धर्म्यध्यान लक्ष्य है ।

धर्म्यध्यान के आलबन—

जो साधु धर्म्यध्यानको करना चाहता है उसके लिये वाचना, पृच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा और धर्मोपदेश ये पांच प्रकारके स्वाध्याय आलंबन होते है अर्थात् इन स्वाध्याय रूप तपों द्वारा धर्म्यध्यानकी सिद्धि संभव है ।।१७६५।।

विशेषार्थ—धर्म्यध्यानका ध्येय जीवादि समीचीन रूप सात तत्त्व छह द्रव्य आदि हैं इन तत्त्वोंका बोध वाचना आदि स्वाध्यायके माध्यमसे होता है जब तक सर्वज्ञ कथित और आचार्य रचित ग्रंथोका वाचना, पृच्छना आदि रूप स्वाध्याय नही करेंगे तब तक ध्येय वस्तुका निर्णय नही हो सकता और उसके बिना ध्येय वस्तुपर मनका एकाग्र होना रूप ध्यान नही हो सकता । योग्य पात्रके लिये सिद्धांत आदि ग्रंथ पढ़ाना वाचना है । आगम कथित विषयमे शंका होनेपर ज्ञानीसे प्रश्न करना पृच्छना है अथवा अपने द्वारा ज्ञात तत्त्वकी धारणा दृढ रहे इसके लिये प्रश्न-चर्चा करना पृच्छना स्वाध्याय है । सूत्र आदि कंठस्थ करनेके लिये पुनः पुनः शुद्ध घोष करना आम्नाय है तथा तत्त्वार्थका चिंतन अनुप्रेक्षा है । भव्योंको धर्मका उपदेश देना धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय है ।

आज्ञाविचयधर्म्यध्यान का स्वरूप—

जो जिनेन्द्रकी आज्ञा द्वारा ग्राह्य है ऐसे पांच अस्तिकाय छह द्रव्य, षट्काय जीव समूहका जिनाज्ञाके अनुसार दक्ष पुरुष द्वारा विचार किया जाना आज्ञा विचय धर्म्यध्यान है ।।१७६६।।

विशेषार्थ—अस्तिकाय–बहुप्रदेशी द्रव्यको अस्तिकाय कहते हैं, ये पांच हैं जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय। एक एक जीवमें असंख्यात प्रदेश पाये जाते हैं। पुद्गलमें किसीमें संख्यात, किसीमें असंख्यात और किसीमें अनंतप्रदेश पाये जाते हैं। धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यमे एक एकमें असंख्यात प्रदेश हैं। आकाशके दो भेद हैं लोकाकाश, अलोकाकाश। लोकाकाशमें असंख्यात और अलोकाकाशमें अनतानंत प्रदेश हैं। अत: ये पांचों ही अस्तिकाय नामसे कहे जाते हैं। "अस्ति" मायने है–मौजूद। "काय" मायने बहुत, इसप्रकार अस्तिकाय का अर्थ है। इन पांचोंमें एक काल द्रव्य मिलानेपर छह द्रव्य होते हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। चेतना लक्षणवाला जीव है। इससे विपरीत अचेतन अजीव है। इस अजीव तत्त्वमें पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य अंतर्भूत हो सकते हैं अर्थात् केवल सात तत्त्वोंका वर्णन करते समय छह द्रव्योंमेंसे जीवद्रव्य जीव तत्त्वमें और पुद्गलादि शेष द्रव्य अजीव तत्त्वमें अंतर्निहित कर लेते है क्योंकि ये पाँच जड़–अजीव हैं। जिसमे स्पर्श, रस, गंध और वर्ण गुण पाये जाते है वह पुद्गल द्रव्य है, ये दृष्टिगोचर होनेवाले–दिखायी देनेवाले जितने भी पदार्थ है वे सब पुद्गल द्रव्यरूप है। जीव और पुद्गलको गमनमें सहायी धर्मद्रव्य है जीव और पुद्गलको ठहरनेमे सहायी अधर्मद्रव्य या अधर्मास्तिकाय है। सभीका आधारभूत आकाश द्रव्य या आकाशास्तिकाय है। सभी द्रव्योंकी अवस्थाये पलटनेमें जो निमित्त होता है वह काल द्रव्य है यह बहुप्रदेशी नही है अत· अस्तिकायकी कोटिमें नही आता। घंटा, दिन, वर्ष आदि व्यवहार काल है और आकाशप्रदेशमें रत्नराशिवत् एक एक प्रदेश रूप अवस्थित कालद्रव्य निश्चयकाल है। इसप्रकार अजीव तत्त्वका वर्णन जानना।

जीवोंके रागादि विकारभावोसे कर्मवर्गणाका जीव प्रदेशोमे आगमन होना आस्रव तत्त्व है इसके द्रव्यास्रव भावास्रव रूप अनेक भेद प्रभेद है। जीव और कर्म-प्रदेशोका क्षीर नीरवत् संबध होना बध तत्त्व है। कर्मोका आना रुकना सवर तत्त्व है। पुरातन कर्मोंका एक देश क्षय निर्जरातत्त्व है और सपूर्ण कर्मोका जीवसे पृथक् हो जाना मोक्ष तत्त्व है।

इन बध, संवर आदिके द्रव्य बंध, भाव बंध आदि आदि अनेक भेद हैं। इन सभी का स्वरूप, सर्वार्थसिद्धि, बृहत् द्रव्यसंग्रह आदि ग्रंथोंसे जानना चाहिये।

कल्याण प्रापकोपायश्चितनोयो जिनागमे ।
शुभाशुभविकल्पानामपायः कर्मणां परम् ।।१७६७।।

एकानेकभवोपात्तपुण्यपापात्मकर्मणाम् ।
उदयोदोरणादीनि चितनीयानि धीमताम् ।।१७६८।।

इन द्रव्य-तत्त्व आदिका पुनः पुनः विचार करना इनमें मनको एकाग्र करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान कहलाता है ।

अपायविचय धर्म्यध्यानका स्वरूप—

जिनागममे कल्याण, सुखकी प्राप्तिका जो उपाय बतलाया है उसका चिंतवन करना अथवा शुभ अशुभ कर्मोंका अभाव कैसे हो, शुभ अशुभ कर्म इस जीवोका कितना अपाय कर रहे हैं इत्यादि विचार करना अपायविचय धर्म्यध्यान है ।।१७६७।।

विशेषार्थ—अभ्युदय और निःश्रेयस ऐसे दो प्रकारके कल्याण या सुख है । देव और मनुष्य संबधी सुख अभ्युदय सुख कहलाता है, मोक्षका सुख निःश्रेयस सुख कहलाता है । इनका कारण रत्नत्रय है इत्यादि सुखके उपायका विचार करना अथवा शुभाशुभ कर्मोंसे होनेवाले अपायका विचार करना, मिथ्यात्व असंयम आदिसे इस जीव का कैसे-कैसे अपाय होता है इत्यादि विचार करना अपायविचय धर्म्यध्यान है ।

विपाकविचय धर्म्यध्यानका स्वरूप—

एक और अनेक भवोमें संचित हुए पुण्य पापकर्मोकी उदय उदीरणा, बध, सत्व आदिका बुद्धिमानको विचार करना चाहिये । यह विचार विपाकविचय धर्म्यध्यान कहलाता है ।।१७९८।।

विशेषार्थ—जिनकर्मोंसे देवादिगतिके सुख प्राप्त होते है वे पुण्यकर्म है और जिन कर्मोंसे नरकादि गतिके दुःख प्राप्त होते हैं वे पापकर्म है । इन कर्मोंकी दश अवस्थायें होती है—बंध, उदय, सत्त्व, सक्रमण, उदीरणा, उपशम, अपकर्षण, उत्कर्षण, निधत्ति और निकाचित । बंध—जीव प्रदेशोंमे नूतन कर्मका सबध होना । उदय—कर्मका यथा समय फल देना । सत्त्व—कर्म बंधसे लेकर उदयमे आकर खिर जाने तक मौजूद रहना । संक्रमण—कर्मप्रकृतिका अन्य सजातीय कर्म प्रकृतिमें बदल जाना । उदीरणा—

ऊर्ध्वाधः सन्निलोकस्था द्रव्यपर्याय संस्थितोः ।
विचितयत्यनुप्रेक्षास्तत्रैवानुगतो यतिः ॥१७९९॥
अध्र् वाशरणंकान्यजन्मलोकविसूचिका: ।
आस्रवः संवरश्चिन्त्यो निर्जराधर्मबोधयः ॥१८००॥

असमयमें कर्मोंका फल देना । उपशम—कारण विशेषसे कर्मकी उदीरणा नहीं हो सकना दबा रहना । अपकर्षण—कर्मोंको स्थिति घट जाना । उत्कर्षण—कर्मोंकी स्थिति बढ़ जाना । निधत्ति—उदीरणा और संक्रमण जिसमें न हो सके वह कर्म निधत्ति कहलाता है । निकाचित—उदीरणा, संक्रमण, अपकर्षण और उत्कर्षण ये चारो जिसमें नही हो सके इन सब विषयोंका विशेष वर्णन, कर्मकाण्ड आदिमें है । इसप्रकार कर्मोंके नाना अवस्था विशेषोंका विचार करना विपाक विचय धर्म्यध्यान है ।

सस्थान विचय धर्म्यध्यानका स्वरूप—

ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक इसतरह तोन प्रकारके लोकमे स्थित जीवादि द्रव्य तथा उन द्रव्योंको स्वभाव विभाव पर्यायें उन पर्यायोकी काल मर्यादा आदि का चितवन करना सस्थान विचय धर्म्यध्यान है । इस ध्यानमें स्थित मुनिराज बारह भावनाओका भी चिंतन करते हैं अर्थात् अनित्य आदि बारह भावनाओंका चिंतन इसी संस्थान विचय ध्यानमे आता है ॥१७९९॥

विशेषार्थ—अधोलोक वेत्रासनके आकारका है, मध्यलोक झालरीके आकारका और ऊर्ध्वलोक मृदगके आकारका है । उनमें क्रमशः नारकी, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि तिर्यंच और देव रहते है । तीन भेद वाले इस लोकाकाशमें मध्य भागमें त्रस स्थावर जीवोके निवास स्थान भूत त्रस नाली है, त्रस जीव केवल इसीमें रहते हैं तथा स्थावर जीव इसमे एव सर्वत्र लोकमें रहते है । त्रसकी मुख्यतासे इसे त्रसनालो कहते है । छह द्रव्य आदिका स्वरूप अभी पहले कह दिया है । उन द्रव्योमें जीव और पुद्गलको स्वभाव विभाव दोनों प्रकारकी पर्यायें होती हैं । शेष धर्म आदि द्रव्योमें स्वभाव पर्याय ही होती है । पर्यायोंके द्रव्य-पर्याय, गुणपर्याय, अर्थपर्याय आदि अनेक भेद हैं, इनका स्वरूप पचास्तिकाय आदि ग्रंथोंमें अवलोकनीय है ।

बारह अनुप्रेक्षाओंके नाम—

अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ और धर्म ये बारह भावनायें हैं ॥१८००॥

डिंडीरपिंडवल्लोकः सकलोऽपि विलीयते ।
समस्ताः संपदश्चात्र स्वप्नभूतिसमागमः ।।१८०१।।

दृष्टनष्टानि सौख्यानि स्फुरितानीव विद्युताम् ।
बुद्बुदा इव निःशेषा नश्वराः सन्ति गोचराः ।।१८०२।।

नानादेशागताः पांथा नौगता इव बांधवाः ।
गत्वरा आश्रयाः सर्वे शारदा इव नीरदाः ।।१८०३।।

तेरह श्लोकों द्वारा अनित्य भावनाका वर्णन करते हैं—

यह समस्त लोक-संसारके पदार्थ डिंडीर पिंडसमुद्रका फेन या झागके समान नष्ट होनेवाले हैं तथा समस्त वैभव, धन, संपदाये स्वप्नके वैभवके समागम सदृश क्षण-भंगुर हैं ।।१८०१।।

इन्द्रिय जन्य सुख बिजलीके चमकके समान देखते-देखते नष्ट होने वाले हैं । संसारके उच्च पद एवं स्थान जलके बुलबुलके समान नश्वर है ।।१८०२।।

भावार्थ—यह मोही प्राणी इन्द्रिय सुख और बड़े पद तथा स्थानोके लिये बड़ा ही लालायित रहता है किन्तु ये सब विनाशीक हैं ।

ये प्रिय बंधुजन नदीसे पार होनेके लिये नाना देशोंसे आकर एक नावमे बैठने वाले पथिक जनोके समान हैं अर्थात् जैसे नावमे अनेक ग्राम नगरवासी जन आकर बैठते हैं और नदीसे पार होते ही अपने स्थान पर चले जाते हैं फिर साथ नही रहते हैं वैसे बंधु, मित्र, पुत्रादि अनेक गतिसे आकर कुछ कालके लिये एक घर ग्रामादि में एकत्रित होते है यथासमय वहांसे चल देते है उनका साथ सदाका नही है । स्वामी आदि आश्रयभूत पदार्थ भी शरद ऋतुके मेघके समान अस्थिर—नश्वर हैं ।।१८०३।।

प्रिय जीवोंके साथ जो सहवास है वह मार्गमे चलते हुए पथिक पुरुषोंको वृक्षों की छायाके समान अति अल्पकाल रहकर नष्ट होनेवाला है अथवा मार्गमें स्थित वृक्षो की छायामे जैसे अनेक पथिक आकर बैठते है परस्पर मिलते है और अन्यत्र भिन्न भिन्न दिशामें चले जाते हैं अथवा विश्राम हेतु कुछ ही समय तक वृक्षकी छायामें बैठते हैं पुनः उस छायाको छोड़कर चले जाते हैं अथवा मार्गके दोनों किनारे पर वृक्ष आते

छायानामिव पांथानां संवासो नश्वरोंऽगिनाम् ।
चक्षुषामिव रागोऽत्र न स्नेहो जायते स्थिरः ॥१८०४॥

संयोगो देहिनां वृक्षे शर्वर्यामिव पक्षिणाम् ।
आज्ञैश्वर्यादयो भावाः परिवेषा इव स्थिराः ॥१८०५॥

जीवानामक्षसामग्री शंपेवास्ति चला चलम् ।
विनश्वरमशेषाणां मध्याह्न इव यौवनम् ॥१८०६॥

चंद्रमा वर्द्धते क्षीण ऋतुरेति पुनर्गतः ।
नदीजलमिवातीतं भूयो नायाति यौवनम् ॥१८०७॥

धावते देहिनामायुरापगानामिवोदकम् ।
क्षिप्रं पलायते रूपं जलरूपमिवांगिनाम् ॥१८०८॥

जाते है और पथिक चलता हुआ छायाका किंचित् मयोग करता हुआ आगे बढता जाना है जैसे यह क्षणिक है वैसे परिवारके लोगोका साथ अल्पकालीन है । जैसे प्रणय आदिसे कुपित व्यक्तिके नेत्र किंचित् काल तक लालिमा युक्त होते है वैसे प्रिय जनोंका स्नेह किंचित् कालका है स्थिर नही है ॥१८०४॥ जैसे रात्रिमें एक वृक्षपर पक्षियोंका सयोग होता है और रात्रि समाप्त होते ही संयोग समाप्त हा जाता है वैसे परिवारका संयोग अस्थिर है । सूर्य या चन्द्रमें परिवेष जैसे क्षणिक है वैसे आज्ञा, ऐश्वर्य आदि भाव अस्थिर है क्षणिक है ॥१८०५॥

जोवोकी इन्द्रियोंको भोग सामग्रो विद्युतवत् चंचल है अथवा नेत्र आदि इन्द्रियां अस्थिर है, वृद्धावस्थामे नष्ट होती है अथवा कमजोर होती है । सभी जोवोंका यौवन मध्याह्न कालके समान विनश्वर है ॥१८०६॥ इस जगतमे चन्द्रमा क्षीण होकर पुन वृद्धिगत होता है । बसत आदि ऋतुये व्यतीत होकर पुनः पुन आती है किन्तु हमारा यह प्यारा-प्यारा यौवन व्यतीत होनेपर पुनः लौटकर नही आता जैसेकि नदीका प्रवाह जो बहता जा रहा है वह पुनः लौटकर नही आता ॥१८०७॥ संसारी प्राणियो की आयु नदीजलके समान वेगसे दौड़ रही है । जीवोंका रूप जलमे प्रतिबिंबित रूपके समान शीघ्र हो भाग जाता है ॥१८०८॥ जैसे पूर्वाह्न कालमे छाया घटती जाती है वैसे शरीरको सुकुमारता घटती जाती है । जैसे सायंकालीन छाया बढ़ती जाती है वैसे

पौर्वाह्लिकी यथा छाया हीयते सुकुमारता ।
पराह्लिकी यथा छाया सर्वदा वर्धते जरा ।।१८०९।।

तेजो नश्यति जीवानां निर्लिपधनुषामिव ।
उल्केवनश्वरी बुद्धिर्दृष्टनष्टाप्रजायते ।।१८१०।।

बलं पलायते रूपमिव रथ्यागतं रजः ।
जलानामिव कल्लोलो वीर्यं नश्वरमंगिनाम् ।।१८११।।

हिमपुंजा इवानित्या भवन्ति स्वजनादयः ।
जंतूनां गत्वरी कीर्तिः संध्याश्रीरिव सर्वथा ।।१८१२।।

छंद वंशस्थ—

इदं जगच्छारदवारिदोपमं न जानते नश्वरमंगिनः कथम् ।
यमेन हंतुं सकलाः पुरस्कृता मृगाधिपेनेव मृगा बलीयसा ।।१८१३।।

इति अनित्य ।

बुढ़ापा सदा बढ़ता जाता है ।।१८०९।। जीवोंकी शरीरकी कांति या तेज इन्द्रधनुषके समान नष्ट होता है । पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप बतलाने वाली, कुगतिको रोकने वाली, चारित्र रूपी निधिको प्रगट करनेमें दीपकके समान ऐसी विशिष्ट बुद्धि भी देखते-देखते नष्ट हो जाती है ।।१८१०।।

गलीकी धूलिमे रचा हुआ किसीका आकार या रूप जैसे क्षणिक है वैसे मानवोंका बल क्षणिक है नष्ट होनेवाला है । जैसे जलमे लहरें चंचल हैं नश्वर हैं वैसे जीवोंका पराक्रम-वीर्य बड़े बड़े योद्धा या मल्लोका वीर्य भी नष्ट हो जाता है ।।१८११।।

स्वजन आदि हिमपुंजके समान अनित्य होते हैं अर्थात् जैसे बर्फका ढेर क्षण-भरमें पिघलकर नष्ट होता है वैसे स्वजन कुछ काल बाद नष्ट हो जाते हैं । जीवोंकी महान् कीर्ति सध्याकी शोभाके समान सर्वथा नश्वर स्वभाव वाली है ।।१८१२।। यह जगत शरदऋतुके मेघके समान नश्वर है, अहो ! ये प्राणिगण इस बातको कैसे नही जानते ? जैसे बलवान सिंह द्वारा हरिण मारनेके लिये पकड़े जाते है वैसे संसारी जीव यमराज द्वारा मारनेके लिये मानो पुरस्कृत हो रहे है—सामने आरहे हैं अर्थात् सभीके समक्ष मृत्यु मंडरा रही है ।।१८१३।।

अनित्य अनुप्रेक्षा समाप्त ।

कर्मोदये मतिर्याति नोपायो विद्यतेऽङ्गिनाम् ।
सुधा विषं तृणं शस्त्रं बंधुः शत्रुश्च जायते ।।१८१४।।

अस्ति कर्मोदये बुद्धिरुपायमवलोकते ।
विपक्षो जायते बंधुः शस्त्रं पुष्पं विषं सुधा ।।१८१५।।

अर्थः पापोदये पुंसो हस्तप्राप्तोऽपि नश्यति ।
दूरतो हस्तमायाति पुण्यकर्मोदये सति ।।१८१६।।

नरः पापोदये दोषं यतमानोऽपि गच्छति ।
गुणं पुण्योदये श्रेष्ठं यत्नहीनोऽपि तत्वतः ।।१८१७।।

अशरण अनुप्रेक्षाका वर्णन—

इस ससारमे जब जीवोंके पापकर्मका तीव्र उदय आता है तब हेय उपादेय तत्वका विचार करनेवाली बुद्धि नष्ट हो जाती है । शरणभूत कुछ उपाय नही रहता । पापके उदयमे अमृत भी विष जैसा बन जाता है, तृण भी शस्त्र जैसा घातक होता है और बधु भी शत्रुवत् आचरण करने लगता है । इससे विपरीत जब पुण्यका उदय आता है तब ज्ञानावरण कर्मके तीव्र क्षयोपशम रूप बुद्धि प्राप्त होती है जो संपूर्ण पदार्थोंको जाननेमे हेय और उपादेयताको दिखलानेमें समर्थ होती है । पुण्योदयमे दुःख, कष्ट आदि को दूर करनेका उपाय सूझता है अथवा मोक्ष प्राप्तिका उपाय जाननेमे आता है । पुण्यके उदय होनेपर शत्रु मित्रवत् बन जाता है, शस्त्र प्रहार पुष्पहार बनता है और विष भी अमृत बनता है ।।१८१४।।१८१५।।

जब जीवके पापका उदय आता है तब हाथमे आया हुआ धन नष्ट हो जाता है और पुण्योदयके होनेपर बहुत दूर देशातरमे स्थित धनादि वैभव हाथमे आता है—प्राप्त होता है ।।१८१६।।

यह मनुष्य पापके उदयमें दोषसे दूर रहना चाहता है तो भी दोषको प्राप्त होता है अथवा सदाचारी निर्दोष होनेपर भी पापोदयमें उसका अपवाद होता है और पुण्यके उदयमे आनेपर बिना किसी प्रयत्नके श्रेष्ठ गुण प्राप्त होते हैं अथवा पुण्योदयमें अकार्य करनेपर भी यश मिलता है प्रशसा होती है ।।१८१७।।

पुण्योदये परां कीर्ति लभते गुणवर्जितः ।
पापोदयेऽश्नुते गुर्वीमकीर्ति गुणवानपि ।।१८१८।।

जन्ममृत्युजरातंके दुःखशोकभयादिके ।
दीयमाने विपक्षेण निरुपक्रमकर्मणा ।।१८१९।।

न कोऽपि विद्यते त्राणं देहिनो भुवनत्रये ।
न प्रविष्टोऽपि पातालं मुच्यते कर्मणा जनः ।।१८२०।।

नगदुर्गे क्षितौ शैले लोकांते काननेऽम्बुधौ ।
गतोऽपि कर्मणा जीवो नोदीर्णेन विमुच्यते ।।१८२१।।

द्विचतुर्बहुपादा ये ते गच्छंति महीतले ।
जले मीनाः खगा व्योम्नि कर्म सर्वत्र सर्वदा ।।१८२२।।

कोई नर गुण रहित है तो भी पुण्यके उदयमे श्रेष्ठ कीर्त्तिको प्राप्त करना है और पापके उदय होनेपर गुणवान व्यक्ति है तो भी बड़ी भारी अपकीर्त्तिको पाता है ।।१८१८।।

जिसके प्रतिकारका कोई उपाय नही है ऐसे निधत्ति आदि तीव्र स्वभाव वाले विपक्षीके समान पापकर्म द्वारा दिये जानेवाले जन्म, मरण, जरा, पीडा, दु ख, शोक, भय आदिको जोवोंको भोगने ही पड़ते है । उस वक्त इन जीवोको तीन लोकमें कोई शरण सहाय नहीं मिलता है तीव्र पापोदयसे युक्त जोव चाहे पाताल प्रविष्ट हो जाय तो भी उस कर्म द्वारा छूट नही सकता है ।।१८१९।।१८२०।।

यह जीव चाहे पर्वतके किले–गढ आदिमे चला जाय या पृथिवीके अदर धँस जाय, लोकांतमें, वनमें और समुद्रमे भी छिप जाय किन्तु उदीरणाको प्राप्त हुए कर्म द्वारा छोड़ा नहीं जाता अर्थात् उक्त स्थानों पर भो कर्म अपना फल अवश्य देता है ।।१८२१।।

दो पैर वाले मनुष्य, चार पैर वाले अश्व, सिंह आदि बहुत पैर वाले अष्टापद या कीट विशेष आदि प्राणोगण महोतल पर चलते है, रहते हैं । मीन, मगर आदि जलमें रहते हैं । पक्षी आकाशमें चलते है किन्तु कर्म तो जल, स्थल, आकाशमे सर्वत्र ही हमेशा ही रहता है ।।१८२२।।

अगम्या विषयाः संति रविचंद्रानिलामरैः ।
प्रदेशो विद्यते कोपि नागम्यः कर्मणा पुनः ।।१८२३।।

न योधा रथहस्त्याश्वा विद्यामंत्रौषधादयः ।
सामादयोऽपि चोपायाः पान्ति कर्मोदयेऽङ्गिनाम् ।।१८२४।।

केनेहोदीयमानानां कर्मणां ज्योतिषामिव ।
निषेधः शक्यते कर्तुं स्वकीये समये सति ।।१८२५।।

प्रतीकारोऽस्ति रोगाणां कर्मणां न पुनर्जने ।
कर्म मृद्नाति हस्तीव लोकं मत्तो निरंकुशः ।।१८२६।।

प्रतीकारो न रोगाणां कर्मणामुदये सति ।
उपचारो ध्रुवं तेषामस्ति कर्मशमे सति ।।१८२७।।

इस जगतमें सूर्यके लिये अगम्यप्रदेश विद्यमान है, चन्द्र, वायु और देवोंको अगम्य ऐसे प्रदेश भी है किन्तु कर्मके लिये कोई प्रदेश अगम्य नही है ।।१८२३।।

संसारी जीवोंके पाप कर्मोंका उदय आनेपर बड़े बड़े सहस्रभट, कोटीभट आदि योद्धा भी सहायक रक्षक नहीं बन पाते, रथ, हाथी, अश्व, विद्या, मंत्र (जिसके अंतमें "स्वाहा" शब्द होता है वह विद्या कहलाती है और जिसके अंतमे स्वाहा शब्द नही होता वह मंत्र कहलाता है) औषधि आदि तथा साम, दाम, दण्ड आदि उपाय कार्यकारी नहीं होते हैं अर्थात् इन उपायोके करनेपर भी पापकर्मसे होनेवाले कष्ट, दुःख, वेदना और मृत्यु को दूर नही कर सकते है ।।१८२४।। जिसप्रकार आकाशमे उदित होते हुए सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदिको रोक नही सकते है उनका निषेध किसीके द्वारा भी होना शक्य नही वे अपने-अपने समय पर अवश्य उदित होते है उसीप्रकार कर्मोका उदय आनेपर उसको कोई भी रोक नही सकता, निषेध नही कर सकता कि अभी उदयमें नहीं आना इत्यादि ।।१८२५।।

लोगोके पास रोगोंका प्रतीकार तो है किन्तु कर्मोका प्रतीकार नही है । जैसे अंकुश रहित मत्त हाथी जनको नष्ट करता है, मसल देता है, वैसे कर्म जीवको नष्ट करता है ।।१८२६।। कर्मोका तीव्र उदय आनेपर रोगोंका प्रतीकार नहीं हो पाता किन्तु जब कर्मोका उपशम या मंद उदय होता है तब उन रोगोंका उपचार प्रतीकार

बलकेशवचक्रेशदेवविद्याधरादयः ।
सन्ति कर्मोदये व्यक्तं शरणं न शरीरिणाम् ।।१८२८।।

गच्छन्नुल्लंघते क्षोणीं नरस्तरति नीरधिम् ।
नातिक्रांतुं पुनः कोऽपि कर्मणामुदयं क्षमः ।।१८२९।।

मृगमीनौ परौ जन्त्वोः सिंहमीनगृहीतयोः ।
जायते रक्षकः कोऽपि कर्मग्रस्तस्य नो पुनः ।।१८३०।।

छंद-स्वागता—

कर्मनाशनसहानि जनानां ज्ञानदर्शनचरित्रतपांसि ।
नापहाय सति कर्मणि पक्वे रक्षकानि खलु संतिपराणि ।।१८३१।।

।। इति अशरणम् ।।

निश्चयसे हो जाता है ।।१८२७।। इन शरीर धारी जीवोंको कर्मोंका तीव्र उदय आनेपर बलदेव, नारायण, चक्रवर्ती देव और विद्याधर आदि भी शरण नहीं होते हैं । यह स्पष्ट ही है ।।१८२८।। यह मानव बड़े-बड़े पर्वत आदिसे विषम भूमिका उल्लंघन कर सकता, सागरको भुजा द्वारा पार कर सकता है किन्तु ऐसा कोई भी संसारी जीव नहीं है जो उदयको प्राप्त कर्मोंका उल्लंघन कर सके ।।१८२९।।

सिंहके द्वारा पकड़े हुए हिरणका कोई रक्षक हो सकता है, बडी मछली द्वारा पकड़े हुए छोटी मछलीका कोई रक्षक हो सकता है, किन्तु कर्म द्वारा पकड़े हुए—ग्रस्त हुए जीवका कोई भी रक्षक नहीं है ।।१८३०।। इसप्रकार यहां तक कहे गये बंधु, मित्र, राजा, चक्रवर्ती, दुर्ग, पाताल आदि कोई भी शरण सहायी नहीं है ऐसा बताया । अब जो सहायक है, उसको आगेके श्लोकमे बतलाते हैं—

भव्य जीवोंके लिये यदि कोई शरणभूत है तो वह अपने-अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप हो हैं । ये ही ज्ञानादिक उन दुःखदायी कर्मोंका नाश करनेमे समर्थ है । इन ज्ञानादि चार आराधनाओंको छोड़कर अन्य कोई पदार्थ कर्मके उदयमे रक्षक सहायक शरणभूत नहीं होते है । ऐसा दृढ निश्चय करना चाहिये ।।१८३१।।

अशरण भावना समाप्त ।

करोति पातकं जन्तुर्देहबांधवहेतवे ।
श्वभ्रादिषु पुनर्दुःखमेकाकी सहते चिरम् ।।१८३२।।

वेदनां कर्मणा दत्तां रोगशोकभयादिकां ।
किं भुंजानस्य कुर्वन्तु पश्यन्त्यो ज्ञातयोऽङ्गिनः ।।१८३३।।

एकाकी म्रियते जीवो न द्वितीयोऽस्य कश्चन ।
सहाया भोगसेवायां न कर्मफलसेवने ।।१८३४।।

देहार्थं बांधवाः सार्धं न केनापि भवांतरम् ।
वल्लभा अपि गच्छन्ति कुर्वन्तोऽपि महादरम् ।।१८३५।।

एकत्व भावना—

यह मोही जीव शरीर बंधुजन आदिके लिये पाप करता है किन्तु नरकादि खोटी गतियोमे चिरकाल तक अकेला ही दुःखको भोगता है, वहां बंधुजन दुःख भोगनेमें साथी नहीं होते ।।१८३२।।

यदि कोई प्रश्न करे कि नरकादि गतिमे बंधुजन उसकी वेदनाको देखते नही अतः सहायक या साथी कैसे बने । सो इस प्रश्नका उत्तर देते है—

पापकर्म द्वारा रोग, शोक, भय आदि रूप वेदना दी जानेपर उसको भोगते हुए मनुष्यको प्रत्यक्ष रूप परिवार–बधुजन देख रहे है किन्तु उसका कुछ प्रतीकार आदि करते है क्या ? नही करते है अर्थात् अपने आँखोंके सामने पिता आदिको भयंकर वेदना या कष्ट आदि आनेपर भी परिवार कुछ नही कर सकता, वेदना उस व्यक्तिको ही भोगनी पड़ती है जिसने कि पूर्वमें पापका उपार्जन किया था ।।१८३३।।

आयु पूर्ण होनेपर यह जीव अकेला हो मरता है, इसका दूसरा कोई साथी नही होता । मनोहर वस्त्राभरण भोजनादि को भोगनेमें सहायक बहुत हैं किन्तु कर्मोंका फल भोगनेमें कोई सहायक नहीं है ।।१८३४।। शरीर, धन और बांधव किसीके भी साथ दूसरे भवमें–परलोकमें नहीं जाते हैं, उस व्यक्तिका महान् आदर करते हुए अत्यंत प्रिय पुत्र-पत्नी आदि भी परलोकमें साथ नहीं जाते ।।१८३५।। इन संसारी जीवोंके अपने शरीर, धन और स्वजन आदि यही पर–इस लोकमें ही रह जाते हैं, अत्यंत उत्कंठा

स्वकीया देहिनोऽत्रैव देहार्थस्वजनादयः ।
स्वीकृताः संभ्रमेणापि न कदाचिद्भवान्तरे ॥१८३६॥
स्वकीयं परकीयं न विद्यते भुवनत्रये ।
नैकस्याटाट्यमानस्य परमाणोरिवांशिनः ॥१८३७॥
भवांतरं समं गत्वा धर्मो रत्नत्रयात्मकः ।
उपकारं परं नित्यं पितेव कुरुतेऽङ्गिनः ॥१८३८॥
भोगं रोगं धनं शल्यं गेहं गुप्तिः स्त्रियो यथा ।
बंधुं च मन्यते बंधं साधुरेकत्ववासितः ॥१८३९॥

से धन परिवार आदिको भवान्तरमे साथ ले जाना चाहें तो भी मरनेवाला पुरुष उनको नहीं ले जा सकता । इसप्रकार एकत्व भावनामें विचार करना चाहिये ॥१८३६॥

जैसे परमाणु अन्य परमाणु या स्कंध आदिके संबंध बिना तीन लोकमे सर्वत्र अकेला घूमता है वैसे तीन लोकमें एकाकी परिभ्रमण करते हुए इस जीवके कोई नही है न अपना है और न पराया है ॥१८३७॥

इसप्रकार धन, परिवार आदि परलोकमें साथ नही जाते ऐसा समीचीन सिद्धांत कहकर अब आगे कहते हैं कि परलोकमें धर्म साथ जाता है—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप धर्म इस जीवके साथ परलोकमें जाता है । यह रत्नत्रय धर्म पिताके समान इस जीवका नित्य ही उत्कृष्ट उपकार करता है ॥१८३८॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन आदि धर्म आत्माका निजी धर्म है, आत्मासे अभिन्न है, अनादिकालसे मिथ्यात्व आदि द्वारा यह धर्म ढक रहा है, मिथ्यात्व आदिके हटनेपर प्रगट होता है । यह धर्म दुर्गतिमें जाते हुए जीवको रोककर उत्तम इन्द्र आदि पदमें स्थापित करता है, यह परलोकमें कल्याणकारक मित्र है क्योंकि परलोकमें साथ जाकर अभ्युदय आदि सुखको देता है । इसप्रकार रत्नत्रय धर्मको छोड़कर अन्य कोई भी इस जीवका नही है ऐसा एकत्व भावनामें विचार करना चाहिये ।

जो साधु सदा एकत्व भावनाको भाता है वह भोगको रोगके समान दुःखदायी मानता है, धनको शल्यवत् कष्टप्रद समझता है, घर और स्त्रियोंको कारागृहके समान

बंधस्य बंधनेनेव रागो यस्य न विग्रहे ।
स करोत्यादरं साधुः किमर्थेऽनर्थकारिणि ।।१८४०।।

छंद-अनुकूला—

बंधनतुल्यं चरणसहायं पश्यति गात्रं मथितकषायः ।
यो मुनिवर्यो जनधनसगे तस्य न रागःकृतहितभंगे ।।१८४१।।

।। इति एकत्वम् ।।

दु खव्याकुलितं दृष्ट्वा किमन्योऽन्येन शोच्यते ।
किं नात्मा शोच्यते जन्ममृत्युदुःखपुरस्कृतः ।।१८४२।।

और बंधुको बंधनरूप मानता है अर्थात् भोग आदिमें ममत्व प्रेम नहीं करता है ।।१८३९।।

जैसे सांकल आदिसे बंधे हुए पुरुषके उस सांकल आदिमे प्रीति नही होती वैसे जिसकी शरीरमे ही राग-प्रीति नहीं है वह साधु अनर्थको करनेवाले धनमें क्या आदर कर सकता है ? कभी नहीं कर सकता ।।१८४०।। जिन्होंने कषायोंका मथन किया है वे मुनिजन शरीरको बंधन तुल्य देखते है अर्थात् शरीरको बंधनरूप मानते है । शरीरको तो केवल चारित्र पालनमे सहायी मानते हैं । इसप्रकार जिनका स्वशरीरमें ही राग नही रहता उनके हितका नाश करनेवाले, परिवार, धन और परिग्रहमें क्या राग हो सकता है ? नहीं हो सकता । इसप्रकार अपनेको सदा एकाकी मानना एकत्व भावना है ।।१८४१।।

एकत्व भावना समाप्त ।

अन्यत्व भावना—

अहो ! बड़ा आश्चर्य है कि इस संसारमे मोही प्राणी एक दूसरेको दुःखसे आकुलित देखकर शोक क्यों करता है ? स्वयंका आत्मा जन्म, मृत्युके दुःखोंसे युक्त हो रहा है, उसका शोक क्यों नही करता ? अर्थात् दूसरा दुःखी हो रहा है उसका शोक तो करते हैं किन्तु खुद नरकादिके दुःख पा रहा है उसका शोक नहीं करता ।।१८४२।। अनंत संसारमें कर्म द्वारा परिभ्रमण करते हुए जीवोंका कौन किसका अपना हुआ है ? कोई

संसारे भ्रममाणानामनंते कर्मणाङ्गिनः ।
कः कस्यास्ति निजो मूढः सज्जतेऽत्र जने जने ।।१८४३।।

कालेऽतीतेऽभवत्सर्वं सर्वस्यापि निजो जनः ।
तथा कर्मानुभावेन भविष्यति भविष्यति ।।१८४४।।

सगमोऽस्ति शकुंतानां रात्रौ रात्रौ तरौ तरौ ।
यथा तथा तनूभाजां जातौ जातौ भवे भवे ।।१८४५।।

अध्वनीना इवैकत्र प्राप्य संगं ततोंऽगिनः ।
स्थानं निजं निजं यान्ति हित्वा कर्मवशीकृताः ।।१८४६।।

भी अपना नही हुआ है, यह मूर्ख व्यर्थ ही जन-जनमे यह मेरा है, यह मेरा है ऐसा मानकर आसक्त होता है ।।१८४३।। अतीत कालमें सर्व हो जीव सर्व जीवोके आत्मीय-जन हो चुके है । कोई जीव शेष नही रहा जो अपना नहो हुआ हो तथा कर्मके उदयसे आगामी कालमें भी सर्व जीव सर्व जीवोंके आत्मीय जन बनेगे ।।१८४४।। भाव यह है कि सर्व जीव अपने सगे बन चुके हैं किन्तु वे सब ही मेरेसे सदा पृथक् ही रहे हैं और आगे भी पृथक् ही रहेंगे अतः ससारके सर्व पदार्थ मेरेसे अन्य हैं ऐसा चिंतन करना चाहिये, जैसे रात्रि-रात्रिमें वृक्ष वृक्षपर पक्षियोंका समागम होता है वैसे संसारी जीवोंके जाति जातिमें (योनिमें) भव भवमे परिवारजनका समागम होता रहता है ।।१८४५।।

विशेषार्थ—जैसे प्रत्येक रात्रिमें प्रत्येक वृक्षपर पक्षी आकर बैठते है । वैसे प्रत्येक जन्ममें प्राणियोंका समागम होना है, रात्रिमें पक्षी आश्रय बिना नही रह सकते अतः योग्य वृक्षका आश्रय लेते हैं । ससारी जीव भी आयुके नष्ट होनेपर पूर्व शरीरको छोड़कर अन्य शरीरके योग्य पुद्गलोंके योनि–स्थानमें जाकर ग्रहण करते हैं । फिर वहां की आयु पूर्ण होनेपर अन्य योनिमें जन्मते है । जैसे पक्षियोको वृक्ष सुलभ है वैसे जीवोंको योनियां सुलभ है । यह सब समागम कुछ ही समयका हुआ करता है अतः स्पष्ट है कि योनि, शरीर, परिवार आत्मासे अन्य है पृथक् है ।

जैसे पथिक जन एक धर्मशाला या वृक्षको छायामें एकत्रित होकर पुनः अपने अपने ग्रामादिमें चले जाते है, उस वृक्षादिके निकट प्राप्त हुए समागम छोड़ देते है । वैसे कर्मके आधोन हुए प्राणीगण एक घर-ग्रामादिमे समागमको प्राप्त करके पुनः उस

नानाप्रकृतिके लोके कस्य कस्तत्त्वतः प्रियः ।
कार्यमुद्दिश्य संबंधो बालुकामुष्टिवज्जनः ।।१८४७।।

माता पोषयते पुत्रमाधारोऽयं भविष्यति ।
मातरं पोषयत्येष गर्भेऽहं विधृतोऽनया ।।१८४८।।

अमित्रं जायते मित्रमुपकारविधानतः ।
तनूजो जायते शत्रुरपकारविधानतः ।।१८४९।।

न कोपि देहिनः शत्रु र्न मित्रं विद्यते ततः ।
जायते कार्यमाश्रित्य शत्रुर्मित्रं विनिश्चितम् ।।१८५०।।

समागमको छोड़कर अपने-अपने कर्मानुसार प्राप्त हुई गतियोमे चले जाते है ।।१८४६।। अहो इस विचित्र संसारमे नाना स्वभाववाले लोक हैं किसीकी प्रकृति किसीसे मिलती नही है, तत्त्व दृष्टिसे देखा जाय तो किसको कौन प्रिय है ? कोई भी प्रिय नही है, किन्तु अपने कार्यका उद्देश्य लेकर ये लोक सबध स्थापित कर लेते हैं। उनका वह संबंध तो बालुको मुट्ठीके समान है, जैसे बालुके कण पृथक् है जल आदिसे मिल जाते हैं सबधको प्राप्त होते हे किन्तु वह संबध न स्वाभाविक है और न सदा रहने वाला है। वैसे पुत्र, मित्र या धनादिका संबंध न स्वाभाविक है और न सदा का है ।।१८४७।। इस विश्वमें यह पुत्र मेरा आधार होगा, इस भावनासे माता पुत्रका पालन करती है और पुत्र इस माताने मुझको गर्भमे धारण किया था ऐसी भावनासे माताकी सेवा करता है, बुढापेमे उसका पालन करता है ।।१८४८।।

पहले जो शत्रु था वह उपकार कर लेवे तो मित्र बन जाता है अर्थात् जो शत्रुभावको प्राप्त था वह यदि हमारा उपकार करने लगता है तो हम उसे मित्र मानने लग जाते हे तथा स्वयंका पुत्र है किन्तु अपकार करनेसे शत्रु बन जाता है। अतः वास्तवमें देखा जाय तो प्राणियोका कोई भी मित्र और कोई शत्रु नही है, केवल कार्य का आश्रय लेकर शत्रु और मित्र बन जाया करते हे या उन्हे शत्रु और मित्र माना जाता है यह निश्चित समझो ।।१८४९।।१८५०।।

भावार्थ—वास्तवमे हमारा कोई मित्र या शत्रु नही है। जो हमारा उपकार करे या हम जिसपर उपकार करते हे वह मित्र समझा जाता है और शत्रु भी वही हे

हितं करोति यो यस्य स मतस्तस्य बांधवः ।
स तस्य भण्यते वैरी यो यस्याहितकारकः ।।१८५१।।

कुर्वन्ति बांधवा विघ्नं धर्मस्य शिवदायिनः ।
तीव्रदुःखकरं घोरं कारयन्त्यप्यसंयमम् ।।१८५२।।

बंधुरं साधवो धर्मं वर्धयन्ति शरीरिणः ।
संसारकारणं निद्यं त्याजयन्त्यप्यसयमम ।।१८५३।।

साधवो बांधवास्तस्माद्देहिनः परमार्थतः ।
ज्ञातयः शत्रवो रौद्रभवाम्भोधिनिपाततः ।।१८५४।।

जो हमारा अपकार–हानि घात करता हो या हम उसका अपकार करते है । जो आज मित्र है वह कल शत्रु बन जाता है और जो आज शत्रु है वह कल मित्र बन जाता है । सब स्वार्थ या कार्य वशता पर निर्भर है । अत· हे भव्य जीवों ! यह निश्चित समझो कि मेरे आत्मासे यह सब ही पृथक्-पृथक् हे ।

जो जिसका हित करता है वह उसका बांधव माना जाता है और जो जिसका अहित करता है वह उसका बैरी समझा जाता है ।।१८५१।।

जो हमारे इष्ट बंधुजन है वे मोक्षको प्रदान करनेवाले रत्नत्रयधर्ममें विघ्न बाधाओंको करते हैं अतः निश्चित समझना चाहिये कि वे हमारे लिये घोर अत्यंत तीव्र दुःखको कराते हैं । अतः वे बन्धु मित्र या प्रियजन ही हमारे वास्तविक शत्रु हैं । जिसे हम शत्रु मानते है वह वास्तविक शत्रु नही है । बंधुजनोंके मोहमे हिंसा, असयम आदिमे प्रवृत्ति होती है । बंधुजन मोक्षमार्गमे जानेसे रोक देते हे, त्याग तपस्याको रोकते हैं जिस कार्यसे आत्माका हित होता है उस उस कार्यसे रोकने वाले बंधुजन है अतः वे ही शत्रु हैं । ऐसा जानकर सबसे अपनेको अन्य मानना चाहिये यही अन्यत्व भावना है ।।१८५२।।

साधुजन संसारी जीवोंके महा मनोहर मोक्ष सुखके दाता ऐसे रत्नत्रयको सदा ही वृद्धिगत करते है तथा जो निंद्य ससारका कारण है ऐसे मिथ्यात्व असंयम आदिका त्याग कराते हैं । इसमे कोई संशय नही । अतः मुनि हो परमार्थतः बंधुजन हैं । एक कुल एवं जातिमे उत्पन्न परिवार जन वास्तवमें शत्रु ही है, क्योंकि ये बन्धु परिवारजन महाभयकर संसार रूपी सागरमे डुबाने वाले हैं ।।१८५३।।१८५४।।

शरीरादात्मनोऽन्यत्वं निस्त्रिंशस्येव कोशतः ।
परवत्तं (परतत्त्वं) न जानन्ति मोहान्धतमसावृताः ॥१८५५॥
अनादिनिधनो ज्ञानी कर्ता भोक्ता च कर्मणाम् ।
सर्वेषां देहिनां ज्ञेयो मतो देहस्ततोऽन्यथा ॥१८५६॥

छंद-रथोद्धता—

पूर्वजन्मकृतकर्मनिर्मितं पुत्रमित्रधनबांधवादिकम् ।
न स्वकीयमखिलं शरीरिणो ज्ञानदर्शनमपास्य विद्यते ॥१८५७॥

॥ इति अन्यत्वं ॥

जैसे म्यानसे तलवार पृथक् होती है वैसे आत्मा शरीरसे अन्य है किन्तु मोह-रूपी अंधकारसे ढक गये हैं ज्ञानरूपी नेत्र जिनके (अथवा जैसे अंध व्यक्तिके नेत्र अंधकारसे आवृत्त रहते हैं उनको सदा अंधकार ही प्रतीत होता है कुछ दिखता नही वैसे मोहसे अंधे हुए व्यक्तिके ज्ञानरूपी नेत्र सदा अंधकारसे आवृत्त रहते हैं) ऐसे पुरुष इस अन्यत्व रूप श्रेष्ठ तत्त्वको नहीं जानते हैं ॥१८५५॥

सभी संसारी प्राणियोंका आत्मा अनादि निधन है—शाश्वत रहनेवाला है, ज्ञानी है, कर्मोंका कर्त्ता और कर्मोंके फलोंका भोक्ता है तथा शरीर इससे सर्वथा अन्य प्रकार का है अर्थात् शरीर नाशवान् है, शाश्वत नहीं है, अज्ञानी है क्योंकि जड़ है कुछ नहीं जानता इत्यादि । इसप्रकार शरीर और आत्माका स्वरूप—लक्षण सर्वथा भिन्न-भिन्न है ॥१८५६॥

जीवोंका अपने ज्ञान, दर्शन, स्वभावको छोड़कर अन्य कोई भी स्वकीय नहीं है । पुत्र, मित्र, धन, बांधव आदि तो पूर्व जन्ममें उपार्जित किये हुए कर्मों द्वारा निर्मित है ॥१८५७॥

विशेषार्थ—अन्यत्व भावनामें मुनिजन विचार करते हैं कि मित्र, पुत्र, धन आदि साक्षात् मेरेसे पृथक् दिखाई देते है अतः ये सब मेरेसे मेरे आत्मासे सर्वथा अन्य हैं । मोही प्राणी इस बातको नहीं जानता अतः अपना और पराया ऐसा भेद करता है । वास्तवमें जो मोक्षमार्गमें लगाते हैं वे साधुजन अपने है । संसार समुद्रमें डुबाने वाले मोक्ष मार्गसे रोकने वाले परिवार जन तो साक्षात् ही शत्रु है । इसप्रकार चिंतन करना अन्यत्व अनुप्रेक्षा है ।

अन्यत्व भावना समाप्त ।

मिथ्यात्वमोहितस्वान्तो भवे भ्रमति दुर्गमे ।
मार्गभ्रष्ट इवारण्ये भवेभारि भयंकरे ॥१८५८॥

अनेकदु:खपानीये नानायोनिभ्रमाकुले ।
अनंतकायपाताले विचित्रगतिपत्तने ॥१८५९॥

रागद्वेषमदक्रोधलोभ मोहादियादसि ।
अनेकजातिकल्लोले त्रसस्थावरबुद्बुदे ॥१८६०॥

जीवपोतो भवांभोधौ कर्मनाविकचोदित: ।
जन्ममृत्युजरावर्ते चिरं भ्राम्यति संततम् ॥१८६१॥

संसार अनुप्रेक्षाका वर्णन—

संसार रूपी दुर्गम वनमें मिथ्यात्वसे मोहित मनवाले ये जीव भ्रमण करते है, जैसे हाथी, लुटेरे आदि शत्रुसे युक्त ऐसे भयंकर अरण्यमें मार्गको भूलकर पथिक उस वनमें इधर उधर भ्रमण करता है ॥१८५८॥

भावार्थ—यह जीव अनादि कालसे मिथ्यात्वके कारण चतुर्गति रूप संसार वनमें परिभ्रमण कर रहा है । दर्शन मोहनीयकर्मकी मिथ्यात्व नामा प्रकृतिके उदयसे जीवादि पदार्थो पर श्रद्धा नही होना मिथ्यात्व परिणाम है । इस परिणामसे युक्त जीव मिथ्यादृष्टि कहालाता है । मिथ्यादृष्टि ही संसार भ्रमण करता है । सम्यक्त्व होनेके बाद अधिकसे अधिक अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल तक ही भ्रमण करता है । अत: संसार वनमें भटकाने वाला मिथ्यात्व ही ऐसा जानना चाहिये ।

आगे संसारको समुद्रकी उपमा देकर वर्णन करते है—

जिसमें अनेक प्रकारका दु:खरूपी जल भरा हुआ है, नाना योनि चौरासी लाख योनि रूप भंवरोंसे व्याप्त और अनंतकाय साधारण वनस्पति रूप जिसमे पाताल प्रदेश हैं, विचित्र चार गतिरूप वेला पतन जिसके तट पर स्थित है, राग द्वेष, मद, क्रोध, लोभ और मोह आदि रूप भयकर मगर मच्छादि जलचर जीवोंसे जो भरा है, एकेन्द्रिय आदि अनेक जातिरूप लहरे जिसमें उछल रही हैं, त्रस स्थावर जीव रूप बुलबुले जिसमे उठ रहे है और जन्म, मरण, जरा, आवर्त्त जिसमें हैं ऐसे संसार रूपी समुद्रमे कर्मरूपी खेवटिया द्वारा चलाया गया यह जीवरूपी जहाज सतत चिरकाल तक भ्रमण कर रहा है ॥१८५९॥१८६०॥१८६१॥

एकद्वित्रिचतुः पंचहृषीकाणामनंतशः ।
जातयः सकला भ्रान्ता देहिना भ्रमता भवे ॥१८६२॥

गृह्णीते मुंचमानोऽङ्गी शरीराणि सहस्रशः ।
भ्रमति द्रव्यसंसारे घटीयंत्रमिवानिशम् ॥१८६३॥

बहुसंस्थानरूपाणि चित्रचेष्टाविधायकः ।
रंगस्थनटवज्जीवो गृह्णीते मुंचते भवे ॥१८६४॥

एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय इन सर्व ही जातियोंको संसारमे भ्रमण करते हुए जीवने अनंतबार प्राप्त किया है ॥१८६२॥

संसार भ्रमणके पांच भेद हैं द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन, भव परिवर्तन और भाव परिवर्तन । आगे पांचोंको क्रमशः वर्णन करते है—

द्रव्य परिवर्तन—

यह जीव हजारों शरीरोंको छोड़ता और ग्रहण करता है, जैसे अरहटमें लगे हुए सकोरे जलसे भरभरके आते है और रिक्त होते जाते है वह घटी यंत्र–अरहट सतत घूमता रहता है, वैसे जीव सतत द्रव्यसंसारमे भ्रमण करता है ॥१८६३॥

विशेषार्थ—पच परावर्तनमे प्रथम परावर्तन, द्रव्य परावर्तन है उसके दो भेद हैं–नोकर्म द्रव्य परिवर्तन और कर्म द्रव्य परिवर्तन । छह पर्याप्ति और तीन शरीरके पुद्गलोंको एक जीवने किसी एक विवक्षित समयमें ग्रहण किया और द्वितीयादि समयोंमे उस पुद्गलवर्गणाको निर्जीर्ण किया, आगेके समयोंमें अगृहीत वर्गणाओंको अनंतबार ग्रहण करता है पुनः मिश्र वर्गणाओंको अनंतबार ग्रहण करता है, इसतरह अनंत बारोंको व्यतीत करके पुनः उस विवक्षित वर्गणाको उसी स्पर्शादिसे युक्त वही जीव जब ग्रहण करता है, इसमें जितना काल (अनत) लगता है वह नोकर्म परिवर्तन कहलाता है।

एक जीवने एक समयमें अष्ट प्रकारके ज्ञानावरणादि कर्मोको ग्रहण किया और समय अधिक आवलीको व्यतीत होनेपर द्वितीयादि समयोमें निर्जीर्ण किया, पुनः ग्रहीत आदि कर्मवर्गणाको ग्रहण करता रहा, जब कभी वही जीव उन्हीं वर्गणाओंको

भूत्वा भूत्वा मृतो यत्र जीवो मेऽयमनंतशः ।
अणुमात्रोऽपि नो देशो विद्यते स जगत्त्रये ।।१८६५।।

ये कल्पानामनंतानां समयाः सन्ति भो यते !
जातो मृतः समस्तेषु शरीरी तेष्वनेकशः ।।१८६६।।

ग्रहण करता है तब एक कर्म परिवर्तन होता है । दोनोंका समुदायरूप काल एक द्रव्य परिवर्तनका काल होता है ।

रंगभूमिमें जैसे नट अनेक प्रकारके आकार रूपोंको धारण करता है और विचित्र चेष्टायें करता है वैसे संसार रूपी रंग भूमिमें जीव रूपो नट अनेक आकार–संस्थान धारण करके पुनः छोड़ देता है फिर ग्रहण करता है, इसप्रकार द्रव्य परिवर्तन करता है ।।१८६४।।

क्षेत्र परिवर्तन—

तीनों लोकोंमें ऐसा कोई एक प्रदेश भी शेष नहीं है कि जहांपर मेरा यह जीव जन्म ले लेकर मरा नही हो । सर्व ही प्रदेशोंमे अनंत बार जन्म मरण किया है ।।१८६५।।

विशेषार्थ—लोकाकाशके आठ मध्य प्रदेशोको (वे प्रदेश मेरुके जड़में है) अपने शरीरके मध्यमें लेकर जघन्य अवगाहनासे सूक्ष्म निगोदिया जीवने जन्म लिया और क्षुद्र भवप्रमाण (श्वासके अठारहवें भाग प्रमाण) कालतक जीवित रहकर मरा पुनः उसी अवगाहनासे वही जीव उसी सुमेरुकी जड़मे उत्पन्न हुआ, उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भागमें जितने प्रदेश हैं उतनी बार उसी स्थान पर जन्म मरण किया । फिर एक प्रदेश आगे बढ़कर जन्म लिया इसतरह एक एक प्रदेश आगे बढ़ाते हुए क्रमशः संपूर्ण लोकको अपना जन्म मरणका स्थान बनाया, इसमें जितना काल लगता है वह एक क्षेत्र परिवर्तन कहलाता है ।

काल परिवर्तन—

हे यते ! अनंत कल्पकालोंके जितने समय हैं उन सभी समयोंमें यह संसारी जीव अनेक बार जन्मा और मरा है ।।१८६६।।

प्रदेशाष्टकमत्यस्य शेषेषु कुरुते भवी ।
उद्वर्तनपरावर्तं संतप्ताप्स्विव तंदुलाः ॥१८६७॥

असंख्यलोकमानेषु परिणामेषु वर्तते ।
शरीरो भव संसारे कर्मभूपवशीकृतः ॥१८६८॥

जघन्या मध्यमा वर्या निविष्टाः स्थितयोऽखिलाः ।
अतीतानंतशः काले भवभ्रमणकारिणा ॥१८६९॥

परिणामांतरेष्वंगी सर्वदा परिवर्तते ।
वर्णेषु चित्ररूपेषु कृकलास इव स्फुटम् ॥१८७०॥

विशेषार्थ—उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें एक जीवने जन्म लिया और अपनी आयु पूर्ण कर मरा, दूसरीबार उत्पसर्पिणीके दूसरे समयमें जन्मा, फिर तीसरे उत्पसर्पिणी के तीसरे समयमें जन्मा इसतरह उत्पसर्पिणीके जितने समय हैं उतनी बार क्रमबार जन्मा। फिर अवसर्पिणीको इसीतरह जन्म द्वारा पूरित किया, इसमें जितना काल लगा वह एक काल परिवर्तन है।

एक जीवके असंख्यात प्रदेश होते है उनमें मध्यके आठ प्रदेश सदा स्थिर रहते हैं, शेष समस्त प्रदेश उद्‌वर्तन परावर्तन करते रहते हैं अर्थात् ऊपर नीचे घूमते रहते हैं, जैसे अग्नि पर बर्तनमें पकनेके लिये रखे हुए चावल ऊपर नीचे करते रहते हैं ॥१८६७॥

भाव परिवर्तन—

भव संसारमें कर्मरूपी राजाके वश हुआ यह जीव असंख्यात लोक प्रमाण परिणामोंमें वर्तन करता है अर्थात् एक जीवके अध्यवसान स्थान असंख्यात लोक प्रमाण है। कर्मोंकी जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट तीनों प्रकारकी स्थितियोंको बांधनेमें कारण-भूत स्थिति बंधाध्यवसान स्थान असंख्यात लोक प्रमाण हैं, इन सब भव भ्रमणकारी परिणामोंको अतीत कालमें अनंतबार धारण किया है ॥१८६८॥१८६९॥

इन उपर्युक्त परिणामोंमें संसारी जीव सदा ही परिवर्तन करता रहता है अर्थात् बदल बदलकर अन्य अन्य परिणाम करता है। जैसे कृकलास, सरड, गिरगिट विचित्र वर्ण रूपोंमें परिवर्तित होता रहता है ॥१८७०॥

आकाशे पक्षिणोऽन्योन्यं स्थले स्थलविहारिणः ।
जले मीनाश्च हिंसन्ति सर्वत्रापि भयं भवे ।।१८७१।।

विशेषार्थ—नवीन कर्मबन्धमें कारण कषाय और योग है कषाय परिणामके असंख्यात भेद हैं इन्हें कषाय बन्धाध्यवसाय स्थान कहते हैं। मनोवर्गणा आदिके आलंबनसे आत्म प्रदेशोमे कंपन होना योग है, जिसके द्वारा कि आत्मा कर्मवर्गणाको आकृष्ट करता है ग्रहण करता है। इसके असंख्यात भेद हैं। आत्माके परिणाम कर्मों की स्थितिमें कारण है तथा अनुभागमे कारण हैं उनको क्रमशः स्थिति बन्धाध्यवसान स्थान और अनुभाग बन्धाध्यवसाय स्थान कहते है। कर्मोंकी जघन्य आदि स्थिति भी असख्यात प्रकारकी है। इसतरह योगस्थान, कषाय अध्यवसाय स्थान, स्थिति बंधाध्यवसाय स्थान, अनुभाग बधाध्यवसाय स्थान और कर्मस्थितिके भेद ये सब ही असंख्यात लोक असंख्यात लोक प्रमाण हैं। इनका क्रमशः परिवर्तन होनेमें जो बड़ा भारी काल लगता है वह भाव परिवर्तन कहलाता है। इसका विस्तृत विवेचन जीव-काण्ड आदि ग्रंथोंमें अवलोकनीय है।

नरकमे जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है और उत्कृष्ट तैतीस सागर प्रमाण है। कोई जीव जघन्य आयु लेकर जन्मा और उसको पूर्ण कर मरा। दूसरी बार भी उतनी ही आयु लो। इसतरह दस हजार वर्षमे जितने समय है उतनी बार उसी आयु को पाया, फिर एक समय बढाया, दो समय बढ़ाया ऐसे करते हुए तैंतीस सागर तक बढ़ाकर आयुको भोगा। तिर्यंच तथा मनुष्यकी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट तीन पल्य की है। कोई जीव जघन्य आयु लेकर तिर्यंच हुआ, अन्तर्मुहूर्त्तके जितने समय हैं उतनी बार उसी आयुको लेकर जन्म लिया फिर एक समय क्रमसे बढ़ाते हुए तीन पल्य प्रमाण तक बढ़ाया। ऐसे ही मनुष्य संबंधी आयुको लेकर मनुष्य गतिमे जघन्यसे उत्कृष्ट तक क्रमसे आयुको प्राप्त किया। देवगतिमें नरकगतिके समान कथन है किन्तु विशेष यह है कि उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर प्रमाण लेना क्योंकि इकतीस सागरसे अधिक आयुवाले देव सम्यग्दृष्टि ही हुआ करते हैं और सम्यग्दृष्टि इन पंच परावर्तनको नहीं करता है। इसप्रकार चार गति संबंधी जघन्यसे उत्कृष्ट तककी आयु को क्रमसे भोगनेमें जितना अनंतकाल लगता है वह एक भव परिवर्तन कहलाता है। प्रत्येकका काल अनंत होते हुए भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पंच

शयालोर्मुखमभ्येत्य व्याधारब्धो यथा शश. ।
मन्वानो विवरं दीन: प्रयाति यममंदिरम् ।।१८७२।।

क्षुत्तृष्णादि महाव्याधप्रारब्धश्चेतनस्तथा ।
अज्ञो दु.खकरं याति संसारभुजगाननम् ।।१८७३।।

यावन्ति संति सौख्यानि लोके सर्वासु योनिषु ।
प्राप्तानि तानि सर्वाणि बहुवारं शरीरिणा ।।१८७४।।

अवाप्यानंतशो दुःखमेकशो लभते यदि ।
सुखं तथापि सर्वाणि तानि लब्धान्यनेकशः ।।१८७५।।

परावर्तनोमें क्रमसे आगे आगे अनंतगुणा अनंतगुणा काल लगता है । मिथ्यात्व आदिके वशीभूत होकर इस मोही जीवने ऐसे परिवर्तन अनंतबार कर लिये हैं । सम्यक्त्व प्राप्त होनेपर यह परिभ्रमण अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण द्रव्य परिवर्तनके भेदरूप नोकर्म परिवर्तन प्रमाण शेष रहता है । अतः सर्व प्रयत्नसे सम्यक्त्व रत्नको अवश्य ही प्राप्त कर लेना चाहिये ।

संसारमे सर्वत्र भय है । देखो ! आकाशमें छोटे पक्षियोंको बड़े पक्षी त्रास देते है या समान शक्तिवाले पक्षी परस्परमे घात करते है । स्थल पर विचरने वाले हिरणादिको सिंहादि पीड़ा देते हैं मारकर खाजाते है । जलमें मीन परस्परमें घात करते है । एक दूसरेको निगल जाते है ।।१८७१।।

जैसे खरगोश व्याघ्रसे पीडित होकर दौड़ता है और अजगरके मुखमे "यह बिल है" ऐसा मानकर घुसता है और वह बेचारा मृत्युको प्राप्त होता है । ठीक इसी प्रकार भूख प्यास आदि रूप महाव्याघसे पीड़ित हुआ यह अज्ञजीव संसाररूपी अजगरके मुखमे "यहां सुख होगा" ऐसा समझकर प्रविष्ठ होता है और बार-बार जन्म मरणके दु खको पाता है ।।१८७२।।१८७३।।

इस लोकमें सर्व योनियोंमें जितने सुख हैं उन सबको इस जीवने बहुत बार प्राप्त किया है ।।१८७४।।

इस संसारका सुख भी जब अनंतबार दुःखको भोग लेता है तब एक बार प्राप्त होता है अर्थात् अनंतबार दु ख फिर एक बार सुख । पुन: अनंतबार दुःख तो

स चतुर्भिस्त्रिभिर्द्वाभ्यामेकेनाक्षेण वर्जितः ।
संसारसागरेऽनंते जायतेऽनन्तशोऽसुमान् ॥१८७६॥

विचक्षुर्बधिरो मूको वामनः पामनः कुणिः ।
दुर्वर्णो दुःस्वरो मूर्खश्चुल्लश्चिपिटनासिकः ॥१८७७॥

व्याधितो व्यसनी शोकी मत्सरीपिशुनः शठः ।
दुर्भगो गुणविद्वेषी वंचको जायते भवे ॥१८७८॥

क्षुधितस्तृषितः श्रांतो दुःखभारवशीकृतः ।
एकाकीदुर्गमे दीनो हिंडते भवकानने ॥१८७९॥

एक बार सुख, इस क्रमसे दुःख अधिक समय तक और सुख कम समय तक रहता है तथापि संसारके जो भी इन्द्रिय जन्य सुख हैं उन सभीको अनेकों बार प्राप्त कर चुके हैं ॥१८७५॥

विशेषार्थ—संसारके राजा, महाराजा, विद्याधर, देव, भोगभूमिज संबंधी सुख इस जीवने अनेकों बार भोग लिये हैं, केवल गणधर, नारायण, प्रतिनारायण, बलदेव, चक्री, पंचानुत्तर विमान वासी देव सौधर्मेन्द्र–इन्द्राणी इनके लोकपाल एवं लौकान्तिक दव इनके सुख प्राप्त नही किये है, क्योंकि ये स्थान सम्यग्दृष्टि जीव ही प्राप्त करता है तथा इन स्थानोंको प्राप्त करनेवाले जीव आसन्नभव्य या तद्भव मोक्षगामी है ।

यह जीव अनंत संसार सागरमें परिभ्रमण करता है उसमें कभी चार इन्द्रियों से रहित, कभी तीन इन्द्रियोंसे, कभी दो इन्द्रियोंसे और कभी एक इन्द्रियसे रहित होकर जन्म लेता है अर्थात् एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय होता है, एक एक पर्यायमें अनंतों बार उत्पन्न होता है । सबसे अधिक काल एकेन्द्रिय पृथिवीकायिक आदि स्थावरोंमें व्यतीत होता है, उससे कम द्वीन्द्रियमे, उससे कम त्रीन्द्रियमें इसप्रकार भ्रमण करता है ॥१८७६॥ कभी पंचेन्द्रिय भी होता है तो उसमें नेत्रविहीन होता है, कभी बहरा, मूक, बौना, पंगु, कुबड़ा, बदसूरत, कर्कश वाणी युक्त, मूर्ख, चिड़चिड़ा स्वभाव युक्त, चिपटी नाकवाला, दीर्घरोगी, व्यसनी, सदाशोक संतप्त, मत्सरी, चुगलखोर, ठग, शठ, सबको बुरा लगनेवाला–दरिद्री, गुणोमें द्वेष रखनेवाला, छल-कपटी, ऐसी ऐसी हीन-दीन दुःखी पापमय अवस्थाओंको संसारमें पाता रहता है । ससाररूपी भयानक

एकेंद्रियेष्वयं जीवः पंचस्वपि निरंतरम् ।
उत्थानवीर्यरहितो दीनो बंभ्रमते चिरम् ।।१८८०।।
चित्रदुःखमहावर्तामिमां संसृतिवाहिनीम् ।
अज्ञानमिलितो जीवो गाहते पापपाथसम् ।।१८८१।।
इंद्रियार्थाभिलाषारं चंचलं योनिनेमिकं ।
मिथ्याज्ञानमहातुंबं दुःखकीलकयंत्रितम् ।।१८८२।।
कषायपट्टिकाबद्धं जरामरणवर्तनम् ।
संसारचक्रमारुह्य चिरं भ्राम्यति चेतनः ।।१८८३।।
वहमानो नरो भारं क्वापि विश्राम्यतिध्रुवम् ।
न देहभारमादाय विश्राम्यति कदाचन ।।१८८४।।

जगलमें दुःखभारसे परवश हुआ यह दीन अनाथ प्राणी भूखा, प्यासा, थका, मांदा हुआ अकेला हो हिंडता रहता है–विश्राम रहित सदा परिभ्रमण कर रहा है। आशय यह है कि मनुष्य पर्यायमें भी जन्म लेता है तो सुंदर सुभग धनवान् सर्व गुण संपन्न, इन्द्रियों के विकलतासे रहित ऐसा बहुत कम हो पाता है ।।१८७७।।१८७८।।१८७९।।

पांच प्रकारके पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक स्थावर एकेन्द्रिय पर्यायोंमें यह जीव वीर्य एवं बलसे हीन होता हुआ चिरकाल तक भ्रमण करता है इन स्थावरोंमें पीसे जाना, जलाना, बुझाना, पकाना, मसल डालना, छीलना, करोतसे, कुल्हाड़ीसे काटे जाने, बहा देना आदि वचनके अगोचर ऐसे महा भयानक दुःखोंको भोगता है ।।१८८०।। यह संसार विशाल एवं भयावह एक नदी है जिसमें पापरूप जल प्रवाह है, अनेक प्रकारके दुःख रूपी महाआवर्त्त उठ रहे हैं, उसमें यह अज्ञानसे आकर डूबता है, प्रवाहमें बहता जा रहा है ।।१८८१।। यह संसार वाहन स्वरूप है, जिसमें इन्द्रियोंके स्पर्श रस आदि विषयोकी अभिलाषा रूपी अर लगे हुए हैं, जो बड़ी तेजीसे चलरहा है, कुयोनि जिसको धुरा है, इसमें मिथ्याज्ञानरूपी तुंबा है, दुःखरूपी कीलोंसे नियंत्रित है, कषायरूपी पट्टिकासे बद्ध है, जरा और मरणरूपी दो पहिये वाला ऐसा यह संसार चक्र-वाहन-गाड़ी या रथ है इसमें आरोहण करके यह चेतन प्राणी चिरकाल तक भ्रमण करता है ।।१८८२।।१८८३।।

गेहू आदि अनाजके बोरे आदि भारको ढ़ोनेवाला पुरुष कभी विश्राम प्राप्त कर लेता है किन्तु शरीर रूपी भारको ढोनेवाला यह ससारी प्राणी कभी भी विश्राम प्राप्त नहीं करपाता ।।१८८४।।

बंभ्रमीति चिरं जीवो मोहांधतमसावृतः ।
संसारे दुःखितस्वान्तो विचक्षुरिव कानने ॥१८८५॥
भीतः करोति दुःखेभ्यः सुखसंगमलालसः ।
अज्ञानतमसा छन्नो हिंसारंभादिपातकम् ॥१८८६॥
हिंसारंभादिदोषेण गृहीतनवकल्मषः ।
प्रदह्यते प्रविष्टोऽङ्गी पावकादिव पावकम् ॥१८८७॥

छंद-स्रग्विणी—

गृह्णता मुंचता दारुणं कल्मषं सौख्यकांक्षेण जीवेन मूढात्मना ।
भ्रम्यते संसृतौ सर्वदा दुःखिना पावनं मुक्तिमार्गं ततोऽपश्यता ॥१८८८॥

॥ इति जन्मानुप्रेक्षा ॥

जैसे नेत्र रहित व्यक्ति जंगलमे दुःखी होकर भटकता है वैसे संसार रूपी काननमें यह जीव मोह रूपी महांधकारसे आवृत्त हो दुःखित मन युक्त होकर चिरकाल तक भ्रमण करता है ॥१८८५॥ मोही अज्ञ प्राणी दुःखोसे भयभीत रहता है वह सदा सुख प्राप्तिकी इच्छा युक्त हो अज्ञान रूप अंधकारसे ढक गया है ज्ञान जिसका ऐसा होता हुआ हिंसा, झूठ, चोरी आरंभ आदि पातकोको करता है अर्थात् सुखकी वांछासे पाप कर्म निंद्य कर्म करता है ॥१८८६॥ इसतरह वह हिंसा आरभ आदि दोष द्वारा नये-नये असाता वेदनीय, नीच-गोत्र नरकायु आदि पापोंका सचय करता है जिससे कुगतिमें प्रविष्ट हो दु.खसे सदा जलता है जैसे एक अग्निसे निकलकर दूसरे अग्निमे प्रवेश करनेवाला सदा जलता रहता है, वैसे एक जन्ममे सुखकी इच्छासे हिंसादिको करके पाप सचय करता है और दुःखी ही रहता है पुनः उस पापोदयसे कुगतिमें जन्म होनेके कारण दुःखी होता है ॥१८८७॥ सुखकी आकांक्षासे युक्त मूढ़ जीव द्वारा तीव्र पापकर्मका ग्रहण करना और छोड़ना यह कार्य सदा किया जाता है इसतरह सर्वदा दुःखी होता है इसलिये परम पावन रत्नत्रय रूप मोक्षमार्गको नही देखता है, नहीं जानता है, इसप्रकार ससारमे भ्रमण ही करता रहता है ॥१८८८॥

भावार्थ—द्रव्यक्षेत्र आदि पंचपरावर्तनोका स्वरूप चिंतन करना, जन्म-मरणके दुःख इस जीवने किसप्रकार अनतबार प्राप्त किये हैं इत्यादिका चिंतन करना संसार अनुप्रेक्षा है ।

ससार अनुप्रेक्षा समाप्त ।

सर्वे सर्वैः समं प्राप्ताः संबंधाजंतुनांगिभिः ।
भवंति भ्रमतः कस्य तत्र तत्रास्य बांधवाः ।।१८८६।।

माता सुता स्नुषा भार्या सुता कांता स्वसा स्नुषा ।
पिता पुत्रो नृपो दासो जायतेऽनंतशो भवे ।।१८९०।।

वसंततिलका माता भगिनी कमला च ते ।
एकत्र धनदेवस्य भार्या जाता भवे ततः ।।१८९१।।

लोक अनुप्रेक्षा—

इस जीवने सभी संसारी प्राणियोंके साथ संबंध प्राप्त कर लिया है उस उस गति और योनिमें भ्रमण करते हुए इसके किसके साथ बंधुता नहीं हुई है ? सबके साथ बंधुता हो चुकी है अथवा अन्य गतिमें जानेपर पहलेके बंधुजन कहां रहते हैं ? अतः बंधु मित्र आदिसे मोह ममता करना व्यर्थ है ।।१८८६।। संसारमें जो पहले माता थी वह पुत्री बन जाती है, पुत्रवधू पत्नी हो जाती है पुत्री, पत्नी और बहिन, पुत्रवधू बन जाती है, जो पहले पिता था वह पुत्र बनता है । जो राजा था वह दास बनता है, ऐसा यह परिवर्तन अनतबार होता है ।।१८९०।।

देखो ! संसारकी विचित्रता ! एक ही भवमें धनदेव नामके पुरुषके माता वसंततिलका और बहिन कमला ये दोनों पत्नियां हुई थी ।।१८९१।।

धनदेव (अठारह नाते) की कथा—

मालवदेशकी उज्जैनी नगरीमें राजा विश्वसेन, सेठ सुदत्त और वसंततिलका वेश्या रहती थी । सेठ सुदत्त सोलह करोड़ द्रव्यका स्वामी था । उसने वसंततिलका वेश्याको अपने घर में रख लिया । वह गर्भवती हुई और खाज, खाँसी, श्वास आदि रोगोंने उसे घेर लिया । तब सेठने उसे अपने घरसे निकाल दिया । अपने घरमें आकर वसंततिलकाने एक पुत्र और एक पुत्रीको जन्म दिया । खिन्न होकर उसने रत्न कम्बलमें लपेट कर कमला नाम की पुत्री को तो दक्षिण ओर की गलीमें डाल दिया । उसे प्रयाग का व्यापारी सुकेत ले गया और उसने उसे अपनी सुपुत्रा नाम की पत्नी को सौंप दिया तथा धनदेव पुत्र को उसी तरह रत्नकम्बल से लपेटकर उत्तर ओर की गली में रख दिया । उसे अयोध्यावासी सुभद्र ले गया और उसने उसे अपनी सुव्रता नाम की पत्नी

को सौंप दिया । पूर्वजन्म में उपार्जित पापकर्म के उदय से धनदेव और कमला का आपस में विवाह हो गया । एक बार धनदेव व्यापारके लिए उज्जैनी गया । वहाँ वसंततिलका वेश्यासे उसका सम्बन्ध हो गया । दोनों के सम्बन्ध से वरुण नामका पुत्र हुआ । एक बार कमला ने श्री मुनिदत्त से अपने पूर्वभव का वृत्तान्त पूछा । श्री मुनिदत्त ने सब सम्बन्ध बतलाया, जो इस प्रकार है । उज्जैनी में सोमशर्मा नाम का ब्राह्मण था । उसकी पत्नी का नाम काश्यपी था । उन दोनों के अग्निभूति और सोमभूति नामके दो पुत्र थे । वे दोनों परदेश से विद्याध्ययन करके लौट रहे थे । मार्ग में उन्होंने जिनमति आर्यिका को अपने पुत्र जिनदत्त मुनि से कुशलक्षेम पूछते हुए देखा तथा सुभद्रा आर्यिका को अपने श्वसुर जिनभद्र मुनिसे कुशलक्षेम पूछते हुए देखा । इस पर दोनों भाइयो ने उपहास किया । जवान की स्त्री बूढी और बूढ़े की स्त्री जवान, विधाता ने अच्छा उलट फेर किया है ।' कुछ समय पश्चात् अपने उपार्जित कर्मों के अनुसार सोमशर्मा ब्राह्मण मरकर उज्जेनीमे ही वसन्त सेना की पुत्री वसततिलका हुई और अग्निभूति तथा सोमभूति दोनों मरकर उसके धनदेव और कमला नाम के पुत्र और पुत्री हुए । ब्राह्मण की पत्नी व्यभिचारिणी काश्यपी मरकर धनदेव के सम्बन्ध से वसंततिलका के वरुण नाम का पुत्र हुआ । इस कथा को सुनकर कमला को जाति स्मरण हो आया । उसने मुनिराज से अणुव्रत ग्रहण किये और उज्जैनी जाकर वसन्ततिलका के घर मे घुसकर पालने में पड़े हुए वरुण को झुलाने लगी और उससे कहने लगी (१) मेरे पति के पुत्र होने से तुम मेरे पुत्र हो । (२) मेरे भाई धनदेव के पुत्र होने से तुम मेरे भतीजे हो । (३) तुम्हारी और मेरी माता एक ही है, अतः तुम मेरे भाई हो । (४) धनदेव के छोटे भाई होने से तुम मेरे देवर हो । (५) धनदेव मेरी माता वसंततिलका का पति है, इसलिए धनदेव मेरे पिता है । उसके भाई होने से तुम मेरे काका हो । (६) मैं वेश्या वसततिलका की सौत हूँ अत· धनदेव मेरा पुत्र है । तुम उसके भी पुत्र हो, अतः तुम मेरे पौत्र हो । यह छह नाते बच्चे के साथ हुए । आगे—(१) वसंततिलका का पति होने से धनदेव मेरा पिता है । (२) तुम मेरे काका हो और धनदेव तुम्हारा भी पिता है, अतः वह मेरा दादा है । (३) तथा वह मेरा पति भी है । (४) उसकी और मेरी माता एक ही है; अतः धनदेव मेरा भाई है । (५) मैं वेश्या वसंततिलका की सौत हूँ और उस वेश्या का वह पुत्र है, अतः मेरा भी पुत्र है । (६) वेश्या मेरी सास है, मैं उसकी पुत्रवधू हूँ और धनदेव वेश्या का पति है; अतः वह मेरा श्वसुर है । ये छह नाते धनदेव के साथ हुए । आगे—(१) मेरे भाई धनदेव

संसारे जायते यस्मिन्नृपोऽपि खलु किंकरः ।
कीदृशी क्रियते तत्र रतिर्निंदानिधानके ।।१८६२।।

विदेहाधिपती राजा तेजोरूपकुलाधिकः ।
जातो वर्चोगृहे कीटः सुभोगः पूर्वकर्मभिः ।।१८६३।।

की पत्नी होने से वेश्या मेरी भावज है । (२) तेरे मेरे दोनों के धनदेव पिता हैं और वेश्या उनकी माता है; अतः वह मेरी दादी है । (३) धनदेव की और तेरी भी माता होने से वह मेरी भी माता है । (४) मेरे पति धनदेव की भार्या होने से वह मेरी सौत है । (५) धनदेव मेरी सौत का पुत्र होने से मेरा भी पुत्र कहलाया । उसकी होने से वह वेश्या मेरी पुत्रवधू है । (६) मैं धनदेव की स्त्री हूँ और वह उसकी माता है; अतः वह मेरी सास है । इन अठारह नातो को सुनकर वेश्या धनदेव आदि को भी सब बातें ज्ञात हो जाने से जातिस्मरण हो आया और उन्हे वैराग्य होगया ।

जिस संसारमें निश्चयसे राजा भी किंकर हो जाता है उस निंदाके भंडार स्वरूप संसारमें रति-प्रेम किसप्रकार किया जाता है ? अर्थात् जो बुद्धिमान है वह ससारमे प्रेम नही करता ।।१८६२।। तेज, रूप और कुलसे संपन्न ऐसा विदेह देशका राजा सुभोग पूर्वकर्म के द्वारा विष्ठा घरमे कीड़ा हुआ था । जब राजा आदि श्रेष्ठ पुरुषोकी ऐसी हीन अवस्था हो जाती है वहां अन्यकी क्या कथा ! ।।१८६३।।

सुभोग राजाकी कथा—

विदेह देशकी मिथिला नगरीमे राजा सुभोग राज्य करता था, उसकी रानी मनोरमा और पुत्र देवरति था, एक दिन मिथिलाके उद्यानमे देवगुरु नामके अवधिज्ञानी आचार्य सघ सहित आये । राजा उनके दर्शनके लिये गया धर्मोपदेश सुननेके अनंतर राजा ने प्रश्न किया कि मैं आगामी भवमें कौनसी पर्याय धारण करूंगा ? मुनिने कहा राजन् ! सुनो पापकर्मोंके उदयसे आप विष्ठामें कीड़ा होवोगे । मुनिराजने मरणकालकी निकटता एवं उसके चिह्न भी बताये । राजा उदास हो महलमे लौट आया । क्रमशः मृत्युके चिह्न जैसे बताये थे वैसे प्रगट होने लगे जिससे मुनिके वचनों पर पूर्ण विश्वास हुआ । उसने पुत्र देवरति को बुलाकर मुनिके मुखसे सुना हुआ आगामी भवका हाल बताकर कहा कि हे पुत्र ! मैं मरणकर विष्ठागृहमें पचरंग का कीड़ा होवूंगा । उस

देवो महर्द्धिको भूत्वा पवित्रगुणविग्रहः ।
गर्भे वसति बीभत्से धिक्संसारमसारकम् ।।१८९४।।

निंद्यपर्यायमें रहना सर्वथा अनुचित है अतः तुम उस कीड़े को मार देना । मुनिराजके कथनानुसार राजा की निश्चित समयपर मृत्यु हो जाती है और वह विष्ठाका कीड़ा बनता है । देवरति उसको देखकर मारना चाहता है किन्तु कीड़ा विष्ठा समूहमें घुस जाता है । अनंतर किसी दिन देवरति किसी ज्ञानी मुनिसे अपने पिताके कीड़ा होना आदिका वृत्तांत कहकर पूछता है कि हे पूज्यवर ! पिताकी इच्छानुसार उनकी इस निंद्य पर्यायको नष्ट करनेके लिये मैंने प्रयत्न किया किन्तु वह कीड़ा तो विष्ठामें भीतर भीतर घुसता है सो क्या कारण है ? मुनिराजने कहा यह संसारी मोहीप्राणी जहां जिस पर्यायमें जाता है वहा उसीमे रमता है, यही मोहकी विचित्र लीला है, इस पर्याय बुद्धि के कारण ही आजतक इन जीवोंका कल्याण नही हुआ है इत्यादि अनेक प्रकारसे देवरतिको वैराग्यप्रद उपदेश दिया जिससे राजाने भोगोंसे विरक्त हो जिनदीक्षा ग्रहण की ।

सुभोग राजाकी कथा समाप्त ।

यह जीव पवित्र गुण युक्त-मल, मूत्र, पसीना, रक्त आदि मलिन पदार्थोसे रहित वैक्रियिक शरीर वाला तथा अणिमा, महिमा, लघिमा आदि अष्ट महा ऋद्धियोंसे संपन्न ऐसा वैमानिक देव होकर पुनः वहांकी आयु पूर्ण होनेके अनंतर घिनावने गर्भमें जाकर नौ मासतक बसता है । हाय ! धिक् ! इस असार ससारको धिक्कार है धिक्कार है ।।१८९४।।

विशेषार्थ—भवनवासी, व्यंतर ज्योतिषी और वैमानिक ऐसे देवोंके चार भेद हैं, इनमें आदिके तीन जातिके देवोसे वैमानिक देवोके ऋद्धियां अधिक प्रभावशालो हुआ करती हैं । ऋद्धियां आठ है—अणिमाऋद्धि-अपने वैक्रियिक शरीरको अत्यंत सूक्ष्म बना सकना । महिमा—शरीरको बहुत बड़ा बनाना । लघिमा—अर्कतूलवत हल्का शरीर निर्माण कर सकना । गरिमा—पर्वतसे भी अधिक भारी शरीर बना सकना । प्राप्ति—अपने स्थानपर रहकर हो किसो सुदूरवर्त्ती स्थानको स्पर्श कर सकना । प्राकाम्य— मनचाहा रूप बनाना । ईशत्व—ऐश्वर्यशालो प्रभावशाली होना । वशित्व—सबको वशमें रख सकना । देव इन ऋद्धियोंसे संयुक्त तथा और भी अनेक विशेषताओंसे युक्त हुआ

यत्र खादति पुत्रस्य जनन्यपि कलेवरम् ।
तत्तत्रामुत्र वा बंधौ शत्रुत्वे कोऽस्ति विस्मयः ।।१८९५।।

बंधू रिपू रिपुर्बंधुर्जायते कार्यतस्ततः ।
यतो रिपुत्वबंधुत्वे संसारे न निसर्गतः ।।१८९६।।

वक्रेण विमलाहेतोः सुदृष्टिर्विनिपातितः ।
निजांगनांगजो भूत्वा जातो जातिस्मरो बत ।।१८९७।।

करते है । किन्तु आयु समाप्त होते ही यहां मनुष्य भवमें माताके गर्भमें आना पड़ता है । अत: ज्ञानीजन संसारके किसी भी पदार्थ पर स्नेह नहीं करते ।

जहांपर माता भी पुत्रके शरीरको खा जाती है वहां बंधु आदि शत्रु बने उसमें क्या आश्चर्य है ? अर्थात् इस लोकके बंधु परलोकमें शत्रु बने इसमें क्या आश्चर्य है ।।१८९५।। ससारमें अपने कार्यवश बंधुजन भी शत्रु बन जाते हैं और शत्रु भो बंधु बन जाता है अत: शत्रुपना और बधुपना स्वाभाविक नहीं है ऐसा निश्चयसे जानो ।।१८९६।।

विमला नामकी स्त्रीके लिये वक्रनामके पुरुषने अपने स्वामीको मार डाला था वह मरकर अपनी उसी विमला स्त्रीका पुत्र हुआ, वहां उसको जातिस्मरण हो गया जिससे उसने जान लिया था कि मैं अपने पूर्वकी पत्नीका ही पुत्र हो गया हूँ । हा ! बड़ा खेद है ।।१८९७।।

सुदृष्टि सुनारकी कथा—

उज्जैन में एक सुदृष्टि नामका सुनार था, वह जवाहरातके जेवर बनानेमें बड़ा निपुण था, उसको पत्नी विमला थी वह दुराचारिणो थी अपने घरमें रहने वाले विद्यार्थी वक्रसे उसका अनुचित संबंध था । विमलाने एक दिन उस यारसे कहकर अपने पति सुदृष्टि को मरवा डाला । वह मरकर उसी विमलाके गर्भमें आया यथासमय पुत्र हुआ और क्रमशः बड़ा होगया । किसी दिन उस उज्जैन नगरीके राजा प्रजापाल की पट्टदेवी सुप्रभा का मूल्यवान रत्नहार टूट गया । अनेक सुनारोंके पास उसे भेजा गया किन्तु कोई भी उस हारको ठीकसे बना नही पाया अन्तमें उसी विमलाके यहां वह हार पहुंचा उसके पुत्रने जैसे हो हारको देखा वैसे उसको जाति स्मरण होगया, उसने हारको तो बना दिया

श्रोत्रियो ब्राह्मणो भूत्वा कृत्वा मानेन पातकम् ।
सूकरो मंडलः पाणी शृगालो जायते बकः ॥१८९८॥

निन्द्यां दारिद्र्यमैश्वर्यं पूजामभ्युदयं स्तुतिम् ।
स्त्रैणं पौंस्नं चिरं जीवः षंढत्वं प्रतिपद्यते ॥१८९९॥

निर्दोषमपि निःपुण्यं सदोषं मन्यते जनः ।
सदोषमपि पुण्याढ्यं निर्दोषं पुरुषः पुनः ॥१९००॥

किन्तु उस दिनसे अत्यंत उदास रहने लगा । राजाको हारके ठीक हो जानेसे बड़ी प्रसन्नता हुई थी अतः उसने उस सुनार पुत्रको बुलाकर पूछा कि इस हारको कोई बना नहीं पा रहा था तुमने कैसे बनाया ? तब उसने एकांतमे अपना पूर्वभवसे अब तक सारा वृत्तांत सुनाया । राजा प्रजापाल आश्चर्यचकित हो गया, उसे इस विचित्र भव परम्परा को देखकर वैराग्य हुआ । सुनार पुत्र तो पहलेसे ही उदास हो चुका था, उसका मन ग्लानिसे भरा था कि अहो ! यह कैसा परिवर्तनशील संसार है ! जहां स्वयकी पत्नी से पतिका जन्म पुत्र रूपसे होता है । धिक ! धिक ! मोहतम को ! इसप्रकार विचार कर उसने अपना कल्याण किया ।

सुदृष्टि सुनारकी कथा समाप्त ।

कोई जीव श्रोत्रिय ब्राह्मण होकर मान–गर्व द्वारा पापकर्म बंध करता है और उससे शूकर, कुत्ता, चडाल, सियार और बगुला हो जाता है । अभिप्राय यह है कि जो पहले उच्च पर्यायमें था वही नीच पर्यायमें जन्म लेता है ॥१८९८॥ यह जीव कभी निंदाका पात्र बनता है, कभी दरिद्री तो कभी ऐश्वर्यशाली होता है, कभी आदर, वैभव और स्तुति प्रशसाको प्राप्त करता है, यह चिरकाल तक स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेदको अनेकों बार प्राप्त करता है । अर्थात् किसी एक अवस्थामे सदा नही रहता है ॥१८९९॥

जिसके पापका उदय है उसको निर्दोष होते हुए भी लोक सदोष मानने लग जाते हैं और जिसके पुण्यका उदय है उसको लोक दोषयुक्त होनेपर भी निर्दोष समझते हैं ॥१९००॥ स्वभावसे समान होनेपरभी कोई व्यक्ति तो जीवोको प्रिय लगता है और कोई

छद-वशस्थ—

निसर्गत: कोपि समेऽपि वल्लभो विचेष्टतेऽन्योऽसुमतामवल्लभः ।
समानरूपे सति चंद्रिकोदयेप्रियो हि पक्षो धवलः प्रियोऽपरः ।।१६०१।।

छंद-वशस्थ—

विचित्य मानं जगतो विचेष्टितं विचित्र रूपं भयदायि दुर्गमम् ।
करोति वैराग्यमनन्यगोचरं दुरीहितं पूर्वमिवोदयं गतम् ।।१६०२।।

छंद-उपजाति—

लोकस्वभावं चपलं दुरंतं दुःखानि दातुं सकलानि शक्तम् ।
निरीक्षमाणा न बुधा रमंते भयंकरं व्याघ्रमिवानिवार्यम् ।।१६०३।।

।। इति लोकानुप्रेक्षा ।।

अप्रिय लगता है । जैसे चन्द्रमाको चांदनीका समान उदय होनेपर भी लोगोंको शुक्ल पक्ष प्रिय लगता है और कृष्णपक्ष अप्रिय लगता है (शुक्ल पक्षमें पहली रातमे चन्द्रमा उदित रहता है और कृष्णपक्षमे पिछली रातमें उदित रहता है अतः शुक्लपक्षमे पहली रातमें चांदनी रहती है तथा कृष्णपक्षमे पिछली रातमें । फिर भी शुक्लपक्ष मंगल कार्य आदिमे उपयुक्त माना जाता है) ।।१६०१।।

इसप्रकार जगतकी विचित्र चेष्टायें जानकर विचार कर तथा मान—गर्व अत्यंत दुःख तथा भयको देनेवाला है ऐसा सोचकर जो बुद्धिमान व्यक्ति है वह वैराग्य भाव को प्राप्त होता है, कैसे वैराग्यको प्राप्त होता है ? जो जनसाधारणके अगोचर है तथा अत्यत कठिन है । ऐसे वैराग्यको लोकके स्वरूपका विचार करनेवाला पुरुष इस-तरह धारण करता है मानो पहलेसे प्राप्त किया हो उसमें अभ्यस्त हो । आशय यह है कि ससारकी विचित्र लीलाको जो भलीप्रकारसे जान लेता है उसको अत्यंत दृढ वैराग्य उत्पन्न होता है ।।१६०२।।

यह लोक अत्यंत चपल है, दुरंत है, समस्त दुःखोंको देनेमें समर्थ है, इसतरहके स्वभाववाले लोकको देखनेवाले ज्ञानीजन उसमे रमते नहीं हैं, जैसे जिसको रोकना अशक्य है ऐसे भयंकर व्याघ्रको देखनेवाले पुरुष उसमे रमते नही है अर्थात् जैसे व्याघ्रसे भय होता है उसमें प्रीति रति नही होती, वैसे ज्ञानीको लोक-जगत या जगतके यावन्मात्र चेतन अचेतन पदार्थोंमे प्रीति नही होती वह हमेशा लोकसे डरता रहता है ।।१६०३।।

लोकभावनाका वर्णन समाप्त ।

अशुभाः संति निःशेषाः पुंसां कामार्थविग्रहाः ।
शुभोऽत्र केवलं धर्मो लोकद्वयसुखप्रदः ॥१९०४॥

अर्थो मूलमनर्थानां निर्वाणप्रतिबंधकः ।
लोकद्वये महादोषं दत्ते पुंसां दुरुत्तरम् ॥१९०५॥

निंद्यस्थानभवाः कामा भीमा लाघवहेतवः ।
दुःखप्रदा द्वये लोके स्वल्पकालाः सुदुर्लभाः ॥१९०६॥

मांसलिप्तासिराबद्धा कुथितास्थिदलाचिता ।
सतां कायकुटी कुत्स्या कुथितैर्विविधैर्भृता ॥१९०७॥

निसर्गमलिनः कायो धाव्यमानो जलादिभिः ।
अंगार इव नायातिस्फुटं शुद्धिं कदाचन ॥१९०८॥

अशुचि भावना—

इस जगतमें पुरुषोंके कामभोग, धन और शरीर ये सब ही अशुभ—अशुचि है, इस जगतमें केवल एक धर्म ही शुभ है, इस लोक और परलोकमे सुखदायी है ॥१९०४॥

संपूर्ण अनर्थोंकी जड़ अर्थ है यह अर्थ मोक्षका प्रतिबधक है, अर्थ दोनों लोकोंमे जिसका दूर करना अत्यत कठिन है ऐसे महादोषको पुरुषोंके लिये देता है अर्थात् अर्थ-धनके निमित्तसे संसारी प्राणी, हिंसा करते है, चोरी, असत्य आदि पाप करते हैं इससे राजा द्वारा दण्डित होनेसे इस लोकमे महादुःखको प्राप्त होते है और परलोकमे नरकादि गतिमें महादुःख भोगते है ॥१९०५॥

ये कामभोग निंद्यस्थानसे उत्पन्न होते है, भयकर है, आत्माको अत्यंत लघु-हीन करनेमें हेतु है, दोनो लोकोंमें दुःखदायी है, अल्पकाल तक रहनेवाले है और बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होते है ॥१९०६॥ यह मानव शरीररूपी कुटी—झौपड़ी मांसरूपी मिट्टीसे लीपी गयी है, वसाओसे बधी है, कुथित अस्थिरूप पत्तोसे छाई हुई है और विविध घिनावने पदार्थोंसे भरी हुई है ऐसी यह कुटी सदा ही सज्जनो द्वारा ग्लानि करने योग्य है ॥१९०७॥ यह शरीर स्वभावसे मलिन है, जलादिसे धोनेपर भी कोयले के समान कभी भी शुद्धिको प्राप्त नहीं होता ॥१९०८॥

छद-उपजाति—

मेध्यान्यमेध्यानि करोत्यमेध्यं सद्यः शरीरं सलिलानि नूनम् ।
अमेध्यमिश्राणि पुनः शरीरं न तानि मेध्यं विदधात्यमेध्यम् ।।१६०६।।

अमेध्यनिर्मितो देहः शोध्यमानो जलादिभिः ।
अमेध्यैर्विविधैः पूर्णो न कुंभ इव शुद्धयति ।।१६१०।।

छंद-उपेन्द्रवज्रा—

भवन्ति जल्लौषधयो मुनीन्द्रा धर्मेण देवाः प्रणमन्ति सेन्द्राः ।
यतस्ततो नास्ति ततः प्रशस्तः कल्याणविश्राणे न कल्पवृक्षः ।।१६११।।

।। इति अशुच्यनुप्रेक्षा ।।

दुःखोदके भवाम्भोधौ कषायेंद्रियवार्चरैः ।
आस्रवः कारणं ज्ञेयं भ्रमतो भवभागिनः ।।१६१२।।

यह अशुचि शरीर पवित्र जलको तत्काल अपवित्र कर देता है । जल स्वयं अशुद्ध अपवित्र नही है किन्तु अशुचिसे मिश्रित होनेसे अशुचि बनता है, पवित्र जल शरीरको पवित्र नहीं बना पाता किन्तु अपवित्र शरीर पवित्र जलको अवश्य अपवित्र कर डालता है ।।१६०६।। अशुचि–मांसरक्त आदिसे निर्मित यह शरीर जलादिके द्वारा धोये जानेपर भी शुद्ध नही होता, जैसे विविध मल, मूत्र, थूक आदिसे भरा हुआ घट बाहरसे जलसे धोये जानेपर भी शुद्ध नही होता ।।१६१०।।

इस जगतमें शुचि पवित्र पावन यदि कोई पदार्थ है तो वह रत्नत्रय रूप धर्म ही है, इस धर्म द्वारा मुनिजन जल्लौषधि आदि ऋद्धियोंसे सपन्न हो जाते हैं, धर्मसे युक्त मुनीन्द्रोंको इन्द्रसहित सकलदेव वदना करते हैं । जिसकारणसे धर्मद्वारा मानव पूज्य होता है उस कारणसे धर्मसे अन्य कोई प्रशस्त पवित्र वस्तु नहीं है, धर्म ही संपूर्ण कल्याण–सुख परपराको देनेवाला कल्पवृक्ष है ।।१६११।।

अशुचि भावना समाप्त ।

आस्रव भावनाका कथन—

कषाय और इन्द्रियरूपी जलचर मगरमच्छोंसे भरे दुःखरूपी जलसे युक्त इस संसाररूपी सागरमें संसारी जीवोंको परिभ्रमण करानेका हेतु आस्रव है ऐसा जानना

कर्मास्रवति जीवस्य संसारे विषयादिभिः ।
सलिलं विविधै रन्ध्रैः पोतस्येव पयोनिधौ ।।१६१३।।

कर्मसंबंधता जाता रागद्वेषाक्तचेतसः ।
स्नेहाभ्यक्त शरीरस्य रजोराशिरिवानिशम् ।।१६१४।।

अदृश्यैश्चक्षुषा दृश्यैः स्थूलैः सूक्ष्मैश्च पुद्गलैः ।
विविधैर्निचितो लोकः कुंभो धूमैरिवाभितः ।।१६१५।।

मिथ्यात्वाव्रतकोपादियोगानाास्रवान्विदुः ।
मिथ्यात्वमर्हदुक्तानां पदार्थानामरोचनम् ।।१६१६।।

हिंसादयो मता दोषाः पचाप्यव्रतसंज्ञकाः ।
कोपादयः कषायाः स्यू रागद्वेषद्वयात्मकाः ।।१६१७।।

चाहिये । अर्थात् जीवके ससार परिभ्रमणका कारण कर्म है और उस कर्मका भी कारण मिथ्यात्व आदि आस्रव है ।।१६१२।।

संसारमे इस जीवके पचेन्द्रियोंके स्पर्शादि विषयों द्वारा कर्मोंका आस्रव होता है, जैसे समुद्रमें स्थित जहाजके विविध छिद्रों द्वारा जल आता है ।।१६१३।। राग और द्वेषसे व्याप्त चित्तवाले जीवके कर्मोका सबंध होता है, जैसे तैलकी मालिशसे युक्त शरीरके सतत धूल मिट्टिका संबध होता है ।।१६१४।। यह लोक नेत्रद्वारा अदृश्य ऐसे सूक्ष्म पुद्गलोंसे तथा दृश्यमान विविध स्थूल पुद्गलोसे ठसाठस भरा हुआ है, जैसे कोई घट धुंआसे चारो ओरसे भरा होता है । अर्थात् लोकमे सूक्ष्म और बादर दोनोंप्रकारके पुद्गल निरतर रूपसे व्याप्त हैं ।।१६१५।।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये आस्रव है । इनमे अर्हंत भगवानके द्वारा प्रतिपादित जीवादि पदार्थोंकी अरुचि करना अर्थात् सात तत्त्व छह द्रव्य आदिपर श्रद्धान नहीं होना मिथ्यात्व नामका आस्रव भाव जानना चाहिये ।।१६१६।। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच दोष अव्रत या अविरति भाव है । क्रोधादि कषाय भाव अनेक हैं, वे राग और द्वेष इन दो में अन्तर्भूत होते है ।।१६१७।।

अहो आश्चर्य है कि शरीरके स्वभावको जाननेवाले पुरुषको भी रागभाव घिने शरीरमे कैसे रजायमान कराता है तथा बांधवोको क्षणमात्रमे कैसे द्वेष्य द्वेष

जानंतं कुथिते काये रागो रंजयते कथम् ।
बांधवं कुरुते द्वेष्यं द्वेषो हि क्षणतः कथम् ।।१६१८।।

कल्मषं कार्यते घोरं सद्दृष्टिरपि यैर्जनः ।
रागद्वेषविपक्षांस्तान्धिक्संज्ञागौर वात्मनः ।।१६१६।।

विषयेष्वभिलाषो यः पुरुषस्य प्रवर्तते ।
न ततो जायते सौख्यं पातकं बध्यते परम् ।।१६२०।।

इंद्रियार्थसुखे येन मानुष्यं प्राप्य योज्यते ।
भस्मार्थं प्लोषते काष्ठं महामौल्यमसौ स्फुटम् ।।१६२१।।

नृत्वे योऽक्षसुखं मूढो धर्मं मुक्त्वा निषेवते ।
लोष्ठं गृह्णात्यसौ मुक्त्वा रत्नद्वीपेऽनघं मणिम् ।।१६२२।।

करने योग्य बनाता है अर्थात् रागभाव घिने शरीरमें तो प्रीति कराता है और हितकारी बांधवोंमे द्वेष कराता है । जिनके ऊपर प्रेम करना चाहिये उनपर द्वेष कराता है और जिनके ऊपर द्वेष करना चाहिये उनपर राग-प्रीति कराता है ।।१६१८।। जिन रागद्वेष द्वारा सम्यग्दृष्टि जीव भी घोर पाप करता है उन रागद्वेषरूपी वैरियोंको धिक्कार है, आहारादि संज्ञा तथा ऋद्धि गौरव आदि गौरव रूप रागद्वेषको धिक्कार है ।।१६१६।।

पुरुषके पंचेन्द्रियोके मनोहर स्पर्शादि विषयोमें जो अभिलाषा होती है उससे सुख नही होता किन्तु उल्टे पापबंध ही होता है अर्थात् विषयोकी इच्छा करनेसे कोई सुख नहीं होता इच्छा या अभिलाषा तो महान् कर्मबंधका हेतु है । तीव्र विषयाभिलाषासे अविरतिरूप भाव होते है हिंसा, झूठ आदि पापचार भी तीव्र अभिलाषासे होता है और उससे कर्मोंका महान् आस्रव होता है ।।१९२०।।

जो महादुर्लभ मानव जन्मको प्राप्त करके उस मानव पर्यायको इन्द्रियोंके विषयसुखमें लगाता है, वह निश्चयसे महामूल्यवान हरिचंदन आदिरूप श्रेष्ठ काष्ठको राखके लिये जलाता है अर्थात् जैसे राखके लिये चदन जलाना मूर्खता है वैसे इन्द्रिय सुखके लिये मानव पर्याय गमाना मूर्खता है ।।१६२१।।

जो मूढ मानवपर्याय प्राप्त करके धर्मको छोड़कर इन्द्रिय सुखका सेवन करता है वह रत्नद्वीपमे अत्यंत मूल्यवान् रत्नको छोड़कर लोह या ढ़ेलेको ग्रहण करता है ।

यो नृत्वे सेवते भोगं हित्वा धर्ममकल्मषम् ।
असौ विमुच्य पीयूषं विषं गृह्णाति नंदने ।।१९२३।।

योगः कर्मास्रवं दुष्टो मनोवाक्कायलक्षणः ।
यथा भुक्तो दुराहारो विदधाति व्रणास्रवम् ।।१९२४।।

आस्रवं कुरुते योगो विशुद्धः पुण्यकर्मणाम् ।
विपरीतः परं सद्यः सेवितः पापकर्मणाम् ।।१९२५।।

अर्थात् रत्नद्वीपमें जाकर कोमती हीरा आदि रत्नोंको खरीदना चाहिये किन्तु कोई मूर्ख वहांपर जाकर भी लोहेको खरीदे तो उसकी बड़ी भारी अज्ञानता मानी जायगी । ठीक इसीप्रकार मनुष्य जन्ममे आकर रत्नत्रयधर्मको आराधना करनी चाहिये । किन्तु कोई मूढ विषय सेवन करे तो वह अज्ञानता है ।।१९२२।। जो मनुष्य जन्ममें निर्दोष धर्मको छोड़कर भोगको भोगता है वह नंदनवनमे पहुचकर भी अमृतको छोड़कर विषको ग्रहण करता है, पीता है ।।१९२३।। मन, वचन और कायको खोटो चेष्टारूप योग पापकर्मके आस्रवको करता है, जैसेकि खाया गया खोटा–अपथ्य आहार व्रण–घावमें आस्रव पीपको पैदा करता है ।।१९२४।। मन, वचन, कायकी विशुद्ध–शुभ चेष्टारूप योग सातावेदनीय आदि पुण्यकर्मोंके आस्रवको करता है और इससे विपरीत मन, वचन और कायको अशुभचेष्टारूप सेवित किया गया योग तत्काल पापकर्मोंके आस्रवको करता है ।।१९२५।।

विशेषार्थ—दया दान, पूजा आदिके भाव होना मनकी शुभचेष्टा है, प्रिय हित धर्म आदि रूप वाणी बोलना वचनकी शुभ चेष्टा है । वैयावृत्त्य करना, परोपकार पूजा भिषक तीर्थयात्रा आदि रूप शरीरकी चेष्टा शुभकाययोग है । इन शुभ योगों द्वारा सातावेदनीय देवगति देवायु, उच्चगोत्र आदि पुण्यकर्मोंका आस्रव होता है तथा क्रूरभाव दूसरेको पीड़ा देनेके भाव आदि मनकी अशुभचेष्टा है, कर्कश, पिशुनता, मर्मभेदी इत्यादि वचन बोलना वचनकी अशुभ चेष्टा है, शरीर द्वारा किसीका घात करना, चोरी करना धर्म विरुद्ध आचरण, व्यसन आदि रूपकायकी अशुभ प्रवृत्ति है इन अशुभ योगों द्वारा असातावेदनीय, नरकगति, नरकायु, नीचगोत्र आदि पापकर्मोंका आस्रव होता है ।

छंद-उपजाति—

कुदर्शनावृत्तकषाययोगैर्जीवो भवे मज्जति कर्मपूर्णः ।
दुरापपारे विवरैरनेकैः पोतः पयोधाविव वारिपूर्णः ।।१६२६।।

।। इत्यास्रवानुप्रेक्षा ।।

मिथ्यात्वमास्रवद्वारं पिधत्ते तत्त्वरोचनम् ।
संयमासंयमं सद्यो गृहीत्वारमिवाररे ।।१६२७।।

कषायतस्करा रौद्रा दयादमशमायुधैः ।
शक्यंते रक्षितुं विव्यैरायुधैरिव तस्कराः ।।१६२८।।

इन्द्रियाश्वा नियम्यंते वैराग्यखलिनैर्दृढैः ।
उत्पथप्रस्थिता दुष्टास्तुरगाः खलिनैरिव ।।१६२९।।

मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योगों द्वारा कर्मोंके भारसे युक्त हुआ जीव भवसागरमें डूब जाता है, जैसे जिसका पार पाना कठिन ऐसे समुद्रमें अनेक छिद्रों द्वारा जलसे भरी हुई नौका डूब जाती है ।।१९२६।।

आस्रव अनुप्रेक्षा समाप्त

सवर अनुप्रेक्षाका वर्णन—

सम्यग्दर्शन, मिथ्यात्व आस्रव द्वारको ढक देता है तथा देशसंयम और सकल-संयम रूप व्रतोंको ग्रहण करके यह जीव अविरति नामा आस्रवद्वारको ढ़क देता है जैसे कोई पुरुष द्वारको बंदकर अर्गला–सांकल या कुंदी लगाकर बाहरसे आनेवाले चोर आदिको रोक देता है ।।१९२७।।

क्रोधादि कषायरूप क्रूर चोर-डाकू लुटेरोंको दया, इन्द्रियदमन और उपशम भावरूप शस्त्रों द्वारा रोकना शक्य है अर्थात् कषायोंको दम शम आदि भावों द्वारा रोकना चाहिये । जैसे धनके चुरानेवाले डाकू आदिको दिव्य शस्त्रो द्वारा रोकना शक्य है अथवा शस्त्र द्वारा चोर डाकूको खदेडकर धनकी रक्षा करना शक्य है ।।१९२८।। खोटे कुगतिके मार्गमे जाते हुए दुष्ट इन्द्रिय रूपी घोड़े वैराग्यरूपी मजबूत लगाम द्वारा नियत्रित किये जाते है । जैसे गड्ढे ऊबड़ खाबड़ भूमिरूप खोटे मार्गमें जाते हुए दुष्ट

नाक्षसर्पा निगृह्यन्ते भीषणाश्चलमानसैः ।
दंदशूका इव ग्राह्या विद्यासंवादवर्जितैः ॥१६३०॥

अप्रमादकपाटेन जीवे योगनिरोधनम् ।
क्रियते फलकेनेव पोते जलनिरोधनम् ॥१६३१॥

कर्मभिः शक्यते भेत्तुं न चारित्रं कदाचन ।
सम्यग्गुप्तिपरिक्षिप्तं विपक्षैरिव पत्तनम् ॥१६३२॥

घोड़े लगाम द्वारा नियन्त्रित किये जाते है ॥१९२९॥ चंचल मनवाले पुरुषों द्वारा इन्द्रियरूपी भीषण सर्प निगृहीत नहीं किये जा सकते । जैसे विषापहार मंत्र विद्या औषधि आदिसे रहित व्यक्ति द्वारा विषैले सर्प पकड़े नही जा सकते ॥१६३०॥

भावार्थ—इन्द्रियोंको वश तब कर सकते है जब मन चपल न हो, मनको स्वाधीन कर लेनेपर इन्द्रियां अपने-अपने विषयोके तरफ नही दौडती अतः कहा है कि चंचल मनवाले पुरुष इन्द्रियरूपी सर्पको निगृहीत नही कर सकते ।

जीवमे अप्रमाद रूप कपाट द्वारा मनोयोग आदि आस्रवोंका निरोध किया जाता है, जैसे नावमें फलक द्वारा जलका निरोध किया जाता है ॥१६३१॥

विशेषार्थ—प्रमाद पद्रह प्रकारका है—भक्तकथा, स्त्रीकथा, राजकथा, राष्ट्र-कथा, ये चार विकथायें तथा चार क्रोधादिकषाय, पाँच इन्द्रियां, निद्रा और स्नेह । स्वाध्याय आदि द्वारा विकथा प्रमादको, क्षमादि द्वारा कषायप्रमादको, अवमौदर्य एवं रसत्याग आदि द्वारा निद्राप्रमादको और बधुत्व आदिके क्षणिकपनेके चितन द्वारा स्नेह नामा प्रमादको जीतना चाहिये । इसतरह अप्रमाद भाव द्वारा प्रमादजन्य आस्रवको रोकना चाहिये ।

जैसे परिखा द्वारा वेष्ठित नगर प्रतिपक्षी राजा द्वारा ध्वस्त नही किया जा सकता वैसे समीचीन मनोगुप्ति आदि द्वारा युक्त चारित्र कभी भी कर्म द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता ॥१९३२॥

भावार्थ—मनोगुप्ति-वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियां परम संवर का सर्वोत्कृष्ट हेतु है, गुप्तिसे संयुक्त मुनिराजोंके नियमसे कर्मास्रव रुक जाता है-संवर होता है ।

गुणबंधनमारुह्य सयतः समितिप्लवं ।
हिंसादिमकराग्रस्तो जन्मांभोधिं विलंघते ।।१९३३।।

द्वारपाल इव द्वारे यस्यास्ति हृदये स्मृतिः ।
दूषयंति न तं दोषा गुप्तं पुरमिवारयः ।।१९३४।।

न यस्यास्ति स्मृतिश्चित्ते स दोषैर्ग्रस्यते स्फुटम् ।
असहायोऽखिलैः क्षिप्रं विचक्षुरिव वैरिभिः ।।१९३५।।

छद-रथोद्धता—

ज्ञानदर्शनचरित्रसंपदं पूर्णतां नयति स व्रती स्फुटम् ।
यो विमुंचति परोषहारिभिर्बाधितोऽपि न कदाचन स्मृतिम् ।।१९३६।।

।। इति संवरानुप्रेक्षा ।।

सम्यक्त्व आदि गुणरूप बधनसे युक्त समिति रूप नौका पर आरोहन करके मुनिराज हिसा आदि मगरमच्छोंसे पीडित नही होते हुए जन्मरूप सागरका उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् ईर्या समिति आदि पंचसमितियोंसे संवर होता है ।।१९३३।।

जिसके हृदयमे दरवाजे पर द्वारपालके समान वस्तुतत्त्वकी स्मृति मौजूद है उस साधुको दोष दूषित नही कर सकते, जैसे सुरक्षित नगरको शत्रुगण नष्ट नहीं कर सकते हैं ।।१९३४।। जिसके हृदयमें वस्तु तत्त्वको स्मृति नही है अर्थात् जो साधु समीचीन तत्त्व चितनमें स्थिर नही होता वह नियमसे दोषों द्वारा ग्रस्त होता है, जैसे नेत्रविहोन और सहायता रहित पुरुष शीघ्र ही समस्त वैरियोंसे पराभूत हो जाता है ।।१९३५।। जो मुनि परीषह रूपी शत्रु द्वारा बाधित होनेपर भी कभी भी तत्त्वकी स्मृतिको नही छोड़ता, वह साधु निश्चयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी संपदाको पूर्ण रूपसे प्राप्त करता है अर्थात् परीषहों पर विजय प्राप्त करनेसे कर्मोका सवर होता है एवं रत्नत्रय पूर्ण होता है ।।१९३६।।

विशेषार्थ—यहापर संवरभावनाके प्रकरणमें मिथ्यात्व आदि आस्रवोंको सम्यक्त्व आदि द्वारा रोकनेका उपदेश दिया है । मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, कषाय और योग ये आस्रव भाव हैं । इनमेंसे मिथ्यात्वरूप आस्रवको तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनसे रोकना चाहिये । अविरतिको असयम भी कहते है, पांच इन्द्रियां और छठा

यो मुनिर्यदि शुद्धात्मा सर्वथा कर्मसंवरम् ।
करोति निर्जराकांक्षी सिद्धये विविधं तपः ।।१९३७।।

न कर्मनिर्जरा जन्तोर्जायते तपसा विना ।
सचितं क्षीयते धान्यमुपयोगं विना कुतः ।।१९३८।।

पूर्वस्य कर्मणः पुंसो निर्जरा द्विविधा मता ।
आद्या विपाकजातत्र द्वितीया त्व विपाकजा ।।१९३९।।

नानाविधानि कर्माणि गृहीतानि पुराभवे ।
फलानीव विपच्यंते कालेनोपक्रमेण च ।।१९४०।।

मन इनकी अपने-अपने स्पर्शादि विषयोंमें जो प्रवृत्ति है उसको रोकनेसे इन्द्रिय अविरतिरूप आस्रव रुकता है तथा षट्काय जीवोंके घातरूप अविरति वाला आस्रव अहिंसा आदि व्रतों द्वारा तथा समिति द्वारा रोका जाता है । विकथा आदि प्रमादरूप आस्रव स्वाध्याय तपोभावना आदि द्वारा रोकना चाहिये । कषायरूप आस्रव क्षमा आदि दशधर्म, गुप्ति, परीषय, जय आदिसे रुक जाता है । योगरूप आस्रव तो अतमे यथाख्यात् चारित्रकी पूर्णतारूप अयोग केवली अवस्थामे रुकता है । इसप्रकार संवरका स्वरूप जानना-संवरका चिंतन करना सवर अनुप्रेक्षा है ।

संवर अनुप्रेक्षाका वर्णन समाप्त ।

निर्जरा अनुप्रेक्षाका स्वरूप—

जो शुद्धात्मा मुनि यदि सर्वथा कर्मसंवरको करनेमे उद्यमी है वह निर्जराका आकांक्षी हुआ मोक्षके लिये विविध प्रकारके तपश्चरणको करता है ।।१९३७।। तपके बिना जीवके कर्मोंकी निर्जरा नही होती है, जैसे संचित किया गया धान्य उपयोगमें लाये बिना-भोजन आदिके काममे लाये बिना समाप्त नही होता है ।।१९३८।। जीवके पूर्व सचित कर्मोंकी निर्जरा दो प्रकारकी मानी है, एक विपाक निर्जरा और दूसरी अविपाक निर्जरा ।।१९३९।। पूर्वजन्ममे ग्रहण किये गये अनेक प्रकारके कर्म कालके अनुसार तथा उपक्रमसे दोनों प्रकारसे फल देकर निर्जीर्ण होते है, जैसे फल यथा समय और समयके पहले पक जाया करते है । अर्थात् किसी कर्मोंकी निर्जरा अपना समय

कालेन निर्जरा नूनमुदीर्णस्यैव कर्मणः ।
तपसा क्रियमाणेन कर्म निर्जीर्यतेऽखिलम् ।।१६४१।।

अनिर्दिष्टफलं कर्म तपसा दह्यते परम् ।
सस्यं हुताशनेनेव बहुभेदमुपार्जितम् ।।१६४२।।

तपसादीयमानेन नाश्यते कर्मसंचयः ।
आशुशुक्षणिना क्षिप्रं दीप्तेनेव तृणोत्करः ।।१६४३।।

स्वयं पलायते कर्म तपसा विरसीकृतम् ।
रजोऽवतिष्ठते कुत्र नीरसे स्फटिकेऽश्मनि ।।१६४४।।

तपसाध्मायमानोऽङ्गी क्षिप्रं शुद्ध्यति कर्मभिः ।
पाषाणः पावकेनेव कानकः सकलैर्मलैः ।।१६४५।।

आनेपर होती है और किसोको समयके पहले तपश्चरण द्वारा होती है। आम आदि फल जैसे समयपर डालमें पकते हैं और कोई बिना समयके प्रयोग द्वारा पालमें शीघ्र पकते हैं ।।१६४०।।

अपना समय पाकर जो कर्मोंकी निर्जरा होती है वह तो केवल उदयावलीमें आये हुए कर्मनिषेकोंकी होती है, किन्तु तपश्चरण द्वारा अखिल कर्म निर्जीर्ण होता है—नष्ट होता है ।।१६४१।।

जिसका फल जीवको प्राप्त नही हुआ है ऐसा कर्म तपरूप अग्नि द्वारा भस्मसात् हो जाता है, जैसे गेहूँ, चावल, मूंग आदि बहुत भेदवाला एकत्रित किया धान्य अग्नि द्वारा भस्मसात् होता है। अर्थात् तपश्चरण द्वारा फल भोगे बिना ही कर्मोंकी निर्जरा होती है ।।१६४२।। मुनिजन ग्रहण किये गये तपश्चरण द्वारा कर्मोंके समूहको क्षणभरमें नष्ट कर देते हैं जैसे जलायी गयी अग्नि द्वारा तृणोंका समूह शीघ्र नष्ट हो जाता है ।।१६४३।।

तप द्वारा शक्तिहीन हुआ कर्म स्वय पलायमान हो जाता है ठीक ही है, चिकनाईसे रहित स्फटिक पाषाणमें क्या कही धूल ठहरती है ? नहीं ठहरती। उसी-प्रकार तपश्चरण करनेपर कर्म नही ठहरता निर्जीर्ण हो जाता है ।।१६४४।।

यह संसारी जीव तपरूपी अग्निके द्वारा धौंकनेपर कर्ममलसे शीघ्र शुद्ध हो

मोक्षः संवरहीनेन तपसा न जिनागमे ।
रविणाशोष्यते नीरं प्रवेशे सति किं सरः ।।१६४६।।

छंद-रथोद्धता—

दर्शनद्विपमधिष्ठितो बुधो लब्धबोधसचिवस्तपः शरैः ।
कर्मशत्रुमपहृत्य संवृतः सिद्धिसंपदमुपैतिशाश्वतीम् ।।१६४७।।

।। इति निर्जरा ।।

जाता है, अर्थात् तपसे कर्म नष्ट होनेसे आत्मा शुद्ध बनता है, जैसे कनक पाषाण अग्नि द्वारा समस्त मलोंसे रहित शुद्ध हो जाता है ।।१६४५।।

संवरसे रहित तपश्चरण द्वारा मोक्ष प्राप्त नही होता है, ऐसा जिनागममें कहा है, ठीक ही है देखो ! जिस सरोवरमें सोरसे नया पानीका स्रोत प्रविष्ट हो रहा है वह सरोवर क्या सूर्य द्वारा सुखाया जा सकता है ? नही सुखाया जा सकता । वैसे ही नये कर्मका आगमन यदि हो रहा है तो तपसे कर्मोंका नाशरूप मोक्ष नही हो सकता है ।।१६४६।।

सम्यग्दर्शनरूपी हाथी पर जो बैठा है, सम्यग्ज्ञानरूपी मंत्री जिसको प्राप्त है, ऐसा संवरयुक्त मुनिरूपी राजा कर्मरूपी शत्रुका नाश करके शाश्वत सिद्धिरूपी संपदाको प्राप्त करता है ।।१६४७।।

विशेषार्थ—निर्जरा भावनामें निर्जराके स्वरूप एव भेदादिका चिंतन चलता है । प्राचीन कर्मसमूहका एक देशरूपसे झड़ना, नष्ट होना निर्जरा है । इसके मूलतः दो भेद हैं—सविपाकनिर्जरा और अविपाकनिर्जरा । सविपाकनिर्जरा—कर्मोंका बंध होनेके अनंतर आबाधाकालके पूर्ण होते ही कर्म प्रवाहक्रमसे एक-एक निषेक रूप उदयमे आकर अपना फल देकर आत्मासे पृथक् होता है वह सविपाक निर्जरा है जो कि प्रतिसमय प्रत्येक ससारी जीवोके हो रही है । इसमे मोक्षमार्गमे कोई सहायता नही मिलती क्योकि प्राचीन कर्म जितना निर्जीण होता है उससे अधिक नवीन बधता जाता है । अविपाक-निर्जरा—यही निर्जरा मोक्षमार्गमे परम सहायक है यही मोक्षपुरीमे पहुचानेवाली है संपूर्ण कर्मोंका निर्जीर्ण होना ही तो मोक्ष है । जो कर्म अभी उदयके योग्य नही है

मोक्षावसानकल्याण भाजनेन शरीरिणा ।
आर्हतो भावनाधर्मो भावतः प्रतिपद्यते ॥१९४८॥
यशस्वी सुभगः पूज्यो विश्वास्यो धर्मतः प्रियः ।
सुसाध्यः सोऽन्यकार्येभ्यो मनोनिर्वृ लिकारकः ॥१९४९॥

उनको तपस्या द्वारा हठात् उदीर्ण करके अर्थात् उदयावलीमें लाकर असमयमें निर्जीर्ण कर देना अविपाक निर्जरा है तथा सजातीय अन्य प्रकृतिरूप कर्मोंमें संक्रमण कराके नष्ट करना अविपाक निर्जरा है क्योंकि बहुतसी कर्मप्रकृतियां सजातीय कर्मोंमें सक्रामित होकर परमुखसे ही नष्ट होती है । जैसे क्षपक श्रेणिमे अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषायें संज्वलन कषायमे संक्रामित होकर नष्टकी जाती है । इसीप्रकार अन्य कई प्रकृतियां पर मे संक्रामित होकर नष्ट होती है इसका सुंदर विवेचन लब्धिसार क्षपणासार, धवल आदि सिद्धांत ग्रथोमे पाया जाता है । मुमुक्षुजनोंको वहां देखना चाहिये ।

इस अविपाक निर्जराका हेतु अतरग बहिरग तपस्या है । तपरूपी अग्निमें जब तक आत्मारूप सुवर्ण पाषाण नही तप्त किया जाता तब तक वह सिद्धपरमात्मा रूप शुद्ध सुवर्ण नही बन सकता यह अकाट्य नियम है । तपोमें भी धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानरूप तप ही निर्जराका परमसाधन है–कारण है । इन दो ध्यानोंके बिना निर्जरा संभव नही है । व्रत नियम सयम समिति क्षमादिधर्म, परीषह विजय आदि की सफलता ध्यानके होनेपर होती है । बारह भावनाये ध्यानकी सिद्धिमें हेतु है । इसप्रकार निर्जराको परम उपादेयता, निर्जराका हेतु, निर्जराके भेद आदिका चितन करना निर्जरा अनुप्रेक्षा है ।

धर्म अनुप्रेक्षाका वर्णन—

अर्हत भगवान द्वारा प्रतिपादित धर्मकी भावनासे मोक्ष प्राप्ति तक सपूर्ण कल्याण परपरा प्राप्त होती है, अभ्युदयरूप देव एवं मनुष्यके सुख एवं अतिम निःश्रेयस–मोक्षसुख इन सभी कल्याण परंपराओं का भाजन जीव है, इस जीव द्वारा अर्हंत प्रणीत धर्मभावसे प्राप्त किया जाता है अर्थात् मोक्षके इच्छुक भव्यजीवोंको जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित जैनधर्म रत्नत्रयधर्मको सदा ही भावना करनी चाहिये एव उस धर्मको धारण करना चाहिये ॥१९४८॥

धर्मसे ही यह जीव यशको प्राप्त करता है, सुभग–सुंदर होता है, पूज्य होता है, सबके द्वारा विश्वास करने योग्य होता है, सर्वजन प्रिय होता है । धर्म ही मनको

धर्मः सर्वाणि सौख्यानि प्रदाय भुवनेऽङ्गिनम् ।
निधत्ते शाश्वते स्थाने निर्बाधसुखसंकुले ।।१६५०।।

ते धन्या ये नरा धर्मं जैनं सर्वसुखाकरम् ।
निरस्तनिखिलग्रंथाः प्रपन्नाः शुद्धमानसाः ।।१६५१।।

येऽवतोर्येन्द्रियाश्वेभ्यो नीता विषय कानने ।
धर्ममार्गं प्रपद्यन्ते ते धन्या नरपुंगवाः ।।१६५२।।

अहोद्वेषेण रागेण लोके क्रीडति सर्वदा ।
वीतरागे निरास्वादे बोधिर्धर्मेऽतिदुर्लभा ।।१६५३।।

तदीयं सफलं जन्म यदीयं वृत्तमुज्जवलम् ।
जन्ममृत्युजराकारिकर्मास्रवनिरोधकम् ।।१६५४।।

संतुष्ट–आल्हाद करता है । अन्य कार्य जो अर्थ उपार्जन आदि पुरुषार्थ है उनसे यह धर्मपुरुषार्थ सुसाध्य है सरल है ।।१६४६।।

इस ससारमे जोवको सभी सुखोंको देनेवाला धर्म ही है और इन संसारके सुखोको देकर अंतमें बाधारहित सुखोंसे पूर्ण ऐसे शाश्वत स्थान मोक्षमें भी धर्म ही पहुचाता है ।।१६५०।। शुद्ध मनवाले, संपूर्ण बाह्याभ्यतर परिग्रहोंके त्यागी वे नर-धन्य है जिन्होंने समस्त सुखोकी खान स्वरूप जैनधर्मको प्राप्त किया है ।।१६५१।।

बलवान इन्द्रियरूपी अश्वोद्वारा विषयरूपी वनके लिये जानेपर जो महापुरुष धर्ममार्गको पाप्त होते है वे नरपुंगव–मुनिराज इस संसारमें धन्य है अर्थात् किसी दुष्ट घोड़े द्वारा भयंकर जंगलमे पटक देनेपर जो सुरक्षित नगरके मार्गका अन्वेषण कर उस पर चल पड़ते है वे पुरुष श्रेष्ठ पुरुषार्थी समझे जाते है. वैसे इस मानवपर्यायमे मनको लुभाने विषयोके मध्य फंसनेपर भी जो महान् आत्मा जिनदोक्षा लेकर रत्नत्रयको आराधना करते हैं वे श्रेष्ठ माने जाते हैं ।।१६५२।। अहो ! इस संसारमे प्राय: सर्व ही जीव सर्वदा राग और द्वेषके साथ क्रीडा कर रहे हैं, रम रहे हैं, ऐसो स्थितिमे निरास्वाद वीतरागधर्ममें जीवोकी प्रीति होना अतिदुर्लभ है ।।१६५३।।

उसो मानवका जन्म सफल है जिसका उज्ज्वल चरित्र जन्म-मरण, जराके कारणभूत कर्मोके आस्रवको रोकनेवाला है ।।१६५४।।

यथा यथा विवर्द्धंते निर्वेदप्रशमादयः ।
प्रयात्यासन्नतां पुंसः सिद्धिलक्ष्मीस्तथा तथा ।।१६५५।।

छंद-रथोद्धता—

द्वादशात्मकतपोरयंत्रितं तत्वबोधरुचिवृत्तनेमिकम् ।
धर्मचक्रमनवद्यमार्हतं विष्टपे विजयतामनश्वरम् ।।१६५६।।

।। इति धर्मानुप्रेक्षा ।।

धर्मे भवति सम्यक्त्वज्ञानवृत्ततपोमये ।
दुर्लभा भ्रमतो बोधिः संसारे कर्मतोऽङ्गिनः ।।१६५७।।
संसारे देहिनोऽनंते मानुष्यमति दुर्लभं ।
समिलायुगसांगत्यं पयोधाविव दुर्गमे ।।१६५८।।

जैसे जैसे इस जीवके निर्वेद–वैराग्य, प्रशम आदिभाव वृद्धिगत होते जाते है वैसे-वैसे सिद्धि रूपी लक्ष्मी निकट आती जाती है ।।१६५५।। बारह प्रकारके तपरूपी आरोसे जो नियंत्रित है जो तत्त्वबोध और तत्त्वरुचि रूपो धुरासे युक्त है निर्दोष और अविनश्वर ऐसे अर्हन्त भगवानका धर्मचक्र इस विश्वमे सदा जयवन्त रहे ।।१९५६।।

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवानके द्वारा प्रतिपादित रत्नत्रयधर्म जीवोंको परम कल्याण का करनेवाला है, अनुपम है, महा मगलस्वरूप है परम शांतिकारक आत्म स्वभावरूप है, यह एक महान कल्पवृक्षके समान फलदायक है । ऐसा चिंतन करना धर्म अनुप्रेक्षा है ।

धर्म अनुप्रेक्षाका वर्णन समाप्त ।

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा—

कर्मके वशसे ससारमे भ्रमण करते हुए इस जोवके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपरूप धर्ममे बोधि अत्यत दुर्लभ है ।।१६५७।। इस अनत अपार संसारमें मनुष्य पर्याय मिलना अत्यंत दुर्लभ है, जैसे अपार सागरके एक किनारेसे जुवा और दूसरे किनारेसे उसकी लकड़ियां डाल दी जांय और वे दोनों पदार्थ उस अपार जलराशिमे बहते बहते एकत्र आकर जुवामें लकड़ी घस जाना अत्यत कठिन है वैसे ही चौरासी लाख योनि और साढ़े निन्यानवे लाख करोड़ कुलोंमें मानव पर्यायका पाना महादुर्लभ है ।।१६५८।।

प्राचुर्यं गर्ह्यभावानां महत्त्वं जगतोऽङ्गिनाम् ।
विषसे योनिबाहुल्यं मानुष्यं जन्मदुर्लभं ।।१९५९।।

देशो जातिः कुलं रूपमायुर्नीरोगता मतिः ।
श्रवणं ग्रहणं श्रद्धा नृत्वे सत्यपि दुर्लभम् ।।१९६०।।

संसारमें जीवोंके निंदनीय अशुभ भावोंकी अत्यधिक प्रचुरता है अशुभभावोंसे अशुभ ही एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय नरक आदि संबधो योनियोंकी प्राप्ति होती है, ऐसे कुयोनि बहुलताके मध्यमे मानुष जन्म अतिदुर्लभ है ।।१९५९।।

विशेषार्थ—तीससौ तैंतालोस राजू घन प्रमाण इस लोकमें सर्वत्र तिर्यंच एकेन्द्रिय पर्यायकी बहुलता है, विकलेन्द्रिय आदि भी बहुत है । नारको और देवोंकी अपेक्षा भी मनुष्योकी सख्या अति अल्प है अर्थात् तिर्यंचमें एकेन्द्रियोंकी सख्या अनत है । विकलेन्द्रिय असंज्ञी एवं सज्ञी तिर्यंचोंकी सख्या असंख्यात है । नारकी और देवोंकी संख्या भी असख्यात है । मनुष्य तो सख्यात ही है । क्षेत्र भी तिर्यंचका सर्वलोक है । नारको देवोके क्षेत्र भी क्रमशः छह और सात राजू प्रमाण है किन्तु मनुष्योका क्षेत्र केवल अढाई द्वोप प्रमाण है, अतः मनुष्य जन्म प्राप्त होना दुर्लभ है ।

दुर्लभ मनुष्य पर्याय मिलनेपर भी जिनधर्मयुक्त देश, उच्च जाति, कुल, सुंदर रूप, दीर्घायु, नीरोग शरीर, हेयोपादेय बुद्धि, जिनधर्म श्रवण, ग्रहण और श्रद्धा अत्यंत दुर्लभ है ।।१९६०।।

विशेषार्थ—मनुष्य पर्याय मिलनेपर भी श्रेष्ठ जिनधर्मका प्रचार जिसमे है ऐसा देश मिलना दुर्लभ है क्योंकि धर्मज्ञतासे रहित यवन शक आदि मनुष्योंके देशोंकी अधिकता है । नीचकुल और जातिकी सर्वत्र बहुलता है, उच्चकुल उच्चजातिका मिलना दुर्लभ है क्योकि प्रायः अज्ञ प्राणो परनिंदा और आत्मप्रशसा करके नीच गोत्रका ही बंध किया करते हैं । आयुको पूर्णता मिलना कठिन है । सुदर रूप मिलना दुर्लभ है क्योंकि हिंसादि पाप क्रियासे अशुभनामकर्मका उपार्जन करके जोव अधिकतर विरूप ही होते हैं । कभी कदाचित् जीव गुरुसेवा आदिसे पुण्योपार्जन करके रूपवान् बनता है । तो निरोग काया मिलना सुलभ नहीं है, परजीवोंको पीडा सताप आदिको देकर मूर्ख प्राणी असाता कर्मका बध करता है उससे रोगी काया प्रायः रहती है । समीचीन तत्त्वोंको

देशादिष्वपि लब्धेषु दुर्लभा बोधिरंजसा ।
कुपथाकुलिते लोके रागद्वेषवशीकृते ॥१९६१॥

इत्थं यो दुर्लभां बोधिं लब्ध्वा तत्र प्रमाद्यति ।
रत्नपर्वतमारुह्य ततः पतति नष्टधीः ॥१९६२॥

जाननेकी बुद्धि करोड़ों असंख्य भवोंमें दुर्लभ है, यह जीव ज्ञानी जनोंको दूषण लगाना, सत्यज्ञानमें बाधा करना इत्यादि दुर्भावोंसे तीव्रमति श्रुतावरणका बंध करता है अत: ऐसी विवेक बुद्धिका मिलना सुलभ नही होता । बुद्धिके होनेपर भी धर्मश्रवणका मिलना दुर्लभ है क्योकि प्रथम तो परके हितोंका उपदेश देनेवाले यतिजनोंका पाया जाना ही मुश्किल है, फिर गुणोंमें द्वेष करनेवाले तथा आलसीजन मुनिजनोंके निकट ही नहीं आते, अत: धर्मश्रवण सुलभ नहीं है । तत्त्व श्रवणके अनंतर भी उसका ग्रहण कठिन होता है—समझना कठिन होता है क्योंकि तत्त्वकी सूक्ष्मता होनेसे अथवा आत्माका उस तरफ उपयोग नहीं लगनेसे तत्त्व समझनेमें नही आता । ग्रहण—समझ लेनेपर भी उन तत्त्वो पर श्रद्धा होना—सम्यग्दर्शन होना अत्यंत कठिन है क्योकि कालादि पांचो लब्धियोकी प्राप्ति बिना सम्यक्त्व नही होती और इन लब्धियोंकी प्राप्ति अति दुर्लभ है । इसप्रकार उत्तरोत्तर दुर्लभ ऐसी वस्तुओंको प्राप्ति मुझे हुई है । अब धर्माचरणमें प्रमादी नही होना चाहिये इत्यादि विचार करना बोधि दुर्लभ भावना है ।

देश, जाति, कुल आदि सपूर्ण दुर्लभ वस्तुओंके प्राप्त होनेपर भी जिनदीक्षा रूप बोधि या रत्नत्रयकी पूर्णता या समाधिमरण रूप बोधि या धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान रूप बोधि रागद्वेषके वशमें हुए तथा खोटे मार्ग—मिथ्यादृष्टिके मार्गसे भरे हुए इस लोकमें महादुर्लभ है ॥१९६१॥ जो मुनि इसप्रकारकी दुर्लभ बोधिको प्राप्त करके पुन: उसमें प्रमाद करता है वह मूर्खबुद्धि रत्नोंके पर्वतपर आरोहण करके उससे गिरता है । अर्थात् जैसे कोई पुरुष बड़ी कठिनाईसे तो पहले रत्नोका पर्वत प्राप्त करता है फिर उस अति उत्तुंगपर्वत पर बहुत मुश्किलसे चढ़ता है, इतनेपर यदि प्रमादी बन वहांसे गिरे तो वह उसकी मूर्खता है वैसे कोई भव्य मुमुक्षु अत्यंत कठिनाईसे सम्यग्दर्शन आदि को प्राप्त करता है तथा बड़ी कठिनाईसे उसके जिनदीक्षाके भाव होते हैं, जिनदीक्षाको—रत्नत्रयको पाकर भी वह प्रमाद करे तो उसकी यह महामूढ़ता ही मानी जावेगी ॥१९६२॥ और एकबार प्रमादवश बोधि नष्ट होगयी तो पुन: प्राप्त होना इस संसारमें

नष्टा प्रमादतो बोधिः संसारे दुर्लभा भवेत् ।
नष्टं तमसि सद्रत्नं पयोधौ लभ्यते कथम् ।।१९६३।।

छंद-मालिनी—

विपुलसुखफलानां कल्पने कल्पवल्ली भवसरणतरूणां कल्पने या कुठारी ।
भवति मनसि शुद्धा सा स्थिरा शुद्धबोधिः फलममलमलंभि प्राणित-
व्यस्य तेन ।।१९६४।।

।। इति बोधिः ।।

द्वादशापीत्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानावलंबनम् ।
नालंबनं विना चित्तं स्थिरतां प्रतिपद्यते ।।१९६५।।

महादुर्लभ होगी । अंधकार स्वरूप समुद्रके मध्यमें रत्नके गिर जानेपर वह कैसे मिल सकता है ? नही मिल सकता ।।१९६३।।

विपुल सुखरूपी फलोंको देनेमें जो कल्पलताके समान है और ससाररूपी वनके वृक्षोंको काटनेमें कुल्हाड़ीके समान है ऐसी यह शुद्ध बोधि जिसके मनमें स्थिरताको प्राप्त होती है उस महामुनिके बोधि द्वारा मुक्तिरूपी निर्दोष फल प्राप्त हुआ ऐसा जानना–समझना चाहिये ।।१९६४।।

बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा समाप्त ।

बारह भावनाओंका उपसंहार करते हैं—

ये अनित्व अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षायें धर्म्यध्यानका आलबन है, आलंबनके बिना मन स्थिरताको प्राप्त नही होता है ।।१९६५।।

भावार्थ—ध्यानमे ध्येय अवश्य होता है तथा ध्यानकी पहली अवस्था चिंतन-रूप होती है । चिंतनके लिये विषय–अवलबन चाहिये । यहांपर प्रकृतमें धर्म्यध्यानका वर्णन चल रहा है, धर्म्यध्यानका आलबन द्वादश अनुप्रेक्षा है इनके द्वारा ध्यानका इच्छुक पुरुष चित्तकी एकाग्रताका अभ्यास करता है ।

इसप्रकार धर्म्यध्यानका आलंबन रूप भावनाओंका कथन करके आगे यह कहते हैं कि ध्यानके अवलंबन इतने ही नही है—

आलंबनैर्भृतो लोको ध्यातुकामस्य योगिनः ।
यदेवालोकते सम्यक् तदेवालंबनं मतम् ।।१९९६।।

धर्मध्यानमति क्रांतो यदा भवति शुद्धधीः ।
शुद्धलेश्यस्तदा ध्यानं शुक्लं ध्यायति सिद्धये ।।१९९७।।

गद्यं-पृथक्त्ववितर्कवीचारैकत्ववितर्कावीचारसूक्ष्मक्रिया समुच्छिन्नक्रियाणि त्र्येकयोगकाययोगायोगध्येयानि चत्वारि शुक्लानियथार्थानि ।।१९९८।।

ध्यानके इच्छुक मुनिके लिये यह लोक आलंबनोंसे भरा पड़ा है, योगीजन जिस पदार्थको सम्यक्तया देखते हैं वही पदार्थ उनके ध्यानका आलंबन बन जाता है ।।१९९६।।

भावार्थ—निर्विकार भावसे ममत्व भावसे रहित होकर जो कोई वस्तु देखी जाय वही ध्यानका ध्येय हो सकता है, किसी भी जीवादि तत्त्वोंपर मन केन्द्रित किया जा सकता है ।

इसप्रकार धर्म्यध्यानका कथन पूर्ण हुआ ।

शुक्लध्यानका वर्णन—

जब शुद्ध बुद्धिवाला योगी धर्म्यध्यानको पूर्ण करके आगे बढ़ता है तब मोक्षके लिये शुक्ल लेश्यासे युक्त हो शुक्लध्यानको ध्याता है ।।१९९७।।

अब गद्य द्वारा शुक्लध्यानके नाम आदि बतलाते है—

पृथक्त्व वितर्क वीचार, एकत्व अवितर्क वीचार, सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति और समुच्छिन्न क्रिया ये चार शुक्लध्यानके भेद हैं । इनमें पहला शुक्लध्यान मनोयोग आदि तीनों योगों द्वारा ध्याया जाता है, दूसरा तीन योगोंमेंसे किसी एक योग द्वारा ध्याया जाता है, तीसरा केवल काययोग द्वारा ध्याया जाता है एवं अंतिम शुक्लध्यान योग रहित अयोग द्वारा संपन्न होता है ।

शुक्लध्यान पीतादि लेश्यावालेके न होकर केवल शुक्ल लेश्यावालेके ही होता है तथा इसमें अत्यंत शुक्ल–पवित्र परिणाम अपूर्व अपूर्व परिणाम होते हैं, आत्मा

वितर्को भण्यते तत्र श्रुत, ध्यानविचक्षणैः ।
अर्थव्यंजनयोगानां वीचारः सक्रमो बुधैः ॥१६६९॥

तत्र द्रव्याणि सर्वाणि ध्यायता पूर्ववेदिना ।
भेदेन प्रथमं शुक्लं शांतमोहेन लभ्यते ॥१९७०॥

को अत्यंत शुचि–भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्मरूप मैलसे रहित शुद्ध करनेवाला यह ध्यान है अतः सार्थक नामवाला यह शुक्लध्यान है "शुचिगुण योगात् शुक्लं" ॥१९६८॥

पहले ध्यानका शब्दार्थ कहते हैं—

पृथक्त्व मायने नाना–अनेक होता है । ध्यानमें विचक्षण पुरुषोंने वितर्कका अर्थ श्रुत किया है, अर्थोंका, व्यंजनोंका और योगोंका परिवर्तन होना वीचार है ऐसा बुद्धिमान् द्वारा प्रतिपादन किया गया है ॥१९६९॥ चौदह पूर्वोंके पारगामी मुनिराज द्वारा जीवादि सभी द्रव्यों को ध्याया जाता है, इन द्रव्योंको ध्याते हुए उपशांत मोह-वाले मुनिके पहला शुक्लध्यान होता है ॥१९७०॥

विशेषार्थ—पृथक्त्व वितर्क वीचार नामका पहला शुक्लध्यान है । पृथक्त्व शब्दका अर्थ है नाना अनेकपना, श्रुतज्ञान अथवा श्रुतज्ञानका विषयभूत पदार्थ या शब्दश्रुतको वितर्क कहते हैं । अर्थ–द्रव्य, व्यजन-शब्द-सूत्र आदि रूप आगम वाक्य और मनोयोग आदि योग इन तीनोका परिवर्तन होना वीचार शब्दका अर्थ है । अर्थात् पहले शुक्लध्यानमे ध्येयभूत जो वस्तु है, जीवादि पदार्थ है, उनका परिवर्तन होता है, जिस आगम वाक्यका आलंबन लिया था उसका भी परिवर्तन होता है अर्थात् शुक्लध्यानमें मुनिराज पहले जीव पदार्थको चिंतनका–ध्यानका विषय बनाकर पुनः उसे छोड़कर अन्य पदार्थका ध्यान करने लग जाते हैं तथा पहले किसी विवक्षित आगम वाक्यका आलंबन लेकर पुनः उसको छोड अन्य किसी आगम वाक्यका आलबन लेते हैं । इसी परिवर्तनको अर्थ और व्यंजनोंकी सक्रान्ति रूप वीचार कहते हैं तथा वे मुनिराज मनोयोग युक्त होकर ध्यानमें स्थित होकर पुनः उसे छोड वचन-योग आदिमें युक्त हो ध्यान करने लगते है इसतरह अर्थ, व्यजन और योग इन तीनोंका परिवर्तन जिसमें हो वह पहला शुक्लध्यान है । किन्तु ध्यान रहे कि यह अर्थ, व्यंजन आदिका

ध्यायता पूर्ववक्षेण क्षीणमोहेन साधुना ।
एकं द्रव्यमभेदेन द्वितीयं ध्यानमाप्यते ॥१९७१॥

परिवर्तन बुद्धिपूर्वक नहीं होता है । इस प्रथम ध्यानको मुख्यतया चतुर्दश पूर्वधट मुनि ध्याते हैं । इसमें श्रुतज्ञान सहारा अवश्य रहता है इसलिये तथा श्रुतमें कथित अर्थका सहारा रहता है अथवा द्रव्यश्रुत जो शब्दात्मक है उसकी सहायता रहती है अतः यह ध्यान वितर्कयुक्त कहा जाता है इसप्रकार पृथक्-नाना वितर्क और अर्थादिक जिसमें होते है वह पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान कहलाता है । इस ग्रंथमें प्रथम शुक्लध्यानके स्वामी उपशांत मोह नामके ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज होते है ऐसा बताया है । राजवार्तिक आदि ग्रंथोंमें सातिशय अप्रमत्तसे उपशांत मोह तकके गुणस्थानवर्ती मुनिराज इसके स्वामी निर्दिष्ट किये गये है । अस्तु ! यह ध्यान कर्मकाष्ठ राशिको भस्म करनेमें अग्निवत् है ।

दूसरे शुक्लध्यानके स्वामी एवं स्वरूपका कथन करते हैं—

क्षीणमोह नामके बारहवें गुणस्थानवर्ती चतुर्दश पूर्वधट मुनिराज द्वारा दूसरा एकत्व वितर्क अवीचार नामा शुक्लध्यान ध्याया जाता है । इसमें किसी एक विवक्षित अर्थ-द्रव्यका अभेदरूपसे आलंबन रहता है ॥१९७१॥

विशेषार्थ—दूसरे शुक्लध्यानका नाम है एकत्व वितर्क अवीचार, एकत्व अर्थात् एकरूप, वितर्क अर्थात् यह पूर्वज्ञान धारी छद्मस्थ मुनीश्वर द्वारा ध्याया जाता है अतः श्रुतके आलंबनसे युक्त है । इसमें अर्थ व्यंजन और योगोंकी सक्रांति-परिवर्तन-बदलना नहीं होता अतः वीचार रहित अवीचार है । आशय यह है कि यह ध्यान रत्नों की दीपशिखावत् अकंप अडोल है बदलाहटसे रहित है । किसी एक श्रुत वाक्यका आश्रय लेकर यह प्रवृत्त होता है । योग भी इसमें कोई एक ही रहेगा । इसप्रकार ध्येयके परिवर्तन रहित यह एकत्ववितर्क शुक्लध्यान है । इस ध्यान द्वारा क्षीणमोह नामके बारहवे गुणस्थानवर्ती योगीश्वर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय नामा शेष तीन घातिया कर्मोंको भस्मसात् कर डालते है । मोहनीय कर्मका निर्मूलन तो प्रथम शुक्लध्यान द्वारा हो चुकता है [अथवा इस ग्रंथ तथा अन्य धवल आदि ग्रंथकी अपेक्षा मोहनीय कर्मका नाश धर्म्यध्यान द्वारा माना गया है ।]

सर्वभावगतं शुक्लं विलोकितजगत्त्रयं ।
सर्वसूक्ष्मक्रियो योगी तृतीयं ध्यायति प्रभुः ।।१६७२।।

अयोगकेवली शुक्लं सिद्धिसौधमियासया ।
चतुर्थं ध्यायति ध्यानं समुच्छिन्नक्रियो जिनः ।।१६७३।।

तृतीय शुक्लध्यानका स्वरूप एव स्वामी–सर्वद्रव्य और सर्वपर्यायगत तथा जगत्त्रयके विलोकन स्वरूप तृतीय शुक्लध्यान है, सूक्ष्म हो गयी है वचन और कायकी क्रिया जिसके ऐसे सयोगी जिनेन्द्र प्रभु इस ध्यानके स्वामी हैं ।।१६७२।।

विशेषार्थ—सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति नामका यह तीसरा शुक्लध्यान है । यह तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरहंत सर्वज्ञ देवके होता है । सर्वज्ञदेव सर्वद्रव्य सर्व पर्यायोंको जगत्त्रय एवं कालत्रयको युगपत् जानते देखते हैं अतः इस ध्यानको सर्वद्रव्य पर्यायगत कहा है । यह ध्यान तेरहवें गुणस्थानके अंतिम अन्तर्मुहूर्त कालमें होता है उससमय संपूर्ण योग निरोध अर्थात् दिव्यध्वनि देशदेशमें विहार रूप क्रियायें समाप्त हो चुकती हैं । इसतरह इसमें बाह्य क्रियारूप योगका निरोध रहता है । तथा यहां मनोवर्गणाका आलंबन लेकर होनेवाला मनोयोग और वचन वर्गणाका आलंबन लेकर होनेवाला वचन-योग भी नहीं रहता केवल सूक्ष्मकाय योग है । सूक्ष्मक्रियाका अप्रतिपात–अभी अभाव नहीं है, सूक्ष्म एकमात्र काय योगरूप क्रियाका जिसमे अस्तित्व है वह सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति है इसप्रकार यह अन्वर्थ नामवाला तृतीय शुक्लध्यान है ।

चतुर्थ शुक्लध्यानके स्वामी एवं स्वरूप—

नष्ट हो चुकी काययोगरूप क्रिया जिनकी ऐसे तथा सिद्धिरूप प्रासादको प्राप्त करने वाले अयोगी जिन–चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली अरहंतदेव चौथे व्युपरत क्रिया नामके शुक्लध्यानको ध्याते हैं ।।१६७३।।

विशेषार्थ—अयोगकेवली जिन चतुर्थ शुक्लध्यानके स्वामी हैं । इस ध्यानमें संपूर्ण योगरूप क्रिया नही रहती अतः "व्युपरतक्रिया" यह सार्थक नाम है । इससे अघातिया कर्मोंकी पच्चासी प्रकृतियां नष्ट होती हैं । इसतरह समस्त अठारह हजार शीलोंके स्वामी, चौरासी लाख उत्तरगुणोंसे परिपूर्ण अयोगी जिन सर्व कर्मभारसे रहित होकर अष्टम ईषत् प्राग्भार-नामा पृथिवी–सिद्ध शिलापर जाकर सदा-सदाके लिये

इत्थं यो ध्यायति ध्यानं गुणश्रेणिगतः शुभम् ।
निर्जरां कर्मणामेष क्षपकः कुरुते पराम् ।।१६७४।।

तपस्यवस्थितं चित्रं चिरं निर्ध्यानसंवरम् ।
ध्यानेन संवृतः क्षिप्रं जयति क्षपकः स्फुटम् ।।१६७५।।

आयुधं योगिनो ध्यानं कषाय समरे परम् ।
निर्ध्यानः संस्तरे, युद्धे निरस्त्र भटसन्निभः ।।१६७६।।

विराजमान होते है । जो सदा अनंत अव्याबाध, निर्द्वन्द्व, परिपूर्ण सुख आनंदमे मग्न रहते हैं ।

इसप्रकार शुक्लध्यानका वर्णन पूर्ण हुआ । आगे ध्यानका माहात्म्य बतलाते हैं—

इसप्रकार गुणश्रेणीको प्राप्त जो साधु परम प्रशस्त शुक्लध्यानको ध्याता है वह क्षपकयति कर्मोका महान् निर्जराको करता है ।।१६७४।।

जो मुनि ध्यानरूप संवरसे रहित है और चिरकाल तक अनेक प्रकारके अनशन आदि तप करता है उसको ध्यानसे संवर करनेवाला क्षपक मुनि शीघ्र ही जीतता है । यह निश्चित है । अर्थात् कोई साधु ध्यान नही करता केवल बाह्य तपश्चरणमें लगा रहता है वह चाहे करोड़ों वर्ष तप करनेवाला है किन्तु उससे ध्यानको करनेवाला साधु अधिक श्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि बाह्य तपके द्वारा जो निर्जरा करोड़ों वर्षोंमें भी नही हो पाती वह निर्जरा ध्यानस्थ साधुके अन्तर्मुहूर्तमें हो जाती है ।।१६७५।।

कषायका नाश करनेवाले समरभूमिमें योगीरूप सुभटका सर्वोत्कृष्ट शस्त्र-ध्यान है । जो सस्तरमें स्थित क्षपक ध्यान रहित है, जिसके पास ध्यानरूप शस्त्र नहीं है वह क्षपक मुनि उस भट–योद्धाके समान है जो युद्धभूमिमें तो आया है किन्तु शस्त्र–तलवार, धनुष आदिसे रहित है । अर्थात् जैसे युद्धमे उतरे सैनिकके पास शस्त्र नहीं हो तो उसका युद्धमें आना व्यर्थ है, वह शत्रुको जीत नहीं सकता वैसे समाधिके इच्छुक संस्तरमें स्थित क्षपकके पास यदि धर्म्यध्यान आदिरूप शस्त्र नहीं है तो वह कषायरूप शत्रुका एवं कर्मरूप शत्रुका नाश नही कर सकता ।।१९७६।।

कषायसंयुगे ध्यानं मुमुक्षोः कवचो दृढः ।
ध्यानहीनस्तदा युद्धे निःकंकट भटोपमः ॥१६७७॥

ध्यानं करोत्यवष्टम्भं क्षीणचेष्टस्य योगिनः ।
दंडः प्रवर्तमानस्य स्थविरस्येव पावनः ॥१६७८॥

बलं ध्यानं यतेर्धत्ते मल्लस्येव घृतादिकम् ।
समोऽपुष्टेन मल्लेन ध्यानहीनो यतिर्मतः ॥१६७९ ।

वज्रं रत्नेषु गोशीर्षं चदने च यथा मतम् ।
ज्ञेयं मणिषु वैडूर्यं तथा ध्यानं व्रताविषु ॥१६८०॥

कषायके साथ युद्ध करनेमें मुमुक्षु मुनिके यह ध्यान दृढ कवचके समान है, जो ध्यानसे रहित मुनि है वह कवच रहित योद्धाके समान है । जैसे कवच रहित भट युद्धमें शत्रुके बाण, तलवार आदिके प्रहारसे अपनी रक्षा नही कर सकता वैसे कषायका नाश करनेमे उद्यमी क्षपक सुभट यदि ध्यानरूप कवचसे रहित है ध्यान नही करता है तो वह कषायशत्रुके शस्त्र प्रहारको रोक नही सकता । अर्थात् कषायको जीतनेका उत्तम उपाय ध्यान है ॥१६७७॥ मन, वचन और शरीरसे जो क्षीण हो चुका है, देव वदना आदि क्रिया करनेमें असमर्थ है ऐसे क्षीणकाय योगीके ध्यान सहायताको करता है । अर्थात् जो शरीर द्वारा आवश्यक क्रिया करके चारित्र पालन या कर्मनिर्जरा करनेमें असमर्थ है वह ध्यान द्वारा उक्त कार्य करता है अतः उसके लिये ध्यान सहायभूत है । जैसे बूढे व्यक्तिके गमनादि क्रियामें दण्डा—लाठी सहायभूत है ॥१६७८॥

जैसे मल्ल पुरुषका बल घी आदि है, घी मल्लके शक्तिको करता है बढाता है । वैसे साधुके बलको ध्यान करता है । जो मल्ल घी आदिसे पुष्ट बलवान नही हुआ है वह बाहुयुद्धमें हार जाता है वैसे जो साधु ध्यानके बलसे हीन है वह कर्मशत्रुको नही जीत सकता ॥१६७९॥

जैसे रत्नोमे श्रेष्ठ रत्न हीरा है, चन्दनमें श्रेष्ठ चंदन गोशीर्ष है, मणियोमे श्रेष्ठ मणि वैडूर्य है वैसे व्रत सयम, तप आदिमे श्रेष्ठ ध्यान है ऐसा जानना चाहिये ॥१९८०॥

कषाय व्यसने मित्रं कषायव्यालरक्षणम् ।
कषायमारुते गेहं कषायज्वलने ह्रदः ।।१९८१।।

कषायार्कातपे छाया कषायशिशिरेऽनलः ।
कषायारिभये त्राणं कषायव्याधिभेषजम् ।।१९८२।।

तोयं विषयतृष्णायामाहारो विषयक्षुधि ।
जायते योगिनो ध्यानं सर्वोपद्रवसूदनम् ।।१९८३।।

आराधनावबोधार्थं योगी व्यावृत्तिकारणम् ।
तदा करोति चिह्नानि निश्चेष्टो जायते यदा ।।१९८४।।

यह ध्यान कषायरूप कष्टके समयमें मित्रके समान है, कषायरूप जगली श्वापदोंसे रक्षा करनेवाला यही ध्यान है, ध्यान कषायरूप तूफान, आंधी वायुसे बचानेवाला घरके समान है तथा कषायरूप अग्निको शांत करनेके लिये सरोवर है ।।१९८१।। यह ध्यान कषायरूप सूर्यके घाम–आतपसे बचनेके लिये छायावत् है । कषायरूप शिशिर-शीतको बाधाको नष्ट करनेमें अग्निके समान है । कषायरूप शत्रुसे रक्षा करनेवाला यह ध्यान ही है एवं कषायरूप रोगको औषधि ध्यान ही है ।।१९८२।।

यह ध्यान विषय तृषाको शांत करनेके लिये मिष्ट जलके समान है, विषयरूप क्षुधा लगनेपर मुनिजन इस ध्यानरूप आहारको ही ग्रहण करते हैं, अधिक क्या कहूं ? यह ध्यान योगीजनोंके समस्त उपद्रवोको शांत करनेवाला है, ऐसा निश्चयसे जानो ।।१९८३।।

आगे यह बताते हैं कि सस्तरमें आरूढ़ क्षपक अत्यंत क्षीणकाय होता है तब मैं ध्यानमें हूं, सावधान हूं, मेरा मन प्रसन्न है इत्यादि बातोंको मुखसे कहनेमें असमर्थ होनेसे चिह्न–इशारेसे उक्त बातको बताता है–जब क्षपक मुनि निश्चेष्ट–शरीर और मनकी चेष्टा करनेमें शक्ति रहित होता है तब मैं चार प्रकारकी आराधनामें तत्पर हूं इस बातको निर्यापकाचार्यको ज्ञात करानेके लिये आगे कहे जानेवाले चिह्नोंको करता है अथवा यह क्षपक सावधान है या नहीं ऐसा आचार्यको संशय हो जाय और वे क्षपकको प्रश्न करे तो उनकी शंकाको दूर करनेके लिये क्षपक चिह्न विशेष–इशारे विशेषसे अपनी आराधनाकी लीनताको प्रगट करता है ।।१९८४।। आचार्य द्वारा

हुंकारांगुलिनेत्रभ्रू मूर्द्धकंपांजलिक्रियाः ।
यथासंकेतमभ्यग्रः क्षपकः कुरुते सुधीः ।।१९८५।।
संकेतवंतः परिचारकास्ते चेष्टाविशेषेण विदन्ति साधोः ।
आराधनोद्योगमवेतशास्त्रा धूमेन चित्रांशुमिव ज्वलन्तम् ।।१९८६ ।
।। इति ध्यानम् ।।

इत्थं समत्वमापन्नः शुभध्यानपरायणः ।
आरोहति गुणश्रेणीं शुद्धलेश्यो महामनाः ।।१९८७।।
बाह्याभ्यंतरभेदेन द्वेधा लेश्या निवेदिता ।
शुभाशुभविभेदेन पुनर्द्वेधा जिनेश्वरैः ।।१९८८।।

जाग्रति–सावधानीके विषयमें पूछे जानेपर ज्ञानी क्षपक मुनि हुंकारसे, हाथ जोड़नेसे, भौंहे उठाकर, मस्तक हिलाकर, हाथकी पांच अंगुलियां दिखाकर आचार्यको अपनी प्रसन्नता, ध्यानकी लीनताको बतलाता है। यथायोग्य संकेतको वह क्षपक करता है जिससे आचार्य उसकी सावधानी समझ जाँय ।।१९८५।। संकेतको जाननेवाले एव शास्त्रके ज्ञाता परिचारक साधु समुदाय तथा निर्यापक क्षपक साधुके द्वारा किये गये चिह्न–चेष्टा विशेषसे उसके आराधनाके उद्योगको जान लेते हैं। जैसे धूम द्वारा जाज्वल्यमान अग्निको जाना जाता है ।।१९८६।।

इसप्रकार ध्यान नामका सैंतीसवां अधिकार समाप्त हुआ ।

लेश्यानामा अड़तीसवां अधिकार—

इसप्रकार बारह भावनाओंका जिसने चिंतन किया है, ध्यानका स्वरूप जाना है ऐसा क्षपकराज समताको प्राप्त होता है तथा शुभध्यानमे परायण वह महामना साधु शुद्ध लेश्या–पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या युक्त हो गुणश्रेणिका आरोहण करता है–आगे-आगे अधिक-अधिक विशुद्धिको प्राप्त करता है ।।१९८७।।

लेश्याके भेद—

जिनेश्वर द्वारा लेश्याके दो भेद कहे गये है, बाह्य लेश्या और अभ्यंतर लेश्या अर्थात् द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या पुनः उन दोनोंके शुभ और अशुभके भेदसे दो दो भेद होते हैं ।।१९८८।। कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या ये तीन लेश्यायें

कृष्णा नीला च कापोती तिस्रो लेश्या विगर्हिता ।
धीरो वैराग्यमापन्नः स्वैरिणीरिव मुंचते ॥१६८६॥

अशुभ–गर्हित हैं । वैराग्यको प्राप्त हुए धीरपुरुष इन तीन लेश्याओंको छोड़ देते हैं, जैसे दुराचारिणी स्वच्छंद स्त्रीको धीर पुरुष छोड़ते हैं ॥१६८६॥

विशेषार्थ—कषायसे अनुरंजित योग प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं । यह लेश्याका सामान्य लक्षण है । यह लक्षण भाव लेश्यका है । द्रव्य लेश्या तो शरीरके वर्ण रूप हैं । द्रव्य लेश्याके छह भेद शरीरकी कांतिरूप है उसका यह कथन नहीं है । यहां भाव लेश्याका कथन है । कृष्ण, नील, कापोत. पीत, पद्म और शुक्ल ऐसे छह भेद लेश्याके जानने । इन छहों लेश्या वाले विभिन्न व्यक्तियोंके परिणाम–भाव किसप्रकार विभिन्न होते हैं इसके लिये प्रसिद्ध उदाहरण है कि–छह पथिक देशान्तरमें जा रहे थे, जंगलमें मार्ग भूल गये । क्षुधासे पीड़ित होकर इधर-उधर भटक रहे थे कि कहीं पर कुछ भूख दूर करनेका साधन बने । इतनेमें एक फलोंसे भरा वृक्ष दिखाई देता है उस वृक्षपर छह पुरुषोंकी एक साथ दृष्टि पड़ती है और सबके मनमें पृथक्-पृथक् रूपसे इस तरह विचार आते हैं । एक पुरुष सोचता है कि अहो ! अच्छा हुआ यह वृक्ष फलोंसे भरा है मैं इसको जड़से काटकर फलोको खाबूंगा । दूसरा व्यक्ति विचारता है इस वृक्षकी बड़ो-बड़ी शाखाये काटकर फल खाना चाहिये । तोसरा चिंतन कर रहा है कि छोटी-छोटी डालियां तोड़कर फल खावूंगा । चौथा पुरुष सोचता है कि फलोके गुच्छे तोड़कर भक्षण करना चाहिये । पाचवां व्यक्ति विचारता है कि वृक्षमें जो जो फल पके हैं उन्हे ही तोडूंगा अन्यको नही । और छटा महामना सोच रहा है कि वृक्षके नीचे भूमिपर फल पड़े हैं स्वत: गिर गये हैं उन्हें खाना है । सबने एक साथ वृक्षको देखा है सबको भूख लगी है, सभी थके हुए है किन्तु भाव भिन्न-भिन्न हो रहे हैं । जो वृक्षको मूलत: काटनेके भाव कर रहा है वह कृष्ण लेश्यावाला है । क्योकि इसके भाव अत्यधिक कठोर है अत: काला मनवाला–कृष्ण लेश्यावाला है । वृक्षको बड़ी शाखाये काटनेकी भावना वाला नीललेश्या संसक्त है, पूर्वकी अपेक्षा आंशिक कठोरता कम है । छोटी डालियां काटनेकी सोचनेवाला कापोत लेश्यावाला समझना । गुच्छे तोड़नेकी इच्छावाला पीत लेश्यायुक्त है । पके फलोंको तोड़नेका इच्छुक पद्म लेश्यावाला माना जायगा एवं भूमिगत फलोंको लेनेका वांच्छक श्रेष्ठ शुक्ल लेश्यावाला समझना चाहिये ।

इन लेश्याओके धारक पुरुषोंके चिह्न विस्तारपूर्वक इसप्रकार जानना चाहिये–जो दुराग्रही है, दुष्ट, क्रोधादि कषायोंकी तीव्रता युक्त, सतत वैरभाववाला कलहप्रिय

तेजः पद्मा तथा शुक्ला तिस्रो लेश्याः प्रियंकराः ।
निर्वृत्तिमिव गृह्णाति निर्बाधसुखदायिनीं ।।१९९०।।

कुरुष्व सुखहेतूनां सल्लेश्यानां विशोधनम् ।
यत्संगानामशेषाणां सर्वथापि विवर्जनम् ।।१९९१।।

लेश्यानां जायते शुद्धिः परिणामविशुद्धितः ।
विशुद्धिः परिणामानां कषायोपशमे सति ।।१९९२।।

मंदी भवन्ति जीवस्य कषायाः संगवर्जने ।
कषाय बहुलः सर्वं गृह्णीते हि परिग्रहम् ।।१९९३।।

है वह कृष्ण लेश्यावाला व्यक्ति है । बुद्धिहीन, छलकपटी, विषयलंपट, आलसी, अधिक निद्रालु, धन धान्यमें आसक्त, नानाप्रकारके आरंभ और परिग्रहोंमें मोहित जीव नील लेश्यायुक्त समझना चाहिये । शोक और भयसे युक्त, बात बातमे रूसनेवाला, परनिंदा और अपनी प्रशसा करने वाला, पर का तिरस्कार करनेवाला, इत्यादिरूप कापोत लेश्यावाला है । हित और अहितका ज्ञाता, दया, दान, पूजामें रत, कार्य अकार्यको जानने-वाला पीत लेश्या संयुक्त है । त्यागी, क्षमाशील, भद्रप्रकृति, साधुकी सेवापूजा, दानादि रतजीव पद्म लेश्यायुक्त है । और सर्वजन एवं सर्वक्षेत्रमें समता भाववाला, निदान रहित रागद्वेष रहित जीव शुक्ल लेश्यावाला जानना चाहिये । इसप्रकार इन लेश्याधारियोके कतिपय चिह्न या पहिचान यहां बताये है । इनमे कृष्णादि अशुभ लेश्या त्याज्य है और पीतादि तीन लेश्या ग्राह्य है ।

शुभ लेश्याये—

पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या शुभ प्रशस्त प्रियंकर है । शुभलेश्याको साधुजन ग्रहण करते है जैसे निर्बाध सुखदायी मुक्तिको ग्रहण करते है ।।१९९०।।

हे साधो ! सुखकारक शुभ लेश्याओंकी तुम विशुद्धि करो अर्थात् आगे आगे परिणाम अधिक निर्मल बनाओ । परिणाम शुद्धिमे जो बाधक हैं ऐसे संपूर्ण परिग्रहोंका तुम सर्वथा त्याग करो ।।१९९१।। क्योकि परिणामोंकी विशुद्धिसे लेश्याओंकी शुद्धि होती है और परिणाम शुद्ध तब होते हैं जब कषाय उपशमित होती है ।।१९९२।। तथा जीवकी कषाय उपशमित–मंद तब होती है जब परिग्रहोंका त्याग हो जाता है, क्योंकि

वृद्धिहानी कषायाणां संगग्रहणमोक्षयोः ।
अग्नीनामिव काष्ठादिप्रक्षेपणनिरासयोः ॥१९९४॥

कषायो ग्रंथसंगेन क्षोभ्यते तनुधारिणाम् ।
प्रशांतोऽपि ह्रदादीनां पाषाणेनेव कर्दमः ॥१९९५॥

अंतर्विशुद्धितो जीवो बहिर्ग्रंथं विमुंचति ।
अंतरामलिनो बाह्यं गृह्णीते हि परिग्रहम् ॥१९९६॥

अंतर्विशुद्धितो जन्तोः शुद्धिः संपद्यते बहिः ।
बाह्यं हि कुरुते दोषं सर्वमांतरदोषतः ॥१९९७॥

ससंगस्याङ्गिनः कर्तुं लेश्याशुद्धिर्न शक्यते ।
अंतराशोध्यते केन तुषयुक्तोऽपि तदुलः ॥१९९८॥

तीव्र कषायवाला सर्व परिग्रहको ग्रहण करता है ॥१९९३॥ परिग्रहके ग्रहण करनेसे कषायकी वृद्धि होती है और उसके त्याग करदेनेसे कषायकी हानि होती है, जैसे काष्ट-तृण आदि इंधनोको डालनेसे अग्निकी वृद्धि होती है और इधनको नही डालनेसे या निकाल देनेसे अग्नि शांत होती है ॥१९९४॥ संसारी प्राणोको कषाय परिग्रहके संगतिसे ग्रहण करनेसे तीव्र होतो है—जैसे सरोवर आदिका नोचे बैठा हुआ भो कोचड़ पत्थरके डाल देनेसे क्षुभित होता है, ऊपर आ जाता है ॥१९९५॥

यह जीव अंतरगकी विशुद्धिसे बाह्य परिग्रह छोड़ देता है, जो अंतरंगमें मलिन है वह बाह्य परिग्रहको ग्रहण करता है ॥१९९६॥

जीवके अंतरंगकी शुद्धिसे बाह्य शुद्धि हो जाती है । क्योकि अंतरंगके दोषके कारण ही यह जीव सर्व बाह्य दोषको करता है । आशय यह है कि मनमें परिग्रहको आसक्तिरूप अतरगका दोष है तो बाह्य परिग्रह सचय, हिंसा, झूठ, छल आदि सब दोष इकट्ठे होंगे । कषायकी मंदतारूप मनके परिणाम निर्मल है तो बाह्यके उक्त दोष होना सभव नही है । यदि भीतरी परिणाम मलिन हैं तो शरीर और वचन संबधो मलिनता होगी ही ॥१९९७॥

परिग्रहवान पुरुषके लेश्याकी शुद्धि करना शक्य नहीं है, बाहरके छिलकेसे युक्त चावल क्या किसोके द्वारा अंदरको ललाईसे रहित शुद्ध किये जाते हैं ? नहीं किये जाते । वैसे परिग्रहधारीके लेश्या शुद्ध नहीं हो सकती ॥१९९८॥

शुक्ललेश्योत्तमांशं य: प्रतिपद्यं विपद्यते ।
उत्कृष्टाराधना तस्य जायते पुण्यकर्मण: ॥१९९९॥

शेषांशान् शुक्ललेश्याया: पद्मायाश्च तथाश्रित: ।
म्रियते मध्यमा तस्य साधोराराधना मता ॥२०००॥

तेजोलेश्यामधिष्ठाय क्षपको यो विपद्यते ।
जघन्याराधना तस्य वर्णिता पूर्व सूरिभि: ॥२००१॥

प्रतिपद्य तपोवाही यो यां लेश्यां विपद्यते ।
तल्लेश्ये जायते स्वर्गे तल्लेश्य: स सुरोत्तम: ॥२००२॥

सर्वलेश्याविनिर्मुक्त: प्राणांस्त्यजति यो यति: ।
आयुषो बंधनेनेव मुक्तो याति स निर्वृतिम् ॥२००३॥

कौन कौनसी लेश्यावाले उत्कृष्ट मध्यम तथा जघन्य आराधनाके धारक है यह बतलाते हैं—

जो क्षपक शुक्ल लेश्याके उत्तम अंशको प्राप्त कर समाधिमरण करता है अर्थात् प्राण त्यागके समय जिस क्षपक मुनिकी उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या होती है उस पुण्यात्माको उत्कृष्ट आराधना होती है ॥१९९९॥ शुक्ल लेश्याके उत्कृष्ट अंशको छोड़कर शेष अंशोंसे तथा पद्म लेश्याके अंशोंका आश्रय लेकर सल्लेखना मरण करने वाले मुनिकी मध्यम आराधना होती है ॥२०००॥

जो क्षपक पीत लेश्यामे स्थित होकर मरण करता है उसकी जघन्य आराधना होती है ऐसा पूर्वाचार्योंने कहा है ॥२००१॥

जो तपस्वी क्षपक जिस लेश्याको प्राप्त करके समाधिमरण करता है वह उसी लेश्यावाले स्वर्गमें उसी लेश्याका धारक उत्तमदेव–वैमानिक देव होता है ॥२००२॥

भावार्थ—साधुके मरते समय जो लेश्या होती है उसी लेश्याको लेकर जिस स्वर्गमें उक्त लेश्या संभव है उसी स्वर्गमें देव होता है तथा वहां आयु पूर्ण होनेतक वही लेश्या बनी रहती है ।

जो साधु संपूर्ण लेश्याओंसे रहित होकर प्राणोंको छोड़ता है वह हमेशाके लिये आयुके बंधनसे ही मुक्त होता है वह तो परम निर्वाण मोक्षको ही प्राप्त करता है ।

छंद: दोधक—

शुद्धतमा गुणवृद्धिगरिष्ठा भव्यशरीरिनिवेशित चेष्टाः ।
दूरनिवारितसंसृति वेश्याः कस्य सुखं जनयन्ति न लेश्याः ॥२००४॥

॥ इति लेश्याः ॥

अविघ्नेन विशुद्धात्मा लेश्याशुद्धिमधिष्ठितः ।
प्रवर्तितशुभध्यानो गृह्णात्याराधनाध्वजाम् ॥२००५॥

ददाति चिंतितं सौख्यं छिनत्ति भवपादपम् ।
इत्थमाराधना देवी भव्येनाराध्यते सदा ॥२००६॥

अर्थात् अयोगकेवली जिन सर्वलेश्या रहित है और शेष मनुष्य आयु पूर्णकर सपूर्ण कर्मोंसे छूटकर मोक्षसुखको प्राप्त करते है ॥२००३॥

जो शुभ लेश्यायें है वे गुणोकी वृद्धि करनेमें प्रधान है, भव्यजीवोके चेष्टाओ को शांत करनेवाली हैं दूरसे ही संसृतिरूपी वेश्याको रोकनेवाली है ऐसी लेश्या किसको सुख उत्पन्न नही करती ? सबको सुख उत्पन्न करती है ॥२००४॥

लेश्यानामा अड़तीसवां अधिकार समाप्त ।

आराधना फलनामा उनचालीसवां अधिकार—

इसप्रकार निर्विघ्नतासे जिसने आहारादि त्यागसे लेकर ध्यान तक सर्व कार्य कर लिये हैं जो लेश्याकी शुद्धिसे युक्त है, शुभध्यानमें प्रवृत्त है ऐसा क्षपक मुनिराज आराधना ध्वजको ग्रहण करता है ॥२००५॥ भव्यात्मा द्वारा इस आराधना रूपी देवी की आराधना सदा की जाती है, कैसी है आराधना देवी ? जो मनोवांछित सौख्यको देती है, और संसाररूपी वृक्षको काटती है । भावार्थ यह है कि जैसे कोई किसी देवीकी आराधना पुत्र सुखादिकी प्राप्ति हेतु करता है और उससे उक्त फल पाता है विद्या मंत्रादि अधिष्टात्री देवताकी सिद्धि कर उससे उक्त कार्य पूर्ण करता है वैसे सम्यक्त्व आदि चार प्रकारकी आराधनारूपी देवीको आराधना करके क्षपक मुक्ति सुखको प्राप्त करता है ॥२००६॥ जिनके द्वारा सिद्धि प्रासादमें प्रवेश करानेवाली इस आराधना देवीका आराधन नहीं किया जाता उनके द्वारा तीन लोकमें क्या प्राप्त किया जाता है ? मानव

यैरेषाराधना देवी सिद्धि सौधप्रवेशिनी ।
आराधिता न तैर्लाभः को लब्धो भुवनत्रये ।।२००७।।

यथाख्यातविधिं प्राप्ता विशुद्धज्ञानदर्शनाः ।
दहन्ति घातिदारूणि केचिद्ध्यानकृशानुना ।।२००८।।

त्यजंत्याराधका देहं ध्यायन्तो भुवनत्रयम् ।
द्रव्यपर्यायसंपूर्णं केवलालोकलोकितम् ।।२००६।।

रत्नत्रयकुठारेण छित्वा संसारकाननं ।
भवंति सहसा सिद्धा नृसुरासुरवंदिताः ।।२०१०।।

आराध्याराधनामेवमुत्कृष्टां धूतकल्मषाः ।
भूत्वा केवलिनः सिद्धाः सन्ति लोकाग्रवासिनः ।।२०११।।

पर्यायमें आनेका उसे क्या लाभ हुआ । कुछ भी लाभ नही हुआ । अर्थात् मानव जन्म पाकर जिसने चार आराधना सहित समाधिमरण नहीं किया उसको मानव जन्मका लाभ होना नही होनेके समान है ।।२००७।।

संस्तरमे आरूढ़ कोई क्षपक मुनिराज यथाख्यात चारित्रको प्राप्तकर विशुद्ध-ज्ञान दर्शन युक्त हो ध्यानरूपी अग्नि द्वारा घातिया कर्मरूप इंधनको जला देते हैं–सर्वज्ञ अरिहंत बनते है ।।२००८।। वे भव्यात्मा आराधक मुनिजन केवलज्ञान दर्शन द्वारा द्रव्य और पर्यायोंसे परिपूर्ण ऐसे तीन लोकका अवलोकन कर उनका ध्यान करते हुए शरीर को छोड़ देते हैं, अर्थात् केवलज्ञानको प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं ।।२००९।। आराधना करनेवाले मुनिगण रत्नत्रयरूपी कुठार द्वारा संसाररूपी जंगलको काटकर शीघ्र ही मनुष्य और सुर असुरोंसे वंदित सिद्ध हो जाते है ।।२०१०।।

इसप्रकार उत्कृष्ट आराधनाको करके नष्ट कर दिया कर्मोंको जिन्होने ऐसे वे क्षपक केवलज्ञानी होकर लोकाग्रवासी सिद्ध होते है ।।२०११।।

इसतरह उत्कृष्ट आराधनाको करनेवाले उत्कृष्ट सिद्धपद को प्राप्त करते हैं । इसप्रकार उत्कृष्ट आराधनाका फल बताया ।

आगे मध्यम आराधनाका फल बतलाते हैं—

अवशेषितकर्माणः पवित्रागममातृकाः ।
कामकोपादिहास्यादिमिथ्यादर्शनमोचिनः ॥२०१२॥
सुखदुःखसहा वृत्तज्ञानदर्शनसंस्थिताः ।
संवृत्ताः ससमाधाना शुभध्यानपरायणाः ॥२०१३॥
विधायाराधनां देवीं मध्यमां मुक्तविग्रहाः ।
शुद्धलेश्यान्विता देवाः सन्त्यनुत्तरवासिनः ॥२०१४॥
सुखं साप्सरसो देवाः कल्पगा निर्विशंति यत् ।
ततोऽनंत गुणं स्वस्थं लभंते लवसत्तमाः ॥२०१५॥

जिनके कर्म अभी शेष हैं, जो पवित्र आगमके श्रद्धालु सम्यग्दृष्टि हैं, काम कोपादि कषाय एवं हास्यादि भाव तथा मिथ्यात्वको जिन्होने त्याग किया है। सुख-दुःखको समान भावसे सहनेवाले हैं, दर्शन, ज्ञान, चारित्रमे स्थित हैं, गुप्तिसे संवृत्त, समाधान युक्त हैं, धर्म्य और शुक्ल रूप शुभध्यानमें तत्पर हैं ऐसे क्षपक मुनि मध्यरूपसे आराधनादेवीकी आराधना करके शरीर छोड़ते हैं और शुद्ध लेश्या–शुद्ध लेश्यासे युक्त होकर अनुत्तर विमानवासी देव होते हैं ॥२०१२॥२०१३॥२०१४॥

विशेषार्थ—अनुत्तर विमान पांच हैं—विजय, वैजयत, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इनमें शुक्ल लेश्याधारी एक हाथकी अवगाहना वाले अहमिन्द्रोंका निवास है, ये नियमसे सम्यग्दृष्टि ही होते हैं इनको आयु सर्वार्थसिद्धि वासियोंकी तो जघन्य उत्कृष्ट तैतीस सागर प्रमाण ही है। विजयादि चार विमानवासियोके जघन्य बत्तीस सागर और उत्कृष्ट तैतीस सागर प्रमाण है। सर्वार्थ सिद्धिवाले एक भवावतारी और विजयादिक वासी दो भवावतारी होते हैं। इसप्रकार शुक्ल लेश्याके साथ मध्यम आराधना करने वाले क्षपक मुनि पंच अनुत्तर विमानोंमे दिव्यसुखानुभव करते हैं।

षोडश स्वर्गवाले कल्पवासी देव अप्सराओंसे युक्त होकर जो सुख प्राप्त करते है उनसे अनंतगुणा स्वस्थ सुख अहमिन्द्र देव प्राप्त करते हैं। अर्थात् सोलह स्वर्गों तक तो अन्य ऋद्धि आदिके साथ देवांगना भी रहती हैं उन सबसे जो सुख कल्पवासियोंको मिलता है उससे अनंतगुणा सुख अहमिन्द्रोंको देवांगनाके अभावमे भी प्राप्त होता है, क्योंकि विषयकी चाह रूप दाह अहमिन्द्रोको अल्प है तथा कामेच्छा तो होती ही नही अतः देवांगनाके नहीं रहते हुए भी तृप्त स्वस्थ सुखी रहते है ॥२०१५॥

विशुद्धदर्शनज्ञानाः सयथाख्यातसंयमाः ।
शश्वन्निर्मललेश्याका वर्द्धमानतपोगुणाः ॥२०१६॥

अदीनमनसो मुक्त्वा कचारमिव विग्रहम् ।
देवेंद्रचरमस्थानं प्रपद्यन्ते बुधार्चिताः ॥२०१७॥

वर्यरत्नत्रयोद्योगाः कषायारातिमर्द्दिनः ।
संति लौकांतिका देवा देहोद्योतितपुष्कराः ॥२०१८॥

ऋद्धय. संति या लोके यानींद्रियसुखानि च ।
क्षपकास्तानि लप्स्यन्ते सर्वाण्येष्यत्यनेहसि ॥२०१९॥

जघन्याराधनां देवीं तेजोलेश्या परायणाः ।
आराध्य क्षपकाः संति सौधर्मादिषु नाकिनः ॥२०२०॥

जो विशुद्ध ज्ञान दर्शन वाले है यथाख्यात संयमी हैं, सदा निर्मल लेश्याको धारण करने वाले हैं, वर्द्धमान तप गुणोसे संयुक्त है बुद्धिमान द्वारा पूजित हैं ऐसे श्रेष्ठ मुनिराज दीनता रहित होकर कचरेके समान शरीरका त्याग करते है और देवेन्द्रके चरम स्थान (सोलहवे स्वर्गका देवेन्द्रपद) प्राप्त करते हैं ॥२०१६॥२०१७॥

जिन्होने श्रेष्ठ रत्नत्रयकी आराधनाका बड़ा भारी उद्योग किया है एवं कषाय शत्रुका मर्दन किया है ऐसे मुनिराज लौकान्तिक देव होते है कैसे है वे देव ? अपनो शरीरकी कान्तिसे व्याप्त किया स्वर्गको जिन्होने ऐसे हैं । अथवा इस कारिकाका अर्थ इस प्रकार भी है—जिन्होंने पूर्व भवमे रत्नत्रयकी आराधना की थी एवं आगामी भवमें नियमसे श्रेष्ठ रत्नत्रयका उद्योग करेंगे तथा कषाय शत्रु जीतने वाले और देहकी कांति से स्वर्गको उद्योतित करनेवाले एव गुण विशिष्ट लौकान्तिक होते है, ऐसे लौकांतिक देव पदको आराधना करनेवाले मुनि प्राप्त करते है ॥२०१८॥

इस संसारमे जो भी ऋद्धियां है, जो इन्द्रियोके सुख है उन सभीको क्षपक मुनि आगामीकालमें प्राप्त करेगा ॥२०१९॥ इसप्रकार मध्यम आराधनाका फल बतलाया । मध्यम आराधना करनेवालेकी शुक्ल या पद्म लेश्या होती है ।

जघन्य आराधनाका फल—

पीत लेश्यावाले क्षपक मुनि जघन्य रूपसे आराधना देवीकी आराधना करके सौधर्म आदि स्वर्गोंमें देव होते है ॥२०२०॥

बहुनात्र किमुक्तेन यस्सारं भुवनत्रये ।
आराध्याराधनां देवीं लभंते तन्मनीषिणः ।।२०२१।।

भुक्त्वा भोगं च्युताः सन्तो भूत्वा भुवि नरोत्तमाः ।
विहाय महतीं भूतिं भूत्वा सिध्यन्ति साधवः ।।२०२२।।

धृतिस्मृतिमतिश्रद्धावीर्यसंवेग भागिनः ।
परीषहोपसर्गाणां जेतारो विजितेन्द्रियाः ।।२०२३।।

सयथाख्यातचारित्राः पवित्रज्ञानदर्शनाः ।
विशोध्य मलिनां लेश्यां शुद्धध्यानविवर्द्धिनः ।।२०२४।।

शुक्ललेश्यांगनाश्लिष्टा ध्वस्तनिःशेषकल्मषाः ।
भवन्ति सहसा सिद्धा भुवनोत्तमवंदिताः ।।२०२५।।

अधिक कहनेसे क्या लाभ ? इस भुवनत्रयमें जो भी सारभूत वस्तु है, सुख है, वह सब ही आराधनादेवीकी आराधना करके बुद्धिमान मुनिजन प्राप्त करते हैं ।।२०२१।।

आराधक मुनि समाधि करके स्वर्गमें जाते हैं वहां देव पर्यायमें दिव्य भोगको भोगकर वहांसे च्युत होनेपर पृथिवीपर मध्यलोकके आर्यभूमिमें मनुष्योंमे महान् ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य-चक्रवर्ती, बलदेव आदि होते है पुनः उस मनुष्य संबंधी महान विभूतिका त्याग करके जिनदीक्षा ग्रहणकर सिद्ध हो जाते हैं ।।२०२२।।

धृति, स्मृति, मति, श्रद्धा, वीर्य और संवेगगुणोंसे संपन्न, परीषह और उपसर्गों को जीतनेवाले, इन्द्रिय विजयी यथाख्यात चारित्रको धारण करनेवाले, पवित्र है सम्यग्दर्शन ज्ञान जिनका, ऐसे मुनिगण, अशुभ लेश्या (कृष्णादि) का शोधन कर-त्यागकर शुद्ध ध्यानको बढानेवाले तथा शुक्ल लेश्यारूपी स्त्रीसे आलिंगित अर्थात् शुक्ल लेश्याके धारक और नष्ट कर दिया अशेष कर्मोंको जिन्होने ऐसे होकर शीघ्र ही तीन लोकमें उत्तम और वंदित सिद्ध भगवान बन जाते हैं । अर्थात् मुनि शुक्ल लेश्याको धारण करके शुक्लध्यान द्वारा कर्मोंका नाशकर सिद्ध प्रभु होते हैं ।।२०२३।।२०२४।। ।।२०२५।।

इत्थं संस्तरमापन्ना रौद्रार्त्तवशवर्तिनः ।
रत्नत्रयं विशोध्यापि भूयो भ्रश्यन्ति केचन ॥२०२६॥

आर्तरौद्रपरः साधुर्यो मुंचति कलेवरम् ।
एतां दुःखप्रदामेष देवदुर्गतिमृच्छति ॥२०२७॥

चिराभ्यस्तचरित्रोऽपि कषायाक्षवशीकृतः ।
मृत्युकाले ततःसद्यो यदि भ्रश्यति संयतः ॥२०२८॥

अवसन्नो यथाछंदो यः पार्श्वस्थः कुशीलकः ।
संसक्तश्च तदा किं न स भ्रश्यति कुमानसः ॥२०२९॥

इसप्रकार प्रशस्त शुभ लेश्यापूर्वक समाधि करनेका महान श्रेष्ठ फल बताया अर्थात् शुभ लेश्या युक्त और चार आराधनाओंकी आराधना करनेवाले साधु स्वर्ग और अपवर्गरूप सार फलको प्राप्त करते हैं ऐसा आराधनाके फलका वर्णन किया।

आगे जो आराधनाकी विराधना करते हैं अर्थात् समाधिमरणका नियम लेकर भी दुर्लेश्या और दुर्ध्यानके वश होते हैं उन मुनियोंको उक्त विराधनाका क्या फल मिलता है इस विषयको बतलाते हैं—

कोई क्षपक मुनि संस्तरमें आरूढ होनेपर तथा रत्नत्रयका शोधन करके भी रौद्रध्यान और आर्त्तध्यानके वश हो जाते है इसतरह वे पुनः भ्रष्ट होते है। जो रत्नत्रयसे च्युत हुए हैं वे आर्त्तध्यान रौद्रध्यान पूर्वक शरीरको छोड़ते हैं उक्त खोटे ध्यानसे दुःखदायी देव दुर्गतिको प्राप्त होते है। भाव यह है कि समाधिका नियम लेनेपर भी किसी क्षपक मुनिको आर्त्त रौद्रध्यान हो जाता है उससे आराधनाकी विराधना होनेसे वह देवदुर्गतिमे हीन देवोमे चला जाता है ॥२०२६॥२०२७॥

जिसने चिरकालसे चारित्रका अभ्यास किया है ऐसा संयत भी यदि मृत्युकालमें भूख आदिकी वेदनासे कषाय और इन्द्रियोंके वश होता है और चारित्रसे एव समाधिसे भ्रष्ट हो जाता है तो फिर जो साधु अवसन्न, यथाछंद, पार्श्वस्थ, कुशील और ससक्त इन पाच प्रकारके भ्रष्ट कुबुद्धि मुनियोमेसे कोई है वह क्या समाधिसे च्युत नही होगा ? अवश्य होगा ॥२०२८॥२०२९॥

अशुद्धमनसो वश्याः कषायेन्द्रियविद्विषाम् ।
पूज्यात्यासादनाशीला नीचा मायापरायणाः ।।२०३०।।
धर्मकर्मपराधीनाः पापसूत्रपरायणाः ।
संघकृत्ये ममानेन किं कृत्यमिति वादिनः ।।२०३१।।
सर्वव्रतातिचारस्थाः सुखास्वादनलालसाः ।
अनाराधितचारित्राः परचिंताकृतोद्यमाः ।।२०३२।।
इहलोकक्रियोद्युक्ताः परलोकक्रियालसाः ।
मोहिनः शबलाः क्षुद्राःसंक्लिष्टा दीनवृत्तयः ।।२०३३।।
आलोचनामनाधाय ये म्रियंते कुबुद्धयः ।
त्रिदिवे निंदिताचारा दुर्भगाः संति ते सुराः ।।२०३४।।

आगे किन किन मुनियोंकी समाधि नष्ट होती है एवं देवदुर्गति होती है उनका स्वरूप बताते हैं—

जो अशुद्ध मनवाले हैं, कषाय और इन्द्रियरूपी शत्रुओंके वशमें हैं, पूज्य पुरुष–तीर्थंकर गणधर आदिकी आसादना करनेका जिनका स्वभाव है, नीच हैं, मायामें तत्पर हैं। धर्मकार्यको पराधीन होकर करते हैं अर्थात् आचार्य संघ आदिके भयसे सामायिक आदि करते हे स्वयंके रुचिसे स्वाधीनतासे धर्म क्रियायें नहीं करते, काम शास्त्र, वैद्यक शास्त्र, काव्य, नाटक, चोर आदि विद्याके शास्त्र पढने पढ़ानेमें सदा लगे रहते है, जब संघका कोई वैयावृत्य आदि काम आता है तो उस समय कहते हैं कि मेरे को क्या करना है, मुझे इससे कुछ प्रयोजन नही इत्यादि अर्थात् सघका काम नही करते। महाव्रतादि सबमे अतीचार लगाते हैं, सदा सुखिया जीवन जीते हे अथवा सुख और स्वादु भोजनके लंपटी हैं, चारित्रको आराधना नहीं करते, पर गृहस्थ आदिकी चिंता करनेमें ही उद्यत हे। इस लोक सबंधी क्रिया–शरीर सबंधी, देश राज्य सबंधी या गृहस्थ सबधी क्रियामे तो तत्पर हे और परलोक सबधी क्रिया–निर्दोष व्रतपालन, समीचीन ज्ञानवृद्धि आदिमें आलसी हैं, मोही हे, शिथिलाचारी, क्षुद्र, संक्लिष्ट परिणाम युक्त और दीनवृत्ति–भिखारी जैसी दीनता करते हे, कुबुद्धि हे ऐसे भ्रष्ट मुनि दोषोंको आलोचना बिना किये ही मरते हैं और स्वर्गमे निंदित आचरण दासकर्म वाहनकर्म आदि आचारको करनेवाले अप्रिय नीच देव होते हैं ।।२०३०।।२०३१।।२०३२।।२०३३।।२०३४।।

संघकृत्ये निरुत्साहाः किमनेन ममेति ये ।
ते भवन्ति सुरा म्लेच्छा वाद्यवादिदिवौकसां ।।२०३५।।
कंदर्पभावनाशीलाः कंदर्पाः संति नाकिनः ।
निद्याः किल्विषिकाः संति मृताः किल्विषभावनाः ।।२०३६।।
अभियोग्यक्रियासक्ता आभियोग्याः सुरा मृताः ।
आसुरी भावनाः कृत्वा मृत्वा सन्त्यसुराः पुनः ।।२०३७।।
संमोहभावनोद्युक्ताः समोहास्त्रिदशामृताः ।
विराधकः पराप्येवं प्राप्यते देवदुर्गतिः ।।२०३८।।
इत्थं विराध्य ये जीवा म्रियंते-संयमादिकम् ।
तेषां बालमृतिस्तस्याः फलं पूर्वत्र वर्णितम् ।।२०३९।।

जो साधु सघके कार्यमे निरुत्साही है और कहते है कि इस संघके वैयावृत्य आदि कामसे मुझे क्या प्रयोजन है ? मैं कुछ भी काम नही करूंगा इत्यादि । सो ऐसे मुनि देवसभामें बाजे बजाना, गाना आदि होन कार्यको करनेवाले म्लेच्छ जैसे देव होते है । भाव यह है कि जो मुनि सघके कार्यमें दूर-दूर रहता है, वैयावृत्यादिमें मुंह छिपाता है कि मुझे ये कार्य न करना पड़े । ऐसा मुनि-मरकर स्वर्गमें नोच चंडाल जैसा देव बनता है वह देवसभासे दूर रहता है उसे सभामें प्रवेश नहीं मिलता है ।।२०३५।।

कंदर्पभावनासे युक्त मुनि मरणकर कंदर्प जातिके देव होते हैं । जो मुनि किल्विष भावनासे युक्त होते है वे मरकर किल्विषिक जातिके निदनोय देव होते हैं । आभियोग्य क्रियामे–दासक्रियामे जो लगे रहते है वे मरणकर आभियोग्य जातिके देव होते हैं । आसुरी भावनाको करके मरण करनेवाले भ्रष्ट मुनि असुरकुमार देव होते हैं और संमोह भावनामें तत्पर रहनेवाले मुनि संमोह जातिके देव होते है । जो रत्नत्रयकी आराधना नहीं करते, चार आराधना एवं समाधिको विराधना कर डालते है वे इन कंदर्प आदि नीच जातिरूप देवदुर्गतिको प्राप्त करते है तथा इसोप्रकार की अन्य हीनदेव पर्यायको पाते है ।।२०३६।।२०३७।।२०३८।।

इसतरह सयम रत्नत्रय समाधि आदिकी विराधना करके जो जीव मरते हैं, उनका मरण बालमरण कहलाता है, उस बालमरणका फल पहले बता ही दिया है ।।२०३९।।

विराध्य ये विपद्यंते सम्यक्त्वं नष्टबुद्धयः ।
ज्योतिर्भावनभौमेषु ते जायन्ते वितेजसः ।।२०४०।।

दर्शनज्ञानहीनास्ते प्रच्युता देवलोकतः ।
संसारसागरे घोरे बंभ्रमन्ति निरंतरम् ।।२०४१।।

विशेषार्थ—कदर्प भावना आदि पांच प्रकारकी भावनासे युक्त मुनिका समाधिपूर्वक मरण नही होता अर्थात् भक्त प्रत्याख्यान आदिरूप पंडित मरण नही होता उनका तो बालमरण ही होता है । कंदर्प भावना आदि पाचों भावना एवं उन भावनाओंके करनेवाले मुनियोंका स्वरूप यहां पर बताते है—कंदर्प काम या कामवासनाको कहते हैं, कामवासनासे युक्त जिनका मन है, अश्लील, भण्ड वचन बोलते हे दूसरोकी वासना को बढ़ाते हैं, हँसी-मजाक करते हैं, कुचेष्टायें करते हे वे मुनि कंदर्प भावना युक्त है ऐसा जानना चाहिये ऐसे मुनि मरणकर कदर्प जातिके देव होते हैं जिनमें उपर्युक्त कामकी उत्तेजना, अश्लीलता आदि खोटो चेष्टायें स्वभावतः पायी जाती है । जो साधु तीर्थकर का अविनय करते हे, संघ चैत्य-चैत्यालयकी आसादना करते हैं, साधर्मीसे विपरोत चलते हे मायावी हे, वे किल्विष भावनायुक्त हैं, वे मरणकर किल्विषक जातिके नोच चडाल सदृशदेव होते हे । जो मंत्र, तंत्र, ज्योतिषी आदि कार्योंमें लगे रहते है, साधु पदके अयोग्य ऐसे कार्य करते हे वे आभियोग्य भावनावाले मुनि हे और वे मरणकर आभियोग्य जातिके देव बनते है जो कि हाथी, घोड़ा, मयूर आदिका रूप लेकर अन्य उच्च देवोकी सेवा करनेवाले हे । मिथ्यामार्गका तो प्रचार करते हैं और सन्मार्गस्वरूप जो जैनधर्म है उसका नाश करते है अर्थात् मिथ्यात्व मोहसे मोहित है बुद्धि जिनकी ऐसे गाढ़ मिथ्यात्व भावना संयुक्त यति भॉड सदृश जातिके समोही देवोमें उत्पन्न होते है । जो निदान युक्त है रौद्र परिणामी, वैर बाधने वाले अत्यंत सक्लिष्ट परिणामके धारक तीव्र कषायी मुनि है वे अम्बावरीष नामवाले असुर जातिके देव होते है । इसप्रकार कंदर्प आदि भावनाये और उन भावनावाले मुनियोंका स्वरूप कहा । ये सभी मुनि आराधना रहित बाल मरण करते है और नीच देव होते है वहांसे च्युत होकर चतुर्गति संसारमे भ्रमण करते है ।

जो सम्यक्त्वकी विराधना करके मृत्युको प्राप्त होते है वे नष्टबुद्धि ज्योतिष, भवनवासी और व्यंतर इन होन देवपर्यायमें उत्पन्न होते है ।।२०४०।। सम्यग्दर्शन और

ये मृता मुक्त सम्यक्त्वाः कृष्णलेश्याविभाविताः ।
तथालेश्या भवाम्भोधौ ते भ्रमन्ति दुरुत्तरे ।।२०४२।।

छंद-उपजाति—

निवेशयंती भुवनाधिपत्ये मनीषितं कामदुघेव धेनुः ।
आराधिता किं न ददाति पुंसामाराधना सिद्धिवधूवयस्या ।।२०४३।।

।। इति फलम् ।।

सम्यग्ज्ञानसे रहित वे जीव देवलोककी आयुपूर्ण कर वहांसे च्युत होकर घोर संसार सागरमें चिरकाल तक परिभ्रमण करते है ।।२०४१।।

जो कृष्ण नील कापोत लेश्याओंसे भावित अतःकरण वाले है । सम्यक्त्व रत्न को जिन्होने छोड दिया है ऐसे साधु मरणकर उसीप्रकारकी लेश्यासे युक्त होकर संसार-रूप भयंकर समुद्रमें परिभ्रमण करते रहते हैं ।।२०४२।।

भावार्थ—पार्श्वस्थ आदि मुनि, कंदर्प आदि पांच प्रकारकी नीच भावनासे युक्त होते हैं । ये सभी नियमसे सम्यक्त्वादि रहित बाल मरण ही करते है, जिनको लेश्या खोटी है—कृष्ण लेश्या आदि युक्त होकर मरते हैं वे नियमसे भवनत्रिकमें जन्म लेते हैं । वहां भी प्रायः उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो पाती । पहले मुनि अवस्थामें सतत् नीच संक्लिष्ट परिणाम युक्त रहने से वे खोटे संस्कार तथा जिनदीक्षा की विराधना का महान पाप अर्जित होनेसे वे सम्यक्त्व रत्नको नहो पाते वहांसे च्युत होने पर एकेन्द्रिय आदि पर्यायोमें जहांकि कृष्णादि तीन खोटी लेश्या ही है ऐसे भवोमे परिभ्रमण करते है । जिनकी मरणके समय कृष्ण आदि अशुभ लेश्या है उनकी नियमसे दुर्गति होती है । ऐसा जानकर महादुर्लभ सम्यक्त्व और व्रतादि की कभी विराधना नहीं करनी चाहिये एवं समाधि ग्रहणकर भूख प्यास आदिके कारण उससे च्युत नही होना चाहिये ।

अब इस आराधनाके फलनामा प्रकरणका उपसंहार करते है—

सम्यक्त्व आदि चार प्रकारकी आराधनाओके आराधक पुरुषोंको यह आराधना देवी तीनलोकके स्वामित्वमे स्थापित करती है । समीचीन प्रकारसे आराधित की गयी यह आराधना मनोवांछित फलको देनेके लिये कामदुधा धेनु है । यह सिद्धिरूपी वधूकी

एवं कालगतस्यास्य बहिरंतनिवासिनः ।
त्यजंति यत्नतो गात्रं वैयावृत्यकराः स्वयम् ।।२०४४।।

साधूनां स्थितिकल्पोऽयं वर्षासु ऋतुबंधयोः ।
समस्तैः साधुभिर्यत्नाद्विरूप्या निषद्यका ।।२०४५।।

सखी आराधना क्या फल नही देती । सर्व हो अभ्युदय और निःश्रेयस सुखोंको देती है ।।२०४३।।

इसप्रकार आराधना फल नामका उनचालिसवां अधिकार पूर्ण हुआ ।

अब आगे आराधक त्याग नामा अंतिम चालीसवां अधिकार प्रारम्भ करते हैं—

संस्तरको प्राप्त क्षपककी जब मृत्यु हो जाती है तब उसका शरीर वसतिकाके बाहर या भीतरमें स्थित है उसको वैयावृत्य करनेवाले मुनि स्वयं यत्नपूर्वक यथास्थान ले जाकर छोड़ देते हैं ।।२०४४।।

भावार्थ—क्षपककी समाधि–प्राणांत हो जानेपर वैयावृत्य करनेवाले मुनिगण जो कि धैर्यशाली है जिन्होने अनेको बार सल्लेखनाको देखा एव करवाया है शारीरिक सामर्थ्यसे युक्त है वे क्षपकके शरीरको लेजाकर उचित प्रासुक भूमिपर छोड़ आते हैं, उस शवको किस दिशामें कितनी दूर किस तरीकेसे ले जाना इत्यादि विषयोंको आगे बता रहे हैं ।

यहां प्रश्न होता है कि शरीरादिसे भी निःस्पृह ऐसे यतिगण शवको स्वयं क्यों लेजाते हैं एवं उस अंतिम विधिमे प्रयत्नशील क्यों होते है ? इसीका उत्तर देते हैं—

साधुओंका यह स्थितिकल्प है कि वर्षायोगके प्रारंभ और अंतमें तथा ऋतुके प्रारंभमे समस्त साधुओं द्वारा प्रयत्नपूर्वक निषद्याका प्रतिलेखन निरीक्षण होना चाहिये । अर्थात् जिस भूमिपर क्षपकके शवका विसर्जन किया है वह स्थल निषद्या कहलाता है और उस निषद्याका प्रतिलेखन साधुओंको उक्त समयपर करना तथा उस निषद्याकी वंदना करना आवश्यक होता है ।।२०४५।।

निषद्या नातिदूरस्था विविक्ता प्रासुका घना ।
कर्तव्यास्ति परागम्या बालवृद्धगणोचिता ।।२०४६।।

वसतेर्नैऋते भागे दक्षिणे पश्चिमेऽपि वा ।
निषद्यका स्थिता या सा प्रशस्ता परिकीर्तिता ।।२०४७।।

सर्वस्यापि समाधानं प्रथमायां तथान्यतः ।
आहारः सुलभोऽन्यस्यां भवेत्सुखविहारिता ।।२०४८।।

तदभावेऽनलाशायां वायव्यायां हरेर्दिशि ।
निषद्यकोत्तरस्यां वा मतेशानस्य वा दिशि ।।२०४९।।

जहांपर क्षपकका शव क्षेपण करना है वह स्थल कैसा होना चाहिये इस विषयका प्रतिपादन करते हैं—

वह निषद्या स्थल नगर आदिसे अति दूर नही होना चाहिये, विविक्त-जन कोलाहलसे दूर होना चाहिये, प्रासुक एवं घन-ठोस भूमिरूप जिसमे पोल आदि न हो ऐसा चाहिये बिल आदिसे रहित होना चाहिये, मिथ्यादृष्टिको अगम्य तथा बालवृद्ध साधु समुदाय वहां पहुंच सके इसप्रकार का होना चाहिये ।।२०४६।।

निषद्या की दिशा—

जिस वसतिकामें क्षपकको समाधि हुई है उससे नैऋत दिशामें या दक्षिण अथवा पश्चिम दिशामें निषद्या बनाना प्रशस्त शुभ माना है ।।२०४७।।

निषद्या का दिशानुसार फल—

नैऋत दिशामें निषद्या स्थल होवे तो सर्व संघका समाधान-हित होता है । तथा दक्षिण दिशामे निषद्या होनेसे आहार सुलभ हो जाता है और पश्चिम दिशाकी निषद्या होनेपर संघका सुखपूर्वक विहार होता है । पुस्तक आदिका लाभ भी होता है ।।२०४८।।

पूर्वोक्त नैऋत आदि दिशाओंमें निषद्या स्थल प्राप्त न हो सके और आग्नेय, वायव्य, पूर्व, उत्तर या ईशान दिशामें निषद्या कर लेवे तो हानि होगी । आगे उस हानिको बताते है—आग्नेय दिशामें निषद्या होवे तो संघमें स्पर्द्धा पैदा होगी । वायव्यमें

क्रमेण फलमेतासु स्पर्द्धा रातिश्च जायते ।
भेदश्चापि तथा व्याधिरन्यस्याप्यपकर्षणम् ॥२०५०॥

यदैव म्रियते काले त्यजनीयस्तदैव सः ।
अवेलायां विधातव्या छेदबंधनजागराः ॥२०५१॥

भीरुशैक्षगणिग्लानबालवृद्ध तपस्विनः ।
अपाकृत्यापारधीरा जितनिद्राः प्रजाग्रतिः ॥२०५२॥

कृतकृत्या गृहीतार्था महाबलपराक्रमाः ।
हस्तांगुष्ठादिदेशेषु बंधं छेदं च कुर्वते ॥२०५३॥

विधीयते न यद्येवं तदा काचन देवता ।
कलेवरं तदादाय विधत्ते भीषणक्रियां ॥२०५४॥

होनेपर कलह, पूर्व दिशामें निषद्या होनेसे संघमें फूट, उत्तर दिशामें होनेसे रोग और ईशान दिशामें निषद्या होनेसे संघमें खीचातानी होगी ॥२०४९॥२०५०॥

क्षपकका मरण जब होवे उसी वक्त उसके शवको लेजाना चाहिये और कदाचित अवेलामें [रात्रिमे] मरण होवे तो शवका छेदन बंधन [अंगुली का] करना चाहिये और जागरण करना चाहिये ॥२०५१॥

क्षपकके शवके निकट जागरण करने वाले साधु कैसे होना चाहिये इस बातको बताते हैं—

जो मुनि भीरु–डरपोक है तथा शैक्ष–अध्ययनशील हैं, रोगी बालवृद्ध और अधिक तपस्या करने वाले है ऐसे साधुओंको क्षपकके शवके पास जागरण नहीं करना चाहिये । जो अपार धैर्यशाली है जिन्होंने निद्राको जीता है ऐसे साधु मृतक क्षपकके निकट जागरण करते हैं ॥२०५२॥ जिन्होंने क्षपककी सेवा पूर्वमें अनेकों बार की है आगमके अर्थको भलीप्रकार जानते है, महाबल और पराक्रमी है ऐसे साधु मृतक क्षपक के हाथ या पैरके अंगुष्ठ या अंगुलीको छेदते हैं और बांधते हैं ॥२०५३॥

उक्त छेदन और बंधनको यदि न किया जाय तो क्या दोष होगा सो बताते हैं—

यस्योपकरणं किंचित्कृत्वा यांचां यदाहृतम् ।
कृत्वा संबोधनं सर्वं तत्तस्यार्प्यं विधानतः ।।२०५५।।

प्रसिद्धो यदि संन्यासः स्थानरक्षार्यिका यदि ।
विपन्ना विधिना कार्या तदानीं शिबिकोत्तमा ।।२०५६।।

संस्तरेण समं बद्ध्वा मृतकं विधिना दृढम् ।
विधायोत्थानरक्षार्थं ग्रामस्य विमुखं शिरः ।।२०५७।।

क्षपकके शवका छेदन बंधन नहीं करनेपर उस देहमे कोई कौतुहली देव प्रविष्ट हो भयंकर चेष्टाये कर सकता है । अर्थात् जिसका मृतक कलेवरमें क्रीड़ा करनेका स्वभाव है ऐसा कोई भूत आदि व्यंतर उस शरीरमे प्रविष्ट हो जायगा उस प्रेतको लेकर दौड़ना क्रीड़ा आदि करना प्रारंभ करेगा और इस कार्यको देखकर कोई बालमुनि या भीरुमुनि भयभीत होवेगे । या मरणको भी प्राप्त हो सकते हैं । अतः हाथ आदिकी अगुलिका छेदन बंधन करना आवश्यक है ।।२०५४।।

मृत क्षपकके शरीरका क्षेपण करनेके अनंतर क्या करना सो बताते हैं—

क्षपकके समाधिमरणके पश्चात् समाधिकी सिद्धि लिये पाटा, चटाई, कमडलु आदि उपकरणोंको याचना करके जो लाये गये थे अथवा कुछ तैयार किये थे उन पदार्थोंको जो-जो जिसके हों उस उसको उस स्वामीके लिये कहकर वापिस दे देना चाहिये । अर्थात् यह वस्तु अब संघमें उपयोगी नही है आपले जाईये इसतरह कहकर वस्तुके मालिकको अर्पित कर देवे ।।२०५५।।

मुनियोंके समाधिमरण होनेपर उनके शवको वैयावृत्य करनेवाले मुनिराज योग्य भूमिमे ले जाकर क्षेपण करते हैं ऐसा वर्णन किया । यदि आर्यिका क्षुल्लक आदि का विधिपूर्वक समाधिमरण होवे तो उनके शवको किसप्रकार ले जावे, कौन ले जावे ? इत्यादि विधिका आगे प्रतिपादन करते हैं—

आर्यिकाका सल्लेखना विधिसे मरण होनेपर तथा क्षुल्लक व्रती श्रावक आदिका समाधिमरण होनेपर उनके शवको लेजानेके लिये उत्तम पालकी—विमान तैयार करना चाहिये । फिर संस्तरके साथ उसे मृतक विधिपूर्वक दृढ़ बांधना, विमानमें लिटाकर ले

क्षिप्रमाबाय गच्छंति बोक्षितेनाध्वना पुरा ।
निवर्तनमवस्थानं त्यक्त्वा पूर्वावलोकनम् ॥२०५८॥

पुरोगन्तव्यमेकेन गृहीतकुशमुष्टिना ।
पूर्वावलोकनस्थाननिवर्तनविर्वाजना ॥२०५९॥

कृत्यस्तत्र समस्तेन संस्तरः कुशधारया ।
अच्छिन्नया सकृद्देशे बोक्षिते समपातया ॥२०६०॥

स चूर्णः केशरैर्वापि कुशाभावे विधीयते ।
समानः सर्वतोऽच्छिन्नो धीमता विधिनासकृत् ॥२०६१॥

आदौ मध्येवसाने च विषमो यदि जायते ।
आचार्यो वृषभः साधुर्मृत्युं रोगमथाश्नुते ॥२०६२॥

जाना चाहिये । ले जाते समय शवका मस्तक ग्रामके तरफ होने चाहिये (पैर जिसस्थानपर ले जा रहे है उधर करना चाहिये) शवका मस्तक ग्रामकी तरफ इसलिये करते है कि कदाचित् वह शव उठेगा (भूतके प्रविष्ट होनेसे) तो ग्रामकी तरफ नही दौड़ेगा । विमानमें शवको लिटाकर लेजाते समय शीघ्र चलना चाहिये । रास्तेमें रुकना नहीं चाहिये, आगेका मार्ग देखते हुए चले, पीछे लौटकर नही देखे । जो मार्ग पहले देखाहो उसमार्गसे लेजाना चाहिये । उस शवके आगे एक व्यक्ति मुट्ठीमें कुशा लेकर चले, वह पुरुष भी पीछे मुड़कर न देखे न मार्गमें ठहरे । जिस स्थान पर शवको ले जाना है वह पहले देखा हो, वहांपर समान भूमि रूप सस्तर उस आगे जाने वाले व्यक्तिको करना चाहिये । कुशा–घासके द्वारा अंतराल रहित समान रूप संस्तर बनाना चाहिये । यदि घास नहीं हो तो चूर्ण केसर चावल आदिसे चारों ओरसे छेद रहित समान ऐसा संस्तर बुद्धिमानको करना चाहिये । संस्तर विषम नही होना चाहिये ॥२०५६॥२०५७॥२०५८॥२०५९॥२०६०॥२०६१॥

जहांपर शवको स्थापित करना है वह भूमि एवं सस्तर विषम हो तो क्या हानि है यह बताते है—

ऊपरी भागमें, मध्यमे और अतमें यदि संस्तरमें विषमता होवे तो क्रमशः आचार्य, श्रेष्ठ मुनि और सामान्य मुनिका मरण होगा या रोग होगा । अर्थात् ऊपरी भागमें संस्तर भूमि विषम हो तो आचार्यका मरण होगा या उन्हें रोग होगा । मध्यमें

**ग्रामस्याभिमुखं कृत्वा शिरस्स्याज्यं कलेवरम् ।
उत्थानरक्षणं कर्तुं मस्तकं क्रियते तथा ।।२०६३।।**

विषमता हो तो श्रेष्ठ मुनिका मरण या रोग एव अतभागमें—नीचेके भागमें सस्तर होवे तो सामान्य मुनिका मरण या उन्हे रोग होगा ।।२०६२।।

इसप्रकार शव क्षेपणका स्थान भली प्रकारसे देखकर उसे सम करके ग्रामके तरफ मस्तक करके शरीरको रखना चाहिये । ग्रामके तरफ मस्तक करनेका अभिप्राय यही है कि उस शवमें कदाचित भूत प्रविष्ट हो और वह दौड़े तो ग्रामकी तरफ नहीं जावे । इसतरह ग्रामकी रक्षा करनेके लिये मस्तक वैसा किया जाता है । यह बात पहले शवको लानेकी विधिमें भी कही है ।।२०६३।।

विशेषार्थ—क्षपकके समाधि होनेके पश्चात् क्या-क्या कर्तव्य विधि है उसको बताया जा रहा है । क्षपक मुनिका समाधिमरण होनेपर वैयावृत्य करनेवाले मुनि उस शवको ले जाकर प्रासुक समभूमिमें क्षेपण करते हैं । वसतिकासे नैऋत, दक्षिण और पश्चिम इन तीन दिशामें लेजाना चाहिये । शव स्थापित करनेकी भूमिपर घास आदि का संस्तर करना चाहिये वह भूमि व संस्तर पूर्णतया समान होना चाहिये । निषद्या स्थानपर लेजाते समय लेजाने वाले मुनियोंको पीछे देखना, रुकना वापिस लौटना सर्वथा मना है । समान संस्तर पर ग्राम तरफ मस्तक करके शवको लिटाना चाहिये । शवके निकट पीछी भी रखनी चाहिये । पीछीको शवके पास रखनेका उद्देश्य यह है कि जिसने सम्यक्त्व की विराधना करके मरणकर देव पर्याय पायी है । वह पीछीके साथ अपना देह देखकर मैं पहले भवमें मुनि था ऐसा जान सकेगा । इसप्रकार समाधि करनेवाले मुनिके शवको स्थापित करनेको विधि है ।

यदि आर्यिका क्षुल्लक, क्षुल्लिका ऐलक, व्रती ब्रह्मचारी आदि ने समाधिपूर्वक देह छोड़ी है अथवा उनका मरण हुआ है तो उनके शवको पालकी—विमानमे रखकर संस्तर सहित बांधकर ग्राम तरफ मस्तक करके पूर्वोक्त विधिसे ले जाना चाहिये । एवं पूर्वोक्त विशेषण विशिष्ट भूमि संस्तरमें उसी विधिसे स्थापित करना चाहिये ।

प्राचोन कालमे वनोमें मुनिजन निवास करते थे, वहांपर सल्लेखना आदि विधिसे किसी मुनि—क्षपकका मरण होनेपर अन्य मुनि उस क्षपकके शवको योग्य प्रासुक भूमिमें स्वय ले जाकर स्थापित कर आते थे ।

शांतिर्भवति सर्वेषामल्पे क्षपके मृते ।
मध्यमे मृत्युरेकस्य जायते महति द्वयोः ।।२०६४।।

महन्मध्य नक्षत्रे मृते शांतिर्विधीयते ।
यत्नतो गणरक्षार्थं जिनार्चाकरणादिभिः ।।२०६५।।

अब वर्तमानमें श्रावकोके मध्यमें मंदिर धर्मशाला आदि स्थानोंपर मुनिजन रहते हैं, यहा किसी मुनि आदिका सल्लेखना आदि विधिसे मरण होता है तो श्रावकगण काष्ठका विमान जैसा तैयार करके उसमे साधुके शवको स्थापित कर योग्य प्रासुक भूमिपर लेजाकर दाह सस्कार करते है । एवं उस स्थान पर छत्री, चबूतरा आदि बना देते हैं । सो यह कालके अनुसार होनेवाली व्यवस्थायें हैं ।

जघन्य आदि नक्षत्रमे क्षपकका मरण होवे तो क्या फल होगा सो बताते है—

यदि क्षपकका मरण अल्प–जघन्य नक्षत्रमें होता है तो सर्वसंघ प्रजा आदिको शांतिदायक है । मध्यम नक्षत्रमें क्षपकने देह छोडी है तो एक मुनिकी मृत्यु होती है और उत्कृष्ट नक्षत्रमें क्षपककी मृत्यु हुई है तो दो मुनियोंका मरण होगा ।।२०६४।।

विशेषार्थ—कौनसे नक्षत्रमे क्षपकने प्राण छोड़े है यह देखकर सघके भविष्यका ज्ञान होता है । नक्षत्र तीन प्रकारके हैं जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट । जो पंद्रह मुहूर्त्तके होते हैं उन नक्षत्रोको जघन्य नक्षत्र कहते है वे छह हैं–शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा और जेष्ठा । इन नक्षत्रोमेसे किसी नक्षत्रमे या उनके अंशपर क्षपकको समाधि हुई है तो संघमें क्षेम कुशल होगा । तीस मुहूर्त्तके नक्षत्रको मध्यम नक्षत्र कहते हैं ये पंद्रह है–अश्विनी, कृतिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपदा, हस्त, चित्रा अनुराधा, मूल, श्रवण, घनिष्ठा और रेवती । इन नक्षत्रोंमें या इनके अंशों पर मरण होगा तो एक मुनिका मरण होगा ।

पैंतालीस मुहूर्त्तके नक्षत्र उत्कृष्ट नक्षत्र कहलाते हैं, ये छह हैं–उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तराभाद्रपदा, पुनर्वसु, रोहिणी और विशाखा । इन नक्षत्रोंमे या इनके अंशोंपर मरण होवे तो निकट भविष्यमें दो मुनियोंकी मृत्यु होगी ।

उत्कृष्ट नक्षत्र और मध्यम नक्षत्रमे यदि समाधिमरण होवे तो क्या करना चाहिये सो कहते हैं—

संपद्यतां नोऽपि विनांतरायमाराधनेयेति गणेन कार्यः ।
वपुर्विसर्गः क्षपकाधिवासे पृच्छा च तस्मिन्नधिदेवतानाम् ।।२०६६।।

उपवासमनध्यायं कुर्वन्तु स्वगणस्थिताः ।
अनध्याय मृतेऽन्यस्मिन्नुपवासो विकल्प्यते ।।२०६७।।

उत्कृष्ट और मध्यम नक्षत्रमें क्षपकका मरण हुआ है तो सघको रक्षाके लिये प्रयत्नपूर्वक जिनेन्द्र देवकी अर्चा आदि कराके शांति की जाती है ।।२०६५।।

विशेषार्थ—भगवती आराधनामें उत्कृष्ट तथा मध्यम नक्षत्रमें क्षपकके मरण होनेपर जो क्रिया बतायी है वह इसप्रकार है—जहां क्षपकका शव क्षेपण करे उस शवके निकट घासका प्रतिबिंब स्थापित करके यह दूसरा अर्पण किया है यह चिरकाल तक यहांपर रहकर तप करे ऐसा जोरसे तीन बार उच्चारण करना चाहिये । उत्कृष्ट नक्षत्रमें समाधि होवे तो घासके दो प्रतिबिंब रखे जाते हैं । यदि घास तृणके प्रतिबिंबका अभाव हो तो तंडुल चूर्ण, भस्म, ईटोंका चूर्ण आदिमेसे किसीको लेकर शवके निकट ऊपरी भागमें का अक्षर लिखना और नीचेके भागमे य अक्षर लिखना अर्थात् "काय" लिखना चाहिये ।

अथवा क्षपकका शव भूमिपर जहां स्थापित करना है उस स्थानपर पहले चावल आदिके चूर्णसे ऊपर क और नीचे त लिखकर पुनः उसपर शव स्थापित करना चाहिये ।

क्षपकके शरीरका यथास्थान क्षेपण करनेके अनंतर संघ द्वारा करणीय कार्य बताते हैं—

समाधिके अनतर शवकी क्रिया सपन्न होनेपर चार आराधनाओंकी प्राप्ति हमको भी बिना किसी विघ्न बाधाओंके होवे । इस भावनासे समस्त सघको कायोत्सर्ग करना चाहिये । तथा क्षपककी समाधि जिस स्थान पर हुई थी, उस स्थानके अधिष्ठाता देवतासे पृच्छा करनी चाहिये कि यहांपर संघ रहना चाहता है ।।२०६६।।

क्षपकका समाधिमरण होनेपर अपने सघके साधुजन उपवास करे एव स्वाध्याय को नहीं करे । अन्य संघमें समाधिमरण हुआ है तो स्वाध्याय नही करे और उपवास भजनीय है, करे अथवा नही करे ।।२०६७।।

गत्वा सुखविहाराय संघस्य विधिकोविदैः ।
द्वितीयेऽह्नि तृतीये वा द्रष्टव्यं तत्कलेवरम् ॥२०६८॥

यावन्तो वासरा गात्रमिदं तिष्ठत्यविक्षतम् ।
शिवं तावन्ति वर्षाणि तत्र राज्ये विनिश्चितम् ॥२०६९॥

आकृष्य नीयते यस्यां तदंगं श्वापदादिभिः ।
विहर्तुं युज्यते तस्यां संघस्य ककुभिस्फुटम् ॥२०७०॥

यदि तस्य शिरो दन्ता दृश्येरन्नगमूर्धनि ।
तदा कर्ममलान्मुक्तो ज्ञेयः सिद्धिमसौगतः ॥२०७१॥

समाधिमरणके होनेके अनंतर सघके सुखपूर्वक विहारके लिये बुद्धिमान मुनियों को दूसरे दिन या तीसरे दिन उक्त निषद्यास्थल पर जाकर उस क्षपकके शवको देखना चाहिये । अर्थात् ज्ञानी मुनिजन निषद्या स्थान पर जाकर देखते है कि क्षपकका शव किस स्थितिमें है ॥२०६८॥ जितने दिन तक क्षपकका शरीर पक्षी आदिके द्वारा क्षत विक्षत नही हुआ है उतने वर्ष तक उस देशके राज्यमे नियमसे सुख शाति रहती है ॥२०६९॥ क्षपकका कलेवर जगली पशु पक्षी द्वारा जिस दिशामे खींचकर ले जाया गया हो उस दिशामें सघका विहार करना उचित होता है ॥२०७०॥

भावार्थ—जिस दिशामे कलेवरको पक्षी आदि लेगये है उस दिशामें क्षेम है ऐसा जानकर सघ उस तरफ विहार करे ।

पक्षी आदि जीव यदि क्षपकका मस्तक या दांत पर्वत पर लेगये हैं तो समझना चाहिये यह क्षपक मुनि कर्ममलोंसे मुक्त होकर सिद्धिको प्राप्त कर चुका है ॥२०७१॥

यदि क्षपकके मस्तकको उच्चस्थान पर पक्षी आदि लेगये हों तो क्षपक वैमानिक देव हुआ है ऐसा समझे । समभूमि पर लेगये हों तो ज्योतिषी और व्यतर देव हुआ ऐसा समझे तथा किसी गर्त–गढ्ढेमे मस्तकको ले गये है तो भवनवासी देव हुआ है ऐसा निश्चय करे । इसप्रकार शवको या उसके अवयवको पक्षी आदि द्वारा किस स्थानपर ले जाया गया है उसको देखकर क्षपककी गतिको ज्ञात करना चाहिये । इसप्रकार क्षपक का समाधिमरण, उसके मृत शरीरका क्षेपण इत्यादि विधिको जिनेन्द्र देवने कहा है,

वैमानिकः स्थलं यातो ज्योतिष्को व्यंतरः समम् ।
गर्तां च भावनस्तस्य गतिरेषा समासतः ।।२०७२।।

छदः उपजाति—

इदं विधान जिननाथदेशितं ये कुर्वते श्रद्दधते च भक्तितः ।
आदाय कल्याणपरंपरामिमे प्रयांति निष्ठामपनीतकल्मषाम् ।।२०७३।।

।। इति आराधकांग त्यागः ।।

भगवंतोऽत्र ते शूराश्चतुर्द्धाराधनां मुदा ।
संघमध्येप्रतिज्ञाय निर्विघ्नां साधयन्ति ये ।।२०७४।।
ते धन्या ज्ञानिनो धीरा लब्धनिःशेषचिंतिताः ।
यैरेषाराधना देवी सपूर्णा स्ववशीकृता ।।२०७५।।
किं न तैर्भुवने प्राप्तं वंदनीय महोदयैः ।
लीलयाराधना प्राप्ता यैरेषा सिद्धिसफला ।।२०७६।।

इन समस्त विषयोंकी जो महामना श्रद्धा करते है, इन सपूर्ण आराधना विधिको भक्तिसे स्वयं करते हैं, वे कल्याण परंपरा–मनुष्य तथा देवोंके सुखको प्राप्तकर अंतमे कर्ममलो को दूरकर सिद्धालयमें निवास करते है–मोक्षको प्राप्त कर लेते है ।।२०७२।।२०७३।।

इसप्रकार आराधक अंग त्यागनामा चालीसवां अधिकार पूर्ण हुआ ।

चार प्रकारकी आराधनाको करनेवाले आराधक मुनिजनोंकी प्रशसा–स्तुति करते हैं—

वे मुनिराज शूर है, पूज्य हैं, जिन्होने संघके मध्यमें चार प्रकारकी आराधना को हर्षपूर्वक स्वीकार करके–समाधिमरण करनेकी प्रतिज्ञा लेकरके उसको निर्विघ्न तथा पूर्ण किया है । वे ज्ञानी मुनिजन धन्य है, धीर है जिन्होने अपने चिंतित समस्त संयम तप आदिको पाया है । जिनके द्वारा यह संपूर्ण आराधना देवी स्ववशमे कर ली गयी है । जिन्होने लीलामात्रसे सिद्धिरूप फलको देनेवाली यह आराधना प्राप्त करली है उन महापुरुषोने इस विश्वमें किस वंदनीय श्रेष्ठ पदको नही पाया ? सब कुछ श्रेष्ठ वद्य पदको पाया है । क्योंकि सर्व वद्य पदोमें महावंद्य जो सिद्धिपद है उसको जिन्होंने पाया उन्होंने सर्व वंदनीय पद पाया ही है ।।२०७४।।२०७५।।२०७६।।

धन्या महानुभावास्ते भक्तितः क्षपकस्य यैः ।
ढौकिताराधना पूर्णा कुर्वाणैः परमादरम् ।।२०७७।।

परस्य ढौकिता येन धन्यस्याराधनाङ्गिनः ।
निर्विघ्ना तस्य सा पूर्णा सुखं संपद्यते मृतौ ।।२०७८।।

स्नांति क्षपकतीर्थे ये कर्मकर्दमसूदने ।
पापपंकेन मुच्यन्ते धन्यास्तेऽपि शरीरिणः ।।२०७९।।

पर्वतादीनि तीर्थानि सेवितानि तपोधनैः ।
जायंते यदि सत्तीर्थं कथं न क्षपकस्तदा ।।२०८०।।

निर्यापक की स्तुति—

वे महानुभाव धन्य हैं जिन्होंने भक्तिसे क्षपककी आराधना परमादरको करते हुए पूर्ण प्राप्त करायी है । अर्थात् क्षपक द्वारा चार आराधनाको करते समय भली प्रकारसे विनय एवं भक्ति पूर्वक उस आराधनामें सहायता की है–क्षपककी वैयावृत्यकी है वे धन्य हैं । जो मुनिगण महाधन्य ऐसे अन्य क्षपक मुनिके आराधनाको करनेमें सहायता देते हैं आराधनाको प्राप्त करवाते हैं उन मुनियोंके मरणकालमें नियमसे सुख शांति एवं निर्विघ्नतासे चार आराधना पूर्णरूपसे प्राप्त होती है । अर्थात् अन्यकी सल्लेखना करनेमें जो सहायता देता है उसको सल्लेखना नियमसे होती है उसमें कोई बाधा नहीं आती ।।२०७७।।२०७८।।

क्षपक मुनिका दर्शन वंदन करनेवाले भव्य पुण्यशाली हैं ऐसा कहते हैं—

कर्मरूपी कोचड़को धोनेवाले–उस कीचड़को दूर करनेवाले क्षपक रूप तीर्थमें जो भव्यजीव स्नान करते है वे धन्य है वे भी पापरूप कीचड़से छूट जाते है ।।२०७९।।

क्षपक मुनितीर्थ स्वरूप कैसे हैं सो बताते हैं—

तपस्वी मुनिराजों द्वारा सेवित पर्वत आदि स्थान तीर्थ माने जाते हैं अर्थात् जहां पर पर्वत, गुफा आदि स्थानोंपर बैठकर मुनिराज ध्यान करते है आतपनादि योग धारण करते हैं श्रेष्ठ श्रुतज्ञान अवधिज्ञान आदि प्राप्त करते हैं उन स्थानोंको तीर्थ माना जाता है, वे पर्वतादि पवित्र पूज्य होते हैं । तो भक्त प्रत्याख्यान मरण रूप महा-

वंदमानोऽश्नुते पुण्यं योगिनां प्रतिमा यदि ।
भक्तितो न तपोराशिस्तदानीं क्षपकः कथम् ॥२०८१॥

सेव्यते क्षपको येन शक्तितो भक्तितः सदा ।
तस्याप्याराधना देवी प्रत्यक्षा जायते मृतौ ॥२०८२॥

भक्तत्यागः सवीचारो विस्तरेणेति वर्णितः ।
अधुना तमवीचारं वर्णयामि समासतः ॥२०८३॥

॥ इति भक्तत्यागः ॥

तपस्या करनेवाले क्षपक मुनिराज सत् तीर्थरूप कैसे नही हैं ? वे अवश्य ही महातीर्थ स्वरूप हैं, पर्वतादिक तो तपस्वी मुनिके स्पर्शसे तीर्थ हुए हे किन्तु तपस्वी क्षपक मुनि तो स्वयं महान आत्मिकगुण राशिका भडार हैं वे ही मुख्यतीर्थ हैं ॥२०८०॥ देखिये ! मुनिराजोंकी प्रतिमाकी वदना करनेवाला व्यक्ति यदि पुण्यको प्राप्त करता है तो तपकी राशि स्वरूप योगी क्षपक भक्तिसे कैसे वंदनोय नही है ? अवश्य है । उनकी वंदना करनेवाला महान पुण्योपार्जन करता हो है ॥२०८१॥ जो भी भव्य जीव शक्तिसे भक्तिसे सदा क्षपककी सेवा वैयावृत्य करता है, वंदना करता है, नमस्कार पूजा करता है उसके भी क्षपकके समान आराधना देवी मरणकालमें प्रत्यक्ष प्रगट होती है । अर्थात् क्षपककी वदना सेवा करनेवाले पुरुषका समाधिपूर्वक मरण होता है ॥२०८२॥

इसप्रकार यहां तक सवीचार भक्त प्रत्याख्यान मरणका विस्तार पूर्वक वर्णन किया । अब आगे अवीचार भक्त प्रत्याख्यान मरणका संक्षेपसे वर्णन करते हैं ॥२०८३॥

भावार्थ—प्रारभमें भक्त प्रत्याख्यान मरणके दो भेद किये थे सवीचार भक्त प्रत्याख्यान और अवीचार भक्त प्रत्याख्यान । जिनकी आयु अभी शीघ्र समाप्त नहीं होनेवाली है और कुछ कारण विशेष समाधिके लिये उपस्थित हो रहे हैं तब ज्ञानी मुनिजन क्रमशः आहार और कषायको कृश करते हुए अंतमें सर्वथा त्यागकर आत्माका ध्यान करते हुए प्राण छोड़ते हैं ऐसी विधि जिसमें होती है वह सवीचार भक्त त्याग है,

इस समाधिमरणका वर्णन करनेमें चालीस अधिकार कहे–अर्ह, लिंग, शिक्षा, विनय, समाधि, अनियत विहार, परिणाम, उपधित्याग, श्रिति, भावना, सल्लेखना, दिशा, क्षपण, अनुशिष्टि, परगणचर्या, मार्गणा, सुस्थित, उपसर्पण, निरूपण, प्रतिलेख, पृच्छा, एकसंग्रह, आलोचना, गुणदोष, शय्या, संस्तर, निर्यापक, प्रकाशन, हानि, प्रत्याख्यान, क्षापण, क्षपणा, अनुशिष्टि, सारणा, कवच, समता, ध्यान, लेश्या, फल, आराधक त्याग ।

इन अधिकारोंमें प्राय: यह ग्रंथ विभक्त है ।

अवीचार भक्त त्याग इंगिनी प्रायोपगमनाधिकार

१०

भक्तत्यागोस्त्यवीचारो निश्चेष्टस्य दुरुत्तरे ।
सहसोपस्थिते मृत्यौ योगिनो वीर्यधारिणः ।।२०८४।।
निरुद्धं प्रथमं तत्र निरुद्धतरमूचिरे ।
द्वितीयं तु तृतीयं च निरुद्धतममुत्तमाः ।।२०८५।।
निरुद्धं कथितं तस्य रोगातंकादिपीडितं ।
जंघाबलविहीनो यः परसंघगमाक्षमः ।।२०८६।।

अवीचार भक्त प्रत्याख्यान मरणका वर्णन—

वीर्यधारी योगी मुनिके अकस्मात् जिसका रोकना कठिन है। ऐसे मरणके उपस्थित हो जानेपर चेष्टा रहित–शक्ति रहित उस साधुके अवीचार भक्त प्रत्याख्यान नामका समाधिमरण होता है। अर्थात् अचानक भयंकर रोग, उपसर्ग आदिके आनेपर आहार त्याग रूप अवीचार भक्त प्रतिज्ञा मरणको मुनि स्वीकार करते हैं ।।२०८४।।

अवीचार भक्त त्याग मरणके तीन भेद हैं—निरुद्ध, निरुद्धतर और परम निरुद्ध इसप्रकारके तीन भेदोंका गणधरादि उत्तम ऋषियोंने वर्णन किया है ।।२०८५।।

निरुद्ध अवीचार भक्त त्यागका कथन करते हैं—

उस मुनिके निरुद्ध नामका अवीचार भक्त प्रत्याख्यान कहा है, जो रोग, आतंक आदिसे पीड़ित है, जघाबलसे रहित है, परसंघमें जानको असमर्थ है ।।२०८६।।

यावदस्ति बलं वीर्यं स्वयं तावत्प्रवर्तते ।
क्रियमाणोपकारस्तु तदभावे गणेन सः ॥२०८७॥
सन्निरुद्धमवीचारं स्वगणस्थमितीरितम् ।
अपरः प्रक्रमः सर्वः पूर्वोक्तोऽत्रापि जायते ॥२०८८॥
प्रकाशमप्रकाशं च स्वगणस्थमिति द्विधा ।
जनज्ञातं मतं पूर्वं जनाज्ञातं परं पुनः ॥२०८९॥

निरुद्ध नामके अवीचार भक्त प्रतिज्ञाको करने वाला मुनि जबतक बल और वीर्य है तब तक अपनी आवश्यक क्रियाये एवं शारीरिक क्रिया स्वय करता है और जब बल रहित होता है तब संघके द्वारा उपकृत होकर संघकी सहायता लेकर उक्त क्रियाये करता है ॥२०८७॥

भावार्थ—शक्ति जबतक है तबतक रत्नत्रय पालनमे स्वयं प्रवृत्ति करता है और जब अत्यन्त अशक्त हो जाता है तब सघस्थ मुनि उसकी सेवा करते है ।

इसतरह अपने संघमे रहकर जो समाधिमरण किया जाता है वह निरुद्ध अवीचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहलाता है । इसमे जो क्रम सवीचार भक्त प्रत्याख्यान मरणमे कहा है वही सर्व क्रम होता है ॥२०८८॥

विशेषार्थ—जिस मुनिके पैरोका सामर्थ्य कम हुआ है अथवा रोगादिसे पीड़ित है, अत: अन्य सघमें जानेमें असमर्थ है ऐसे मुनि निरुद्ध अवीचार भक्त प्रत्याख्यान मरणको करते हैं अर्थात् अपने संघमे रहकर क्रमश: आहारादिके त्यागरूप विधिको करके समाधिमरण करना निरुद्ध अवीचार भक्त त्यागमरण है । अवीचार भक्त त्यागमें अनियत विहार स्वगणका त्याग, परगणमें प्रवेश आदि विधि नही होती । यह मुनि स्वगणमे आचार्यके चरणमूलमे दीक्षासे लेकर आजतक जो जो अपराध हुए है उनको आलोचना करता है तथा निंदा गर्हा, प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त करता है । वह क्षपक मुनि जबतक अपनी सामर्थ्य है तब तक बिना सहायताके प्रवृत्ति करता है, जब सामर्थ्य नहीं रहती तब अन्य मुनिगणसे सहायता लेकर रत्नत्रय पालन करता है ।

अपने गणमें स्थित होकर निरुद्ध अवीचार भक्त त्याग नामका जो समाधिमरण किया जाता है, उसके दो भेद हैं प्रकाश और अप्रकाश । जो जनता द्वारा जाना

द्रव्यं क्षेत्रं बलं कालं ज्ञात्वा क्षपकमानसं ।
अप्रकाशं मतं हेतावन्यत्रापि सतीदृशे ।।२०६०।।

।। इति निरुद्धं ।।

जलानलविषव्यालसन्निपातविसूचिकाः ।
हरंति जीवितं क्षिप्रं भानूस्रा इव तामसम् ।।२०६१।।

जाय वह प्रकाश अवीचार भक्तत्याग कहलाता है और जो जनता द्वारा ज्ञात नहीं है वह अप्रकाश अवीचार भक्त त्याग मरण समझना चाहिये ।।२०८९।।

द्रव्य, क्षेत्र, बल, काल और क्षपकका मानस इतनी बातोंको ज्ञातकर निरुद्ध अवीचार भक्त त्याग प्रकाशित या अप्रकाशित किया जाता है । आशय यह है कि इस समय वसतिका आदि योग्य उपलब्ध है या नही, क्षपकके स्वयंका मानस दृढ धैर्य युक्त है या नही क्षेत्र देश योग्य है या नही, क्षपकमें शक्ति कितनी है, काल ऋतु रूक्ष–उष्ण या कैसी है इत्यादि बातोंका विचार करके यदि ये सब अनुकूल होवे तो निरुद्ध अवीचार भक्त त्यागको जनसमुदाय–श्रावक आदिके समक्ष प्रकाशित करना चाहिये अर्थात् यह मुनिराज सल्लेखना कर रहे हैं आहारका त्याग किया है इत्यादि प्रगट करना चाहिये । और यदि क्षपक परीषह आदिसे घबरानेवाला है अर्थात् धैर्य एवं शक्तिसे कमजोर है । समय समाधिके अनुकूल नहीं है ऐसे समयमें समाधिका अवसर प्राप्त होता है तो क्षपकके सल्लेखनाको–आहारादिका त्याग किया इत्यादि बातोंको जनताके समक्ष प्रगट नहीं करना चाहिये । क्षपकके बंधुगण या राजा प्रजा सल्लेखनाके विरुद्ध होवे तो भी क्षपककी सल्लेखनाकी तैयारीको प्रगट नहीं करे ।।२०६०।। इसप्रकार निरुद्ध अवीचार भक्त प्रत्याख्यान मरणका स्वरूप कहा ।

अब निरुद्धतर अवीचार भक्त प्रत्याख्यानका कथन करते हैं—

जल, अग्नि, विष, जंगली क्रूर पशु इत्यादिके द्वारा घोर उपसर्ग उपस्थित होनेपर तथा सन्निपात रोग, तीव्र शूल रोग आदिके होनेपर तत्काल मरणका प्रसंग प्राप्त होता है, अथवा ये जलादि उपसर्ग एव शूल आदि रोग शीघ्र जीवनको हर लेते हैं, जैसे सूर्यकिरणें अंधकारको हर लेती हैं ।।२०६१।।

यावन्न क्षीयते वाणी यावदिंद्रिय पाटवम् ।
यावद्धैर्यं बलं चेष्टा हेयादेयविवेचनम् ।।२०६२।।

तावद्वेनया ज्ञात्वा ह्रियमाणं स्वजीवितम् ।
आलोचनां गुरोः कृत्वा धीरा मुंचन्ति विग्रहम् ।।२०६३।।

स्वगणस्थमिति प्राज्ञैर्निरुद्धतरमीरितम् ।
अवशेषो विधिस्तस्य ज्ञेयः पूर्वत्र दर्शितः ।।२०६४।।

।। इति निरुद्धतरम् ।।

इन जलादिके उपसर्ग उपस्थित होनेपर एवं सन्निपात आदि रोगोंके उपस्थित होनेपर मुनिजन जबतक वाणी—बोलनेकी शक्ति नष्ट नहीं होती जबतक इन्द्रियोंमें श्रवण आदि की शक्ति समाप्त नहीं होती, उक्त तीव्र कष्ट वेदनाके कारण अपना धैर्य, बल, चेष्टा नष्ट नही होती तथा हेय उपादेयको विचार करनेकी बुद्धि समाप्त नहीं होती तबतक ही उक्त वेदना आदिसे अपनी आयु क्षीण होती देखकर धीर वीर मुनिराज गुरुके निकट आलोचना करके शरीरका त्याग कर देते है ।।२०६२।।२०६३।।

विशेषार्थ—जल प्रवाह द्वारा बहनेका प्रसंग आगया है, कही वनमें संघ है और अचानक दावाग्नि लग गई या जंगली पशुका आक्रमणका प्रसंग है अकस्मात् तीव्र शूल आदि रोग आ गया इत्यादि मरणके कारण उपस्थित होते देखकर अपनी बोलनेकी शक्ति, सुननेकी शक्ति, सोचनेकी शक्ति नष्ट होनेके पहले ही महान् मुनिराज जो आचार्य या साधु अपने निकट हों उन्हीके समक्ष दीक्षित जीवनमें जो जो दोष अपराध हुए है उनकी आलोचना करते है तथा आहार, उपधि, शय्या आदि त्याग कर शरीरको छोड़ देते हैं ।

इसप्रकार अपने संघमें स्थित रहकर जो उक्त मरणके कारणोंके अकस्मात् उपस्थित होनेपर सल्लेखना ग्रहणकी जाती है उसे प्राज्ञजन निरुद्धतर अवीचार भक्त त्याग मरण कहते है । इस मरणकी शेष विधि पूर्वोक्त विधिके अनुसार है ।।२०६४।।

विशेषार्थ—निरुद्ध अवीचार भक्त त्याग और निरुद्धतर अवीचार भक्त त्याग ये दोनों मरण अपने संघमे रहकर ही होते हैं किन्तु निरुद्धमे तो जघाबल घट जानेसे या अन्य किसी कारणसे परसघमें जानेको साधु असमर्थ हुए है और समाधि—ग्रहणके

यदा संक्षिप्यते वाणी व्याधिव्यालविषादिभिः ।
तदा शुद्धधियः साधोर्निरुद्धतममिष्यते ॥२०९५॥

हरतो जीवितं दृष्ट्वा वेदनामनिवारणाम् ।
जिनादीनां पुरो धीरः करोत्यालोचनां लघु ॥२०९६॥

आराधनाविधिः पूर्वं कथितो विस्तरेण यः ।
अत्रापि युज्यमानोऽसौ द्रष्टव्यः श्रुतपारगैः ॥२०९७॥

कारण उपस्थित हुए है तो क्रमशः आहारका त्याग करते हुए तथा आलोचना आदिको करते हुए समाधिमरण करते हैं और निरुद्धतर अवीचार भक्त त्यागमें अचानक ही कोई उपसर्ग या भयंकर रोग आदि आगये है तो शीघ्रतासे जो भी आचार्य आदि निकट होवे उनके पास अपने दोषोंकी आलोचना निंदा गर्हा करके चतुराहारका त्याग कर शरीरको छोड़ते है ।

निरुद्धतम या परम निरुद्ध अवीचार भक्त प्रत्याख्यानका स्वरूप बतलाते है—

जब व्याधि, क्रूर पशु पक्षियो द्वारा एव विष आदिके द्वारा वाणी आदिकी शक्ति समाप्त प्रायः होने लगती है तब निर्मल बुद्धिवाले मुनिराजके निरुद्धतम अवीचार भक्त प्रत्याख्यान मरण होता है ॥२०९५॥ जिसको रोकना अशक्य है ऐसी भयानक वेदना अपने जीवनको हरण करती देखकर धीर साधु जिनेन्द्र आदिके समक्ष अर्थात् अपने मनमें जिनेन्द्र देवको विराजमान कर शीघ्र ही दोषोंकी आलोचना करता है ॥२०९६॥

जो आराधना विधि पहले विस्तारसे श्रुत पारगामी आचार्यो द्वारा कही गयी है वह विधि इस निरुद्धतर अवीचार भक्त त्यागमे भी होती है ॥२०९७॥

विशेषार्थ—अवीचार और अविचार ऐसे दोनों ही शब्दोके प्रयोग इस मरणके नाममें देखे जाते है । विचार अर्थात् सोचना । जिस मरणमें सोचनेका अधिक अवसर नहीं है, आयु ह्रासके तरफ उन्मुख है ऐसा देखकर यह मरण किया जाता है । वर्षों पहलेसे तैयारी करना अपना सघ छोड़कर अन्य सघमे प्रवेश करना इत्यादि विषय इस मरणमें नहीं होते है । इसमें मरणकी संभावना शीघ्र, शीघ्रतर और शीघ्रतम होती

आराध्याराधनादेवीं आशुकारं मृतावपि ।
केचित्सिध्यन्ति जायन्ते केचिद्वैमानिकाः सुराः ॥२०६८॥

प्रमाणं कालबाहुल्यमस्य नाराधनाविधेः ।
तीर्णा मुहूर्तमात्रेण बहवो भवनीरधिम् ॥२०६९॥

देखकर उसी प्रकारसे साधुजन उस उस मरणको करनेको तैयार रहते है अर्थात् जिसका जंघाबल घट गया है और रोग भी असाध्य हो रहा है तब वह निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरणको स्वीकार करता है । तथा जिसके उपसर्ग या अचानक तीव्र शूल आदि आये है और निकट आचार्य आदि मौजूद है तो उनके पास आलोचना कर आहार का यावज्जीव त्याग करके जो साधुमरण करते हैं वह निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान है । घोर उपसर्ग या रोग आया और जिसमें गुरुकी निकटता नही है तथा इतना समय ही है कि उनके पास आलोचना कर सके, अत. अपने हृदयमे जिनेन्द्रकी साक्षी करके आलोचना करके आहार आदिका त्यागकर प्राण छोड़नेवाले साधुके निरुद्ध-तम या परम निरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यानमरण होता है ।

निरुद्ध, निरुद्धतम और निरुद्धतर अवीचार भक्त त्यागके स्वरूपको ज्ञातकर कोई प्रश्न करे कि–इसप्रकार शीघ्रतासे अल्प समयमे मरण करनेवालेके आराधनाकी सिद्धि किसप्रकार होगी ? तो इसका उत्तर देते हैं–चार आराधना रूप देवीका शीघ्रतासे आराधना करके मरणवाले मुनि भी कोई सिद्धपदको भी प्राप्त करते है तथा कोई वैमानिक देव भी हो जाते हैं अर्थात् आराधनाको शीघ्रतासे करनेपर भी मुक्त या देव-पर्यायको मुनिजन प्राप्त कर लेते है । क्योंकि रत्नत्रयकी आराधनाकी विधिमें कालकी बहुलता को मुख्यता नहीं होती अर्थात् जो बहुत दिनोंतक समाधिकी विधि चलती रहे वह श्रेष्ठ है उसीसे उच्चगतिको प्राप्ति होती है, और जिसमें उक्त विधि अल्पकालमें होती है वह उच्चगतिका कारण नहीं है ऐसा नही समझना । समाधिमे तो परिणामों की शुद्धि अपेक्षित है । बहुतसे मुनियोंने अन्तर्मुहूर्त्त मात्रमे रत्नत्रयकी आराधना करके संसारसागरको पार किया था–मोक्ष प्राप्त किया था ॥२०६८॥२०६९॥

देखो ! विवर्द्धन नामका राजा चिरकालसे–अनादिकालसे मिथ्यात्वसे भावित था–मिथ्यादृष्टि था, वह आदिनाथ भगवानके चरण सानिध्यमें–उनके समवशरणमें

सिद्धो विवर्द्धनो राजा चिरं मिथ्यात्व भावितः ।
वृषभस्वामिनो मूले क्षणेन धुतकल्मषः ।।२१००।।
।। इति निरुद्धतमम् ।।

प्रोक्ता भक्तप्रतिज्ञेति समासव्यासयोगतः ।
इदानीमिंगिनीं वक्ष्ये जन्मकक्षकुठारिकाम् ।।२१०१।।

जिनदीक्षा लेकर अन्तर्मुहूर्त्त मात्रकालमें रत्नत्रयकी आराधना करके कर्ममलसे मुक्त-सिद्ध हो गया था ।।२१००।।

विवर्द्धनकी कथा—

इस अवसर्पिणीकालके चतुर्थकालके प्रारंभमें आदि तीर्थंकर वृषभनाथने जिन-दीक्षा ग्रहणकर तपस्या द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया था । उनके राज्य अवस्थाके पुत्र भरत थे जो एकसौ एक भाईयोंमें सर्वजेष्ठ पुत्र थे, महापुण्योदयसे राजा भरतके आयुध-शालामें चक्ररत्न उत्पन्न हुआ । सपूर्ण छह खडोको जीतकर भरत षट्खडाधिपति चक्रवर्ती हुए; उनके हजारो पुत्र हुए । उनमें विवर्द्धनकुमार को आदि लेकर कई पुत्र मूक हुए थे—बोलते नही थे । किसी दिन चक्रवर्ती उन्हे लेकर समवशरणमे भगवान् आदिनाथके दर्शनार्थ गये । समवशरण सभामें बैठकर दिव्यध्वनि सुनते ही वे सब कुमार विरक्त हुए दिव्यध्वनिमें अपने पूर्वभवोको सुनकर वैराग्यसे ओतप्रोत होकर तत्काल प्राप्त हुई शक्तिके द्वारा अर्थात् गूंगापन नष्ट हो जानेपर उन्होंने आदि प्रभुसे जिनदीक्षा ग्रहण की । और इसतरह उनको लेश्याकी अत्यत विशुद्धि प्राप्त हुई । छटे सातवें गुणस्थानोंमें परिवर्तित होते हुए उन्होने मुहूर्त्त प्रमाण कालमे ही शुक्लध्यानको प्राप्त किया । क्षपक श्रेणिमें क्रमशः आरोहण कर घातिया कर्मोका नाश किया तथा अघातिया कर्मोका भी नाश करके सिद्धपद पाया । इसतरह अत्यंत अल्पकालमें उन्होंने शाश्वत सुखको पाया था । अतः भव्य जीवोको चाहिये कि कालको न देखे कि अब अल्पकाल ही रह गया है कैसे आत्मकल्याण करे इत्यादि, जब आत्मबोध हो तभी वैराग्य धारणकर आत्महित करना चाहिये ।

विवर्द्धनकुमार की कथा समाप्त ।

इसप्रकार अविचार भक्त प्रतिज्ञामरणका वर्णन किया ।

इंगिनी मरणका वर्णन—

भक्त प्रतिज्ञा मरणका संक्षेपसे तथा विस्तारसे वर्णन इसप्रकार मेरे द्वारा

उक्तो भक्तप्रतिज्ञाया विस्तारो यत्र कश्चन ।
इंगिनीमरणेऽप्येष यथायोगं विबुध्यताम् ।।२१०२।।

प्रव्रज्याग्रहणे योग्यो योग्यं लिंगमधिष्ठितः ।
कृतप्रवचनाभ्यासो विनयस्थः समाहितः ।।२१०३।।

निष्पाद्य सकलं संघं इंगिनीगतमानसः ।
श्रितिस्थो भावितस्वान्तः कृतसल्लेखनाविधिः ।।२१०४।।

संस्थाप्य गणिनं संघे क्षमयित्वा त्रिधाखिलं ।
यावज्जीवं वियोगार्थी दत्वाशिक्षां प्रियकराम्।। २१०५।।

किया गया । अब आगे इगिनी मरणका वर्णन करूंगा । कैसा है इंगिनी मरण ? जन्मरूप वनको नष्ट करनेके लिये–काटनेके लिये कुठारके समान है ।।२१०१।। भक्त प्रतिज्ञा मरणमें जो कोई आराधनाकी विधि कही है वह इस इगिनी मरणमे भी यथा-योग्य जाननी चाहिये ।।२१०२।।

इगिनी मरणके स्वामी कौन है सो बताते है—

जो व्यक्ति जिनदीक्षाके योग्य है और योग्य साधुवेषको (दिगंबर मुनिमुद्राको) जिसने धारण किया है, जिसने जैन आगमका भली प्रकारसे अभ्यास किया है, विनयो और शांत है, दीक्षाके अनंतर जिसने अपने संघको रत्नत्रयकी साधनामें निष्पन्न किया है, इंगिनी मरणको प्राप्त करनेकी जिसकी इच्छा है, परिणामोंको निर्मलताकी श्रेणिमें जो स्थित है अर्थात् आगे आगे अधिक अधिक विशुद्ध परिणामोंमे स्थित है तपोभावना, श्रुतभावना आदि श्रेष्ठ भावनासे भावित है मनः जिसका एवं काय तथा कषायको जिसने कृश किया है ऐसे विशिष्टमुनिराज–आचार्य संघमें अपने स्थानपर अन्य योग्य शिष्यको आचार्य पद पर स्थापित करके समस्त संघसे मन वचन, काय द्वारा क्षमा याचना करके कराके यावज्जीवनके लिये संघका त्याग करते समय संघको अत्यंत हितकारी प्रियकारी उत्तम शिक्षा–उपदेश देते हैं । और इसप्रकार सघ आदिके प्रति अपना कर्तव्य पूर्ण करनेसे जो कृतकृत्यताका अनुभव कर रहे हैं इससे तथा समाधि प्राप्तिकी उत्सुकतासे जिन्हें अत्यंत हर्ष हो रहा है ऐसे गुण और शीलोंसे मंडित आचार्य सघसे बाहर निकलते हैं । संघसे निकलकर वे

कृतार्थतां समापन्नो हर्षाकुलितमानसः ।
निर्यातो गणतः सूरिर्गुणशीलनिभूषितः ।।२१०६।।

निःक्रम्य स्थंडिलादौ स विविक्ते बहिरंतरे ।
भूशिलासंस्तरस्थायी स्वं निर्यापयति स्वयम् ।।२१०७।।

योग्यं पूर्वोदितं कृत्वा संस्तरं स्थंडिले तृणैः ।
पूर्वस्यामुत्तरस्यां वा शिरो दिशि करोति सः ।।२१०८।।

भावशुद्धिमधिष्ठाय लेश्याशुद्धिविवर्द्धितः ।
कर्मविध्वंसनाकांक्षी मूर्धन्यस्तकरद्वयः ।।२१०९।।

विधायालोचनामग्रे जिनादीनामदूषणाम् ।
दर्शनज्ञानचारित्रतपसां कृतशोधनः ।।२११०।।

यावज्जीवं त्रिधाहारं प्रत्याख्याय चतुर्विधं ।
बाह्यमाभ्यंतरं ग्रंथमपाकृत्य विशेषतः ।।२१११।।

आचार्य एकान्तमें बाहर भीतरमें जो प्रासुक है ऐसे स्थडिल आदि स्थानमें पहुंचते है, वहां भूमिरूप या शिलारूप संस्तरमें स्वयंको आरोपित करते हैं अर्थात् अन्यकी सहायता से रहित एकाकी शरीरमात्र है सहायक जिनका ऐसे वे योगीराज भूमि आदिका आश्रय लेते हैं । पहले भक्त प्रत्याख्यान मरणमें संस्तरका जैसे विधान बताया था वैसे नगर आदिसे याचना करके तृणादिको लाकर उनसे अपने शरीर प्रमाण सस्तर बनाकर पूर्व या उत्तर दिशामें शिर करते हैं [अर्थात् जब जब संस्तरमे शयन करते है तब तब उक्त दिशामें शिर करते है ।।२१०३।।२१०४।।२१०५।।२१०६।।२१०७।।२१०८।।

इंगिनी मरणके इच्छुक वे मुनिराज अपने भावोकी शुद्धि करते है एवं लेश्या को विशुद्धि—पीत पद्म और शुक्ल लेश्यारूप विशुद्धिको बढाते हैं, कर्मोंके नाशकी इच्छा-वाले वे मुनिराज दोनों हाथोंको जोड़कर मस्तकपर रखते हैं और जिनेन्द्र आदिके समक्ष अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप संबधी अतीचारोंकी निर्दोष आलोचना करके अपने अपराधोका शोधन करते हैं ।।२१०९।।२११०।। वे मुनिराज मन, वचन, कायसे

परिषहोपसर्गाणां कुर्वाणो निर्जयं परम् ।
गाहमानः परां शुद्धि धर्मध्यानपरायणः ।।२११२।।

निषद्योत्थाय निःशेषामात्मनः कुरुते क्रियाम् ।
विहरन्नुपसर्गेऽसौ प्रसाराकुंचनादिकम् ।।२११३।।

स्वयमेवात्मनः सर्वं प्रतिकर्म करोति सः ।
आकांक्षति महासत्त्वः परतोऽनुग्रहं न हि ।।२११४।।

देवमानवतिर्यग्भ्यः संपन्नमतिदारुणम् ।
उपसर्गं महासत्वः सहतेऽसौ निराकुलः ।।२११५।।

दुःशीलभूतवेतालशाकिनीग्रहराक्षसैः ।
न संभीषयितुं शक्यो भीमैरपि कथंचन ।।२११६।।

त्रिदशैर्विक्रियावद्भिश्चेतश्चोरणकारिणीं ।
प्रदर्श्य महतीमृद्धि लोभ्यमानो न लुभ्यति ।।२११७।।

जीवन पर्यंतके लिये चार प्रकारके आहारका त्याग करते है तथा विशेषरूपसे बाह्यान्तर परिग्रहका त्याग करते है ।।२१११।। परोषह और उपसर्गों पर उत्कृष्ट विजय करते हुए परम शुद्धिको प्राप्तकर सदा धर्म्यध्यानमें तत्पर रहते है ।।२११२।।

जिस समय उपसर्ग नही है उस वक्त अपनो उठने बैठने आदि संपूर्ण क्रियाको तथा शरीरको फैलाना सिकोड़ना आदिको स्वयं करते है ।।२११३।। इंगिनी मरण करनेवाले मुनि अपने कार्य-शौच हाथपैरका सहलाना, खड़े होना गमन करना आदिको स्वयं करते हैं । वे महाशक्तिशाली-उत्तम सहननधारी मुनि कदाचित भी परसे सेवा, अनुग्रह, सहायता नहीं चाहते ।।२११४।। देव मनुष्य और तिर्यंच द्वारा दारुण उपसर्ग किया जानेपर उसको वे बलवान मुनि शांतभावसे निराकुल हो सहते है ।।२११५।। महा धैर्यशाली उन मुनिराजको खोटे भयंकर भूत, प्रेत, वेताल, शाकिनी, ग्रह राक्षस आदिके द्वारा किसी तरह भी डराया नही जा सकता ।।२११६।। विक्रिया ऋद्धिधारी देवों द्वारा चित्तको चुराने वाली बड़ी भारी ऋद्धिको दिखाने पर भी वे मुनिश्वर कभी भी मोहित नहीं होते अर्थात् कोई देव उन्हे ऋद्धि वैभव दिखलाकर मोहित करना चाहे संयमसे च्युत करना चाहे तो कदापि नही कर सकते ।।२११७।। उन योगोश्वरको

संपद्यतेऽखिलास्तस्य दुःखाय यदि पुद्गलाः ।
तथापि जायते जातु ध्यानविघ्नो न धीमतः ।।२११८।।

सुखाय यदि लभ्यंते सर्वपुद्गलसंचयाः ।
तथापि धीरधीर्नासौ ध्यानतश्चलतिस्फुटम् ।।२११९।।

उपेक्षते विनिक्षिप्तः सचित्तहरितादिषु ।
उपसर्गशमे भूयो योग्यं स्थानमियर्त्ति सः ।।२१२०।।

परीषहोपसर्गाणामेवं विषहनोद्यतः ।
मनोवाक्कायगुप्तोऽसौ निःकषायो जितेंद्रियः ।।२१२१।।

इहामुत्र सुखे दुःखे जीविते मरणे सुधीः ।
सर्वथा निःप्रतीकारश्चतुरंगे प्रवर्तते ।।२१२२।।

वाचनापृच्छनाम्नाय धर्म देशन वर्जितः ।
धीरः सूत्रार्थयोः सम्यग्ध्यायत्येकाग्र मानसः ।।२१२३।।

संसारके समस्त पुद्गल–पदार्थ दुःख देनेमें उद्यमी होवे तो भी वे आकुलित दु खित नही होते तथा उनके ध्यानमें कभी भी विघ्न नही होता ।।२११८।। तथा संसारके सपूर्ण पुद्गल उनके सुखके लिये प्राप्त होवे तो भी धीर बुद्धिवाले वे यतिराज ध्यानसे चलायमान नही होते ।।२११९।।

किसी क्रूर पशु आदि द्वारा सचित्त हरित तृण ग्रादिपर डाल दिये जानेपर भी वे मुनि उपसर्गको सहते हुए वही स्थित रहते हैं, यदि उपसर्ग दूर हो जाय तो पुनः उसी योग्य प्रासुक स्थानमें लौटकर आ जाते है ।।२१२०।। परीषह और उपसर्गोंको सहन करनेमें सदा उद्यत रहते है, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति इन तीन गुप्तियोंसे युक्त कषायभावसे रहित और जितेन्द्रिय होते है ।।२१२१।।

इस लोक ग्रौर परलोकमें सुख और दुःखमें जीवन और मरणमे वे सर्वथा रागद्वेष रहित होते है और चार आराधनाओमे प्रवृत्त होते हैं ।।२१२२।। वाचना, पृच्छना, आम्नाय और धर्मोपदेश इन चार प्रकारके स्वाध्यायमें प्रवृत्ति नही करते, वे

एवमष्टसु यामेषु निर्निद्रो ध्यानलालसः ।
भवन्तों हठतो निद्रां न निषेवत्यसौ पराम् ।।२१२४।।

स्वाध्यायकाले विक्षेपाद्यंतास्तस्य न च क्रियाः ।
ध्यानं श्मशानमध्येऽपि कुर्वाणस्य निरंतरम् ।।२१२५।।

यथोक्तं कुरुते सर्वमावश्यकमतंद्रितः ।
विधत्ते स द्वयं कालं उपधिप्रतिलेखनम् ।।२१२६।।

सहसा स्खलने जाते मिथ्याकारं करोति सः ।
श्रासीनिषद्यकाशब्दौ विनिःक्रांति प्रवेशयोः ।।२१२७।।

पादयोः कंटके भग्ने रजईक्षणयोर्गते ।
तूष्णीमास्ते स्वय धीरो परेणोद्धरणेऽपि सः ।।२१२८।।

एकाग्र मन होकर सूत्र और अर्थका भलीप्रकारसे चिंतन मात्र करते है अर्थात् अनुप्रेक्षा नामके स्वाध्यायको ही करते है अन्य वाचना आदि स्वाध्यायको नहीं करते ।।२१२३।। इसप्रकार वे योगीश्वर ग्राठो प्रहरोंमे निद्रा रहित और ध्यानके इच्छुक हो रहते हैं, जबरदस्तो निद्रा आजाये तो सोते नहो अथवा कदाचित अति अल्प निद्रा लेते हैं । बहुत निद्रा नही लेते ।।२१२४।। स्वाध्यायकालमे प्रतिलेखन अर्थात् यह क्षेत्र स्वाध्याय योग्य नही है यह काल उपयुक्त नही है इत्यादि विचारको उन्हे आवश्यकता नही होतो क्योंकि वाचना आदि स्वाध्याय नही करते है, श्मशानके मध्यमे भी निरंतर ध्यान करते हैं ।।२१२५।। आलस रहित होकर सर्व आवश्यक सामायिक आदि यथोक्त विधिसे करते हैं, वे दोनों सध्याओंमें पीछी कमडलू सस्तरका प्रतिलेखन-शोधन करते हैं ।।२१२६।। कदाचित किंचित् अतिक्रम अतीचार हो जाय तो "मिच्छा मे दुक्कड" मेरा दोष मिथ्या हो इसप्रकार मिथ्याकार करते हैं, कही वन, गुफा या अपने स्थानमे प्रवेश और निष्क्रमण करते समय अस्सहो अस्सहो, निस्सही निस्सहो शब्दोंका उच्चारण करते हैं ।।२१२७।। इंगिनोमरणको ग्रहण करनेवाले मुनोश्वरके पैरोंमे काँटे लग जाय तो तथा आंखोमें धूली आदि जाय तो मौन रहते है उन काटे आदिको निकालते नही, कदाचित् कोई अन्य निकाल देवे तो मौन रहते है ।।२१२८।।

इसतरह कठोर तप करते हुए उनके नानाप्रकारकी ऋद्धियां उत्पन्न होवे तो वे महामना विराग युक्त है मानस जिनका ऐसे कभी भो उन ऋद्धियोका सेवन-प्रयोग

नानाविधासु जातासु लब्धिष्वेष महामनाः ।
न किंचित्सेवते जातु विरागोभूतमानसः ।।२१२९।।

वेदनानां प्रतीकारं क्षुदादीनां च धीरधीः ।
न जातु कुरुते किंचिन्मौनव्रतमवस्थितः ।।२१३०।।

उपदेशोऽन्यसूरीणामिंगिनीमरणेऽपि सः ।
त्रिदशैर्मानुषैः पृष्ठो विधत्ते धर्मदेशनाम् ।।२१३१।।

इंगिनीमरणेऽप्येवमाराध्याराधनां बुधाः ।
केचित्सिध्यन्ति केचिच्च सन्ति वैमानिकाः सुराः ।।२१३२।।

छंद–श्येनी—

इंगिनीमृति सुखानुषंगिणीं निर्मलां कषायनाशकौशलाम् ।
पूजिता भजंति विघ्नवर्जितां ये नरा भवंति तेऽजरामराः ।।२१३३।।

।। इति इंगिनीमरणम् ।।

नही करते है ।।२१२९।। धीर बुद्धिवाले मौनव्रतको स्वीकार करनेवाले वे मुनि भूख, प्यास, उष्णता आदिकी वेदना होनेपर कभी भी उस वेदनाका किंचित् भी प्रतीकार नहीं करते हैं ।।२१३०।। इंगिनी मरणकी प्रतिज्ञा वाले मुनिराज देव या मनुष्य द्वारा प्रश्न किये जानेपर धर्मोपदेश देते है ऐसा किन्ही आचार्योंका कहना है ।।२१३१।।

इसप्रकार उपर्युक्त विधिसे इंगिनी नामके समाधिमरणमे चार प्रकारकी आराधनाको करनेवाले उन बुद्धिमान मुनियोंमेसे कोई तो मोक्षको प्राप्त करते हैं और कोई वैमानिक देव होते है अर्थात् इंगिनी मरण करनेवाले अपने परिणामोके अनुसार सिद्धगति या देवगति प्राप्त करते है ।।२१३२।।

यह इंगिनी मरण स्वर्ग तथा अपवर्गके सुखोंको देनेवाला है, निर्मल है, कषायों का नाश करनेमें कुशल है, जो योगीराज विघ्नरहित ऐसे इस मरणको पूजते हैं अर्थात् स्वयं धारण करते हैं वे अजर-अमर सिद्ध होते है ।।२१३३।।

इसप्रकार इंगिनी मरणका वर्णन पूर्ण हुआ ।

इंगिनोमरणं प्रोक्तं समासव्यासयोगतः ।
प्रायोपगमनं वक्ष्ये व्यासेन विधिनाधुना ।।२१३४।।

इंगिनोमरणेऽवाचि प्रक्रमो यो विशेषतः ।
प्रायोपगमनेऽप्येष द्रष्टव्यः श्रुतपारगैः ।।२१३५।।

संस्तरः क्रियते नात्र तृणकाष्ठादिनिर्मितः ।
स्वकीयमन्यदोयं च वैयावृत्यं न विद्यते ।।२१३६।।

करोत्येनं ततो योगी कृतसल्लेखनाविधिः ।
उच्चारप्रस्रवादीनां ततो नास्ति निराक्रिया ।।२१३७।।

पृथ्वीवाय्वग्निकायादौ निक्षिप्तस्त्यक्तविग्रहः ।
आयुः पालयमानोऽसावुदासीनोऽवतिष्ठते ।।२१३८।।

संक्षेपसे इगिनी मरणको कहा, अब प्रायोपगमन मरणको संक्षेप विधिसे कहूँगा ।।२१३४।। इगिनीमरणमे जो प्रक्रम–विधि कही थी विशेषसे प्रायोपगमन मरणमे भी वही प्रक्रम श्रुतके पारगामी गणधर आदिके द्वारा देखो गयो है–कही गयी है ।।२१३५।। इस मरणमे तृण काष्ठ आदिका सस्तर नही किया जाता तथा अपने द्वारा और परके द्वारा वैयावृत्य भी नही किया जाता ।।२१३६।। कषाय और कायकी कृशता को जिसने कर लिया है ऐसा योगी इस मरणको करता है, उस कारणसे इसमें मलमूत्र आदिका निराकरण नही होता है अर्थात् प्रायोपगमन सन्यासका धारक मलमूत्र भी नही करता ।।२१३७।। यदि किसी वैरी देव, मनुष्य या पशु आदिके द्वारा उनको पृथिवी, वायु, अग्नि, वनस्पति आदि सचित्त स्थानपर डाल देवे तो वे वहीं पर स्थित रहते हैं, शरीरका ममत्व सर्वथा छोड़ रहते है. आयुकी परिसमाप्ति होनेतक उदासीन होकर वहीं निश्चल अवस्थित होते है, अर्थात् जैसे इंगिनी मरणमें उपसर्ग द्वारा सचित्त स्थानपर डाल देनेपर वे मुनि उपसर्ग समाप्त होनेपर उस स्थानसे निकल अपने स्थानपर आते है वैसे ये प्रायोपगमन मरण करनेवाले महामुनि नहीं आते जहां पर फेंका–गिराया पटका है वही पर प्राण जाने तक काष्ठवत् अवस्थित रहते हैं ।।२१३८।। यदि कोई आकर प्रायोपगमन सन्यासमें स्थित यतिराजको गंध, पुष्प, धूप आदिसे पूजा करता है तो छोड़ दिया है शरीरका ममत्व जिन्होंने ऐसे वे उस पूजाक्रियामें उदास रूपसे बैठे

गंधप्रसूनधूपाद्यैः　क्रियमाणेऽप्युपग्रहे　।
त्यक्तदेहतयोदास्ते　स　स्वजीवितपालकः　॥२१३९॥

यत्र निक्षिपते देहं निःस्पृहः शांतमानसः ।
ततश्चलयते नासौ यावज्जीवं मनागपि ॥२१४०॥

इत्युक्तं निःप्रतीकारं प्रायोपगमनं जिनैः ।
नियमेनाचलं ज्ञेयमुपसर्गे पुनश्चलम् ॥२१४१॥

उपसर्गहृतः कालमन्यत्र कुरुते यतः ।
ततो मतं चलं प्राज्ञैरुपसर्गमृते स्थिरम् ॥२१४२॥

रहते है अर्थात् उस पूजकपर न प्रसन्न होते है, न उसे रोकते हैं, न कोप करते हैं। आशय यह है कि कोई वैरी आकर उन्हें उपसर्ग करे विषम स्थानपर डाल देवे इत्यादि क्रियासे महान् कष्ट देवे तो उस व्यक्ति पर कुपित नही होते और कोई आकर गंध पुष्पादिसे पूजा करे या उनका किसीप्रकार अनुग्रह करे तो उसपर प्रसन्न नही होते दोनों अवस्थाओमें समान रूप उदासीन रहते है ॥२१३९॥

जिस स्थानपर निःस्पृह और शांत मनवाले उन मुनिराजने शरीर डाल दिया है वहांसे अब वे यावज्जीव पर्यंत किंचित् भी हिलते डुलते नही हैं ॥२१४०॥

इसप्रकार प्रायोपगमन मरण सर्वथा प्रतीकार रहित होता है नियमसे शरीरकी चंचलता क्रिया हिलना आदिसे रहित होता है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है। यदि उपसर्ग द्वारा उन्हें उठाकर कही फेंक देवे तो वह चलपना तो है किन्तु स्वयं कृत शरीर चंचलता नहीं है सर्वथा अकप, अचल, अडोल रूप ही स्थित रहते हैं ॥२१४१॥ जिस कारणसे उपसर्ग द्वारा आहृत होकर अन्य स्थानपर स्थित होकर वे मरण करते हैं उस कारणसे प्राज्ञ पुरुष द्वारा उपसर्ग पूर्वक होनेवाले मरणमे शरीरको चलता मानो गयी है अन्यथा शरीरकी स्थिरतासे–एक ही स्थानपर रहकर उनका समाधिमरण होता है। भाव यह है कि उपसर्गके कारण उनका स्थानांतर होता है अन्यथा कभी भी स्थानांतर नही करते एक बार जहा पद्मासन या खड्गासानसे स्थित हो गये वैसे ही आमरण पर्यंत स्थित रहते है ॥२१४२॥

प्रायोपगमनं केचित्कुर्वते प्रतिमास्थिताः ।
प्रपद्याराधनां देवीमिंगिनीमरणं परे ।।२१४३।।
।। इति प्रायोपगमनं ।।

उपसर्गे सति प्राप्ते दुर्भिक्षे च दुरुत्तरे ।
कुर्वन्ति मरणे बुद्धि परीषहसहिष्णवः ।।२१४४।।

कोशलो धर्मसिहोऽर्थं ससाध श्वासरोधतः ।
कोष्णतीरे पुरे धीरो हित्वा चंद्रश्रियं नृपः ।।२१४५।।

कोई मुनि कायोत्सर्ग धारण कर प्रायोपगमन मरणको करते है तथा कोई आराधना देवीको प्राप्तकर इंगिनीमरणको करते है । अर्थात् कोई प्रायोपगमन विधिसे सम्यग्दर्शन आदि चार प्रकारकी आराधनाका आराधन कर समाधि करते है और कोई मुनिराज इंगिनी विधिसे उक्त आराधनाको करते हुए समाधि करते हैं ।।२१४३।।

।। प्रायोपगमन मरणका वर्णन समाप्त ।।

इसप्रकार पंडित मरणके तीन भेदोमेसे भक्त प्रत्याख्यानका वर्णन अतिविस्तार पूर्वक तथा इंगिनी और प्रायोपगमन विधिका सक्षेप पूर्वक वर्णन किया गया है ।

आगे कहते हैं कि महान् उपसर्ग आदिके आनेपर उन कारणोंको लेकर भी महामुनि पंडित मरणको करनेमें उत्साहित होते हैं—

जिसका निवारण होना अशक्य है ऐसा घोर उपसर्ग आनेपर तथा महान् अकाल पड़नेपर परीषहोंको जीतने वाले योगीश्वर समाधिमरणमें अपनी बुद्धिको लगाते है ।।२१४४।।

आगे जिन्होंने अकस्मात् आये हुए उपसर्ग आदिके निमित्तसे तत्काल आराधना-पूर्वक पंडित मरणको प्राप्त किया था उनका कथन करते है—

कौशलाधिपति धर्मसिंह नामके धीर वीर राजाने कोष्ठा तीर नामके नगरके निकट अपनी पत्नी चन्द्रश्रीका त्यागकर श्वास निरोध द्वारा समाधिमरणको साधा था ।।२१४५।।

सुतार्थं पाटलीपुत्रे मातुलेन कर्दथितः ।
जग्राहर्षभसेनोऽर्थं बंखानसमृति श्रितः ।।२१४६।।

धर्मसिंह मुनिको कथा—

दक्षिण देशमें कोष्ठा तीर (कौशलगिरि) नगरके राजा वीरसेन और रानी वीरमतीसे दो पुत्र, पुत्री हुए, पुत्रका नाम चन्द्रभूति और पुत्रीका नाम चन्द्रश्री था। चन्द्रश्रीका विवाह कौशल देशके राजपुत्र धर्मसिंहसे हुआ। दोनोंका समय सुखपूर्वक व्यतीत होने लगा। धर्मसिंह अत्यत धर्मप्रिय था, विशाल राज्यका संचालन करते हुए भी मुनियोंको आहार दान तथा जिनपूजाको वह अवश्य करता था। किसी दिन दमधर मुनिराजसे धर्मोपदेश सुनकर धर्मसिंह नरेशने जिनदीक्षा ग्रहण की और तपस्या करने लगे। रानी चद्रश्रीको बहुत दुःख हुआ। भाई चन्द्रभूति बहिनको दुःखो देखकर धर्मसिंह मुनिको जबरन चन्द्रश्रीके पास ले आया किन्तु धर्मसिंह पुनः वनमें गये और तपस्यामें लोन हुए। कुछ दिन इसीप्रकार व्यतीत हुए। चन्द्रभूतिने किसी दिन वन विहार करते हुए उन मुनिको देखा। मुनिराजने भी अपनी तरफ आते हुए उस अपने सालेको देखकर पहिचान लिया उन्होने सोचा कि यह मुझे तपस्यासे च्युत करेगा। जहां मुनि तपस्या कर रहे थे, वहां वनमे पासमे एक हाथीका कलेवर पडा था, धीरवीर मुनि धर्मसिह उसीमें घुस गये। उन्होंने चार प्रकारके आहारका एवं संपूर्ण कषाय भावोंका त्यागकर संन्यास ग्रहण किया तथा तत्काल श्वासका निरोधकर प्राण छोड़े। इसतरह उन्होने क्षणमात्रमे उत्तमार्थको साधा और स्वर्गमे जाकर देवपद पाया। वे महामुनि हम सबके लिये समाधिप्रद होवे।

धर्मसिह मुनिकी कथा समाप्त।

पाटलोपुत्र नगरोमे अपनो पुत्रीके लिये मामा–श्वसुर द्वारा उपसर्ग किये जाने पर ऋषभसेन नामके व्यक्तिने श्वासका निरोधकर सल्लेखना की ।।२१४६।।

वृषभसेनमुनिको कथा—

पाटली पुत्र नगरीमे वृषभदत्त वृषभदत्ता सेठ सेठानी रहते थे। उनके पुत्रका नाम वृषभसेन था, वह सर्वगुण और कलाओमे प्रवीण एवं अत्यंत धर्मात्मा था। उसका विवाह अपने मामाकी पुत्री धनश्रीके साथ हुआ था। किसी दिन दमधर नामके मुनिके समीप धर्मोपदेश सुनकर उसने जिनदीक्षा ग्रहण की, इससे धनश्री रात दिन दुःखी रहने

नृपे हते हि चोरेण यतिलिंगमुपेयुषा ।
आचार्यः संघशान्त्यर्थं शस्त्रग्रहणतो मृतः ।।२१४७।।

लगो, धनश्रीका दुःख पिता धनपतिसे देखा नहीं गया उसने मुनि वृषभसेनको उठाकर घर ले लाया और उसे अनेक कपट द्वारा गृहस्थ बना दिया । कुछ दिन बाद अवसर पाकर वृषभसेन पुनः मुनि बन गये । दुष्ट धनपति पुनः हठात् उनको घर पर लाया और क्रोधमें साकलसे बांध दिया । मुनिने देखा कि यह मुझे पुनः विवश कर रहा है, मेरी सयम निधि लूटेगा । उन्होने श्वासोच्छ्वासका निरोधकर आराधना पूर्वक सन्यास द्वारा प्राण त्याग किया और स्वर्गमें जाकर वैमानिक महर्द्धिक देवपद प्राप्त किया । इसप्रकार वृषभसेन मुनिराजने ऐसी विषम स्थितिमें भी आत्म कल्याण किया ।

वृषभसेन मुनिकी कथा समाप्त ।

मुनिका वेष लेकर चोरने राजाको मारा था । उस वक्त वहांपर आचार्यने सघपर आनेवाली बडी आपत्तिको दूर करनेके लिये शस्त्र ग्रहणकर—शस्त्रसे अपना घात कर समाधिमरण किया था ।।२१४७।।

यतिवृषभ आचार्यकी कथा—

श्रावस्ती नगरीका राजा जयसेन था उसके पुत्रका नाम वीरसेन था । उस नगरोमे शिवगुप्त नामका बौद्ध भिक्षु था, वह निर्दयी एवं मांस भक्षी तथा कपटी था । राजा जयसेन बौद्ध धर्म पर विश्वास करता था अतः शिवगुप्तको अपना गुरु बनाया । एक दिन यतिवृषभ आचार्य संघसहित उस नगरीके बाह्य उद्यानमे आये । प्रजाजनोंको उनके दर्शनार्थ जाते देखकर राजा भी कौतुहल वश उद्यानमें गया, वहांपर कल्याणकारी मिष्ट वाणोसे आचार्य उपदेश दे रहे थे, उपदेश तात्त्विक एवं तर्कपूर्ण था उसे सुनते ही राजा जैनधर्मका श्रद्धालु होगया । उस दिनसे उसने बुद्धकी उपासना छोड़ दो । इससे बौद्ध भिक्षु शिव गुप्तको बड़ा क्रोध आया । उसने राजाको बहुत समझाया किंतु वह राजाको जैनधर्मको श्रद्धाको नष्ट नही कर सका तब पृथिवो पुरी नामकी नगरीमें बौद्धधर्मी राजा सुमतिके पास जाकर जयसेन राजाका जैन होनेका समाचार कहा । सुमति राजाने जयसेनके पास पत्र भेजकर उसको पुनः बौद्ध बननेको कहा किन्तु जयसेन नरेशने स्वीकार नहीं किया । सुमतिका कोप बढ़ता गया । उसने गुप्त रूपसे जयसेनको

शस्त्रग्रहणतः स्वार्थः शकटालेन साधितः ।
कुतोऽपि हेतुतः क्रुद्धे नंदे सति महीपतौ ।।२१४८।।

अकारि पंडितस्येति सप्रपंचा निरूपणा ।
इदानीं वर्णयिष्यामि मरणं बालपंडितम् ।।२१४९।।

।। इति पंडितमरणम् ।।

मारनेका जाल रचा । उस दुष्टने नौकरोसे पूछा कि कोई ऐसा वीर है जो जयसेनको मार सकता हो । तब एक हिमारक नामके व्यक्तिने इस कार्यको करना स्वीकार किया । वह दुष्ट हिमारक श्रावस्तोमें आकर कपटसे उन्हीं यतिवृषभ आचार्यके समीप मुनि बन गया । राजा जयसेन दर्शनार्थ प्रतिदिन आया करता था । एक दिन अपने नियमानुसार दर्शनार्थ आया, आचार्यके निकट धर्मचर्चा आदि करके नमस्कार कर जाने लगा कि मुनि वेषधारी उस दुष्ट हिमारकने राजाको शस्त्रसे मार दिया और स्वयं तत्काल भाग गया ।

आचार्य इस आकस्मिक घटनाको देखकर सोचने लगे । उन्हे राजाकी मृत्युसे सघके ऊपर आनेवाली घोर आपत्तिसे बचानेका अन्य उपाय नही दिखा अत· सामने दिवाल पर "यह अनर्थ किसोने जैनधर्मके द्वेषसे किया है" इतना लिखा और तत्काल वहांपर पड़े उसी शस्त्रसे घातकर सन्यास ग्रहणकर प्राण त्याग किया ।

जयसेन राजाके पुत्र वीरसेनको अपने पिताकी मृत्युके समाचार मिले । वह उस स्थानपर आकर देखता है तो राजाके निकट आचार्यको भी दिवंगत हुए देखकर आश्चर्यचकित हुआ । इधर उधर देखते हुए उसकी नजर दिवाल पर पड़ी और पूर्वोक्त पंक्ति पढ़ते ही उसे समझमें आया कि यह सब घटना किसप्रकार हुई है । वीरसेनका हृदय आचार्य यतिवृषभकी भक्तिसे भर आया । उसको पहलेसे जैनधर्म पर श्रद्धा थी अब और अधिक दृढ होगयी । इसप्रकार यतिवृषभ आचार्यने क्षणमात्रमे आराधनापूर्वक समाधिको सिद्ध किया था ।

यतिवृषभ आचार्यकी कथा समाप्त ।

किसी कारणसे नद राजाके क्रोधित होनेपर शकटाल नामके मुनिने शस्त्र द्वारा घातकर समाधिमरण रूप अपना स्वार्थ सिद्ध किया था ।।२१४८।।

शकटाल मुनिको कथा—

पाटलीपुत्र नामकी नगरीमे राजानद राज्य करता था। उसके दो मंत्री थे, एक का नाम शकटाल और दूसरेका नाम वररुचि। शकटाल जैन सरल स्वभावी नीति प्रिय था इससे विपरीत वररुचि था। दोनोका आपसमें विरोध था। एक दिन पद्मरुचि नामके यतिराजसे धर्मोपदेश सुनकर शकटाल मंत्रीने जिनदीक्षा ग्रहण की। जैन सिद्धांत का अध्ययन कर उन यतिराजने सपूर्ण तत्त्वोंका समीचीन ज्ञान प्राप्त किया। किसी दिन शकटाल मुनि आहारार्थ राजमहल पधारे। आहार करके वापिस लौट रहे थे कि वररुचिने उन्हें देखा। वररुचि शकटालसे अत्यत द्वेष रखता था अतः मौका देख उसने राजानंदसे कहा कि देखो। यह नग्न ढोगी साधु राज महल जाकर क्या क्या पाप कर आये हैं इत्यादि अनेक तरहसे राजाको कुपित किया, राजाने शकटाल मुनिको मार डालनेको आज्ञा दी। कर्मचारी मुनिके तरफ आ रहे थे उन्हें शस्त्रास्त्र सहित आवेशमें आते देखकर शकटाल मुनिने निश्चय किया कि ये घोर उपद्रव करने वाले है उन्होने तत्काल चतुराहारका त्याग एवं राग द्वेष कषायका त्यागकर सन्यास ग्रहण किया और शस्त्र द्वारा प्राण त्यागकर स्वर्गारोहण किया।

शकटाल मुनिको कथा समाप्त।

बालपंडित मरणाधिकार
११

संयतासंयतो जीवः सम्यग्दर्शनभूषितः ।
मत्तस्य मरणं प्रोक्तं श्रुतज्ञैर्बालपंडितम् ।।२१५०।।

पंचधाणुव्रतं प्रोक्तं त्रिधा प्रोक्तं गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतं चतुर्धा च धर्मो देशयतेरयम् ।।२१५१।।

हंसामसूनृतं स्तेयं परनारीनिषेवणम् ।
विमुंचतो महालोभं पंचधाणुव्रतं मतम् ।।२१५२।।

इसप्रकार पंडितमरणके भेद प्रभेदोंका निरूपण किया । अब बालपंडितमरणका वर्णन करूंगा ।

पचम गुणस्थानवर्ती संयतासयत जीव जो कि सम्यग्दर्शनसे विभूषित है उसका जो मरण है उसे श्रुतज्ञ गणधरादि बालपंडित मरण कहते है ।।२१४६।।२१५०।।

पांच प्रकारका अणुव्रत, तीन प्रकारका गुणव्रत और चार प्रकारका शिक्षाव्रत इसतरह बारह व्रतरूप देश सयमीका धर्म कहा गया है ।।२१५१।। हिसा, झूठ, चोरी, परनारी मेवन और महालोभका त्याग करना अर्थात् हिसा आदि पांच पापोंका स्थूलरूपसे त्याग करना पांच प्रकारका अणुव्रत कहलाता है ।।२१५२।। दिशा, देश और अनर्थदंडोका त्याग रूप तीन गुणव्रत कहे गये है तथा प्राज्ञ पुरूषों द्वारा शिक्षाव्रत निम्न-

दिग्देशानर्थदंडानां त्यागस्त्रेधागुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतमिति प्राज्ञैश्चतुर्भेदमुदाहृतम् ॥२१५३॥

भोगोपभोग संख्यानं सामायिकमखंडितम् ।
संविभागोऽतिथीनां च प्रोषधोपोषित व्रतम् ॥२१५४॥

सहसोपस्थिते मृत्यौ महारोगे दुरुत्तरे ।
स्वबांधवैरनुज्ञातो याति सल्लेखनामसौ ॥२१५५॥

विधायालोचनां सम्यक् प्रतिपद्य च संस्तरम् ।
म्रियते यो गृहस्थोऽपि तस्योक्तं बालपण्डितं ॥२१५६॥

प्रोक्तो भक्तप्रतिज्ञायाः प्रक्रमो यः सविस्तरम् ।
अत्रापि स यथायोग्यं द्रष्टव्यः श्रुतपारगैः ॥२१५७॥

छद-रथोद्धता—

येन देशयतिना निषेव्यते बालपंडितमृतिर्निराकुला ।
भोगसौख्यकमनीयतावधिः कल्पवासिविबुधः स जायते ॥२१५८॥

लिखित चार भेदोंवाला कहा गया है ॥२१५३॥ सामायिक शिक्षाव्रत, प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत, भोगोपभोग संख्यान और अतिथि संविभाग । इन सपूर्ण बारह व्रतोंका धारक श्रावक अकस्मात् मृत्युके उपस्थित होनेपर या भयानक महारोग होनेपर अपने बंधुजनोंके द्वारा अनुज्ञा लेकर सल्लेखनाको धारण करता है ॥२१५४॥२१५५॥

सल्लेखनाका इच्छुक वह श्रावक आचार्य या मुनि आदिके समक्ष अपने व्रतोंमें लगे हुए दोषोंकी भली प्रकारसे आलोचना करता है फिर यथायोग्य चढ़ाई आदि संस्तरको ग्रहण करता है, इसप्रकार नियमपूर्वक जो गृहस्थ मरण करता है उसके बाल-पंडित मरण कहा गया है ॥२१५६॥

श्रुतके पारगामी आचार्योंने भक्त प्रत्याख्यान मरणमे जो विधि विस्तारपूर्वक कही थी वह यहां बालपडित मरणमे भी यथायोग्य जाननी चाहिये जो देशव्रती श्रावक आदि निराकुल भावसे इस बाल पडितमरणको ग्रहण करते है वे भोग, सौख्य और सुन्दरताकी चरम सीमा हैं जिनके ऐसे कल्पवासी देव होते हैं । जो शुभमना–विशुद्ध

छंद-रथोद्धता—

एकदा शुभमना विपद्यते बालपंडितमृतिं समेत्य यः ।
स प्रपद्य नरदेवसंपदं सप्तमे भवति निर्वृतो भवे ।।२१५९।।

।। इति बालपंडितम् ।।

परिणामवाला देशव्रती एकबार या एक भवमें बालपंडित मरणको ग्रहण करता है वह मनुष्य और देव संबंधी अभ्युदय सुखोंको प्राप्त करके सातवें भवमें मोक्ष चला जाता है ।।२१५७।।२१५८।।२१५९।।

विशेषार्थ—बाल पंडितमरण संयतासंयत नामके पंचम गुणस्थानवर्ती जीवोंके होता है । इसमें जीव बाल इसलिये है कि पूर्ण संयम धारण नहीं किया है और पंडित इसलिये है कि अणुव्रत धारण किये हैं । अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यान कषायोका इसमें उदय नही है । शेष प्रत्याख्यान आदिका उदय है । इस बाल पंडित मरणको पहली प्रतिमासे लेकर ग्यारहवी प्रतिमा तकके जीव प्राप्त करते हैं तथा आर्यिकाओके मरणको भी बाल पडितमरण कहते हैं क्योंकि आर्यिकाओके उपचार महाव्रत होते हुए भी गुण-स्थान पांचवाँ ही होता है । इसप्रकार प्रतिमाधारी श्रावक श्राविका, ब्रह्मचारी ब्रह्म-चारिणी, क्षुल्लक क्षुल्लिका ऐलक और आर्यिकाये इन सबका भक्त प्रतिज्ञा पूर्वक यदि मरण होता है तो वह बाल पंडित मरण कहलाता है । ये सभी जीव सम्यग्दृष्टि तो है ही साथमे यदि कुछ समयके लिये आहार एव कषायभावका त्यागकर सन्यासपूर्वक मरण करते है तो वह बाल पंडितमरण कहलाता है ।

बाल पडितमरणका कथन समाप्त ।

पंडित–पंडित मरणाधिकार
१२

एवं समासतोऽवाचि मरणं बालपंडितम् ।
अधुना कथयिष्यामि मृत्युं पंडितपंडितम् ।।२१६०।।

अप्रमत्तगुणस्थाने वर्तमानस्तपोधनः ।
आरोढुं क्षपकश्रेणीं धर्मध्यानं प्रपद्यते ।।२१६१।।

अनुज्ञाते समे देशे विविक्ते जंतुवर्जिते ।
ऋज्वायतवपुर्यष्टिः कृत्वा पर्यंकबंधनम् ।।२१६२।।

इसप्रकार सक्षेपसे बालपंडित मरणका कथन किया, अब पडित पंडित मरणको कहूंगा ।।२१६०।।

अप्रमत्त संयत नामके सातवे गुणस्थानमें कोई मुनिराज विद्यमान हैं वे क्षपक श्रेणी आरोहन करनेके लिये धर्म्यध्यानको धारण करते हैं ।।२१६१।।

धर्म्यध्यानको ध्यानेके लिये जंतुरहित एकांत देशमे निवास करते हैं, कैसा है वह स्थान–प्रदेश ? जिसमें निवास करनेके लिये उसके मालिक या अधिष्ठाता देवकी अनुज्ञा ली गयी है ऐसे रम्य तथा इन्द्रियोंको क्षोभ नहो करने वाले तथा पवित्र स्थानमें आकर पर्यंक आसनसे बैठकर अपने शरीरको सरल सीधा तानकर रीढकी हड्डीको एकदम सीधाकर बैठ जाते हैं ।।२१६२।। अथवा वीरासन आदि आसनोंको करके ध्यानमें स्थित

वीरासनादिकं बद्ध्वा समपादादिकां स्थितिम् ।
आश्रित्य वा सुधोः शय्यामुत्तानशयनादिकम् ॥२१६३॥
पूर्वोक्तविधिना ध्याने शुद्धलेश्यः प्रवर्तते ।
योगीप्रवचनाभिज्ञो मोहनीयक्षयोद्यतः ॥२१६४॥
पूर्वं संयोजनाह्वन्ति तेन ध्यानेन शुद्धधोः ।
मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वत्रितयं क्रमतस्ततः ॥२१६५॥

होते है या कायोत्सर्ग मुद्रामें दोनो पैरोको समान कर खड़े होते हैं अथवा एक पार्श्वसे लेटकर या उत्तान रूपसे लेटकर वे बुद्धिमान मुनि पूर्वोक्त विधिसे शुद्ध लेश्या–शुक्ल लेश्या युक्त हो ध्यानमे प्रवृत्त होते है, कैसे है मुनिराज ? शास्त्रोंके ज्ञाता–अंग तथा पूर्वरूप श्रुतके पारगामी हैं तथा मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंका क्षय करनेमें उद्यत हैं ॥२१६३॥२१६४॥

शुद्ध बुद्धिवाले वे मुनिराज धर्म्यध्यान द्वारा पहले अनंतानुबंधी संबधी चार कषाय क्रोध, मान, माया, लोभकी विसयोजना करके नष्ट करते हैं, तदनंतर मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व नामको दर्शन मोहकी तीन प्रकृतियोंको नाश करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते है ॥२१६५॥

विशेषार्थ—यहांपर सातवें गुणस्थानमे क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्तिका क्रम कहा है, ऐसे क्षायिक सम्यक्त्व चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थानमे हो सकता है । क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करनेका यह क्रम है—चौथे आदि गुणस्थानवर्ती कोई वेदक–क्षयोपशम सम्यक्त्वी कर्मभूमिका मनुष्य है वह केवली अथवा श्रुतकेवलीके पादमूलमे इस क्षायिक सम्यक्त्वको प्राप्त करता है । यह सम्यक्त्व मिथ्यात्वसे सासादनसे मिश्रसे न होकर सम्यक्त्व पूर्वक ही होता है, सम्यक्त्वमें भी प्रथमोपशम या द्वितीयोपशम सम्यक्त्व से न होकर वेदक सम्यक्त्व से ही होता है वेदक सम्यक्त्वी कर्मभूमिज मनुष्योमें भी द्रव्यस्त्री और द्रव्य-नपुंसक वेदी इसे प्राप्त नहीं करता, जो द्रव्यसे पुरुषवेदी है वही प्राप्त करता है । इसमे सर्वप्रथम अधःकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणोंको करते हुए अनिवृत्तिकरणमें चार अनंतानुबंधीका विसंयोजन करता है अर्थात् इन चार कषायोंको प्रत्याख्यानावरण आदि बारह कषाय तथा नोकषायमे सक्रामित करता है और इसतरह अनतानुबंधीका सत्तासे नाश करता है । तदनंतर अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण कालतक विश्राम लेता है । पुनः उक्त अधःकरणादि तीन

आरुह्य क्षपकश्रेणीमपूर्वकरणो यतिः ।
भूत्वा प्रपद्यते स्थानमनिवृत्तिगुणाभिधम् ।।२१६६।।

सूक्ष्मसाधारणोद्योतस्त्यानगृद्धित्रयातपान् ।
एकाक्षविकलाख्यानां जाति तिर्यग्द्वयं मुनिः ।।२१६७।।

स्थावरं नारकद्वंद्वं षोडश प्रकृतिरिमाः ।
प्लोषते प्रथमं तत्र शुक्लध्यानकृशानुना ।।२१६८।।

कषायान्मध्यमानष्टौ षंढवेदं निकृन्तति ।
स्त्रीवेदं क्रमतः षट्कं हास्यादीनां ततः परम् ।।३१६६।।

करणोको करता है उसमे अंतिम अनिवृत्तिकरणमे मिथ्यात्व प्रकृतिको तथा मिश्रप्रकृति को सम्यक्त्व प्रकृतिमे संक्रामित करके नष्ट करता है पुन· सम्यक्त्व प्रकृतिको नष्ट करता है । इसप्रकार सात प्रकृतियोका नाशकर क्षायिक सम्यक्त्वी बनता है । तीनो करणोंका स्वरूप तथा इनमे होनेवाले स्थिति खडन, अनुभाग खंडन, गुणश्रेणि निर्जरा आदिका स्वरूप लब्धिसार आदि सिद्धांत ग्रन्थोमे विस्तार पूर्वक बताया है । विशेष जिज्ञासुओंको वहीसे अवलोकनीय है ।

इसप्रकार क्षायिक सम्यक्त्वी होकर वह साधु क्षपक श्रेणीमें आरोहन करता है उसमें क्रमशः अधःकरण–सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान तथा अपूर्वकरण नामके आठवें गुणस्थानको प्राप्तकर नौवे अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें आता है ।।२१६६।। नौवें गुणस्थानमें सूक्ष्म, साधारण, उद्योत, स्त्यानगृद्धि आदि तीन निद्रा, आतप, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय ये चार जातिया तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, स्थावर, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी इन सोलह कर्मप्रकृतियोका प्रथम शुक्ल ध्यान–पृथक्त्व वितर्क वीचार रूप अग्नि द्वारा नाश करते है ।।२१६७।।२१६८।। तदनतर उसी गुणस्थानमें क्रमशः प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण नामकी आठ कषायें नष्ट करते हैं, पुनः नपुंसक वेद पुनः स्त्रीवेद तदनतर हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छह कषायोका युगपत क्षय करते हैं ।।२१६६।।

पुनः वहो पर शुक्लध्यान रूप तलवारसे पुरुषवेदको काटकर संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, सज्वलन मायाका क्षय करते है । इसप्रकार अनिवृत्तिकरण नामके नौवें

पुंवेदं क्रमतश्छित्वा शुक्लध्यानमहासिना ।
क्रोधं संज्वलनं मानं मायां संज्वलनाभिधाम् ।।२१७०।।

सूक्ष्म लोभगुणस्थाने सूक्ष्मलोभं निशुंभति ।
स निद्राप्रचले क्षीणमोहस्योपान्तिमे ततः ।।२१७१।।

पंचज्ञानावृतीस्तत्र चतस्रो दर्शनावृती: ।
पंच विघ्नानसौ हन्ति चरमांशे चतुर्दश ।।२१७२।।

हुत्वैकत्ववितर्काग्नौ घातिकर्मेन्धनं सुधी: ।
दर्शकं सर्वभावानां केवलज्ञानमश्नुते ।।२१७३।।

अनंतं दर्शनं ज्ञानं सुखं वीर्यमनश्वरम् ।
जायते तरसा तस्य चतुष्टय मखंडितम् ।।२१७४।।

अनंतमप्रतीबंधं नि:सकोचमनिंद्रियम् ।
नि:क्रमं केवलज्ञानं नि:कषायमकल्मषम् ।।२१७५।।

गुणस्थानमे नामकर्म तेरह, दर्शनावरणकी तीन और मोहनीय कर्मको बीस इसतरह छत्तीस प्रकृतियोका नाश करते है ।।२१७०।।

पुन: वे मुनिराज सूक्ष्म सांपराय नामके दसवे गुणस्थानमें प्रविष्ट होकर सूक्ष्म लोभको नष्ट करते है, तदनंतर क्षीणकषाय नामके बारहवें गुणस्थानमें आकर उसके द्विचरम समयमे निद्रा और प्रचला प्रकृतिका नाशकर चरम समयमें पांच ज्ञानावरणकी चार दर्शनावरणकी और पांच अंतराय कर्मको इसतरह दो और चौदह कुल मिलाकर सोलह कर्म प्रकृतियोका नाश करते है ।।२१७१।।२१७२।। इसप्रकार वे बुद्धिमान् तपोधन एकत्व वितर्क अवीचार शुक्ल ध्यानरूप अग्निमे घाती कर्मरूप इंधनको भस्मसात् करके समस्त द्रव्य और उन अनंतानंत द्रव्योंकी अनंतानंत पर्यायोंको जानने देखनेवाले केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त करते हैं ।।२१७३।। उन अरिहतोके शीघ्र ही अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य ये अखंडित अविनश्वर चतुष्टय उत्पन्न होते हैं ।।२१७४।।

यह केवलज्ञान अनंत है—कभी भी नष्ट नहीं होगा, अप्रतीबंध—रुकावट रहित है, संकोच विस्तार रहित है, इन्द्रियोंकी सहायतासे रहित अनिन्द्रिय है, क्रम रहित है,

करस्थितमिवाशेषं लोकालोकं विलोकते ।
युगपत्तेन बोधेन योगी विश्वप्रकाशिना ।।२१७६।।

ततो वेदयमानोऽसौ शेषघाति चतुष्टयम् ।
कुर्वाणो जनतानंदं भ्रमत्येष सुरार्चितः ।।२१७७।।

विवर्द्धमानचारित्रो ज्ञानदर्शनभूषितः ।
शेषकर्मविघाताय योगरोधं करोति सः ।।२१७८।।

यदायुषोऽधिकं कर्म जायते त्रितयं परम् ।
समुद्घातं तदाभ्येति तत्समीकरणाय सः ।।२१७९।।

आयुषा सदृशं यस्य जायते कर्मणां त्रयम् ।
स निरस्त सद्घमुतः शैलेश्यं प्रतिपद्यते ।।२१८०।।

यः षण्मासावशेषायुः केवलज्ञानमश्नुते ।
अवश्यं स समुद्घातं याति शेषो विकल्पते ।।२१८१।।

कषाय और पापोंसे रहित है, ऐसे विश्वप्रकाशी केवलज्ञान द्वारा हाथमें रखे हुए पदार्थके समान अशेष लोकालोकको सयोग केवली भगवान् जानते हैं ।।२१७५।।२१७६।।

इसतरह केवलज्ञानी भगवान्–शेष बचे चार अघाती कर्मोंको वेदन करते हुए चतुर्निकाय देवों द्वारा पूजित होते है तथा दिव्यध्वनि द्वारा समस्त जनताको आनंद प्रदान करते हुए आर्यखण्डमे विहार करते हैं । तदनंतर वर्द्धमान चारित्रवाले ज्ञान दर्शनसे भूषित वे सयोगी जिन शेष कर्मोंका नाश करनेके लिये योग निरोध करते हैं ।।२१७७।।२१७८।।

यदि उन केवली भगवानके आयु कर्मसे अधिक नामादि तीन कर्मोंकी स्थिति है तो उन कर्मोंको आयुके बराबर करनेके लिये समुद्घात क्रियाको करते हैं ।।२१७९।।

जिन भगवानके नाम आदि तीन कर्म आयुके समान प्रमाण वाले हैं वे भगवान समुद्घात नहीं करके ही शैलेश्य भाव अर्थात् अठारह हजार शीलोके आधिपत्यको प्राप्त करते हैं अर्थात् चौदहवें अयोग केवली नामके गुणस्थानमे आते है । जिन मुनिराजको छह मासकी आयु शेष रहने पर केवलज्ञान प्राप्त हुआ है, वे नियमसे समुद्घात करते है और शेष केवली समुद्घात करते भी हैं और नहीं भी करते ।।२१८०।।२१८१।।

अंतर्मुहूर्तशेषायुर्यदा भवति संयमी ।
समुद्घातं तदा धीरो विधत्ते कर्मधूतये ॥२१८२॥

प्रविकीर्णं यथा वस्त्रं विशुष्यति न संवृतम् ।
तथा कर्मापि बोद्धव्यं कर्मविध्वंसकारिभिः ॥२१८३॥

समुद्घाते कृते स्नेहस्थितिहेतुर्विनश्यति ।
क्षीणस्नेह ततः शेषमल्पीयः स्थितिः जायते ॥२१८४॥

केवली समुद्घात कब होता है सो बताते हैं—

सयोगी केवली भगवानकी आयु जब अन्तर्मुहूर्त शेष रहती है तब धीर संयमी भगवान् कर्मोका स्थिति ह्रास करनेके लिये समुद्घात क्रियाको करते हैं ॥२१८२॥

केवली समुद्घातमें आत्माके प्रदेश तीन लोकमें फैलते है, उससे कर्मोकी स्थिति कम होती है । प्रदेश फैलनेसे स्थिति किसप्रकार कम होती है ? ऐसा प्रश्न होनेपर दृष्टांत द्वारा उत्तर देते है—

जैसे गीले वस्त्रको फैला देवें तो सूख जाता है बिना फैलाये सूखता नही वैसे कर्म भी फैलाने पर कम स्थिति वाला होता है बिना फैलाये उनकी स्थिति घटती नही ऐसा कर्मोके नाशक जिनेन्द्र देवोने कहा है । भाव यह है कि तीन लोकमे आत्माके प्रदेश फैलते हैं उस वक्त आत्मप्रदेशोंके साथ ही क्षीर नीरवत् घुले मिले कर्मप्रदेश भी फैलते ही है और इसतरह कर्मप्रदेशोंके फैल जानेसे उनकी स्थिति (आत्माके साथ रहने की स्थिति–कालमर्यादा) कम हो जाती है ॥२१८३॥

समुद्घात करनेपर कर्मोको स्थितिका हेतु जो स्नेह गुण स्निग्धता थी वह नष्ट हो जाती है और इसतरह स्नेहके क्षीण होनेसे समस्त कर्म अल्प स्थिति वाला हो जाता है ॥२१८४॥

भावार्थ—कर्म प्रदेशोंका परस्परमें जो सबध है वह उनके स्नेह या स्निग्ध गुणके कारण है, कर्म प्रदेशोको सर्वत्र फैला देनेसे उनकी स्निग्धता कम होती है अतः कर्मोकी स्थिति कम होती है । इसप्रकार समुद्घात करनेसे कर्मोकी स्थिति किसप्रकार

दंडंकपाटकं कृत्वा प्रतरं लोकपूरणं ।
चतुर्भिः समयैर्योगी ताबद्भिश्च निवर्तते ।।२१८५।।

घटती है कम होती है ? इस शंकाका समाधान हो जाता है । इसमें गीले वस्त्रका दृष्टांत भी दिया है इसतरह केवली समुद्घात द्वारा कर्मोंकी स्थिति कैसे घटती है इस विषयको यहां पर आचार्यने बहुत सुन्दर रीतिसे समझाया है ।

केवली समुद्घातमें आत्माके प्रदेश किस क्रमसे फैलते हैं उसको बतलाते हैं—

सयोगी जिन चार समयों द्वारा दंड, कपाट प्रतर और लोक पूरण इसतरह चार प्रकारसे आत्माके प्रदेशों को फैलाते है और चार समयों द्वारा उन प्रदेशोको संकुचित करते है ।।२१८५।।

विशेषार्थ—सयोगी जिनेन्द्र अंतर्मुहूर्त आयु शेष रहनेपर आयुके बराबर शेष नाम कर्मादिकी स्थिति करनेके लिये केवली समुद्घात करते हैं—पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होकर कायोत्सर्ग या पद्मासनमें स्थित होते हैं । समुद्घातमे सर्वप्रथम आत्मप्रदेश दण्डाकार होते हैं इसमें मूल शरीरके प्रमाण चौड़े होकर कुछ कम चौदह राजू प्रमाण ऊपर नीचे लोकमें फैल जाते है यह कायोत्सर्ग आसन वाले केवलीकी बात है । जो पद्मासन वाले है उनके आत्मप्रदेश शरीरसे तिगुने चौड़े होकर दण्डाकार फैलते हैं । दूसरे समयमें कपाटाकार फैलते हैं इसमें जो पूर्वदिशाभिमुख है उनके दक्षिण उत्तर चौड़े सात राजू प्रमाण और जो उत्तराभिमुख हैं उनके पूर्व पश्चिम चौड़े सात राजू प्रमाण होकर आत्मप्रदेश फैलते है । अर्थात् जैसे किवाड़ बाहल्य मोटाईमें स्तोक होकर भी लबाई और चौडाईमे बडा रहता है वैसे विस्तारमें जीव प्रदेश कुछ कम चौदह राजू लंबे और दोनों पार्श्वभागोमे सात राजू चौड़े होकर फैलते हैं । अर्थात् पूर्वाभिमुख वालेके दक्षिण उत्तर सात राजू चौड और उत्तराभिमुख वाले के पूर्व पश्चिम हानि वृद्धि रूप सात राजू चौड़ फैलते है (क्योंकि लोकाकाशकी चौडाई पूर्व-पश्चिम हानि वृद्धिरूप सात राजू है) तीसरे समयमे प्रतराकारसे जीव प्रदेश फैलते है अर्थात् मोटाईको लिये हुए वातवलयके अतिरिक्त समस्त लोकमें फैलते हैं । इसप्रकार दण्डाकारमें लबे, कपाटाकारमें चौड़े और प्रतराकारमे मोटाई रूप जीव प्रदेश फैलते हैं । चौथे समयमें लोकपूरण रूप फैलते है अर्थात् वातवलयोमें भी सर्वत्र फैल जाते हैं । पुनः संकोच होता है उसमें पांचवे समयमें प्रतराकार छठं समयमें कपाटाकार सातवें

वेद्यायुर्नामगोत्राणि समानानि विधाय सः ।
प्राप्तुं सिद्धिवधूं धीरो विधत्ते योगरोधनम् ॥२१८६॥

समयमें दण्डाकार और आठवे समयमें मूल शरीर प्रमाण आत्मप्रदेश हो जाते हैं । इसतरह इस समुद्घातका काल आठ समय प्रमाण है । इस समुद्घातमें प्रथम दण्डाकारके समय औदारिक काययोग होता है, दूसरे कपाटाकारके समय औदारिक मिश्र योग होता है, तीसरे प्रतराकार चौथे लोकपूरण तथा संकोच करते हुए प्रतराकार ऐसे तीन समयोंमें कार्मण काययोग होता है, संकोचके कपाटाकारमें औदारिक मिश्रयोग, दण्डाकारमें औदारिक काययोग होता है । इसतरह पुनः मूल शरीरमें सर्वात्मप्रदेश प्रविष्ट हो जाते है ।

सयोग केवलो जिनेन्द्र समुद्घात द्वारा वेदनीय नाम और गोत्र इन तीन कर्मो को आयुके बराबर करके पुनः सिद्धि वधूमुक्तिको प्राप्त करनेके लिये योग निरोध करते हैं ॥२१८६॥

विशेषार्थ—केवलो भगवान् दिव्य ध्वनि द्वारा उपदेश देना, देश देशमे विहार होना इत्यादि बाह्य क्रियारूप योगोंका निरोध तो कई दिन पहले करते है, जैसे आदिनाथ भगवान् न चौदह दिन पहले किया था, अजितनाथ आदि तीर्थकरोने एकमास पहले किया था इत्यादि । इस योग निरोधको करनेकी दृष्टिसे ही "विवर्द्ध मानचारित्रो, ज्ञानदर्शन भूषितः । शेषकर्म विघाताय, योग रोधं करोति स· । इस कारिकामे योग निरोधका उल्लेख किया है । जब केवलो भगवान् की आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शेष रहती है तब जिनके कर्मोकी स्थिति विषम है वे केवलो समुद्घात करते है और जिनके कर्मोकी स्थिति समान है वे समुद्घात नही करते । फिर स्थूल–बादर मनोयोग, वचनयोग और काययोगको नष्ट करते है और सूक्ष्म मनोयोग, वचनयोग, काययोगमे आते है इसतरह बादर योगोका निरोध करते है । सूक्ष्म योगोमे स्थित होकर सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचन योगको भी नष्ट करते है और एक मात्र सूक्ष्म काययोग धारणकर सूक्ष्म क्रिया–अप्रतिपाति नामके तीसरे शुक्ल ध्यानको ध्याते है । इसतरह ईर्यापथ आस्रव रूप सातावेदनीयका आस्रव, सूक्ष्म शुक्ल लेश्या और सूक्ष्म काययोग इन तीनों को समाप्त करके वे भगवान जिन चौदहवे गुणस्थानमें प्रविष्ट होते है । इसोको आगेको कारिकाओ द्वारा कह रहे है ।

योग निरोधका क्रम बतलाते हैं—

स्थूलौ मनोवचोयोगौ रुणद्धि स्थूलकायतः ।
सूक्ष्मेण काययोगेन स्थूलयोगं च कायिकम् ॥२१८७॥
सूक्ष्मौ मनोवचोयोगौ रुंद्धे कर्मास्रवे जिनः ।
सूक्ष्मेण काययोगेन सेतुनेव जलास्रवौ ॥२१८८॥

सर्वप्रथम स्थूल काययोग द्वारा स्थूल मनोयोग और स्थूल वचनयोगको रोकते हैं—नष्ट करते है । फिर स्थूल काययोगको सूक्ष्म काययोग द्वारा रोकते है । सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोग भी जब रुक जाता है तब उनसे होनेवाला ईर्यापथ आस्रव भी रुक जाता है, फिर सूक्ष्म काययोग मात्रसे उक्त आस्रव होता है, जैसे जलको बाध देनेवाले बधामे किंचित् छेद होवे तो उससे किंचित् जलास्रव होता है—जल आता है वैसे सूक्ष्म योग द्वारा किंचित् कर्म आता है । अर्थात् सूक्ष्म मनोयोग, वचनयोग, काययोग होनेपर सूक्ष्म काययोग द्वारा सूक्ष्म मनोयोग और वचनयोगको रोकते है और इसतरह एक मात्र सूक्ष्म काययोगमें जिनेन्द्र स्थित रहते हैं ॥२१८७॥२१८८॥

विशेषार्थ—पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्मके उदयसे मन, वचन, काययुक्त जीवके कर्म नोकर्म वर्गणाओको ग्रहण करनेकी शक्ति विशेषको योग कहते हैं । वह योगका सामान्य लक्षण है । अथवा काय, वचन और मनकी क्रियाको योग कहते हैं यह व्यावहारिक स्थूल लक्षण है । मन, वचन और कायके द्वारा आत्माके प्रदेशोमे कंपन होना योग है । मनोवर्गणा, भाषावर्गणा आदिका अवलंबन लेकर आत्मप्रदेशोंमें हलन-चलन होता है उसे योग कहते हैं, इसतरह योगके लक्षण कहे गये है । एक समयमें एक जीवके एक ही योग होता है और कर्म वर्गणा, नोकर्म वर्गणा, मनोवर्गणा आदि अनेक वर्गणा एक ही समयमे यह जीव ग्रहण करता है अतः प्रश्न होता है कि इसके कौनसा योग होगा ? इसका उत्तर है कि जिस वर्गणाका अवलंबन लेकर आत्मप्रदेशोमे कंपन हुआ है उस समय वह योग है । अतः यह लक्षण किया कि वर्गणाये तो अनेक आरही है या अनेक वर्गणाओको ग्रहण कर रहा है किन्तु उनमें जिसका अवलबन लेकर आत्म-प्रदेश सकप हुए उसी वर्गणाके नामवाला योग हुआ—मनोवर्गणाका अवलबन लेकर कंपन हुआ है तो मनोयोग है इत्यादि । इसप्रकार योगकी परिभाषा है । जोवमे पुद्गल वर्गणाओंको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य है और निमित्त कर्मोदय आदि है ।

यहा पर सयोग केवली जब योग निरोध करते है तब क्या प्रक्रिया होती है यह मूल को दो कारिकाओंमें बतलाया है । जीवकी योग शक्तिको यहा कृश करके

लेश्याशरीरयोगाभ्यां सूक्ष्माभ्यां कर्मबंधकः ।
शुक्लं सूक्ष्मक्रियं ध्यानं कर्तुमारभतेजिनः ।।२१८९।।

सूक्ष्मक्रियेण रुद्धोऽसौ ध्यानेन सूक्ष्मविग्रहः ।
स्थिरीभूतप्रदेशोऽस्ति कर्मबंधविवर्जितः ।।२१९०।।

अयोगोऽन्यतरद्वेद्यं नरायुर्नृद्वय त्रसम् ।
सुभगादेय पर्याप्तं पंचाक्षोच्चयशांसि सः ।।२१९१।।

नष्ट किया जाता है । योग निरोधके पूर्व सर्वत्र बादर योग रहता है । सयोग केवलो बादर काययोगमें स्थित होकर बादर मनोयोग और बादर वचनयोगको नष्ट करते हैं पुनः बादर काययोगको नष्ट करते है पुनः सूक्ष्मकाय योगमें स्थित होकर सूक्ष्म मनोयोग तथा सूक्ष्म वचन योगको पूर्णतया नष्ट करते है । इसप्रकार प्रति समय योग शक्तिको घटाते हुए इस सयोग केवली गुणस्थानके अत समयमे योग शक्ति का पूर्णनाश हो जाता है और वे अयोग केवली नामा चौदहवें गुणस्थानमे प्रवेश करते है ।

बादर योगोंको नष्ट करके तथा सूक्ष्म मनोयोग और वचन योगको भी नष्ट कर चुकनेके बाद सूक्ष्म काययोगमें स्थित होनेपर सयोग केवलोके सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति नामका तीसरा शुक्लध्यान होता है । इसमे पूर्व तेरहवें गुणस्थानके कालमे तथा केवलो समुद्घात कालमें भी यह शुक्लध्यान नही होता ऐसा जानना चाहिये ।

सूक्ष्म शुक्ल लेश्या और सूक्ष्म काययोग द्वारा कर्मबधको करने वाले अर्थात् सातावेदनीय रूप ईर्यापथ आस्रवको करने वाले वे सयोगी जिन सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती नामके तीसरे शुक्ल ध्यानको करना प्रारंभ करते है । वे केवलो जिन उस सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति ध्यान द्वारा सूक्ष्मयोगका निरोध करते हैं और इसप्रकार संपूर्ण योग नष्ट होकर सर्व आत्मप्रदेश स्थिर हो गये है जिनके ऐसे वे अयोग केवलो नामके गुणस्थानमें प्रवेश करते हैं कैसे हैं अयोगी जिन ? ईर्यापथ आस्रव रूप कर्मबंध भी अब जिनके नही रहा है ।।२१८९।।२१९०।।

अयोगी जिनके ईर्यापथ रूप आस्रव बंध तो समाप्त हुआ किन्तु उदय कितनी प्रकृतियोका है ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—अयोग केवलोके साता असातामें से कोई एक वेदनोय कर्म, मनुष्यायु, मनुष्यगति, त्रस, सुभग, आदेय, पर्याप्त, पंचेन्द्रिय जाति,

बादरं तीर्थकृत्वंतास्तीर्थंकारी अयोदश ।
न परो वेदयते साधुस्तदानीं द्वादश स्फुटम् ॥२१९२॥

देहत्रितय बंधस्य ध्वंसायायोग केवली ।
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानं निश्चलं प्रतिपद्यते ॥२१९३॥

मात्रापंचककालेन तेन ध्यानेन वर्तते ।
प्रकृतीनामपक्वानां द्वासप्ततिमसौ समम् ॥२१९४॥

शरीरं पंचधा तत्र पञ्चधा देहबन्धनम् ।
संघातः पञ्चधा षोढा संस्थानममरद्वयम् ॥२१९५॥

अंगोपांग त्रिसंख्यानं षोढा संहननक्षणे ।
पंच वर्णा रसाः पंच गंधस्पर्शा द्विधाष्टधा ॥२१९६॥

उच्चगोत्र, यशस्कीर्ति और बादर इसप्रकार (सामान्य केवली) ग्यारह कर्म प्रकृतियां उदयमे रहती हैं तथा तीर्थंकर केवलीके ये ग्यारह तथा एक तीर्थंकर इसतरह बारह प्रकृतियां उदयमें रहती है, इन बारहके अतिरिक्त अन्य तेरह आदि प्रकृतियोंका उदय उनके कदापि नही रहता, उससमय अधिकसे अधिक बारह प्रकृतियां ही नियमसे उदयमें हैं ॥२१९१॥२१९२॥ अयोग केवली तीन शरीरके सबंधका (औदारिक तैजस और कार्मण शरीरका) सर्वथा नाश करनेके लिये समुच्छिन्न क्रिया–व्युतरत क्रिया निर्वृत्ति नामके चौथे निश्चल शुक्ल ध्यानको प्राप्त करते है ॥२१९३॥ पांच लघु ह्रस्व अक्षर (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के उच्चारणमें जितना काल लगता है उतने काल प्रमाणवाला यह चौथा शुक्लध्यान है (इस चौदहवें गुणस्थानका काल भी इतना हो है) इस शुक्लध्यानमें रहते हुए वे भगवान अरिहंत देव अपक्व रूप अर्थात् अनुदयरूप बाहत्तर कर्मप्रकृतियोंका चौदहवें गुणस्थानके द्विचरम समयमें युगपत् नाश करते है ॥२१९४॥ उन बाहत्तर प्रकृतियोके नाम हैं—औदारिक आदि पांच शरीर, उन पांचों शरीरोके पांच बंधन तथा पांच संघात—औदारिक शरीर बधन, औदारिक शरीर संघात इत्यादि, समचतुरस्र आदि छह संस्थान, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, औदारिक शरीर अगोपांग, वैक्रियक शरीर अगोपांग, आहारक शरीर अंगोपांग ये तीन, वज्रवृषभ नाराच आदि छह संहनन, शुक्ल कृष्ण आदि पांच वर्ण, मधुर आदि पांच रस, सुगंध दुर्गंधरूप दो गंध, स्निग्ध रूक्ष

क्षीयते गुरुलघ्वादि चतुष्कं द्वे नभोगती ।
शुभद्वयं स्थिरद्वन्द्वं प्रत्येकं सुस्वरद्वयम् ॥२१९७॥

अनादेयायशो निर्माणे चापूर्णानि दुर्भगम् ।
वेद्यमन्यतरत्तस्य द्वासप्ततिरुपान्तिमे ॥२१९८॥

अंतिमे समये हत्वा प्रकृतीः स त्रयोदश ।
वंद्यमान सवाऽयोगः प्रयाति पदमव्ययम् ॥२१९९॥

आदि आठ स्पर्श, अगुरु लघु चतुष्क अर्थात्—अगुरुलघु, उपघात, परघात और उच्छ्वास ये चार, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति ये दो, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, प्रत्येक, सुस्वर, दुस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति, निर्माण, अपर्याप्ति, दुर्भग, साता असातामेंसे एक वेदनीय और नीचगोत्र । फिर अंतिम समयमे तेरह प्रकृतियोंका नाश करके सबके द्वारा वंदनीय ऐसे वे अयोगी जिन अव्यय पद—मोक्ष प्राप्त करते है ॥२१९५॥२१९६॥ ॥२१९७॥२१९८॥२१९९॥

विशेषार्थ—सयोग केवलीके पिच्चामी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है अयोग केवलीके भी द्विचरम समय तक उन्हींकी सत्ता पायी जाती है । द्विचरम समयमें अयोगी जिन बाहत्तर कर्म प्रकृतियोंका नाश करते है जिनके नाम ऊपर गिनायें हैं । चरम समयमें तेरह प्रकृतियोंका नाश करते हैं उनके नाम—मनुष्यगति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, पंचेन्द्रिय, सुभग, त्रस, आदेय, पर्याप्ति, यशस्कीर्ति, उच्चगोत्र, साता असातामेसे एक और तीर्थंकर । जो सामान्य केवली हैं उनके तीर्थंकर कर्मका सत्त्व नहीं होता अतः वे अत समयमें बारह कर्मप्रकृतियोंका नाश करते हैं । अयोग केवलीके द्विचरमसमयमें नाश होनेवाली प्रकृतियां एवं अंत समयमें होनेवाली प्रकृतियोंमें दो मत हैं—एक मतके अभिप्रायसे द्विचरम समयमें तिहत्तर प्रकृतियां नष्ट होती हैं और अंतसमयमें बारह प्रकृतिया नष्ट होती हैं । अंतसमयकी जो प्रकृतियां हैं उनमेंसे एक मनुष्यगत्यानुपूर्वी का नाश पहले ही अर्थात् द्विचरम समयमें होता है । इसप्रकार कुल पिच्चासी कर्म प्रकृतियों का नाश करके वे अयोगी जिन शाश्वत धाम मोक्षको प्राप्त करते है और वहां पर हमेशा के लिये आत्मिक अनंत आनंदका अनुभव करते रहते हैं ।

नामकर्मक्षयात्तस्य तेजोबंधः प्रलीयते ।
औदारिक वपुर्बंधो न सत्यायुः क्षये सति ।।२२००।।
एरंडबीजवज्जीवो बन्धव्यपगमे सति ।
ऊद्ध्र्वं यातिनिसर्गेण शिखेवविषमार्च्चिषः ।।२२०१।।
आविशेनाशुगामि व सपूर्वेण नियोजितः ।
अलाबुरिव निर्लेपो गत्वा मोक्षेऽवतिष्ठते ।।२२०२।।
ध्यानप्रयुक्तो यात्यूर्ध्वमात्मावेगेनपूरितः ।
तथा प्रयत्नमुक्तोऽपि स्थातुकामो न तिष्ठति ।।२२०३।।
यथानलशिखा नित्यमूर्ध्वं याति स्वभावतः ।
तथोर्ध्वं याति जीवोऽपि कर्ममुक्तो निसर्गतः ।।२२०४।।

इसप्रकार उन भगवानके नाम कर्मका सर्वथा क्षय होनेसे तैजस शरीरका जो संबंध आत्माके साथ हो रहा था वह नष्ट होता है तथा आयुकर्मका क्षय होनेसे औदारिक शरीरका जो सबध था वह समाप्त होता है, इसतरह शरीरादिके बधनोंसे सर्वथा प्रमुक्त हुआ यह जीव ऊर्ध्व गमन कर सिद्धालयमे जाकर विराजमान हो जाता है। जैसे एरड का बोज उसका बधन जो ऊपरी छिलका था उसके दूर होनेपर ऊपर जाता है अथवा अग्नि की शिखा-लौ स्वभावसे ऊपर की ओर जलती रहती है (यदि हवा का झकोरा न होवे तो) वैसे मुक्त हुआ आत्मा ऊपर की तरफ गमन करता है और अष्टम पृथिवी सिद्ध शिलाके ऊपर जाकर स्थित होता है ।।२२००।।२२०१।। अथवा जैसे पूर्वके आवेगसे नियोजित किया गया आशुगामी-चक्र गमन करता है अर्थात् एकबार दंडेसे घुमा देने पर कुम्हारका चक्र कुछ समय तक घूमता रहता है, वैसे पूर्व प्रयोगसे अर्थात् ध्यानमे किये गये ऊर्ध्व गमनके अभ्यासके वशसे मुक्त हुए जीव ऊपर गमन करते हैं। अथवा जैसे मिट्टी आदिके लेपसे रहित तूम्बडी पानीके ऊपर आती है वैसे कर्मरूप लेपसे रहित हुआ आत्मा मोक्षमे ऊपर गमन करता है—सिद्धालयमे जाकर विराजमान होता है ।।२२०२।। इसीको कहते है कि आत्मा पूर्वमे-ध्यानमे प्रयुक्त हुआ उस वेगसे पूरित ऊपर जाता है, जैसे कोई पुरुष वेगसे पूरित होकर दौडता है और उस दौड़नेके प्रयत्नको छोड़कर ठहरना चाहता हुआ भी कुछ समय तक ठहर नही पाता अथवा जैसे अग्नि शिखा स्वभावसे हमेशा ऊपर जाती है वैसे कर्मोंसे मुक्त हुआ जीव स्वभावसे ऊपर जाता है ।।२२०३।।२२०४।।

यात्यविग्रहया गत्या निर्व्याघातः शिवास्पदम् ।
एकेन समयेनासौ न मुक्तोऽन्यत्र तिष्ठति ।।२२०५।।

विच्छिद्य ध्यानशस्त्रेण देहत्रितयबंधनम् ।
सर्वद्वंद्वविनिर्मुक्तो लोकाग्रमधिरोहति ।।२२०६।।

ईषत्प्राग्भारसंज्ञायां धरित्र्यामुपरि स्थिताः ।
त्रैलोक्याग्रेऽवतिष्ठन्ति ते किंचिन्न्यूनयोजने ।।२२०७।।

न धर्माभावतः सिद्धा गच्छन्ति परतस्ततः ।
धर्मो हि सर्वदा कर्ता जीवपुद्गलयोर्गतेः ।।२२०८।।

मुक्त जीव मोड रहित गतिसे बिना किसी रुकावटके एक समयमें मोक्ष शिला पर जाकर विराजमान होते है. वे कही अन्यत्र नही ठहरते ।।२२०५।।

इसप्रकार ध्यानरूप शस्त्र द्वारा औदारिक आदि तीन शरीरोके बंधनको छेद कर समस्त द्वन्द्व–विभाव परिणामोंसे रहित हुए वे भगवान् लोकाग्रमें आरोहण करते है ।।२२०६।। लोकाग्रमें ईषत् प्राग्भारा नामकी पृथिवीके ऊपर भाग स्वरूप त्रैलोक्यके अंतमें वे परमात्मा अवस्थित होते है, उस पृथिवीसे कितने ऊपर जाकर ठहरते है ? कुछ कम एक योजन प्रमाण ऊपर जाकर ठहरते है ! ।।२२०७।।

विशेषार्थ—सर्वार्थ सिद्धि नामके अंतिम स्वर्ग विमानसे बारह योजन (महायोजन) ऊपर जाकर चन्द्रमा समान उज्ज्वल, छत्राकार ईषत् प्राग्भारा नामकी आठवी पृथिवी है इसका प्रमाण अढाई द्वीपके प्रमाणके समान पैंतालीस लाख महा-योजन का है इसे ही सिद्ध शिला, सिद्धालय, मोक्षशिला इत्यादि अनेक नामोसे कहते है । इस पृथिवीसे आगे तीन वातवलय है प्रथम घनोदधि वातवलयकी मोटाई वहां दो कोसकी है दूसरे घनवातवलयकी एक कोस तथा तीसरे तनुवातवलयकी मोटाई कुछ कम एक कोस अर्थात् पौने सोलह सौ धनुष प्रमाण है, अतः अष्टम पृथिवीसे एक योजनमें कुछ कम ऊपर जाकर अंतिम वातवलयके अतमे सिद्धभगवान् विराजमान होते है अतः मोक्ष शिलासे कुछ कम एक योजन ऊपर जाकर स्थित होते है ऐसा यहां कहा है ।

लोकाग्रके आगे धर्म द्रव्यका अभाव होनेसे सिद्ध भगवान् आगे गमन नही करते क्योंकि जोव और पुद्गलके गमनमें सहायक धर्मद्रव्य ही होता है ।।२२०८।।

निष्ठित:शेषकृत्यानां गमनागमनादय: ।
व्यापारा जातु जायंते सिद्धानां न सुखात्मनाम् ।।२२०६।।
कर्मभि: क्रियते पातो जीवानां भवसागरे ।
तेषामभावतस्तेषां पातो जातु न विद्यते ।।२२१०।।
क्षुधातृष्णादयस्तेषां न कर्माभावतो यत: ।
आहाराद्यैस्ततो नार्थस्तत्प्रतीकारकारिभि: ।।२२११।।
यत्सर्वेषां ससौख्यानां भुवनत्रयवर्तिनाम् ।
ततोऽनंतगुणं तेषां सुखमस्त्यविनश्वरम् ।।२२१२।।
अंत्यविग्रहसंस्थानसदृशाकृतय: स्थिरा: ।
सुखदु:खविनिर्मुक्ता भाविन कालमासते ।।२२१३।।
तेषां कर्मव्यपायेन प्राणा: संति दशापि नो ।
न योगाभावतो जातु विद्यतेस्पदनादिकम् ।।२२१४।।

अशेष कार्योंको जो पूर्ण कर चुके है ऐसे निष्ठित कृत्य एवं अनत सुखोका अनुभव करनेवाले सिद्ध प्रभुके गमनागमन आदि क्रियाये कभो भी नही होती हैं ।।२२०६।। जीवोंका संसार सागरमे गिरना कर्म द्वारा हुआ करता है, उन कर्मोंका सिद्धोके अभाव हो चुका है अत: वे कभी भी संसारमें लौटकर नही आते है ।।२२१०।। तथा जिस कारणसे उन सिद्धोंके कर्मोंका अभाव है उम कारणसे उनके भूख, प्यास, रोग आदि वेदनायें नही होती और वेदनाके अभावमे वेदनाका प्रतीकार करने वाले आहार, पानी, औषधि आदिसे सिद्धोको कुछ प्रयोजन नही रहा है ।।२२११।। तीन लोकमे जो सुख संपन्न जोव हैं उन सबको जितना सुख होता है उन सबके सुखोंसे अनतगुणा शाश्वत सुख सिद्धोंके होता है ।।२२१२।।

वे सिद्ध अतिम शरीरके सस्थानके सदृश आकार वाले होते है अर्थात् जिस शरीरसे मुक्ति प्राप्त की है उस आकार एवं अवगाहनामे सिद्धोके आत्मप्रदेश स्थित रहते हैं, उक्त आकारसे कभो विचलित नही होनेसे स्थिर हैं । ससारके संपूर्ण सुख और दु:खोंसे निर्मुक्त है वे भविष्यत् अनंतकाल तक सदा इसीतरह रहते हैं ।।२२१३। सिद्धोके इन्द्रिय, आयु आदि दशो प्राण नही होते है तथा तीनो योगोंका अभाव होनेसे उनके हलनचलन—स्पंदन नही होता है ।।२२१४।। कर्मोंका अभाव हो जानेसे वे पुन:

न कर्माभावतो भूयो विद्यते विग्रहग्रहः ।
शरीरं श्रयते जीवः कर्मणा कलुषीकृतः ॥२२१५॥

अधर्मवशतः सिद्धास्तत्र तिष्ठन्ति निश्चलाः ।
सर्वदाप्युपकर्तासौ जीवपुद्गलयोः स्थितेः ॥२२१६॥

लोकमूर्धनि तिष्ठन्ति कालत्रितयवर्तिनं ।
जानाना वीक्षमाणास्ते द्रव्यपर्यायविस्तरम् ॥२२१७॥

युगपत्केवलालोको लोकं भासयतेऽखिलम् ।
घनावरणनिर्मुक्तः स्वगोचरमिवांशुमान् ॥२२१८॥

रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहविवर्जिताः ।
ते नमस्यास्त्रिलोकस्य धून्वते कल्मषं स्मृताः ॥२२१९॥

जन्ममृत्युजरारोगशोकातंकादिव्याधयः ।
विध्याताः सकलास्तेषां निर्वाणशरवारिभिः ॥२२२०॥

शरीरको ग्रहण नही करते हैं क्योंकि जीव कर्मसे कलुषित होकर शरीरका आश्रय लेता है । बिना कर्मके शरीर ग्रहण भी नही होता ॥२२१५॥ सिद्धालयमे सिद्ध भगवन्त अधर्म द्रव्यके निमित्तसे सदा निश्चल रूपसे ठहर जाते हैं (वहांसे कभी चलायमान नही होते) क्योंकि जीव और पुद्गलोकी स्थितिका उपकारक सदा अधर्मद्रव्य माना गया है ॥२२१६॥ तीनो कालोंमे होनेवाले द्रव्योंकी पर्यायोंके विस्तारको जानते और देखते हुए वे सिद्ध परमात्मा सदा लोकके मस्तकपर अवस्थित रहते है ॥२२१७॥ केवलज्ञान और केवलदर्शन रूप प्रकाश ऐसा है कि वह युगपत् समस्त लोकको प्रकाशित करता है, जैसे मेघके आवरणसे रहित हुआ सूर्य अपने विषयभूत जगतको प्रकाशित करता है ॥२२१८॥ वे सिद्ध प्रभु राग, द्वेष, मद, क्रोध, लोभ और मोहसे रहित हैं, तीनलोकके द्वारा नमस्कार करने योग्य हैं एव जीवोंके द्वारा स्मृत होनेपर उनके पापको नष्ट करने वाले हैं । अर्थात् जो जो भव्यात्मा सिद्धोका स्मरण करते हैं, उनके पापोका क्षय हो जाया करता है ॥२२१९॥

उन सिद्धोके जन्म, मरण, जरा, रोग, शोक, पीड़ा आदि सर्व व्याधि निर्वाण रूप जलधारा शांत हो चुकी है ॥२२२०॥

शारीरं मानसं सौख्यं विद्यते यज्जगत्त्रये ।
तद्योगाभावतस्तेषां न मनागपि जायते ॥२२२१॥

जानतां पश्यतां तेषां विबाधारहितात्मनाम् ।
सुखं वर्णयितुं केन शक्यते हतकर्मणाम् ॥२२२२॥

भोगिनो मानवा देवा यत्सुखं भुंजतेऽखिलम् ।
तन्नैषामात्मनीनस्य सुखस्यांशोऽपि विद्यते ॥२२२३॥

रूपगंधरसस्पर्शशब्दैर्यत्सेवितैः सुखम् ।
तदंतवीयसौख्यस्य नानंतांशोऽपि जायते ॥२२२४॥

कालत्रितयभावीनि यानि सौख्यानि विष्टपे ।
सिद्धैकक्षणसौख्यस्य तानि याति न तुल्यताम् ॥२२२५॥

रागहेतु पराधीनं सर्वं वैषयिकं सुखम् ।
स्वाधीनेन विरागेण सिद्धसौख्येन नो समम् ॥२२२६॥

तीन लोकमे शरीर और मन संबधी जो भी सुख है वह सिद्धोंके शरीर और मनके अभाव हो जानेसे किंचित् नही होता । किन्तु स्वाभाविक अनंत शाश्वत् सुख होता है ॥२२२१॥ संसारके सपूर्ण बाधाओंसे रहित, सर्व लोकालोक को जानने देखने वाले और कर्मोका जिन्होंने नाश किया है ऐसे सिद्धोंके सुखका वर्णन कौन कर सकता है ? कोई भी नही कर सकता ॥२२२२॥

भोग भूमिज जीव, मनुष्य एवं देव जो अखिल इन्द्रियज सुखको भोगते है वह इन सिद्धोंके स्वाधोन सुखका अंश मात्र भी नहो है ॥२२२३॥ रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्दों का इन्द्रियों द्वारा सेवन करनेपर जो सुख होता है वह इन सिद्धोके सुखका अनंतवा भाग भो नही है ॥२२२४॥ तीनो कालोमें होनेवाले जो भी सुख इस जगत्में हैं वे सुख सिद्धोके एक क्षणके सुखके बराबर भी नही हैं । अर्थात् सिद्धके एक क्षणके सुखके साथ अनतकालसे जो भाग है एव भोगेगे, उन सुखोंकी तुलना नहो हो सकती । क्योंकि संसारस्थ जीवोंका सुख रागद्वेषका कारण है, पराधोन है, पचेन्द्रियोके विषयोंसे उत्पन्न होनेवाला है वह स्वाधीन एवं विराग संपन्न सिद्ध प्रभुके सुखके साथ समानताको प्राप्त नहीं हो सकता ॥२२२५॥२२२६॥ सिद्धोंका सुख अक्षय, निर्मल, स्वस्थ, जन्ममरण

अक्षयं निर्मलं स्वस्थं जन्ममृत्युजरातिगं ।
सिद्धानां स्थावरं सौख्यमात्मनीनं जनार्चितम् ।।२२२७।।

कर्माष्टकविनाशेन ये गुणाष्टकवेष्टिताः ।
संतिष्ठन्ते स्थिरीभूताः भुवनत्रयवंदिताः ।।२२२८।।

संसारार्णवमुत्तीर्णा दुःखनक्रकुलाकुलं ।
ये सिद्धिसौधमापन्नास्ते सन्तु मम सिद्धये ।।२२२९।।

छंद—द्रुतविलंबित—

भवति पंडितपंडितमृत्युना सपदिसिद्धिवधूर्वशवर्तिनी ।
विमलसौख्यविधानपटीयसी सुभगतेव गुणेन निरेनसा ।।२२३०।।

जरासे रहित शाश्वत अपनी आत्मासे ही समुत्पन्न एवं सर्व ससारी जोवो द्वारा अर्चित है ।।२२२७।।

वे सिद्ध परमेष्ठी आठ कर्मोंके नाश हो जानेसे आठ गुणोंसे युक्त होते है, सपूर्ण लोकाकाश प्रमाण आत्माके प्रदेश सर्वथा अचल स्थिर होनेसे स्थिरीभूत हैं और तीन लोकके जीवो द्वारा सदा वदित हैं ।।२२२८।।

विशेषार्थ—सिद्धोंके आठों कर्मोंका नाश हो चुकता है अतः उन कर्मोके अभावमे आठ आत्मिक गुण प्रगट होते है । किस कर्मके अभावसे कौनसा गुण प्रगट होता है । सो दिखाते हैं—ज्ञानावरण कर्मके नाशसे केवलज्ञान अनंतज्ञान या ज्ञानगुण प्रगट होता है । दर्शनावरण कर्मके विलयसे केवलदर्शन या दर्शनगुण प्राप्त होता है । वेदनीयके अभावसे अव्याबाध गुण, मोहनीयकर्मके प्रलयसे सम्यक्त्व गुण, आयुके नष्ट होनेसे अवगाहनत्व गुण, नामकर्म विलीन हो जानेसे सूक्ष्मत्वगुण, गोत्रकर्मके अभावसे अगुरुलघु गुण और अतराय कर्मके नाश हो जानेसे वीर्य अनंतवीर्य प्रगट होता है ।

अनेक प्रकारके मानसिक शारीरिक आदि दुःख रूपी मगरमच्छोंके समूहसे व्याप्त ऐसे संसाररूपी सागरको जो पार कर चुके हैं और सिद्धिरूप प्रासादको प्राप्त हुए है वे सिद्ध भगवंत मेरे सिद्धिके लिये होवे—मुझे सिद्धि प्रदान करें ।।२२२९।।

इसप्रकार सिद्ध परमेष्ठियों का वर्णन पूर्ण हुआ ।

छद–उपजाति—

आराधना जन्मवतश्चतुर्धा निषेव्यमाणा प्रथमे प्रकृष्टा ।
भवे तृतीये विदधाति मध्या सिद्धि जघन्या खलु सप्तमे सा ।।२२३१।।

छंद–उपजाति—

आराधनैषा कथिता समासतो ददातु सिद्धि मम मंदमेधसः ।
अबुध्यमानैरखिल जिनागमं न शक्यते विस्तरतो हि भाषितुं ।।२२३२।।

पडित पंडित मरण वर्णनका उपसहार—

इसश्रेष्ठ पंडित पंडित मरण द्वारा विमल सौख्यको उत्पन्न करनेमें चतुर ऐसो सिद्धि रूपो वधू वश होती है अर्थात् सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है, जैसे निर्दोष गुण द्वारा सुभगता–सर्वजन प्रियता प्राप्त होती है ।।२२३०।।

पडित पडित मरणका वर्णन समाप्त ।

आराधना फल—

जो भव्य जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप रूप चार आराधनाओका उत्कृष्ट रूपसे सेवन करते है वे उसी भवसे मुक्त होते है और जो मध्यम रूपसे उक्त आराधनाओका सेवन करते है वे तृतीय भवमे तथा जघन्य रूपसे आराधनाओंका सेवन करनेवाले सातवें भवमे मुक्त होते है ।।२२३१।।

अब ग्रंथकार अमितगति आचार्य आराधनाओंका कथन करनेवाले इस ग्रथको पूर्ण करते हुए ग्रथ रचनाके फलको याचना करते है—

मेरे द्वारा यह आराधना सक्षेपसे कही गयी है यह मंद बुद्धिवाले मेरे लिये सिद्धिको–मोक्षको प्रदान करे । जो सपूर्ण जिनागमको जाननेवाले है ऐसे महान् आचार्यो के द्वारा भी इन आराधनाओका विस्तारसे वर्णन नही किया जा सकता अर्थात् जो संपूर्ण शास्त्रोके पारगामी हैं वे भी आराधनाओका सविस्तार वर्णन नही कर सकते तो मुझ जैसे मंद बुद्धिवाले कैसे कर सकते हैं ? नहीं कर सकते । अतः मैंने इन चार आराधनाओंका संक्षेपसे वर्णन किया है ।।२२३२।।

आगे ग्रन्थकार अपनी लघुता प्रगट करते है—

छंद–उपजाति—

विशोध्यसिद्धांतविरोधिबद्धं ग्राह्या श्रुतज्ञैः शिवकारिणीयम् ।
पलालमत्यस्य न किं पवित्रं गृह्णातिसस्यं जनतोपकारि ।।२२३३।।

छद–वसततिलका—

आराधनाभगवती कथिता स्वशक्त्या चिंतामणिर्वितरितुं बुधचिंतितानि ।
अह्नाय जन्मजलधिं तरितुं तरण्डं भव्यात्मनां गुणवती ददतां समाधिं ।।२२३४।।

छद–पृथ्वी—

करोति वशवर्तिनीस्त्रिदशपूजिताः सपदो ।
निवेशयति शाश्वते यतिमते पदे पावने ।।
अनेकभवसंचितं हरति कल्मषं जन्मिनाम् ।
विदग्धमुखमंडनी सपदि सेविताराधना ।।२२३५।।

।। मरणकण्डिका समाप्तं ।।

इस आराधना ग्रन्थमे मैंने मद बुद्धिके कारण कुछ सिद्धांतके विरुद्ध लिखा हो उसको श्रुतके ज्ञाता पुरुष शुद्ध करके फिर इस कल्याणकारिणी मुक्ति प्रदायिनी आराधना ग्रन्थको ग्रहण करे—पढ़े पढावें, सुने सुनावे । ठीक ही है ! जगतमे क्या जनता पलालका त्यागकर उपकारी पवित्र ऐसे धान्यको ग्रहण नही करती है ? करती ही है । अर्थात् जैसे घास तृण पलाल फूसको छोडकर उपयोगी उपकारी श्रेष्ठ गेहू चावल आदि धान्यको ही लोग ग्रहण करते है वैसे इस ग्रथमें अक्षर वाक्य अर्थ आदि सिद्धांत विरुद्ध हो उन्हे छोड़कर अर्थात् उनका सशोधन करके परमार्थ भूत शब्दार्थको ग्रहण करना चाहिये ।।२२३३।।

इस भगवती आराधनाको मैंने अपनी शक्तिके अनुसार कहा है, यह आराधना बुधजन–मुनिजनोको चिंतित वस्तु–मोक्षको देनेके लिये चिंतामणि सदृश है । जन्मरूपी सागरको शीघ्र पार करनेके लिये नौका सदृश है । यह गुणवती आराधना भव्य जीवोके लिये समाधिको प्रदान करे ।।२२३४।।

आराधना विद्वद्जनोके मुखके अलकार स्वरूप है, भव्यजीवों द्वारा सेवित की गयी यह आराधना देवोके द्वारा पूजित ऐसी मुक्तिकी संपदाको वशमे करती है, शाश्वत पवित्र जैनमतमे प्रवेश कराती है और जीवोके अनेक भवोमे संचित किये हुए पापोंका नाश करती है ।।२२३५।।

—: उपसंहार :—

—— ——

इसप्रकार यह मरणकंडिका ग्रंथ पूर्ण हुआ। आचार्य अमितगति विरचित संस्कृत पद्यमय स्वरूप इस ग्रंथका हिन्दी भाषानुवाद मैंने अढ़ाई मासमें पूर्ण किया है। इसमें सिद्धांत विरुद्ध कुछ स्खलन हुआ हो उसे बुद्धिमान जन संशोधन करके पढ़ें।

मानव जीवनका सार सल्लेखना पूर्वक मरण करना है, इस विषयका वर्णन करने वाले इस ग्रन्थ का सभी मुमुक्षुजन साधु श्रावक वर्ग अध्ययन करें।

मुमुक्षु भव्य जीवोंके आराधना सबंधी अज्ञान अंधकारको दूर करता हुआ यह भाषानुवाद चिरकाल तक भूमंडलपर प्रसिद्ध होवे।

।। मरणकंडिका समाप्त ।।

ॐ शान्तिः

भद्रं भूयात्

✡

आराधनास्तवनम्

छद-स्रग्धरा—

बंधुः स्वर्गापवर्गप्रभवसुखफलप्रापणे कर्मवल्ली ।
नानाबाधाविधायिप्रचितकलिमलक्षालने जह्नु कन्या ।।
रागद्वेषादिभाविव्यसनघनवनच्छेदने छेदनी या ।
सारामाराधनासौ वितरतु तरसा शाश्वतीं वो विभूतिम् ।।१।।

स्रग्धरा—

यामासाद्यावनम्रत्रिदशपतिशिरोघृष्टपादारविन्दाः ।
सद्यः कुंदावदातस्थिरपरमयशः शोधिताशेषदिक्काः ।।
जायंते जंतवोऽमी जनजनितमुदः केवलज्ञानभाजो ।
भूयादाराधना सा भवभयमथनी भूयसे श्रेयसे वः ।।२।।

यह आराधना स्वर्ग और मोक्षमे उत्पन्न हुए सुखरूप फलको प्राप्त करानेमें बंधुके समान है। नाना प्रकारकी बाधाओको उत्पन्न करनेवाले पापरूप कीचड़को धोनेके लिये गगा नदी के समान है। रागद्वेषादिसे उत्पन्न हुए कष्ट और संकटरूप सघन वन को काटनेके लिये कुल्हाड़ी सदृश है ऐसी यह रम्य आराधना आप लोगोको शीघ्र ही शाश्वत विभूतिको देवे ।।१।। जिस आराधनाको प्राप्त करके–धारण करके ये ससारी भव्य जीव नम्र हुए देवोके मस्तक द्वारा स्पर्शित है चरण कमल जिनके ऐसे हो जाते है अर्थात् देवों द्वारा वद्य होते है तथा कुंद पुष्पके समान उज्ज्वल तथा स्थिर ऐसे परम यश द्वारा शुद्ध किया है समस्त दिशाओंको जिन्होंने ऐसे होते हैं अर्थात् उनका यश सर्वत्र फैलता है। लोगोको आनंद उत्पन्न करनेवाले एवं केवलज्ञानको प्राप्त करनेवाले होते है, ऐसी संसारके भयका नाश करने वाली यह आराधना तुम लोगोके विशाल कल्याणके लिये होवे ।।२।।

स्रग्धरा—

यामाराध्याशु गंता शकलितविपदः पंचकल्याणलक्ष्मीम् ।
प्राप्यां पुण्यैरपापां त्रिभुवनपतिभिर्निर्मितां भक्तिमद्भिः ।।
सम्यक्त्वज्ञानदृष्टिप्रमुखगुणमणिभ्राजितां यान्ति मुक्तिं ।
सा वंद्या हृद्यविद्यैर्विलसतु हृदये सर्वदाराधना वः ।।३।।

स्रग्धरा—

या सौभाग्यं विधत्ते भवति भवभिदे भक्तितः सेव्यमाना ।
या छिन्ते मोहदैत्यं भुवनभवभृतां साध्वस ध्वंसयंती ।।
यां चानासाद्य देही भ्रमति भववने भूरिभावाद्रिरौद्रे ।
सा भद्राराधना वो भवतु भगवती वैभवोद्भावनाय ।।४।।

छंद–स्रग्धरा—

या कामक्रोधलोभप्रभृतिबहुविधग्राहनक्राबकीर्णा ।
ससारापारसिंधोर्भवमरणजरावर्तगर्ताद्युपेत्य ।।
गच्छत्युत्तीर्य सिद्धि सपदि भवभृतः शाश्वतानंतसौख्यम् ।
भव्यैराराधनानौर्गुणगणकलिता नित्यमारुह्यतां सा ।।५।।

जिसकी आराधना करके विपत्तिका प्रलयकर भव्य जोव पच कल्याणक रूप लक्ष्मो को शीघ्र ही प्राप्त कर चुके है, भक्तिमान पुण्यशाली ऐसे तीन लोकके अधिपति–देवेन्द्र नरेन्द्र द्वारा जो प्राप्त करने योग्य है, निर्दोष है, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन आदि प्रमुख गुणरूप मणियोंसे अलकृत है ऐसो मुक्तिको भव्य जोव जिसके प्रसादसे प्राप्त करते हैं श्रेष्ठ विद्याओंसे युक्त जीवो द्वारा जो वदनीय है वह आराधना आप लोगोके हृदयमें सदा शोभायमान होवे ।।३।। जो सौभाग्यको करती है, भक्तिसे सेवित करनेपर ससार का छेद करतो है, मोहरूप दैत्यको छेदती है, संसारके जीवोंके भयको नष्ट करती है जिसको प्राप्त नहीं करनेसे आजतक यह जीव विकार भावरूप भयानक पर्वत वाले संसार रूप वनमें घूमता रहा है, ऐसी यह महा कल्याणकारी भगवतो आराधना आपके वैभवोंके उत्पन्न करनेके लिये होवे ।।४।।

काम, क्रोध, लोभ प्रभृति बहुत प्रकारके ग्राह, नक्ररूप क्रूर जलचर जंतुओंसे जो व्याप्त है ऐसा संसार रूप अपार सागर है उस संसार सागरमे होनेवाला जन्मजरा

स्रग्धरा—

या मैत्रीख्यातिकांतिद्युतिमतिसुगतिश्रीविनीत्यादिकांताम् ।
संयोज्योपार्जनीयामवहितमतिभिर्मुक्तिकांतां युनक्ति ।।
मुक्ताहाराभिरामा मम मदशमनी सम्यगाराधनाली ।
भूयान्नेदीयसी सा विमलितमनसां साधयन्तीप्सितानि ।।६।।

स्रग्धरा—

स्वांतस्था या दुरापा नियमितकरणा सृष्टसर्वोपकारा ।
माता सर्वाश्रमाणां भवमथनपराऽनंगसंगापहारा ।।
सत्या चित्तापहारी बुधहितजननी ध्वस्तदोषाकरश्रीः ।
दद्यादाराधना सा सकलगुणवती नीरजा वः सुखानि ।।७।।

स्रग्धरा—

उद्यद्दुःखागदुर्गं गुरुदुरितदवं दग्धुमग्नीयमाना ।
हतुं मोहान्धकारं कवलितनिखिला तिग्मरश्मीयमाना ।।

मरणरूप आवर्तका–भंवरका गर्त है उस गर्तमे गिरे हुए जीवोंको निकालकर उस सागरसे पार कराके शीघ्र ही शाश्वत आनद और सुखरूप सिद्धिको प्राप्त कराती है, ऐसी यह आराधना रूप नौका जो गुण समुदायमे युक्त है ऐसी नौकापर भव्यजीव नित्य आरोहण करे—आराधनाको धारण करे ।।५।। आराधनाकी सेवा करनेसे सेवकोको मैत्री, ख्याति, कांति, शोभा, बुद्धि, सुगति, सपत्ति, नम्रता आदि रूप स्त्रियोंके साथ समागम कराती है और अंतमे अवश्य प्राप्त करने योग्य ऐसी मुक्ति रूप स्त्रीको भी देती है यह आराधना मोतियोंकी मालाके सदृश सुन्दर है मेरे मदको शांत करनेवाली है, निर्मल मनवाले पुरुषोंके इच्छित पदार्थका साधन करती हुई यह आराधना रूप सखी सदा मेरे निकट रहे ।।६।। अत्यन्त दुर्लभ ऐसी यह आराधना मनमे स्थित होनेपर इन्द्रियों को नियंत्रित करती है, संपूर्ण उपकारको करती है, यह समस्त ब्रह्मचर्य आदि आश्रमोंकी माता है, भवका मथन करने वाली है काम और परिग्रहको हटाने वाली, सत्यस्वरूपा, संतापकी अपहर्त्री, बुधजनके हितको उत्पन्न करने वाली, दोषोंके समूहकी विध्वसिनी सकल गुणोंसे युक्त और पाप रहित ऐसी यह आराधना आपके लिये सुखोंको देवे ।।७।। जो अति उत्तुंग दुःखरूपी पर्वतोंसे घिरा है ऐसे पापरूपी बड़े वनको भस्म करनेके लिये आराधना अग्नि सदृश है । मोहान्धकारको नष्ट करनेके लिये सूर्यतुल्य है,

निःशेषं वस्तु दातुं भवभृदभिमतं कामधेनूयमाना ।
निर्बाधा या विधत्तामभितगतिसुखं शीघ्रमाराधना वः ।।८।।

श्वभ्रभूमिज्वलद्वह्निं यांऽविच्छिन्नजलोद्गतिः ।
अद्य नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ।।९।।

येषा कुद्दालिका शाता तिर्यग्दुःखांकुरोद्धृता ।
अद्य नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ।।१०।।

मर्त्यचिंतितलाभाय येषा कल्पद्रुमायते ।
अद्य नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ।।११।।

दूतिका हूतये येयं महर्द्धिकसुरश्रियः ।
अद्य नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ।।१२।।

मुक्तिदाने क्षमा यास्ति विरतिर्भवसंततेः ।
अद्य नः शरणं सास्तु रत्नत्रयविशुद्धिता ।।१३।।

एषैव परमो धर्म एषैव परमं तपः ।
एषैवार्हद्वचो वाच्यमेषैव ध्यानसंगतिः ।।१४।।

वांछित पदार्थको देनेमें कामधेनु समान है, ऐसी यह आराधना निर्बाध अमित ज्ञान जिसमे गर्भित है ऐसा सुख तुम लोगोको प्रदान करे ।।८।। नरक भूमिमें प्रज्वलित अग्निको शांत करनेके लिये आराधना अविच्छिन्न मेघके समान है ऐसी रत्नत्रयसे निर्मल रूप आराधना हमको शरण हो ।।९।। तिर्यग्गतिके दुःखरूपी अंकुरोंको उखाड़नेके लिये कुदाली सदृश यह आराधना हमारे लिये शरणभूत होवे ।।१०।। मनुष्योंको चिंतित पदार्थ देनेके लिये कल्पवृक्ष तुल्य मानी गयी ऐसी यह रत्नत्रयसे शुद्ध आराधना हमारी रक्षा करे ।।११।। महा ऋद्धिशाली देवोंकी लक्ष्मीको बुलानेके लिये जो दूतीके समान है ऐसी यह रत्नत्रयसे निर्मल बनी हुई आराधना हमारी रक्षा करे ।।१२।। जो मुक्ति प्रदान करनेमें समर्थ है, भवपरंपराका नाशक ऐसी यह रत्नत्रयसे विशुद्ध आराधना हमको आज शरणभूत होवे ।।१३।। यह आराधना ही उत्कृष्ट धर्म है, उत्कृष्ट तप है, जिनेश्वरने दिव्य ध्वनि द्वारा इसीका कथन किया है, यही ध्यान प्राप्तिमें कारण है ।।१४।। आराधनाकी प्राप्ति होना ही संसारमे सर्वोत्कृष्ट लाभ माना जाता है, यही

एषैव परमो लाभ एषैव परमं मतम् ।
एषैव परमं तत्त्वमेषैव परमा गतिः ।।१५।।

एतस्या दुर्लभं ब्रूहि त्रिलोके कतमत्सुखम् ।
अतः शरणमेषैका भवतान्मे भवे भवे ।।१६।।

छंद-शार्दूल—

या सर्वज्ञहिमाचलादपसृता शीलप्रवाहात्मिका ।
यासर्वर्द्धिसमर्थितंगणधरं राराधिता निर्मला ।।
या दुर्वारभवासुखाहतनृणां निर्वापणी स्वर्धुनी ।
सा वः पापविशोधनाय शुभदा भूयात्सदाराधना ।।१७।।

छद-शार्दूल—

या सज्ज्ञानसमृद्धिनालकलिता सम्यक्त्वसत्कर्णिका ।
या चारित्रपलाशसंचयचिता द्वेधा तपोभासुरा ।।
या भव्योत्तमषट्पदैः परिवृता नैःसंग्यपद्माकुला ।
सा वोऽस्याद्भवतापमुज्ज्वलगुणैराराधना पद्मिनी ।।१८।।

उत्तम मत, उत्तम तत्त्व है और यही परमगति है ।।१५।। जिस व्यक्तिको इस आराधना की प्राप्ति हुई है उसको कौनसा सुख दुर्लभ है ? अतः मुझे यह भवभवमें शरणभूत होवे ।।१६।। सर्वज्ञरूपी हिमाचलसे इस आराधनारूपी गंगाकी उत्पत्ति हुई है, यह शीलरूप जलप्रवाहसे युक्त है ऋद्धि सपन्न गणधर द्वारा मान्य है, निर्मल है, दुर्वार संसारके दुःखसे पीड़ित पुरुषको आनंदकारक ऐसी यह आराधना गंगा आप लोगोंके पापरूप मैलकी शुद्धिके लिये होवे तथा सदा पुण्यदायक होवे ।।१७।। सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि होना ही जिसका नालदण्ड है, सम्यक्त्वरूपी कर्णिकासे युक्त तेरह प्रकारके चारित्ररूप पत्र समूहवाली, दो प्रकारके तपसे प्रफुल्लित भव्य जीवरूप भ्रमरोंसे वेष्टित, निष्परिग्रहता रूप कमलोंसे व्याप्त ऐसी यह आराधनारूपी पद्मिनी उज्ज्वल गुणों द्वारा आराधना करनेवाले तुम लोगोंका भवसताप दूर करे ।।१८।। यह आराधना रूप गंगानदी, समस्त आस्रवोंको रोकती है, शरीरमें उत्पन्न हुए रागादिमलको दूरकर गुणवान भव्यजीवोंको इष्ट मुन्दर ऐसा सिद्धि पद देती है, सल्लेखनाके धारक पुरुषोंको देवो द्वारा वंदनीय

छंद-शार्दूल—

या सर्वाभ्रवरोधिनी कलिमलं दूरं निरस्यांगजम् ।
सद्धं चारुपदं नयेद्गुणवतो भव्यात्मनो वांछितम् ।।
चक्रेशादिसुखं सुरैरभिनुतं संयोज्य संन्यस्यतां ।
सा वः स्यान्मुनिहंससेवितरसा देवापगाराधना ।।१९।।

शार्दूल—

या शीलोज्ज्वलपुष्पगंधसुभगा सद्ध्यानसत्पल्लवा ।
भास्वद्दर्शनसंभवा वरतपः पत्रोच्चयेनांचिता ।।
सम्यग्वृत्तलसन्महाफलवती भव्यालिझंकारिता ।
सा वो मानसभूतले प्रसरतादाराधनावल्लरी ।।२०।।

शार्दूल—

या श्रीमच्छ्रुतशीलनीरकलिता निर्वाणदानक्षमा ।
याऽपुण्यांबुधिसारिणी शुचितया रंगत्तरंगाकुला ।।
या निर्धूय कलेवराणि महतः संस्थापयेत्सत्सुखे ।
सा वो मंगलमातनोतु नितरामाराधनास्वर्धुनी ।।२१।।

ऐसा पद देती है, चक्रवर्ती आदिका सुख देती है, मुनिजन रूप हंसो द्वारा सेवित ऐसी यह आराधना गंगा आपको प्राप्त होवे ।।१९।।

यह आराधना रूपी लता शीलरूप उज्ज्वल सफेद सुगन्धित पुष्पोंसे मनोहर है, धर्म्यध्यान शुक्लध्यानरूप पल्लवोंसे युक्त, सम्यग्दर्शन रूप बीजसे उत्पन्न उत्कृष्ट तप-रूपी पत्रसमूहसे भरी, सम्यक् चारित्ररूप महाफलवाली, भव्यरूपी भ्रमरोके झंकारसे व्याप्त ऐसी यह आराधनावेल आपके मानस भूमिपर फैले ।।२०।। यह आराधना गंगा श्रुतज्ञान और शीलरूप पानीसे भरी है, मोक्ष देनेमें समर्थ है, पुण्य समुद्रको प्राप्त होती है, पवित्र है, ध्यानरूप तरंगोंसे व्याप्त है, सत्पुरुषोंके शरीरोंको नष्ट करके उनको मोक्षसुखमें स्थापित करती है ऐसी आराधना गंगा तुम्हारा मंगल करे ।।२१।। यह आराधना रूप अंबिकादेवी मोहासुरका पराजय करके विजयी हुई है, इसकी भक्ति करनेवाले पुरुषोंको सर्व इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती

शार्दूल—

या मोहासुरसंगलब्धविजया सर्वार्थसंपावनी ।
शूराणामसमाधिनाशनधिया कार्तिक्षयाणांसताम् ।।
या दुर्वारमहोपसर्गमथनी सिद्धिप्रियाणां सती ।
सा वः पातु भवाटवीं प्रतिगतानाराधनाऽम्बिका ।।२२।।

शार्दूल—

या शुद्धषष्टकचारुमौक्तिकफलैर्मध्यस्थविङ्नायकः ।
भास्वद्बोधविचित्रसूत्ररचितैश्चारित्रसल्लक्षणैः ।।
श्रीमद्गुप्तिसमुज्ज्वलैर्विरचिता दोषोग्ररोगापहा ।
सा वस्तिष्ठतु वक्षसीह सुतरामाराधनाकंठिका ।।२३।।

शार्दूल—

या निःशेषपरिग्रहेभदलने दुर्वारसिंहायते ।
या कुज्ञानतमोघटाविघटने चंडांशुरोचीयते ।।
या चिंतामणिरेव चिंतितफलैः संयोजयंतीजनान् ।
सा वः श्री वसुनंदियोगिमहिता पायात्सदाराधना ।।२४।।

है, यह देवी परीषह सहिष्णु शूरमुनियोंका दुःख दूरकर समाधिकी प्राप्ति करा देती है, सिद्धिप्रिय मुनिजनोंके दुर्वार महोपसर्गका नाश करनेवाली है, ऐसी यह आराधना अंबिका संसार वनमे भटके हुए आप लोगोंकी रक्षा करे ।।२२।। यह आराधना कंठके मुक्ताहारके समान है इसमें षोडश कारण भावना रूप मोती पिरोये गये है मध्यमें दश-लक्षण धर्मरूप रत्नोंकी रचना है और सम्यग्ज्ञानरूप धागेमें यह हार रचा गया है चारित्र और गुप्ति रूप विशिष्ट मोती भी जिसमें है जो दोषरूपी उग्र रोग—ज्वर आदि का नाश करती है ऐसी यह आराधना कंठिका आपके वक्षस्थल पर शोभायमान होवे ।।२३।। यह आराधना सर्व परिग्रह रूपी हाथियोंका घात करनेको सिंहके समान है, अज्ञान अंधकारको नष्ट करनेको सूर्य किरणके सदृश है, चिंतित फलोंको देनेके लिये चिंतामणि तुल्य है ऐसी यह वसुनंदी आचार्य द्वारा पूजित आराधना आपकी सदा रक्षा करे ।।२४।।

शार्दूल—

या संसारमहोदधेः प्रतरणी नौरेव भव्यात्मनाम् ।
या दुःखज्वलनावलीढवपुषां निर्वापणी स्वर्धुनी ।।
या चिंतामणिरेव चिंतितफलैः संयोजयन्ती जनान् ।
सा निःश्रेयसहेतुरस्तु भवतामाराधना देवता ।।२५।।

शार्दूल—

या पुण्यास्रवमूर्तिरेकपदवी स्वर्गालयारोहिणाम् ।
या मार्गत्रयवर्तिनीति विदिता निर्धूतनानारजाः ।।
यस्याः सद्गुरुपर्वतः प्रभव इत्याहु पुरावेदिनः ।
सा वः पापमलानि गालयतु खल्वाराधनास्वर्धुनी ।।२६।।

शार्दूल—

या सर्वज्ञहिमाचलात्प्रगलिता पुण्यांबुपूर्णा शुचिः ।
या सज्ज्ञानचरित्रलोचनधरैर्मूर्ध्ना गणीन्द्रैर्धृता ।।
या कर्मानलघर्मपीडितमुनीन्द्रेभावगाहक्षमा ।
सा वो मंगलमातनोतु भगवत्याराधनास्वर्धुनी ।।२७।।

भव्य जीवोंको संसार सागर तिरनेके लिये आराधना नौका सदृश है, दुःखरूप अग्निसे जले हुए जीवोको शांतिसुख देनेवाली स्वर्गगंगाके समान है और मनोवांछित फलोंसे लोगोको संयुक्त करती है ऐसी आराधना देवता आपको मोक्ष देनेमें हेतु बने ।।२५।। पुण्यास्रव की मानो मूर्त्ति हो ऐसी यह आराधना गंगा स्वर्गारोहण करनेवालों को मार्गस्वरूप होवे, रत्नत्रय स्वरूप होनेसे लोग इस आराधनाको त्रिमार्गणा कहते है, इसकी सेवासे नाना प्रकारके पातक नष्ट होते है, सद्गुरु रूप पर्वतसे यह प्रगट हुई है ऐसा प्राचीन आचार्य कहते हैं । ऐसी आराधना गंगा तुम्हारे पापमलोंको गाले ।।२६।। यह आराधना गंगा सर्वज्ञरूप हिमालयसे उत्पन्न हुई है, पुण्यरूप जलसे भरी है, निर्मल है, सम्यग्ज्ञान और चारित्र रूप नेत्रोंको धारण करनेवाले गणधरोने जिसको मस्तक पर धारण किया है, कर्मरूप अग्निसे संतप्त हुए मुनिजन रूप हाथी जिसमें अवगाहन करते हैं ऐसी आराधना स्वर्गगगा तुम्हारा मंगल करे ।।२७।। यह आराधना नदी पुण्य

शार्दूल—

या पुण्यांबुधिपूरणी कलिमलप्रक्षालनैकोद्यमा ।
या निर्धूय कलेवराणि विमलीकर्तुं क्षमाराधकान् ।।
या मासाद्य मुनीभयूथपतयो निर्वान्त्यपंकात्मिकाम् ।
सा वोऽन्तर्मलवाहमाशु निहृतादाराधनास्वर्धुनी ।।२८।।

शार्दूल—

या संसारमहाविषापहरणे सन्मंत्रविद्यायते ।
या कर्मावृततताटवीप्रदहने दावानलोर्वीयते ।।
या दुर्मोहतमोघटाविघटने चंडांशुरोचीयते ।
सा वः पापमलानि हंतु रुचिरा रत्नत्रयाराधना ।।२९।।

शार्दूल—

धर्मारामहातरोः फलवती या पुण्य सन्मंजरी ।
मुक्तिश्रीललनाभिसारणपटुर्मृष्टाक्षरा शंफली ।।
स्वर्गाग्रप्रविभासिसौधशिखरारोहैकनिः श्रेणिका ।
सा वः पातु पवित्रमूर्तिरमला रत्नत्रयाराधना ।।३०।।

समुद्रको पूरित करती है, पापमैलको धोनेमें समर्थ है, आराधक मुनियोके शरीरोंको नष्ट करके निर्मल बनानेमे यह सक्षम है, ऐसी आराधना नदी अन्त.स्थित कर्ममलदाहको नष्ट करे ।।२८।। जो ससाररूपी तीव्र विषका हरण करनेमे उत्तम विद्याके समान है, कर्मरूपी वल्लीका वन जलानेमे दावाग्निके समान है, मिथ्या मोहान्धकारको नष्ट करनेमें सूर्यकिरण सदृश है ऐसी यह मनोहर आराधना तुम्हारे पाप मलोंका नाश करे ।।२९।। यह आराधना धर्मरूपी बगीचेके बड़े वृक्षकी फलयुक्त उत्तम मंजरी है, मुक्तिरूपी सुंदरीको अभिशरण करनेके लिये प्रवृत्ति करनेवाली स्पष्ट मधुर वचन बोलनेवाली सखी–दासी है, स्वर्गके अग्रभागपर शोभनेवाले मोक्षरूप प्रासादके ऊपरी भागमें आरोहण करनेमें नसैनीवत् है ऐसी पवित्र व निर्दोष रत्नत्रय आराधना तुम्हारी रक्षा करे ।।३०।। यह आराधना सम्यग्दर्शन रूप कांतिसे सुंदर है, संज्ञानरूप उज्ज्वल नेत्रवाली, सच्चारित्र रूप आभूषणसे युक्त है, पवित्र तप और शील समुदायरूप माला वस्त्रोंसे संयुक्त मुक्ति-

शार्दूल—

या सदृष्टिरुचिप्रभास्वरतनुः संज्ञाननेत्रोज्ज्वला ।
सच्चारित्रविभूषणा शुचितपः शीलोघमाल्यांबरा ।।
मुक्तिश्रीवरकामिनीप्रियसखी पुष्पेषुविद्वेषिणी ।
सा धीरैरभिवंदिता मम हृदि स्तान्नित्यमाराधना ।।३१।।

शार्दूल—

या शुद्धयष्टकयुक्तदर्शनदलं ज्ञानोल्लसत्कर्णिकम् ।
चारित्रोज्ज्वलदीर्घनालममलं शीलोल्लसत्केसरम् ।।
मुक्तिश्रीललनानिवासकमलं धत्ते गुणैर्निर्मितम् ।
सा मे हृत्सरसि स्फुटं विकसतादाराधना पद्मिनी ।।३२।।

।। इति आराधना स्तवनम् समाप्तम् ।।
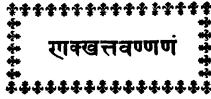
रूपी सुन्दर स्त्रीकी प्रियसखी है, मदनसे द्वेष करती है, बुधजनोंसे वंदित ऐसी यह आराधना मेरे हृदयमे नित्य निवास करे ।।३१।। आठ प्रकारकी शुद्धिके साथ रहनेवाला सम्यक्त्व ही जिसका दल है, ज्ञान जिसकी कर्णिका है, चरित्र रूप उज्ज्वल दण्ड—नाल है, निर्मल शील समुदाय ही केसर है, जो मुक्तिरूपी लक्ष्मीका निवास स्थल ऐसे कमलोंको धारण करनेवाली गुणोंसे समुत्पन्न यह आराधना रूपी कमलिनी मेरे हृदयरूप सरोवरमें विकास युक्त रहे ।।३२।।

आराधना स्तवन समाप्त ।

(१) तं जधा । अस्सिणीणक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तो सादिणक्खत्ते रत्ते कालं करेदि ।।

(२) भरणिणक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तो रेवदिणक्खत्ते पच्चूसे मरदि ।

(३) कित्तिगणक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि उत्तरफागुणिणक्खत्तो मज्झण्हे मरदि ।।

(४) रोहिणीणक्खत्तो जदि संथारं गेण्हदि तो सवणणक्खत्तो अद्धरत्तो मरदि ।

(५) मियसिरणक्खत्तो जदि संथारं गेण्हदि तो पुव्वफग्गुणणक्खत्तो मरदि ।

—: नक्षत्र गुणों का वर्णन :—

(१) अश्विनी नक्षत्रके समय क्षपकने सस्तर ग्रहण किया तो स्वाति नक्षत्रके समय रातमें उसको समाधिमरण प्राप्त होगा ।

(२) भरणि नक्षत्रके समय क्षपकने समाधिमरणके लिये संस्तरका आश्रय किया तो रेवती नक्षत्रके समय दिनके प्रारम्भमे उसको समाधिमरण प्राप्त होगा ।

(३) कृतिका नक्षत्रके समय यदि मुनि बिछोने पर शयन करेंगे तो उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र पर मध्याह्न कालमे उसका मरण होगा ।

(४) रोहिणी नक्षत्र पर सस्तर ग्रहण करने वाले मुनियोंका श्रवण नक्षत्रमें आधी-रातके समय मरण होगा ।

(५) मृगसिर नक्षत्र पर सल्लेखनाका आश्रय लेनेसे पूर्व फाल्गुनी नक्षत्र पर मुनिका देहान्त होगा ।

(६) अद्दाणक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तो उत्तरदिवसे मरदि । जदि ण मरदि तदा तह्मि पुरोगदे णक्खत्ते मरिस्सदि ।।

(७) पुणवसुणक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तदा अस्सणिणक्खत्ते अवरण्हे मरदि ।।

(८) पुस्सणक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तो मियसिरणक्खत्ते मरदि ।।

(९) असलिसणक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तो चित्ताणक्खत्ते मरदि ।।

(१०) मघणक्खत्ते जदि संथारं गेण्हदि तो तद्दिवसे मरदि जदि ण मरदि तदा तह्मि पुरोगदे णक्खत्ते मरदि ।।

(११) पुव्वफग्गुणिणक्खत्ते जदि संथारं गिण्णदि तो धणिट्ठाणक्खत्ते दिवसे मरदि ।।

(१२) उत्तरफग्गुणिणक्खत्ते जदि संथारं गिण्णदि तो मूलणक्खत्ते पदोसे मरदि ।।

(१३) हत्थणक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तो भरणिणक्खत्ते दिवसे मरदि ।।

---

(६) आर्द्रा नक्षत्रमें यदि सस्तर किया तो दूसरे दिन मरण होगा यदि न हुवा तो आगेके नक्षत्रमे उसकी मृत्यु होगी । अथवा पुनः वही आर्द्रा नक्षत्र आने पर मृत्यु होगी ।

(७) पुनर्वसु नक्षत्र पर बिछौना ग्रहण किया तो अश्विनि नक्षत्र पर अपराह्न कालमें मरण होगा ।

(८) पुष्य नक्षत्र पर शय्या ग्रहण करनेसे मृगसिर नक्षत्र पर मरण होगा ।

(९) आश्लेषा नक्षत्रके समय शय्या स्वीकार करनेसे चित्रा नक्षत्र पर मरण होगा ।

(१०) मघा नक्षत्रके समय शय्या स्वीकार करनेसे उसी दिन मरण होगा अथवा आगे उसी नक्षत्रके आनेपर मरण होगा ।

(११) पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्र मे यदि सन्यास ग्रहण के लिये शय्याका आश्रय करे तो धनिष्ठा नक्षत्रके समय दिनमें मरण होगा ।

(१२) उत्तरा फाल्गुण नक्षत्रमें शय्या ग्रहण की तो मूल नक्षत्र पर सायंकालमें मरण होगा ।

(१३) हस्त नक्षत्र पर यदि सन्यास लिया तो भरणी नक्षत्र पर दिन में मरण होगा ।

(१४) चित्ताणक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तो मियसिरणक्खत्ते अद्धरत्ते मरदि ।।

(१५) सादिणक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तो रेवदिणक्खत्ते प भादे मरदि ।।

(१६) विसाहणक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तो असिलेसाणक्खत्ते मरदि ।।

(१७) असिलेसाणक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तो पुव्वभद्दणक्खत्ते दिवसे मरदि ।।

(१८) मूलणक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तो जेट्ठणक्खत्ते पभादवेलाए मरदि ।।

(१९) पुव्वासाढणक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तो मियसिरणक्खत्ते पदोसवेलाए मरदि ।।

(२०) उत्तरासाढणक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तो तद्दिवसे चेव अहवा भद्दपदणक्खत्ते अवरण्हे मरदि ।।

(२१) सवणणक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तो उत्तरभद्दणक्खत्ते तद्दिवसे कालं करेदि ।।

---

(१४) चित्रा नक्षत्रमें सन्यास ग्रहण करने पर मृगसिर नक्षत्र पर आधीरातमें मरण होगा ।

(१५) स्वाति नक्षत्रपर शय्या ग्रहणे तो रेवती नक्षत्रके समय प्रभात कालमे मरण होगा ।

(१६) विशाखा नक्षत्र पर शय्या ग्रहण करनेसे आश्लेषा नक्षत्र पर मरण होता है ।

(१७) अनुराधा नक्षत्र पर शय्या धारण करनेसे पूर्वाभाद्रपद नक्षत्रमें दिनमें मरण होगा ।

(१८) मूल नक्षत्रपर शय्या ग्रहण करनेसे ज्येष्ठा नक्षत्रपर प्रभातकालमे मरण होगा ।

(१९) पूर्वाषाढ़ा नक्षत्रमें शय्याका आश्रय करनेसे मृगसिर नक्षत्रपर रातके प्रारम्भके समयमें मरण होगा ।

(२०) उत्तराषाढ़ा नक्षत्रपर सन्यास धारण करनेसे उसी दिन या भाद्रपद नक्षत्रमें अपराह्न कालमे मरण होगा ।

(२१) श्रवण नक्षत्रमें शय्या ग्रहणको जाय तो उत्तराभाद्रपदमें दिनमें मरण होगा ।

(२२) धणिट्ठाणक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तो तद्दिवसे कालं करेदि, जदि तद्दिवसे कालं ण करेदि तो पुणतद्दिवसे चेव आगदे मरदि ।।

(२३) सदभिसणक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि जेट्ठाणक्खत्ते अत्थवणवेलाए मरदि ।।

(२४) पुव्वभद्दपदणक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि पुण्णवसुणक्खत्ते रत्ति मरदि ।।

(२५) उत्तरभद्दपदे णक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तो दिवसे वहमाणे वा पुणरादि वा मरदि ।

(२६) रेवतिणक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तो मघणक्खत्ते मरदि ।।

(२७) मूलणक्खत्ते जदि संथारं गिण्हदि तो जेट्ठ णक्खत्ते मरदि ।।

सम्मत्तं णक्खत्त वण्णणं ।

---

(२२) धनिष्ठा नक्षत्र पर शय्या ग्रहण करे तो उसी दिन या आगे उसी नक्षत्रके आनेपर मरण होगा ।

(२३) शतभिष् नक्षत्रपर सन्यास धारण करे तो ज्येष्ठा नक्षत्र पर सूर्यास्तके समय मरण होगा ।

(२४) पूर्वा भाद्रपद नक्षत्रमे यदि सन्यास ग्रहण करेगा तो पुनर्वसु नक्षत्र पर रातमें मरण करेगा ।

(२५) उत्तरा भाद्रपद नक्षत्रमें शय्या ग्रहण करेगा तो उसी दिनमें या रात्रिमें मरण करेगा ।

(२६) रेवती नक्षत्र पर संस्तर धारक क्षपकका मघा नक्षत्र पर मरण होगा ।

(२७) मूल नक्षत्रमें संस्तर लेवे तो जेष्ठा नक्षत्रमे प्रातः मरण होगा ।

नक्षत्रगुण वर्णन समाप्त ।

प्रशस्ति

छंद उपजाति—

श्रीदेवसेनोऽजनि माथुराणां गणी यतीनां विहित प्रमोदः ।
तत्त्वावभासी निहित प्रदोषः सरोरुहाणा मिव तिग्मरश्मिः ।।१।।

छंद—

धृतजिनसमयोऽजनि महनीयो गुणमणि जलधेस्तदनुयतिर्यः ।
शम यम निलयोऽमितगतिसूरिः प्रदलित मदनः पदनतसूरिः ।।२।।

छंद रथोद्धता—

सर्वशास्त्र जलराशि पारगो नेमिषेण मुनिनायकस्ततः ।
सोऽजनिष्ट भुवने तमोपहः शीतरश्मिरिव यो जनप्रियः ।।३।।

माथुर संघके यतिओंके आचार्य, सब मुनिओंको आनन्दप्रद ऐसे देवसेन आचार्य हो गये है । जैसे सूर्य कमलोंको विकसित करता है, रात्रिका नाश करता है और पदार्थोको दिखाता है वैसे ये देवसेन आचार्य निहित प्रदोष थे अर्थात् दोषरहित थे और अन्य मुनियोंको दोष रहित करते थे । जोवादि तत्वोंका स्वरूप इन्होंने भव्य लोगोंको दिखाया था ।।१।। देवसेनाचार्यके शिष्य अमितगति नामक मुनि थे । वे गुणसमुद्र, शम और व्रतोंके आधारभूत थे, मदनका नाश करने वाले थे उनको बड़े विद्वान भी वंदन करते थे ऐसे आचार्य जैनमतको प्रभावना करने वाले हुये हैं ।।२।। इनके अनन्तर इस माथुर संघमे नेमिषेण आचार्य हूवे । सर्व शास्त्र समुद्रके दूसरे किनारेको ये प्राप्त हुवे थे । चंद्र जैसा लोकप्रिय रहता है, वैसे ये आचार्य लोकप्रिय व अज्ञानांधकारका नाश करने वाले थे ।।३।। नेमिषेण आचार्यके शिष्य माधवसेन नामक आचार्य थे । इन्होंने माया और मदनका नाश किया था । ये बृहस्पतिके समान चतुर थे और इनको बुद्धि तत्व

छंद अनुकूला—

माधवसेनोऽजनि मुनिनाथो ध्वंसितमायामदनकदर्पः ।
तस्य गरिष्ठो गुरुरिव शिष्य स्तत्त्वविचारप्रवणमनीषः ।।४।।

शार्दूल विक्रीडित —

शिष्यस्तस्य मनीषिणोऽमितगतिर्मार्गत्रयालंबिनीम् ।
एनां कल्मषमोषिणीं भगवती माराधनां स्थेयसीम् ।।
लोकानामुपकारकोऽकृतसतीं विध्वस्त तापांह्रवः ।
पद्मः सत्त्व निषेवितस्य विमलां गंगां हिमाद्रेरिव ।।५।।

छद उपजाति—

आराधनैषायदकारि पूर्णामासैश्चतुर्भिर्नतदस्तिचित्रम् ।
महोद्यमानां जिनभाक्तिकानां सिध्यन्ति कृत्यानि न कानिसद्यः ।।६।।

छद वशस्थ—

स्फुटीकृता पूर्वजिनागमादियं मया जने यास्यति गौरवंपरम् ।
प्रकाशितं किं न विशुद्धबुद्धिना महार्घतां गच्छति दुग्धतोघृतम् ।।७।।

शार्दूल विक्रीडित —

यावत् तिष्ठति पांडुकंबलशिला देवाद्रिमूर्ध्निस्थिरा ।
यावत् सिद्धिधरा त्रिलोकशिखरे सिद्धैः समाध्यासिता ।।

विचारमें प्रवीण थी ।।४।। माधवसेन आचार्यके शिष्य अमितगति हुवे हैं । उन्होंने यह भगवती आराधना बनाई है । यह पाप नाशिनी, संसारताप हरण करनेवाली गंगानदीके समान है । गंगानदी हिमाद्रीसे उत्पन्न हुई है यह भगवती आराधना अमितगत्याचार्य रूपी हिमाचलसे उत्पन्न हुई है ।।५।। आचार्यश्री ने यह ग्रन्थ केवल चार महीनेमें बनाया है । इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है । क्योंकि महाप्रयत्नशाली जिनभक्त कौनसे कार्य सिद्ध नहीं कर सकते हैं ? पूर्व जिनागमका [शिवकोटयाचार्यका भगवती आराधना ग्रन्थ] ।।६।। आधार लेकर मैंने यह ग्रन्थ रचा है । मेरा यह ग्रन्थ विद्वज्जनोंमें आदरणीय होगा । जैसे दूधसे निकाला गया घृत मूल्यवान और आदरणीय

तावत् तिष्ठतु भूतले भगवती विध्वंसयन्ती तमः ।
सा चैषा श्रमदुःखनोदनपरा चन्द्रप्रभेवोज्ज्वला ।।८।।

होता है ।।७।। जबतक मेरु शिखर पर पाडुशिला रहेगी, जबतक सिद्धोंसे अधिष्ठित सिद्धशिला त्रैलोक्यके शिखरपर विराजमान रहेगी, तबतक चन्द्रकांतिके समान उज्ज्वल, श्रमदुःखका परिहार करनेवाली, अज्ञानांधकारका नाश करनेवाली यह भगवती आराधना इस संसारमें स्थिर रहे ।।८।।

प्रशस्ति समाप्त ।

अथ प्रशस्ति

वर्द्धमानो महावीरोऽतिवीरो वीरः सन्मतिः ।
अद्यापि शासनं यस्य राजते तं नमाम्यहम् ॥१॥

नमस्तत्त्व दिग् वीराब्दे, कुन्दकुन्द मुनीश्वरः ।
समभूत् तत्त्वदेशकः मूल सघ प्रवर्त्तकः ॥२॥

तस्यान्वये सुविख्याताः, सख्याता. यतिनायकाः ।
पाणिपात्र पुटा हाराः बभुवतुः दिशांबराः ॥३॥

तस्मिन् क्रमेण सजातो गणाधिपस्तपोधनः ।
शान्तिसागर नामासौ मुनिधर्म प्रवर्त्तकः ॥४॥

समलकरोत् तत् पट्टमाचार्यो वीरसागरः ।
स्वाध्याये निरतः शाश्वत् विरतस्तनु भोगतः ॥५॥

तस्य प्रथम शिष्यः यः शिवसिन्धु यतीश्वरः ।
चतुर्विध गणैः पूज्यः, संजातः संघ नायकः ॥६॥

तयोः पार्श्वे मया लब्धा, दीक्षा संसार पारगा ।
आकरो गुण रत्नानां यस्यां कायेऽपि हेयता ॥७॥

[विशेषकम्]

संवेगभात्र सम्पन्नो धर्म सिन्धु ऋषीश्वरः ।
आचार्य पदमासीनो, वीरशासन वर्द्धकः ॥८॥

अलंकरोति तत् पट्टमाचार्योऽजितसागरः ।
वैयाकरण मान्योऽसौ, शिक्षणैः कुशलः सदा ॥९॥

मम शिक्षा प्रदात्री या, आर्यिका प्रमुखा मता ।
कवित्वादि गुणोपेता, ज्ञानमती हितंकरा ॥१०॥

नाम्ना जिनमती चाहं, ग्रन्थस्यास्यानुवादनम् ।
मया कृतं सदा भूयात्, परिणाम विशुद्धये ॥११॥

☸

अकारादि वर्णानुसार श्लोकों का क्रम

या

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पंक्ति सं०	पृष्ठ सं०
भाव संवर प्राप्ति।	परिणाम-परिणामों की शुद्धि होना-संवर होना।	२६	३७
पृष्ठ ४० व ४१ पर मुद्रित श्लोक नं० ११४ व ११५ का हिन्दी अर्थ उलट पलट हो गया है।	पृष्ठ ४० व ४१ पर मुद्रित श्लोक नं ११४ का अर्थ श्लोक नं० ११५ का है एवं ११५ में जो अर्थ छपा है वह श्लोक नं० ११४ का है	२७ ७-१७	४० ४१
सम्पकल	सम्यक्त्व	१६	४१
ज्ञायते	जायते	४	४६
विनय उक्त	विनय के बिना उक्त	१४	४६
चहचेतसः	चलचेतसः	१	४७
स्वाध्याय स्थिर	स्वाध्याय मे स्थिर	२३	४८
निषिद्धिका:	निषिधिका:	७	४९
रत्नत्रित्रय	रत्नत्रितय	४	५५
मुक्त्वाऽसयमसाधकम्	मुक्त्वासंयमसाधकम्	४	५६
अर्थ-शुद्ध	अर्थ-अथवा शुद्ध	२५	५७
सुखेनारुह्यसेयया	सुखेनारुह्यते यया	१	६०
जानकर इन	जानकर मुनि इन	१२	६४
यद्सवृत:	यदसंवृत:	६	७८
त्यंगंमाहार	त्यंगमाहार	१	८१
उपवास द्वारा	विविध योग द्वारा	२१	८३
सक्षिपृंहा	सक्षिप्येहा	१	९१
चोरापगा	चौरापगा	९	९५
सुखनो	सुखतो	४	१३८
अवाप्यासो यशो	अवाप्यसोऽयशो	४	१४३
इत्यकेत्वगत:	इत्येकत्वगत:	१	१७५
तनुत्सर्गे	तनूत्सर्ग	३	२२१
विविधरसौ	विविधैरसौ	६	२४६
मरलोक में	परलोक में	१७	२४६
माशौच	मशौचं	३	२६५

शुद्ध	अशुद्ध	पंक्ति सं०	पृष्ठ सं०
किमाश्चर्यं	किमाश्चर्यं	१८	३१३
इन सातों की	इनकी	२६	३२२
चांडालादिका घर में प्रवेश हो जावे	शरीर से विष्ठा निकल जावे	१६	३६१
विभवस्येक	विभवस्यैक	१	३७१
पाठ छूट एवं अशुद्ध है	संसार से अत त ऐसे मुक्ति का लाभ जिससे होता है ऐसे रत्नत्रय का जो निषेधक है जो एक पाप स्वरूप है उस निदान के तीन भेद हैं—	१०	३७१
योगी पुरुष के योग	भोगी पुरुष के भोग	२६	३८२
सभागस्यस्य	सभागस्य	३	४३६
काय	काये	२	४५३
कस्यचिक्रिय	कस्यचित्क्रिय	५	४५४
तस्येतिः	तस्येति	१	४५६
तो	जो	१२	५११
अनन्तानंदो	अमृतानन्दो	२०	५१६
निद्रां	निंदां	३	५५२
शेष	ऐसे	९	५८३
संयमी है	[उपशांत मोह के यथाख्यात संयमी की अपेक्षा]	११	५८६
उसे मृतक	उस मृतक को	२५	५९६
मध्य नक्षत्रे	मध्यमनक्षत्रे	३	५९९
ऊपर क और नीचे त	ऊपर का और नीचे य	१६	६००
हंसामसूनृत	हिंसामसूनृतं	५	६२६
आरोढुं	आरोढूं	४	६२९
आविशेनाशुगामि व	आवेगेनाशुगामीव	५	६४१
जलधारा	जलधारा से	२६	६४४
जो भोगे हैं	जो सुख भोगे हैं	२३	६४५
मरणकण्डिका समाप्तं	मरणकण्डिका समाप्ता	१२	६४८
बिछोने	संस्तर	१२	६६०

☼

श्रावक के लक्षण

श्रद्धा और विवेकयुत क्रिया सहित जो होय ।
श्रावक वह कहलात है तीनों बिन नहीं कोय ।।

☼

श्रावक के षट् कर्म

जिनवरपूजा गुरु की भक्ति, शास्त्र-श्रवण संयम तप दान ।
षट् आवश्यक कर्म प्रति दिन, भक्ति भाव से करो सुजान ।।

☼

श्रावक के अष्ट मूल गुण

प्रथमहिं पंच उदम्बर फल, वा मद्य मांस मधु तीन मकार ।
त्रस जीवों का संकल्पी वध, बिन छाना जल निशि आहार ।।

इनको त्याग, करो जिन दर्शन, यही मूल गुण अष्ट प्रकार ।
धारण कर श्रावक कहलाता, इन बिन जैनी को धिक्कार ।।

☼

श्रावक के मुख्य बाह्य चिन्ह

निशि का भोजन, बिन छाना जल गहें नहीं सम्यक् मतिमान ।
करें नित्य श्री जिन के दर्शन, बाह्य चिह्न जैनी के जान ।।